भरत और भारतीय नाट्यकला



सुरेन्द्रनाथ दीक्षि



भरत

और

भारतीय नाट्यकला

सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

भरत और भारतीय नाट्यकला

सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

प्रथम संस्करण १९७०

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मुद्रक नवीन प्रेस, दिल्ली-६

मूल्य ३०.००

सज्जा सुखदेव दुग्गल

भरत
और
भारतीय नाट्यकला



बिहार विश्वविद्यालय की पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

भारतीय विद्या के अनन्य प्रेमी
प्रातः स्मरणीय परम श्रद्धास्पद
पूज्य पितृदेव स्व० बाबू
यदुवंश सिंह जी
की
पुण्य स्मृति में

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादिस्तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥

आमुख

भरत (भरतों) की शाश्वत साधना का परिनिष्ठित परिणाम है नाट्यशास्त्र। बिना नाट्यशास्त्र के भारतीय नाट्यकला की कल्पना ही नहीं की जा सकती, पर वह न केवल नाट्य-कला ही अपितु काव्य, संगीत एवं नृत्य आदि विभिन्न ललितकलाओं का भी विश्वकोष है। प्राचीन भारतीय नाट्यकला ने प्रागैतिहासिक काल में ही आर्यों एवं आर्येतर सभ्यताओं के संगम का मार्ग प्रशस्त किया था, इसकी पुष्टि तो नाट्यशास्त्र से ही होती है। सच्ची कला संवेदना से जन्म लेती है, जहाँ सारे विरोध और संघर्ष एकरंग, एकरूप हो जाते हैं। यही कारण है कि भरत ने समस्त मानव की एकता के मांगलिक अनुष्ठान का महान् समारंभ सर्वलोकानुरंजनकारी नाट्यकला के माध्यम से किया था। देवों और दानवों ने संघर्ष को भूल एक ही रंगमंडप पर 'महेन्द्र विजयोत्सव' का रंगमंचन हर्षोत्फुल्ल हो देखा था, क्योंकि वह देवों की विजय या दानवों की पराजय की कथा का नाटक नहीं, वह तो नाना भावोपसंपन्न, नानावस्थान्तरात्मक, शुभाशुभ विकल्पक तीनों लोकों का भावानुकीर्तन रूप था।

भरतमुनि ने आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जातीय एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रकृत रूप दिया। इस रूप में वे वाल्मीकि और व्यास की गौरवशाली पंक्ति में खड़े दिखाई देते हैं। रामायण और महाभारत ने हमारी समग्र चेतना को आलोकित और उत्प्रेरित किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र यद्यपि लक्षणग्रंथ है, पर वह एक ओर नंदिकेश्वर, धनंजय, सागरनंदी, अभिनवगुप्त, शार्ङ्गधर आदि नाट्य एवं संगीत कला के चिन्तकों को प्रभावित करता रहा है तो दूसरी ओर भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, हर्ष और राजशेखर जैसे महान् नाटककारों के नाट्यशिल्प का प्रेरणा-स्रोत बना रहा है। इन महत्तर कृतियों से प्रसूत भारत के सांस्कृतिक गौरव और कला-समृद्धि का मधुर सौरभ सदियों बाद भी किस उद्बुद्ध भारतीय के मन-प्राण को सुवासित और अनुरंजित नहीं कर देता!

विषय की व्यापक पृष्ठभूमि

नाट्यशास्त्र भरतमुनि की एकमात्र महान् कृति है। भारतीय कलाओं के इस विशाल कोष की रचना से पूर्व भी भारतीय जन-जीवन में कला की विभिन्न विधियाँ थीं, पर अविकसित और विशृंखल रूप में। पाणिनि के काल में नट-सूत्र वर्तमान थे। पतंजलि के काल में कंस-वध और वलिवंधन की कथाएँ नाट्यायित होती थीं, परन्तु नट, ग्रंथिक और शौभिक आदि नाटकीय पत्रों की सामाजिक मर्यादाएँ पतनोन्मुख हो रही थीं। नाट्य के विभिन्न अंगों का व्याख्यान शिष्य-आचार्य की परंपराओं में हो रहा था। परन्तु भरत ने पहले-पहल नाट्यकला को शास्त्र का व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया। नाट्य का उद्भव, नाट्य की रचना, नाट्य-मंडप, नाट्य का अभिनयन आदि विभिन्न विषयों का इतना परिनिष्ठित और व्यापक विवेचन न तो

पहले हुआ और न बाद में ही।

वस्तुतः भरत के लिए 'नाट्य' शब्द अत्यंत व्यापक है। कोई ऐसा ज्ञान, कोई ऐसा शिल्प, कोई ऐसी विद्या और न कोई ऐसी कला है, जिसका नाट्य में उपयोग नहीं होता। मूर्ति, चित्र, संगीत, नृत्य और काव्यकलाओं के अतिरिक्त भवन-निर्माण, अंग-प्रसाधन, आभरण-रचना, केश-विन्यास, वस्त्ररंजन, अस्त्र-शस्त्र-रचना और पुस्तविधि आदि न जाने कितने शिल्पों का प्रयोग रंगशिल्पी किया करते हैं। इन शिल्पों और कलाओं के समानयन से नाट्य-कला को पूर्णता प्राप्त होती है।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ।। ना० शा० १।११६

भरत-प्रवर्तित भारतीय नाट्यकला की यह भागीरथी चतुर्मुखी हो प्रवाहित होती हुई मालूम पड़ती है। भारतीय नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ एवं नाट्यकृतियों के अध्ययन और विश्लेषण से भारतीय नाट्यकला के उन महत्त्वपूर्ण आयामों से हमारा परिचय होता है, जो कवि, नाट्य-शास्त्र-प्रणेता, नाट्य-प्रयोक्ता और प्रेक्षक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन प्रमुख आयामों की विशाल परिधि में 'भारतीय नाट्यकला' के उदात्त स्वरूप का हम दर्शन करते हैं। कवि तो वस्तुवृत्त और पात्र के शील आदि के आधार पर नाट्यरचना करता है, उसे एक ओर नाट्यशास्त्रप्रणेता की दृष्टि से दिशा-निर्देश मिलता है, तो दूसरी ओर लौकिक जीवन का सुखदुःखात्मक परिवेश प्रभूत संवेदना और शक्ति प्रदान करता है। शास्त्रीय सिद्धान्त और जीवन की वास्तविकता से अनुप्राणित नाट्य-रचना को नाट्य-प्रयोक्ता रंगभूमि पर प्रस्तुत करता है, वहाँ भी वह लोक-धर्मी और नाट्यधर्मी विधियों द्वारा आंगिक आदि विभिन्न अभिनयों के माध्यम से उस नाट्य-रचना को प्रेक्षक के हृदय में रसास्वाद की दशा तक ले जाता है, अभिनयन करता है, इसीलिए वह अभिनेता भी होता है। नाट्यप्रयोक्ता की कार्य-परिधि तो बहुत ही विस्तृत है। रंगमंडप की रचना, दृश्य-विधान, पात्रों का उपयुक्त चयन, अवस्था के अनुरूप वेषविन्यास, वेषानुरूप गति-प्रचार, गति के अनुरूप ही अन्य सम्बद्ध भावभंगिमाओं और मुद्राओं का प्रदर्शन, प्रयोग की उत्तमता का रंगप्राश्निकों द्वारा निर्धारण, वाचिक अभिनय द्वारा कविकृत वाक्य का यथोचित पाठ्य, आहार्य विधियों का समुचित विधान, सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति और गीतवाद्य आदि का यथास्थान रागात्मक प्रयोग—सब नाट्यकला के अंग बनकर ही तो उपस्थित होते हैं। रंगमंडप पर नाट्यकला से संबंधित नाना शिल्प और मंडन-विधियाँ नाट्यकला ही होती हैं।

विषय की सीमा

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह अनुसंधेय है कि नाट्यकला के इस व्यापक क्षेत्र में भरत की देन क्या है। नाट्यसिद्धान्त और प्रयोग से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर भरत ने जिन सिद्धान्तों का आकलन किया है, उनका परवर्ती नाटककारों, नाट्यशास्त्र-प्रणेताओं और रंगशिल्पियों पर क्या प्रभाव पड़ा है, उनकी चिन्तन-धारा और प्रतिभा को भरत ने अपने विचारों और कल्पनाओं तथा प्रयोग-विज्ञान से किस सीमा तक अनुप्राणित और परिपुष्ट किया है? भरत एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों में अपेक्षाकृत मौलिकता किसमें है, क्या नाट्यकला के नवीन क्षेत्रों को अपनी विचार-किरणों से आलोकित किया है? जब तक भरत एवं उनके परवर्ती आचार्यों की मान्यताओं

का तुलनात्मक, क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं होता, तब तक भरत की देन की महत्ता का तात्त्विक मूल्यांकन नहीं हो सकता। अतएव हमारी विचार-परिधि में भरत के पूर्ववर्ती (?) एवं परवर्ती आचार्यों के लक्षणग्रंथों में निर्धारित नाट्यसिद्धान्त और प्रयोग विज्ञान तुलना के रूप में प्रस्तुत होते हैं। भरत का नाट्यशास्त्र तो हमारा आधार ग्रंथ है पर उसके अतिरिक्त अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ पूर्णतया या आंशिक रूप से अनुसंधान की यात्रा में आलोकदान करते रहे हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. अग्निपुराण, २. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३. हरिवंश (विष्णुपर्व ८८-९३), ४. नाट्यशास्त्र संग्रह, ५. अभिनय दर्पण (नंदिकेश्वर), ६. भरतार्णव (नंदिकेश्वर), ७. दशरूपक (धनंजय), ८. अभिनवभारती (अभिनवगुप्त), ९. नाट्यदर्पण (रामचन्द्र गुणचन्द्र), १०. भावप्रकाशन (शारदातनय), ११. नाटक लक्षण रत्नकोष (सागरनंदी), १२. रसार्णव सुधाकर (शिंग भूपाल), १३. साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), १४. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), १५. संगीत रत्नाकर (शार्ङ्गधर), १६. मानसार, १७. शिल्परत्न, और १८. मत्स्यपुराण आदि।

इन उपर्युक्त लक्षणग्रंथों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रंथ भी अनुसंधान में सहायक रहे हैं। नाट्यप्रयोगविज्ञान के प्रधान अंग वाचिक अभिनय का विधान स्वरव्यंजनयुक्त शब्द, छन्द, लक्षण और गुणालंकारयुक्त वाक्य पर निर्भर करता है। भरत का एतत्संबंधी विधान अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में किस कोटि का है, इसके निर्धारण के लिए इन परवर्ती काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की समीक्षा की आवश्यकता होती है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) काव्यालंकार (भामह),
(२) काव्यादर्श (दण्डी),
(३) ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनाचार्य),
(४) ध्वन्यालोकलोचन (अभिनवगुप्त),
(५) काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (वामन),
(६) काव्यप्रकाश (मम्मट),
(७) काव्यमीमांसा (राजशेखर),
(८) काव्यालंकार (रुद्रट), एवं
(९) छन्दसूत्र (पिंगल) आदि।

इन लक्षणग्रन्थों के अतिरिक्त भास से राजशेखर तक के संस्कृत और प्राकृत के नाटक और उन पर मनीषी आचार्यों द्वारा की गयी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ भी हमारे परीक्षण की परिधि में आती हैं। इन आचार्यों की टीकाओं में भरत, धनंजय, और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के अतिरिक्त मातृगुप्त और कोहल आदि अपेक्षाकृत कम परिचित आचार्यों की नाट्यकला सम्बन्धी मान्यताओं का भी परिचय प्राप्त होता है। इनमें शकुन्तला पर राघवभट्ट, महावीरचरित और वेणीसंहार पर जगद्धर और मृच्छकटिक पर पृथ्वीधर की टीकाएँ विशेष रूप से अनुसंधान की यात्रा में दिग्दर्शन करती रही हैं।

आनुषंगिक रूप से भारतीय नाट्यकला पर समग्रता की दृष्टि से विचार करते हुए मध्यकाल के संगीत-प्रधान नाटकों की चर्चा तो हुई है, परन्तु उन्नीसवीं सदी के बाद आधुनिक युग में भारतीय नाट्यधारा के विकास पर भी हमारी दृष्टि गई है। इस संदर्भ में विशेषकर

भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमी, मिलिंद, रामकुमार वर्मा, बेनीपुरी, माथुर और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि के नाटक और उनके प्रयोग तथा भारतेन्दु, बाबू श्यामसुन्दर दास, गुलाब राय और डॉ० दशरथ ओझा आदि के नाट्य-सिद्धान्त भरत के नाट्य-सिद्धान्तों के प्रभाव की खोज में हमारी तुलनात्मक चिन्ताधारा में आकर मिल गये हैं।

विषय से संबद्ध सामग्री

विषय के स्वरूप और सीमा-निर्धारण के प्रसंग में हमने उन कुछ प्राचीन ग्रन्थों का संकेत किया है जो हमारे अनुसंधान के मार्ग में सहायक रहे हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक शोध और साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से गत डेढ़ सौ वर्षों में यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों द्वारा विपुल साहित्य लिखा गया है। विलियम जोन्स द्वारा १७७९ में अनूदित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के प्रकाशन के बाद प्राचीन भारतीय नाटक और नाट्यकला को भी पाश्चात्य मनीषियों के गवेषणात्मक अध्ययन का लाभ हुआ है। एच० एच० विल्सन की 'इण्डियन थियेटर' नामक पुस्तक (१८२६) के प्रकाशन-काल तक नाट्यशास्त्र उपलब्ध नहीं था। हॉल महोदय ने दशरूपक के अनुवाद में नाट्यकला के प्रयोग-पक्ष की कोई विवेचना नहीं की। इस बीच प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् वान श्राडर, पिश्चेल, हर्टेल, रिजवे, जैकोवि, सिल्वान् लेवी तथा कीथ प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत नाटकों के उद्भव और विकास की समस्या पर ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विचार किया है। कीथ का 'संस्कृत ड्रामा' नाटकों के रचनाकाल और काव्य-सौन्दर्य पर गंभीर विवेचनात्मक ग्रन्थ होने के कारण अब भी संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में समादृत है। परंतु नाट्यशिल्प और उसकी प्रयोगविधियों का विवेचन उसमें अत्यन्त स्वल्प है।

लगभग गत सौ वर्षों से नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक संस्करण के संपादन की दिशा में प्रयत्न जारी है। यूरोप से नाट्यशास्त्र का अधूरा ही संस्करण प्रकाशित हुआ। भारत में नागरी लिपि में प्रकाशित काशी और काव्यमाला संस्करण पूरे तो हैं पर पाठ की शुद्धता की दृष्टि से उतने विश्वसनीय नहीं हैं। अभिनव-भारती टीका सहित नागरी लिपि में नाट्यशास्त्र का प्रकाशित संस्करण चार भागों में पूरा हुआ है। अभिनव-भारती टीका के कारण इसका महत्त्व तो है ही, पर पाठ-भेदों के उल्लेख के कारण भी यह संस्करण बहुत उपयोगी है। मनमोहन घोष द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा मूल पाठ-सहित संपादित नाट्यशास्त्र का संस्करण संभवतः सर्वाधिक प्रामाणिक है और अपनी महत्त्वपूर्ण पादटिप्पणियों के कारण अत्यन्त उपयोगी भी है। आचार्य विश्वेश्वर द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अध्याय के मूल तथा अभिनव भारती टीका पर प्रकाशित व्याख्या अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है तथा मर्मस्थलों का उद्घाटन करने वाली है। डॉ० रघुवंश द्वारा १-७ अध्यायों का संपादन एवं अनुवाद एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

काशी एवं काव्यमाला संस्करणों में भूमिका नाममात्र है। अन्य संस्करणों की भूमिकाओं, पादटिप्पणियों और परिशिष्टों में मुख्यतया रचनाकाल, पांडुलिपियों और प्रतिपाद्य विषय की चर्चा है। नाट्यकला, नाट्यप्रयोग विज्ञान, नाट्य के काव्यशास्त्रीय पक्ष तथा रंगमंच के संबंध में पर्याप्त सामग्री नहीं है।

नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण के संबंध में पी० वी० काणे और एस० के० दे के प्रसिद्ध ग्रंथों हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स (१९६१) तथा संस्कृत पोएटिक्स (१९६०) में महत्त्वपूर्ण

सामग्री का संकलन किया गया है। इन आधुनिक आचार्यों ने नाट्यशास्त्र का विवेचन काव्य-शास्त्र के ऐतिहासिक विवेचन के क्रम में किया है न कि महान् कलात्मक विशेषताओं के विवेचक ग्रन्थ के रूप में। इस अवधि में भारतीय नाटक और रंगमंच पर बहुत से शोध ग्रंथ प्रकाश में आये हैं। दासगुप्ता के इण्डियन स्टेज (१९३४) में बंगला रंगमंच पर पश्चिमी रंगमंच के प्रभाव तथा उसके विकास की दिशाओं का अनुसंधान किया गया है। आर० के० याज्ञिक के इण्डियन थियेटर (१९३३) में भारत के प्रादेशिक रंगमंच पर विदेशी प्रभाव तथा मराठी रंगमंच की प्रगति का संकेत किया गया है। मुल्कराज आनन्द का 'इण्डियन थियेटर' आधुनिक रंगमंचों पर आधारित परिचयात्मक ग्रन्थ है। चन्द्रभानु गुप्त का 'इण्डियन थियेटर' (१९५४) प्राचीन भारतीय रंगमंचीय शैली से संबंधित है। संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया का अनुसंधान इसका मुख्य लक्ष्य है। परन्तु आंगिक अभिनय पर प्रस्तुत सामग्री अत्यन्त अपर्याप्त है और वाचिक अभिनय के विभिन्न अंग इनके विवेचन की परिधि में नहीं आते। यद्यपि स्वयं भरत ने वाचिक अभिनय को 'नाट्य के तनु' के रूप में स्वीकार किया है। एस० एन० शास्त्री का शोध-प्रबन्ध 'लॉज़ एण्ड प्रैक्टिसेज़ ऑफ़ संस्कृत ड्रामा' संस्कृत नाटकों में व्यवहृत नाट्य-नियमों के अनुसंधान में प्रवृत्त है। इसमें नाट्य के रचनात्मक तथा वाचिक अभिनय के अन्तर्गत कुछ विषयों का तुलनात्मक विवेचन तो है, पर विभिन्न अभिनयों, रंगमंडप अथवा दृश्यविधान का कोई विवरण नहीं दिया गया है। मुझे 'भरत की देन' के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए नाट्यकला के रचनात्मक, रसात्मक और अभिनयात्मक इन तीनों विभिन्न केन्द्रबिन्दुओं तक अपने अनुसंधान की परिधि का विस्तार करना पड़ा है। इनके अतिरिक्त मन्कद, राघवन्, मनमोहन घोष और जागीरदार आदि के नाट्य और रंगमंच-संबंधी ग्रन्थों तथा शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित बहुमूल्य निबंधों ने दिशा-निर्देश किया है।

हिन्दी में प्राचीन भारतीय नाट्यकला के सम्बन्ध में शोध के रूप में अत्यन्त नगण्य कार्य हुआ है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद या तदन्तर्गत विचारों के संकलन का कार्य बड़ी तेजी से हो रहा है, पर नाट्यशास्त्र उपेक्षित ही रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा' एक अपवाद है। इस महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध द्वारा प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा को दृष्टि में रखकर शोध कार्य करने वालों को प्रेरणा मिलती है। डॉ० दशरथ ओझा के प्रसिद्ध शोध-प्रबंध 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' की पूर्वपीठिका के रूप में तथा 'नाट्य-समीक्षा' में संकलित सामग्री बहुत सुलझी हुई है और उसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा पर एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण का संकेत मिलता है। राय गोविन्द चन्द्र लिखित 'भरत के नाट्यशास्त्र में रंगशालाओं के रूप' का प्रतिपाद्य मात्र रंगमंच है। प्राचीन काव्यशास्त्र की परम्परा को दृष्टि में रखकर लिखे गये प्रो० बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय काव्यशास्त्र' तथा डॉ० नगेन्द्र की 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' में परम्परागत काव्यशास्त्र का अध्ययन लक्ष्य है। नाट्यकला के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के नूतन ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय लोक-धर्म' के द्वारा नाट्योत्पत्ति की समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

हिन्दी के 'पौराणिक नाटक' (देवर्षि सनाढ्य) और 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' (श्रीपति त्रिपाठी) जैसे अन्य बहुत-से नाटक-सम्बन्धी शोध-ग्रन्थों में भी भरत तथा प्राचीन भारतीय नाट्यकला से सम्बन्धित विचारों का पृष्ठभूमि के रूप में आकलन किया गया

है। मेरे लिए उनकी उपयोगिता इसी अंश में थी कि भरत की महत्ता आधुनिक शोध-ग्रन्थों में स्वीकार्य होती जा रही है।

विषय की मौलिकता

भरत और भारतीय नाटचकला के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री बहुत कम थी। अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त विशेषकर नाटचशास्त्र और अभिनय भारती ही मेरे अनुसंधान मार्ग के दो महान् प्रकाश-स्तंभ रहे हैं, जिनके आलोक में राह ढूँढ़ता रहा हूँ। नाटचशास्त्र के पाठभेद, त्रुटिपूर्ण पाठ और यत्र-तत्र विषय की अस्पष्टता और दुरूहता के कारण मेरा यह कार्य कितना दुःसाध्य था, यह नाटचशास्त्र की वर्तमान पाठ-पद्धति से परिचित विद्वान् अनुमान कर सकते हैं। नाटचशास्त्र के आधुनिक मर्मज्ञों के अतिरिक्त अभिनवगुप्त की अभिनव भारती ने मेरा मार्ग आलोकित किया है। निःसंदेह गत पचास वर्षों में भरत और नाटचशास्त्र पर लिखित बहुत-सी सामग्री के परिशोधन के क्रम में भी अपने शोध के लिए बहुत-सी उपयोगी सामग्री मिली। यथा-स्थान मैंने उसका भी उपयोग किया है।

अनुसंधान के क्रम में मैंने बार-बार यह अनुभव किया है कि भरत नाटच-कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति और सभ्यता में जो श्रेष्ठ, सुन्दर, महान्, भव्य और मधुर था, उसकी अभिव्यक्ति और अनुभूति का एक कलात्मक माध्यम हमारे पूर्वजों को सौंप गये। सोलहवीं सदी तक के लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थों तथा नाटच-प्रयोग के रूपों और भारतीय संस्कृति को उससे जीवन और गति मिलती रही। भास से राजशेखर और धनंजय से विश्वनाथ तक के आचार्य उस परम्परा का वहन करते आये हैं। न जाने कितने नाटचाचार्यों और रंगशिल्पियों ने प्रयोग के क्रम में भरत-निर्दिष्ट भारतीय नाटचकला को सदियों तक जीवित रखा। मुसलमानों के आक्रमण ने नाटचकला को उसके ऊँचे सिंहासन से अपदस्थ तो किया ही, परन्तु ब्रिटिशों के राजनीतिक और सांस्कृतिक आक्रमण ने भारतीय नाटचकला पर साधारण कुठाराघात नहीं किया है। प्रायः हमारे सब देशी रंगमंच विदेशी नाटच-पद्धति की छाया में विकसित हुए। हमारा विगत सौ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है। पर एक अद्भुत बात यह रही कि ब्रिटिश-प्रभाव के चकाचौंध में भी संस्कृत नाटकों और उनके रूपान्तरों के रंगमंचीकरण के माध्यम से वह युग भी भारतीय नाटच के प्रति सजग अवश्य रहा। स्वतंत्रता के बाद तो यह चेतना और भी उद्‌बुद्ध हुई है। अपने देश में संस्कृत के नाटकों का अभिनय तो हो ही रहा है, विदेशों में भी कभी-कभी उत्साही कलाकारों द्वारा प्रदर्शित ये नाटच कम लोकप्रिय नहीं रहे हैं।

दक्षिण-पूर्व एशिया के बहुत से देशों में नाटचकला का जो वर्तमान स्वरूप है, उसके मूल में भी भारतीय नाटचकला की कितनी देन है, यह अनुसंधान का विषय है। बृहत्तर भारत की संस्कृति और कला भारतभूमि की सतत प्रवहमान कला और संस्कृति का प्रतिरूप थी इसमें संदेह नहीं। वहाँ पर प्रचलित नाटच के विविध रूपों की तुलनात्मक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है। अतएव जिस कला ने कभी अन्य देशों की कला को गति और शक्ति दी थी, वह स्वयं अपने घर में वंदिनी, वनवासिनी बनी रहे और भारतीय रंगमंच पर पाश्चात्य नाटच-पद्धति ही फूले-फले, यह बात किस स्वाभिमानी भारतीय कला-चिन्तक के मन को नहीं सालती रही है। नाटच-कला के पुनरुद्धार और पुनरुन्नयन के इस युग में मैंने अनुभव किया है कि जिस भरत की नाटच-

कला की विरासत ऐसी गौरवशाली है, जिसने भारतीय धर्मों (बौद्ध और आर्य) के साथ-साथ बृहत्तर एशिया में भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया, उसके पुनरुद्धार की दिशा में हिन्दी भाषा के माध्यम से मैं भी अपने अनुसंधान का शुभारंभ करूँ।

भारतीय नाटचकला पर भरत की चिन्तनधारा से सर्वथा पृथक् ही विचार करना शायद सम्भव नहीं है। भरत ने भारतीय नाटचकला को व्यवस्थित शास्त्र और चिन्तनधारा का रूप दिया। वह इतना व्यापक, सूक्ष्म और तात्त्विक है कि परवर्ती कोई भी आचार्य उसके प्रभाव की छाया में ही कोई चिन्तनसूत्र प्रस्तुत कर सका। मौलिकता और व्यापकता की दृष्टि से भरत के नाटचसिद्धान्तों में ऐसे बीज निहित हैं जिनका प्रयोग आधुनिकतम नाटकों में भी सफलतापूर्वक हो सकता है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इतनी सदियों पूर्व विश्व की किसी भी भाषा में नाटच के इतने रूपों और पक्षों पर इतनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। निष्पक्षता से विचार करने पर उसके आंगिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय के सिद्धान्त, पाठच-विधि और पात्रों की भूमिका की पृष्ठभूमि में महत्त्वपूर्ण विचार-दर्शन विश्व की किसी भी उन्नत नाटचकला के लिए आज भी ग्राह्य हैं। हमारी आज की नाटचकला तो अधिकांशत: भारतीय नाटचकला की उन रत्नविभूतियों से अनजान है, वे उपेक्षा और विस्मृति के गर्भ में पड़े उद्धार के लिए अब भी हमारी प्रतीक्षा में हैं। भरत की चिन्तनधारा में निष्पण्ण उन नाटच-रत्नों को आधुनिक भारतीय नाटचकला के संदर्भ में प्रस्तुत करना भी मेरे इस प्रयास का प्रधान लक्ष्य रहा है।

नाटचशास्त्र के संपादन के क्रम में उसके रचनाकाल, प्राप्त पांडुलिपियों तथा प्रतिपादित विषयों की सामान्य चर्चा तक ही विद्वानों ने अपने को परिसीमित रखा था। भरत ने नाटच-कला के सिद्धान्तों तथा प्रयोग-विज्ञान के सब पक्षों का जैसा संतुलित और तात्त्विक निरूपण किया है, उसका अपने-आपमें महत्त्व तो है ही, परन्तु परवर्ती कवियों और आचार्यों द्वारा प्रयुक्त और प्रतिपादित नाटचकला से तुलना करते हुए इस शोध-प्रबन्ध में उसकी व्यापकता और महत्ता की भी स्थापना की गई है। इस रूप में व्यवस्थित रीति से वैज्ञानिक ढंग पर संबद्ध विषयों का विचार करने पर भरत की देन के सम्बन्ध में हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उसका यथास्थान निर्देश भी किया गया है। अभी तक इस व्यापक एवं तुलनात्मक दृष्टि से भरत के नाटच-सिद्धान्तों का मूल्यांकन नहीं किया जा सका है। मेरी जानकारी में न केवल हिन्दी में ही, अपितु हिन्दीतर भाषाओं में भी इस प्रकार का प्रयास नहीं किया गया है, इस दृष्टि से यह अपने ढंग का सर्वथा नूतन प्रयास है। किसी भी मान्यता का निर्धारण करने से पूर्व अनेक तात्त्विक विचारों का संकलन, आकलन और संतुलन आवश्यक है, उनके आधार पर प्रतिपादित निर्णयात्मक विचारों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है। नि:संदेह इस शोध-प्रबंध में भरत के सिद्धान्तों के स्वरूप और महत्त्व के मूल्यांकन के क्रम में जिन निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है, वे अमूल नहीं हैं इसलिए भी वे मौलिक हैं। उन सबकी पुष्टि भरत एवं अन्य प्राचीन तथा नवीन नाटच एवं काव्यशास्त्र के महान् चिन्तकों की मूल विचारधारा से हुई है। इस प्रकार विचारतत्त्व को प्रस्तुत एवं प्रमाणित कर उसकी मौलिकता का पूर्ण निर्वाह किया गया है।

अभी तक अपने यहाँ प्राचीन भारतीय नाट्यकला के सम्बन्ध में जो भी सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसके मुख्य आधार-ग्रन्थ रहे हैं—दशरूपक और साहित्यदर्पण। भरत और अभिनव-

गुप्त की गहन चिन्तनधारा की ओर विद्वानों की दृष्टि नहीं गई। अभिनवगुप्त द्वारा विरचित अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र पर विवृत्ति) संपूर्ण रूप में हाल तक उपलब्ध भी नहीं थी। इन आचार्यों ने तो नाट्य की रचनात्मक कथावस्तु, पात्र और रूपक-भेद तथा आंशिक रूप से रसात्मक पक्ष पर ही विचार किया है, परन्तु भरत की दृष्टि में नाट्यकला इतनी परिसीमित नहीं थी। प्रयोग-विज्ञान उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी प्रयोग-विज्ञान के अन्तर्गत आंगिकादि चारों अभिनय, रंगमंडप-निर्माण, दृश्यविधान, रंगशिल्पियों का संगठन आदि नाट्यकला सम्बन्धी अन्य कलाओं का भी उपबृंहण किया गया है। वस्तुतः यह उल्लेखनीय है कि दसवीं-बारहवीं सदी के आते-आते भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने प्रयोगपक्ष की उपेक्षा कर केवल रचनात्मक पक्ष का ही प्रतिपादन किया। भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत अपनी विवेचना द्वारा भारतीय 'काव्य-शास्त्र की परम्परा' का तथा रचनात्मक एवं अभिनयात्मक पक्ष के अन्य रूपों के मौलिक विवेचन द्वारा 'नाट्यशास्त्र', संगीत एवं नृत्तशास्त्र का प्रवर्तन किया।

विषय का वस्तुविधान

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध दस अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में भरत के व्यक्तित्व, नाट्यशास्त्र के कालनिर्धारण, प्रकाशित संस्करणों एवं पाण्डुलिपियों, प्रतिपाद्य विषय, शैली, स्वरूप और विकास की अवस्थाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से सामग्रियों की विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित है। नाट्योत्पत्ति के इतिहास में भरत के इन विचारों का बड़ा महत्त्व है। उक्त विषय की महत्ता को दृष्टि में रखकर नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी आधुनिक विचारों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपना मंतव्य प्रस्तुत किया गया है कि वैदिक और लौकिक दोनों परम्पराओं ने भारतीय नाट्योत्पत्ति को प्रभावित किया है। तीसरे अध्याय में नाट्यमंडप, दृश्यविधान और यवनिका आदि के सम्बन्ध में भरत की भव्य कल्पना और भारतीय रंगमंच की रूपरेखा अंकित की गई है। चतुर्थ अध्याय में नाट्यकला के 'रचनात्मक पक्ष', 'रूपक-भेद', 'कथावस्तु' और 'पात्र' के सम्बन्ध में भरत और परवर्ती नाट्यशास्त्रियों के विचारों का तुलनात्मक उपबृंहण किया गया है। पंचम अध्याय में भाव और रस का नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से विवेचन किया गया है। भाव के प्रसंग में ही भरत ने सात्त्विक भावों की अभिनय-विधि का विधान किया है। अतएव सात्त्विक अभिनय का पृथक् विवेचन अभिनय के प्रसंग में न कर यहीं प्रस्तुत किया गया है। शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में प्रतिपादित नाट्यकला के रचनात्मक और रसात्मक पक्षों का ही परवर्ती नाट्यशास्त्र और रस-शास्त्र के ग्रन्थों में उपबृंहण हुआ। इस दृष्टि से भरत एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए तात्विक निष्कर्षों का संकेत यथा-स्थान दिया गया है।

छठे अध्याय में नाट्य के प्रयोग-विज्ञान के अभिनयात्मक पक्ष का प्रतिपादन है, इसमें कई खण्ड हैं—वाचिक, आंगिक और आहार्य। वाचिक अभिनय नाट्य एवं काव्यशास्त्र दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत नाट्य के पाठ्य पक्ष— छन्द, अलंकार, गुण, दोष और पाठ्य-विधियों पर भरत के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए विकासक्रम का निर्धारण किया गया है। आंगिक अभिनय में अंगोपांगों की चेष्टाओं द्वारा जिन मनोभावों का प्रकाशन होता है, उनका विस्तृत एवं अत्यन्त सूक्ष्म विधान है। निश्चय ही यह विश्वसाहित्य की

नाट्य-विद्या की अमूल्य निधि है। आहार्य अभिनय में भरत की नाट्य-प्रतिभा पात्र के रूप-परिवर्तन और वेशभूषा आदि के सम्बन्ध में तात्त्विक विचारों का आकलन करती है। प्रयोग-काल में पात्र वेशानुरूपता ही धारण नहीं करता वह तो कवि-कल्पित पात्रों के आत्मसंस्कार को धारण कर लेता है।

सप्तम अध्याय प्रयोग से संबंधित है। परन्तु इसमें नाट्य-प्रयोग-संबंधी पूर्वरंग, पात्र की भूमिका, रंग-शिल्पियों के साधन तथा प्रयोग की सिद्धि और विफलता आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याओं पर विचार किया गया है। अष्टम अध्याय में नाट्य की रूढ़ियों के अन्तर्गत वृत्ति, प्रवृत्ति तथा लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन किया गया है।

नवें अध्याय में गीत, वाद्य और नृत्य जैसी नाट्य की उपरंजक कलाओं का आनुषंगिक रूप से विवेचन किया गया है, परन्तु नाट्य-प्रयोग में उनके महत्त्व की दृष्टि से भरत की मान्यता प्रस्तुत की गई है।

नवें अध्याय तक प्राचीन भारतीय नाट्यकला का रूप स्पष्ट कर भारतीय नाट्यकला का समग्र दृष्टि से अध्ययन करने के उद्देश्य से आधुनिक भारतीय रंगमंच शीर्षक दसवें अध्याय में प्रधान भारतीय भाषाओं में नाट्य-कला के रूपों और उनकी रंगमंचीय शैली पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया गया है। हमारे परिप्रेक्ष्य में इस सन्दर्भ में मुख्यत: मराठी, गुजराती, बंगला, हिन्दी और दक्षिण भारत के रंगमंच आए हैं। उक्त विषय की पूर्व-पीठिका के रूप में संस्कृत नाटकों के स्वर्ण-युग और ह्रास-काल की ओर भी हमारी दृष्टि गई है।

भारतीय स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय रंगमंचों की स्थिति पर विचार करते हुए हमने अपना निश्चित मंतव्य प्रकट किया है कि देश को राष्ट्रीय रंगमंच की आवश्यकता है। क्योंकि राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की हमारी चिर-संचित कल्पना तभी साकार होगी, जब हम उसे नित्य नूतन रूप देकर भी स्वदेशी शिल्प, स्वदेशी मंडन-विधि और स्वदेश की चेतना और संस्कार की उसमें प्रतिष्ठा करें। निश्चय ही भारतीय नाट्य-कला का पुनरुन्नयन भरत की नाट्यकला की गौरवशाली प्रभाव की छाया में ही सम्भव है।

विषय-निरूपण की पद्धति

अपने विषय को प्रस्तुत करते हुए विषय से संबंधित सामग्री की खोज में संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला और मराठी के प्राचीन एवं नवीन ग्रन्थों, शोध-पत्रिकाओं और मासिक साहित्य आदि की अत्यावश्यक सामग्री का जहाँ भी उपयोग किया गया है, उनके मूल विचारों को पादटिप्पणी में प्राय: मूल संदर्भ-सहित प्रस्तुत किया गया है। इस बात की हर सम्भव चेष्टा की गई है कि जो भी उद्धरण हों वे नितान्त मूल स्रोत से लिए गये हों। पाद-टिप्पणियों की क्रम संख्या प्रत्येक पृष्ठ पर बदल दी गई है। ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं तथा लेखकों के नाम संकेत रूप में मूल ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं, अत: आरम्भ में ही शब्द-संकेत-सूची है और अन्त में अनुसंधान के मार्ग में सहायक अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और शोध-पत्रिकाओं की सूची, ग्रन्थ-लेखक, प्रकाशक, वर्ष आदि के साथ गई हैं। नाट्यकला-सम्बन्धी भरत के कुछ सिद्धान्तों पर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। उन मतों का आकलन करते हुए अपना मंतव्य भी प्रस्तुत किया गया है।

भरत-कल्पित रंगमंच के सम्बन्ध में आधुनिक ही नहीं प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद था। अतः रंगमंच के सम्बन्ध में भरत एवं कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता रेखाचित्रों में अंकित कर भी प्रस्तुत की गई है, जिससे विषय का स्पष्टीकरण हो सके। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों की श्लोक संख्या आदि की भी अंकसहित एक तुलनात्मक सारिणी प्रस्तुत की गई है, जिससे एक दृष्टि में अब तक के प्राप्त संस्करणों में प्राप्त श्लोक तथा उनके अन्तर ग्राह्य हो सकें। अन्ततः विषयवस्तु को उपस्थित करते हुए यथासंभव आधुनिक शोध की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण कर इसको अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

भरत की देन

भरत शाश्वत भारत के निर्माता थे। नाट्य, काव्य, संगीत और नृत्य जैसी सुकुमार कलाओं द्वारा जीवन की शाश्वतता की इस ऋषि ने कभी कल्पना की थी। स्वयं कभी लक्ष्मी स्वयंवर, कभी महेन्द्र विजयोत्सव और कभी राम-कथा को नाट्यायित कर इस धरती पर मधुर रसवन्ती स्रोतस्विनी नाट्यधारा को गति और शक्ति दी थी। 'नाट्य' का प्रयोग करते हुए दानवों के रोमहर्षक आक्रमण को झेला और ऋषि-मुनियों का उपहासमूलक अनुकरण करते हुए उनके पुत्र अभिशाप और तिरस्कार के भी भाजन बने। ये सारी पौराणिक कथाएँ इस तथ्य का संकेत करती हैं कि भारत भूमि में भरतों ने कला के सौन्दर्य को शाश्वतता तो प्रदान की पर बड़ी कठोर साधना और सतत तपस्या के बल पर। यही कारण है कि इतने राजनैतिक उत्थान-पतन और सामाजिक उथल-पुथल के बाद नाट्यशास्त्र की कलात्मक परम्पराएँ काश्मीर से कन्याकुमारी तक किसी न किसी रूप में जीवित ही रहीं। चिदंबरम् के नटराज मन्दिर के चौवन स्तम्भों पर अंकित मुद्राएँ और भावभंगिमाएँ नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में निरूपित मुद्राओं के अनुसार ही नहीं, क्रम भी उनका वही है। दूसरी ओर नाट्यशास्त्र के मूल संस्करणों तथा टीकाओं की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ उत्तर भारत में सुदूर काश्मीर की तलहटियों में पायी गयी हैं। यह एकमात्र ऐसा आकर ग्रंथ है जिसने उत्तर से दक्षिण तक नाट्य, नृत्य और संगीत के आचार्यों और कलाग्रंथों के रचयिताओं की कलाप्रेरणा को सदियों तक प्रभावित किया है। भरतनाट्यम् और कत्थकली का वह मनभावन रूप नाट्यशास्त्र से ही प्रेरणा ग्रहण कर जनमानस को अनुरंजित और भक्ति-भावना से अनुप्राणित कर रहा है।

कृतज्ञता के दो शब्द

यह शोध-प्रबन्ध पूरा हुआ, बहुत कठिनाइयों और परेशानियों के बाद। प्रायः मंगलकार्य विघ्नरहित नहीं होते। महाकाल के चरणों में मेरा शतशः प्रणाम कि यह अपना प्राथमिक कार्य पूरा कर प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त कर रहा है। आज जब कृतज्ञता के दो शब्दों से उन महानुभावों की वंदना करना चाहता हूँ जिनके आशीर्वाद, सहयोग और सहायता से यह महान् मांगलिक अनुष्ठान पूरा हुआ तो दारुण दुःख और मर्मांतक पीड़ा में जैसे डूब रहा हूँ।

अमर कलाकार श्री रामवृक्ष बेनीपुरीजी ने इस नाट्यविद्या की ओर मुझे कभी वर्षों पूर्व प्रेरित किया था। लगभग आठ वर्षों तक दारुण पक्षाघात से संघर्ष करते हुए वे सात सितम्बर '६८ को स्वर्गलोकवासी हुए। जीवनकाल में वे इसे प्रकाशित रूप में न देख सके, उनके

चरणों में मेरा प्रणाम। इस शोध-प्रबन्ध के दो परीक्षक थे स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी। यह मेरे लिए गौरव और सौभाग्य का विषय है कि इन लोकविश्रुत प्रकाण्ड पंडितों की पैनी दृष्टि के परीक्षण का सौभाग्य मेरे शोध-प्रबन्ध को प्राप्त हुआ। स्व० डॉ० अग्रवाल ने इस शोध-प्रबन्ध से परितुष्ट हो इसकी भूमिका लिखने का वचन दिया था। पर वह कहाँ हो सका! आज मेरे शोध-प्रबन्ध के ये दोनों परीक्षक अपनी विद्वत्ता और शुभ्रयशोगरिमा छोड़ गोलोकवासी हो गये। इन महापुरुषों के प्रति मेरी विनम्र श्रद्धांजलि। प्राचीन हिन्दी एवं संस्कृत के मार्मिक विद्वान्, पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूत-पूर्व अध्यक्ष प्रो० जगन्नाथराय शर्मा के प्रति विशेष रूप से ऋणी हूँ। वे इस शोधकार्य में निर्देशक थे। अपनी अस्वस्थता के बावजूद उन्होंने इस कार्य में निरन्तर प्रेरणा और गति दी—मैं उनके प्रति किन शब्दों में हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करूँ। हिन्दी-विभाग, पटना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष गुरुवर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ जो सदा मेरे इस गुरुतर कार्य की उपलब्धि में प्रेरणा और प्रोत्साहन देते रहे हैं।

मैं पूज्यवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुरुवर प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय तथा आदरणीय आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के प्रति विशेष रूप से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने शोध-संबंधी मेरी बहुत-सी जिज्ञासाओं के समाधान करने की कृपा की। गुरुवर डॉ० सुभद्र झा ने सरस्वती भवन संग्रहालय (काशी) में नाट्यशास्त्र और अभिनय भारती की पांडुलिपियों के उपयोग की सुविधा प्रदान की। एतदर्थ मैं उनका भी अनुगृहीत हूँ।

परम मित्र डॉ० रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव' (रीडर, हिन्दी-विभाग, बिहार विश्व-विद्यालय, मुजफ्फरपुर), डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ज्ञानपुर गवर्नमेन्ट कॉलेज, वाराणसी) तथा वीरेन्द्र कुमार बेनीपुरी (संचालक, बेनीपुरी प्रकाशन, मोतीझील, मुजफ्फरपुर) आदि के प्रति विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ जिनकी शुभकामना मेरे जीवन-पथ में संवरण के रूप में सदा सहचरी बनी रही है।

राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध-निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू, कार्यपालक निदेशक श्री सत्यप्रकाश जी तथा पटना शाखा के व्यवस्थापक श्री उमाशंकर प्रसाद श्रीवास्तव के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी कार्यकुशलता और विशेष रुचि के कारण इस शोध-प्रबन्ध का इतना स्वच्छ और सुरुचिपूर्ण प्रकाशन संभव हो सका।

नमस्त्रैलोक्य निर्माण कवये शंभवे यतः।
प्रतिक्षणं जगत् नाट्य प्रयोगरसिकोजनः ॥

गनीपुर, मुजफ्फरपुर (बिहार) —**सुरेन्द्रनाथ दीक्षित**

संकेताक्षर

(१) अं० = अंग्रेजी
(२) अं० अ० = अंग्रेज़ी अनुवाद
(३) अ० अ० = अष्टाध्यायी (पाणिनि)
(४) अ० द० = अभिनय दर्पण
(५) अधि० = अधिकरण
(६) अ० = अध्याय
(७) अ० पु० = अग्नि पुराण
(८) अ० भा० = अभिनव भारती
(९) अ० शा० = अभिज्ञान शाकुंतल
(१०) इ० हि० क्वा० = इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वारर्टर्ली
(११) उ० रा० च० = उत्तररामचरित
(१२) ऋ० = ऋग्वेद
(१३) का० अ० = काव्यालंकार
(१४) का० अ० सू० = काव्यालंकार सूत्र वृत्ति
(१५) का० आ० = काव्यादर्श
(१६) का० प्र० = काव्य प्रकाश
(१७) का० मा० = काव्य माला (निर्णय सागर से प्रकाशित संपूर्ण नाट्यशास्त्र)
(१८) का० मी० = काव्य मीमांसा
(१९) का० सं० = काशी संस्करण (काशी से प्रकाशित संपूर्ण नाट्यशास्त्र)
(२०) गा० ओ० सी० = गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा
(२१) चौ० सं० सी० = चौखंबा संस्कृत सीरीज़, काशी
(२२) छ० सू० = छन्द सूत्र
(२३) जे० ए० एच० आर० = जरनल ऑफ आन्ध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी
(२४) जे० आर० एस० बी० = जरनल ऑफ़ रिसर्च एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल
(२५) द० रू० = दशरूपक
(२६) द्वि० = द्वितीय
(२७) ध्व० अ० = ध्वन्यालोक
(२८) ना० द० = नाट्य दर्पण
(२९) नि० सा० = निर्णय सागर संस्करण, बम्बई
(३०) ना० ल० को० = नाटक लक्षण रत्नकोष
(३१) पं० = पंक्ति
(३२) परि० = परिच्छेद
(३३) पू० ओ० इ० = पूना ओरियंटल इन्स्टीच्यूट
(३४) प्र० रू० = प्रताप रुद्रयशोभूषण
(३५) पृ० = पृष्ठ
(३६) बा० रा० = बाल्मीकि रामायण
(३७) भ० ओ० रि० इ० = भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट
(३८) भ० को० = भरत कोष
(३९) भ० ना० = भरत नाट्यशास्त्र
(४०) भ० र० = भक्ति रसायन (मधुसूदन सरस्वती)

(४१) भा० प्र०=भाव प्रकाशन
(४२) मं०=मंडल (ऋग्वेद)
(४३) म० च०=महावीर चरित
(४४) म० मो०=मनमोहन घोष
(४५) मा० अ०=मालविकाग्निमित्र
(४६) मा० मा०=मालती माधव
(४७) मु० रा०=मुद्रा राक्षस
(४८) मृ० श०=मृच्छकटिकम्
(४९) र० सु०=रसार्णव सुधाकर
(५०) वा० अ०=वासुदेवशरण अग्रवाल
(५१) वि० उ०=विक्रमोर्वशी
(५२) वि० ध० पु०=विष्णु धर्मोत्तर पुराण
(५३) वि० सं० र०=विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी
(५४) वृ० र०=वृत्त रत्नाकर
(५५) सं० र०=संगीत रत्नाकर
(५६) शृं० प्र०=शृंगार प्रकाश
(५७) स० क० आ०=सरस्वती कंठाभरण
(५८) सा० द०=साहित्य दर्पण
(५९) सू०=सूत्र
(६०) स्व० वा०=स्वप्नवासवदत्तम्
(६१) हि०=हिन्दी
(६२) हि० अ० प०=हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली
(६३) हि० अ०=हिन्दी अनुवाद
D. R.=Dasrupaka
E.=English
N. S.=Natya Sastra
I. H. Q.=Indian Historical Quarterly
I. A.=Indian Antiquery.
N. I. A.=New Indian Antiquery.

विषय-सूची

आमुख ७

संकेताक्षर १८

प्रथम अध्याय
भरत और नाट्यशास्त्र

१. भरत ५-१३

आर्षवाङ्मय का साक्ष्य; संहिता काल के भरत; नाट्यशास्त्र का साक्ष्य; भरत : नाट्य-प्रयोक्ता; नाटकों का साक्ष्य; नाट्यशास्त्रों का साक्ष्य; नाट्यशास्त्र में भरत एक या अनेक; भाव प्रकाशन तथा आधुनिक विद्वानों की मान्यता; आचार्य अभिनवगुप्त की स्थापना; सदाशिव, ब्रह्म और भरत : नाट्यशास्त्र प्रणेता; आदि भरत, वृद्ध भरत, भरत; निष्कर्ष।

२. नाट्यशास्त्र के प्रकाशित संस्करण और पाण्डुलिपियाँ १४-२४

नाट्यशास्त्र के विदेशी संस्करण; नाट्यशास्त्र के भारतीय संस्करण; प्रकाशित संस्करणों में पाठभिन्नता; नाट्यशास्त्र की पाण्डुलिपियाँ : उनका विवरण; निष्कर्ष।

३. नाट्यशास्त्र का रचना-काल २५-३९

कालनिर्धारण की दो सीमाएँ; नाट्यशास्त्र का अन्त: साक्ष्य; नाट्यशास्त्र का रचनाकाल और बाह्य साक्ष्य; निष्कर्ष।

४. नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य : शैली, स्वरूप और विकास की अवस्थाएँ ४०-४७

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता; प्रतिपाद्य विषय की विविधता; शैली की विविधता; नाट्यशास्त्र के उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाएँ; निष्कर्ष।

५. भरत के पूर्वाचार्य और नाट्यशास्त्र के भाष्यकार ४८-५९

आनुवंश्य आर्याएँ; नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरत के पूर्वाचार्य; नाट्यशास्त्र के भाष्यकार।

द्वितीय अध्याय
भारतीय नाट्योत्पत्ति

१. भारतीय नाट्योत्पत्ति ६३-८२

नाट्योत्पत्ति : परम्परागत मान्यताएँ; अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ और नाट्योत्पत्ति; नाट्योत्पत्ति की आधुनिक विचारधारा; भारतीय धर्म सम्प्रदाय और नाट्योत्पत्ति; नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी अन्य वाद; निष्कर्ष; रूपकों के विकास का कालक्रम ।

तृतीय अध्याय
नाट्यमण्डप

१. भरत कल्पित नाट्यमण्डप का स्वरूप ८५-१०२

विप्रकृष्ट, मध्यम नाट्यमंडप; रंगपीठ-रंगशीर्ष; रंगशीर्ष और षड्दारुक की संयोजना; मत्तवारणी; चतुरस्र नाट्यमंडप; त्र्यस्रनाट्यमंडप; नाट्यमंडप के कुछ अन्य अंग—भित्ति, स्तम्भ, द्वार; दारुशिल्प; आसनप्रणाली; छत; नाट्यमंडपों की रूपरेखा (रेखाचित्रों में); शैलगुहाकार नाट्यमण्डप; द्विभूमि नाट्यमंडप ।

२. भारतीय वाङ्मय में नाट्यमंडप १०२-१०५

वैदिक और लौकिक साहित्य में नाट्यमंडप; सीतावेंगा और जोगीमारा गुफाओं के प्रेक्षागृह ।

३. यवनिका १०५-१११

संस्कृत नाटकों का साक्ष्य; आधुनिक विद्वानों की मान्यता; रंगमंडप की विभाजन पद्धति; यवनिका का प्रयोग और पाश्चात्य प्रभाव; यवनिका, यमनिका और जवनिका ।

४. दृश्यविधान १११-११७

दृश्यविधान की प्रवृत्ति और परम्परा; कक्ष्याविभाग और भारतीय चिन्तनधारा; भरतनिरूपित कक्ष्याविभाग; कक्ष्याविभाग और परवर्ती नाटककार; समाहार ।

चतुर्थ अध्याय
नाट्यसिद्धान्त

१. दशरूपक विकल्पन १२३-१५७

रूपकों का स्वरूप; नाट्य, नृत्य, नृत्त; नाट्य और रूपक; भरतनिरूपित दशरूपक; नाटक, ख्यातत्रय; आचार्यों की मान्यताएँ; राजर्षि नायक; नाटक में चार पुरुषार्थ; नाटक की सर्वांगपूर्णता; नाटक की रचना और लोक संवेदना;

परवर्ती आचार्यों के मंतव्य; नाटक के कतिपय विधि निषेध; प्रकरण; कल्पित कथावस्तु; नायक; साध्य फल; प्रकरण की नायिका; प्रकरण और प्रकृत जीवन का सुखदुखात्मक राग; परवर्ती आचार्यों की मान्यता; नाटिका का स्वरूप; अन्य आचार्यों के मंतव्य; समवकार नायक; त्रैत का प्रयोग; नानारसाश्रयता-अल्पाक्षर छन्द; ईहामृग का स्वरूप; अलभ्य दिव्य नारी के लिए संघर्ष; वध का शमन; व्यायोग और ईहामृग; उत्तरवर्ती आचार्यों की मान्यता; डिम का स्वरूप; प्रख्यातत्रय; आचार्यों के मंतव्य; व्यायोग का वृत्त और नायक; आचार्यों के मंतव्य; उत्सृष्टिकांक का स्वरूप; अदिव्य पुरुष-पात्र; एकांकी-नाटकान्तर्गत नाटक; प्रहसन में हास्य व्यंग्य की प्रधानता; प्रहसन में सामाजिक तत्व; प्रहसन के दो रूप; भाण के दो रूप; भाण में व्यङ्ग्य-विनोद और शृंगार का योग; अन्य आचार्यों के मंतव्य; वीथी का स्वरूप; नायक; प्रतिपाद्य रस; आचार्यों के मंतव्य; कुछ अन्य रूपक : प्रकरणिका—परम्परा और स्वरूप; सट्टक; आचार्यों की मान्यताएँ; भाषा; उपरूपक का स्वरूप और परम्परा; उपरूपकों की संख्या; नाटिका और प्रकरणी; त्रोटक; गोष्ठी; रासक; प्रस्थान; उल्लाप्य; काव्य; श्रीगदित; संल्लापक; शिल्पक; डोम्बी; प्रेक्षणक; दुर्मल्लिका; विलासिका; हल्लीश; भाण, भाणिका; दशरूपक और उपरूपक का भाण; मल्लिका; शम्या, द्विपदी, छलिक; उपसंहार : रूपक के भेदों के विकास में नाटक-प्रकरण का महत्व; विशुद्ध नाट्य और रूपक; रूपकों पर आभिजात्य संस्कार और कला का प्रभाव; भेदों के मूल में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण; रूपकों के भेद : आर्यों की चिंतन-समृद्धि के प्रतीक; भेदों का आधार : भरत की विचारधारा।

२. इतिवृत्त विधान १५८-१८५

नाट्यशरीर की अनेकरूपता; अवस्थाएँ; अर्थप्रकृतियाँ; अर्थप्रकृति की प्रधानता; अर्थप्रकृतियों का विभाजन; नाट्यशरीर की पंचसंधियाँ; अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का योग; आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता; नाट्यशरीर की पंच-संधियाँ; संध्यंग; प्रयोजन और उनकी संख्या; मुखसंधि के अंग; प्रतिमुखसंधि के अंग; गर्भसंधि के अंग; विमर्श संधि; निर्वहण संधि; संध्यंग के अतिरिक्त संध्यन्तर; लास्यांग; संध्यंगों की योजना और रसपेशलता; कविवाणी में साधारणता-प्राणता; इतिवृत्त विभाजन के कुछ अन्य आधार; नाट्यप्रयोग की दृष्टि से इतिवृत्त का विभाजन; अंक का स्वरूप; अंक में प्रयुक्त घटना की समय सीमा; अंकच्छेद; दृश्यभेद; सर्वश्राव्य; नियत श्राव्य; अश्राव्य; आकाशभाषित; अर्थोपक्षेपक : विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका; अंकावतार; अंकमुख-समाहार।

३. पात्र-विधान १८६-२१२

पृष्ठभूमि; पात्र : जीवन की शाश्वत धारा के प्रतीक; मानव-चरित्र में काम-भाव की प्रबलता; भरतकल्पित पात्रों का ऐहिकता मूलक जीवन; चरित्र-रचना में लौकिक सुख:दुख का मधुर रस; पात्रों के भेद; पुरुष-नारी पात्रों की त्रिविध

प्रकृति; नायक के प्रधान चार प्रकार—धीर ललित, धीर शान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत; नायक-भेद का एक और आधार; भरत का प्रभाव; नायक-भेदों पर सामाजिक चेतना का प्रभाव; अन्य प्रधान पुरुष पात्र : आचार्यों की मान्यता; भरत की मान्यता : राजा, मंत्री, सेनापति, विदूषक और शकार आदि; नायकों के अलंकार; नारी पात्र; नायिका-भेद का आधार; भरत के नायिका-भेद की विचार-भूमि; सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार; आचरण की शुद्धता या अशुद्धता का आधार; अन्तःपुर में नाट्योपयोगी नारी पात्र; कामदशा पर आधारित भेद; नायिकाओं के अन्य तीन भेद; मनोदशा का आधार; अन्तःप्रकृति का आधार; अंगरचना और मनः सौष्ठव पर विश्व-प्रकृति का प्रभाव; परवर्ती आचार्यों का नायिका-भेद; नायिका-भेद के आधार की असंगतता; स्वीया, परकीया और साधारणी; हिन्दी के प्राचीन आचार्यों का नायिका-भेद; भरत का प्रभाव; नायिकाओं के अलंकार; समाहार।

पाँचवाँ अध्याय

नाट्य के रस और भाव

१. **नाट्य रस** २१७-४८

रसदृष्टि का विकास; त्रिगुणात्मिका प्रकृति और नाट्यरस; नाट्य अनुभाव नहीं अनुकीर्तन; नाट्यरस और साधारणीकरण; नाट्यरस और अनुकृति; अनुकरण की उपहासमूलकता; सजातीय और सदृश अनुकरण; नाट्यरस की श्रेष्ठता; नाट्य-रस की आस्वाद्यता; नाट्यरस की आस्वाद योग्यता; अनुकार्य में रस और सामाजिक में रसाभास; समाहार; रस सुखात्मक या दुःखात्मक; रसों के वर्गीकरण का आधार; आचार्यों के मत-मतांतर; रससिद्धान्त पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का प्रभाव; रसनिष्पत्ति; भट्ट लोल्लट का स्थायी भावोपचयवाद; भट्टलोल्लट की त्रुटियाँ; शंकुक का अनुकरण और अनुमितिवाद; अनुकरणवाद का खंडन; भट्ट-नायक का त्रिविध व्यापार : रस का आभोग; भट्टनायक की परिकल्पना; अभि-नवगुप्त का अभिव्यंजनावाद; रसानुभूति का काल; रसानुभूति और कामभाव; रसानुभूति की विलक्षणता; भाव और रसोदय—स्थायी भाव : रसत्व का पद; भावों से रस या रसों से भाव; रसों की संख्या : आचार्यों की मान्यताएँ; रस से रसोत्पत्ति के कारण; रसों में शान्तरस; स्वीकृत रस : शृंगार-हास्य-करुण रौद्र-वीर-भयानक-वीभत्स-अद्भुत-शान्त; निष्कर्ष।

२. **भाव** २४९-२६२

भाव का स्वरूप और उसकी व्यापकता; भाव और भावन; अनुभाव; भाव : विभाव और अनुभाव के संयुक्त रूप; भावों का सामान्य गुणयोग; स्थायीभाव-संचारी भाव : एकसूत्र न्याय; स्थायी भाव—रति से विस्मय तक; व्यभिचारी भाव और उनका अभिनय; सात्विक भाव और रसोदय—सत्त्व में नाट्य की

प्रतिष्ठा; अभिनवगुप्त और शंकुक की मान्यताएँ; संवेदनभूमि में चित्तवृत्ति का संक्रमण; सात्विक भाव और अनुभाव; सात्विक भावों की संख्या और स्वरूप; सात्विक प्रतीकों की भाव सामग्री; सात्विक भावों का अभिनय; सत्त्व : नाट्य की प्राणविभूति; भरत के चिन्तन की मौलिकता।

छठा अध्याय

अभिनय-विज्ञान

१. वाचिक अभिनय २६५-९२

शब्द और छन्दविधान : वाचिक अभिनय की व्यापकता; शब्द विधान; पद-बंध की दो शैलियाँ; पद्य की दो शैलियाँ : जाति और वृत्त; वर्णिक छन्द; छंदों की संख्या; वृत्तों के विभिन्न वर्ग; छंदों के ललित नाम; छंदों की रसानुकूलता; लक्षण-विधान; लक्षण की परम्परा और पाठ-भिन्नता; भरत-परिगणित लक्षण; लक्षण : परवर्ती आचार्यों की मान्यताएँ; लक्षण का व्यापक एवं मौलिक स्वरूप; लक्षणों का उत्तरोत्तर ह्रास; अलंकार—अलंकारों का उत्तरोत्तर विकास : लक्षणों का दायित्व; अलंकार की व्यापक शक्ति; भरत-निरूपित अलंकार; उपसंहार; दोषविधान—दोषों की परम्परा; गौतम का न्यायसूत्र; कौटिल्य का अर्थशास्त्र; महाभारत और जैनागम; भरत-निरूपित दोष; कुछ अन्य दोष; दोष का उत्तरोत्तर विकास और स्वरूप; दोष और आचार्यों की सूक्ष्म चिंतन पद्धति; उपसंहार; गुण-विधान—गुण की परम्परा; दोषाभाव और गुण; भरत-निरूपित गुण; गुण-सिद्धान्त की दो विकसित परम्पराएँ; वामन के गुण-सम्बन्धी सिद्धान्त; आनन्दवर्द्धन के गुणसम्बन्धी सिद्धान्त; उपसंहार; नाटकों की भाषा, संबोधन : पाठ्य गुण; नाटकों में भाषा की बहुविधता; पात्रों की विभिन्न भाषाएँ; विविध प्राकृत भाषाएँ; भाषाविधान : परवर्ती नाटक और नाट्यशास्त्र; संबोधन विधान : परवर्ती परम्पराएँ; पात्रों के नाम; नाट्य-प्रयोग : पाठ्यगुण; सप्तस्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग।

सप्तम अध्याय

नाट्य का प्रस्तुतीकरण

१. पूर्वरंग २९७-३०७

पूर्वरंग का स्वरूप; पूर्वरंग और आचार्यों की मान्यताएँ; पूर्वरंग के विभिन्न अंग; यवनिका के बाहर पूर्वरंग की प्रयोज्य विधियाँ; पूर्वरंग की उपयोगिता; नांदी का भरत-निरूपित स्वरूप; नांदी के देवता चन्द्र और नाट्यरस; नांदी और आचार्यों की मान्यताएँ; भास के नाटक और नांदी; नांदी का भव्य वातावरण और उत्तरवर्ती अनुष्ठान; स्थापना : प्रस्तावना; भारतेन्दु—प्रसाद के के नाटक तथा पूर्वरंग; पूर्वरंग के भेद; पूर्वरंग केताललयाश्रित भेद; गीत-

वाद्याश्रित चित्र पूर्वरंग; चित्र पूर्वरंग : शिव का ताण्डव नृत्य; गीत-वाद्य-नृत्त का संतुलित प्रयोग।

२. पात्रों की विभिन्न भूमिकाएँ ३०८-३१६

पात्रों की भूमिका के मूल में विचार दर्शन; पात्रों की आकृति और प्रकृति; आकृति और प्रकृति की अनुरूपता; विभिन्न प्रकृतियाँ : अनुरूपा, विरूपा, रूपानुरूपा; भूमिकाओं की विभिन्न प्रकृतियों के उपलब्ध साक्ष्य; विपरीत भूमिका; रूपानुरूपा नाट्यप्रयोग की प्रवृत्ति; सुकुमार और आविद्ध प्रयोग।

३. नाट्याचार्य और रंगशिल्पी ३१७-३१

सूत्रधार; सूत्रधार और अभिनेता; पाश्चात्य नाट्यप्रणाली में सूत्रधार; स्थापक और परिपार्श्विक; नाट्यकार; नट, नटी, नाटकीया, नर्तकी; स्तौतिक (तौरिक); नाट्य-प्रयोग के कुछ अन्य शिल्पी; परवर्ती आचार्यों की विचारधारा; नाट्य-प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थिति।

४. सिद्धिविधान ३२-३४२

सिद्धि-विधान की परम्परा; सिद्धि का स्वरूप और प्रकार—मानुषी सिद्धि : वाङ्मयी, शारीरी, दैवी; दोनों सिद्धियों का अन्तर; बाधाएँ—परसमुत्था, आत्मसमुत्था, औत्पातिक; नालिका द्वारा नाट्य-प्रयोग का काल-निर्धारण; बाधाओं के तीन रूप; आलेख्य का प्रयोग; लोक और शास्त्र की परम्पराओं का अनुसरण; प्रेक्षक और प्राश्निक; नाट्य-प्रयोग में प्रतिद्वंद्विता और पुरस्कार का विधान; परवर्ती ग्रंथों में सिद्धि-विधान; नाट्य-प्रयोग का त्रिक।

अष्टम अध्याय

नाट्य-प्रयोग विज्ञान

१. आंगिक अभिनय ३४५-७६

अभिनय विधान: सामान्य पर्यवेक्षण; अभिनय और नाट्य; अभिनय के चार प्रकार; अभिनय के अन्य दो भेद; आंगिक अभिनय के प्रकार; आंगिक अभिनय और भावप्रदर्शन; शिर के अभिनय; दृष्टि के अभिनय; नासिक, कपोल, अधर, चिबुक और ग्रीवा के अभिनय; अभिनय में मुखराग की महत्ता; हस्ताभिनय; हस्ताभिनय के आधार; हस्ताभिनय के प्रचार की बहुलता और अल्पता का आधार; हस्ताभिनय का प्रयोग; हस्ताभिनय : उपांगों का अभिनय और मुखराग की परस्पर अनुगतता; हस्ताभिनय में लोकधर्मी-नाट्यधर्मी परम्पराओं का समन्वय; हस्ताभिनय के भेद; हस्तभेदों का नाम और क्रिया में साम्य; असंयुत हस्त; संयुत हस्त; नृत्त हस्त; अन्य प्रधान अंगों द्वारा अभिनय; भेद और विनियोग; अंगों का समन्वित प्रयोग—चारी-भौमी और आकाशिकी; स्थान; निषेध; गतिविधान : एक महत्वपूर्ण नाट्यचिंतन; पात्र का प्रवेशकाल; पात्र

के गतिनिर्धारण में प्रकृति का योग; गतिनिर्धारण में सत्त्व का योग; गति में प्रकृति और सत्व का योग; लयात्मकता : नाट्य का प्राणरस; गतिनिर्धारण में रस का योग; गति-विधान में देश का योग; चित्रलिखित प्रतिछवियों का प्रयोग; गतिनिर्धारण में अवस्था का योग; स्त्रीपात्रों का गतिविधान; स्त्री-पुरुष-पात्रों की भूमिका में विपर्यय; आसनविधान—सामाजिक आधार; शयन-विधान।

२. **आहार्याभिनय** ३७७-९३

आहार्य: नाट्यप्रयोग की आधार भूमि; आहार्य अभिनय का विचार-दर्शन; आहार्य अभिनय के चार प्रकार; पुस्तविधि के तीन रूप; अस्त्र-शस्त्रों का नाट्य में प्रयोग; अलंकार, माल्य एवं आभूषण; पुरुषों और महिलाओं के आभूषण; भूषणों का अतिशय प्रयोग; वेश, आभरण और केशविन्यास की विलक्षणताएँ; दिव्यांगनाओं के वेषविन्यास; पार्थिव नारियों का देशानुरूप वेष-विन्यास; वियोगिनी स्त्री का वेष; अंग-रचना; विभिन्न जातियों और देश-वासियों के वर्ण; रसानुरूप शरीर का वर्ण; वर्णरचना की मौलिकता; पुरुषों का केशविन्यास; पुरुषों का वेषविन्यास; शिर का वेष; वेष-रचना का आधार; संजीव; पटी या घटी की रचना; आहार्याभिनय और सारूप्य सृजन; सामग्री का प्रयोग; अन्य आचार्यों के मन्तव्य; समाहार।

३. **सामान्याभिनय** ३९४-४०९

सामान्याभिनय की परम्परा, स्वरूप और सीमा; सामान्य और चित्राभिनय; घोष महोदय का मत; सामान्याभिनय और सत्त्व (मनोवेग); अभिनय की उत्तमता का आधार सत्त्वातिरिक्तता; सत्त्वातिरिक्तता और अरस्तू की मान्यता; सत्त्वातिरिक्तता और अन्तर्द्वन्द्व; नाट्य और इच्छाशक्ति का संघर्ष; सामान्याभिनय और नर-नारी के सत्वज अलंकार; आंगिक विकार; नारियों के स्वाभाविक और अयत्नज अलंकार; पुरुषों के सत्त्व-भेद; शारीर अभिनय; वाचिक अभिनय के बारह रूप—अनगिनत भेद; नाट्य के दो रूप : आभ्यन्तर और बाह्य; विषयों का प्रत्यक्षीकरण और नाट्य; इन्द्रियों के संकेतों द्वारा भावों का अभिनय; इन्द्रियाँ और मन; सब भावों के मूल में कामभाव; कामभाव की सुखमूलकता; फ्रायड की मान्यता; समाहार।

४. **चित्राभिनय** ४१०-२२

स्वरूप : सीमा और परम्परा; चित्राभिनय में लोकात्मकता; चित्राभिनय में प्रतीक विधान; प्राकृतिक पदार्थों का चित्रात्मक अभिनय; पशुओं के अभिनय के लिए प्रतीक; ध्वज, छत्र और अस्त्र-शस्त्र के द्वारा राज-प्रभाव की समृद्धि; ॠतुओं का अभिनय; मनोभावों के प्रदर्शन की प्रतीकात्मक विधियाँ; पुरुष एवं स्त्री की प्रकृति के अनुरूप भाव-प्रदर्शन—उसकी प्रयोगविधियाँ; लौकिक प्राणियों और पदार्थों का अभिनय; अभिनय के कुछ विशिष्ट शिल्प—आकाश-वचन, आत्मगत, अपवारितक, जनांतिक; स्वप्नवाक्यों का प्रयोग; मूर्च्छा आदि

का अभिनय; वृद्ध और बालक का अभिनय; पुनरुक्तता; शास्त्र और सत्त्व के अनुरूप अभिनय; नाट्य की लोकात्मकता; समाहार।

नवम अध्याय

नाट्य की रूढियाँ

१. नाट्यवृत्ति ४२५-३८

वृत्तियों का स्वरूप और परंपरा; वृत्ति : काव्य की व्यापक शक्ति; वृत्ति और रीति; भरत-प्रतिपादित वृत्तियाँ; वृत्तियों का उद्भव, स्रोत और प्रेरक तत्त्व; वृत्तियाँ : नाट्य की मातृरूपा; भरत-निरूपित वृत्तियाँ; भारती; भारती के अंग—प्ररोचना, आमुख, वीथी, प्रहसन; सात्त्वती; कैशिकी; कैशिकी वृत्ति की प्राणरूपता; कैशिकी के चार अंग—नर्म, नर्मस्फुंज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ; आरभटी; आरभटी के चार अंग—संक्षिप्त, अवपात, वस्तूत्थापन और संफेट; वृत्तियों की संख्या; वृत्त्यंगों की संख्या; वृत्तियों का रसानुकूल प्रयोग।

२. प्रवृत्ति ४३९-४६

प्रवृत्ति का स्वरूप और परंपरा; प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार; चार ही प्रवृत्तियों का औचित्य; भरत-निरूपित प्रवृत्तियाँ—दाक्षिणात्या, आवंतिका, औड्मागधी, पांचालमध्यमा; प्रवृत्ति और पात्र का रंगमंच पर प्रवेश; देशभिन्नता और स्वभावभिन्नता का परिचायक; भोज के प्रवृत्तिहेतु; प्रवृत्तियों का समन्वय; प्रवृत्तिविधान में विचारों की मौलिकता।

३. लोकधर्मी : नाट्यधर्मी ४४७-५५

लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का स्वरूप; नाट्यधर्मी का स्रोत लोकधर्मी; लोकधर्मी-नाट्धर्मी; लोकवृत्त और स्वभाव में नवीन कल्पना; लक्षणयुक्तता और अभिनय में मनोहारिता; पात्रों की भूमिका में विपर्यय; लोक-प्रसिद्ध द्रव्य का प्रयोग; आसन्न वचन का अश्रवण और अप्रयुक्त वचन का श्रवण; शैल, यान, विमान और आयुध आदि का प्रयोग; एक पात्र का एक से अधिक भूमिका में प्रयोग; सामाजिक मान्यता और भूमिका में स्त्रीपात्र; अंगों का ललित विन्यास; लोकस्वभाव और आंगिक अभिनय; रंगपीठ पर कक्ष्याविभाग; नाट्यधर्मी रूढ़ि और राग का प्रवर्त्तन; लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का महत्व; आचार्यों की मान्यताएँ; धर्मियों के नवीन भेद।

दशम अध्याय

नाट्य की उपरंजक कलाएँ

१. गीतवाद्य ४५६-७०

नाट्य में गीतवाद्य का संतुलित प्रयोग और परंपरा; भारतीय नाट्य में गीतवाद्य की परंपरा; गीतवाद्य के प्रवर्तक भरत के पूर्ववर्ती आचार्य; गीत का स्वरूप

और प्रकार; सप्त स्वर और उनके चार प्रकार—वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी; ग्राम और उनकी रागात्मकता; अंश स्वर की महत्ता; गानक्रिया के वर्ण—आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी; अलंकार; गीति के प्रकार; गीत में ताल, लय और यति; ध्रुवागान और उसके प्रकार—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादकी और आन्तरी; संगीत : मार्ग और देशी; वाद्य के रूप; गायकों और वादकों की आसन-व्यवस्था; प्रयुक्त वाद्य; समाहार।

२. **नृत्य** ४७१-७६

भारतीय नृत्य की परंपरा; नृत्य में करण, अंगहार और रेचक; चिदंबरम् के नटराज मंदिर में अंकित मुद्राएँ; नृत्य का सुकुमार रूप लास्य और उसके दस अंग; प्रायोगिक नृत्य की परंपरा; अंग सौष्ठव और अभिनय; नृत्यप्रयोग के विधि-निषेध।

एकादश अध्याय

आधुनिक भारतीय रंगमंच

१. **आधुनिक भारतीय रंगमंच** ४७६-५०८

पूर्वपीठिका; भारतीय रंगमंच का स्वर्णयुग; प्राचीन भारत के रंगभवन; रंगमंच का ह्रास; मध्ययुग के संगीत-प्रधान लोकनाट्य; भारतीय लोक नाट्यों की परंपरा और स्वरूप; रामलीला-कृष्णलीला; यात्रा; ललित और भवाइ—पंजाबी लोक-नाट्य; असमिया अंकिया नाट्य; दक्षिण भारत के लोक-नाट्य; आज का हमारा रंगमंच : (क) उत्तर भारतीय रंगमंच—पारसी; गुजराती; मराठी; बंगला; कलकत्ता के विदेशी रंगमंच; बंगला रंगमंच—गिरीश घोष और शिशिर भादुरी से आज तक; हिन्दी रंगमंच; नाट्य-मंडलियों की स्थापना; प्रसाद-युग; पृथ्वी थियेटर्स; (ख) दक्षिण भारतीय रंगमंच—तमिल; तेलुगु; कन्नड़; मलयालम्; भरत नाट्यम्; (ग) राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना।

उपसंहार ५११-२२

संदर्भ ग्रंथों की सूची ५२३-४४

पाण्डुलिपि; संस्कृत ग्रंथ; हिन्दी के सहायक संदर्भ ग्रंथ; गुजराती और बंगला; हिन्दी एवं बंगला नाटक; अंग्रेजी भाषा के सहायक संदर्भ ग्रंथ; अंग्रेजी के सहायक निबंध; हिन्दी की सहायक शोध एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ।

शब्दानुक्रमणिका ५४५-८१

शुद्धि-निर्देश ५८२-८६

प्रथम अध्याय

भरत और नाट्यशास्त्र

१. भरत
२. नाट्यशास्त्र के प्रकाशित संस्करण एवं पाण्डुलिपियाँ
३. नाट्यशास्त्र का रचना-काल
४. नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य, स्वरूप शैली और विकास की अवस्थायें
५. नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्य और भाष्यकार

आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वत: ।।

—नाट्यशास्त्र १।२५.

ततश्च भरत: सार्द्धं गंधर्वाप्सरसां गणै: ।
नाट्यं नृत्यं तथा नृत्तं अग्रे शंभो: प्रयुक्तवान् ।।

—संगीत रत्नाकर

This work is probably unique in the world's literature on dramaturgy. Hardly any work on dramaturgy in any language has the comprehensiveness, the sweep and the literary and artistic flair of the Natyasastra.

History of Sanskrit Poetics : *P.V. Kane, page 39-40.*

१

भरत

भरत : आर्षवाङ्मय का साक्ष्य

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अनेक 'भरतों' का विवरण मिलता है। इन भरतों ने अपनी जीवन-गरिमा, तेजस्विता और प्रतिभा से न केवल अपने युग को ही प्रभावित किया अपितु उनकी जीवन-ज्योति का आलोक आज भी इस महादेश को कला और कर्म के क्षेत्र में प्रेरणा और गति दे रहा है।

संहिताकाल के भरत

संहिताकाल से ब्राह्मणकाल तक के विशाल वैदिक वाङ्मय में भरत का उल्लेख एक प्रसिद्ध वैदिक जाति के रूप में हुआ है। इसी जाति में 'दौष्यंति भरत' और 'शतानीक सत्राजित्' नाम के दो भरतवंशी राजाओं ने अपने अपूर्व पराक्रम का परिचय देने के लिए यज्ञ किए। सरस्वती और दृषद्वती नदियों के तटों पर इनकी तेजस्विता के फलस्वरूप कभी पवित्र वेदमंत्रों की ध्वनि गूँजती थी।[१] ऐतरेय ब्राह्मण में तो इन दोनों भरतवंशियों के राज्याभिषेक की कथा का भी उल्लेख मिलता है।[२] भरत दौष्यंति का अभिषेक दीर्घतमा मामतेय ने और शतानीक सत्राजित् का अभिषेक सोमसुष्मन् वाजरात्नायन ने किया था। इन्होंने काशियों को पराजित कर गंगा-यमुना के तट पर याज्ञिक अनुष्ठान का प्रसार किया था।[३] इनमें से एक 'दौष्यन्ति भरत' की वीरता और तेजस्विता ने समस्त जम्बू द्वीप को 'भारत' के रूप में विख्यात कर दिया।[४] इस भरत से नाट्यशास्त्र की रचना का सम्बन्ध रहा हो, यह कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु वैदिक कालीन इन भरतों से नाट्यप्रयोक्ता एवं नाट्यशास्त्रकार भरत(तों)

१. यदंगत्वा भरताः संतरेयुः गव्यन् ग्राम इषितः इन्द्रजूतः। ऋक्० मं० ३।३३-११-१२

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८।४।२३; शतपथ ब्राह्मण। १३।५।८

३. ऋग्वेद मण्डलः १-६३; २-४।१; ३-५३।२४ ; आदि।

४. वैदिक कोष : डा० सूर्यकान्त—पृ० ३५०-३५१।

से एक अर्थ में साम्य है कि ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'भरत' और 'भारतजन' का उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति और नाट्यप्रयोग के विभिन्न संदर्भों में भरतमुनि के पुत्रों तथा नाट्यप्रयोक्ता सूत्रधार, नट, विदूषक एवं अन्य शिल्पियों का 'भरतजन' के रूप में उल्लेख मिलता है।[१] वह सम्भवतः इसलिए कि नाट्यप्रयोक्ता शिल्पी विभिन्न नाट्यप्रयोगों को धारण या भरण करते हैं। वेदों में भरणार्थक 'भृ' धातु से व्युत्पन्न 'भरत' शब्द अग्नि और मरुत् के विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है। 'अग्नि' को भारत के रूप में भी अभिहित किया गया है।[२] नाट्यप्रयोक्ता के लिए भरत शब्द के प्रयोग की परंपरा याज्ञवल्क्य स्मृति एवं अन्य कई परवर्ती ग्रंथों में भी दिखाई देती है।[३] आर्षवाङ्मय की यह सारी सामग्री इतना ही संकेत दे पाती है कि इस देश में भरतों की एक परंपरा थी, संभवतः इन भरतों या भरतजनों में से किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या पूरे वंश का संबंध नट-सूत्रों से रहा हो जिन्हें परंपरागत पवित्र वैदिक चरणों में स्थान मिला हो। आर्ष परम्परा में वर्तमान ये नटसूत्र ही क्या भरत के नाट्यशास्त्र के बीजरूप सिद्ध नहीं हुए?[४]

नाट्यशास्त्र का साक्ष्य

भरत के जीवन के संबंध में नाट्यमंडप, नाट्योत्पत्ति और नाट्यावतार नामक अध्यायों में कुछ बिखरी हुई सामग्री मिलती है। नाट्योत्पत्ति अध्याय के साक्ष्य के अनुसार नाट्यवेद का ज्ञान भरत को ब्रह्मा से प्राप्त हुआ।[५] उन्होंने अपने शतपुत्रों (भरतों या भारतों) को इस नाट्यवेद की शिक्षा दी। उन भरत-पुत्रों में कोहल, दत्तिल, वात्स्य और शांडिल्य आदि आचार्य न केवल नाट्यप्रयोक्ता अपितु नाट्यशास्त्र-प्रणेता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।[६] इसी अध्याय में 'महेन्द्र विजयोत्सव', 'त्रिपुरदाह (डिम)' और 'अमृतमंथन' नामक तीन रूपकों का विवरण मिलता है जिनका प्रयोग विभिन्न अवसरों पर भरत ने ही किया था।[७] विक्रमोर्वशी तथा पद्मपुराण में 'लक्ष्मी स्वयंवर' और भावप्रकाशन में 'दक्षाध्वरध्वंस' नामक रूपकों के प्रवर्तक भरत ही माने गये हैं।[८] नाट्यप्रयोग के प्रथम प्रवर्तक भरत और भरतों का जीवन भयानक युद्ध, रक्तपात, हत्या और अभिशाप से तमसाछन्न रहा है। 'महेन्द्र विजयोत्सव' में दानवों के पराजय की कथा निबद्ध थी, इसलिए दानवों ने रंगभवन का संहार और प्रयोक्ताओं पर कठोर प्रहार किया। यद्यपि उन्हें देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त था। पर स्वर्ग में नाट्य-

---

१. नाट्यशास्त्र १।२४, ३६।६६-६९ का० सं०

२. त्वं न असि भारत आग्ने। ऋक् ३।७।५.
सायणभाष्य ४।२५।४।

३. यथा हि भरतो वर्णैः वर्णयति आत्मनस्तनूम्। याज्ञवल्क्य स्मृति ३।१६२
अमरकोष पं० १९५३।

४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३१५। वासुदेवशरण अग्रवाल।

५. आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगंचापि तत्त्वतः॥ ना० शा० १।१२,२५ (गा० ओ० सी०)।

६. ···कोहलः कथयिष्यति। ना० शा० ३६।६५ (का० मा०)

७. ना० शा० १।५५-५६; ४।२-१०. (गा० ओ० सी०)।

८. भा० प्र० पृ० ५७ पं० २, विक्रमोर्वशीय अंक २।१७, पद्मपुराण ५।१२।८१।

प्रयोग प्रस्तुत करते हुए ऋषि-मुनियों का उपहास अनुकरण के रूप में प्रस्तुत किया तो भरत-पुत्र अभिशाप के भी भाजन हुए। नहुष के अनुरोध और भरतमुनि के आदेश से वे अभिशप्त भरतपुत्र मनुभूमि पर आये और यहाँ सर्वलोकानुरंजनकारी नाट्य का प्रयोग किया, तब उन्हें शाप से मुक्ति मिली।[1]

रंगभवन की रचना के संदर्भ में भी भरत को ही सारा श्रेय नाट्यशास्त्र में प्राप्त है। यद्यपि उन्हें विश्वकर्मा से भी सहायता प्राप्त हुई। बाद में देवों और दानवों में परस्पर लोकानुरंजनकारी इस चाक्षुष यज्ञ के सम्बन्ध में सहमति होने पर शुभाशुभ विकल्पक भावानु-कीर्तन रूप नाट्य का प्रयोग सर्वलक्षण-संपन्न नाट्यमंडप पर हुआ।[2] नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमण्डप के प्रथम प्रवर्त्तक भरत ही हैं।

भरत : नाट्यप्रयोक्ता

भरत का जीवन नाट्यशास्त्र में जिस रूप में भी उपलब्ध है, उससे यह हम अनुमान कर सकते हैं कि भरत एवं (भरतवंशी) प्रयोक्ताओं ने नाट्यकला के प्रयोग, विकास और संरक्षण के लिए प्राक्-इतिहास काल से ही संघर्ष, युद्ध, शाप और अपमान सहन कर मनुष्य-जीवन की मधुर, रसवंती नाट्य-विद्या स्वर्ग को भी दी और इस धरती को भी। मनुष्य का जीवन दुःख और अनुताप से घिरा रहता है और इस ललित कला का प्रयोग उसके इस दुःखदग्ध जीवन में सुख की शीतल किरणों की वर्षा करता है। पौराणिक कथाओं के घटाटोप से घिरी भरत और भरत-पुत्रों की यह नाट्य-भागीरथी उनकी अक्षय उज्ज्वल कीर्ति को प्रतिभासित करती है। भरतों द्वारा प्रणीत और प्रयुक्त यह नाट्य-विद्या अपनी रसमयी बिनोद वृत्ति के कारण मनुष्य की मूल चेतना 'आनन्द वृत्ति' का भरण-पोषण करती है। इसीलिए वे भरत भी हैं।

नाटकों का साक्ष्य

नाट्यशास्त्र के परवर्ती नाटकों एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का उल्लेख नाट्याचार्य, नाट्यप्रणेता तथा नाट्यशास्त्रकार के रूप में मिलता है। इस दृष्टि से कालिदास के विक्रमो-र्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। विक्रमोर्वशी में प्राप्त कथा के अनुसार भरत ने स्वर्गलोक में अष्टरसाश्रित 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाट्य का प्रयोग किया था। मालविकाग्निमित्र के विश्लेषण से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह नाटक नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट नाट्यविधियों का प्रयोगस्थल ही है।[3] कालिदास भरत से नाट्याचार्य और नाट्य-शास्त्रप्रणेता—दोनों ही रूपों में परिचित हैं। नाटककार भवभूति ने उत्तररामचरित में नाटकान्तर्गत नाटक की परिकल्पना करते हुए भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' के रूप में स्मरण किया है। वहाँ की कथावस्तु के अनुसार वाल्मीकि ने रामायण का मार्मिक प्रसङ्ग नाट्य रूप

---

१. गम्यतां सहितैः भूमिं प्रयोक्तुं नाट्यमेव च।
करिष्यामि च शापांते अस्मिन् सम्यक् प्रयोजिते। ना० शा० ३६।५३-६३।

२. ना० शा० १।७६ (गा० ओ० सी०)।

३. मालविकाग्निमित्र अंक १।२ की कथावस्तु : विक्रमोर्वशी २।१७।

में प्रस्तुत करने के लिए भरत के पास भेजा था। भरत उस प्रसंग को नाट्य रूप में अप्सराओं की सहायता से प्रस्तुत करने वाले थे।[१] दामोदर गुप्त विरचित कुट्टनीमत में भरत का उल्लेख नाट्याचार्य के रूप में है ही, पर उसमें हर्षरचित रत्नावली के नाट्य-प्रयोग का यथावत् काव्य-मय विवरण देते हुए भरतमुनि का स्मरण करना वह न भूले हैं।[२] रत्नावली नाटिका का प्रयोग तो नाट्यशास्त्र की शैली में ही प्रस्तुत किया है। वस्तुतः कालिदास से आरम्भ कर बाद के जितने भी नाटककार (या काव्यकार भी) हुए हैं, उन्होंने अपना प्रत्यक्ष परिचय भरत और उनके नाट्यशास्त्र से प्रगट किया है।

नाट्यशास्त्रों का साक्ष्य

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत एवं उनके नाट्यशास्त्र का उल्लेख तो है ही, उन पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। दशरूपक, अभिनयदर्पण, भावप्रकाशन, नाट्यदर्पण, अभिनवभारती, रसार्णव सुधाकर, नाटक लक्षणरत्नकोष और संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में भरत का उल्लेख अनेक बार हुआ है। उन प्राप्त विवरणों के अनुसार भरत नाट्यशास्त्र-प्रणेता एवं नाट्याचार्य भी थे।

दशरूपक में वन्दना के क्रम में ग्रन्थकार ने नाट्यशास्त्रप्रणेता के रूप में भरत को स्मरण किया है।[३] दशरूपक पर भरतरचित नाट्यशास्त्र का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

नाट्यदर्पण में भरत का विवरण मुनि और वृद्धमुनि के रूप में मिलता है। भरत के विपरीत मतों का खण्डन है तथा सभी नाट्याचार्यों में भरत का मत सर्वाधिक प्रमाणभूत माना गया है।[४]

सागरनन्दी रचित नाटक लक्षणरत्नकोष नाट्यशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की संक्षिप्त उद्धरणी है। ग्रन्थ के मध्य में भरत मुनि एवं भरताचार्य के नाम से अनेक श्लोक उद्धृत हैं, जो नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करणों में प्राप्त नहीं होते। सागरनन्दी ने भरत के अतिरिक्त कात्यायन, वादरायण, शातकर्णि, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट, चारायण, मातृगुप्त और राहुल आदि कई आचार्यों के मतों का एकाधिक बार उल्लेख किया है। इनमें से कोई भी आचार्य भरत की अपेक्षा प्राचीन नहीं है, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। परन्तु ग्रन्थ की परिसमाप्ति में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि आचार्यों में भरत 'मुख्याचार्य' हैं एवं उनका ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र 'अम्बुराशि के समान विशाल और अथाह है'।[५]

शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर में भरत का उल्लेख नाट्यशास्त्र-प्रणेता के रूप में है। उनकी दृष्टि से इस कार्य में उन्हें अपने शत-पुत्रों से भी सहयोग मिला।[६]

शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर में प्रस्तुत विषय की चर्चा नाट्यशास्त्र में प्राप्त उल्लेखों

१. तंच स्व हस्तलिखितं व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिक सूत्रधारस्य। स किल भगवान् भरतस्तमर-सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति। उ० रा० अ० ४।
२. कुट्टनीमत श्लोक १२३।१२४।
३. दशरूपक १।२।
४. नाट्यदर्पण-तत्र वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धि। तथा पृ० २६, ७१, १०२, १०६ (गा० ओ० सी० द्वि० सं०)
५. इहहि भरतमुख्याचार्य शास्त्राम्बुराशेः, ना० ल० को० पं० ३२१७, ३२२५-२८, १६, २८, १२३।
६. र० सु० पृ० ८।४८-५४।

के अनुरूप ही है। किसी नवीन तथ्य का उल्लेख या विवरण नहीं। नाटचशास्त्र-प्रणेता एवं नाटचप्रयोक्ता के रूप में वे भरत से परिचित हैं।[1]

शारदातनय के भावप्रकाशन में नाटचोत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कथायें प्राप्त हैं। उनसे भरत के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों का संकेत मिलता है। नाटचोत्पत्ति के प्रसंग में ब्रह्मा के अतिरिक्त नन्दिकेश्वर आदि नाम नवागत मालूम पड़ते हैं। नाटच-प्रयोक्ता और शास्त्र-प्रणेता के रूप में भरत का महत्त्व तो सिद्ध है ही। परन्तु इस सम्बन्ध की प्राप्त दोनों कथाओं में भरत के अतिरिक्त एक 'आदि भरत' का भी उल्लेख है। 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में एक के अनुसार तो ब्रह्मा ने प्रयोगज्ञान के लिए प्रस्तुत मुनियों को उक्त ज्ञान को भरण (ग्रहण) करने का आदेश दिया। इसीलिए 'भरत' नाम से यह प्रसिद्ध हुआ।[2] दूसरी कल्पना के अनुसार भाषा, वर्णों के उपकरण, नाना प्रकृतिसम्भव वेष, वय, कर्म और चेष्टा को धारण (भरण) करने से ही वे 'भरत' होते हैं।[3] दोनों उपलब्ध कथायें भरत के नाटचशास्त्र के आधार पर ही हैं और नाटचशास्त्र के शास्त्रीय एवं प्रयोग-पक्षों का संकेत करती हैं। परन्तु शारदातनय का भावप्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण समस्या का संकेत करता है कि क्या 'आदि भरत' परम्परागत नाटचशास्त्र-प्रणेता 'भरत' से भिन्न थे? तथा 'भरत' एक नहीं अनेक थे? क्या नाटचशास्त्र एवं प्रयोग को भरण या धारण करने से नाटच-प्रयोक्ताओं और नाटचाचार्यों के लिए यह 'भरत' शब्द प्रचलित हो गया? इन सम्बद्ध विषयों पर थोड़ा और भी विचार कर लें।

नाटचशास्त्र में भरत एक या अनेक?

भरत एक थे या अनेक इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक सम्भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय में नाटचशास्त्र, भाव प्रकाशन और अभिनवगुप्त की अभिनव भारती में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा से नाटचवेद की शिक्षा पाई और नाटच का प्रयोग भी किया। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शब्द भी इसी के समर्थक हैं। भरत के शतपुत्रों का भी उल्लेख भरतपुत्र या भरत के रूप में प्रथम एवं छत्तीसवें अध्यायों में किया गया है। परन्तु नाटचशास्त्र में नाटच-प्रणेता और प्रयोक्ता भरत मुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व सर्वत्र ही उन भरत-पुत्रों एवं कोहल आदि आचार्यों से भिन्न है।[4] नाटचशास्त्र के ३६वें अध्याय में 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) सूत्रधार, नाटचकार, मालाकार और आभरणकृत आदि शिल्पियों के लिए भी हुआ है।[5] इस प्रकार के प्रयोग से ही

---

१. सं० र० भाग ४, पृ० ३।

२. नाटयवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयोदितम्।
तस्माद् भरतनामानो भविष्यथ जगत्रये। भा० प्र० २८२।२-४।

३. भाषावर्णोपकरणैः नानाप्रकृतिसंभवम्।
वेषं वयः कर्म चेष्टा विभ्रद् भरत उच्यते॥ भा० प्र० पृ० २८८।३-४।

४. एवं तु मुनयः श्रुत्वा सर्वज्ञं भरतं तदा। ना० शा० ३६।१, १०, ११, १२, ४० (का० मा० सं०)।

५. ना० शा० ३३।६६ (का० सं०)।

संभवतः परवर्ती आचार्यों में इस विचार का प्रसार हुआ हो कि भरत एक नहीं अनेक थे। क्योंकि ये नाटच-प्रयोक्ता अपने अभिनय आदि कर्म से नाटचप्रयोग का भरण-पोषण करते थे।

भावप्रकाशन तथा आधुनिक विद्वानों की मान्यता

भावप्रकाशन में उपलब्ध विचार-सामग्री 'भरत' एक व्यक्ति की अपेक्षा 'भरत' जाति का संकेत करती है। इस ग्रन्थ में भरत तथा उसके लिए प्रयुक्त सर्वनाम शब्द प्रायः बहुवचनान्त हैं। तृतीय एवं दशम अधिकारों में उपर्युक्त शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग कम-से-कम पच्चीस बार हुआ है। वे 'भरत' के स्थान पर 'भरतादि' शब्द का प्रयोग करना उचित मानते हैं। यहाँ तक कि भावप्रकाशन की भूमिका में भरत के मत की चर्चा न कर भरत के शिष्यों के विभिन्न मतों के अध्यापन का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन विद्वानों के बीच कोई ऐसी परम्परा जीवित थी, जो नाटच-प्रयोग ही नहीं नाटचशास्त्र के प्रणयन का भी श्रेय एक 'भरत' नामक ऋषि को न देकर व्यास की तरह एक 'भरतादि' परम्परा को देना उचित समझती थी[१], जिसका प्रभाव **भावप्रकाशन** की विचारधारा पर पड़ा है। सम्भव है, इस विचार का प्रसार नाटचशास्त्र के पाठभेद के कारण भी हुआ होगा। अन्तिम अध्याय में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण पंक्ति है जिससे दो भिन्न विचारधाराओं को पनपने का अवसर प्राप्त होता है। कोहल आदि ने इस शास्त्र का 'प्रणयन' और 'प्रयोग' किया, ऐसा उल्लेख है।[२] प्रणयन की पाठ-परम्परा को स्वीकार कर लेने पर कोहल आदि भरत-पुत्रों को नाटचशास्त्र के प्रणयन का श्रेय मिल जाता है और यदि 'प्रयुक्त' पाठ को स्वीकार करते हैं, तो यह **नाट्यशास्त्र** की सम्पूर्ण परम्परा के अनुकूल विचार प्रतीत होता है। परन्तु **नाट्यशास्त्र** में उल्लिखित 'प्रणीत' पाठ का प्रभाव **भावप्रकाशन** पर है। आधुनिक विद्वानों ने भी इसे ही अधिक प्रश्रय दिया है, क्योंकि उनके विचार से ऐसे महान् कलाग्रन्थ की रचना उत्तरोत्तर भरतों के वंशानुक्रम की ही देन हो सकती है न कि एक विशिष्ट व्यक्ति की। यह उपलब्ध नाटचशास्त्र ऐसे कलामर्मज्ञों की रचना है जिन्होंने अपने पूर्व से लेकर वर्तमान तक की समस्त ग्राम्य और नागर जीवन-प्रवृत्तियों और अभिव्यक्ति-प्रणालियों का अध्ययन कर नाटचकला के व्यापक सिद्धान्तों का आकलन किया।[३]

आचार्य अभिनवगुप्त की स्थापना

भरत एक विशिष्ट व्यक्ति ने नाटचशास्त्र का प्रणयन किया अथवा भरतादि ने, इस प्रश्न पर आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्व से ही नाटचशास्त्र के विद्वानों में मतभिन्नता थी।

---

१. शिष्याणां भरतस्य यानि च मतान्यध्याप्य,
पंचावस्था भवन्तीति भरतादिभिरुच्यते। भा० प्रा० पृ० २, २०६-पं ५, २५५, पं० १।

२. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशांडिल्यधूर्तिलैः।
मर्त्यधर्मतयायुक्तैः कचित् कालमवस्थितैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं (प्रणीतं) तु नराणां बुद्धिवर्द्धनम्। ना० शा० ३७।२५, का० मा०।

३. पी० वी० काणे : भूमिका सा० द० पृ० ७-८.

आचार्य अभिनवगुप्त के विचार नितान्त स्पष्ट हैं कि नाटचशास्त्र की रचना भरत मुनि द्वारा हुई न कि वंशपरम्परागत अनेक भरतों द्वारा। अपने विचार का उपबृंहण करते हुए अपने से पूर्व के अनेक आचार्यों की एक एतत्सम्बन्धी मान्यताओं का खण्डन किया है। कुछ पूर्वाचार्यों के मतानुसार नाटचशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में शास्त्र-जिज्ञासा के रूप में जहाँ भी प्रश्नों की योजना हुई है, वे सब उनके शिष्यों के वचन हैं न कि भरत के। पर आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार शास्त्रों में विषयविवेचन के प्रसंग में पूर्वपक्ष प्रश्नशैली में ही प्रस्तुत किया जाता है। उत्तरपक्ष में सिद्धान्त की स्थापना होती है। यह सारी योजना एक ही शास्त्रकार द्वारा होती है, न कि किसी अन्य आचार्य द्वारा भी। नाटचशास्त्र के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की योजना के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। एक ही महामुनि ने प्रश्न एवं समाधान दोनों को प्रस्तुत किया है।[1]

सदाशिव, ब्रह्म और भरत : नाट्यशास्त्र-प्रणेता

आचार्य अभिनवगुप्त ने वंशपरम्परागत भरतों को नाटचशास्त्र के प्रणायन का श्रेय न देकर केवल विशिष्ट भरतमुनि को ही ग्रन्थकार के रूप में स्वीकारते हुए अपने किसी नास्तिक गुरु के इस मत का खण्डन किया है कि नाटचशास्त्र की रचना मूलरूप में सदाशिव ने की, तदनंतर ब्रह्मा ने और अन्तिम रूप में भरत ने। अतः यह नाटचशास्त्र मात्र भरत-विरचित नहीं है।[2] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचशास्त्र में उपलब्ध नाटचोत्पत्ति के विवरण से भी एक 'भरत' का ही समर्थन होता है न कि 'भरतादि' का।[3] वहाँ तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि भरत ने ब्रह्मा से नाटचवेद की शिक्षा पाई। मूल नाटचशास्त्र के विभिन्न सन्दर्भों के विश्लेषण से आचार्य अभिनवगुप्त की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि भरतमुनि ने नाटचशास्त्र की रचना की। प्रयोग का प्रवर्तन तो भरत ने अपने शतपुत्रों की सहायता से किया पर शास्त्र की रचना स्वयं ही की।

आदि भरत, वृद्ध भरत, भरत !

भरत के विवेचन के प्रसंग में हमारा ध्यान अन्य आचार्य भरतों की ओर भी जाता है। **भावप्रकाशन** के विवेचन से हमें भरतादि का संकेत प्राप्त होता है। इनकी दृष्टि से **नाट्यशास्त्र** की रचना के पूर्व नाटचवेद की रचना आदि भरत या किसी वृद्ध भरत ने की थी। **भावप्रकाशन** में न केवल वृद्ध भरत का ही उल्लेख है अपितु वृद्ध भरत के नाम से कुछ गद्यांश भी उद्धृत हैं।[4] शारदातनय की दृष्टि से यह नाटचवेद द्वादशसाहस्री संहिता थी और उसी

---

१. मध्ये षट्त्रिंशत् अध्याय्यां यानि प्रश्न प्रतिवचन योजनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येवेत्याहुः। तच्च असत्। एक ग्रंथस्य अनेक कर्तृवचनसंदर्भमयत्वे प्रमाणाभावात्। अ० भा० भाग-१ पृ० ६।

२. एतेन सदाशिव ब्रह्म भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममत सारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासार विवेचनं तद्ग्रंथप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्। न तु मुनिविरचितमिति यदाहुः नास्तिकोपाध्यायास्तं प्रत्युक्तम्। अ० भा० भाग १ पृ० ६।

३. ना० शा० १।१२-५७।

४. तथा भरत-वृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्। भा० प्र० पृ० ३६।

का संक्षिप्त रूप काव्यशास्त्र है ।[१] शारदातनय के मत से हम असहमत ही क्यों न हों परन्तु इस सत्य को हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं कि नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भी नाट्य-शास्त्रीय विषयक सामग्री का विवेचन उपलब्ध था । आनुवंश्य आर्याओं और श्लोकों के रूप में स्वयं भरत ने भी उद्धृत कर अपने भाव और रस सम्बन्धी तात्त्विक विचारों का समर्थन किया है ।[२] अतः दो विचार-सूत्र हमारे समक्ष बहुत स्पष्ट हैं कि नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता नाट्याचार्य थे । वे वृद्ध भरत हों, जड़ भरत हों या आदि भरत । परन्तु वर्तमान षट्साहस्री संहिता के रचयिता भरतमुनि ही हैं इस विचार का प्रायः परम्परा से समर्थन होता आ रहा है पर उसके प्रयोग का दायित्व निश्चित रूप से भरतवंशियों पर भी आता है ।

निष्कर्ष

आर्ष वाङ्मय, नाट्यशास्त्र एवं अन्य संबद्ध ग्रन्थों में प्राप्त भरतसम्बन्धी विवरणों के विश्लेषण से नाट्यशास्त्रकार भरत के सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलती है । भरतों की वंशपरम्परा वैदिक काल में वर्तमान थी । पर नाट्यशास्त्र की रचना का दायित्व इस पर देना सम्भव नहीं मालूम पड़ता । वेदों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में कभी-कभी पूरी वंशपरम्परा का ही उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद के सातवें मण्डल में मन्त्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठों की वंशपरम्परा है न कि एक व्यक्ति की ।[३] अतः यह कल्पना की जा सकती है कि इन्हीं मंत्रद्रष्टा ऋषियों की भाँति ये भरत भरत-जाति के हों, जिन्होंने नट-सूत्रों की रचना की हो, तथा जिनकी ख्याति नट-सूत्रों के रूप में पाणिनिकाल तक जीवित रही हो ।[४] इन्हीं नट-सूत्रों से नाट्यशास्त्र का विकास हुआ और उसके प्रणयन का श्रेय भरतों को दिया गया ।

नाट्यशास्त्र में 'भरत' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है । भरतमुनि नाट्य-शास्त्रकार हैं, भरतपुत्र (भरत) नाट्यप्रयोक्ता हैं और सूत्रधार, नट, विदूषक, आभरणकृत् और मालाकार आदि तमाम नाट्यप्रयोक्ता भी भरत हैं, क्योंकि नाट्यप्रयोग का धारण और भरण वे करते हैं ।[५] अतः भरत शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र-प्रणेता, नाट्यप्रयोक्ता, नाट्या-चार्य तथा नाट्यशिल्प के प्रयोजयिता आदि के रूप में है । यह प्रश्न अनिर्णीत सा ही रह जाता है कि नाट्यशास्त्रकार भरत एक विशिष्ट व्यक्ति थे, या उसकी रचना का दायित्व अनेक भरतों को दिया जा सकता है । इतना तो निश्चित मालूम पड़ता है कि इन तमाम भरतों (भरतपुत्रों या प्रयोक्ताओं) के मध्य भरत एक विशिष्ट व्यक्ति की सत्ता स्थिर और दृढ़ मालूम पड़ती है । भरत मुनि ब्रह्मा ने नाट्यवेद की शिक्षा दी, भरत मुनि ने अपने शतपुत्रों की सहायता से महेन्द्र विजयोत्सव नाटक का प्रयोग किया । लक्ष्मीस्वयंवर

---

१. भा० प्र० पृ० २८७ ।

२. ना० शा० भाग १, पृ० २८६, २९३, ३१४, ३१८, ३२२ (गा० ओ० सी०) ।

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री, जिल्द १, पृ० ७७ ; "ऋक्मण्डल सूक्त १२२, १३७, १५०, १६०

४. अष्टाध्यायी ४।३, ११०-१११ ।

५. ना० शा० ३५।६६-६६, ३५।४२,६६ ।

नाटक के वही प्रस्तोता थे। अभिशप्त भरतपुत्रों को शाप से उन्होंने मुक्ति दिलायी। पर इस विशिष्ट व्यक्तित्व के अतिरिक्त 'भरतादि' की भी परम्परा परवर्ती ग्रंथों में जीवित रही है। पर आचार्य अभिनवगुप्त जैसे नाटचशास्त्र के विद्वान् 'भरतादि' परम्परा के विरोधी हैं तथा अपने किसी नास्तिक उपाध्याय के इस मत का भी खंडन किया है कि नाटचशास्त्र की रचना अनेक भरतों ने की, एक भरत ने नहीं।

अतः भरत शब्द मूलतः किसी वंशपरम्परा या नाटचप्रयोक्ता समुदाय के लिए ही क्यों न प्रयुक्ता हुआ हो पर काल-प्रवाह में जनमानस की भावना में भरतमुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व मूर्तिमान हो उठा। जिसे ही नाटचशास्त्र के प्रणयन और प्रयोग का श्रेय प्राप्त हो गया है। यद्यपि नाटचशास्त्र से ही यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भरत से पूर्व नट-सूत्र, नाटचशास्त्र और नाटचाचार्यों या भरतों की अक्षुण्ण परम्परा वर्तमान थी।

२

नाट्यशास्त्र के प्रकाशित संस्करण और पाण्डुलिपियाँ

भरत का नाटयशास्त्र भारतीय नाटयविद्या का विशाल वाङ्मय है। इस देश में पाश्चात्य पद्धति के अध्ययन-अनुसंधान की परम्परा एक डेढ़ सौ वर्षों से प्रचलित है। और इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के त्रुटिरहित प्रामाणिक संस्करण के प्रकाशन की दिशा में निरन्तर प्रयत्न हो रहा है। भारतीय नाटयविद्या के इस अक्षय कोष के उद्धार की दिशा में विद्वानों द्वारा किया गया प्रयत्न ऐतिहासिक महत्त्व का है। यहाँ हम उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

नाटयशास्त्र के विदेशी संस्करण

विलियम जोन्स द्वारा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल[1] के ऐतिहासिक महत्त्व के अनुवाद के बाद ही सर्वप्रथम एच० एच० विल्सन महोदय ने १८२६-२७ में भारतीय नाटय के कुछ विशिष्ट उदाहरण के रूप में एक संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किया।[2] इसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारतीय नाटय एवं काव्यों में बहुचर्चित भरत का नाटयशास्त्र सर्वथा लुप्त हो चुका है। विल्सन महोदय की इस निराशापूर्ण घोषणा के उपरान्त भी इस ग्रंथ के अनुसन्धान का कार्य चलता रहा।

एफ० हाल० का दशरूपक और उसका परिशिष्ट

एफ० हाल० को धनंजय रचित दशरूपक के संपादन के क्रम में नाट्यशात्र की त्रुटिपूर्ण

---

१. शकुन्तला और द फैटल रिंग, कलकत्ता—१७८९।

२. एच० एच० विल्सन : सेलेक्ट स्पेशिमेन्स आफ द थियेटर आफ द हिंदूज।
(३ भाग) कलकत्ता—१८२६-२७।

पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसी के आधार पर दशरूपक के परिशिष्ट के रूप में नाट्यशास्त्र के १८-२० एवं २४वें अध्यायों को १८६५ में प्रकाशित करवाया। अट्ठारह से बीस अध्यायों के वर्ण्य-विषय तो नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अनुरूप थे परन्तु श्लोकों में परस्पर भिन्नता थी। हाल के तीन अध्यायों में क्रमशः १३२, १३३ और ६३ श्लोक संग्रहीत थे।[1] परन्तु काव्यमाला संस्करण में श्लोकों की संख्या क्रमशः १६८, १३३ और ६६ थी।[2] हॉल संस्करण के ३४वें अध्याय में १२१ श्लोक थे और काव्यमाला के संस्करण के २४वें (जिसमें ११६ श्लोक हैं), ३४वें तथा काशी संस्कृत सीरीज़ के ३५वें अध्याय के कुछ अंश के अनुरूप है। इस आंशिक प्रकाशन से ही विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि संस्कृत में इतना प्राचीन नाट्यशास्त्र उपलब्ध है।

हेमान का निबन्ध

नाट्यशास्त्र के अनुसंधान के क्रम में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हेमान को भी नाट्यशास्त्र की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसके आधार पर उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र पर एक परिचयात्मक निबन्ध १८७५ ईस्वी में जर्मनी के एक नगर गोटिंगन की विज्ञान-परिषद की पत्रिका में प्रकाशित करवाया। इस निबन्ध के द्वारा नाट्यशात्र के अध्ययन-अनुसंधान को और भी बल मिला।[3]

पी० रेग्नो और ग्रासेट के संस्करण

नाट्यशास्त्र के अध्ययन और अनुसंधान के इतिहास में फ्रेंच विद्वान् पी० रेग्नो और जे० ग्रासेट की देन चिरस्मरणीय रहेगी। ये दोनों ही गुरु-शिष्य थे। नाट्यशास्त्र को आंशिक रूप में प्रकाश में लाने का प्रथम श्रेय इन्हें ही मिलना चाहिए। रेग्नो महोदय ने १८८० ई० में छन्दों से सम्बन्धित नाट्यशास्त्र के १५ एवं १६ अध्याय (का० मा० सं० १४ एवं १५, का० सं० १५ एवं १६, गा० ओ० सी० सं० १४ और १५ अध्याय) प्रकाशित किये। इसी वर्ष रस और भाव से सम्बन्धित छठा और सातवाँ अध्याय रोमनलिपि में फ्रांसीसी भाषा के अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ। ग्रासेट महोदय ने अपने गुरु की परम्परा को जीवित रखते हुए १८८८ में संगीत से सम्बन्धित अट्ठाईसवाँ अध्याय प्रकाशित किया। तदनन्तर १८९८ में १-१४ अध्याय तक नाट्यशास्त्र का सुसंपादित संस्करण रेग्नो महोदय ने प्रकाशित किया। नाट्यशास्त्र का यह अधूरा संस्करण पाश्चात्य पद्धति की गवेषणापूर्ण संपादन शैली का आज भी उत्तम आदर्श है।[4]

---

१. दशरूपक : एफ० हाल (विविलोथिका इन्डिका सिरीज में प्रकाशित)—कलकत्ता—१८६१-६। ५

२. का० मा० संस्करणनाट्यशास्त्र।

३. ना० शा० का अंग्रेजी अनुवाद : म० मो० घोष : भूमिका भाग पृ० ३७ तथा — ना० शा० के रेग्नो के संस्करण की भूमिका, पृ० ८६। इण्डिश्चे ड्रामा : स्टेन कोनो पृ० २-३।

४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ११-१२ पी० वी० काणे तथा मनमोहन घोष : ना० शा० के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ३७।

भारतीय नाट्यकला पर प्रो० सिल्वान लेवी का प्रबन्ध

इसी बीच फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रो० सिल्वान लेवी ने इण्डियन थियेटर (थियात्रे इन्दियत्) नामक निबन्ध में नाट्यशास्त्र के १८-२० तथा चौबीसवें अध्यायों के आधार पर नाटचशास्त्र की विवेचना की। इस प्रबन्ध में नाटचशास्त्र की महत्ता पर आंशिक रूप से चर्चा हुई। परन्तु इसके माध्यम से नाटचशास्त्र की महत्ता की ओर विद्वानों का ध्यान निरन्तर आकर्षित हुआ। प्राचीन हिन्दू नाटचकला के सम्बन्ध में यह निबन्ध वर्षों तक पश्चिम में विचार-विवेचन का आधार बना रहा।

नाटचशास्त्र के भारतीय संस्करण

गत छः-सात दशकों में नाटचशास्त्र के चार पूर्ण एवं चार अधूरे संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उनका संक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

काव्यमाला संस्करण—प्रस्तुत संस्करण सैंतीस अध्यायों में सर्वप्रथम १८९४ में प्रकाशित हुआ। नाटचशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन मुद्रित संस्करण यही था।[1] यह संस्करण 'क' एवं 'ख' नामांकित जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित हुआ इसका कोई विवरण ग्रन्थारम्भ में उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थ के अन्त में ५-६ पंक्तियों की संक्षिप्त पादटिप्पणी में पाण्डुलिपियों की अशुद्धि का स्पष्ट उल्लेख है।[2] लगभग पचास वर्षों बाद पुनः इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण वहीं से १९४३ में प्रकाशित हुआ। इस अवधि में नाटचशास्त्र के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके थे—एक काशी से, दूसरा बड़ौदा राज्य से। काशी से प्रकाशित संस्करण में केवल मूल अंश था[3] और बड़ौदा से प्रकाशित नाटचशास्त्र के १८ अध्यायों पर अभिनवगुप्त रचित अभिनव भारती विवृति भी उस समय तक उपलब्ध थी।[4] निर्णयसागर से प्रकाशित काव्यमाला संस्करण के लिए दोनों पूर्व प्रकाशित संस्करण भी आधार थे। काशी संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपियाँ तथा गायकवाड़ **ओरिएण्टल सीरीज** के लिए जिन ४० पाण्डुलिपियों का उपयोग हुआ था, उन सबको दृष्टि में रखकर यह संस्करण प्रकाशित हुआ, यह सम्पादक ने स्वीकार किया है।[5] सम्भवतः यही संस्करण अभिनवगुप्त एवं अन्य काश्मीरी स्फोटवादियों के बीच बहुत लोकप्रिय था। दक्षिण भारत में इसका प्रचार अधिक था। इसके लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपि उज्जैन से प्राप्त हुई थी। इससे सम्बन्धित नाटचशास्त्र की अन्य पाण्डुलिपियां बड़ौदा एवं बीकानेर राज्यों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। धनंजय-रचित दशरूपक

---

१. भरत मुनि प्रणीतं नाट्यशास्त्रम्। सम्पादक शिवदत्त शर्मा तथा काशीनाथ शर्मा १८९४।

२. तथा च पुस्तकान्तरालाभेन यथाशक्यं पाठे शोधितेऽपि अशुद्धीनामशक्यज्ञानानां संदिग्धपाठानां च बहुत्वेन शुद्धिपरिश्रमस्याशुद्धिसागरे निमज्जितेऽपि केवलं ग्रंथप्रकाशन मात्रं प्रयोजनं मत्वा प्रकाश्यं नीतः। का० मा० प्रथम सं० १८९४ पृ० ४४७।

३. चौखंभा संस्कृत सीरीज : सम्पादक पं० बलदेव उपाध्याय तथा स्व० पं० बटुकनाथ शास्त्री साहित्योपाध्याय। १९२९

४. गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़ ना० शा० के तीन भाग प्रकाशित, १-७ (१९२७), ८-१८ (१९३४) सम्पादक—रामकृष्ण कवि।

५. ना० शा० (का० मा०) भूमिका पृ० २, १९४३।

की रचना पर इस पाण्डुलिपि की परम्परा का बहुत स्पष्ट प्रभाव है।[1] इसमें ३७ अध्याय हैं।

काशी संस्करण—काशी से नाटचशास्त्र का नवीन संस्करण दो आचार्यों के सम्पादकत्व में १९२९ में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ३६ अध्याय हैं। इसकी पाण्डुलिपि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन में सुरक्षित है। इस परम्परा की पाण्डुलिपि पर शंकुक और लोल्लट प्रभृति नैयायिकों और मीमांसकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस संस्करण के प्रकाशित होने तक अन्य पाण्डुलिपियों के अभाव में नितान्त त्रुटि-रहित न था। पाठभेद भी बहुत कम थे। इस संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपि बहुत प्राचीन तथा मौलिक नाटचशास्त्र की निकटवर्ती है। भोज इसी पाठ-परम्परा से प्रभावित थे। घोष महोदय ने इसी संस्करण की पाण्डुलिपि का मुख्यतः अनुसरण किया है

बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण—मूल ग्रन्थ के रूप में नाटचशास्त्र के पूर्ण संस्करण नागरी लिपि में ये ही दो प्रकाश में आ सके हैं। परन्तु बड़ौदा राज्य की ओर से नाटचशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण और भी प्रकाशित हुआ। यह क्रमशः रामकृष्ण कवि के सम्पादन में चार भागों में पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ है। अन्य दो प्रकाशित नाटचशास्त्र के संस्करण मूल रूप में हैं। परन्तु इस संस्करण में आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती भी उपलब्ध है। अतः इसका महत्त्व पाठ-शुद्धि और विषय-विवेचन की दृष्टि से कहीं अधिक बढ़ जाता है।[2] इस संस्करण के सम्पादक महोदय ने यह उल्लेख किया है कि उन्होंने इसके लिए चालीस पाण्डुलिपियों का उपयोग किया। परन्तु उन पाण्डुलिपियों का कोई स्पष्ट विवरण उन्होंने नहीं दिया है। अपने प्राक्कथन में इन पाण्डुलिपियों की पारस्परिक भिन्नता का उल्लेख किया है। उन्होंने उन प्राप्त पाण्डुलिपियों को दक्षिण भारतीय एवं उत्तर-भारतीय इन दो भागों में विभाजित किया है। उत्तर-भारतीय पाण्डुलिपियों को 'अ' के अन्तर्गत और दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियों को 'ब' के अन्तर्गत परिगणित किया।[3]

अभिनव भारती प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण—अभिनव भारती के तीनों भागों के प्रकाशन के उपरान्त प्रथम भाग (१-७) का पुनः संशोधित संस्करण हाल ही में प्रकाशित हुआ है।[4] इस संस्करण के संशोधक और सम्पादक हैं रामस्वामी शास्त्री। इन्होंने प्रथम भाग के प्रथम संस्करण की अपेक्षा इस नूतन संस्करण में महत्त्वपूर्ण सशोधन एवं पाठ-परिवर्तन प्रस्तुत किया। इस संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपियों का विवरण भी दिया। रामकृष्ण कवि की सम्पादन-पद्धति की अनेक त्रुटियों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। उदाहरण के रूप में रामकृष्ण कवि महोदय ने, शान्तरस का पाठ किन-किन पाण्डुलिपियों में था, यह स्पष्ट न कर अभिनव भारती के आधार पर उसे नाटचशास्त्र के मूलअंश के रूप में स्वीकार किया था। द्वितीय संस्करण के सम्पादक महोदय ने इस पर आपत्ति की है कि भरत शान्तरस को स्वीकार करने के पक्ष में है। अतएव इस संस्करण में शान्तरस को प्रक्षिप्त पाठ के ही रूप में स्वीकार

---

१. ना० शा० (का० मा०) द्वितीय सं० की भूमिका पृ० २।

२. ना० शा० प्रथम भाग १९२७, द्वितीय भाग १९३४, तृतीय भाग १९५४, चतुर्थ भाग १९६४, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा।

३. ना० शा० प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, प्रिफेस पृ० ४, तथा ६०-६२ (गा० ओ० सी०)।

४. वही, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण : १९५६।

किया है ।[1] यह नूतन संस्करण अब तक के प्रकाशित नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में सर्वोत्तम है ।

नाट्यशास्त्र के कई अनूदित संस्करण—नाट्यशास्त्र के कई अनूदित संस्करण भी इधर प्रकाशित हुए हैं । प्रसिद्ध प्राच्यविद्या-विशारद मनमोहन घोष महोदय ने नाट्यशास्त्र के सभी अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद तथा मूल अंश भी प्रकाशित किया है ।[2] अनुवाद की पादटिप्पणी में यथास्थान बहुत-सी पाण्डुलिपियों और प्रकाशित संस्करणों के आधार पर पाठभेद के अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत हैं । अनेक महत्त्वपूर्ण स्थलों पर आचार्य अभिनवगुप्त एवं अन्य नाट्याचार्यों के विभिन्न मतों का आकलन पादटिप्पणी में प्रस्तुत किया गया है ।[3]

हिन्दी में नाट्यशास्त्र के अनूदित संस्करण—हिन्दी में नाट्यशास्त्र के दो अधूरे संस्करण उपलब्ध हैं । दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसंधान-परिषद की ओर से इसका प्रकाशन हुआ है ।[4] इसमें नाट्यशास्त्र के प्रमुख तीन—प्रथम (नाट्योत्पत्ति), द्वितीय (नाट्य-मंडप) तथा षष्ठ (रसाध्याय) अध्यायों एवं उस पर उपलब्ध अभिनव भारती टीका का सम्पादन एवं अनुवाद किया गया है । इन तीनों अध्यायों के अनुवाद एवं विश्लेषण आदि के क्रम में अनुवादक महोदय ने अभिनवगुप्त के सूक्ष्म विचार-बिन्दुओं का व्याख्यान किया है और अभिनवगुप्त के विचारों की संगति के लिए मूल ग्रन्थ एवं अभिनव भारती में नवीन पाठभेदों की परिकल्पना भी की है । डा० रघुवंश ने हाल ही नाट्यशास्त्र के १-७ अध्यायों को मूल, पाठान्तर अनुवाद तथा व्याख्या सहित प्रस्तुत किया है । निःसन्देह इन्हें अब तक के प्रकाशित मूल एवं अनूदित नाट्यशास्त्रों के उपयोग की सुविधा मिली है ।[5] एक अन्य संस्करण मराठी भाषा में भी प्रकाशित हुआ है । इसका अनुवाद प्रो० भानु ने किया है ।[6]

प्रकाशित संस्करणों में पाठ-भिन्नता : समग्रदृष्टि

नाट्यशास्त्र की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित नाट्य शास्त्र के संस्करणों में पाठ-भिन्नता तो नितान्त स्वाभाविक है । वस्तुतः यह पाठ-भिन्नता केवल कुछ श्लोकों के ही सम्बन्ध में नहीं है अपितु विभिन्न अध्यायों के पौर्वापर्य क्रम, उनकी संख्या, तथा प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में भी है । नाट्यशास्त्र के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों में प्राप्त एतत्सम्बन्धी विवरण हमने सूत्ररूप से परिशिष्ट में दिया है जिससे विभिन्न संस्करणों में वर्तमान पाठभेद का रूप स्पष्ट हो सके ।

---

१. वही, पृ० ५-६ ।

२. नाट्यशास्त्र : द रॉयल एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल, १९५०,१९६२ म० मो० घोष ।

३. N. S. Eng. Trans. p. 40.

४. हिन्दी अ० भा० सम्पादक तथा भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि । हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय १९६० ।

५. भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १ (अध्याय १-७); डा० रघुवंश—मोतीलाल बनारसीदास, काशी, १९६४ ।

६. तथा मराठी में लिखित गोदावरी वासुदेव केतकर का 'भारतीय नाट्यशास्त्र' आर्यभूषण प्रेस, पूना, १९२८ ।

प्रकाशित संस्करणों में पाठ-भिन्नता का विश्लेषण

नाट्यशास्त्र के प्रकाशित विभिन्न (पूर्ण और अपूर्ण) संस्करणों की तुलनात्मक तालिका से यह तो सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक संस्करण का पाठ भिन्न है। प्रकाशित संस्करणों में एक ओर काव्यमाला संस्करण और गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संस्करण तथा दूसरी ओर काशी संस्करण एवं मनमोहन घोष के संस्करण एक-दूसरे के निकट हैं। आचार्य विश्वेश्वर और डा० रघुवंश के संस्करण गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ के अनुवर्ती हैं। वस्तुतः प्रधान रूप से प्रकाशित इन चार संस्करणों में वही भेद अब भी स्पष्ट मालूम पड़ता है जो भेद अभिनवगुप्त के पूर्व से ही नाट्यशास्त्र के विभिन्न पाठों में वर्तमान था। नाट्यशास्त्र की पाठ-भिन्नता का उल्लेख स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने ही कई स्थलों पर किया है।[1] पाठ-भेद की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

पंचमाध्याय की पाठ-भिन्नता—पंचम अध्याय के अन्त में लगभग चालीस श्लोक सुदूर दक्षिण भारत से प्राप्त त्रिवेन्द्रम की पाण्डुलिपि के अतिरिक्त किसी भी अन्य पाण्डुलिपि में नहीं हैं, जिसकी अनुकृत पाण्डुलिपि का विवरण हम देंगे। काव्यमाला और गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संस्करणों में वे चालीस श्लोक प्रक्षिप्त रूप में हैं। काव्यमाला के प्रथम संस्करण में वे थे ही नहीं।[2] मनमोहन घोष के अनूदित संस्करण में उन चालीस श्लोकों को प्रक्षिप्त मानकर स्थान ही नहीं दिया है। इस अंश पर अभिनवगुप्त की टीका भी उपलब्ध नहीं है।[3] अभिनव भारती की प्राप्त दोनों पाण्डुलिपियों में पंचमाध्याय के अन्त से छठे अध्याय के आरम्भ तक पांडु-लिपि का एक तालपत्र खंडित है। अतः सम्भव है कि अभिनवगुप्त ने इस अंश को कोहलादि द्वारा रचित प्रक्षिप्त अंश मानकर व्याख्या भी न की हो।[4]

षष्ठ अध्याय में शान्त रस का पाठ—नाट्यशास्त्र का छठा अध्याय रसाध्याय के रूप में प्रसिद्ध है। नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास में इस अध्याय का बड़ा महत्त्व है। रसों के विवेचन के प्रसंग में 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'[5] आदि के अनुसार रसों की संख्या आठ ही थी। परन्तु पाठभेद के अनुसार नव रसों का उल्लेख ही नहीं मिलता अपितु छठे अध्याय के अन्त में शान्तरस के पोषक गद्यांश तथा अतिरिक्त साढ़े पाँच श्लोक भी संगृहीत हैं, और उन पर अभिनव भारती टीका भी है।[6] टीका में शान्त रस का समर्थन शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा अभिनवगुप्त ने किया है। परन्तु उनके पूर्व ही से शान्त रस को नवम् रस स्वीकार करने की परम्परा वर्तमान थी। अभिनव भारती में इसका संकेत मिलता है।[7] काशी संस्करण में इस अध्याय की परिसमाप्ति 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः' के साथ हो जाती है।[8] नाट्यरसों की संख्या

---

१. अस्मदुपाध्याय परंपरागतः। अ० भा० भाग २, पृ० २९८।
२. काव्यमाला संस्करण १८९४, पृ० ५६ तथा श्लोक संख्या १६१।
३. व्याख्या प्रथम संपादकेन कृता नाभिगुप्तपादैः। अ० भा० भाग १, पृ० २५१ (द्वि० सं०)।
४. अ० भा० भाग १, पृ० २५१ (द्वि० सं०), (२५)।
५. ना० शा० ६।१५।
६. ये पुनर्नवरसा इति पठंति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते। अ० भा० भाग १, पृ० ३२३।
७. इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नवरसाः श्रूयंते। अ० भा० भाग १, पृ० ३३८।
८. एवमेते रसाज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षण लक्षिता। ना० शा० ६ ८३ (काशी सं०)।

आठ होने का समर्थन चौथी-पाँचवीं सदी में कालिदास के विक्रमोर्वशी से भी होता है।[1] ७वीं सदी के दंडी ने अपने काव्यादर्श में 'अष्टरसायन्तता' का उल्लेख किया है।[2] दशरूपककार धनंजय तथा उनके टीकाकार धनिक ने नाटक में शान्त रस को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उनके तर्क-वितर्क से यह तो सिद्ध होता है कि उनके समय से पूर्व नाट्य में शान्त रस के सम्बन्ध में वाद-विवाद था और नाट्यशास्त्र के दो भिन्न पाठ प्रचलित थे।[3]

एक अध्याय का दो भागों में विभाजन—नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के ९वें अध्याय में २६७ श्लोक हैं, परन्तु काशी संस्करण में ये श्लोक ९वें और १०वें अध्यायों में विभक्त हैं।[4]

छन्द एवं वृत्त-विधान—काव्यमाला तथा गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संस्करणों में छन्द एवं वृत्त-विधान १४वें और १५वें अध्यायों में मिलता है, परन्तु काशी संस्करण के अनुसार पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायों में। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संरकरण का पाठ इन दोनों संस्करणों की अपेक्षा भिन्न है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में इस भेद का बहुत स्पष्ट शब्दों में उल्लेख भी किया है।[5] बहुत-सी प्राप्त पाण्डुलिपियों में 'मगण' आदि की पद्धति से छंद का लक्षण प्रस्तुत किया गया है और किसी-किसी पाण्डुलिपि में गुरु-लघु की प्राचीन प्रणाली के माध्यम से। मगण आदि की प्रणाली नवीन है और 'गुरु-लघु' प्रणाली प्राचीन। कुछ संस्करणों में छन्दों के लक्षण उपजाति वृत्त में भी उपलब्ध हैं। घोष महोदय के अनुसार जिन छन्दों के लक्षण गण-प्रणाली एवं उपजातिवृत्तों में प्रस्तुत किये गए हैं, वे संस्करण परवर्ती तथा 'गुरु-लघु' प्रणाली तथा अनुष्टुप छन्दों में लक्षण प्रस्तुत करने वाला संस्करण पूर्ववर्ती है। इस दृष्टि से अभिनव भारती संस्करण परवर्ती हो जाता है।

लक्षणों का पाठ—लक्षणों का पाठ भी नाट्यशास्त्र के प्राप्त संस्करणों के विभिन्न अध्यायों में है। काव्यमाला और गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ के १६वें अध्याय में और काशी संस्करण के १७वें में। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में ३६ लक्षण ४३ छन्दों में वर्णित हैं। परन्तु काव्यमाला और काशी संस्करणों में यह अनुष्टुप छन्दों में प्रस्तुत किया गया है। लक्षण के नाम भी सब समान नहीं हैं, केवल सत्रह नामों में समानता है।[6] आचार्य अभिनवगुप्त के काल में ही इनकी संख्या के सम्बन्ध में भिन्न पाठ प्रचलित थे।[7] भोज ने तो इनकी चौंसठ संख्या स्वीकार की है।[8] दशरूपक तथा उसके टीकाकार धनिक एवं शाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट प्रभृति आचार्यों ने उपजाति छन्द वाले पाठ का ही उपयोग किया है।[9] दूसरी ओर

---

१. विक्रमोर्वशी—अंक २।१९।
२. काव्यादर्श—२।२९२।
३. द० रू० ४। ३५ ख।
४. का० मा० सं० पृ० १७७, श्लोक सं० २६७, का० सं० नवम् अध्याय, पृ० १२८, श्लोक २०७, १०म अ० श्लोक ५५, पृ० १३३।
५. अ० भा० भाग २, पृ० २५२-३।
६. का० मा० और गा० ओ० सी० संस्करण का १६वाँ अध्याय तथा का० सं० का १७वाँ अध्याय।
७. तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेव—तत एव पुस्तकेषु भेदो दश्यते। अ० भा० भाग २, पृ० २९८।
८. एतानि काव्यस्य विभूषणानि प्रायः चतुः षष्ठिरुदाहृतानि। भोज का शृङ्गार प्रकाश (१२), पृ० २९-३०।
९. विभूषणं चाक्षर·—द० रू० ४।८४, अ० का० राघव भट्ट की अर्थ द्योतनिका, पृ० २०, नि० सा० १९१३।

विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने अनुष्टुप छन्दों में प्रस्तुत लक्षणों के पाठ का ही अनुसरण किया है।[1] लक्षणों का पाठ भिन्न रूप में इन आचार्यों को उपलब्ध था।

संस्करणों में वर्ण्य विषयों के पौर्वापर्य में भिन्नता—काव्यमाला संस्करण का २४वाँ अध्याय काशी संस्करण के ३४वें अध्याय में विभाजित है। दशरूपक निरूपण काव्यमाला और गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ के १८वें अध्याय में है पर काशी संस्करण के २०वें अध्याय में। काशी संस्करण का ३६वाँ अध्याय काव्यमाला संस्करण के ३६ और ३७ अध्यायों में विभक्त है। यद्यपि दोनों अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, पर काशी संस्करण में उस अध्याय का नाम नाट्यावतार है तथा काव्यमाला के ३६ और ३७ अध्यायों के नाम क्रमशः 'नटशाप' और 'गुह्य विकल्पक' हैं।

प्रकाशित संस्करणों की प्राचीनता—प्रकाशित संस्करणों की अपेक्षाकृत प्राचीनता निर्धारित करना सम्भव नहीं है। काल-प्रवाह में देश, काल, लिपि तथा आचार्यों की विचार-दृष्टि की भिन्नता के कारण पाठ में अन्तर आ गया है। काव्यमाला और अभिनवभारती वृत्तियुक्त नाट्यशास्त्र के संस्करण एक-दूसरे के निकट तो हैं, पर कई अंशों में वे भी परस्पर भिन्न हैं। काशी संस्करण इन दोनों से भिन्न है। मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र का जो संस्करण तैयार किया है वह इन तीनों से भी आंशिक रूप से भिन्न है। यद्यपि उन्होंने अभिनवभारती से सहायता ली है[2] पर उनका संस्करण कई दृष्टियों से काशी संस्करण के अधिक निकट है। काशी संस्करण दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपि का तथा काव्यमाला और गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संस्करण उत्तर भारतीय पाण्डुलिपि का अनुवर्ती है। मैकडोनेल और पिश्चेल महोदय दक्षिण भारतीय संस्करण को अधिक प्राचीन तथा मौलिक नाट्यशास्त्र का निकटवर्ती मानते हैं।[3] परन्तु डा० लक्ष्मणस्वरूप उत्तर भारतीय संस्करण को ही मूल का निकटवर्ती मानते हैं।[4] मनमोहन घोष के विचार से दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपि में कुछ अत्यन्त प्राचीन पाठ सुरक्षित हैं।[5]

नाट्यशास्त्र की पांडुलिपियाँ : उनका विवरण

नाट्यशास्त्र की मूल पाण्डुलिपियाँ दक्षिण और उत्तर भारत में प्राप्त हुईं। अ० भा० के सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि ने उनके पाठ सम्बन्धी साम्य और वैषम्य के आधार पर 'अ' और 'ब' भागों में वर्गीकरण किया। तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम जिलों से प्राप्त प्रतिलिपियों को उन्होंने 'ब' नाम से चिह्नित किया। परन्तु जो पाण्डुलिपियाँ उज्जैन तथा महाराजा बीकानेर के पुस्तकालयों से प्राप्त हुईं उन्हें 'अ' नाम से चिह्नित किया। उनके विचार से काशी संस्करण दक्षिण भारतीय 'अ' चिह्नित पाण्डुलिपियों की परम्परा का है तथा काव्यमाला संस्करण 'अ' चिह्नित उत्तर भारतीय पाण्डुलिपियों का अनुवर्ती। दशरूपककार धनंजय ने तो 'अ' वर्ग की पाण्डुलिपियों का अनुसरण किया है और भोज ने 'ब' वर्ग की। दोनों पाण्डुलिपियों की प्राचीनता

१. र० सु० ३।६७-१०१, सा० द० ६।१७१-२०६। ना० शा० अं० अ० भूमिका भाग, पृ० ४०।
२. ना० शा० अं० अ० भूमिका भाग, पृ० ४०।
३. हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज : कालिदास की शकुन्तला, पृ० ६।
तथा—वृहद्देवता (हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज़) पृ० १८-१६।
४. निघंटु और निरुक्त : भूमिका, पृ० ३६।
५. ना० शा० अं० अनुवाद—भूमिका भाग, पृ० ७२।

के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। यदि 'ब' चिह्नित पाण्डुलिपि अपेक्षाकृत प्राचीन भी हो परन्तु उसमें कोहल और नन्दिकेश्वर आदि आचार्यों के मतों के मिश्रण होने से उसकी मौलिकता सन्देहरहित नहीं रह जाती है।[1]

पाण्डुलिपियों के वर्गीकरण की नूतन प्रणाली—अभिनव भारती प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री ने श्री कवि महोदय की इस कृत्रिम विभाजन-प्रणाली को असंगत सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि से पाण्डुलिपियों की यह विभाजन-प्रणाली सर्वथा कृत्रिम है। वस्तुत: उनमें दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय दो भागों में विभाजित करने का संगत आधार नहीं है। उन्होंने नाट्यशास्त्र की प्राप्त पाण्डुलिपियों के लिए पृथक्-पृथक् चार चिह्नों की कल्पना की है, उन्हीं के द्वारा उनका वर्गीकरण उन्होंने किया है, न कि दक्षिण या उत्तर भारतीय इस भौगोलिक भिन्नता के आधार पर।[2]

'अ' चिह्नित पाण्डुलिपि—नाट्यशास्त्र की एक मूल पाण्डुलिपि अलमोड़ा से प्राप्त हुई। यह बड़ौदा के ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित है। यह प्रति खंडित है। इसमें कुल २३ अध्याय हैं। सम्पादक महोदय के अनुमानानुसार यह प्रति पाँच सौ वर्ष पुरानी है। इसमें कुल १०५ पृष्ठ हैं। यत्र-तत्र पृष्ठ लुप्त हैं। यह जराजीर्णावस्था में है। पाठ अति सुन्दर है। अभिनवभारती के प्रथम भाग के द्वि० सं० में यह पाण्डुलिपि 'अ' संकेत द्वारा चिह्नित है।[3]

'ब' चिह्नित पाण्डुलिपि—यह पाण्डुलिपि उज्जैन से प्राप्त हुई है। यह भी बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित है (सं० ४६२०)। संपादक के अनुसार तीन सौ वर्ष पुरानी यह पाण्डुलिपि है। उत्तर भारत से प्राप्त होने पर भी 'अ' चिह्नित अलमोड़ा वाली पाण्डुलिपि से यह भिन्न है। अन्य पाण्डुलिपियों में अप्राप्य कुछ श्लोक भी इसमें हैं। काव्यमाला संस्करण के लिए प्रयुक्त 'क' पाण्डुलिपि के यह कुछ अनुरूप है। अभिनवभारती के प्रथम संस्करण में इसका उपयोग किया गया था और द्वितीय संस्करण में यही 'अ' द्वारा चिह्नित पाण्डुलिपि है।[4]

दक्षिण भारत से प्राप्त दो पाण्डुलिपियाँ 'म' और 'त'—'म' चिह्नित पाण्डुलिपि तालपत्र पर अंकित मूल पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि मद्रास सरकार की ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित अन्य पाण्डुलिपि की सहायता से तैयार की गई है। यह बड़ौदा के ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट में (सं० १४०४१) सुरक्षित है। यह दक्षिण एवं उत्तर भारत में प्राप्त होने वाली पाण्डुलिपियों से भिन्न है। यही एकमात्र पाण्डुलिपि है जिसमें पंचम अध्याय के अन्त में चालीस श्लोक मूल ग्रंथ के अंश के रूप में दिये गये हैं। सरस्वती भवन (वाराणसी) पुस्तकालय में इसी की प्रतिलिपि सुरक्षित है। उसमें ३६ अध्याय हैं।[5]

सरस्वती भवन में सुरक्षित 'म' चिह्नित पाण्डुलिपि—नाट्यशास्त्र की पाण्डुलिपियों के अनुसंधान के क्रम में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन में मूल नाट्यशास्त्र की पंचमाध्यायान्त पाण्डुलिपि की मैंने वह प्रति देखी, जिसमें पंचम अध्याय के अतिरिक्त श्लोकों

---

१. N. S. (G. O. S.) Vol. I, Intro., p. 59-61, 2nd Edn.
२. N. S. (G. O. S.) Vol. I, Intro., p. 10-11, 2nd. Edn.
३. अ० भा० भाग १, भूमिका भाग, पृ० १०।
४. वं अ० भा० भाग १, पृ० १०, द्वि० सं०।
५. ना० शा० (गा० ओ० सी०) प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ८-९।

का पाठ है। उक्त पाण्डुलिपि के कुछ आवश्यक विवरण निम्नलिखित हैं—

उक्त पाण्डुलिपि में पत्रसंख्या १-९०, आकार ८।६ १२।५, प्रति पृष्ठ पं० १६, १८, ग्रन्थकार—भरतमुनि, नाम—भारतीय नाट्यशास्त्रम्, क्रम संख्या ०४०७६७। लिपिकाल का कोई विवरण उसमें उपलब्ध नहीं था। १-९० पृष्ठ तक की लिपि नागरी है और साफ एवं सुन्दर भी। पादटिप्पणियाँ गहरी काली स्याही में लिखी हुई हैं।[1]

लिपिकाल—मूल पाण्डुलिपि की यह प्रतिलिपि कब तैयार हुई इसका स्पष्ट संकेत तो नहीं है परन्तु इसके पृ० ८५ तदनुसार ५।१६४ श्लोक की पादटिप्पणी संख्या १० पर प्रतिलिपिकार ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है, यहाँ से समाप्ति-पर्यन्त जो श्लोक हैं, वे मुद्रित पुस्तक में नहीं हैं।[2] इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि यह प्रतिलिपि नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण (१८९४) के बाद तैयार की गई, क्योंकि उसमें ही इन अतिरिक्त श्लोकों का उल्लेख नहीं है। अतः सरस्वती भवन में सुरक्षित यह अनुकृत पाण्डुलिपि रामस्वामी शास्त्री द्वारा 'म' चिह्नित पाण्डुलिपि की अनुवर्ती है।[3]

'त' चिह्नित पाण्डुलिपि—इसकी मूल पाण्डुलिपि त्रावणकोर महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रतिलिपि इसी पुस्तकालय में सुरक्षित अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर तैयार की गई है। यह भी बड़ौदा के ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित है (सं० १४०४२)। एकमात्र इसी प्रति में नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के अन्त में शान्तरस का अतिरिक्त अंश मूल रूप में संगृहीत है। काव्यमाला और अभिनवभारती संस्करण इसी प्रति के अनुवर्ती हैं। इसमें कुल ३२ अध्याय हैं। यह मलयालम् लिपि में है तथा बहुत ही जराजीर्णावस्था में है।[4]

निष्कर्ष

पिछले पृष्ठों में हमने नाट्यशास्त्र के प्रकाशित विभिन्नि संस्करणों एवं पाण्डुलिपियों का विवरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पाण्डुलिपियों में जो भिन्नता है वह देशभेद, कालभेद और आचार्यों के दृष्टिभेद के कारण। ये सब पाण्डुलिपियाँ सुदूर दक्षिण और उत्तर भारत से प्राप्त हुई हैं। नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में कौन अधिक प्राचीन है इसका निर्णय करना सरल नहीं है। इतना तो निश्चित है कि नाट्यशास्त्र में पाठभेद की परंपरा का आरंभ कालिदास के बाद और आचार्य भट्टोद्भट्ट के पूर्व हो चुका था।[5] आचार्य अभिनवगुप्त पाठभेद की परम्परा से सुपरिचित थे।[6] उनके गुरु भट्टतोत और महेन्द्रराज, तथा परमगुरु उत्पलदेव नाट्यशास्त्र के

१. वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयान्तर्गत, सरस्वती भवन में सुरक्षित ना० शा० की पाण्डुलिपि के आधार पर।

२. अत आरभ्य श्लोकाः समाप्तिपर्यन्तं मुद्रित पुस्तके न सन्ति। ना० शा० की सरस्वती भवन में सुरक्षित पाण्डुलिपि, पृ० ८५।

३. ना० शा० की पाण्डुलिपि, पृ० सं० १५, १६, १७-२२, २६, ४६, ४७, ५३, ५५, ५७ आदि।

४. अ० भा० भाग १, भूमिका, पृ० ९-१०।

५. मुनिना भरतेन-अष्टरसाश्रयः। विक्रमोर्वशी अंक २।१७।
तथा बीभत्साद्भनशान्ताश्च नवनाट्ये रसाः स्मृताः। काव्यालंकारसारसंग्रह ४।५।

६. तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेवान्यथाऽप्युद्यलेपोन नामान्तरैरपि व्यवहारं करोमि। तत एव पुस्तकेषु भेदो दृश्यते। अ० भा० भाग १, पृ० २०८।

विभिन्न संस्करणों का उपयोग भी कर रहे थे। अभिनवगुप्त की गुरुपरम्परा द्वारा स्वीकृत पाठ-परम्परा में शान्तरस का उपबृंहण किया गया तथा स्फोटवादी काश्मीरी आचार्यों के मध्य यही संस्करण लोकप्रिय था। अभिनवभारती के लिए इसी का उपयोग किया गया था। नाट्यशास्त्र के संस्करण की दूसरी परम्परा वह है जिस पर भट्ट लोल्लट और शंकुक जैसे आचार्यों के विचारों का प्रभाव है। नाट्यशास्त्र के इन भाष्यकारों तथा आचार्यों ने जिस पाठ-परम्परा का उपयोग किया वह अभिनवभारती के लिए स्वीकृत संस्करण से भिन्न अवश्य थी।

नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में अनुरूपता : भारत की सांस्कृतिक एकता

नाट्यशास्त्र नाट्यविद्या का आकरग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को वेद और सूत्र का सम्मान प्राप्त था। वीरकाव्य का इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन तो कम हुआ। अतः संस्करणों में पाठ-भिन्नता होने पर भी दक्षिण से उत्तर तक की विभिन्न पाण्डुलिपियों की अनुरूपता भी बहुत प्रबल थी। नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों और प्रयोगों के रूप दक्षिण भारत के मन्दिरों में किसी प्रकार जीवित और सुरक्षित तो रह सके, उत्तर भारत में निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियों के कारण प्रतिकूल वातावरण नहीं रह सका। यही नहीं, सुदूर उत्तर में काश्मीर के हिमशुभ्र शिखरों की शान्त एकान्त छाया में शैवशक्ति के साधक महान् प्रत्यभिज्ञावादी आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती की पाण्डुलिपियाँ सुदूर दक्षिण भारत में ही मिलीं। नाट्यशास्त्र दक्षिण भारत में कितना लोकप्रिय हुआ यह तो इसी से सिद्ध हो जाता है कि चिदम्बरम् नटराज मन्दिर के १०८ कक्षों के चौदह स्तम्भों पर १०८ नृत्य की मुद्राएँ अंकित हैं। वे मुद्राएँ नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित १०८ करणों के नितान्त अनुरूप ही नहीं वे संबद्ध श्लोक भी उसी क्रम में अंकित हैं। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र का ऐतिहासिक महत्त्व है। राजनीतिक दृष्टि से बार-बार खंडित और पराधीन भारत जिन कला और सांस्कृतिक स्रोतों के माध्यम से एक रहा है उनमें भरत का यह नाट्य-शास्त्र भी कम महत्त्वशाली नहीं है। नाट्य, नृत्य और संगीत कलाओं के माध्यम से यह नाट्य-शास्त्र देश को एकता के सूत्र में पिरोये रहा है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की पांडुलिपियाँ दक्षिण और उत्तर भारत में किंचित् भिन्न रूप में प्रचलित रही हैं, तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु इतने लम्बे काल-प्रवाह में इसका यह रूप पिछले पन्द्रह-सोलह सौ वर्षों से इसी रूप में प्रचलित है, और भारतीय कलाचेतना को प्रभावित और अनुप्राणित कर रहा है।[1]

---

1. These indications will make it clear at any rate that the text existed in its present form in the 8th century A.D. if not earlier.
—*Sanskrit Poetics*, p. 24. S. K. De (1963)

३

नाट्यशास्त्र का रचना-काल

नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। इसका प्रणयन किसी एक काल में और एक ही व्यक्ति द्वारा हुआ हो, यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता है। परन्तु इतना निश्चित-सा है कि कालिदास के दो-एक सदी बाद इसने लगभग यह वर्तमान रूप धारण कर लिया था। इस सुदीर्घ परम्परा में अपने विषय की महत्ता के कारण यह नाट्यशास्त्र वेद[१] एवं सूत्र[२] ग्रन्थ के रूप में समादृत हो चुका था। ऐसे आकरग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों एवं आधुनिक विद्वानों के विचारों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

काल-निर्धारण की दो सीमाएँ

आर्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ और उनकी उत्कर्षशाली संस्कृति प्राचीनकाल से नाट्यशास्त्र और भरतमुनि से परिचित थी। अश्वघोष और भास सन् ईस्वी के प्रभातकाल से ही भरत के नाट्यशास्त्र की प्रभाव-रश्मियों का स्पर्श अनुभव कर रहे थे और कालिदास ने उस प्रभाव के उज्ज्वल आलोक में अपनी नाट्यकृतियों का सृजन किया। उनसे पूर्व के नाटक आज उपलब्ध नहीं हैं। अश्वघोष, भास, शूद्रक और कालिदास से पूर्व भी संस्कृत नाटकों की रचना हुई होगी। ईस्वी पूर्व दूसरी या तीसरी सदी के पतंजलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बलिबंधन' नामक नाटकों और प्रयोगों का उल्लेख किया है।[३] यदि वे लुप्त प्राचीन नाट्यकृतियाँ मिल पातीं तो नाट्यशास्त्र के साथ उनकी तुलना करने से उसके समय-निर्धारण में हमें सहायता प्राप्त होती।

---

१. नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः···। ना० शा० १।४ (गा० ओ० सी०)।
   तथा–नाट्यवेदस्य संग्रहः। भा० प्र०, पृ० २८५, २८६-७।

२. षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदम्। अ० भा० भाग १, पृ० १।

३. ये तावद् एते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयंतिप्रत्यक्षं च व बलिवंधूयंति···नटस्य शृणोति ग्रंथिकस्य शृणोति···। पदारंभकाः रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रंथिकस्य श्रोष्यामो।
   अ० अ० ३।१।२६, २८, २६ तथा १।४।२६ पर महाभाष्य।

वस्तुतः नाट्यशास्त्र कालनिर्धारण की समस्या इसकी निचली और ऊपरली सीमाओं के निर्धारण से सम्बन्धित है। दूसरी सदी से चौदहवीं सदी तक के विविध ललित साहित्य की कृतियों पर भरत एवं नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव होने के कारण निचली सीमा तो सामान्य रूप से निर्धारित हो जाती है। पर कठिनाई है ऊपरली सीमा के निर्धारण में। प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हम उसकी अति प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं, पूर्ण निश्चय के साथ समय का निर्धारण अनेक जटिल सम्भावनाओं से व्याप्त है।

काल-निर्धारण की पद्धति—नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण के लिए विभिन्न प्रकार की आन्तरिक और बाह्य सामग्रियों की समीक्षा अपेक्षित है। स्वयं नाट्यशास्त्र में अन्तःसाक्ष्य के लिए महत्त्वपूर्ण एवं प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। उसमें आर्यों के वैदिककालीन देवता नाना प्रकार की जातियों और जनपदों, विभिन्न भाषाओं, सभ्यता, आचार-व्यवहारों और काव्यशास्त्र के विवरण आदि भी हमारी समीक्षा की परिधि में आते हैं। इन अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त भरत एवं नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों में उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा भी काल-निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है।

नाट्यशास्त्र का अन्तःसाक्ष्य

नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति, पूर्वरंग एवं नाट्यावतरण के प्रसंग में[१] अनेक वैदिक एवं पौराणिक काल के देवताओं का स्मरण किया गया है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, विष्णु इन चार प्रधान देवताओं के अतिरिक्त सूर्य, वायु, कुबेर, सरस्वती और लक्ष्मी आदि देवी-देवता तथा प्रकृति के विराट् तत्त्व अग्नि, सोम, समुद्र, काल, रुद्र, मित्र, अश्विन, महेश्वर, महाग्रामण्य, नागराज एवं वासुकि आदि की परिगणना हुई है। तदनन्तर एक लम्बी सूची में गन्धर्व, अप्सराएँ नाट्यविघ्न, नाट्यकुमारी, यक्ष, गुह्यक, पिशाच, भूतगण दैत्यराक्षस आदि के प्रति भी पूज्यभाव व्यक्त किया गया है।

महाग्रामणी : गणेश—इस सूची में 'महाग्रामणी' शब्द का उल्लेख नाट्यशास्त्र के रचना-काल के सम्बन्ध में विरोधी विचार-विंदुओं का सृजन करता है। यह शब्द सामान्य रूप से ग्राम-देवता का वाचक है, पर इससे किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। आचार्य अभिनव-गुप्त ने इस शब्द को 'गणपति' माना है[२], पर वैसा स्वीकार करने पर नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का समर्थन नहीं हो पाता। क्योंकि गणेश हिन्दुओं के देवता के रूप में परवर्ती काल के साहित्य में प्रसिद्ध हुए हैं। वराह, वामन और ब्रह्मवैवर्त जैसे परवर्ती पुराणों में ही गणेश का उल्लेख देवता के रूप में मिलता है।[3] मनमोहन घोष आचार्य अभिनवगुप्त के तर्क से सहमत नहीं हैं।[४] तृतीय अध्याय में गणेश्वर शब्द का प्रयोग शिव के विभिन्न गणपतियों तथा स्वयं महेश्वर के लिए भी

---

१. नाट्यशास्त्र १-१, १२, १४, ५६-६२, ३/४६।

२. महाग्रामणी : गणपति। अ० भा० भाग-१, पृ० ७२।

३. ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम-१, पृ० ५६८—विन्टरनित्स।

४. ना० शा० अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६६ तथा That the worship of Ganesha as an affiliated son of Parvati was wholly unknown to the Hindus previous to the 6th century A. D. *B. C. Majumdar, J.B.R.*, p. 528.

हुआ है न कि गणेश नामक देवता के अर्थ में। महाग्रामणी शब्द का गणेशवाचक न होना इस तर्क का पोषक है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस पुरातन काल में हुई होगी जब नृसिंह[१] को छोड़ विष्णु के अन्य प्रधान अवतारों की कल्पना भी न की गई होगी। सम्भवत: उस समय तक हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवता गणेश की वन्दना की परम्परा का आरम्भ भी न हुआ होगा।

प्राचीन जातियाँ और जनपद—नाट्यशास्त्र में विभिन्न जातियों एवं वर्गों के लिए पृथक्-पृथक् शरीरवर्ण का विधान है। किरात, वर्वर, आन्ध्र, द्रमिल, काशी, कोशल, पुलिंद और दाक्षिणात्य आदि के लिए असित वर्ण का विधान है। पर आन्ध्र और द्रमिल किरात एवं वर्वरों के साथ भी परिगणित हैं।[२] आपस्तंब धर्मसूत्र के लेखक तमिल ही थे और इनका अनुमानित समय तीसरी सदी के आसपास है। आन्ध्र और द्रमिल का किरातों और वर्वर जातियों के साथ उल्लेख होने से यह कल्पना की जा सकती है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस समय हुई होगी जब आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड़) जनपदों का कुछ भाग अभी तक भी पूर्ण सभ्य नहीं हो पाया था। यह समय ईस्वीपूर्व में ही हो सकता है।[३]

नाट्यशास्त्र की प्राकृत और संस्कृत भाषा—नाट्यशास्त्र में दो प्रकार की भाषाओं के रूप प्राप्त हैं, प्राकृत और संस्कृत के। प्राकृतभाषा के विवेचन के क्रम में उसके स्वर, वर्ण तथा उच्चारण आदि का जैसा विश्लेषण किया है उससे भरतकालीन प्राकृतभाषा का रूप हमें प्राप्त हो जाता है और अन्यत्र प्रयुक्त भाषा के साथ तुलना के लिए उचित आधार भी।[४] प्राकृतभाषा का जो स्वरूप इन विभिन्न प्रसंगों में उपलब्ध है, वह अश्वघोष के शासित प्रकरण में प्रयुक्त प्राकृतभाषा की अपेक्षा उत्तरवर्ती एवं विकसित मालूम पड़ती है।[५] नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा के साक्ष्य पर मनमोहन घोष ने प्रतिपादित किया है कि इसकी प्राकृतभाषा अश्वघोष और काव्यशैली काल की प्राकृतभाषा की मध्यवर्ती है। इस आधार पर नाट्यशास्त्र का रचना-काल चौथी सदी के पूर्व और पहली सदी के बाद हो जाता है। पर अश्वघोष ने शारिपुत्त प्रकरण में जिस नाट्यशिल्प का प्रयोग किया है वह नाट्यशास्त्र के दशरूपक विवरण में प्रकरण के लिए निर्धारित नियमों के सर्वथा अनुकूल है। अत: प्राकृत भाषा के आधार पर पहली सदी के बाद, पर नाट्यशिल्प के सन्दर्भ में पहली सदी के पूर्व नाट्यशास्त्र की रचना हुई जान पड़ती है। नाट्य-शास्त्र की कारिकाओं, आनुवंश्य आर्याओं, नांदी, भरतवाक्य एवं छन्दविधान आदि के विविध प्रसंगों में संस्कृत भाषा के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इन प्रसंगों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा पर्याप्त प्राचीन, सरल पर प्रवाहमय है। काव्यशैली काल की अलंकरण-पद्धति और चमत्कारप्रियता का यहाँ सर्वथा अभाव है। संस्कृत भाषा के सरल रूप को देखकर ही पी० रेनाड महोदय ने नाट्य-शास्त्र का रचनाकाल ईस्वी सदी के प्रभातकाल में निर्धारित किया है।

नाट्यशास्त्र में शैली की अनेकरूपता—नाट्यशास्त्र में शैली की अनेकरूपता है। इसमें श्लोकबद्ध कारिकाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इसमें सूत्र-भाष्य, सूत्रानुविद्ध आर्यायें तथा आनुवंश्य

१. या कृता नरसिंहेण विष्णुना प्रभविष्णुना। ना० शा० १२/१५४।
२. ना० शा० २१/१०२ (का० मा०), १७/४४ (का० सं०)।
३. जॉली० हिन्दू ला एण्ड कस्टम, पृ० ६, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पी० वी० काणे, भाग १, पृ० ४५।
४. ना० शा० ३२।५८, ६०, ६२, ६४, ६६ आदि।
५. ना० शा० अं० अ० म०, मो० घोष, पृ० ६८। ५।१०८-११२, १२६, १५वाँ अध्याय (का० मा०) ना० शा० के ग्रासे संस्करण में पी० रेनाड की भूमिका, पृ० ७८ (३७)।

आर्यायें में भी संगृहीत हैं। अभिनवगुप्त तथा भवभूति ने नाट्यशास्त्र का भरत-सूत्र के रूप में भी उल्लेख किया है।[1] भरत से पूर्व भी पाणिनि के काल में नट-सूत्र प्रचलित थे। ये सूत्र तथा नाट्यशास्त्र मूल रूप में, सूत्र रूप होने के कारण गद्यात्मक ही रहे हों, यह कोई आवश्यक नहीं है। 'सूत्र' (यह शब्द) तो समान रूप से गद्य या पद्य की दोनों ही शैलियों के लिए प्रयुक्त होता है यदि उनमें गूढ़ विचार तत्त्वों का सूत्र रूप में आकलन किया गया हो।[2] अतएव पी० वी० काणे महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र का मूलरूप गद्य-पद्य विमिश्रित रहा होगा। उसमें गद्यात्मक सूत्र और छन्दोबद्ध कारिकाएँ भी रही हों।[3] परन्तु एस० के० दे महोदय ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न शैलियों के अध्ययन के उपरान्त यह कल्पना की है कि नाट्शास्त्र मूल रूप में 'सूत्र-भाष्य' के रूप में रहा होगा और कालान्तर में छन्दोबद्ध कारिकायें भी उसमें आ मिली होंगी।[4] अतः नाट्यशास्त्र में शैली की अनेकरूपता का जो समन्वय हमें उपलब्ध है वह उसकी अतिप्राचीनता के ही कारण। जब नाट्यशास्त्र आचार्यों के मध्य सूत्र-ग्रन्थ के रूप में समादृत था।

नाट्यशास्त्र में प्राचीन काव्यशास्त्र की रूपरेखा—नाट्यशास्त्र में अलंकार, छन्द, गुण-दोष एवं रस आदि के काव्यशास्त्रीय विवेचन की परस्पर तुलनात्मक समीक्षा करने पर समय-निर्धारण के लिए हमें बहुत-कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है।

अलंकार—वाचिक अभिनय के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक[5] केवल इन चार अलंकारों का उल्लेख है। छठी सदी के आचार्य भामह ने स्वयं लगभग पैंतीस अलंकारों[6] और किसी अज्ञातनामा आचार्य के मतानुसार पाँच अलंकारों का उल्लेख किया है[7] जबकि काव्यालंकार सर्वस्वसंग्रह में इन पाँच अलंकारों के अतिरिक्त पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास और प्रतिवस्तूपमा ये तीन अलंकार अधिक हैं।[8] 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में इन अलंकारों की संख्या सत्रह तक पहुँच जाती है।[9] अतः भरत और भामह-दंडी के मध्यवर्ती आचार्यों द्वारा अलंकारों का विकास निरन्तर होता रहा होगा। कुल चार ही अलंकारों का उल्लेख नाट्य-शास्त्र की अतिप्राचीनता का सूचक है।

छन्द—नाट्यशास्त्र में अलंकार की अपेक्षा छन्द का विवेचन पर्याप्त विस्तार के साथ हुआ है। सम, अर्द्धसम और विषम इन तीन भेदों के अनुसार पचास से अधिक छन्दों की विवेचना हुई है। छन्दशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ पिंगल में प्रतिपादित छन्दों की अपेक्षा नाट्यशास्त्र के छन्द

१. षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं अ० भा० भाग १, पृ० १। तथा भरतस्य तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य। उ० रा० च० अंक ४।

२. सूत्रतः सूत्रणेन। एतेन सूत्रमपि कारिका।
तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनुपश्चात् पठिता।
श्लोकारूपा साऽपिकारिका अ० भा० १, पृ० २६४।

३. History of Sanskrit Poetics, p. 17, P. V. Kane.

४. Sanskrit Poetics, p. 28, S. K. De.

५. ना० शा० १६।४३ का० मा०।

६. भामह-काव्यालंकार २-परिच्छेद।

७. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे। इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः। भामह २।४।

८. काव्यालंकार सर्वस्वसंग्रह, १, १, २।

९. विष्णुधर्मोत्तरपुराणः, तृतीय खण्ड, अध्याय १४, पृ० ३१ (गा० ओ० सी०)।

अत्यन्त प्राचीन मालूम पड़ते हैं। दूसरी विलक्षणता यह भी है कि नाट्यशास्त्र के कुछ छन्दों का नाम काव्यशैलीकाल में सर्वथा परिवर्तित कर दिया गया।

पिंगल ग्रन्थों में प्रचलित छन्दों के नाम	**नाट्यशास्त्र में स्वीकृत नाम**
१. द्रुतविलंबित	हरिणीप्लुत
२. भुजंगप्रयात	अप्रमेया
३. स्रग्विनी	पद्मिनी
४. मालिनी	नन्दमुखी
५. हरिणी	वृषभ चेष्टित
६. मंदाक्रान्ता	श्रीधरा
७. पृथ्वी	विलंबितगति
८. कुसुमितलतावेल्लित[1]	चित्रलेखा[2]

नाट्यशास्त्र में एक ओर अलंकारों की न्यूनता और दूसरी ओर छन्दों की अधिकता से यही सिद्ध होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना उसी काल में हुई जब अलंकार केवल चार थे। यदि अधिक होते तो नाट्यशास्त्र में छन्दों की भाँति उनकी भी विवेचना अवश्य होती।

नाट्यशास्त्र में उल्लिखित पूर्वाचार्य और प्राचीन ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीनकाल के अनेक आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख है। प्रसिद्ध भवन-शिल्पी विश्वकर्मा,[3] शब्द-लक्षण के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों,[4] अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बृहस्पति,[5] ध्रुवा और गन्धर्व के सम्बन्ध में नारद[6] और अंगहार के सम्बन्ध में तण्डु तथा ग्रन्थों में 'पुराण'[7] और 'कामतंत्र'[8] का उल्लेख मिलता है। इन आचार्यों के नामोल्लेख मात्र से इतना ज्ञात हो जाता है कि वे सब आचार्य निश्चित रूप से नाट्यशास्त्र की रचना ईस्वी पूर्व तथा सदियों से पूर्व थे। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित कामतंत्र[9] वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से भिन्न है। नाट्यशास्त्र में नारियों की चौबीस श्रेणियाँ[10] हैं और कामसूत्र में नारियों की केवल चार श्रेणियों का वर्णन मिलता है। बृहस्पति का ग्रन्थ अप्राप्य है परन्तु अर्थशास्त्र बृहस्पति से आचार्य के रूप में परिचित है।[11]

इन प्राचीन आचार्यों के नामोल्लेख से नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का स्पष्ट बोध होता है निश्चित समय का नहीं।

प्राचीन शिलालेख और नाट्यशास्त्र—नाट्यशास्त्र में ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों,

१. ना० शा० अ० १५।४४, ४८, ५०, ६६, ७४, ७७, ८२, ८४ (का० मा० सं०)।
२. वृत्तरत्नाकार, पृ० ४६, ६३, ६४, १०६, १०६, ११०, १११, ११२।
३. ना• शा• २ ७,१२ (गा• ओ• सी•)।
४. पूर्वाचार्यैरुक्तः शब्दनांलक्षणन्तु विस्तरशः। १५।२२ (का० मा•)।
५. बृहस्पतिमतादेतान् ३४।७६ काशी संस्करण।
६. ३२।४८४ (ना• शा• काशी सं•)।
७. महात्मना। ना• शा• ४।१८ (काशी सं•)।
८. २३।२७-५२ (गा• ओ• सी•)।
९. उपचार विधि सम्यक् कामतन्त्र (सूत्र) समुस्थितम्। ना• शा० २३।१५१ (गा० ओ० सी०)।
१०. ना० शा० २२।१००-१४८ (गा० ओ• सी०) तथा तत्र नायिकास्तिस्रः कन्या पूनर्भू वेश्या च इति, कामसूत्र अधि० १ अ० ५।३५।
११. वार्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः। अर्थशास्त्र अधिकरण १।२, पृष्ठ १६ एफ०।

देशों एवं जातियों के नामों का प्रयोग हुआ है जिनका समानान्तर उल्लेख प्राचीन भारतीय शिला-लेखों में भी मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रो० सिल्वान् लेवी ने इन शिलालेखों में प्रयुक्त बहुत-से शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र के समय-निर्धारण का प्रयास किया है। इस दृष्टि से शक-क्षत्रप रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख बहुत महत्व का है। उसके अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा हमारे समक्ष कई महत्त्वपूर्ण तथ्य आते हैं।[१]

नाट्यशास्त्र और जूनागढ़ शिलालेख में प्रयुक्त कुछ समानान्तर शब्द—

१. सम्बोधनवाचक शब्द : स्वामी, सुगृहीत नामन और भद्रमुख।[२]

२. पारिभाषिक शब्द : सौष्ठव, गान्धर्व और नियुद्ध।[३]

३. गौ और ब्राह्मण के प्रति पूज्य भाव की दोनों में समान रूप से वर्तमानता।[४]

उपर्युक्त शब्दों में से स्वामी और भद्रमुख आदि शब्द दोनों स्थलों पर राजा के सम्बोधन के रूप में व्यवहृत हैं। सौष्ठव, गान्धर्व और नियुद्ध आदि शब्द भी दोनों प्रसंगों में समान अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तथा गौ-ब्राह्मण के प्रति आदर-भाव भी दोनों में समान रूप से वर्तमान है।

वशिष्ठ पुत्र पुलोमयी शिलालेख—इस शिलालेख में शक, यवन, पह्लव आदि-आदि आक्रमणकारी जातियों का उल्लेख इसी क्रम में है जिस क्रम में इन जातियों का विवरण नाट्यशास्त्र में मिलता है।[५]

प्रो० सिल्वान् लेवी की स्थापना—प्रो० सिल्वान् लेवी महोदय ने इन शिलालेखों में प्रयुक्त शब्दों के साम्य तथा शक आदि उत्तरकालीन जातियों के उल्लेख द्वारा यह प्रतिपादित किया है। नाट्यशास्त्र कुछ शब्दों के लिए इन शिलालेखों का ऋणी है। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के बाद है।[६] पर क्या यह सम्भव नहीं है कि ये शब्द नाट्यशास्त्र में ही पहले प्रयुक्त हुए हों और शिलालेखों में ही वहीं से उद्धृत हुए हों। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी से पूर्व हो जाता है। पी० वी० काणे महोदय ने शिलालेखों की अपेक्षा नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का समर्थन किया है।[७]

---

१. शकक्षत्रप रुद्रदामन का शिलालेख १५० ए० डी०।

२. तदिदं राज्ञोमहाक्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामिचष्टनस्य।

गिरिनार का रुद्रदामन शिलालेख (अभिलेखमाला, पृष्ठ १)।

स्वामीति युवराजस्तु कुमारोभर्तृदारकः

सौम्य भद्रमुखेत्येवं हे पूर्वञ्चाधमं वदेत्। ना० शा० १६।१२ (काशी सं०)।

३. शब्दार्थ गांधर्वन्यायाधानां..., तुरग गजरथचर्यासिचर्मनियुद्धाद्या...

...परबल लाघवसौष्ठव क्रियेण...। रुद्रदामन का शिलालेख (अभिलेखमाला, पृष्ठ ३)

गान्धर्वं चैव नाट्यं च यः सम्यक् अनुपश्यति। ना० शा० ३६।७८ (का० मा०)।

युद्धे नियुद्धे च... ११।७० (गा० ओ० सी०)।

तथा सौष्ठवसंयुक्तैः...१२।४३ (वही)।

४. महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गोब्राह्मणार्थं धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं...

—रुद्रदामन का शिलालेख, पृष्ठ ४।

शान्ति गौब्राह्मणानां नरपतिखानि प तुमेता समग्राम्। ना० शा० ३६।७६ (का० सं०)।

५. शकाश्च यवनाश्चैव पह्लपा वाह्लिकास्तथा। ना० शा० २१।१०३ (का० मा०)।

६. इण्डियन ऐंटीक्वेरी, भाग ३३, पृष्ठ १०३।

७. That the inscriptions might have been drafted by persons thoroughly

समुद्रगुप्त का प्रयागस्तंभाभिलेख तथा ऐह्योल शिलालेख—नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण की दृष्टि से उसमें प्रयुक्त नेपाल और महाराष्ट्र शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रयागस्तम्भाभिलेख में नेपाल शब्द[1] और ऐह्योल शिलालेख में 'महाराष्ट्र'[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रयागस्तम्भ का लेखनकाल चौथी सदी पूर्वार्द्ध है। 'महावंश' में महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है, जो पाँचवीं सदी की प्रसिद्ध बौद्ध-कृति है। ऐह्योल शिलालेख का समय ६३४ ईस्वी है। इन सब प्रमाणों के आधार पर डॉ० सरकार महोदय ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के बाद निर्धारित किया है।[3] पर पी० वी० काणे महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि किसी शिलालेख में यदि किसी देश-विशेष का उल्लेख न हो तो उसके अस्तित्व में भी सन्देह होना उचित नहीं होता। यद्यपि महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख दूसरी सदी के नानाघाट शिलालेख में है।[4] अतः इन प्रदेशों के उल्लेख परवर्ती शिलालेखों में होने के कारण नाट्यशास्त्र का रचनाकाल दूसरी सदी के उपरान्त स्थापित नहीं किया जा सकता। सेतुबन्ध में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप में प्रयोग हुआ है उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करने वाले मराठी जनपद इन शिलालेखों के रचनाकाल से सदियों पूर्व वर्तमान रहे होंगे।

आन्तरिक सामग्री का विश्लेषण और निष्कर्ष—पिछले पृष्ठों में हमने नाट्यशास्त्र की तुलना में जिन सामग्रियों की समीक्षा की है उनसे केवल नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता का बोध होता है। शिलालेखों के साक्ष्य में दूसरी सदी के बाद की हम कल्पना कर सकते हैं। एक ओर रुद्रदामन शिलालेख में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द उसकी पूर्ववर्तिता का समर्थन करते हैं तो दूसरी ओर पुलोमयी शिलालेख में प्रयुक्त शकादि उत्तरवर्ती जातियों का समान रूप से नाट्यशास्त्र में उल्लेख उसकी परिवर्तिता का बोध कराते हैं। क्योंकि शक आक्रमणकारी बहुत बाद के हैं। ऊपरली सीमा के निर्धारण में ऐसी बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। पर भाषा, वर्ण, अलंकार, छन्द और कुछ प्राचीन जातियों के उल्लेख से बहुत स्पष्ट रूप से नाट्यशास्त्र की प्राचीनता प्रमाणित होती मालूम पड़ती है। यही कारण है कि एक ओर रामकृष्ण कवि जैसे नाट्यशास्त्र के विद्वान् ईस्वी-पूर्व पाँचवीं सदी में नाट्यशास्त्र का समय निर्धारित करते हैं तो कीथ महोदय सन् ईस्वी की तीसरी सदी में। इस प्रकार नाट्यशास्त्र की ऊपरली सीमा ईस्वीपूर्व पाँचवीं सदी से तीसरी सदी के मध्य है।[5] परन्तु पी० वी० काणे, एस० के० दे और मनमोहन घोष प्रभृति ने ईस्वीपूर्व पहली सदी से दूसरी सदी के मध्य उनके समय की कल्पना की है।[6] निःसन्देह नाट्यशास्त्र भारत के

---

imbued with the dramatic terminology of Natyasastra. *History of Sanskrit Poetics*. P. V. Kane, p. 4.

१. पौण्ड्र नेपालकाश्चैव। ना० शा० १३।४५ (गा० ओ० सी०)
कामरूप नेपाल कर्तृपुरादित्य पर्यन्त प्रयागस्तम्भाभिलेख।

२. द्रमिडान्धमहाराष्ट्राः। ना० शा० १३।४०। तथा
तथा अगमदधिपतित्वं यो महाराष्ट्रकाणाम्। पुलकेशिन द्वितीय की ऐह्योल प्रशस्ति श्लोक ४५।

३. जर्नल ऑफ़ आन्ध्र, एच० आर० सोसाइटी, भाग १२, पृष्ठ १०८।

४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ४२।

५. भरतकोष, रामकृष्णकवि पृष्ठ २, संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ १३।

६. जे० ए० एस० बी० १९१३, पृष्ठ ३०७, हरप्रसाद शास्त्री।
तथा हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पी० वी० काणे, पृष्ठ ४१।

अतीत काल की अत्यन्त प्रशस्त एवं समृद्ध रचना है, जिसमें भारतीय जीवन की प्रवहमान गौरव-शाली संस्कृति का पूर्ण रूप प्रतिभासित हुआ है। उसे दो-चार सौ सदियों की सीमा में बाँधकर नहीं देखा जा सकता। उसका यह विशाल रूप शनैः शनैः परिवर्द्धित और विकसित हुआ होगा। अपने मौलिक रूप में तो उसका समारम्भ ईस्वीपूर्व के उदयकाल से बहुत पूर्व ही हुआ होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

नाट्यशास्त्र का रचना-काल और बाह्य साक्ष्य

नाट्यशास्त्र की आन्तरिक समीक्षा के क्रम में हम उसके रचनाकाल की ऊपरली सीमा का अनुमान कर सकते हैं। किन्हीं निश्चित तथ्यों पर पहुँचने में बड़ी कठिनाई होती है। परन्तु सौभाग्य से भास, अश्वघोष और कालिदास जैसे उच्च कोटि के प्राचीन नाटककारों की रचनाएँ प्राप्य हैं जिनके आधार पर नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की निचली सीमा की स्पष्ट रेखा अंकित कर सकते हैं। इन तीनों नाटककारों में अश्वघोष का समय तो सर्वथा निर्णीत है। पर भास और कालिदास का रचनाकाल अनुमान पर ही आधारित है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार अश्वघोष, भास और कालिदास का समय क्रमशः पहली, दूसरी या तीसरी एवं चौथी सदी है।[१] इसी मान्यता को हम यदि स्वीकार कर लें तो नाट्यशास्त्र का निचली सीमा का निर्धारण करने में हमें सहायता मिलती है, क्योंकि इनकी रचनाओं पर भरत के नाट्यशास्त्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है। हम यहाँ पर इन तीन नाटककारों के ग्रन्थों पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की समीक्षा क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

नाट्यशास्त्र : अश्वघोष और भास के नाटक—अश्वघोष बौद्ध कवि थे। मध्य एशिया में उनके प्रकरणों की भी उपलब्धि इस सदी में हुई। हम यह पिछले पृष्ठों में प्रतिपादित कर चुके हैं कि शारिपुत्त प्रकरण की प्राकृत भाषा नाट्य-शास्त्र की प्राकृतभाषा की अपेक्षा प्राचीन है।[२] पर शारिपुत्त प्रकरण पर नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक भेद का बहुत स्पष्ट प्रभाव है। अतः अश्वघोष का यह प्रकरण नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रकरण की शिल्पविधि से अप्रभावित नहीं है।[3]

भास ने तेरह रूपकों की रचना की है। नाट्यकार ने उन रूपकों में यत्र-तत्र नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नियमों की अवहेलना की है। भास के नाटकों का आरम्भ सूत्रधार द्वारा होता है।[४] नाट्यशास्त्र के अनुसार तो सूत्रधार पूर्व-रंग प्रस्तुत कर रंगमंच से निकल जाता है तब उसकी आकृति और गुण में समान स्थापक ही कवि नाम-कीर्तन तथा काव्य की प्रख्यापना करता है।[५] परन्तु भरत-प्रणीत इस नियम का अनुसरण कालिदास या भवभूति आदि ने भी नहीं किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार ही काव्य-प्रख्यापना एवं

---

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृष्ठ ६३।

२. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २६३।

३. There is close co-incidence between its technique and that of Natya-sastra. P. V. Kane, *History of Sanskrit Poetics*, p. 21.

४. भास के नाटकों की स्थापना द्रष्टव्य।

५. ना० शा० ५।१६२, ५:१६५ (गा० ओ० सी०)।

कवि नाम-कीर्तन भी करता है।[१] अभिनवगुप्त ने इसी स्वीकृत परंपरा को दृष्टि में रखकर सूत्रधार और स्थापक को दो भिन्न व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार ही नहीं किया है।[२] भास की विलक्षणता यह अवश्य है कि वे प्रस्तावना का प्रयोग करते ही नहीं। भास ने भरत-निषिद्ध रक्तपात, हत्या, भरण और युद्ध आदि अनेक दृश्यों की परिकल्पना उन रूपकों में की है।[3] इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र का वह प्रभाव अभी तक नहीं छाया हो जिसके नियमों की अवहेलना नहीं की जा सके। भास ने मौलिकता और नूतनता के कारण भी ऐसा किया हो।[४] परन्तु इन अवहेलनाओं की अपेक्षा नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का भास के रूपकों में उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह भास की रचनाओं पर नाट्यशास्त्र के प्रत्यक्ष प्रभाव का संकेत करता है। स्थापना, सूत्रधार, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख, हाव, भाव, मारिष, नाटकस्त्री और नाटकीया आदि शब्द भास की नाट्यकृतियों में प्रयुक्त हैं और नाट्यशास्त्र में इनकी विधिवत् मीमांसा भी हुई है।[५] 'चारुदत्त' नाटक में वसन्तसेना के पलायन-काल में उसकी गति की भावभंगिमा का वर्णन नाट्यशास्त्र में वर्णित नृत्य की भावभंगिमाओं के नितान्त अनुरूप है।[६] पुनश्च रदनिका के स्वर को दृष्टि में रखकर विट द्वारा नाटकस्त्रियों द्वारा स्वर-परिवर्तन का जो उल्लेख किया गया है वह नितान्त भरतानुसारी है।[७]

नाट्यशास्त्र और भास के नाटकों में प्राप्त इन समताओं के अतिरिक्त 'दशरूपक' विवरण एवं संध्यंगों के अन्तर्गत प्रस्तुत विविध नाट्यशिल्प का भी प्रभाव भास पर बहुत स्पष्ट है। इस तथ्य को तो भारतीय वाङ्मय के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ महादेय ने भी स्वीकार किया है कि कालिदास-काल की अपेक्षा भास-काल में नाट्यशास्त्र का प्रभाव किंचित् मंद भले ही रहा हो परन्तु नाट्यशास्त्र वर्तमान अवश्य था। अतः भास पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की संभावना के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय दूसरी सदी से पूर्व अवश्य होता है।[८]

कालिदास के नाटक और नाट्यशास्त्र—कालिदास ने भरत द्वारा विहित 'नाट्य-प्रयोग'

---

१. कालिदास और भवभूति के नाटकों की स्थापना द्रष्टव्य।

२. अ० भा० भाग १, पृ० २४८।

३. उरुभंग, १।५६, बालचरित ५।११, अभिषेक नाटक अंक १।
तथा युद्धंराज्यभ्रशो भरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नांके प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ ना० शा० १८।२१ (का० मा०)।

४. ना० शा० अ० अ०, पृ० ७४-७५ (म० मो० घोष)।

५. (क) स्थापना : सूत्रधार का प्रयोग सब नाटकों में,
(ख) चारीं गतिं प्रचरति। उरुभंग—१।१६।
(ग) चारुदत्त अंक १ में मारिष भाव, नाटकस्त्री आदि शब्द के प्रयोग द्रष्टव्य।
तथा ना० शा० के १८.२७ एवं अन्य अध्यायों में इन पारिभाषिक शब्दों का विवेचन।

६. नृत्तोपदेशविशदौ चरणौ क्षिपन्ति। चारुदत्त अंक—१।१६।
तथा ना० शा० ५ एवं १२ अध्याय (गा० ओ० सी०)।

७. एषां रंगप्रवेशेन कलानां चैव शिक्षया।
स्वरांतरेण दक्षा हि व्याहर्तुं तन्तमुच्यताम्। चारुदत्त अंक--१।२४।
तथा--उच्चादीप्ता द्रुताचैव काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः। ना० शा० १७।११६-१२६ (गा० ओ० सी०)।

८. संस्कृत ड्रामा, ए० बी० कीथ, पृ० २९२।

एवं नाट्य की 'अप्टरसाश्रयता' का स्पष्ट उल्लेख 'विक्रमोर्वशीय' में किया है।[1] 'मालविकाग्निमित्र' नामक कालिदास का नाटक नाट्यशास्त्र के प्रभाव-परीक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हरदत्त और गणदास नामक आचार्यों के बीच कल्पित नाट्य-प्रयोग की प्रतिद्वन्द्विता के संदर्भ में आंगिक और वाचिक आदि अभिनय, सिद्धि, रस, प्राश्निक एवं अन्य अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया गया है, जिनका विधान भरत ने नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रसंगों में किया है।[2] रघुवंश में खंडित नायिका,[3] आंगिक, सात्त्विक और वाचिक अभिनयों तथा कुमारसंभव में संध्यंग एवं ललित अंगहारों के उल्लेख द्वारा कालिदास की कृतियों पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव की बात सर्वथा सिद्ध हो जाती है।[4]

नामों के निर्देश—नाट्यशास्त्र में नाट्यप्रयोग के क्रम में प्रयुक्त विभिन्न पात्रों के लिए प्रतीक नामों का विधान है। नृप-पत्नी के लिए विजया, युवराज के लिए स्वामी, प्रेष्याओं के लिए पुष्पवाचक और परिचारकों के लिए मंगलार्थक शब्दों के प्रयोग का विधान है।[5] परन्तु भरत के इन नियमों की अवहेलना कालिदास एवं अन्य परवर्ती नाटककारों ने भी की है। भावप्रकाशन में नृप-पत्नी का नाम इरावती और धारिणी, अभिज्ञानशाकुंतल में वसुमती और हंसपदिका है। वकुलावलिका और कुमुदिका को छोड़ कालिदास के नाटकों में प्रेष्याओं के नाम फूलों पर नहीं हैं। स्वामी शब्द का प्रयोग कालिदास ने नाट्यशास्त्र के विधान के विपरीत युवराज के लिए न कर सम्राट् दुष्यन्त के लिए किया है। परन्तु शास्त्रीय नियमों की ऐसी उपेक्षा परंपरा से होती आ रही है। उसके आधार पर कालिदास की रचनाओं की अपेक्षा नाट्यशास्त्र की परवर्तिता स्थापित नहीं हो सकती। वस्तुतः कालिदास-काल तक तो भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य एवं अन्य ललितकलाओं के क्षेत्र में महान् प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में समादृत हो चुका था। नाट्यशास्त्र में निर्धारित नियमों की सर्वथा उपेक्षा संभव नहीं थी। कालिदास से तीन सौ वर्ष पूर्व यदि नाट्यशास्त्र की निचली सीमा निर्धारित की जाय तो यह सीमा ईस्वी सदी के प्रभातकाल के आसपास ही होती है। रैप्सन महादेय ने यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तीसरी सदी के बाद कदापि कल्पित नहीं किया जा सकता।[6]

स्मृति-पुराण का साक्ष्य—नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की निचली सीमा-निर्धारण की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति, अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी विशेष रूप से उपादेय हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में भरत शब्द का उल्लेख है और उसकी परिभाषा पर नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित

---

१. वि० उ० अं० २।१७।

२. मालविकाग्निमित्र अंक १, २।

३. प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखंडन व्यथाः। रघुवंश १६।२१।
तथा अंगसत्ववचनाश्रय मिथः स्त्रीपुनृत्यमुपधाय दर्शयन् तथा ना० शा० ३१।१०६-११०;
रघुवंश १६।३६।

४. तौ संधिषु व्यंजित वृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोग माधं ललितांगहारम्। कुमारसंभवम् ७।६१। तथा ना० शा०
४।१७-३३।

५. ना० शा० १७।६५, १७।७४ (का० मा०)।
तथा अ० शा० अंक २ तथा अन्य नाटकों में प्रयुक्त नाम।

६. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 9, page 43.

आहार्याभिनय विधि का बहुत स्पष्ट प्रभाव मालूम पड़ता है।[१] याज्ञवल्क्य में सामवेद के गीतों के महत्त्व के प्रतिपादन के प्रसंग में वैदिकेतर सात प्रकार के गीतों के गायकों के भी मोक्षगामी होने का उल्लेख है।[२] इन गीतों की व्याख्या के प्रसंग में मिताक्षरा और अपरार्क ने भरत का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य में अनवसर ही उल्लिखित इन सात प्रकार के गीतों का विवेचन नाट्यशास्त्र में भी मिलता है। दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित इन गीतों के नामों में थोड़ा-सा अन्तर है—नाट्यशास्त्र में उल्लिखित सात प्रकार के गीत निम्नलिखित हैं :—

मन्द्रक, अपरान्तक, प्रकरी, रोविन्दक, ओणेवक, उल्लोप्यक और उत्तर।[३] याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लिखित सात प्रकार के गीत हैं—अपरांतक, उल्लोप्यक, मद्रक, प्रकरी, ओणेवक, सरोबिन्दु तथा उत्तर।

मिताक्षरा और अपरार्क के आधार पर पी० वी० काणे महोदय के मतानुसार याज्ञवल्क्य में उल्लिखित इन गीत-सम्बन्धी पदों का स्रोत नाट्यशास्त्र ही है। यदि याज्ञवल्क्यस्मृति का समय दूसरी सदी हो तो, नाट्यशास्त्र की रचना का समय पहली या दूसरी सदी के पूर्व ही होगा।[४]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—विष्णुधर्मोत्तरपुराण साहित्य और कलाओं का विशाल कोष है। नाट्यशास्त्र में वर्णित विभिन्न विषयों का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। आंगिक अभिनय के विविध प्रकार, आहार्य एवं सामान्याभिनय, रस एवं भाव आदि अनेक नाट्योपयोगी विषयों का वर्णन है। दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण उत्तरकालीन रचना है। नाट्यशास्त्र में अलंकार पाँच हैं, पर विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सत्रह।[५] इसका अर्थ यह है कि नाट्यशास्त्र और छठी सदी में भामह के काव्यालंकार की मध्यवर्ती रचना है, नाट्यशास्त्र से प्रभावित भी। रूपकों की संख्या नाट्यशास्त्र में दस है पर विष्णुधर्मोत्तरपुराण में बारह।[६] रसों की संख्या नाट्यशास्त्र में आठ है (कुछ आचार्यों की पाठ-परंपरा के अनुसार) पर इस पुराण में नौ है।[७] नाट्यशास्त्र में वर्णित विषयों के साम्य तथा उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से ऐसा लगता है कि इस पुराण का तृतीय खण्ड नाट्यशास्त्र का अनुवर्ती है। पी० वी० काणे महोदय के अनुसार[८] इसका रचनाकाल छठी सदी का उत्तरार्द्ध तथा डॉ० प्रियवाला शाह के अनुसार[९] चौथी सदी में हो सकता है और नाट्यशास्त्र का समय इससे पूर्व निश्चित रूप से है। चौथी से पूर्व ही नाट्यशास्त्र कला और साहित्यसृजन के क्षेत्र में ऐसा सम्मान प्राप्त कर चुका था, पुराणरचयिता अपनी रचनाओं को अधिकाधिक समृद्ध और उपयोगी बना रहे थे।

---

१. यथाहि भरतो वर्णैः वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। याज्ञवल्क्य ३, १६२।

२. याज्ञवल्क्य ३, ११३।

३. ना० शा० ३१।४१६, २६०,३०३,३०६; का० सं०।

४. History of Sanskrit Poetics, p. 46.

५. ना० शा० १६/४३। का० मा०, का० अ० २/४, काव्यालंकार सार संग्रह १, १, २। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, पृ० ३१-३२ (गा० ओ० सी०)।

६. ना० शा० १८/१। (का० मा०) वि० ध० पु० १७/६० (गा० ओ० सी०)।

७. ना० शा० ६/१६। वि० ध० पु० १७/६१।

८. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ६६, पी० वी० काणे।

९. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : भूमिका पृ० २६। प्रियवाला शाह (जी० ओ० सी०)।

अग्निपुराण—अग्निपुराण में पुराणेतर विषयों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। स्वभावतः नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र का उत्तम वर्णन प्राचीन शैली में उपलब्ध है। नाट्यशास्त्र एवं अग्निपुराण के वर्ण्यविषयों की समानता देखकर काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया कि नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्रीय विषयों के उपस्थापन के लिए अग्निपुराण का ऋणी है।[१] इसी विचारपरंपरा में सिल्वान् लेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है। नाट्यशास्त्र की कारिकायें अग्निपुराण से ही ली गई हैं।[२] पर यह नितान्त भ्रम जान पड़ता है। वृत्तियों के विवेचन के क्रम में अग्निपुराणकार ने उनके संबंध की कल्पना भरतमुनि से की है।[3] यदि अग्निपुराण ही आकर-ग्रन्थ होता तो परवर्ती काव्यशास्त्रकार अग्निपुराण के प्रति ही अपना आभार प्रकट करते। पर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को छोड़ सभी ने भरत के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है। पी० बी० काणे महोदय तो इस ग्रंथ को न केवल नाट्यशास्त्र का ही अपितु भामह, दण्डी और भोज का भी परवर्ती मानते हैं।[४] अतः इससे नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण में सहायता नहीं मिलती। पर उस पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है।

काव्य-ग्रन्थों का साक्ष्य—काव्य-ग्रन्थों के विश्लेषण से भी नाट्यशास्त्र पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध होता है और इसके रचना-काल की हम कल्पना कर सकते हैं।

(अ) हाल की सप्तशती की रचना दूसरी से चौथी सदी के मध्य हुई होगी। प्रस्तुत मुक्तक काव्य में कवि ने एक पद्य में प्रेम रूपी नाट्य-व्यापार में आलिंगन की तुलना नाट्य के पूर्वरंग से की है।[५] पूर्वरंग का विवेचन नाट्यशास्त्र के एक स्वतंत्र अध्याय में किया गया है। सम्भव है हाल ने नाट्यशास्त्र से ही अपनी कल्पना परिपुष्ट की हो।

(आ) आठवीं सदी में रचित कुट्टनीमत में नाट्यशास्त्र के एक से ३६ अध्यायों में प्रतिपादित विभिन्न नाट्य-विषयों का उल्लेख है। प्रावेशिकी[६] और नैष्क्रामिकीध्रुवा[७], खंडिता, कलहान्तरिता, सात्विक भाव, नहुष के अनुरोध से पृथ्वी पर भरतपुत्रों द्वारा नाट्य-प्रयोग आदि संबद्ध विषयों का उल्लेख किया है। उससे यह प्रमाणित होता है कि आठवीं सदी का यह ग्रंथ नाट्यशास्त्र के वर्तमान स्वरूप से सर्वथा परिचित था।

(इ) बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे नाट्यशास्त्र तथा भरत से उनका परिचय प्रकट होता है। कादम्बरी में भरत-रचित नृत्तशास्त्र का उल्लेख है। इस कथा-ग्रंथ का प्रधान पुरुष चन्द्रापीड इस शास्त्र में दक्ष था।[८] हर्षचरित में भरत-सम्मत गीत-

---

१. अग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकार शास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनि प्रणीतवान्। सन्दर्भ हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३।

२. संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३१। पादटिप्पणी संख्या २, एस० के० दे।

३. भरतेन प्रणीतत्वाद भारती वृत्तिरुच्यते। अ० पु० ३३६-६।
तथा ना० शा० २०/२५। (का० मा०)।

४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ६।

५. हाल की सप्तसती ४४४।

६. प्रावेशिकी अवसाने द्विपदी ग्रहणांतरेऽविशत् सूत्री। कुट्टनीमत ८८१।

७. नैष्क्रामिक्या ध्रुवया विनिर्ययौ नायकोऽपि सह—कुट्टनीमत ६२८, ६४१, ६४६, ६४७ आदि।

८. भरतादि प्रणीतेषुनृत (त्य) शास्त्रेषु। कादम्बरी, पृ० १५०।

विद्या, आरभटी वृत्ति तथा रेचक का उल्लेख किया गया है।[१] बाणभट्ट का समय सातवीं सदी निर्धारित है। अतः नाट्यशास्त्र के प्रधान प्रतिपाद्य विषयों से बाणभट्ट सातवीं सदी में पूर्णतया परिचित थे।

अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ—इन मूल काव्य एवं नाट्यग्रन्थों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के प्रायः बहुत-से उपलब्ध ग्रंथों में भरत अथवा नाट्यशास्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः भामह और दंडी द्वारा भरत-निरूपित अलंकारों का उत्तरोत्तर विकास तथा वृत्ति आदि का तदनुरूप विवेचन इन आचार्यों पर भरत के स्पष्ट प्रभाव का सूचक है। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धनाचार्य आठवीं सदी के महान् गंभीर आलोचक थे। इन्होंने नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रख्यात वस्तु, उदात्तनायक, पांच संध्यंग, कैशिकी आदि वृत्तियों, काव्यरचना का उद्देश्य तथा रस निष्पत्ति आदि अनेकानेक विषयों का उल्लेख ध्वन्यालोक में किया है। इन प्रसंगों में सर्वत्र भरतमुनि का उल्लेख भी है। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि वे नाट्यशास्त्र से परिचित थे।[२] मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में तो भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र को ही उद्धृत किया गया है। अभिनवगुप्त के आधार पर भट्टलोल्लट आदि प्राचीन आचार्यों के मतों की समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ये सब आचार्य आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी के मध्य के थे, और इन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र पर स्वतंत्र टीकायें कीं या अपने स्वतंत्र ग्रन्थों में भरत के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की।

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ—नाट्यशास्त्रीय दशरूपक, भावप्रकाशन, संगीत रत्नाकर, काव्यानुशासन, रसार्णव सुधाकर, नाटक लक्षण, रत्नकोष और नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में सर्वत्र भरत का स्पष्ट प्रभाव ही नहीं अपितु इन आचार्यों ने भरत के नाट्य-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का पुनः कथन किया है।[3]

निष्कर्ष

नाट्यशास्त्र के रचना-काल के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र, प्राप्त प्राचीन अभिलेख, काव्य एवं नाट्यग्रन्थ, स्मृति-पुराण और काव्यशास्त्र आदि में प्राप्त एतत् सम्बन्धी सामग्री की समीक्षा करते हुए हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

नाट्यशास्त्र के रचना-काल की निचली सीमा—नाट्यशास्त्र के रचना-काल की निचली सीमा प्रायः निर्धारित हो जाती है। कालिदास का समय यदि चौथी सदी हो, तो नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की सीमा कम-से-कम इससे दो-एक सदी और भी पूर्व चली जाती है, क्योंकि चौथी सदी में रचित कालिदास के काव्य एवं नाट्य-ग्रन्थों में भरत एवं उनके नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विषयों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। कालिदास के उपरान्त भामह और दंडी की काव्यशास्त्रीय कृतियाँ भरत की प्रभाव-छाया से अछूती नहीं हैं। आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक

१. वंशानुगम विवादि स्फुटकरणं भरतमार्गभजनगुरु श्रीकंठविनिर्यातं गीतमिदं राज्यमिव। हर्षचरित ३।४।

२. अतएव च भरते प्रबंध प्रख्यात वस्तु विषयत्वं प्रख्यातोदातनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतोपन्यस्तम्। ध्व० आ०, पृ० २६०, २६२, २६५, २६४ तथा ना० शा० १८/१०-१२ (का० मा०)।

३. द० रू० १.४ (मुनिरपि भरतः), भा० प्र०, पृ० २८, २५-७।
(भरतादिभिः आचार्यैः प्रणीतेनैववर्त्मना)
इति तेन नियुक्तस्तु भरतः सहमुनुभिः र० सु० १।४८, भरताचार्योऽप्येवंविधं नाटकं प्रस्तौति ना० ल० को० १, पृ० १।१६ पं०, भरतमुनिनोपदर्शितानि, काव्यानुशासन, पृ० ४३३।

तो भरत के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यसिद्धान्तों का ऐसा व्यापक प्रभाव छा जाता है कि भट्टलोल्लट, उद्भट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टयंत्र और अभिनवगुप्त जैसे महान् आचार्यों ने नाट्यशास्त्र पर भाष्य की रचना की। भाव, रस, आंगिकादि अभिनय, दशरूपक विकल्पन, पंचसंध्यंग तथा ललित अंगहार आदि नाट्योपयोगी विषय कालिदास के काल में वर्तमान नाट्यशास्त्र के अंग बन चुके थे। अतः कालिदास के काल में नाट्यशास्त्र के प्रधान अंशों की रचना हो चुकी थी। परन्तु कालिदास ने इन विषयों का जिस रूप में उल्लेख किया है, भरतानुमोदित शैली पर भावप्रकाशन में दुष्प्रयोज्य छलिक का प्रयोग किया है[1] तथा प्रथम एवं द्वितीय अंक की सारी कथावस्तु को 'प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र'[2] में प्रतिपादित नाट्य-नियमों के आधार पर प्रयोगात्मक में प्रस्तुत रूप है। उसके आधार पर हम यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि कालिदास के पूर्व नाट्यशास्त्र वर्तमान था। कितनी सदियों पूर्व से नाट्यशास्त्र का यह स्वरूप भारतीय साहित्य-चेतना को प्रभावित कर रहा था, यह कल्पना और अनुमान का विषय है। इसी संदर्भ में हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की उपरली सीमा की ओर जाती है, जिस प्रभाव-परिधि में भास और अश्वघोष जैसे प्राचीन कवि और नाटककार भी आते हैं।[3]

नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की ऊपरली सीमा—नाट्यशास्त्र के रचनाकाल की ऊपरली सीमा अनिर्धारित है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त सूत्र, सूत्रभाष्य शैलियों के स्वरूप की मीमांसा करते हुए पतंजलिकाल की ओर हमारी दृष्टि जाती है। गद्यात्मक सूत्र एवं छन्दोबद्ध कारिकाओं का प्रयोग नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता का स्पष्ट संकेत करता है। सम्भव है सूत्रकाल में रचित सूत्र-रूप इस नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद का सम्मान प्राप्त हुआ हो। स्वयं सूत्र शब्द का प्रयोग भी पवित्र वैदिक चरणों के लिए प्रयुक्त होता था। अतः नाट्यशास्त्र मूल रूप में सूत्र या कारिका के रूप में रहा हो तो प्रथम सदी के अश्वघोष-काल से भी पर्याप्त प्राचीन रचना होने का अनुमान किया जा सकता है।[4] यह तो हम प्रतिपादित कर चुके ही हैं कि शिल्पविधि की दृष्टि से नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रकरण की शैली में शारिपुत्त प्रकरण की रचना हुई है। इसी प्राचीनता तथा परवर्ती नाट्यग्रंथों पर स्पष्ट प्रभाव को दृष्टि में रखकर ही रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र की ऊपरली सीमा ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी में निर्धारित की।[5] अष्टाध्यायी सूत्र-शैली में लिखित रचना है और उसका रचनाकाल ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी के आसपास है। यदि नाट्यसूत्रों में कारिकायें और आर्यायें भी शनैः-शनैः मिलती गईं तो यह अनुमान करना उचित नहीं होगा कि नाट्यशास्त्र के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अंशों की रचना ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी के बाद और

---

१. चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरंति। भा० अ० अं० १।

२. प्रयोगप्रधानम् हि नाट्यशास्त्रम्। भा० अ० अंक १।

३. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २६२।
हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स—पृ० ४३ : पी० वी० काणे।

४. But if the tendency towards Sutra Bhasya style may be presumed to have been generally prevalent in the last few centuries B. C., then the presumed Sutra text of Bharata belongs apparently to this period.
—*Sanskrit Poetics* : S. K. De, p. 31.

५. Bharata Kosha, p. 2, रामकृष्ण कवि।

प्रथम सदी के मध्य हुई होगी, क्योंकि प्रथम सदी के अश्वघोष की रचना पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव है ही।[1]

अंत: दोनों निष्कर्षों को दृष्टि में रखने पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि तीसरी सदी से पूर्व ही भरत के नाम से एक नाट्यशास्त्र निश्चित रूप में लोकविश्रुत हो चुका था। इस नाट्यशास्त्र में भाव, रस, अभिनय, प्रेक्षागृह, नाट्यप्रयोग और ललित अंगहार आदि नाट्यकला सम्बन्धी विषयों पर विस्तार से विचार किया गया था। यह नाट्यशास्त्र अश्वघोष और भास पर अपनी प्रभाव-रश्मियाँ विकीर्ण कर चुका था। कालिदास की चौथी सदी से ग्यारहवीं सदी तक का कोई भी उल्लेख योग्य नाटककार या काव्यशास्त्र-रचयिता इस प्रभाव के आलोक में ही साहित्य का सृजन कर सका।

1. M. M. Ghosh : Journal of Department of Letters, Calcutta University जिल्द सं० २५, पृ० १-३४ तथा ना० शा० अं० अनुवाद भूमिका भाग, पृ० ६१-६५। *History of Sankrit Poetics*, p. 43.

४

नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य : शैली, स्वरूप और विकास की अवस्थायें

नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता—प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता, शैली और स्वरूप की विविधता तथा विकास की विभिन्न अवस्थाओं की दृष्टि से नाट्यशास्त्र एक विलक्षण ग्रंथ है। सुकुमार कलाओं के इस महाकोष ने लगभग गत दो हज़ार वर्षों से भारतीय नाट्य, नृत्य और संगीत की उदात्त चेतना को आलोकित और अनुप्राणित किया है। अतएव परवर्ती आचार्यों एवं शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद[1] और नाट्यप्रणेता भरत को मुनि[2] के रूप में स्मरण किया है। नाट्यशास्त्र के कुल छत्तीस अध्यायों में लगभग छः हज़ार श्लोक हैं, जिनमें मुख्यतः नाट्यसिद्धान्तों और प्रयोगों तथा नृत्य, संगीत एवं काव्यशास्त्र आदि का विधिवत् विवेचन किया गया है।

नाट्योत्पत्ति, नाट्यमण्डप, रंगपूजा, पूर्वरंग और अंगहार—नाट्यशास्त्र के आरम्भिक पाँच अध्यायों में भरत ने उपर्युक्त पाँच विषयों की विवेचना शास्त्रीय पद्धति पर की है। उन्होंने नाट्योत्पत्ति का परम्परागत एवं शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि चारों वेदों से एक-एक अंग लेकर नाट्य का सृजन ब्रह्मा ने किया। तदनन्तर अपने शतपुत्रों के सहयोग से नाट्य का प्रयोग भी प्रस्तुत किया।[3] द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप की रचनाविधि का विस्तृत विधान है। यह प्राचीन भारतीय रंगमंच की उन्नतिशालिता का सूचक है। तीसरे अध्याय में रंगपूजा के अनुष्ठान का वर्णन धार्मिक परम्पराओं का प्रतीक है। चतुर्थ में तण्डु के द्वारा करण एवं अंगहार का शास्त्रीय पद्धति पर विवेचन है। ये करण चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में उसी रूप में टंकित हैं। पंचम अध्याय नाट्यप्रयोग के शुभारम्भ का एक महत्त्वपूर्ण मांगलिक अनुष्ठान है। पी० वी० काणे महोदय के मतानुसार नाट्यशास्त्र के ये आरम्भिक अंश नाट्यशास्त्र के नितान्त मौलिक अंश नहीं

---

१. नाट्य वेदाच्च भरताः। भावप्रकाशन १०।३४।

२. मुनिना भरतेन—विक्रमोर्वशी अंक २।१७।

३. ना० शा० १।१६, २५-११६ (गा० ओ० सी०)।

हैं। नाटचप्रयोग और नाटचप्रयोक्ताओं को प्रतिष्ठा देने के लिए इस अंश का संकलन बाद में किया गया होगा।[1]

रस और भाव—नाटचशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों के लिए ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण रसों और भावों का छठे और सातवें अध्यायों में शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन भरत ने ही किया। अपने विचारों के समर्थन और विषय के उपबृंहण में भरत ने आनुवंश्य आर्याओं और श्लोकों को उद्धृत किया है, जिससे पूर्वाचार्यों तथा शैली की विविधता का परिचय मिलता है। रस के संबंध में (षष्ठ अध्याय में) नाटचशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में पाठ-भिन्नता है। कुछ में आठ रसों का वर्णन है और कुछ में नौ का।[२]

नाट्य का प्रयोग अभिनय—रूपक अभिनीत होने पर ही नाटच होता है। भरत ने अभिनय की पाँच विधियों का विवरण प्रस्तुत किया है। नाटचशास्त्र के आठ से सत्रह अध्यायों (का० सं० ८-१९ अध्याय) में आंगिक एवं वाचिक अभिनयों का विवेचन किया गया है। आठ से बारह अध्यायों में मुख्य रूप से मनुष्य के अंगोपांगों की विविध चेष्टाओं और मुद्राओं द्वारा होने वाले अभिनयों और समानान्तर अभिनीत भावों का विश्लेषण है। तेरहवें अध्याय में नाटच-मंडप की कक्ष्याविधि, प्रवृत्ति, लोकधर्मी एवं नाटचधर्मी प्रवृत्तियों का तुलनात्मक विश्लेषण उपस्थित किया गया है।[3] भरत के अनुसार वाचिक अभिनय नाटच का तनु है।[४] चौदहवें-सत्रहवें अध्यायों में वाचिक अभिनय के सब पक्षों के विधिवत् विवेचन के क्रम में छन्द, अलंकार, गुण और दोष आदि काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का शिलान्यास किया गया जो बाद में स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हुए। इसी क्रम में नाटच की मातृरूपा भारती, कैशिकी, आरभटी और सात्वती वृत्तियों का विवेचन है। बीच के १८-२० तक तीन अध्यायों को छोड़ इक्कीस से छब्बीस अध्याय तक नाट्य-प्रयोग से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में आहार्याभिनय के प्रतिपादन के क्रम में वेशभूषा, रूपरचना और वर्णविधि से सम्बन्धित सामग्रियों और विधियों का उल्लेख है। इन प्रयोगों के विश्लेषण से भारतीय नाटचकला के विकसित रूप का परिचय प्राप्त होता है।

प्रयोग की दृष्टि से २२-२६ अध्याय बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। चार अध्यायों (२२-२५) में स्त्री एवं पुरुष प्रकृति की विविधता, तदनुरूप अभिनय की विशिष्टताओं का विवरण, सामान्याभिनय, चित्राभिनय और वैशिक अध्यायों में दिया गया है। इस क्रम में दो बातें और उल्लेखनीय हैं। भरत ने रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत नायक-नायिका, सेनापति, मंत्री, विदूषक तथा अन्य पुरुष एवं नारी पात्रों की उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों का तो प्रयोग की दृष्टि से विचार किया है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि से वे नाटच-प्रयोक्ता पात्र भी नहीं बचे हैं, जो रंगमंच पर प्रस्तुत तो नहीं होते, परन्तु नाटच-प्रयोग को वे भी वास्तविक जीवन और गति देते हैं। नाटचाचार्य, सूत्रधार,

1. Holding as I do that the first five chapters were latter additions. *History of Sanskrit Poetics*, P. V. Kane, p. 27.
२. तस्मादस्ति शान्तो रसः। अ० भा० भाग १, पृ० ३३९, ना० शा० का० सं० छठा अध्याय। तथा *New Indian Antiquary*, Vol. VI., pp. 272, 82.
३. संगीत रत्नाकार, पृ० ६५३ (कल्लीनाथ)।
४. वाचियत्नस्तु कर्तव्यः नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता। ना० शा० १४।२ (का० मा०)।

आभरणकृत्, माल्यकृत्, शिल्पी, चित्रकृत् और रजक आदि अनगिनत प्रयोक्ता इसी श्रेणी के हैं। रंगमंच पर नाटच-प्रयोग के लिए न जाने कितनी सामग्री, जनशक्ति और प्रतिभा की आवश्यकता होती है। भरत ने उन प्रयोक्ताओं और उनके द्वारा प्रयोज्य कर्तव्य का आकलन कर अपनी विलक्षण प्रयोगात्मक दृष्टि का परिचय दिया है।

नाट्यसिद्धान्त—नाटचसिद्धान्त की दृष्टि से नाटचशास्त्र के १८-१९ अध्याय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं दो अध्यायों में शास्त्रकार ने दसों रूपकों, नाटच का शरीर-रूप इतिवृत्त, इतिवृत्त की पाँच संधियों, चौंसठ संध्यंगों एवं लास्यांगों का तर्क-सम्मत विभाजन और वर्गीकरण किया है। परवर्ती नाटचशास्त्रकारों ने मुख्य रूप से नाटच के इस सिद्धान्त पक्ष को परिवर्द्धित और विकसित किया तथा रूपकों के क्षेत्र में अन्य उपरूपकों तथा नायक-नायिका भेदों की भी परिकल्पना की। नाटचशास्त्र में प्रतिपादित ये नाटच-सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।

नाट्यसिद्धि—छब्बीस अध्यायों में नाटच-प्रयोग तथा नाटच-सिद्धान्त का उपबृंहण किया गया है। परन्तु नाटच-प्रयोग की सफलता के निर्धारण के लिए नाटचशास्त्र में कुछ निश्चित मानदण्डों को स्थापित किया गया है। किन कारणों से प्रयोग सिद्ध होता है और किन कारणों से दोषयुक्त, इनका विधिवत् विवरण सत्ताइसवें अध्याय में दिया गया है। इस अध्याय का इस दृष्टि से बहुत महत्त्व है कि नाटचशास्त्र की रचना से पूर्व ही भारतीय नाटच-कला इतनी उत्कर्षशाली हो चुकी थी कि नाटच-प्रयोग की सफलता के निर्धारण के लिए रंग-प्राश्निक आदि रंगसभा में नियुक्त होते थे और उत्तमता अथवा मध्यमता आदि के लेखा-जोखा के लिए लेखक भी होते थे।[1]

संगीत और वाद्य—नाट्यशास्त्र में संगीत और वाद्य का २८ से ३४ अध्यायों में विस्तृत विवरण दिया गया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की तंत्री, अवनद्ध, ताल तथा सुषिर (वंशी) आदि वाद्य, सप्तस्वर, स्वरों का रसों में अनुयोग, आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी चार प्रकार के वर्ण, ताल और लय, रंगमंच पर प्रवेश तथा उससे निष्क्रमण आदि के लिए ध्रुवागान आदि का विस्तृत विधान तथा विनियोग है। इन अध्यायों में संगीत की स्वर-प्रक्रिया, उनका रसानुरूप विधान तथा विभिन्न वाद्य-यंत्रों का तदनुरूप प्रयोग आदि का जितना विस्तृत विधान है, वह नाट्यशास्त्र में एक स्वतन्त्र विषय ही बन गया है। इसीलिए काव्यमाला संस्करण के अन्त में 'नन्दि भरत संगीत पुस्तक' के रूप में इसका उल्लेख किया गया है।[2]

नाट्यावतरण—अन्तिम ३६ और ३७ अध्यायों में नाट्यावतरण की पौराणिक कथा का संकलन है। उसी प्रसंग में ऋषियों द्वारा भरत-पुत्रों के अभिशप्त होने तथा नहुष के अनुरोध पर उन भरत-पुत्रों द्वारा मनुष्य लोक पर नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत करने की महत्त्वपूर्ण कथा का उल्लेख है। इस अध्याय से नाट्य प्रयोक्ताओं की हीन दशा का बहुत स्पष्ट परिचय मिलता है। इसका समर्थन पतंजलि के महाभाष्य से भी होता है कि नाट्य-प्रयोग के शिक्षक नाट्याचार्यों को प्राचीन काल में 'आख्याता' का सम्मान प्राप्त तो था पर बाद में वे सामाजिक हीनता के शिकार हुए।[3]

---

१. ना० शा० २७।३९ (गा० ओ० सी०)।

२. समाप्तश्चायं (ग्रन्थः) नन्दिभरतसंगीत पुस्तकम् (१) ना० शा० (का० मा०) पृ० ६६६।

३. पातंजल महाभाष्य १।४।२९।
तथा–पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३१ (वासुदेवशरण अग्रवाल)।

नाट्यविद्या से सम्बन्धित इन विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए भी भरत ने इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है कि प्रयोग के क्रम में नाट्यशास्त्र में अप्रतिपादित विचार भी लोकप्रमाण के अनुरूप ग्राह्य एवं प्रयोज्य हैं;[१] क्योंकि नाट्य-प्रयोग में प्रामाणिकता लोक-व्यवहार की ही होती है।

प्रतिपाद्य विषय की विविधता—नाट्यशास्त्र में जहाँ एक ओर भवन-निर्माण-कला और विज्ञान से सम्बन्धित नाट्यमण्डप का विधान है वहाँ दूसरी ओर छन्द, अलंकार, रस तथा अंगोपांगों की विभिन्न मुद्राओं का भी वर्णन है, जिनके द्वारा मनुष्य के आन्तरिक भावों का प्रकाशन होता है। इन भाव-भंगिमाओं को भी यथार्थ रूप प्रदान करने तथा अधिक भावगम्य बनाने के लिए 'आहार्याभिनय' की विस्तृत रासायनिक विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनके माध्यम से पात्रों की रूप-रचना, रंगमंच पर अपेक्षित प्राकृतिक और भौतिक परिवेश की प्रभावशाली योजना होती है। नाट्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण शास्त्रीय रूप से तो है ही। संगीत और नृत्य कलाएँ स्वतंत्र विषय के रूप में विवेचना के विषय हैं। भरत की दृष्टि से नाट्य अनुकृति-रूप कला ही नहीं अपितु वह मनुष्यमात्र और देवताओं के 'शुभाशुभ विकल्पक', 'कर्म और भाव का अनुकीर्तन' रूप है। इसमें समस्त लोक के भावों का अनुकीर्तन होता है। लोक का सुख-दुःख समन्वित भाव ही आंगिकादि अभिनयों से युक्त होने पर नाट्य होता है। इसमें वेदविद्या, इतिहास और आख्यान सबकी परिकल्पना होती है। भरत की दृष्टि से नाट्य मानव-जीवन के सौन्दर्य और आनन्दोद्बोधन का प्रतिफलन है।[२] अतएव उनकी दृष्टि में नाट्य जितना ही व्यापक है उसका शास्त्र भी उतने ही, विस्तृत और गवेषणात्मक रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है।

नाट्यशास्त्र में नाट्य-विद्या एवं अन्य सम्बन्धित कलाओं का जैसा विशद विवेचन किया गया है विश्व की किसी भी भाषा में नाट्यकला पर इतने विस्तार, स्पष्टता, सुन्दरता और सूक्ष्मता से शायद ही कभी विचार किया गया हो। प्रतिपाद्य विषयों की विविधता, व्यापकता, महत्ता और स्पष्टता की दृष्टि से विश्व नाट्य-साहित्य में यह महाग्रन्थ अद्वितीय है।[३]

शैली की विविधता

नाट्यशास्त्र में विषय की दृष्टि से जो विविधता है उसीके अनुरूप हमें अनेक प्रकार की शैलियों का भी परिचय मिलता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में वहाँ गद्य और पद्य दोनों प्रकार की शैलियाँ हैं। यही नहीं, गद्य और पद्य की इन दो शैलियों में भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर मालूम पड़ता है। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र के रस एवं भावाध्याय, लक्षण, छन्द, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि की विवेचन-शैली विशेष रूप से उपादेय है, क्योंकि इनके विवेचन के क्रम में गद्य और पद्य की अनेक शैलियों के रूपों से हमारा परिचय होता है।

नाट्यशास्त्र में गद्य-शैली के रूप—नाट्यशास्त्र में विभिन्न शास्त्रीय विषयों के प्रति-

१. तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक उच्यते। ना० शा० २६।११३ (का० सं०)।

२. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। ना० शा० १।१०७-१२० (का० मा०)

३. This work is probably unique in the world's literature on dramaturgy. Hardly any work on dramaturgy in any language has the comprehensiveness, the sweep and the literary artistic flair of Natyasastra. *History of Sanskrit Poetics*, P. V. Kane, p. 39-40.

पादन के क्रम में यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग आंशिक रूप से किया गया है। इस गद्य-शैली के प्रधानतया तीन रूप हैं और उनके द्वारा तीन प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं।

(अ) गद्यमय सूत्र में सिद्धान्त-निरूपण,[१] (आ) गद्यमय भाष्य द्वारा सूत्र में निरूपित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण[२] तथा (इ) प्रतिपाद्य विषय के निरूपण के क्रम में निरुक्त और व्याकरण की शैली में शब्दों की व्युत्पत्ति या निर्वचन।[३] शास्त्रीय निरूपण के लिए प्रयुक्त ये तीनों शैलियाँ प्राचीनकाल में प्रचलित थीं। ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी से भी पहले पाणिनि ने इस सूत्र-शैली में ही व्याकरण का गूढ़ ज्ञान अनुसूत्रित किया था। उन सूत्रों पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने जिस व्यास-शैली में पाणिनि के विचारों की व्याख्या की है, नाट्यशास्त्र में उस शैली का प्रयोग गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। रस एवं भावाध्याय में ऐसी व्यास-शैली का प्रयोग हम सर्वत्र देखते हैं। भरत ने स्वयं ही यह उल्लेख किया है कि 'इस नाट्य का अन्त नहीं है और ज्ञान एवं शिल्प भी अनन्त हैं।'[४] अतः इन विषयों को संग्रह रूप में 'सूत्र-भाष्य' शैली में प्रस्तुत किया है।[५] निरुक्त की निर्वचन शैली शब्दार्थों के स्पष्टीकरण के लिए बहुत प्रसिद्ध रही है और अत्यन्त प्राचीन भी।

नाट्यशास्त्र में गद्य-शैली के तीनों रूप अत्यन्त प्राचीन हैं। जिन पाणिनि, यास्क और पतंजलि आदि की गद्य-शैली से हमने नाट्य-शास्त्र की गद्य-शैली की तुलना की है, वे ईस्वी पूर्व दूसरी सदी से छठी सदी के मध्य में थे। इन शैलियों के प्रयोग से नाट्यशास्त्र की विवेचन प्रणाली की वैज्ञानिकता तथा अतिप्राचीनता का समर्थन होता है। यह सम्भव है कि गद्य के ये तीनों रूप क्रमशः विकसित हुए हों। सूत्रों में सिद्धान्त-निरूपण हुआ हो, तदनन्तर शब्दार्थ तथा शब्द-स्वरूप की दृष्टि से शब्दों का निर्वचन और विश्लेषण हुआ हो और अन्तिम रूप में सूत्रों में अनुस्यूत विचारों का भाष्य—व्यासशैली में विस्तार हुआ हो। यह भी संभव है कि भरत को ये तीनों शैलियाँ प्रयोग के लिए उपलब्ध रही हों और आवश्यकतानुसार इन्होंने तीनों का प्रयोग किया हो।

नाट्यशास्त्र में पद्य की विभिन्न शैलियाँ—नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से पद्य का प्रयोग हुआ है। ये पद्य अधिकतर अनुष्टुप छन्दों में हैं। ये सब सूत्र या कारिकाओं के रूप में हैं। इन्हीं में भरत ने अपने नाट्य-सिद्धान्तों का आकलन किया है। परन्तु इन कारिकाओं के अतिरिक्त अपने विचार-तत्त्वों के समर्थन में आनुवंश्य आर्याओं, श्लोक और सूत्रानुविद्ध आर्याओं का भी उपयोग किया है। विषय-विवेचन के प्रसंगों तथा उदाहरण आदि के रूप में 'उपजाति' आदि छन्दों के उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार पद्य के रूप में भी नाट्यशास्त्र में अनेक शैलियों से हमारा परिचय होता है।

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६, पृ० २७२ (गा० ओ० सी०)।

२. को दृष्टान्त अत्राह – यथाहि नाना व्यंजनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
तथा नानाभावोगमाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० अ० ६, पृ० २८७। (गा० ओ० सी०)।

३. अत्राह भावाइति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः। किं वा भावयन्तीतिभावाः। वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयंतीतिभावाः। इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्।
ना० शा० अ० ७, पृ० ३४२-४५ (गा० ओ० सी०)।

४. न शक्ययस्य नाट्यस्य गन्तुमन्त कथं च न।
कस्मात् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां चाप्यनंततः॥ ना० शा० ६।४६।

५. आचार्यः कस्मात्? आचिनोति अर्थान् बुद्धिमिति वा। निरुक्त नैघंटुक काण्ड २।३।

आनुवंश्य श्लोक—आनुवंश्य श्लोक गुरु-शिष्य की परम्परा से प्राप्त आर्या या श्लोकरूप में है।[१] इन आनुवंश्य श्लोक या आर्याओं द्वारा सूत्रार्थ का ही संक्षेप में समर्थन किया जाता है। अतः कारिका शब्द से भी इनका अभिधान होता है। आनुवंश्य श्लोकों के उपयोग की परम्परा महाभारत के वनपर्व[२] में भी दिखाई देती है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने अभिनवगुप्त की तरह ही आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत आख्यान श्लोक के रूप में ही स्वीकार किया है।[३] इन आनुवंश्य श्लोकों का प्रयोग अधिकतर नाट्यशास्त्र के ६-७ अध्यायों में किया गया है। ये आनुवंश्य श्लोक या आर्यायें नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत हैं। इसी सन्दर्भ में सूत्रानुविद्ध आर्याओं की ओर भी हमारी दृष्टि जाती है।[४] इन आर्याओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सूत्ररूप कारिकाओं में अनुस्यूत विचारों का विस्तार इन्हीं सूत्रानुविद्ध आर्याओं द्वारा ग्रन्थकार ने किया है।[५]

आर्याएँ—उपर्युक्त आनुवंश्य आर्याओं के अतिरिक्त आर्याओं को भी भरत ने उद्धृत किया है। वर्ण्य विषय का गद्य में व्याख्यान कर 'अत्र आर्ये भवतः', 'अत्र आर्याः', 'अत्र आर्ये रस विचार-मुखे' आदि संक्षिप्त वाक्यों द्वारा इन आर्याओं की अवतारणा होती है।[६] ये आर्यायें भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत हैं, भरत-रचित नहीं हैं। भयानक रस के प्रतिपादन के सन्दर्भ में आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि पूर्वाचार्यों ने इन आर्याओं को एक साथ लिखा है जबकि भरत ने वीर-रस से अलग करके भयानक रस के प्रकरण में इन आर्याओं का पाठ किया है।[७] अतः ये आर्यायें नाट्यशास्त्र के मौलिक अंश नहीं हैं, इस तथ्य से अभिनवगुप्त परिचित थे।

कारिकाएँ, श्लोक तथा अन्य छन्दों में अनुबद्ध पद्य—नाट्यशास्त्र में श्लोक या अनुष्टुप छन्दों की ही प्रधानता है। ये श्लोक कारिका के रूप में भी प्रसिद्ध रहे हैं। इसी कारिका-प्रधान नाट्यशास्त्र को सूत्र-रूप में भी आचार्य अभिनवगुप्त और नान्यदेव ने उल्लेख किया है।[८] इन कारिकाओं के अतिरिक्त कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जिन्हें आनुवंश्य की श्रेणी में रखना चाहिए। उनका भी अवतरण प्राचीन परम्पराओं से ही किया गया है।[९] इन सामान्य छन्दों के अतिरिक्त ३६ नाट्यलक्षणों को नाट्यशास्त्र के एक संस्करण में चार उपजाति छन्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।[१०] नाट्य-वृत्तियों के विवेचन के प्रसंग में प्रत्येक वृत्ति के विवेचन का आरम्भ

---

१. अ० भा० भाग १, पृष्ठ २६० (द्वि० सं०)।
२. यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथाजगौ। वनपर्व ८७।१६; १२६।८।
३. परम्परागतमाख्यान श्लोकम्। नीलकण्ठ।
४. अपि चात्र सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः। ना० शा० ६।४७-४८ (गा० ओ० सी०)।
५. अ० भा० भाग १०, पृष्ठ ३११।
६. ना० शा० भाग १, पृष्ठ ३१८, ३२४, ३२६, ३३२, ३५१, ३५२।
७. ता एताहि आर्याः एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैः लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुख संग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ३२७-८।
८. अ० भा० भाग १, पृष्ठ १।
कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि। नान्यदेव का भरत भाष्य। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ५७, भूमिका भाग (द्वि० सं०)।
९. अत्र श्लोका : ना० शा० ६।५४-६१, ७।४७।
१०. ना० शा० १६।१-४ (गा० ओ० सी०)।

उपजाति वृत्त में ही होता है।[1] आर्या छन्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र में बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है। नाट्यशास्त्र में छन्द की दृष्टि से पद्य-शैली की विविधता भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से ग्रहण की गई है। उपजाति और आर्या छन्दों का विकास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। छन्दों के इन विकसित रूपों के प्रयोग नाट्यशास्त्र के निरन्तर विकसमान स्वरूप के परिचायक हैं।[2]

नाट्यशास्त्र के उत्तरोत्तर विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त गद्य-पद्य की विभिन्न शैलियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न कालों में प्रचलित कई शैलियों का इस ग्रन्थ में समन्वय किया गया है। पाणिनि ने जिन नट-सूत्रों का उल्लेख किया है, सम्भव है, मूल रूप में नाट्यशास्त्र उन्हीं नट-सूत्रों के समान नाट्य-सूत्र के रूप में प्रचलित रहा हो। परम्परा इसका स्मरण भी सूत्र के रूप में करती आई है।[3] काव्यप्रकाश और नाट्यदर्पण के सूत्र भी कारिकायें हैं और श्लोक-बद्ध हैं, न कि गद्य-बद्ध।

नाट्यशास्त्र का विकासशील स्वरूप—एस० के० दे महोदय की स्थापना है कि प्रथम अवस्था में नाट्यसूत्र (गद्यबद्ध) के रूप में प्रस्तुत यह महान् कृति, विकास की दूसरी अवस्था में व्यास-प्रधान भाष्यशैलियों की सहायता से परिवर्द्धित हुई। पुनश्च विकास के इस क्रम में तीसरी अवस्था में छन्दोबद्ध कारिकाओं द्वारा इसका पूर्ण उपबृंहण किया गया तथा आनुवंश्य आर्यायें भी इसी क्रम में नाट्यशास्त्र का अभिन्न अंग बन गयीं। अतएव उनकी दृष्टि से नाट्यशास्त्र का यह स्वरूप किसी एक काल या एक प्रतिभावान् व्यक्ति का सृजन नहीं अपितु अनेक युगों की बौद्धिक प्रतिभाओं की देन का ऐतिहासिक परिणाम है।[4] उनकी दृष्टि से विकास की ये अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—

(अ) सिद्धान्त-निरूपण के लिए प्रयुक्त गद्यमय सूत्र (मूल नाट्य-सूत्र)।

(आ) कारिकाओं की रचना।

(इ) सूत्रभाष्य शैली में सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन।

(ई) पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत आनुवंश्य श्लोकों का मिश्रण।

यदि यह सिद्धान्त मान्य हो, तो निःसन्देह नाट्यशास्त्र में अनेक प्राचीन शैलियों का एकत्र समन्वय हुआ है। इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और सम्भवतः कामशास्त्र भी सूत्र की इसी प्रारम्भिक अवस्था से कारिका की पद्यमय अवस्था तक विकसित हुए होंगे। परन्तु उनके मूल रूपों का अवशिष्ट चिह्न उन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। नाट्यशास्त्र में विकास की प्रत्येक अवस्था के अवशेष उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से उसके इस स्वरूप का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। परन्तु नाट्यशास्त्र विकास की कल्पित प्रत्येक अवस्था से क्रमशः विकसित हुआ ही हो, यह अन्तिम रूप से स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं।

१. ना० शा० २०।२६, ४१, ५३, ७७ (गा० ओ० सी०)।

२. एस० के० दे, संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ २५-२७।

३. सूत्रतः सूत्रणेन तेन सूत्रमपि कारिका।
तत् सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकमपिकारिका। अ० भा० भाग १, पृष्ठ २६४।

४. But an examination of these passages will reveal that these different styles do not possibly belong to the same period.
—*Sanskrit Poetics* : S. K. De., p. 27-28.

नाट्यशास्त्र का मूल स्वरूप गद्य-पद्य विमिश्रित—नाट्यशास्त्र मूल रूप में गद्य-बद्ध सूत्र-शैली में था और उत्तरोत्तर कारिका के रूप में विकसित हुआ। इस सिद्धान्त-निरूपण के मूल में यह धारणा भी सम्भवतः काम कर रही है कि सूत्र गद्यात्मक ही होता है, पद्यात्मक नहीं। अभिनवगुप्त ने कारिकायुक्त सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र को सूत्र माना है तथा अन्य आचार्यों ने भी।[१] इस दृष्टि से विचार करने पर एस० के० दे महोदय की विचारधारा अंशतः स्वीकार्य नहीं मालूम पड़ती। नाट्यशास्त्र से प्राचीनतर ग्रन्थ शतपथब्राह्मण में भी गद्य-पद्य-विमिश्रित शैली का प्रयोग देखा जाता है। अतः यह सम्भव है कि नाट्यशास्त्र मूलरूप में गद्यात्मक सूत्र रूप में न होकर गद्य-पद्य-विमिश्रित शैली में ही लिखा गया हो।[२] पी० वी० काणे महोदय ने आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता का अनुसरण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कारिकायें भी सूत्रबद्ध ही हैं तथा नाट्यशास्त्र की रचना मूलरूप में गद्य-पद्य-विमिश्रित शैली में हुई होगी। इस सूत्रमयता के कारण नाट्यशास्त्र और नाट्य-प्रयोग का उल्लेख 'वेद', 'चाक्षुष क्रतु' और 'नयनोत्सव' के रूप में हुआ है।[3]

निष्कर्ष

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्योत्पत्ति, नाट्य-प्रयोग एवं अंगहार आदि की कथाओं से नाट्यशास्त्र के क्रमिक विकास का समर्थन होता है। ब्रह्मा ने भरत को जिस नाट्यवेद की शिक्षा दी उसमें संगीत और नृत्य का योग न था, उसकी शिक्षा उन्हें स्वाति, नारद और तण्डु से मिली।[४] अतः यह अनुमान करना उचित ही है कि नाट्यशास्त्र के मूलरूप का सृजन संभवतः उन्हीं अंशों के साथ हुआ होगा जिनका संबंध मुख्यतः नाट्य विद्या से है। इस अवस्था में ६-७ तथा आठ से सत्ताईस अध्यायों की रचना पहले हुई होगी। अट्ठाइस से पैंतीस अध्यायों की रचना दूसरी अवस्था में संगीत के योग से तथा तीसरी अवस्था में नृत्य, नाट्योत्पत्ति एवं नाट्यमण्डप आदि के योग से वर्तमान नाट्यशास्त्र को पूर्ण स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। प्राप्त सामग्रियों पर आधारित यह कल्पना है। परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नाट्यशास्त्र के वर्तमान स्वरूप का विकास काल-क्रम से पुष्ट होता रहा है। अनेक युगों के नाट्य-कला-मनीषियों की प्रतिभा ने संभव है इसे किंचित्-किंचित् परिपुष्ट और अभिसिंचित कर यह महान् रूप दिया। परन्तु यह भी एक प्रमाणित तथ्य है कि नाट्यशास्त्र के वर्तमान स्वरूप से यदि भास और अश्वघोष पूर्णतया न भी परिचित रहे हों, परन्तु कालिदास से लेकर उत्तरवर्ती भवभूति, दामोदर गुप्त तथा भट्टोद्भट्ट आदि ने पूर्णतया उस प्रभाव को स्वीकार किया है। अतः नाट्यशास्त्र का यह वर्तमान रूप आठवीं से चौथी सदी के पूर्व ही यह वृहत् रूप धारण कर चुका था।

---

१. (क) षट्त्रिंशकं भरत सूत्रमिदम् विवृण्वन्। अ० भा० भाग १, पृष्ठ १।
(ख) सूत्रणं सकलांकानां ज्ञेयमंकमुखं बुधैः। दशरूपक पर बहुरूपमिश्र की टीका ७६१।

२. *History of Sanskrit Poetics*, p. 16 (P.V. Kane).

३. (क) नाट्य संज्ञमिमं वेदं सेतिहासम् करोम्यहम्। ना० शा० १।१५ख (गा० ओ० सी०)।
(ख) ···शांतं क्रतुः···चाक्षुषम्। मा० अ० अंक १।५।
(ग) महापुण्यं प्रशस्तं च लोकानां नयनोत्सवम्। ना० शा० ३७।३३ (का० मा०)।

४. ना० शा० १।५२, १।२५, ४।४८ (गा० ओ० सी०)।

५

भरत के पूर्वाचार्य और नाट्यशास्त्र के भाष्यकार

भरत के पूर्व नाट्य एवं अन्य शास्त्रप्रणेता आचार्य थे। इसका प्रमाण तो स्वयं नाट्यशास्त्र ही है। इसकी पुष्टि के लिए सामग्री तीन रूपों में हमें प्राप्त होती है—

(क) आनुवंश्य आचार्यों और श्लोकों के रूप में नाट्यशास्त्र में उद्धृत संदर्भ।

(ख) पूर्वाचार्यों और प्राचीन ग्रंथों के नामोल्लेख, तथा

(ग) भरत के शतपुत्रों की नाम-गणना (?)।

१. **आनुवंश्य आर्यायें**—आनुवंश्य आर्यायें और श्लोक तो निश्चित रूप से आचार्य-शिष्यों की परम्परा से गृहीत हैं। सम्भव है नट-सूत्रों के रूप में सूत्र और कारिकाओं के संग्रह-ग्रंथ भरत से पूर्व भी प्रचलित रहे हों, जिनसे ये आर्यायें ली गई हों। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'कृशाश्व' और 'शिलालिन' नामक आचार्यों के नटसूत्रों का उल्लेख इसका समर्थन करता है।[1] लेवी और हिलब्रान्ट महोदय ने इन आचार्यों के सूत्रों को नाट्य-सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। बेवर, कोनो एवं कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह नट-सूत्र नृत्य एवं अभिनय-विद्या का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रहा होगा।[2] संभव है नाट्यशास्त्र की कारिकायें इन्हीं प्राचीन सूत्रों से ली गई हों। पाणिनि के बाद अमरकोष में ही इन आचार्यों का उल्लेख मिलता है, अन्यत्र नहीं।[3] भरत के पूर्व नटसूत्रों की परम्परा थी और उसे वैदिक चरणों की-सी पवित्रता प्राप्त थी। इसी के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र या नटसूत्रों का अध्ययन होता था। नटसूत्र शैलालक ऋग्वेद का चरण था। आपस्तंब और श्रौतसूत्र में शैलालक ब्राह्मण का उल्लेख है। कात्यायन ने इस चरण के अध्येता छात्रों को 'शैलाला' शब्द से सम्बोधित किया है।[4] काशिकाकार ने उक्त सूत्र पर अपनी विवृति में लिखा है कि शिलालिन और कृशाश्व द्वारा चरणों का जो विकास हुआ

१. पाराशर्य शिलालिभ्याम् भिक्षुनटसूत्रयोः ३।१११।
शैलालिनः नटाः ४।३, १११ कर्मन्दकृष्णाश्वादिनिः।

२. संस्कृत ड्रामा : ए० बी० कीथ, पृ० २९०।

३. अमरकोष : पं० १९५२-३।

४. आपस्तम्ब एण्ड बह्वृच ब्राह्मण : कीथ जे० आर० एस० १९१५, पृ० ४९८।

उसे आम्नाय की पवित्रता प्राप्त थी।[१] सम्भव है शिलालिन और कृशाश्व के ये सूत्र बाद में बोधगम्य न रहे हों या नाट्यशास्त्र में मिल गये। पाणिनि के उल्लेख से हमारे समक्ष दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं कि भरत से पूर्व कृशाश्व और शिलालिन नाट्याचार्य थे और उन्हें वैदिक चरणों का सम्मान प्राप्त था। परन्तु पाणिनि के तीन-चार सदी बाद ही इस नाट्य-विद्या का ऐसा ह्रास हुआ कि पतंजलि के काल में नाट्य-विद्या के उपाध्याय 'आख्याता' नहीं माने जाने लगे।[२] समाज में नाट्य-विद्या के अध्येता और अध्यापकों का स्थान हीन हो गया।[३] कृशाश्व और शिलालिन की परम्परा के नाट्याचार्यों की प्रतिभा का मधुर फल भरत को उत्तराधिकार में प्राप्त था।

२. नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरत के पूर्वाचार्य— आनुवंश्य आर्याओं के रचयिता आचार्यों का हम अनुमान मात्र कर सकते हैं। परन्तु नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के विवेचन के क्रम में अनेक आचार्यों के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि भरत के पूर्व ही ये आचार्य नाट्य-विद्या का प्रणयन और प्रयोग कर रहे थे। शब्द-लक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य,[४] गान्धर्व के प्रसंग में स्वाति,[५] छन्द के सम्बन्ध में गुह,[६] ध्रुवा के सम्बन्ध में नारद,[७] अंगहार और करण के सम्बन्ध में तण्डु और नंदी[८] तथा मानवीय गुणों के सम्बन्ध में बृहस्पति[९] का उल्लेख मिलता है। ग्रंथों में काम-तन्त्र और पुराण[१०] का भी नाम है। परन्तु यह काम-तन्त्र वात्सायन के कामसूत्र से भिन्न स्वतन्त्र ग्रंथ था। सम्भव है वे अर्थशास्त्र से परिचित हों परन्तु मर्त्यलोक के किसी आचार्य का नाम स्मरण न करने का आग्रह होने से सुरगुरु बृहस्पति का नामोल्लेख किया। नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सूत्र, भाष्य, कारिका और संग्रह आदि प्रयुक्त सात शब्दों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र से पूर्व सूत्र, कारिका, भाष्य और आनुवंश्य आर्याओं के रूप में नाट्यशास्त्र का कोई रूप वर्तमान अवश्य था।[११] परन्तु यह अनुमान का विषय है। सूत्र, संग्रह, कारिका या आनुवंश्य आर्याओं के रूप में किसी अन्य नाट्यशास्त्र या शास्त्रों की परिकल्पना की जा सकती है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के किन्हीं प्रणेता आचार्यों के नामोल्लेख का अभाव दूसरी दिशा का ही संकेत करता है, जबकि अन्य कई आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं।

---

१. चरणात् धर्माम्नाययोः तत् साहचर्यात् नटशब्दादपि धर्माम्नयेयारेव भवति। —काशिकावृत्तिः।
२. पातंजलि का भाष्य : आख्यातोपयोगे सूत्र पर।
३. पाणिनि-कालीन भारतवर्ष : (वा० अ०) पृ० ३१५, ३३० तथा नाट्यावतार की कथा ना० शा० ३६ (का० सं०)।
४. पूर्वाचार्यैरुक्तम् शब्दानां लक्षण तु नित्यशः। ना० शा० १४।२४ (गा० ओ० सी०)।
५. ना० शा० ३३।३ (का० भा०)।
६. ना० शा० १५।११० (का० भा०)।
७. ना० शा० ४।१७ (का० भा०)।
८. ना० शा० ३२।१ (का० भा०)।
९. बृहस्पतिमतादेवान् : ना० शा० २४।७२ (का० भा०)।
१०. ये पुराणे संप्रकीर्तिता। ना० शा० १४।४६ (का० भा०)।
कामतन्त्रमनेकधा। ना० शा० २२।१८३ (का० भा०)।
११. श्री के० एम० वर्मा : सेवन वर्ड्स इन भरत ह्वाट दे सिग्निफाइ: ओरियन्ट-लांग्मैन्स (१९५८)।

३. नाट्याचार्य एवं भरत-पुत्र—भरत ने अपने शतपुत्रों का उल्लेख नाट्योत्पत्ति तथा नाट्यावतार के प्रसंग में किया है। भरत के शतपुत्रों ने नाट्य-प्रयोग किया यह उल्लेख स्वयं भरत ने ही किया है। इन शतपुत्रों में कुछ नाट्याचार्य प्रमुख हैं जिनका उल्लेख नाट्याचार्य के रूप में ही नहीं अपितु नाट्य-प्रयोक्ता और शास्त्र प्रणेता के रूप में स्वयं भरत ने ही किया है।[१] इन भरत-पुत्रों में कोहल, दत्तिल, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट आदि आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं।

कोहल—नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरत-पुत्रों में कोहल सर्वाधिक प्रसिद्ध आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के अतिरिक्त अन्तिम ३६ अध्यायों में कोहल को स्वयं भरत ने यह सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में शेष विचारों का वे कथन करेंगे।[२] नाट्य-प्रयोग का गौरव वात्स्य, शांडिल्य और धूर्तिल के साथ कोहल को भी दिया।[3] कोहल ने सम्भवतः संगीत, नृत्य और अभिनय के सम्बन्ध में शास्त्र की रचना की थी। उसका प्रभाव आंशिक रूप से नाट्यशास्त्र की पाठ-परंपरा पर भी पड़ा है। नाट्यशास्त्र ६।१० में नाट्यसंग्रहों की जो परि-गणना की गई है, उसके सम्बन्ध में अभिनवभारती में महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है। अभिनव-गुप्त ने रस, भाव और अभिनय आदि के सम्बन्ध में उद्भट और लोल्लट के परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि से नाट्य के ग्यारह अंगों का मूल ग्रन्थ में जो उल्लेख हुआ है वह कोहल के मतानुसार न कि भरत के।[४] इसीसे कोहल के महत्त्व की कल्पना की जा सकती है कि मूल नाट्यशास्त्र में कोहल के मत का समावेश हो गया है। कोहल के विचारों का उल्लेख अभिनवभारती,[५] भावप्रकाशन[६] और नाट्यदर्पण[७] में रूपकों की संख्या एवं अन्य प्रसंगों में किया गया है। रूपकों की संख्या भरत के बाद जिस रूप में बढ़ी है, सम्भवतः उस पर भी कोहल का ही प्रभाव है। रसार्णव सुधाकर में भी कोहल का उल्लेख आचार्य के रूप में हुआ है।[८] दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में भरत के साथ ही कोहल का उल्लेख किया है।[९] बालरामायण में कोहल नाट्याचार्य के रूप में प्रस्तुत हो नाटक की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है।[१०] रामकृष्णकवि ने कोहल का समय ईस्वी पूर्व तीसरी सदी में निर्धारित किया है।[११] कोहल को परवर्ती आचार्यों

---

१. ना० शा० १।२६-३९ तथा ३६।७१। (का० सं०)।
२. शेषमुत्तरतंत्रेण कोहलः कथयिष्यति। ना० शा० ३६।६५ क०।
३. कोहलादिभिरेवैर्वा वात्स्य शांडिल्यधूर्तिलैः। ना० शा० ३६।७१ क०।
४. It appears that Kohala's work influenced the redactors of the N. S.
History of Sanskrit Poetics, p. 2.
५. अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशांगत्वमुच्यते। न तु भरते। अ० भा० भाग-२, पृ० २६४ तथा पृ० २६, ५५, १३५, १४६, १५१, १५५, ४०१, ४१६, ४१७, ४३४, ४५२, ४५४।
६. भा० प्र० २०४,२१०, २३६, २४५।
७. तेन कोहलप्रणातलक्षणाः साटकादयो न लक्ष्यन्ते। नाट्यदर्पण, पृ० २३ (गा० ओ० सी०)।
८. र० सु० १।५१।
९. बालरामायण अंक ३।१२।
१०. कुट्टनीमत—८३।
११. भरतकोष : रामकृष्ण कवि, पृ० २१।

ने इतना गौरव प्रदान किया है कि वे स्वभावतः भरत की परंपरा के आचार्यों और प्रयोक्ताओं में परिगणित हुए हैं।[१]

दत्तिल—दत्तिल अथवा दंतिल कोहल के बाद सर्वाधिक ज्ञात आचार्यों में हैं। अभिनव-गुप्त ने अभिनव भारती में ध्रुवा के सम्बन्ध में दत्तिल का मत प्रस्तुत किया है।[२] रसार्णवसुधाकर में कोहल आदि आचार्यों के साथ दत्तिल का उल्लेख भरत-पुत्र के रूप में है।[3] कुट्टनीमत में भी दत्तिल का नामोल्लेख आचार्य के रूप में हुआ है।[४] इस प्रकार दत्तिल नाट्याचार्य अथवा संगीता-चार्य थे। रामकृष्ण कवि महोदय ने दत्तिल के 'गांधर्व वेदसार' का उल्लेख किया है।[५] दत्तिल अथवा दंतिल दोनों एक ही हैं। परन्तु दत्तक इसकी अपेक्षा कोई भिन्न आचार्य थे। अथवा दंतिल ही दत्तक के रूप में प्रसिद्ध हो गये, निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। कामशास्त्र में इसका उल्लेख है कि पाटलिपुत्र की गणिकाओं के अनुरोध पर कामशास्त्र के वैशिक अध्याय की रचना दत्तक ने ही की।[६] पी० वी० काणे महोदय की सूचना के अनुसार भंडारकर ओरियंटल इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित अभिनव भारती की पांडुलिपि में आतोद्य और ताल के प्रसंग में दत्तिल के के अनेक पद्य उद्धृत हैं।[७] अतः दत्तिल का आचार्यत्व तो प्रमाणित हो जाता है। वात्स्य और शाण्डिल्य ये दोनों नाम नाट्योत्पत्ति तथा नाट्यावतार के प्रसंग में ही मिलते हैं अन्यत्र नहीं।[८]

अश्मकुट्ट-नखकुट्ट—इन दोनों आचार्यों का उल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत-पुत्र के रूप में हुआ है।[९] नाट्यशास्त्र में इसके अतिरिक्त कोई विवरण नहीं मिलता। नाटकलक्षण रत्नकोष के विभिन्न प्रसंगों में अश्मकुट्ट का चार बार तथा नखकुट्ट का दो बार उल्लेख हुआ है।[१०] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने आमुख में वीथ्यंग एवं अन्य नाट्यतत्त्वों की योजना के विधान के प्रसंग में आचार्य अश्मकुट्ट के ढाई श्लोक उद्धृत किये हैं।[११]

वादरायण और शातकर्णी—नाट्यशास्त्र में वादरायण का उल्लेख भरत-पुत्रों में हुआ है। नाटकलक्षण रत्नकोष में वादरायण का उल्लेख दो स्थलों पर हुआ है।[१२] शातकर्णी भारतीय शिलालेखों का अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्तित्व है। ईस्वीपूर्व पहली सदी से दूसरी सदी के शिलालेखों में यह नाम बार-बार आया है। भरत-पुत्रों में शातकर्णी के स्थान पर शालकर्णी शब्द का प्रयोग मिलता है। संभव है 'त' और 'ल' इन दोनों के लिपिगत रूप साम्य के कारण ऐसा हुआ हो। भरत-पुत्र शाल (त) कर्णी और प्राचीन भारतीय शिलालेखों के शातकर्णी के बीच भारतीय दन्त-

१. भरतइव नाट्याचार्यः कोहलादय इव नटाः—अ० भा० भाग १, पृ० ४७।
२. दत्तिलाचार्येण संक्षिप्योक्तमेतत्—अ० भा० भाग १, पृ० २०३।
३. दत्तिलश्च मतंगश्च ये चान्ये तत्तनूद्भवाः। र० सु०, पृ० ८।
४. कुट्टनीमत—८७७ (भरतविशाखिलदंतिलः)।
५. जॉर्नल ऑफ़ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द सं० ३, पृ० २४।
६. कामसूत्र १, १, २, ६, २, ५५ तथा ६, ३, ४४।
७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५७।
८. ना० शा० १।२६ (गा० ओ० सी०), वात्स्य शाण्डिल्य धूर्तिलैः, ना० शा० ३६।७५ (का० सं०)।
९. ना० शा० १।३३।
१०. नाटक-लक्षण रत्नकोष पं० ८३, ४२७, २७३६, २७७५, २९०४।
११. साहित्यदर्पण, ६।२३।
१२. ना० शा० १।२८ (गा० ओ० सी०)।

कथा के नायक शूद्रक की-सी परिकल्पना की जा सकती है कि वे समान रूप से नाट्याचार्य एवं शासक भी रहे हों। नाटक-लक्षण रत्नकोष के उल्लेख से उनका आचार्यत्व तो प्रमाणित हो जाता है।[1]

उपर्युक्त कोहल एवं दत्तिल आदि सातों आचार्यों का उल्लेख भरत ने अपने पुत्र के रूप में किया है तथा इनका आचार्य के रूप में अन्य नाट्य, नृत्य एवं संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख है। परन्तु इसीलिए उन्हें भरत से पूर्ववर्ती मानना कदापि उचित नहीं है। इन भरत-पुत्रों का आचार्यत्व तो सिद्ध होता है, पूर्ववर्तिता नहीं।

४. नाट्यशास्त्र के भाष्यकार—अनेक काश्मीरी विद्वानों ने नाट्यशास्त्र पर भाष्यों की रचना की। नाट्यशास्त्र के भाष्य की यह परंपरा आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक चलती है। यद्यपि उनमें अब एकमात्र उपलब्ध भाष्य आचार्य अभिनवगुप्त का नाट्यवेद विवृत्ति या अभिनव भारती है।

अभिनव गुप्त और अभिनव भारती—इस महान् गौरव ग्रन्थ का प्रकाशन अब पूर्ण हो चुका है। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ के अन्तर्गत मूल नाट्यशास्त्र के साथ अभिनव भारती का चार भागों में प्रकाशन श्री रामकृष्ण कवि के संपादन में हुआ है। मध्य में ७-८ तथा पंचम अध्याय के अन्तिम भाग पर टीका का अंश उपलब्ध नहीं है। अभिनव भारती की सब पांडुलिपियाँ सुदूर दक्षिण भारत में मिलीं। पर उनमें से कोई भी पाण्डुलिपि सर्वांगपूर्ण नहीं है।[2] खण्डित होने पर भी अभिनव भारती का महत्त्व असाधारण है। इसी के आधार पर नाट्यशास्त्र के भाष्यकार एवं अन्य आचार्यों एवं उनके मतमतान्तरों का परिज्ञान होता है। इसकी रचना ९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई होगी।

अभिनव भारती में उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक और भट्टयन्त्र आदि अनेक भाष्यकार आचार्यों का उल्लेख संगीत रत्नाकर में भी मिलता है।[3]

उद्भट—आचार्य उद्भट राजतरंगिणी-कार कल्हण के अनुसार आठवीं सदी के काश्मीरी सम्राट् जयापीड के सभापति थे।[4] उन्होंने अपने ग्रन्थ में भरत की आलोचना भी की है। भट्टोद्भट का उल्लेख अभिनव भारती के छः, नौ तथा उन्तीसवें अध्यायों में विभिन्न प्रसंगों में मिलता है। प्रायः छः-सात स्थलों पर उद्भट की आलोचना अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने की है।

(अ) नाट्यशास्त्र ६।१० श्लोक पर अभिनव भारती में उद्भट के मत का उल्लेख है तथा उनके मत की आलोचना भट्टलोल्लट ने की है।[5]

---

१. ना० ल० को० १०१-१०२।

२. *History of Sanskrit Poetics*, P. V. Kane, p. 48.

३. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः॥ संगीत रत्नाकर १।१९।

४. *History of Sanskrit Poetics*, p. 137.

५. विद्वान् दीनारलक्षेणप्रत्यहं कृतवेतनः। भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्यभूमिभर्तुः सभापतिः।
राजतरंगिणी ४।४९५।

(आ) हस्त-प्रचार के पाँच नामों के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की जिस पांडुलिपि का उपयोग आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है, वह भट्टोद्भट्ट द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली पांडुलिपि से भिन्न है। पाँच प्रकार के हस्त-प्रचार के पाठ में अन्तर है।[१]

(इ) उद्भट द्वारा पाठभेद का एक और भी प्रसंग अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है। समवकार नामक रूपक की परिभाषा में भरत ने जो पाठ स्वीकार किया है, उससे उद्भट का पाठ भिन्न है।[२]

(ई) उद्भट ने भरत द्वारा निर्धारित चार वृत्तियों का खण्डन करके तीन वृत्तियों के स्वीकार करने का आग्रह किया है। इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने यह भी उल्लेख किया है कि शकलीगर्भ ने पाँच वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, जिनमें चार तो भरत-निरूपित हैं। एक और नया भेद आत्म-संविति की उन्होंने कल्पना की है। लोल्लट ने शकलीगर्भ और उद्भट दोनों के मतों का खण्डन किया है। पर अभिनवगुप्त ने इन तीनों आचार्यों के मतों का खंडन करते हुए चार वृत्तियाँ ही स्वीकार की हैं।[3]

(उ) नाट्य-प्रयोग में संध्यंगों की योजना के सम्बन्ध में उद्भट का मत है कि जिस क्रम से भरत ने उनकी परिगणना की है उसी क्रम में उनका प्रयोग नाट्य में होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने इस मत का खंडन किया है, क्योंकि वह तो आगम-विरुद्ध मालूम पड़ता है।[४]

भट्टलोल्लट—आचार्य भट्टलोल्लट, उद्भट और शकलीगर्भ के परवर्ती हैं। अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के अनुसार लोल्लट ने उक्त दोनों आचार्यों के मतों का खंडन किया है। उनका समय ८००-८४० ई० के मध्य होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस की व्याख्या तथा १२, १३, १८ अध्यायों में भट्टलोल्लट का उल्लेख निम्नलिखित प्रसंगों में किया है—

(अ) भरत के रस-सूत्र की व्याख्या तथा रसों की संख्या के प्रसंग में। भट्टलोल्लट की दृष्टि से रसों की संख्या आठ या नौ ही नहीं, बहुत अधिक है। अभिनवगुप्त ने इस मत का खंडन भी किया है।[५]

(आ) 'अंकच्छेद' के लिए दूर देश की यात्रा को भी आधार माना है। इस सम्बन्ध का श्लोक तीन संस्करणों में है, परन्तु भट्टलोल्लट ने इसका पाठ स्वीकार नहीं किया है।[६] इसी अध्याय में 'अंक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रस्तुत करते हुए श्लोकों में भट्टलोल्लट ने 'गूढ़' शब्द का पाठ स्वीकार किया है और अभिनव ने 'रूढ़ि' शब्द का।[७]

(इ) अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए उसे

---

१. निर्देशो चैतत् क्रमव्यत्यत्यासनादिति श्रौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटः। अ० भा०, भाग १, पृ० २६४।

२. अ० भा० भाग २, पृ० २७०।

३. —त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४५१।

४. अ० भा०, भाग २, पृ० ४४१।

५. तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितम् तदवलेपनपरामृश्येत्यलम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६८।

६. ना० शा० १८।३२ (गा० ओ० सी०), १८।१४ (का० भा०), २०।३० (का० सं०), तथा—अतएव तत् भट्टलोल्लटाद्यैर्न पठितमेव। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।

७. भट्टलोल्लटाद्या गूढ़ इति पठंति अन्ये तु रोहयत्यर्थान् इति पठंति। अ० भा० भाग २, पृ० ४१५।

'षट्पदा' भी कहा है परन्तु शंकुक ने उसे 'अष्टपदा' के रूप में स्वीकार किया है।[1]

अभिनव भारती में अन्य अनेक स्थलों पर भट्टलोल्लट के मत का उल्लेख एवं खंडन-मंडन की चर्चा से यही सिद्ध होता है कि नाट्यशास्त्र के सब अध्याय अथवा ६, १३ एवं २१ अध्यायों पर लोल्लट ने भाष्य अवश्य किया था।

काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र ने भट्टलोल्लट के दो श्लोक उद्धृत किये हैं।[2] विलक्षणता यह है कि लोल्लट के नाम से ये विचार पद्य में अनुस्यूत हैं जबकि वे रस के आलोचक (गद्य में) थे। माणिक्यचंद्र ने काव्य-प्रकाश-संकेत में लोल्लट का उल्लेख किया है।[3] वी० राघवन के अनुसार लोल्लट अपराजित के पुत्र 'अपाराजिति' के नाम से भी विख्यात थे, क्योंकि 'अपराजिति' के नाम से काव्यमीमांसा में प्रयुक्त एक उद्धरण का हेमचन्द्र ने उपयोग किया है।[4] रस-विवेचन के संदर्भ में मम्मट ने भी भट्टलोल्लट के मत का उल्लेख किया है।[5]

शंकुक—आचार्य शंकुक, उद्भट और लोल्लट के परवर्ती थे। क्योंकि शंकुक द्वारा भट्ट-लोल्लट के मतों की आलोचना अभिनव भारती में अनेक बार हुई है, अतः इनका समय नवीं सदी के प्रथम चरण में हो सकता है। वे नाट्यशास्त्र के भाष्यकार थे। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में इनके मत का उल्लेख निम्नलिखित प्रसंगों में अनेक बार किया है।

रंगपीठ के माप की विवेचना के प्रसंग में तृतीय अध्याय,[6] रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए छठे अध्याय,[7] अठारहवें (जी० ओ० सी०) अध्याय में नाटक की परिभाषा,[8] तथा विमर्श संधि, इसी प्रकार गर्भ-संधि के विद्रव तथा सामान्याभिनय आदि अनेक प्रसंगों में अभिनव भारती में शंकुक का उल्लेख हुआ है। अभिनय-भेदों की चर्चा करते हुए अभिनव गुप्त ने शंकुक द्वारा प्रतिपादित चालीस हजार भेदों का भी संकेत किया है।[9] उपर्युक्त विवरणों से यही सिद्ध होता है कि द्वितीय अध्याय से उन्तीस तक शंकुक ने नाट्यशास्त्र पर भाष्य किया था।

शंकुक कवि—शार्ङ्गधर, जल्हण और वल्लभदेव के सूक्ति-संग्रहों में शंकुक की कविताएँ उद्धृत हैं। शार्ङ्गधर पद्धति और सूक्ति-मुक्तावली में उन्हें बाण के समकालीन सूर्यशतक के रचयिता मयूर का पुत्र माना गया है। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में एक शंकुक कवि का

---

१. अ० भा० भाग २, पृ० ४३६।

२. तथा च लोल्लटः—यस्तु सरिदद्रिसागरनगतुरगपुरादिवर्णने यत्नः।
कवि शक्ति ख्याति फलो विततधियां नो मतः प्रबंधेषु।
यमकानुलोभतदितरचक्रादिमिदां हि रसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रं मे वैतद् गड्डरिका प्रवाहो वा।—काव्यानुशासन, पृ० ३०७।

३. न वेत्ति यस्य गांभीर्यं गिरितुंगोऽपि लोल्लटः।
तत्तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शंकुकः॥
—काव्यप्रकाश संकेत, पृ० १४७ (माणिक्यचंद्र) मैसूर संस्करण।

४. सम कन्सेप्ट्स ऑफ़ अलंकार : वी० राघवन, पृ० २०७-८।

५. का० प्र० ४, पृ० ८७।

६. शंकुकादिभिः षोडशहस्तावकाशाभावः आसनस्तंभादिवशात्—अ० भा० भाग १, पृ० ५ (द्वि० सं०)।

७. अ० भा० भाग १, पृ० २७२-७६।

८. प्रख्यातोदात्त इति शंकुकः। —अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४११।

९. ननु यथा श्री शंकुकेनोक्तं चत्वारिंशत् सहस्राणीत्यादि। —अ० भा० भाग २, पृष्ठ ८०६।

भी उल्लेख किया है जिसने 'भुवनाभ्युदय' की रचना की थी ।[१]

कल्हण अजितापीड के समकालीन थे। उनका समय नवीं सदी का प्रथम चरण माना जाता है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार और कल्हण-वर्णित शंकुक कवि दोनों एक हों तो नवीं सदी इनका समय है।[२] ये नैयायिक थे। काव्यप्रकाश-कार ने भी इनका उल्लेख किया है।[३]

भट्टनायक—भट्टनायक अपने युग के महान् आचार्य थे। उन्होंने संपूर्ण नाट्यशास्त्र पर भाष्य किया हो इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।[४] ध्वन्यालोक और अभिनव भारती के रचनाकाल के मध्य के वे आचार्य हो सकते हैं। अतः उनका समय दसवीं और ग्यारहवीं सदी के मध्य हो सकता है। उनके नाम से प्रचलित ग्रन्थ 'सहृदय-दर्पण' एवं अन्यत्र खंडरूप में उनके उद्धृत विचारों से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्होंने ध्वनिकार के ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन किया था और आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका तथा अभिनव भारती में भट्टनायक के विचारों का भी जोरदार खंडन किया है। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने मतमतान्तरों के खंडन-मंडन के प्रसंग में भट्टनायक के नाम का अनेक बार उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत[५] तथा उनके ग्रन्थ 'सहृदय-दर्पण'[६] का उल्लेख किया है। रस-सूत्र की व्याख्या,[७] नाटकों के लक्षण[८] एवं सिद्धि-विवेचन[९] के क्रम में भट्टनायक के मत का परिचय प्राप्त होता है रस-सिद्धान्त की स्थापना करते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत के प्रतिपादन के प्रसंग में जिन दो श्लोकों को उद्धृत किया है[१०] वे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (विवेक) तथा रूय्यक के अलंकार-सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में भी किंचित् परिवर्तन के साथ उद्धृत हैं।[११] पुनश्च शास्त्र, आख्यान और काव्य की पारस्परिक तुलना करते हुए ध्वन्यालोक लोचन,[१२] अभिनव भारती[१३] तथा

१. कल्हण की राजतरंगिणी, पृष्ठ ७०३-५६।

२. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५२, पी० वी० काणे; संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३८ एस० के० दे।

३. का० प्र० उल्लास ४, पृ० ६०।

४. I am of the opinion that Bhatta Nayaka was not a regular commentator as Udbhatta or Shankuk were.
History of Sanskrit Poetics, P. V. Kane, p. 224.

५. भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना— अ० भा० भाग १, पृ० ५।

६. इति व्याख्यानं सहृदय दर्पणे पर्यग्रहीत्—अ० भा० भाग १, पृष्ठ ५।

७. अ० भा० भाग १, पृष्ठ २७६।

८. भट्टनायकेनापि त एव ? शिथिल्वाभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तं—
अ० भा० भाग २, पृ० २०८।

९. अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ३०५, ३०७।

१०. अभिधा भावना चान्या तद्भोगी कृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥ अ० भा० भाग १, पृ० २७७।
काव्यानुशासन (विवेक) पृ० ६६-६७। अलंकार सर्वस्व—विमर्शिनी टीका, पृ० ११।

११. शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः। ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३२।

१२. अ० भा० भाग २, पृ० २९८।

१३. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३२।

काव्यानुशासन में[१] समान रूप से उद्धृत है। काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इन श्लोकों को उद्धृत किया है। व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट तथा उनके टीकाकार ने भट्ट-नायक का स्मरण 'हृदय दर्पणकार' के ही रूप में किया है।[२]

भट्टनायक ने संभवतः हृदय-दर्पण में ध्वनि की आलोचना के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यसिद्धान्तों की भी आलोचना की। भट्टनायक ने यह स्थापित किया कि रस-चर्वणा ही काव्य की आत्मा है न कि ध्वनि, जैसा कि ध्वनिकार मानते हैं। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त के प्रवर्तन का भी श्रेय भट्टनायक को ही है। कल्हण की राजतरंगिणी में एक और नायकाख्य भट्टनायक का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु यह शंकर वर्मा (८८३-६०२) के राज्य-काल में थे। अतः इन दोनों नायकों में एकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

मातृगुप्ताचार्य—मातृगुप्ताचार्य या मातृगुप्त भारतीय साहित्य परंपरा के विलक्षण व्यक्तित्व हैं। एक ओर चौथी सदी के कालिदास से इनकी एकता की कल्पना की गई है[३] तो दूसरी ओर राजतरंगिणीकार कल्हण ने काश्मीर-सम्राट् हर्ष विक्रमादित्य का इन्हें समकालीन माना है।[४] राजतरंगिणी में प्राप्त कथा के अनुसार मातृगुप्त भर्तृमेष्ठ के समकालीन थे तथा पाँच वर्ष तक वे काश्मीर के शासक भी थे। जीवन के अन्तिम भाग में वे संन्यासी भी हो गये।[५] मातृगुप्त और कालिदास की एकता की कल्पना नितान्त अनैतिहासिक और अब विद्वानों के बीच आदरणीय नहीं रह गई है। राजतरंगिणी की कथा में यदि विश्वास किया जाय तो वे हर्षविक्रमा-दित्य के समकालीन कवि अथवा नाट्य एवं संगीतशास्त्र-रचयिता एक लोकप्रिय आचार्य के रूप में आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अपना महत्त्व प्रतिपादित कर चुके थे।[६] भारतीय साहित्य-ग्रन्थों एवं टीकाओं में मातृगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसंगों में प्राप्त होता है। अभिनव भारती के चतुर्थ भाग में अभिनवगुप्त ने मातृगुप्त का उद्धरण वीणा-वादन के पुष्पनामक भेद की व्याख्या तथा अन्य प्रसंगों में प्रस्तुत किया है। प्राचीन ग्रन्थकारों में शारदा-तनय ने भाव-प्रकाशन में नाटक की कथावस्तु में उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए उसके समर्थन में मातृगुप्त का मत प्रस्तुत किया है।[७] इनसे भी प्राचीन लेखक सागरनंदी ने नाटक-लक्षण कोष में अनेक प्रसंगों में मातृगुप्ताचार्य के विचारों का उल्लेख किया है।[८] इस प्रसंग में अभिज्ञानशाकुंतल के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट ने तो अपनी

---

१. का० अनु०, पृ० ५।
२. सहसायशोभिसर्तुं समुखतादृष्टदर्पणाम मधीः।
व्यक्तिविवेक पृ० १।४, दर्पणोहृदयदर्पणारष्यो।
ध्वनिध्वंस ग्रन्थोऽपि। व्यक्तिविवेक की टीका पृ० ६ (व्यक्तिविवेक व्याख्यान)।
३. जे० बी० बी० आर० ए० एस० १८६१, पृ० २०८।
डा० भाउदाजी, संस्कृत ड्रामा, ए० बी० कीथ, पृ० २०१।
४. राजतरंगिणी : कल्हण—३।१२५-३२३।
५. वही—३।२६०-२६२, ३।३२०।
६. यथोक्तं भट्टमातृगुप्तेन—पुष्पं च जनयत्येको भूयः स्पर्शात् स्वरान्वितः। अ० भा० भाग ४, पृ० ४३, तथा १२, २१, ६६।
७. पूर्ववृत्ताश्रयमपि किंचिदुत्पाद्यवस्तु च। विधेयं नाटकमिति—
मातृगुप्तेन भाषितम्, भा० प्र० पृ० २३४. पं० २१-२२।
८. ना० ल० को०, पृ० १४, २०, २१, २३, ५०।

'अर्थद्योतनिका' टीका में भरत एवं आदि भरत के मतों के समान सूत्रधार गुण, आर्यावर्त, शौरसेनी नाटकलक्षण, बीज, लक्षण, सेनापति, हसित, पताकास्थानक, कंचुकी और परिचारिका आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में मातृगुप्ताचार्य के मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[1] राघवभट्ट की टीका में प्राप्त उद्धरणों से स्वतंत्र नाट्यग्रन्थकार के रूप में उनकी महत्ता निर्विवाद रूप में प्रमाणित-सी हो जाती है। राजानक कुन्तल ने तो मातृगुप्त के काव्य की सुकुमारता और विचित्रता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] इन प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख के क्रम में सत्रहवीं सदी के सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्य प्रदीप में भरतविहित नारी की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए मातृगुप्त का उल्लेख व्याख्याकार के रूप में किया है। इन प्राप्त विवरणों के अनुसार मातृगुप्त आठवीं सदी से पूर्व के कवि एवं नाट्याचार्य थे। यह संभव है उन्होंने नाट्य एवं संगीत संबंधी ग्रन्थ की रचना की हो जिसमें भरत के विचारों की भी मीमांसा की हो। नाट्यशास्त्र के वे भाष्यकार रहे हों इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।[3]

वार्तिककार हर्ष—हर्ष या श्रीहर्ष रचित 'वार्तिक' नाम की कृति नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त से पूर्व ही प्रचलित थी। अभिनव भारती में नाट्यमंडप,[4] नाट्य और नृत्त का पारस्परिक भेद,[5] और पूर्वरंग[6] आदि के सम्बन्ध में वार्तिककार हर्ष के मतों का विवरण उनके पद्यमय वार्तिकों के साथ प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि इनमें बहुत से वार्तिक खंडित और अस्पष्ट हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वार्तिककार हर्ष ने संभवतः नाट्यशास्त्र पर वार्तिक में भाष्य किया हो। रामकृष्ण कवि की सूचना के अनुसार 'अंगहार' पर खंडित वार्तिक उपलब्ध हो सका है।[7] परन्तु बी० राघवन् महोदय का यह स्पष्ट मत है कि वार्तिककार हर्ष ने संपूर्ण नाट्यशास्त्र पर भाष्य नहीं किया। छठे अध्याय के बाद इस वार्तिक का कोई अंश उपलब्ध नहीं है।[8] परन्तु राघवन् महोदय की यह कल्पना स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि अभिनव भारती टीका भी तो नाट्यशास्त्र के ७-८ अध्याय एवं पंचम अध्याय के अन्तिम अंश पर उपलभ्य नहीं है। पर यह कोई आवश्यक नहीं है कि उस अंश पर टीका नहीं हो। अभिनव भारती के अतिरिक्त भावप्रकाशन में त्रोटक के प्रसंग में[9] तथा नाटक-लक्षण रत्नकोष में श्रीहर्ष विक्रमनराधिप के रूप

---

१. अ० शा० की टीका अर्थद्योतनिकाः—तदुक्तं मातृगुप्ताचार्यैं—रसास्तु त्रिविधाः पृ० ७।
प्राक् प्रतीचीभुवौ (पृ० ८), प्रख्यात वस्तु विषये (पृ० ९) आदि। निर्णयसागर संस्करण १९१३।
२. यथा—मातृगुप्तमा (यूराज) मंजरी प्रभृतीनां सौकुमार्य वैचित्र्य संवलित परिष्पंदीनि काव्यानि संभवन्ति। वक्रोक्ति जीवितम् : राजानक कुन्तल, पृ० ५२ (१९२३)।
३. तथा—नाटक-लक्षण रत्नकोष : डिलन तथा वी० राघवन्, पृ० ६० तथा ६५। अमेरिकन फिलॉसिफिकल सोसायटी, फिलिडेल्फिया, १९६०।
४. वार्तिककृतुः—अन्तनेपथ्यगृहं स्तंभौद्वो पीठकाश्च चत्वारः। अ० भा० भाग १, पृ० ६७।
५. अ० भा० भाग १, पृ० १७२।
६. श्रीहर्षस्तु रंगशब्देन तौर्यत्रिकं बुवन्—अ० भा० भाग १, पृ० २११।
७. A Large fragment of Vartika on Angaharas of about 2000 granthas recently acquired will be published as appendix, N. S. G. O. C. Vol. II, Intro., p. XXIII.
८. जार्नल ऑफ़ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास, जिल्द संख्या ६, पृ० २०५।
९. तथैव त्रोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। भा० प्र०, पृ० २३८।

में इस भाष्यकार का उल्लेख है।[1] वार्तिकार हर्ष और कन्नौज के बौद्ध सम्राट् हर्ष की एकता की कल्पना डॉ० शंकरन् महोदय ने की है,[2] पर वह कल्पना मात्र है।

शकलीगर्भ—शकलीगर्भ के मत का उल्लेख अभिनव भारती में मिलता है। पंचमी नाट्यवृत्ति के खंडन के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने शकलीगर्भ के मत का उल्लेख किया है, क्योंकि उद्भट द्वारा प्रतिपादित 'आत्मसंविति' नामक वृत्ति को अभिनवगुप्त स्वीकार नहीं करते।[3] भट्लोल्लट के विचार भी अभिनवगुप्त के ही अनुरूप हैं।[4] अतः शकलीगर्भ तो उद्भट और भट्टलोल्लट के मध्य के हैं। रामकृष्ण कवि ने शकलीगर्भ और उद्भट दोनों को एक ही माना है। परन्तु इसका कोई उचित कारण नहीं है। अभिनव भारती में उद्भट का नाम अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, यदि वे दोनों एक हों तो शकलीगर्भ (उद्भट के लिए) यह पृथक् नाम स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती है। अतः शकलीगर्भ नवीं सदी के कोई नाट्याचार्य थे। उन्होंने संपूर्ण नाट्यशास्त्र पर भाष्य किया हो इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

भट्टतोत—आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त भाष्यकारों एवं ग्रंथकारों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के विचारों के खंडन-मंडन के प्रसंग में अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें भट्टतोत, उत्पलदेव, भट्टयंत्र, भट्टगोपाल, भागुरि (अप्रकाशित अंश), प्रियातिथि, भट्टवृद्धि, भट्टसुमनस, रुद्रक और भट्टशंकर आदि आचार्य मुख्य हैं।[5] इन आचार्यों में भट्टतोत उनके नाट्य गुरु थे। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती और लोचन टीका[6] तथा नाट्य-शास्त्र की व्याख्या के प्रसंग में भट्टतोत का उल्लेख गुरु अथवा उपाध्याय के रूप में किया है, तथा उनकी गंभीर मान्यताएँ भी स्थापित की हैं। निश्चय ही उन मान्यताओं का प्रभाव अभिनवगुप्त की तात्त्विक विचारधारा पर भी पड़ा है। शान्त को रस-रूप में स्वीकार करना, रस की अनुकरण-शीलता का खंडन, नाट्य का रस-रूप में प्रतिपादन आदि विचार-धाराओं के विवेचन में अभिनव-गुप्त की विचारधारा भट्टतोत से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित प्रतीत होती है।[7] भट्टतोत ने 'काव्य कौतुक' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें रस एवं नाट्य-विद्या-संबंधी महत्त्वपूर्ण विषयों का तात्त्विक आकलन किया गया था। अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में यह उल्लेख भी किया है कि उन्होंने 'काव्य-कौतुक' पर विवरण टीका भी लिखी थी। अभिनव भारती में काव्य-कौतुक की तीन पंक्तियाँ अभिनवगुप्त ने उद्धृत की हैं।[8] दुर्भाग्य से न तो 'काव्य-कौतुक' और न उसका अभिनवगुप्त-रचित विवरण ही उपलब्ध है। काव्य-कौतुक से काव्यानुशासन में 'इतिहास

---

१. श्रीहर्षविक्रम नराधिप—नाटक-लक्षणरत्नकोष, पृ० १३४।
२. हिस्ट्री ऑफ़ थिओरी ऑफ़ रस : डॉ० शंकरन्—पृ० १३।
३. यच्छकलीगर्भमतानुसारिणो मूर्च्छादौ आत्मसंवित्तिलक्षणां पंचमीं वृत्तिम्—
आ० भा० भाग २, पृ० ४५२।
४. शाकलेय उद्भटः। अ० भा० भाग २, पृ० ४५२ (पादटिप्पणी)।
५. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० २१६।
६. सद्बिप्रतोत वदनोदितनाट्यवेद-तत्त्वार्थमर्थिजनवांछित सिद्धिहेतोः।
अ० भा० भाग १, पृ० १, श्लोक ४ (द्वि० सं०)।
७. काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।
तथा अ० भा० भाग १, पृ० २६०, ३०६, भाग २, पृ० २६२, भाग ३, पृ० १५३।
८. यदाहुः काव्यकौतुके—प्रयोगत्वमनापन्ने—। अ० भा० भाग १, पृ० २६१।

काव्य नहीं होता' इसके समर्थन में तीन पद्य उद्धृत हैं।[1] 'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेन्द्र तथा काव्यप्रकाश-संकेत में माणिक्य ने प्रतिभा की प्रसिद्ध परिभाषा 'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-मत्ता' भट्टतोत के नाम से ही उद्धृत की है। काव्यानुशासन में यह परिभाषा अज्ञात आचार्य के नाम से उद्धृत है।[2] काव्यकौतुक नाट्यशास्त्र पर लिखा गया भाष्य था, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभिनव भारती से इतना तो विदित होता ही है कि भट्टतोत नाट्यशास्त्र के महान् व्याख्याता थे और नाट्यशास्त्र के पाठ-भेद की जो परंपरा थी, उसकी एक प्रधान शाखा के समर्थकों और व्याख्याकारों में वे थे। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने उसी पाठ को प्रश्रय दिया है।[3] यदि अभिनवगुप्त का साहित्य-सर्जना-काल दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी हो तो भट्टतोत का काल दसवीं सदी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। भट्टतोत नाट्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के महान् प्रवर्तकों में थे।[4]

पिछले पृष्ठों में हमने भरत के पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्य, नाट्यशास्त्र में उल्लिखित आचार्य तथा नाट्यशास्त्र के भाष्यकारों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस रूपरेखा द्वारा यह हम स्पष्ट रूप से देख पाते हैं कि लगभग ईस्वीपूर्व दो-तीन सदी पूर्व से ही नाट्यशास्त्र की परंपरा भारत में प्रचलित थी और नाट्यशास्त्र के विधिवत् संपादन हो जाने पर उसने जहाँ एक ओर कवियों और नाटककारों, काव्य एवं नाट्यशास्त्रकारों की गहन चिंता-धारा को प्रभावित किया वहाँ भारत के महान् प्रतिभाशाली भट्टतोत, उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, श्रीहर्ष, मातृगुप्त, कीर्त्तिधर और अभिनवगुप्त आदि महान् विचारकों की बौद्धिक चेतना के विकास का केन्द्र भी वह बना रहा है।

---

१. काव्यानुशासन, पृ० ४३२ (तथा चाटभट्टतोत—नानृषिकविः)।

२. प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा।—काव्यानुशासन, पृ० ६।
काव्यप्रकाश संकेत, पृ० ७, तथा औचित्यविचारचर्चा कारिका—३५।

३. पठितोद्देशक्रमस्तु अस्मदुपाध्याय परंपरागतः।—अ० भा० भाग २, पृ० २०८।

४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स : पी० वी० काणे, पृ० २२०।

द्वितीय अध्याय

भारतीय नाट्योत्पत्ति

१

भारतीय नाट्योत्पत्ति

नाट्योत्पत्ति : परंपरागत मान्यताएँ

भारतीय नाट्योत्पत्ति के इतिहास के संबंध में विचार करते हुए चारों वेदों, ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्र-साहित्य, वीर-काव्य, प्राचीन शिलालेख, जातक कथाओं, विश्व की विभिन्न जातियों और संप्रदायों की विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं, पूजा एवं उत्सव आदि की विभिन्न परम्पराओं, प्राचीन भवनों, रंगमण्डपों और मूर्तियों आदि पर हमारी दृष्टि जाती है। इस संदर्भ में नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति के वेद एवं धर्ममूलक तथा लौकिकतामूलक विचार से लेकर आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित प्रेतात्मावाद, छायानाट्यवाद, मूकनाट्यवाद तथा पुत्तलिका नृत्यवाद आदि विभिन्न विचार और वाद हमारी समीक्षा की परिधि में आते हैं।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्योत्पत्ति का इतिहास संभवतः विश्वसाहित्य में प्राप्त नाट्य के उद्भव का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। ईस्वीपूर्व पाँचवीं सदी से दूसरी सदी के मध्य जातीय कला और साहित्य के उद्भव का इतना स्पष्ट इतिहास शायद ही किसी अन्य राष्ट्र के जातीय साहित्य में प्रस्तुत किया गया हो।[१] इसमें प्राक्इण्डो आर्यजाति की सभ्यता और संस्कृति एवं कला और साहित्य के क्षेत्र में दो भिन्न जातियों के मध्य उभरते हुए संघर्ष का अत्यन्त सजीव एवं प्रामाणिक वृत्त प्रस्तुत किया गया है। नाट्य के विभिन्न अंगों—संवाद, अभिनय, गीत और रसादि की उत्पत्ति विभिन्न वेदों से हुई, इसका उल्लेख भी अत्यन्त स्पष्ट रूप से किया गया है। अतः इस प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार पर पहले हम नाट्योत्पत्ति का इतिहास और विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं, तदनन्तर एतत्सम्बन्धी अन्य मतों और वादों की भी समीक्षा करेंगे।

चार वेदों से नाट्य का सृजन—त्रेता युग के मनु वैवस्वत युग में इन्द्र आदि देवताओं के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

अथर्ववेद से रस ग्रहण[1] कर वेदोपवेद से सम्बन्धित 'नाट्यवेद' की सृष्टि की। भरतमुनि को नाट्यवेद की शिक्षा दी तथा आदेश दिया कि अपने शत-पुत्रों के सहयोग से नाट्यवेद का प्रयोग करें। इस क्रम में नाट्य की मातृरूपा भारती आरभटी और सात्वती आदि वृत्तियों का प्रयोग तो वह कर सके। परन्तु स्त्री-प्रधान कैशिकी वृत्ति का प्रयोग वे नहीं कर सके, क्योंकि नाट्यप्रयोग के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध न थीं। भरत ने भगवान् शिव के नृत्य में सुकुमार शृंगाररस-समृद्ध नृत्य और अंगहार-सम्पन्न कैशिकी का रूप देखा। भरत के निवेदन करने पर ब्रह्मा ने पुनः मन से ही अप्सराओं का सृजन कर उन्हें सौंप दिया। वे नाट्यालंकार में अत्यन्त निपुण थीं। वृत्तियों की पूर्णता के उपरान्त स्वाति जैसे भांडवादक नारदादि जैसे गायकों का भी सहयोग मिला। इस प्रकार चारों वेदों से नाट्य के प्रधान चार अंग, चार वृत्तियों और गान-वाद्य आदि की सहायता से नाट्य का प्रयोग आरम्भ हुआ।

नाट्य का प्रयोग—महेन्द्रध्वज का महान् अवसर था। दैत्यदानवों के नाश से उल्लसित देव आनन्द मना रहे थे। महेन्द्र-विजयोत्सव के शुभसमारोह में भरत ने 'दैत्यदानवनाशन' नामक नाट्य प्रस्तुत किया। इसमें दैत्यदानवों की पराजय-कथा निबद्ध थी। अतः ब्रह्मा आदि देवता तो इस प्रयोग से परितुष्ट हुए और भरत-सुतों को विष्णु आदि ने नाट्य के अनेक उपकरण—ध्वजा, सिंहासन, छत्र, सिद्धि और श्राव्यता, भाव, रस और रूप आदि देकर सम्मानित किया। पर दैत्यदानव तो अपनी पराजय को नाट्यायित देख अत्यन्त क्षुब्ध और क्रुद्ध हुए। और वहीं प्रयोग-काल में सब का विध्वंस करने लगे। अभिनेताओं के पाठ्य, कार्य-व्यापार और स्मृति को स्तम्भित कर दिया। नाट्य-प्रयोक्ता और सूत्रधार मूर्च्छित हो गए। सभाभवन विघ्नों से भयातुर हो उठा। तब देवराज इन्द्र ने अपनी ध्वजा से उन असुरों पर प्रहार कर उन्हें जर्जर-देह कर दिया। तब से इन्द्र की यह ध्वजा रंगमंडप पर 'जर्जर' के नाम से ही विख्यात हो गई और विघ्ननाशक तथा रक्षक शक्ति के प्रतीक के रूप में इसका प्रयोग होने लगा। पर दानवों का प्रकोप कम न हुआ। वे सदा ही भयभीत करते। भरत से दानवों के प्रकोप की बात सुनकर ब्रह्मा ने पुनः विश्वकर्मा को नाट्यमंडप की रचना का आदेश दिया और उन्होंने अविलंब ही सर्वलक्षण-सम्पन्न अतिभव्य और सुन्दर नाट्यवेश्म की रचना कर दी। इस नाट्यमंडप की रक्षा में चन्द्र, सूर्य, वरुण, इन्द्र, शंकर, ब्रह्मा, विष्णु और स्कंद आदि देवता भी तत्पर थे। ब्रह्मा ने तदुपरान्त दानवों से अनुरोध किया कि वे क्रोध और विषाद त्याग दें। देवताओं और दानवों के शुभाशु विकल्पक कर्म, भाव और वंश की अपेक्षा करके ही इस नाट्यवेद की रचना हुई है। इसमें एकान्ततः देवताओं अथवा दानवों के ही चरित्र का प्रदर्शन नहीं किया गया है अपितु नाट्य में इस विश्व के समस्त भावों का

१. वेद में सृष्टि की दो धाराएँ हैं—अग्नि और सोम। दोनों नाना प्रकृति और एक योनि हैं। दोनों के योग से अग्नि सोमात्मक जगत् की सृष्टि हुई। अग्नि की धारा से ऋक्, प्रतु और सोम की धारा से अथर्व की रचना हुई। यह सोम प्रजापति का स्वेद रूप है। शिव के लिंग का स्थाणु रूप आग्नेय है (अग्नेर्वै रुद्रः)। अग्नि और सोम के द्वारा सृष्टि विकसित होती है। वैसे ही नाटयरूप अग्नि के लिए सोम अपेक्षित है। अग्नि और सोम के समन्वय से सुखदुःखात्मक नाटय की गति नियमित होती रहती है। नाटय का सुख सोमरूप है, दुःख अग्निरूप है।—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ मौखिक परिसंवाद के आधार पर।

२. नाटयशास्त्र १।१-२०, २१-२५, ४०-४५, २०।१।

प्रदर्शन कराया गया है।[1]

रंगपूजा समाप्त कर ब्रह्मा के आदेश से भरत ने सर्वप्रथम **'अमृतमंथन'** नामक सम्पूर्ण नाट्य का प्रयोग हिमालय के रजत-शृंग पर प्रस्तुत किया। जहाँ सुन्दर लतापरिवेष्टित कन्दराएँ थीं, रम्य निर्झरिणियों का कल-कल नाद हो रहा था और पक्षियों का कलरव सारे दिग्दिगन्त को मधुर और मुखर कर रहा था। यहीं शिव के आदेश से 'त्रिपुरदाह' का भी भरत ने प्रयोग किया। इस क्रम में शिव के आदेश से नाट्य में तण्डु ने पूर्वरंग की शोभावृद्धि के लिए ललित अंगहारों का भी विधान किया। इसमें नृत्त, गान एवं भीण्डवाद्य की योजना की गई। ब्रह्मा का नाट्यवेद में नृत्त का भी समन्वय हुआ।[2]

नाट्योत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भी हुआ है। तदनुसार नहुष (न+हुत) को नाट्यावतरण का श्रेय मिलना चाहिए। मनुभूमि पर नहुष के अनुरोध से ही बाधित हो भरत ने अपने अभिशप्त पुत्रों को नाट्यप्रयोग के लिए भेजा। उन्होंने मनुष्य लोक में आकर विवाह किया और अपनी सन्तानों के द्वारा नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत कर लोकमात्र का अनुरंजन किया।[3]

नाट्य का प्रयोजन—परम्परा के अनुसार वेद शूद्रों को नहीं सुनाया जा सकता। पंचम नाट्यवेद तो सार्ववर्णिक है और तीनों लोकों का भावानुकीर्तन रूप है। मनुष्य-जीवन के मंगल के लिए नाट्य में न जाने कितने तत्त्वों का संकलन होता है। कहीं धर्म, कहीं विनोद, कहीं काम, कहीं हास्य, कहीं शम और कहीं वध का भी प्रदर्शन इसमें होता है। धार्मिकों के लिए धर्म, कामोपसेवियों के लिए शृंगार, दुर्विनीतों के लिए संयम, विनीतों के लिए दमन-क्रिया, शूरों और अभिमानियों के लिए उत्साह, दुःखपीड़ितों के लिए धैर्य, अर्थोपजीवियों के लिए अर्थ तथा उद्विग्न चित्त को धैर्य प्रदान करता है। नाना प्रकार के भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण लोकवृत्त का सजातीय अनुकरण रूप यह नाट्य होता है। यह नाट्य विश्वजीवन की ऐसी विशाल रंगवेदिका है, जिस पर कौन ज्ञान, कौन-सी विद्या, कौन-सी कला और कौन-सा योग या कर्म है, जिसका नाट्य में प्रदर्शन नहीं होता।[4]

अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ और नाट्योत्पत्ति

अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध नाट्योत्पत्ति का विवरण नितान्त भरतानुसारी है। अभिनय दर्पण, रसार्णव सुधारक, नाटकलक्षण रत्नकोष और भाव प्रकाशन आदि ग्रन्थों में[5] उपलब्ध एतत्संबंधी विचारों में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं है। भावप्रकाशन की कथा में किंचित् भिन्नता इस अर्थ में है कि नाट्यवेद के सृजन का श्रेय यहाँ शिव को प्राप्त है, तथा केवल एक विशिष्ट भरत का उससे सम्बन्ध कल्पित न कर भरतादि से कल्पित किया गया है। मनुभूमि

१. एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने। ना० शा० १।५४-६९, ७०-७८ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० ४।१०-१८, ४।२६०-६६।

३. ना० शा० ३६।७१-७२।

४. तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगोन तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन् न दृश्यते॥ ना० शा० ११२-११६।

५. अभिनयदर्पण पृ० १२, श्लोक ९८-१००, र० सु० १।४९-४५, ना० ल० को० पं० १५-३०, भा० प्र०, पृ० ५६, २८७।

पर नाट्यावतरण का श्रेय नहुष के स्थान पर मनु को प्राप्त है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 'त्रिपुरदाह' के अतिरिक्त 'दक्षाध्वरध्वंस' और कल्पान्तकर्म आदि नाटकों का उल्लेख है।

नाट्यशास्त्र के कुछ निष्कर्ष

पिछले पृष्ठों में नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। इसके विश्लेषण से नाट्य के उद्भव के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता चलता है। वस्तुतः आख्यान और इतिहास के आवरण में ढँके हुए विचार-तत्त्व नाट्य के उद्भव की ऐतिहासिक व्याख्या का मार्ग प्रशस्त करते हैं। हम उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-विंदुओं को प्रस्तुत करते हैं :

(१) नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध की परिकल्पना ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र प्रभृति देवताओं से की गयी है। वस्तुतः यह तो भारतीय साहित्य की परम्परागत विशेषता है। दैवी शक्तियों के आशीर्वाद की परिकल्पना के अतिरिक्त दूसरा कोई और महत्त्व नहीं है। निःसन्देह शैव और वैष्णव संप्रदायों का नाट्य के उद्भव में योगदान कम नहीं है।

(२) ब्रह्मा ने चारों वेदों से संवाद, अभिनय, गीत और रस जैसे नाट्यतत्त्वों को ग्रहण कर 'नाट्य' का सृजन किया। वस्तुतः वेदों में समस्त लौकिक साहित्य के स्रोत के अनुसंधान की प्रवृत्ति वर्तमान रही है। पर भारतीय नाट्य के वीज वेदों में हैं और उनसे नाट्य को प्रेरणा मिली, इस मान्यता का समर्थन आधुनिक विद्वानों ने भी किया है।

(३) नाट्यशास्त्र के अनुसार वेद सार्ववर्णिक नहीं, परन्तु नाट्यवेद सार्ववर्णिक है। नाट्य की सार्ववर्णिकता उसकी लौकिकमूलकता की घोषणा करती है। भरत ने नाट्यविद्या के स्रोत के रूप में समान रूप से वेद और लोक की महत्ता की स्थापना की है। नाट्य का प्राणरस लोक-चेतना से स्पंदित होता रहता है। उसके मूल में लोकोत्सव प्रेरक शक्ति के रूप में अपना महत्त्व प्रदर्शित करते हैं, जिनमें तीनो लोकों का भावानुकीर्तन और जन-मन के अनुरंजन का भाव वर्तमान रहता है। 'दैत्यदानवनाशन' का प्रयोग इन्द्र-पूजोत्सव के अवसर पर हुआ। जातीय जीवन में प्रचलित ये महान् उत्सव भी आंशिक रूप से नाट्योद्भव के स्रोत बने रहे हैं। नाट्य की लोकमूलकता की स्थापना भरत ने की है। इन्द्रध्वजोत्सव सदियों तक शरत्कालीन उत्सव का उत्तर भारत में केन्द्र रहा है।[1] भारतीय नाटकों का विकास भी इसका समर्थन करता है। अधिकांश प्राचीन भारतीय नाटक राम और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित आख्यान और उत्सवों से प्रेरणा ग्रहण कर परिपल्लवित हुए हैं।

(४) नहुष के अनुरोध पर अभिशप्त भरत-पुत्रों द्वारा मनुभूमि पर नाट्य-प्रयोग की कथा नाट्य की लोकमूलकता तथा उसमें आर्येतर शक्तियों के सहयोग की ओर संकेत करती है। क्योंकि नहुष वेदों एवं वीरकाव्यों में आर्यजाति की तेजस्विता के प्रतीक इन्द्र के प्रचण्ड विरोधी रूप में विख्यात रहे हैं।[2] अतः नाट्योत्पत्ति का दायित्व शूद्रावस्था में

१. महाभारत, आदिपर्व ६३।१७-२७।

२. (न+हुत) नहुष का वर्णन आर्यविरोधी के रूप में ऋग्वेद में मिलता है। इन्द्र ने दस्युओं के अतिरिक्त नहुष के दुर्गों को भी नष्ट कर दिया। स नृत्तमो नहुषोऽभंन् सुशवः पुरोऽमिन्त। ऋक् १०।६६।

पतित सामान्य लोकजीवन-प्रवृत्तियों से प्रेरित भरतों और नहुष जैसे इन्द्र (यज्ञ) विरोधियों को भी मिलना चाहिए। इसी आधार पर यह कल्पना की जाती है कि प्राक् भारोपीय आर्यों के पास नाट्य न थे।

(५) नाट्यप्रयोग के क्रम में कैशिकी वृत्ति के लिए अप्सराओं के सृजन की बात से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आरंभ से पुरुष पात्र ही नाट्य का प्रयोग करते थे, बाद में स्त्री पात्रों का भी प्रवेश भारतीय रंगमंच पर हुआ।

(६) नाट्यमंडपों की परिकल्पना और रचना बहुत बाद में हुई होगी, आरंभ में मुक्ताकाशी रंगमंच होते थे।

भरत-प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति के इतिहास के विश्लेषण से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं कि (क) नाट्य को वेदों से सहायता प्राप्त हुई (ख) लोकोत्सव और ऋतूत्सवों ने मनोरंजन और लोकचेतना से अनुप्राणित किया (ग) नाट्य के उद्भव, विकास और प्रयोग में आर्येतर शक्तियों का भी दायित्व था, (घ) विभिन्न देवताओं की जीवन-गाथाओं ने भी प्रेरणा दी (ङ) नाट्यप्रयोग में महिलाओं का प्रवेश बहुत बाद में हुआ (च) नाट्यमंडप की रचना बाद में हुई और (छ) गीत, नृत्त और नृत्य बाद में नाट्य के अंग बने।

नाट्योत्पत्ति की आधुनिक विचारधारा

भारतीय नाट्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। उनमें से प्रधान मान्यताओं की समीक्षा कर निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास करेंगे। अनेक आधुनिक विद्वान् भरत-प्रतिपादित नाट्य की देव-वेद-धर्म-मूलकता का विभिन्न आधारों पर समर्थन करते हैं तथा दूसरे बहुत से विचारक नाटचोद्भव के स्रोत के रूप में वेद और धर्म को अंगीकार न कर मुख्य रूप से लोक-भावना और लोक-संस्कारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।

नाट्योद्भव के स्रोत वेद और धर्म—प्राचीन आर्यों ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में समादृत किया है। वेद आर्यों के बौद्धक विकास, धर्म, सभ्यता और संस्कृति का पवित्र उद्गम है। भरत ने चारों संहिताओं को नाट्य का उद्गम-स्रोत माना है और लोक-संस्कारों को भी। आधुनिक विद्वानों ने नाट्योद्भव की दृष्टि से वेदों का विश्लेषण कर यह प्रतिपादित किया है कि वेदों में नाट्य के वीज वर्तमान थे, जिनसे नाट्यरचना में सहायता मिली होगी। नाट्य में संवाद या पाठ्य का बड़ा महत्त्व है। केवल ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह ऐसे सूक्त हैं जिनमें नाटच-शैली का संवाद उपलब्ध है। इस दृष्टि से 'यम-यमी' पुरुरवा-उर्वशी, इन्द्र-अदिति-वामदेव, इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि, शर्मा-पणिस, विश्वामित्र-नदी, इन्द्र-मरुत तथा अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद मुख्य हैं।[१] प्रसिद्ध पाश्चात्य मनीषी मैक्समूलर महोदय ने[२] संवाद-सूक्तों के आधार पर यह कल्पना की है कि इन संवाद-सूक्तों को मंत्रवाचक दो दलों में बँटकर पाठ किया करते हों और आश्चर्य नहीं कि साथ में अनुकरण भी किया जाता हो। मैक्समूलर के विचारों का उपबृंहण करते हुए लेवी महोदय

१. ऋ० १०।१०।७, १०।१०।१४, १०।९५।२, ६।१८।५, १०।८६ ६, १०।१८।१०७, १।१७९।

२. सेक्रेड बुक ऑफ़ द ईस्ट, भाग ३२, पृ० १८२।

ने[1] तो यहाँ तक प्रतिपादित किया कि ऋग्वेद ऐसी कुमारी बालिकाओं से परिचित है जो सुन्दर वेषभूषा धारण कर अपने प्रेमियों को मुग्ध किया करती थीं। सामवेद के रचना-काल में संगीत-कला का विकास हो चुका था और संगीत नाट्य का शृंगार है। अथर्ववेद में पुरुषों के नर्तन और गायन का उल्लेख है। पर श्राडर महोदय[2] ने उन दोनों विद्वानों से भिन्न कल्पना करते हुए यह प्रतिपादित किया कि वैदिक संवाद सृष्टि-प्रक्रिया के अनुकरण रूप हैं। विश्व की अति प्राचीन जातियों में मैथुनिक नृत्य की भी परंपरा वर्तमान थी। उन नृत्यों में सृष्टि-प्रक्रिया को भी अभि-व्यक्ति प्रदान की जाती थी। संभवतः वैदिक पुरोहित भी इन संवादों को प्रस्तुत करते हुए नृत्य-गीत का प्रयोग करते थे। हर्टेल महोदय की[3] मान्यता है कि इन सूक्तों का गायन होता था। सुपर्णाध्याय इस दृष्टि से ध्यातव्य है। संभव है ये गीत-संवाद 'यात्रा' के रूप में अवशिष्ट रह गये हों। परन्तु श्राडर और हर्टेल के मतों से पूर्णतया सहमत होना संभव नहीं मालूम पड़ता। आचारवान् वैदिक पुरोहित यज्ञानुष्ठानों के पावन अवसरों पर मिथुन नृत्य करते हों, यह संभव नहीं मालूम पड़ता और सूक्तों का गायन होता था। इसका निश्चित प्रमाण नहीं है।

ओल्डेनबर्ग, पिश्चेल और विंडिश्च प्रभृति विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया कि वैदिक मंत्रों में उपलब्ध गद्य-पद्य का मिश्रित रूप भारतीय नाटक के गद्य-पद्यात्मक रूप के विकास का स्रोत है। परन्तु वैदिक साहित्य की विशाल परंपरा में गद्य-पद्य की विमिश्रित शैली के उदाहरण नहीं मिलते। शतपथ ब्राह्मण में 'शुनःशेप' तथा पुरुरवा-उर्वशी संवाद गद्य-पद्य की विमिश्रित शैली के पूर्ण उदाहरण नहीं हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत-प्राकृत नाटकों में गद्य अपरि-हार्य है और पद्य का प्रयोग तो भावावेश की ही दशा में होता है। ऋग्वेद के संवादों में नाट्य का पाठ्यांश बीजरूप में वर्तमान है। यह मान्यता भरत और भारतीय चिन्तन के अनुकूल है।

वैदिक कर्मकाण्ड में नाटकीय तत्त्व—वैदिक ऋषि ऋग्वेद की स्तुति-उपासना के उपरान्त यज्ञों के विशाल समारोहों में सदियों लगे रहे। अश्वमेध, पुरुषमेध, सोमयाग, महाव्रात और पौर्ण-मास याग आदि का विशाल आयोजन होता था। इनमें महाव्रात बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें शीत-कालीन सूर्य को शक्ति प्रदान की कल्पना की गई है। ग्रीष्म और शीत के युद्ध में ग्रीष्म का प्रतिनिधित्व गौरवर्ण के आर्य करते और शीत का कृष्णवर्ण के शूद्र। महाव्रात की इस विधि का नाटक में पात्र के अनुकरण से बहुत स्पष्ट साम्य है। इस रूप में नाटक की अनुकरणमूलकता के बीज विशृंखल रूप में ही सही इन कर्मकाण्डों में उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद के मंत्रों के पाठ में हस्तसंचालन की विविध विधियों का प्रयोग होता है, इन्होंने भी भाव-प्रदर्शक अभिनय-विधियों के लिए प्रयुक्त हस्तप्रचार के विकास में योग दिया हो।[4]

यजुर्वेद में नाट्य के पात्र और नेपथ्य की सामग्री—यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय नाट्यो-द्भव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें नाट्य के पात्र, नेपथ्य की विविध सामग्रियों और वाद्ययन्त्रों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सूत के लिए नृत्य, गीत के लिए शैलूष, हास्य के अनुकरण के लिए कारि (विदूषक), वामन और कुब्ज आदि से यह वेद सुपरिचित है। गन्धर्व,

---

१. थियेटर, पृ० ३०७ (१८९०), ऋक् १।९२।४।
२. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० १५, संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० १६।
३. नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा। अथर्व –१२।४१। ह० प्र० द्वि०, पृ० ५।
४. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २४।

अप्सरा, चित्रकारिणी, वीणावादक, पाणिघ्न (हाथ से बजाया जाने वाला), तूणवध्म (तबला), तवल (मजीरा), मागध आदि का उल्लेख किया गया है।[१] ये पात्र, ये सारी सामग्रियाँ नाट्य के प्राण और शोभाधायक हैं। हाँ, इन सबमें 'नट' शब्द का प्रयोग न होना खलता है। पर क्या यह संभव नहीं है कि नृत्य-नृत्त शब्द से 'नट' शब्द से विकसित हुआ हो। नाट्य के इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि नाट्य विकास की उस सीमारेखा पर था जब उसमें नृत्य, गीत, मनोविनोद और अनुकरण आ मिले थे और विदूषक का पूर्वरूप कारि, रेम, वामन के विशृंखल रूप में अभी पनप ही रहा था। यजुर्वेद-काल में नाट्य वैदिक परंपराओं से स्वतंत्र रूप धारण करने के महान् प्रयास में संलग्न था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन और अनुशीलन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। ब्राह्मण काल तक गीत और नृत्य की गणना कला के रूप में होने लगी थी।[२] पारस्कर गृह्यसूत्र में द्विजातियों द्वारा इस कला का प्रयोग निषिद्ध माना गया है।[3] महाव्रात याग में अग्निवेदी के चारों ओर नृत्य एवं गायन करती महिलाएँ इन्द्र से वर्षा और कृषि की समृद्धि के लिए प्रार्थना करती थीं।[४] उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात तो प्रमाणित हो जाती है कि आर्यों की मनीषा पर वैदिक साहित्य का व्यापक एवं अक्षुण्ण प्रभाव था। ऋग्वेद के पाठ्यांश, यजुर्वेद की सस्वर पाठ्यप्रणाली की विभिन्न अभिनयपूर्ण मुद्राएँ और सामवेद की गीतशैली ने शनैः-शनैः नाट्यरचना को रूप देने में सहायता दी होगी। यह स्वाभाविक ही है कि वेद के इन सूक्तों तथा लोक-जीवन की शाश्वत-धारा से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय नाट्य किसी-न-किसी रूप में बहुत पहले जन्म ले चुका था। वैदिक यज्ञों के समान नाट्य भी 'चाक्षुष ऋतु' ही था, 'नयनोत्सव' था।[५] वैदिक मंत्रों के विपरीत इसमें क्रीडनीयकता की प्रधानता थी, उपदेशपरकता गौण। भारतीय नाट्य सम्भवतः वीरकाव्य की प्रतीक्षा में था, जिनके बिना यह पूर्णता प्राप्त न कर सकता।

नाट्योद्भव के अवैदिक स्रोत—बहुत-से आधुनिक विद्वानों ने 'नाट्य' की वेद-धर्म-मूलकता का खण्डन किया है। नाट्यशास्त्र द्वारा नाट्य को पंचमवेद घोषित कर देने मात्र से 'नाट्योद्भव' का वह स्रोत नहीं माना जा सकता।[६] यूरोप के नाटकों का उद्भव विभिन्न धार्मिक प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ है। ग्रीस के दुःखान्त एवं सुखान्त नाटक धर्ममूलक ही थे। क्रिस्ट का करुणामय बलिदानपूर्ण समस्त जीवन-व्यापार और चर्चों में प्रचलित पूजा-पद्धति की विशद प्रक्रिया सब-कुछ नाटकीय है। यूरोप में प्रचलित 'भास' की पद्धति भी इस तथ्य की पुष्टि करती है।[७] अतः यूरोप के नाट्योद्भव में धर्म का जो महत्त्व माना जाय, पर भारतीय नाट्य की

---

१. नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं, नर्मायरेमं, हासाय कारिम्, अक्षादभ्यो कुब्जं प्रमुदेवामनम्...
यजुर्वेद ३०।६, ८, १०, १४, २०।

२. कौशितकी ब्राह्मण २६।५।

३. पारस्कर गृह्यसूत्र २, ७, ३।

४. शांखायन आरण्यक, पृ० ७२।

५. शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। मा० अ० अं० १-४।

६. The mere mention of N. S. as Vth Veda or of the fact that the elements of the drama were taken out of the four Vedas is of no importance. *Drama in Sans. Lit.*; p. 33; R. V. Jagirdar.

७. ब्रिटिश ड्रामा, पृ० १५-२०।

उत्पत्ति में वेद और धर्म का वह महत्त्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। यूरोप के विपरीत भारतीय धर्म एवं समाज के क्षेत्र में एकता का नहीं विषमता का भाव था। समाज में कई स्तर थे। आर्यों के पवित्र ग्रंथ वेदों के सुनने का अधिकार निम्न श्रेणी के शूद्रों को नहीं था। नाट्यशास्त्र के अनुसार पंचमवेद नाट्य का सृजन इसीलिए हुआ कि सब वर्ण 'नाट्यामृत' का पान कर सकें।[1] सूत्रधार को छोड़ रजक, चित्रकर, आभरणकृत, माल्यकार, कर्मकृत आदि प्रायः सब नाटचशिल्पी हैं, समाज की निम्न श्रेणी के हैं।[2] भरत-पुत्रों के अभिशाप, नहुष (न+हुत) द्वारा नाटचावतरण, भरत-पुत्रों द्वारा मनुष्य लोक में नाट्यप्रयोग, महाभाष्य, स्मृति एवं धर्मग्रन्थों में नाट्य-शिल्पियों की हीन सामाजिक दशा तथा सूतों, शैलूषों, रूपाजीवों और जयाजीवों की हीनता आदि के प्राप्त विवरणों की समीक्षा नाट्योद्भव के अवैदिक स्रोतों का भी संकेत करते हैं।[3] भारतीय नाटच के उद्भव में धर्म और याज्ञिक अनुष्ठानों का दायित्व नाममात्र को भी नहीं है। जिन समुदायों ने नाट्य के उद्भव में योग दिया यदि वे अनार्य नहीं थे तो वेद-विरोधी अवश्य होंगे। अतः नाट्योद्भव का स्रोत धर्मविहीन जीवन की कोई अन्य जीवन्त शाश्वत धारा है न कि वेद और वेदानुशासित धर्मधारा।

प्राचीन वैदिक धर्म : लोकधर्म का प्रतिरूप—नाट्य की वेदधर्म-विरोधिता और लोकपरकता के सन्दर्भ में उपर्युक्त विचार तथ्य से युक्त नहीं मालूम पड़ते। स्वयं भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य-स्रोत के विवेचन के प्रसंग में वेद से गृहीत नाट्यतत्त्वों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वेद तथा अध्यात्म की अपेक्षा नाट्य में लोक अधिक प्रमाण माना जाता है।[4] वेदों का स्रोत के रूप में उल्लेख का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि परंपरावश उनका नाम स्मरण किया गया है। यह तो इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि अनेक आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न वेदों में प्राप्त नाट्यतत्त्वों का अनुसंधान कर, उनकी पारस्परिक तुलना कर आंशिक रूप से नाट्योद्भव का उन्हें श्रेय प्रदान किया है। अतः वेद के साथ लोकभावना और लोकसंस्कार भी नाट्योद्भव के आधार रहे हैं यह एक स्वीकृत तथ्य है।

प्राचीन भारतीय समाज की विषमता और शूद्रों को वेद के उपयोग से वंचित करने का प्रश्न है, आंशिक रूप में यह आक्षेप स्वीकार किया जा सकता है। पर प्राचीन काल में आर्यों में वर्णव्यवस्था का आरंभ सामाजिक संगठन और एकता के सूत्र में पिरोने के लिए ही हुआ था। विभिन्न व्यवसायों की भिन्नता के आधार पर समाज के संरक्षक और पोषक तत्त्वों का संगठन और तदनुकूल वर्गीकरण किया गया था। यजुर्वेद में आर्यों की वर्णव्यवस्था की तुलना मनुष्य के अंगोपांगों से की गई है। मुख, बाहु, जाँघ और पाँव आदि प्रमुख अंग परस्पर संगठित होकर शरीर की रचना करते हैं उसी प्रकार चारों वर्ण, सम्पूर्ण आर्य समाज के संघटक तत्त्व थे।[5]

वस्तुतः प्राचीन काल में वैदिक धर्म भी लोकधर्म के रूप में इस देश में प्रचलित था। सभी

१. ना० शा० १-१२।

२. नाट्यशास्त्र ३५।६२।

३. ना० शा० ३५।८४; मनु० ८।३६२, याज्ञवल्क्य २।७०, महाभाष्य...

४. लोक सिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः॥ ना० शा० २५।११६-२३।

५. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। यजु० ३१।११।

आर्य संगठित होकर अनार्यों पर आक्रमण करते थे। यह संभव है कि उन अनार्यों अथवा शूद्रों को वेदव्यवहार का अधिकार नहीं रहा हो। पर यह संभव नहीं मालूम पड़ता कि आर्य समुदाय के मध्य वैदिक धर्म के अतिरिक्त कोई आर्येतर धर्म अधिक लोकप्रिय था और उसकी परंपरा और आचार-व्यवहारों ने भारतीय नाटकों को प्रेरित किया हो। लगभग चार-पाँच हजार वर्षों तक वेदों में प्रतिपादित स्तुति-यज्ञ एवं कर्मकाण्ड आदि आर्यों के विशाल समुदाय में लोकधर्म के रूप में प्रचलित थे। वैदिकेतर धर्म यदि कोई रहा भी हो तो आर्यों की उन्नत वैदिक सभ्यता के निकट या तो वे टिक न सके या उन्हें ध्वस्त कर दिया गया होगा।

वेदों में प्राचीन आर्यों के लोकाचार, संस्कार और विश्वास जीवित हैं। इन आर्यों का लोकधर्म और चिन्तनधारा वेदों में प्रतिपादित है। लोक-जीवन की यह सशक्त धारा वेदों से प्रेरणा ग्रहण करती थी और उनका आचार-विचार तथा निष्ठाएँ उत्तर वैदिक काल के साहित्य को भी प्रभावित करती रही हों तो आश्चर्य नहीं।[1] आर्यों के मध्य प्रचलित इतिहास और आख्यानों के मूल वेद ही थे। वेद, इतिहास और आख्यान तथा उस युग में प्रचलित आर्यों के धार्मिक विश्वासों ने मिलकर नाट्य के उद्भव के लिए प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया। हमारी दृष्टि से वैदिक काल में लोकधर्म और वेद-इतिहास-आख्यानों द्वारा प्रभावित लोक-परम्परा इतनी पुष्ट और प्रबल थी कि उसके समक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल और बौद्धिक दृष्टि से हीन अनार्यों की सभ्यता, धर्म और संस्कृति की धारा भारतीय नाट्य के उद्भव को प्रभावित करने की सक्षम स्थिति में नहीं थी। नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह', 'दैत्यदानवनाशन' और 'अमृतमंथन' आदि नाट्यप्रयोगों का उल्लेख है। इन नाट्यों के वृत्त प्राक् ऐतिहासिक काल की घटनाओं से सम्बद्ध हैं जब आर्यो-अनार्यों के मध्य घोर संघर्ष हो रहा था। आर्य सभ्यता के इतिहास में वह उत्कर्ष और गौरव का युग था। जब आर्य जाति पूर्व और पश्चिम यूरोप में फैल गई और दूसरी ओर अपने ज्ञान और शक्ति की उज्ज्वल रश्मियों का प्रसार करते हुए ईरान से भारत तक के विशाल भूभाग को आप्लावित कर दिया। ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प तथा सभ्यता और संस्कृति के उत्थान की लहरों में अन्य हीन लोक-परम्पराएँ कैसे टिकतीं। वे बह गईं, डूब गईं। इसलिए किसी भारतीय कला का स्रोत वेद एवं वेद-प्रभावित अन्य प्राचीन साहित्य में ही उपलब्ध हो सका। स्वभावतः भारतीय नाट्य के स्रोत वेद, उत्तरकालीन इतिहास-आख्यान एवं लोक-संस्कार एवं परम्पराएँ थीं। अतः नाट्यशास्त्र तथा उनसे आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता कि वेद, याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा आर्यों का लोकाचार नाट्य के उद्भव का स्रोत था—तर्कसम्मत तथा तथ्यपूर्ण है।[2]

नाट्य में धार्मिक और लोकचेतना—भारतीय नाट्य के उद्भव में वेद, धर्म और सम्प्रदाय ने समान रूप से योग दिया। पर आर्यों के जन-जीवन की विभिन्न लोक-परम्पराओं, लोक-संस्कारों और लोकोत्सवों का भी कम दायित्व नहीं रहा है। यह नितान्त सत्य है कि भारत धर्म-प्रधान देश है और यहाँ की लोक-चेतना सदा धर्मानुमोदित रही है। वेदों और वीरकाव्यों द्वारा लोक-जीवन की उस धार्मिक चेतना को निरंतर बल मिल रहा था। संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा के प्रयोग की विविधता नाटक की लोकपरकता का समर्थन करती है। विदूषक संस्कृत

१. ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिट्रेचर, भाग-१, पृ० ५२-५३, विंटरनित्स।

२. The hyms, therefore, represent the beginnings of a dramatic art. *The Sanskrit Drama*, p. 17.

नाटकों का अत्यंत लोकप्रिय पात्र है और लोक-भावना का निकटवर्ती भी, पर वह भी नितांत धर्म-विच्छिन्न व्यक्तित्व नहीं है। उसके सृजन की श्रृंखलाएँ महाव्रात्य यज्ञ के ब्राह्मण तथा सोम-विक्रेता शूद्र से जुड़ी हुई हैं।[१] यात्रा, रामलीला, होलिकोत्सव और दुर्गापूजोत्सव की परम्पराएँ धर्म से प्रेरित रही हैं और वे नाट्य की प्रेरक परिस्थितियाँ सदा से रही हैं। इनमें वैष्णव और शाक्त आदि सम्प्रदायों की भक्तिभावना और उदात्त जीवन-शक्ति भारतीय नाट्य की प्राण-शक्ति रही है। उनमें राम और कृष्ण के गरिमामय जीवन से अनुप्राणित सामान्य लोक-जीवन की हृदय-भूमि पर अंकुरित भाव-पुष्पों की धर्मसुरभित वाणी का गुंजन है। होलिकोत्सव के मूल में विष्णु-द्रोही हिरण्यकशिपु के नाश पर धर्म की विजय की कथा का उल्लास है। वस्तुतः भारतीय नाट्य के उद्भव और विकास को लोक-चेतना और धार्मिक चेतना दोनों ने ही समान रूप से प्रेरणा और गति दी है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की विरोधी नहीं अपितु पोषक थीं। 'इन्द्रध्वजोत्सव' इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण लोकोत्सव था।[२] इस अवसर पर आर्यों के राष्ट्र-देवता इन्द्र की शक्ति और ओजस्विता का सोत्साह गायन होता था। यह पर्व सम्भवतः वर्षान्त में शरदोत्सव के रूप में मनाया जाता था। 'दैत्यदानवनाशन' का प्रयोग महेन्द्र विजयोत्सव के अवसर पर ही हुआ था। इन्द्रध्वज द्वारा ही प्रथम नाट्य-प्रयोग के अवसर पर दानवों को इन्द्र ने जर्जर किया था। इस आधार पर हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया है कि नाट्य का प्रथम प्रयोग वहाँ हुआ होगा जहाँ बांसों की अधिकता हो।[३] जर्जर उत्सव की महत्ता का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।[४] इन्द्रपूजा अभी भी भारत के बहुत से भागों में शक्ति, सौन्दर्य और उल्लास के प्रतीक के रूप में मनायी जाती है। इस तरह 'इन्द्रध्वज' भारतीय लोकोत्सव का मेरुदण्ड बन गया। जैनागमों में इन्द्रध्वजोत्सव का विवरण मिलता है। हमारा अभिप्राय यही है कि भारतीय लोकोत्सव धर्मानु-मोदित थे तथा इन लोकोत्सवों ने भी नाट्य की सम्भावनाओं को सुदृढ़ किया। अतः नाट्योद्भव में धर्म का तो महत्त्व है ही, धर्म-प्रेरित लोकोत्सव और लोक-परम्पराएँ उसके लिए कम उत्तर-दायी नहीं रहे हैं।[५]

भारतीय धर्म-सम्प्रदाय और नाट्योत्पत्ति

वैदिक साहित्य के उपरान्त भारतीय मनीषियों द्वारा प्रस्तुत विशाल लौकिक साहित्य को विष्णु के अवतार 'राम' और 'कृष्ण' तथा 'शिव' के विलक्षण व्यक्तित्व ने अपनी जीवन-रश्मि से आलोकित किया है। भारत की अध्यात्म एवं धर्मधारा तथा कला-चेतना के भी ये अखंड स्रोत रहे हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि क्या इन व्यक्तित्वों के जीवन से प्रस्तुत विचारधारा एवं सम्प्रदायों ने नाट्योद्भव में योग दिया?

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० ५१।
२. अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते। ना० शा० १।५४-७४।
३. ओरिजिन ऑफ इण्डियन ड्रामा : जर्नल ऑफ रॉयल बंगाल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, न्यू सीरीज़, भाग-५, पृ० ३५१, १६०९।
४. उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः।
भूमिरत्नादिभिः दानैः तदा पूज्या भवंति ये।—महाभारत आदिपर्व। ६३।१७।२७।
५. प्राचीन काल में प्रचलित इन्हीं मह नामक उत्सवों के मंथन से प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र का जन्म हुआ।—भारतीय लोकधर्म : वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३७।

शैव सम्प्रदाय और नाट्योत्पत्ति—नाट्य की शोभा के लिए प्रयुक्त 'उद्धत ताण्डव' और 'सुकुमार लास्य' नृत्यों का सम्बन्ध परम्परा से क्रमशः शिव और पार्वती से रहा है। नाट्य-शास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध वृत्तों से इसका समर्थन होता है।[१] वैदिक काल के परम प्रतापी देवता रुद्र परवर्ती काल में मनुष्य मात्र के संरक्षक शिव के रूप में अर्चना के लक्ष्य बन जाते हैं।[२] शिव नाट्य और नृत्य के उद्भव एवं विकास में नटराज के रूप में विख्यात रहे हैं। उनका नृत्य मानों सृष्टि-चक्र का ही विराट नृत्य है, जिसमें भाण्डवाद्य का कार्य प्रकृति का पुरुष मेघ करता है।[३] कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र में नाट्याचार्य गणदास ने नाट्य-विद्या के सम्बन्ध में शिव और पार्वती का स्मरण विशेष रूप से किया है कि अर्द्धनारीश्वर महादेव ने उमा से विवाह करके अपने ही अंग में ताण्डव और लास्य को दो भागों में विभक्त कर दिया।[४] कालिदास के तीनों नाटकों तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में शिव की अभ्यर्थना की गई है।[५] अतः नाट्योत्पत्ति में शिव के दायित्व के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री तथ्य की ओर संकेत करती है।

शिव का प्राक्-आर्य रूप : लैंगिक नृत्य—शिव की लिंग-पूजा भारत में सदियों से प्रचलित है और उनका रुद्र रूप भी कम लोकप्रिय नहीं रहा है। शिव के इन दो रूपों में से नाटक के उद्भव में किसका योग रहा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यूरोपीय विद्वानों ने ग्रीक और मैक्सिको की प्राचीन सभ्यता में प्रचलित लिंगनृत्यों के आधार पर नाटक के उद्भव की परिकल्पना की है।[६] उधर शिव पाशुपत ईश्वर के रूप में सिंधु घाटी में विख्यात थे। हरप्पा और मोहन-जोदड़ो के प्राचीन अवशेषों से प्राप्त बहुत-सी मूर्तियों से शिवलिंग की परंपरा की पुष्टि होती है।[७] ऋग्वेद में आर्य-विरोधियों के रूप में शिश्न देवों का वर्णन मिलता है।[८] इन प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि लिंग-पूजा की परम्परा बहुत प्राचीन रही होगी। वह सृष्टि की प्रक्रिया का—विराट पुरुष और प्रकृति के मिलन का—मंगल प्रतीक है। परन्तु क्या शिव का यह रूप नाटचोद्भव में सहायक रहा होगा?

शिव का नटराज रूप और नाट्योद्भव—वैदिक एवं लौकिक साहित्य-स्रष्टा मनीषी

१. रेचकैः अंगहारैश्चनृत्यन्तं वीक्ष्य शंकरम्।
सुकुमार नृत्यप्रयोगेन नृत्यन्ती चैव पार्वतीम्।
—ना० शा० ४।२४६-५१ (गा० ओ० सी०)।

२. मधुरं लास्यमाख्यातं उद्धतं ताण्डवं विदुः। भाव प्रकाशन, पृ० ४५, ४६, २६६।

३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ५१६ (बलदेव उपाध्याय) तथा ऋक् मं० २।३३-७ शतपथ, १।७।३।८।
कुर्वन् संध्या बलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्। पूर्वमेघ ३६।

४. मालविकाग्निमित्र अं० १।५।

५. विक्रमोर्वशी अंक १।१, अ० शा० अं० १।१, मृच्छकटिक १।१।

६. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० १६।
तथा कान्ट्रीब्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू-ड्रामा, पृ० ६। —मदनमोहन घोष।

७. दि शाक्त पीठाज़ : जॉर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी—बंगाल, भाग १४।१, पृ० १०५-१०६ (डी० सी० सरकार) १९४८।

८. न या तव जुजुर्वेता न वंदना शविष्ठ वेधाभिः।
सशर्धदर्यो विषुणस्य जन्तो मां शिश्नदेवा अपि गुऋतं नः।
ऋक् ७।५।३, १०।९९।३

सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत साहित्य की रचना कर रहे थे। उसमें प्राक्-आर्य शिव के अभद्र नग्न रूप के समावेश की संभावना नहीं की जा सकती। शिव की वन्दनाओं में सृष्टि, स्थिति और संहारकारी रूपों का उल्लेख है न कि लिंग-नृत्य का। शिव के प्राक्-आर्य रूप लिंग-नृत्य से अनुप्राणित नाट्य की अश्लीलता के कारण ही प्राचीन बौद्ध-साहित्य में सामाजिक उत्सवों, नृत्य और गीत का निषेध किया गया है।[१] यह कल्पना संगत नहीं मालूम पड़ती है। वह निषेध तो केवल इसलिए है कि बौद्ध भिक्षु इन सामाजिक उत्सवों में प्रस्तुत शृंगार के सुकुमार दृश्य देखकर साधना और संयम के जीवन से विमुख न होने पायें। अतः शिव के लिंग रूप का नाट्योद्भव में योग रहा हो इसकी संभावना नहीं है।[२] यद्यपि प्राचीन जातियों में लिंग-पूजा एक धार्मिक वृत्ति का ही प्रतीक थी।[३] परन्तु आर्य ऐसे रहे हों, इसके निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। आर्यों ने शिव से सम्बन्धित उन असुसंस्कृत रूपों को त्यागकर ही उन्हें ग्रहण किया होगा। उनका नटराज रूप सृष्टि की आनंदात्मक प्रक्रिया का प्रतीक है, सृष्टि-चक्र आनन्द-रूप है, नाट्य भी आनन्द-रूप है, रस रूप है।[४] इस रूप में नाट्य के उद्भव में शिव का वर्तमान रूप ही नहीं, प्राक्-आर्य रूप भी अंशतः उत्तरदायी हो तो आश्चर्य नहीं।[५] शिव का नाट्य और नृत्य के उद्भव में योगदान एक स्वीकृत सत्य है।

विष्णु के अवतार राम और कृष्ण—विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण बहुत लोकप्रिय रहे हैं। एक की जीवन-गाथा रामायण में है तो दूसरे की महाभारत एवं श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में। रामायण एवं महाभारत का गायन एवं पाठ सदियों तक भारत एवं बृहत्तर भारत में होता रहा है। भारतीय नाटचोद्भव में इन दो महापुरुषों के जीवन की हृदयस्पर्शी घटनाओं तथा इन वीर काव्यों के पाठ और गायन को असाधारण श्रेय प्राप्त है।

ख्रिष्टाब्द दो-तीन सदी पूर्व पातंजल के महाभाष्य में[६] 'कंसवध' और 'बलिबंधन' नामक नाटकों से हमारा परिचय प्राप्त होता है। दोनों रूपकों का सम्बन्ध कृष्ण-जीवन से है। पतंजलि के अनुसार कंस या बलि का अभिनय करने वाले काले रंग के तथा कृष्ण का रूप धारण करने वाले रक्त वर्ण के होते थे। भास के नाटकों में कृष्ण कथापुरुष तथा वंदना के विषय भी रहे हैं। सदियों से प्रचलित बंगाल की यात्राओं में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला, गोपियों का निःस्वार्थ प्रेम

१. आयंगिसूत्र २।२।१४।

२. *Contributions to the History of Hindu Drama.*
—M. M. Ghosh, p. 6.

३. Primitive religion seeks with Phallic symbolism. Modern religion retains at the imagery and refines the symbol.
—*Religion and Psychology*, p. 15.

४. नाट्यात् समुदाय रूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः।
रस समुदायो हि नाट्यम्। अ० भा० भाग १, पृ० २६०।

५. But whatever may be his actual character in relation to drama, the pre-Aryan Siva's connection with the origin of dramas seems to rest on more or less solid grounds.
—*Contributions to the History of the Hindu Drama*, p. 7.

६. केचिद् कंसभक्ताः भवन्ति केचिद् वसुदेव भक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु'''केचिद् कालमुखाः भवन्ति केचिद्रक्त मुखाः। —पातंजल महाभाष्य ३।१।२६।

और कृष्ण की वीरता का चित्र नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया जाता रहा है। जयदेव के गीत-गोविन्द में इन्हीं प्राचीन यात्राओं के परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं। शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण संप्रदाय का क्षेत्र रहा है, इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिसमें सर्वत्र कृष्ण कथा पुरुष रहे हैं और यह परंपरा ब्रजभाषा काव्यकाल तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती आ रही है। इस प्रकार कृष्ण का मधुर प्रेममय जीवन भक्तिनाट्य और काव्य के क्षेत्र में सृजन का अखंड स्रोत बना रहा है। ऐसी मधुर रसवंती जीवनधारा से नाट्य का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। भारत में प्रचलित होलिकोत्सव की परंपरा ब्रिटेन के प्राचीन युग में प्रचलित 'मे पोल' से मिलती-जुलती है।[1]

राम की जीवन-धारा नाट्योत्पत्ति में सहायक रही है। राम के पाठ और गायन का उल्लेख कर चुके हैं। राम का वीरतापूर्ण दुःखमय जीवन वृहत्तर भारत में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वहाँ के मन्दिरों में राम-जीवन की घटनाएँ चित्रित की गईं और बाद में चलकर रामाधारित तथा अन्य नाटक 'रामनाटक' के रूप में ही प्रसिद्ध हो गये। भास के[2] राम-नाटकों से हम भली-भाँति परिचित हैं। इनमें राम एवं अन्य पात्रों के हृदय में व्याप्त वीरता, करुणा, सौन्दर्य भावना का अपूर्व उन्मेष हुआ है। रामलीला की परंपरा इन्हीं प्राचीन राम-नाटकों के संभवतः अवशेष हैं। एक ओर परिष्कृत बुद्धि के साहित्य-स्रष्टाओं ने नाट्य और काव्य के माध्यम से राम-जीवन का कलात्मक अंकन किया तो दूसरी ओर भक्तिभाव से प्रेरित लोक-परंपरा ने रामलीला जैसे लोक-नाट्यों को जन्म दिया। अतः बौद्ध धर्म के अवतरण से पूर्व ही रामायण का पाठ और गायन भारतीय नाट्य की पूर्णता का पथ प्रशस्त कर रहा था।

बौद्ध और जैन धर्म के विधि-निषेध—बौद्ध और जैन-साहित्य में नाट्य-प्रयोग के प्रेक्षण सम्बन्धी विधि-निषेधों से नाट्य-उत्पत्ति की समस्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रधान सूत्र, पवज्जा सूत्र, अशोक के गिरिनार शिलालेख तथा उरग जातक में 'समाज' के प्रेक्षण का बहुत स्पष्ट निषेध है।[3] जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में भी गीत को 'विलपित' और नाट्य को 'विडम्बित' रूप में मानकर निषेध किया गया है, क्योंकि ये सारे कार्य दुःखावद्ध हैं। राजप्रश्नीय नामक जैनागम में प्रेक्षागृह, मण्डप तथा उसके लिए अन्य सामग्रियों का बहुत स्पष्ट विवरण मिलता है।[4] यह जैनागम भारतीय नाट्य-परम्परा से पूर्णतया परिचित था। दूसरी ओर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों में भी नाट्यसंगीत और नृत्य के प्रति विरोध की वह कठोरता कोमल और शिथिल ही नहीं हो गई है अपितु इन ललितकलाओं के अनुरूप ढलती चली गई है। ललित विस्तर, दिव्यावदान और अवदान शतकों में स्वयं भगवान् बुद्ध 'नाट्यगुणालंकृत'[5] प्रयोक्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं। एक अन्य कथा में नाट्याचार्य बुद्धवेश में और शेष नट भिक्षुवेश में अवतरित होते हैं।[6]

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० ४०-४२, कलकत्ता रिव्यू १९२२, पृ० १६१, १९१३, पृ० १६१, इण्डियन स्टेज पृ० १४। हेमेन्द्रनाथदास गुप्ता।

२. अभिषेक नाटकम् प्रतिभा नाटकम्।

३. न च समाजो कर्तव्यो वहुकम्... गिरिनार शिलालेख अशोकस्तम्भं, उरगजातक सं० १५४।

४. सव्वं विलपियं गीतं, सव्वं नट्टं विडम्बनम्। उत्तराध्ययन १३।१६, तथा राजप्रश्नीय, पृ० ८७-९०।

५. वीणायां वाद्ये नृत्यं गीते—हास्ये लास्ये नाट्ये विडम्बिते... सर्वकर्मकलासु बोधिसत्व एव विशिष्यते स्म। ललितविस्तर, पृ० १०८।

६. अवदानशतक, पृ० १८५-८७।

बौद्धधर्म के इतिहास के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि तथागत के व्यक्तित्व ने जहाँ भित्ति-चित्र एवं प्रस्तर मूर्तियों के कलात्मक सृजन को प्रेरणा दी वहाँ नाट्यकला भी अप्रभावित नहीं रही। आरम्भ में नाट्योत्सव में भाग लेने का निषेध बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में चाहे जितना उग्र रहा हो पर बाद में विरोध की वह बाढ़ उतरी और अन्य भारतीय सम्प्रदायों की तरह नाट्य-सृजन में गति देने लगी। अभी तक के उपलब्ध रूपकों में बौद्ध कवि अश्वघोष का 'सारिपुत्त-प्रकरण' प्राचीनतम प्रकरण है।

वीरकाव्य सामान्य रूप से नाटक, गीत और नृत्य से परिचित थे। महाभारत में नट और शैलूष आदि शब्दों के आधार पर नाट्योद्भव के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष की कल्पना कीथ[1] महोदय को मान्य नहीं है। परन्तु महाभारत का परिशिष्ट हरिवंश रूपक ही नहीं उसके अन्य भेदों से सुपरिचित है। उसमें तो रामायण के नाट्यरूपान्तर, कौवेर रंभामिसार तथा छलिक नृत्यों के प्रयोग तथा पुरस्कार में आभूषण प्रदान का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।[2] कीथ महोदय की दृष्टि से यह विवरण नाट्योत्पत्ति की दृष्टि से उतना प्रामाणिक भले न हो पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि महाभारत के रचनाकाल तक नाटक पूर्णता प्राप्त करने के लिए गतिशील थे। रामायण[3] में तो नाटक, नर्तक, गायक, कुशीलव और वधू नाटक संघों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। महाभारत की अपेक्षा रामायण में नाटक, उसके प्रयोक्ता तथा अन्य सामग्रियों का विवरण बहुत स्पष्ट रूप में मिलता है। अतः रामायण की रचना से पूर्व ही नाट्य का प्रयोग पक्ष अपना रूप धारण कर रहा था। भारत के शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन संप्रदायों तथा उनके प्रवर्तकों ने अपनी जीवन-गरिमा द्वारा नाट्यकला को गति और शक्ति दी। इन धर्मों और संप्रदायों के मूल में महा-पुरुषों का वीररसोद्दीप्त, दयापूर्ण एवं सौन्दर्य-सुरभित जीवन भारतीय कलाओं के लिए अखण्ड स्रोत बन गया। नाट्यकला भी समृद्ध और प्राणवान् हुई। नाट्यकला के उद्भव और विकास में वीर काव्य, बौद्ध और जैन साहित्य तथा उनकी प्रेरक शक्तियाँ और परिस्थितियाँ समान रूप से उत्तरदायी थीं।[4]

नाट्योत्पत्ति-संबंधी अन्य वाद

नाट्योद्भव के विचार के प्रसंग में आधुनिक विद्वानों ने विचार की नयी दिशाओं का भी संकेत किया है। इन विद्वानों ने नाट्य के स्रोत के रूप में पुतली-नृत्य, छाया-नाट्य, मूक-अभिनय तथा प्रेतात्मावाद आदि की परिकल्पना की है। यूरोपीय विद्वानों के नाट्योद्भव-संबंधी विचारों की समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

पुत्तलिका नृत्यवाद—डॉ० पिश्चैल ने नाट्योद्भव के प्रश्न पर विचार करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि प्राचीन भारत में प्रचलित पुत्तलिका नृत्य द्वारा ही कालान्तर में नाटकों का उद्भव हुआ होगा। इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों का प्रसिद्ध पात्र सूत्रधार पुत्तलिकावाद का बहुत

---

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २८, विराट् पर्व ७२।२६।
२. हरिवंश, ६१-६७।
३. रामायण १।५।५२, १।७३।३६।
४. दत्व नाटकानि पेरसामः कुशजातक (५३)।
   राजपुत्त अभिसिंचत्व नाटकानि—उदयजातक (४५८)।

बड़ा प्रवर्तक सिद्ध हुआ है। सूत्रधार नाट्यप्रयोग का संचालक और नियामक होता है और पुत्तलिका नृत्य में नाचती हुई पुतली का सूत्र उसके ही हाथों में होता है। वह मनचाहे ढंग से उसे नचाता है। नाट्य-प्रयोग में सूत्रधार रंगमंच पर प्रस्तावना के क्रम में ही आता है परन्तु उसके बाद नहीं। परन्तु पात्रों के प्रयोग का सारा सूत्र उसी के हाथ में रहता है। इसी साम्य के आधार पर पिश्चेल महोदय ने कल्पना की है कि पुत्तलिका नृत्य का सूत्रधार ही नाटकों में सूत्रधार के रूप में परिणत हो गया।[1]

पुत्तलिका नृत्य की परंपरा—पुत्तलिका नृत्य की परंपरा प्राचीन भारत में थी। इसका उल्लेख महाभारत[2] में मिलता है। कथासरित्सागर की एक कथा के अनुसार पुतली नृत्य के द्वारा अपने प्रिय का मनोविनोद करती थी। वह विलक्षण पुतली बोल सकती थी, उड़ सकती थी, जल और फूल-माला भी ला सकती थी।[3] महाकवि राजशेखर की बाल रामायण में ऐसी पुतली सीता का विवरण मिलता है जो रावण के अनुरोधों का प्रत्युत्तर देती थी। पुतली के मुँह में एक तोता रखा हुआ था। इस पुतली को देखकर रावण को सीता का भ्रम हुआ था। परन्तु पुत्तलिका नृत्य से नाट्य का उद्भव हुआ हो, इस कल्पना में सत्यता और प्रामाणिकता नहीं मालूम पड़ती।

पुत्तलिका नृत्य की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं है कि उसको नाट्योद्भव का स्रोत माना जाय। नाट्य से पुत्तलिका नृत्य की प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है। महाभारत में वर्णित पुत्तलिका नृत्य का विवरण महाभाष्य से प्राचीन न होगा, इसमें सन्देह है। महाभारत में जहाँ नाट्य का विवरण मिलता है वहाँ नट, शैलूष आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। अतः महाभारत का उल्लेख पुत्तलिकावाद की सहायता बहुत दूर तक नहीं करता।

पुतली शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी महत्त्वपूर्ण है (पुत्रिका-पुत्तलिका-पुत्तलिआ-दुहितृका)। यह पांचाली शब्द है, और संभव है स्वयं इसका उद्भव बालक-बालिकाओं के खिलौने के रूप में हुआ हो और वहीं से पुतली नृत्य के रूप में यह परिणत हुआ हो। नाटक के शिल्प से प्रभावित हो बाद में असुसंस्कृत और निम्न स्तर के समाज के लिए जन-पदों में इसका प्रसार हुआ हो।

सूत्रधार की अर्थपरंपरा—'सूत्रधार' शब्द के प्रचलित अर्थ के आधार पर जो यह कल्पना की गई है वह इसीलिए कि 'सूत्रधार' शब्द पुत्तलिका नृत्य की परंपरा से आया होता तो नटी की तरह इसका भी प्राकृत रूप प्रचलित होना चाहिए था। परन्तु यह मूल संस्कृत में ही है। सूत्रधार शब्द का प्रयोग महाभारत में यज्ञ-भूमि को नापने वाले व्यक्ति के अर्थ में हुआ है जो शिल्पागमवेत्ता भी होता था।[4] मुद्राराक्षस में[5] सूत्रधार शब्द का प्रयोग भवन-निर्माता के अर्थ में ही हुआ है। प्राचीन काल से ही सूत्रधार का भवन-निर्माण से सम्बन्ध था। संभव है, वह यज्ञ-

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० ५२।
२. यथादारूमयी योषा नरवीर समाहिताः।
इरयत्यंगंभंगानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ।। महाभारत वनपर्व ३०।२३।
३. कथासरितसागर—संदर्भ-कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० ५२।
बालरामायण : अंक ५, राजशेखर।
४. स्थपति बुद्धि समापन्नो वस्तुविद्या विशारदः। महाभारत इत्यब्रवीत सूत्रधारः सूतो पौराणिकस्तदा।
आदिपर्व ५१।१५।
५. मुद्राराक्षस, अंक २।

भूमि एवं अन्य शालाओं को मापता हो, इसीलिए वह सूत्रधार के रूप में प्रसिद्ध हुआ। नाट्यशास्त्र में नाट्य-मण्डप की रचना के प्रसंग में शुक्ल सूत्र के प्रसारण[1] का उल्लेख हुआ है। महाभारत में 'स्थपति' शब्द सूत्रधार के पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है। स्थापक और सूत्रधार की जिन समान विशेषताओं का विवरण दिया गया है उनमें वास्तुविद्या का उल्लेख तो नहीं है, पर नाना शिल्प-समन्वित वह अवश्य होता है।[2] संभव है नाटकों में प्रयुक्त स्थापक शब्द का विकास उसकी 'स्थपति' वृत्ति से ही हुआ हो। यज्ञशाला और नाट्यशाला दोनों का ही माप बहुत सावधानी और निष्ठा के साथ होता था। अतः सूत्रधार शब्द का संबंध मूल रूप में वैदिक-कालीन यज्ञों से रहा हो। बाद में नाट्ययज्ञों का वह सूत्रधार बन गया। कीथ महोदय का यह प्रतिपादन उचित ही मालूम पड़ता है। नाट्य का सूत्रधार पुत्तलिका नृत्य से प्रभावित नहीं अपितु पुत्तलिका नृत्य का विकास नाट्य के अनुकरण पर समानान्तर हुआ।[3]

सूत और सूत्रधार— महाभारत में प्रयुक्त 'सूत' शब्द के द्वारा एक और विचार को प्रश्रय मिलता है। क्या यह सूत ही सूत्रधार तो नहीं हो गया? और कुशीलव पारिपार्श्विक? सूत वीरकाव्य में नियमपूर्वक पाठ करता था और कुशीलव गान-वाद्य से उसकी सहायता करते थे। कुशीलव को नाट्यशास्त्रकार ने गीतातोद्य-कुशल[4] भी कहा है। रामायण का पाठ 'कुशलव' द्वारा हुआ तो वाद्य का प्रयोग भी साथ में हुआ था। यह संभव है कि उत्तरोत्तर परिष्कृत होते-होते 'सूत' 'सूत्रधार' और 'कुशीलव' 'पारिपार्श्विक' हो गया हो। क्योंकि कुशीलव सूत के साथ निरन्तर रहते थे। रामायण और महाभारत में संवादों की संख्या बहुत है। ये संवाद सूत और कुशीलवों द्वारा गतिशील होते हैं। कथा-प्रवाह के मध्य में 'सूत उवाच', 'युधिष्ठिर उवाच', 'द्रौपदी उवाच' आदि पात्र-संकेत रहता है। नाटकों की प्रस्तावना के क्रम में सूत्रधार भी कवि एवं कथावस्तु आदि का परिचय दिया करता है तथा किस पात्र की क्या भूमिका होगी इसका भी निर्देश करता है। मृच्छकटिक में वह प्राकृत भाषी[5] हो जाता है तथा उत्तररामचरित में उस समय का अयोध्यावासी।[6]

अतः यह संभव है कि पुत्तलिका का सूत्रधार नहीं आर्य काव्यों का उत्तरकालीन 'सूत' ही 'सूत्रधार' के रूप में विकसित हुआ हो और उसी ने नाट्य-प्रयोग का मार्ग प्रशस्त किया हो। जागीरदार महोदय का यह विचार[7] स्वीकार योग्य नहीं मालूम पड़ता है कि वैदिक साहित्य की परंपरा ने नाट्य-उद्भव को प्रश्रय नहीं दिया। इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है कि

---

१. पुष्यनक्षत्रयोगेतु शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत्। ना० शा० २·२६ (का० सं०)।

२. स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधार गुणाकृतिः। वही ५।१६२ (गा० ओ० सी०)।

३. The growth of the dramas doubtless brought with it the use of puppets to imitate it in brief and from the drama came the Vidiusaks not vice versa. —*Sanskrit Drama*, p. 53 (Keith).

४. नानातोद्यविधाने प्रयोगयुक्तः प्रवादनेकुशलः। ना० शा० ३५।८४।

५. एषोऽस्मि कार्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृतः। मृच्छकटिक प्रस्तावना।

६. एषोऽस्मि कार्यवशात् आयोध्यिकस्तदानीन्तनश्च संवृतः। उ० रा० प्रस्तावना।

७. Sanskrit drama took its hero from the Suta and the epics that he recited and never, never, from the religious lore or from the host of Vedic gods. —*Drama in Sanskrit Literature*, p. 40 (Jagirdar).

वीरकाव्यों का पाठ, उसकी संवाद-शैली और कथावस्तु का नाट्योद्भव में बहुत बड़ा श्रेय है। पर वेदों के चतुर्विध नाट्यांग का महत्त्व स्वीकार न करना तथ्य की उपेक्षा ही करना है। नाट्य के विकास के द्वितीय चरण में वीरकाव्यों का योगदान आरंभ हुआ। पर प्रथम चरण की यात्रा की मंगलमय वेला में वैदिक ऋषियों द्वारा प्रणीत संवाद, यज्ञ और कर्मकाण्डगत अभिनय, साम के संगीत भी नाट्योद्भव के वातावरण का सृजन कर रहे थे। वीरकाव्यकाल के आते-आते तो वे स्वयं नाटक, नर्तक आदि से भलीभाँति परिचित हो चुके थे।[1]

छाया नाट्यवाद—'छायानाट्यवाद' का प्रवर्तन प्रो० ल्युडर्स ने किया। प्राचीन भारत में छायानाट्यों का अभिनय होता था, इसका कुछ प्रमाण मिलता है, पातंजल महाभाष्य[2] में ग्रन्थिकों के साथ शौमिकों के कार्य-व्यापार से इसका अनुमान किया जाता है। संभवतः यह छाया-नाट्य का ही संकेत है। पर वह मूक अभिनय का भी तो संकेतक हो सकता है! इन मूक छायाओं को यवनिका के पीछे प्रस्तुत कर उन्हीं के माध्यम से कथावस्तु प्रदर्शित होती थी। प्राचीन भारत में नाट्योद्भव के पूर्व यह शिल्प प्रचलित था और इसीके माध्यम से नाट्य का उद्भव हुआ। यह ल्यूडर्स महोदय का विचार है।[3] उत्तररामचरित में सीता-छाया का प्रवेश इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[4] परन्तु नाट्यशास्त्र अथवा उसके परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में छाया शैली के नाट्य का कोई विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। रत्नावली नाटिका, प्रबोध चंद्रोदय और दशकुमारचरित आदि कृतियों में प्रयुक्त ऐन्द्रजालिक छायानाट्य का सृजन है। निश्चय ही ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि नाट्य-उत्पत्ति के स्रोत के रूप में इनके स्वीकारने का कोई अर्थ नहीं होता।

प्रेतात्मावाद—रिजवे के मतानुसार मृत व्यक्तियों के प्रति उनके सगे सम्बन्धियों के मध्य आदर-सम्मान और प्रशंसा का भाव होता है। प्राचीन काल में मृतात्माओं के सम्मान और शान्ति के लिए कुछ लोग नट बनकर नृत्य-गान आदि का अभिनयपूर्ण उत्सव किया करते थे। रिजवे महोदय की कल्पना है कि इन्हीं श्मशान-उत्सवों के माध्यम से ग्रीस एवं भारत में नाटकों का शुभारंभ हुआ होगा।[5] परन्तु सम्पूर्ण भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटकों का अभिनय मृतात्माओं की शान्ति के लिए किया गया हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। संस्कृत नाटकों के अभिनय, आरंभ से उत्सवों, पर्वों और त्योहारों, आनन्द और मांगलिक प्रतीक रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। अतः रिजवे का मत प्राप्त विवरणों के संदर्भ में स्वीकार योग्य नहीं है।

निष्कर्ष—भारतीय नाट्य के उद्भव के सम्बन्ध में भरत-प्रतिपादित सिद्धान्तों में विविध मतमतान्तरों एवं वादों की समीक्षा की है। उनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भारतीय नाट्य के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ। नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के वीज-रूप इन वेदों में उपलब्ध थे। ऋक् के सम्वाद, यजुष के कर्मकाण्ड आदि के अभिनय, साम से गीत और अथर्व से

१. नट नर्तक संघानां गायकानां च गायताम्।
मनः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः। अयोध्या कांड ६।१४।

२. पातंजल महाभाष्य ३ १ ये तावदेते शोभनिका नामेते प्रत्यक्षं कंसं घातयंति प्रत्यक्षं चवलिं बंधयन्तीति।

३. संस्कृत ड्रामा : पृ० ५३ (कीथ)।

४. उत्तररामचरित, अंक-३।

५. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० ५३, तथा ओरिजिन ऑफ़ ट्रेजेडी : ल्यूडर्स (१९१०)।

प्राण रूप-रस संग्रह हुआ और भारतीय नाट्य अपने आदि रूप में परिपल्लवित हुआ। भरत के इस सिद्धान्त का समर्थन कीथ प्रभृति आधुनिक पाश्चात्य मनीषियों ने भी किया।[1] यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय तो इसका स्पष्ट प्रमाण है कि उसके रचनाकाल तक नाट्य पूर्णरूप से भले ही विकसित न हो पाया हो पर नाट्य, गीत और नृत्य के प्रयोग के लिए अपेक्षित पात्र और रंग-सामग्री बहुत लोकप्रिय हो गई थी। सूत, शैलूष, कारि, वामन, कुब्ज, चित्रकारिणी और रजक आदि पात्र वीणा, तबला और तूणवध्म जैसे वाद्यों का बहुत स्पष्ट विवरण उसमें उपलब्ध है।[2] वैदिक काल में नाट्य के प्रथम चरण का सूत्रपात हुआ।

वैदिक काल के उपरान्त वैदिक देवताओं का प्रभाव मन्द हो चला, विष्णु के अवतार राम और कृष्ण तथा रुद्र के स्थानीय शिव का व्यक्तित्व नये ओज और तेज के साथ समस्त भारत-भूमि पर छाता जा रहा था। वेदों के पाठ-गायन की अपेक्षा वीरकाव्यों की ओर जनता की रुचि बढ़ रही थी। रामायण और महाभारत की ओजस्वी वाणी, प्रेम-निर्भर कथाओं और पवित्र उदात्त प्रेम की भावना ने समस्त भारतीय चेतना को आलोकित कर दिया। भारतीय नाट्य ऋषियों की इस मंगलमय कलापूत वाणी का संस्कार लेकर नये आयाम और नूतन आत्मबोध से प्राणवान् हो उठा। उसे कथा भी मिली, संवाद भी मिले और करुणा, प्रेम और वीररसोद्दीप्त व्यक्तित्वों का तेज, सौन्दर्य और शील का चरम आदर्श भी। वीरकाव्य नाट्योद्भव के विकास का द्वितीय चरण नाट्य की परिपूर्णता का मंगल-चरण था। क्योंकि ईस्वीपूर्व पाँचवीं-छठी सदी की अष्टाध्यायी में नटसूत्र और नाट्याचार्यों का स्पष्ट उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस काल तक नाट्यकला शास्त्र का रूप धारण कर चुकी थी, भाव-विज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति इस पर सूत्रग्रन्थों की रचना हो चुकी थी।[3] पंतजलि ने दो नाटकों, रंगोप-जीवियों, उनकी रूपाजीवा स्त्रियों, तथा नाट्याचार्यों का उल्लेख ही नहीं बड़ा स्पष्ट विवरण भी दिया है। पंतजलि ने नटों और नाट्याचार्यों की हीन-दशा का बड़ा ही स्पष्ट उल्लेख भी किया है, उनकी दृष्टि से नाट्यशास्त्र का अध्यापक आख्याता का सम्मानित पद पाने का अधिकारी नहीं था।[4] पुराणकाल तक आते-आते भारतीय नाट्य पूर्णतया विकसित हो चुका था। वीरकाव्यों में नाटक-नर्तक, गायक और अभिनेताओं का जो स्पष्ट विवरण मिलता है वह भारतीय नाट्य के भावी मध्याह्न काल की दीप्ति की मानो उद्घोषणा थी। हरिवंश तो नाट्य से परिचित ही नहीं तीन-चार अध्यायों में नाट्य-प्रयोग के पूर्ण विवरण, रामायण के नाट्य रूपान्तर और छलिक नृत्य के प्रयोग के कारण भारतीय नाट्य के इतिहास के आलेखन का महत्त्वपूर्ण चरण है।[5] श्रीमद्-भागवत् और मार्कण्डेय पुराणों में नट-नर्तक, गन्धर्वों, संगीत और नाटकों के प्रति पूर्ण परिचय की सूचना मिलती है।[6] नाट्य की पूर्णता के उपरान्त ही संभवतः भगवान् बुद्ध का अवतरण भारत-

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० १७।

२. यजुर्वेद, ३०वाँ अध्याय।

३. पाराशर्य शिलालिभ्भ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः। अष्टाध्यायी ४।३।११०।

४. तद्यथा नटानां स्त्रियो रंगगती यो यः पृच्छति कस्य यूयम् इति तं तं तवेत्याहुः। पातंजल महाभाष्य ३ अध्याय। तथा आख्यातोपयोगे सूत्र पर भाष्य, पतंजलिकालीन भारत, पृ० ४९९-५०४, डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री।

५. हरिवंश पुराण ९३-९७।

६. श्रीमद्भागवत स्कन्द १।११।२१, मार्कण्डेय पुराण २०।४।

भूमि पर हुआ, लोकवासनाओं और सुख-भोगों के प्रति विराग होने के कारण आरम्भ में अशोक एवं बौद्धों ने जो विरोध प्रकट किया हो पर कालान्तर में भगवान् बुद्ध का परम कारुणिक व्यक्तित्व नाट्य एवं अन्य कलाओं के उद्गम का अखण्ड स्रोत बन गया।

आशय यह है कि भारत के महान् गौरवशाली इतिहास की यात्रा में वेद, धर्म, लोक-संस्करण राम, कृष्ण, शिव और बुद्ध एवं महावीर के तेजपूर्ण व्यक्तित्व, उनके संप्रदायों की उदात्त मान्यताएँ, लोकजीवन की विलास-लीलाएँ, ऋतूत्सवों और लोकोत्सवों पर परम्पराओं ने सर्व-लोकानुरंजनी नाट्य विद्या के उद्भव और विकास में योग दिया और हमारे इतिहास में भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास और भवभूति जैसे महान् नाटककारों की गौरवशाली नाट्य कृतियों और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र जैसे आकर कला ग्रंथ का प्रणयन हुआ। यद्यपि इस सुदीर्घ इतिहास में अनगिनत नाट्यकारों और नाट्यवृत्तियों का आविर्भाव हुआ होगा जो अपने अनुसंधान की प्रतीक्षा में हैं। संभव है कालप्रवाह ने उन्हें आत्मसात् कर लिया हो और अनुसंधान की पैनी दृष्टि वहाँ कभी भी पहुँच ही न पायी हो।

रूपकों के विकास का कालक्रम

नाटक और प्रकरण जैसे सर्वांगपूर्ण समृद्ध अनेकांकी रूपकों का विकास सदियों तक विकसित होती हुई नाट्य प्रवृत्ति का परिणाम है। एकाएक ही रूपकों के भेद 'नाटक' और 'प्रकरण' की रचना संभव नहीं है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दस (नाटिका लेकर ग्यारह) रूपक-भेदों का विवरण प्रस्तुत किया है। मनमोहन घोष महोदय ने यह कल्पना की है कि एकांकी रूपकों से अनेकांकी समृद्ध रूपकों के विकास में लगभग बारह सौ वर्षों का समय लगा होगा। उनके विचार से दशरूपक के भेदों में पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होनी चाहिए। प्रत्येक अवस्था के विकास में लगभग ढाई सौ वर्षों का समय होना चाहिए। शेक्सपियर और इब्सन के नाटकों में कालक्रम के अन्तर को देखकर उन्होंने यह अनुमान किया है। अंग्रेज़ी नाटकों के विशिष्ट रूपों के विकास में यदि ढाई सौ वर्षों का समय उपयुक्त है तो संस्कृत रूपकों के विशिष्ट रूपों के लिए बारह सौ वर्षों का समय उचित मालूम पड़ता है।[१] रूपकों के विकास की रूपरेखा निम्नलिखित है :—

(१) एकांकी रूपक—भाण

(२) एकांकी रूपक—वीथी, एक या दो पात्र।

(३) एकांकी रूपक—व्यायोग, प्रहसन तथा उत्सृष्टांक, अधिकपात्र।

(४) त्र्यंकी रूपक—डिम और महामृग, अधिकपात्र।

(५) पाँच से दश अंक के रूपक—नाटक और प्रकरण, अधिकपात्र।[२]

नाट्योत्पत्ति के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में घोष महोदय द्वारा प्रस्तुत इस कृत्रिम प्रक्रिया से यदि हम सहमत न भी हों तो भी इसमें तो (प्राप्त प्रमाणों के आधार पर) कोई संदेह नहीं रह जाता कि भारतीय नाट्य रामायण-काल में प्रयोग का रूप धारण कर चुका था और

१. *Contributions to the History of Hindu Dramas*, p. 8, M. M. Ghosh.

२. Hence the origin of Indo-Aryan dramas probably occurred much before 600 B. C.; when old Indo-Aryan was the only language in constant use among the Aryans.
—*Contributions to the History of Hindu Dramas*, p. 9, M. M. Ghosh.

पाणिनि-काल में नाट्य-रचना और प्रयोग के लिए सूत्र रूप में नाट्यशास्त्र उपलब्ध अवश्य था। अतः ईस्वी पूर्व पाँचवीं और छठी सदी में भारतीय नाट्य के अस्तित्व की हम कल्पना कर सकते हैं। संभव है ये आरंभिक नाटक संस्कृत में ही लिखे गये हों, क्योंकि पाली और प्राकृत को बुद्ध से पूर्व शिष्ट साहित्य का सम्मानपूर्ण पद संभवतः नहीं मिल पाया था। 'पंचरात्र' और 'दूतवाक्य' भास के दो रूपक संस्कृत भाषा में ही लिखे गये, उनमें प्राकृत का प्रयोग नहीं है।

नाट्योद्भव ईस्वी पूर्व छठी सदी में—इन प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह तो हम निश्चित रूप से घोषित कर सकते हैं कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी से पूर्व पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना होने तक नाट्य ही नहीं सूत्र रूप में नाट्यशास्त्र की भी रचना हो चुकी थी। किसी कलाप्रवृत्ति के स्वरूप एवं अन्य विशेषताओं के निर्धारण के लिए शास्त्र की रचना के लिए मूल ग्रन्थों की रचना पहले हो लेती है तब शास्त्र की। पाणिनि में उल्लिखित नट-सूत्रों से कई सदियों पूर्व ही नाट्य-रचना और नाट्य-प्रयोग की परम्परा वर्तमान रही होगी। इस दृष्टि से वीरकाव्य काल में नाट्य अपना रूप धारण कर रहे थे। अनुमान से ईस्वी पूर्व दसवीं सदी वह समय हो सकता है परन्तु यदि यह समय मान्य न भी हो तो छठी सदी में (वीरकाव्य काल में) नाट्य तथा उसके अंग—गीत और वाद्य का प्रयोग समाजों और उत्सवों में प्रचुरता से होता था। यदि पाँचवीं-छठी सदी में शृंगार-प्रधान नाट्य एवं संगीत-कलाएँ नहीं रहतीं तो अर्थशास्त्र में नाट्य-प्रयोग के लिए उपयोगी रंगोपजीवी पुरुष, रंगोपजीविनी गणिकादासियों तथा गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्त और नाट्य के उल्लेख का क्या अर्थ होता।[1] कौटिल्य के काल में रंगोपजीवियों के लिए वेतन की भी व्यवस्था थी।

अतः नाट्योद्भव का अनुमानित समय ईस्वी पूर्व छठी सदी से पहले होना चाहिए। यजुर्वेद में नाट्य के पात्र और अन्य सामग्रियों का उल्लेख उससे और भी पूर्व की ओर संकेत करता है। यह संभव है कि नाट्य-प्रयोक्ताओं में प्रतिभाशाली नाट्याचार्य अथवा कवि उन नाटकों का प्रयोग करते थे परन्तु परवर्ती नाटकों की तरह उनकी रक्षा न हो सकी, और वे हम तक न पहुँच सके।

---

१. गीत वाद्य पाठ्य नृत्त नाट्य—गणिकादासी : रंगोपजीविनीश्च राजमंडलादाजीवं कुर्यात्। गणिका-पुत्रान् मुख्यान्निष्पादयेयुः सर्वेषामपि रंगोपजीविनाम्। —अर्थशास्त्र-गणिकाध्ययो। २७।

तृतीय अध्याय

नाट्यमंडप

१. भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप

२. भारतीय वाङ्मय में नाट्यमंडप

३. यवनिका

४. दृश्यविधान

९

भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमंडप का विवेचन है। प्राचीन रंगशालाओं के नष्ट हो जाने तथा इस ग्रन्थ में पाठ के त्रुटिपूर्ण होने से भरत-कल्पित नाट्यमण्डप का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में इस सम्बन्ध में जो मतमतांतर प्रस्तुत किये हैं तथा आधुनिक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में जो विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है, उन सब के विश्लेषण के आधार पर हम भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

भरत ने आकार की दृष्टि से तीन प्रकार के नाटचमंडपों का विधान किया है : विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट नाट्यमंडप आयताकार, चतुरस्र वर्गाकार और त्र्यस्र त्रिकोण होता है।[1] अणु, रज से हस्त-दण्ड आदि के माध्यम से इन मण्डपों का माप होता है। इन सबका मान भरत ने विधिवत् निर्धारित किया है। अणु सबसे छोटा माप है और दण्ड सबसे बड़ा।[2] चार हस्त का एक दण्ड होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार के नाट्यमंडपों में भी ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ आदि भेदों के आधार पर नौ अथवा अट्ठारह भेदों की परिकल्पना की गई है। परन्तु अभिनवगुप्त इतने भेदों का विस्तार प्रयोग की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं मानते। वह केवल सूक्ष्म शास्त्रीय चर्चा का विषय भले ही हो। ये अट्ठारह भेद हस्त और दण्ड को भिन्न मापदण्ड मान लेने पर होते हैं। अन्यथा 'हाथभर का दण्ड' ऐसी कल्पना कर लेने पर नौ प्रकार के ही नाट्यमण्डप होते हैं।[3] भरत ने उनमें से केवल तीन ही प्रकार के नाट्यमण्डपों का विवरण प्रस्तुत किया है।

भरत ने विभिन्न आकार-प्रकार के जिन तीन नाट्यमंडपों का विवरण प्रस्तुत किया है वे तीनों ही मध्यम श्रेणी के हैं। ज्येष्ठ नाट्यमण्डप देवों के लिए उपयोगी होता है। मनुष्यों के लिए मध्य नाट्यमंडप उपयोगी होता है। ज्येष्ठ नाट्यमण्डप के विशाल होने के कारण पात्र द्वारा उच्चरित पाठ्यांश पात्रों के लिए श्राव्य नहीं होता और न उसकी भावपूर्ण मुद्राएँ दृश्य तथा

१. ना० शा० २।८ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० २।१३-१६ (गा० ओ० सी०)।

३. एवं चाष्टादशभेदास्तावच्छास्त्र दृष्टाः। ते चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनस्तथाऽपि संप्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टाः कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति। —अ० भा० भाग १, पृ० ४६।

अनुभवगम्य ही हो पाती हैं। अतः विप्रकृष्ट का मध्यम प्रकार का प्रतिपादन किया है। पर कठिनाई है चतुरस्र नाट्यमण्डप को लेकर। उसका मध्यम प्रकार भी (६४×६४) विप्रकृष्ट (६४×३२) के मध्यम प्रकार से बड़ा ही होगा और भरत ने इससे बड़े नाट्यमण्डप की रचना का निषेध किया है। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि भरत-प्रतिपादित तीनों प्रकार के नाट्यमण्डपों का क्षेत्रफल आयताकार मध्यम नाट्यमण्डप से छोटा होगा। भरत के अनुसार ३२×३२ हाथ का चतुरस्र नाट्यमण्डप अवर है, मध्यम नहीं और यह आयताकार मध्यम नाट्यमण्डप से छोटा भी होता है।[१] आयताकार के मध्यम तथा चतुरस्र के अवर (कनिष्ठ) नाट्यमण्डप का माप निर्धारित किया गया है पर त्र्यस्र या त्रिकोण का नहीं। अभिनवगुप्त के अनुसार वह आयताकार या वर्गाकार नाट्यमण्डपों के सन्दर्भ में चौंसठ या बत्तीस हाथ का हो सकता है।[२]

विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप—विप्रकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप मनुष्य के लिए उपयोगी तथा सबसे बड़ा होता है। यह आयताकार होता है, लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी होती है। अतः लम्बाई तो चौंसठ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती है। भरत के निर्देश के अनुसार इस नाट्यमण्डप की रचना से पूर्व उस निर्धारित भूमि का परिशोधन स्वस्थ बैलों द्वारा करना चाहिए कि भूमि में अस्थि कील और कपाल आदि अशुभ पदार्थ वहाँ न रहने पाएं। तदनन्तर उजले दृढ़सूत्र की सहायता से भूमि का माप करना चाहिए। माप इस सतर्कता से हो कि सूत्र टूटने न पाए, ऐसा होना परम्परा के अनुसार नाट्यप्रयोग के लिए अमंगलजनक माना जाता था। भरत ने इस आयताकार विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप को दो समान भागों में विभाजित किया है; वह आयताकार नाट्यभूमि ३२×३२ हाथ के दो वर्गाकार भूखण्डों में बँट जाती है। अग्रभाग के ३२×३२ हाथ की वर्गाकार भूमि में प्रेक्षकोपवेशन होता है, तथा शेष ३२×३२ हाथ के पृष्ठभाग में क्रमशः रंगपीठ, रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह के लिए स्थान नियत रहता है। सबसे पीछे १६×३२ हाथ में नेपथ्यगृह के लिए स्थान नियत रहता है और शेष आधे भाग में रंगपीठ, रंगशीर्ष और मत्तवारणी भी होती है। रंगपीठ ही मुख्य रंगभूमि है, जिसके दोनों ओर ८×८ हाथ की मत्तवारणी होती है, अतः रंगपीठ तो १६×८ हाथ के व्यास में फैला होता है और रंगपीठ तथा नेपथ्यगृह के मध्य ३२×८ के व्यास में रंगशीर्ष होता है जहाँ पात्र रंगभूमि पर जान के लिए नेपथ्यगृह से आकर प्रस्तुत होते हैं तथा प्राम्पिटंग तथा अन्य बहुत से नाट्य-व्यापार भी होते हैं जो मुख्य रंगभूमि पर प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित नहीं होते।[३]

रंगपीठ : रंगशीर्ष—विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप में रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा मत्तवारणी के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में बहुत अधिक मतमतांतर हैं। यह विशेषकर नाट्यशास्त्र के पाठ तथा अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के कारण है। वी० राघवन् तथा मन्कद महोदय तो अभिनवगुप्त की परम्परा में रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक् स्थिति स्वीकार करते हैं जब कि मनोमोहन घोष तथा सुब्बाराव प्रभृति विद्वान् रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक् स्थिति स्वीकार न कर उन्हें पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि से नाट्यमण्डप पर रंगपीठ

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली (१९३२), पृ० ४८३।

२. अ० भा० भाग १, पृ० ७०।

३. ना० शा० २।१०-२१, ३३-३५, रंगपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रंगशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम्॥ —ना० शा० २।६८

से भिन्न रंगशीर्ष की स्थिति नहीं है। उनकी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त की एतत्सम्बन्धी मान्यता त्रुटिरहित नहीं है। रंगशीर्ष और रंगपीठ की वस्तुस्थिति का सम्बन्ध मूलग्रंथ के पाठ पर ही निर्भर करना चाहिए। रंगपीठ और रंगशीर्ष की एकता के समर्थन में उनके तथा सुब्बाराव के निम्नलिखित तर्क हैं[१]:—

(अ) रंगमंडप की रक्षा के संदर्भ में नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में 'रंगपीठ' का दो बार प्रयोग हुआ है, रंगशीर्ष का नहीं।[२]

(आ) विभिन्न आकार-प्रकार के नाट्यमंडपों का विवरण देते हुए भरत ने रंगशीर्ष का प्रयोग किया है न कि रंगपीठ का।[3]

(इ) आयताकार विप्रकृष्ट मध्य नाट्यमंडप में मिट्टी भरने तथा उसके धरातल को सुन्दर एवं परिष्कृत बनाने के प्रसंग में रंगशीर्ष का तीन बार प्रयोग हुआ है, रंगपीठ का नहीं। अत: रंगपीठ का रंगशीर्ष से पृथक् अस्तित्व नहीं है।

(ई) त्र्यस्र नाट्यमण्डप के विधान के प्रसंग में दो बार रंगपीठ शब्द का प्रयोग हुआ है, रंगशीर्ष का नहीं।[४]

घोष महोदय तथा सुब्बाराव प्रभृति विद्वान् उपर्युक्त आधारों पर रंगपीठ को रंगशीर्ष से पृथक् नहीं मानते। उनकी दृष्टि से संपूर्ण रंगभूमि मुख्य रूप से तीन ही बार विभाजित होती है। सबसे पीछे एक-चौथाई में नेपथ्यगृह तथा रंगशीर्ष और तीन-चौथाई में प्रेक्षकोपवेशन रहता है। सुब्बाराव महोदय तो रंगशीर्ष के लिए १६ × ३२ हाथ का स्थान निर्धारित करते हैं और उनकी दृष्टि से रंगशीर्ष पर मत्तवारणी के लिए स्थान निर्धारित नहीं है। मूलग्रंथ के प्रतिकूल यह विचार-धारा है।[५]

आचार्य अभिनवगुप्त ने रंगशीर्ष और रंगपीठ की पृथकता का प्रतिपादन किया है।[६] डी० आर० मन्कद, वी० राघवन् और आचार्य विश्वेश्वर प्रभृति विद्वान् आचार्य अभिनवगुप्त के विचारों के अनुयायी हैं। रंगभूमि के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कल्पना की है कि रंगमंडप मानवाकार उत्तान सोया हुआ हो। प्रेक्षकोपवेशन कटि से पाँव तक का विस्तृत भाग है। रंगपीठ कटि के ऊपर वक्षस्थल या पृष्ठ का मध्य भाग है। रंगपीठ और नेपथ्य के मध्य का रंगशीर्ष मानो नाट्यरूपी मानवशरीर का शिरोभाग है। इसी अर्थ में रंगशीर्ष यह नाम भी उपयुक्त होता है। इसका व्यास ८ × ३२ हाथ हो, यह आवश्यक नहीं है। मध्य में ८ × ८ हाथ वेदिका के लिए निर्धारित होता है। शेष में पात्र विश्राम करते हों तथा प्रभाववृद्धि के अन्य साधन एवं उपादान रहते हों। मनकद महोदय ने अभिनवगुप्त के विचारों के आधार पर रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथकता के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिया है[७]—

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ५६१, १९३३। —म० मो० घोष।

२. ना० शा० २।३४-३५, २।१००।

३. ना० शा० २।७ २-७५।

४. ना० शा० २।१०२-१३।

५. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ५६२, १९३३। म० मो० घोष तथा अभिनव भारती: भूमिका, पृ० ४३५, सुब्बाराव, द्वि० सं०।

६. ना० शा० २।६८, १२।२-३, (रंगपीठ तच्छिरसोर्मध्ये, अ० भा० भाग १, पृष्ठ २१०।

७. हिन्दू थियेटर डी० आर० मनकद, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली १९३३, पृ० ४८४-५।

(अ) रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों भिन्न पदों का एक ही श्लोक में उल्लेख,

(आ) रंगशीर्ष का विप्रकृष्ट नाट्यमण्डप में उन्नत तथा चतुरस्र में सम होना,

(इ) रंगशीर्ष और रंगपीठ के मध्य यवनिका की स्वीकृति तथा नाट्यमण्डप की मानव-शरीर से अनुरूपता।

राघवन् महोदय भी अभिनवगुप्त के विचारों से पूर्णतया सहमत हैं। उन्होंने घोष महोदय की मान्यता का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के अतिरिक्त प्रथम अध्याय में भी नाट्यमण्डप के अनेक अंगों का उल्लेख है, उसमें रंगपीठ तथा वेदिका का उल्लेख होना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसी वेदिका में अग्नि अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्थापित होती है। यह वेदिका ही रंगशीर्ष है और रंगपीठ के पृष्ठभाग में ८ × ८ हाथ के वर्गाकार व्यास में यह मानव के शीर्षाकार में उठी हुई है। पूर्वरंग के प्रसंग में यहीं पर रंगपूजा होती है। अतः रंगशीर्ष रंगपीठ से भिन्न है।[1] मन्कद और राघवन् महोदय रंगशीर्ष का व्यास क्रमशः ८ × ३२ तथा ८ × ८ हाथ मानते हैं, अन्य बातों में दोनों के विचारों में समानता है।[2] आचार्य विश्वेश्वर ने अभिनव भारती की टीका में[3] मूलग्रन्थ की अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'रंगशीर्ष प्रकल्पयेत्' इस नवीन पाठ की परिकल्पना की है। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इस न्याय के अनुसार रंगपद से रंगपीठ और शीर्षपद से रंगशीर्ष का ग्रहण होगा। इससे समस्या का समाधान तो हो जाता है, पर अभिनवगुप्त प्राचीन पाठ के आधार पर ही रंगपीठ और रंग-शीर्ष की पृथक्ता की कल्पना करते हैं। डॉ० याज्ञिक और सी० वी० गुप्त प्रभृति विद्वान् रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथक्ता की स्थापना तो करते हैं पर अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया है।[4]

विद्वानों में रंगपीठ और रंगशीर्ष की पृथकता के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। अभिनवगुप्त की मान्यता के अतिरिक्त मूलग्रन्थ के २।३४-३५ में जो अस्पष्टता हो परन्तु २।६८ में रंगपीठ और रंगशीर्ष इन दोनों का पृथक् उल्लेख दोनों की पृथक्ता का स्पष्ट सूचक है। नाट्य-प्रयोग की व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से भी दोनों की पृथकता ही उचित है।[5] रंगपीठ तो मुख्य रंगभूमि है जहाँ पर पात्र अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं। रंगशीर्ष को दो उपयोग हैं। ८ × ८ हाथ के व्यास में बनी वेदिका पर रंगपूजा होती है, शेष दोनों भागों में नेपथ्य से विभिन्न वेषभूषा से सुसज्जित हो पात्र अपनी भूमिका में प्रस्तुत होने के लिए प्रतीक्षा में रहते हैं। प्रतीक्षा और विश्राम की इस रंगभूमि के प्रसाधन के लिए 'शुद्धादर्शतरमाकार' का विधान किया है। क्योंकि रंगभूमि के इस मनभावन परिवेश में पात्रों की अभिनयकुशलता को मानो और भी प्रेरणा मिलती है। अतः नेपथ्य और रंगपीठ के मध्य ऐसी रमणीय रंगभूमि की कल्पना उचित ही है और भरत के विचारों के अनुरूप भी।

रंगशीर्ष और षड्दारुक की संयोजना—रंगशीर्ष के प्रसाधन के लिए षड्दारुक, नेपथ्य-

---

१. वेदिका रचयेत् वह्निः। ना० शा० १।८५, ६८, ६९, ७०।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, वी० राघवन्, पृ० ६९१ (१९३३)।

३. हि० अ० भा०, पृ० २९४-५।

४. इण्डियन थियेटर : पृ० ४० याज्ञिक; तथा इण्डियन थियेटर, पृ० ३४, सी० वी० गुप्त।

५. रंगपीठं ततः कार्यम्, रंगशीर्षं तु कर्त्तव्यं। ना० शा० २।६८।

गृह की ओर दो द्वार, रंगशीर्ष की भूमिका शुद्ध आदर्शतरम की तरह समतल होना तथा उस भूमि का नाना रंगों के रत्नों के जड़ने का विधान किया है। अभिनव भारती के अध्ययन से प्रतीत होता है कि षड्दारुक के सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। प्रथम मत के अनुसार रंगशीर्ष के पृष्ठभाग में आठ तथा चार हाथ की दूरी पर चार स्तम्भ रहते हैं तथा एक लम्बी शहतीर इन स्तम्भों के ऊपर और नीचे रखी रहती है, इस तरह 'षड्दारुक' की योजना होती है। द्वितीय मत के अनुसार उतने ही स्तंभ और काष्ठखंड होते हैं पर स्तंभ स्थान की दूरी में कुछ अन्तर की कल्पना की गई है। तृतीय मत के अनुसार षड्दारुक की कल्पना अत्यन्त समृद्ध है। इस मत के अनुसार काष्ठशिल्प की छः विधियों—उह, प्रत्यूह, निर्व्यूह, संजवन, अनुवंध और कुहर का प्रयोग होता है। इन काष्ठों पर कलात्मक लताबंध आदि की मनोहर नक्काशी की जाती थी।[1] तीसरा मत काष्ठशिल्प कला की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान् है। राव महोदय ने (अभिनव भारती के प्रथम भाग के अन्त में) षड्दारुक की भिन्न कल्पना की है, उनके विचार से रंगपीठ रंगभूमि की निचली सतह है 'रंगशीर्ष' उसकी ऊपरी छत। रंगशीर्ष में छः काष्ठखण्ड इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि वह दृढ़ हो तथा नाट्य-प्रयोग के क्रम में मारपीट, उठापटक के भयानक प्रदर्शनों में वह यथावत् रहे तथा उच्चरित पाठ्य भी पूर्णतया प्रतिध्वनित हो प्रेक्षकों तक पहुँच सके। निःसन्देह राव महोदय की कल्पना का आधार है आधुनिक भवन-निर्माण कला का विकसित विज्ञान तथा अभिनवगुप्त की मान्यता का आधार है प्राचीन भवन-निर्माण कला की अपरिमित ज्ञानराशि। दोनों ही की दृष्टि नाट्य की उपयोगिता और सौन्दर्य के उत्कर्ष की ओर है।

मत्तवारणी—मत्तवारणी के संबंध में भरत ने यह परिकल्पना की है कि वह रंगपीठ के पार्श्व में हो, उसी के प्रमाण के अनुरूप हो, उसमें चार स्तंभ हों। वह डेढ़ हाथ ऊँची हो तथा उन दोनों (ओर की मत्तवारणी) के तुल्य रंगमंडप (रंगपीठ या प्रेक्षकगृह) होना चाहिए।[2] इन प्रमाणों के अनुसार उसकी रचना वेदिका के पार्श्व में होनी चाहिए। मत्तवारणी के भरत निरूपित विधान में कई प्रकार की अस्पष्टताएँ हैं। 'रंगपीठस्य पार्श्वे' के पाठ के अनुसार यह मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों ओर होती है या एक ही पार्श्व में! मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँची हो पर किससे, यह भी अनिर्णीत-सा रह जाता है। क्योंकि यदि रंगपीठ के दोनों ओर हो तो रंगपीठ का व्यास १६ × ८ हाथ न होकर ८ × ८ हाथ हो जाता है, यदि यह मत्तवारणी वर्गाकार न होकर रंगशीर्ष की वेदिका के पार्श्व तक फैली हो तो यह आयताकार होती है। इनके संबंध में प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों में परस्पर विभिन्न मान्यताएँ हैं। हम उनकी समीक्षा करते हुए कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

विभिन्न आचार्यों की मान्यताएँ—मत्तवारणी शब्द का प्रयोग प्रायः कोशग्रंथों, साहित्य-ग्रंथों में नहीं मिलता। यह 'मत्तवारण' शब्द पुल्लिग है। इसी पुल्लिग शब्द का प्रयोग सुबन्धु और दामोदर गुप्त ने भी किया है। शब्दकल्पद्रुम में इसका अर्थ 'वरण्डा' से अभिप्रेत है। आप्टे महोदय के मतानुसार इस शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक मतंगज, दूसरा मत्तों को वारण करने

---

१. अ० भा० भाग-१, पृ० ४४४। सुब्बाराव।

२. रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी। चतुः स्तम्भसमायुक्ता रंगपीठ प्रमाणतः॥
अध्यर्ध हस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी॥
उत्सेधेन तपोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमंडपम्। ना० शा० २।६३-६५।

वाला प्रासाद और वीथियों का वरण्डा।[1] परन्तु ऐसी परंपरा होने पर भी आचार्य अभिनवगुप्त एवं अन्य आचार्यों ने स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' शब्द का भी 'वरण्डा' के अर्थ में प्रयोग किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार मत्तवारणी के दो अर्थ होते हैं। देवमंदिरों में प्रदक्षिणा भूमि की तरह नाट्यमंडप के चारों ओर फैली हुई आठ हाथ की यह भूमि ही मत्तवारणी होती है अथवा रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में ८ × ८ हाथ के वर्गाकार व्यास में फैली समचतुरस्र भूमि मत्तवारणी होती है।[2] द्वितीय मत अभिनवगुप्त को अभिप्रेत मालूम पड़ता है। क्योंकि रंगपीठ ही समस्त नाट्यव्यापार का केन्द्र होता है; उसका मत्तवारणी से नीचा होने का कोई अर्थ नहीं है।[3] अतः रंगपीठ के प्रमाण के अनुरूप तथा उसके दोनों पार्श्वों में होती है। परन्तु मत्तवारणी से संबंधित श्लोक में एकवचनांत 'पार्श्वे' शब्द के प्रयोग के कारण रंगपीठ के सम्मुख मत्तवारणी का विधान किया है, और वह रंगपीठ के दोनों ओर का 'वरण्डा' नहीं अपितु 'मत्तगजों की श्रेणी' रंगपीठ के सम्मुख शोभा-समृद्धि के लिए अंकित रहती है। यह चित्रित मत्तवारणी इन्द्र के ऐरावत के प्रतीक के रूप में वर्तमान रहती है। मत्तवारणों की यह श्रेणी चार स्तंबों से बँधी रहती है। यह कल्पना समृद्ध तो है ही, एकवचनांत 'पार्श्वे' शब्द का समाधान भी हो जाता है।[4] आचार्य विश्वेश्वर ने सम्बद्ध श्लोक में 'पार्श्वे' के स्थान पर 'पार्श्वयोः' और मत्तवारणी के स्थान पर पुल्लिग द्विवचनान्त 'मत्तवारणौ' का पाठ स्वीकर किया है। पाठ-परिवर्तन से मूलपाठ के सौन्दर्य में क्षति पहुँचती है और अभिनवगुप्त के मतानुरूप भी यह नहीं हो पाता।[5]

उपर्युक्त मतों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य अभिनवगुप्त का मत ही व्यावहारिक प्रतीत होता है। एकवचनांत 'पार्श्वे' शब्द के प्रयोग के कारण जो भ्रम उत्पन्न होता है उसका भी अन्य श्लोक में 'तयोः' यह द्विवचनान्त पाठ उपलब्ध होने के कारण दो मत्तवारणियों का स्पष्ट विधान हो जाता है। रंगपीठ के दोनों ओर की यह मत्तवारणी समचतुरस्र होती है, ८ × ८ हाथ के वर्गाकार भूमि में फैली रहती है। यह न तो रंगपीठ के सम्मुख होती है और न आयताकार ही। अतः सुब्बाराव की 'मत्तगजों की श्रेणी' अथवा विश्वेश्वर द्वारा नवीन पाठ की परिकल्पना की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः अभिनवगुप्त की मान्यता ही उचित है। डी० आर० मन्कद, वी० राघवन् तथा याज्ञिक महोदय भी इसी मत से सहमत हैं।[6]

मत्तवारणी का स्तर—मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में वर्गाकार भूमि में रहती है, रंगभूमि के वह बाहर नहीं होती। पर उसका स्तर क्या होता है यह मूलपाठ में अस्पष्ट-सा है। स्वभावतः प्राचीन एवं आधुनिक आचार्यों में मतमतांतर है। मूलपाठ में अस्पष्ट-सा निर्देश है कि वह डेढ़ हाथ ऊँची हो, पर किससे ! रंगपीठ या प्रेक्षकोपवेशन से ? आचार्य अभिनवगुप्त ने इस संबंध में तीन मत उपस्थित किये हैं—रंगपीठ से डेढ़ हाथ ऊँची हो, आधा हाथ ऊँची हो,

---

१. संस्कृत-इंग्लिश प्रैक्टिकल डिक्शनरी, पृष्ठ ४१६, मत्तवारणयो वरण्डकाः वासवदत्ता-सुबन्धु दिव्य धराधरभूमिरिव राजति मदपारणोपेता—कुट्टनीमत।
२. अ० भा० भाग १, पृष्ठ ६०-६५।
३. हिन्दू थियेटर, पृष्ठ ४८५।
४. अ० भा० भाग १, पृष्ठ ४४१ (द्वि० सं०)।
५. हि० अ० भा०, पृष्ठ ३१२।
६. हिन्दू थियेटर : डी० आर० मनकद, पृष्ठ ५०, वी० राघवन् : इ० हि० क्वा०, पृष्ठ ६६३ (१६३३)।

रंगपीठ और दोनों मत्तवारणियों की ऊँचाई तुल्य हो। घोष महोदय ने तो प्रेक्षकोपवेशन और मत्तवारणी दोनों को समान स्तर का प्रतिपादित किया है और रंगपीठ को दोनों की अपेक्षा नीचा। आचार्य विश्वेश्वर ने यहाँ भी अर्थ की संगति के लिए पाठ-परिवर्तन स्वीकार किया है। उन्होंने नाट्यशास्त्र २।६१ में रंगमंडप के स्थान पर 'रंगपीठकम्' तथा अभिनव भारती के रंगपीठकम् के स्थान पर 'रंगमंडप' यह पाठ संशोधित किया है।[1] ऐसा पाठ स्वीकार कर लेने पर दोनों मत्त-वारणियों के तुल्य रंगपीठ तथा रंगमंडप की अपेक्षा मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँची होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि मत्तवारणी और रंगपीठ दोनों का स्तर एक होता है। प्रेक्षकगृह का आसन निम्नस्तर का भी हो सकता है।

चतुरस्र नाट्यमंडप—भरत के अनुसार चतुरस्र नाट्यमंडप वर्गाकार ३२ × ३२ हाथ का होता है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई दोनों समान हैं।[2] इस चतुरस्र समतल भूमि का विभाजन सूत्र के द्वारा होता है। पकी हुई ईंटों से भित्ति-रचना होती है।[3] उसके उपरान्त इस वर्गाकार चतुरस्र नाट्यमंडप में चौबीस स्तम्भों की रचना होती है, जो नेपथ्यगृह से प्रेक्षकगृह तक निश्चित दूरी पर रहते हैं। ये स्तम्भ पुत्तलिकाओं से अलंकृत रहते हैं। उन पर कमल के पुष्प अंकित होते हैं तथा वे इतने दृढ़ होते हैं कि ऊपर की छत को धारण कर सकें। इस चतुरस्र समतल नाट्य-मंडप के मध्य आठ हाथ वर्गाकार भूमि का रंगपीठ होता है, और उसके दोनों पार्श्वों में १२ × ८ हाथ की आयताकार भूमि में चार स्तम्भों वाली मत्तवारणी सुशोभित रहती है। चतुरस्र का रंगशीर्ष सम होता है[4] और विप्रकृष्ट की ही तरह रंगपीठ के पृष्ठभाग में चतुरस्र का नेपथ्यगृह ८ × ३२ हाथ में रहता है और प्रेक्षकोपवेशन १२ × ३२ हाथ में। वस्तुतः भरत ने रंगपीठ को छोड़ नाट्यमंडप के किसी अन्य अंग-उपांग का माप नहीं दिया है परन्तु रंगपीठ तथा विप्रकृष्ट मध्य नाट्यमंडप के विवरण के आधार पर अन्य की भी परिकल्पना की जाती है।[5]

त्र्यस्र नाट्यमंडप—त्र्यस्र नाट्यमंडप त्रिकोण होता है। चतुरस्र के अनुसार ही इसकी भित्ति एवं स्तम्भ-रचना होगी। इसका रंगपीठ मध्य में होता है और त्रिकोण। इस नाट्यमंडप में दो द्वार तो रंगपीठ के पृष्ठभाग में होते हैं, जिससे नेपथ्यगृह से पात्र प्रवेश कर सकें और एक द्वार विप्रकृष्ट और चतुरस्र नाट्यमंडप की तरह रंगपीठ के सम्मुख प्रेक्षकगृह में सामाजिक जन के प्रवेश के लिए होता है। द्वार के विवेचन के प्रसंग में ही अभिनवगुप्त ने छः द्वारों का उल्लेख भी किया है। नेपथ्य और रंगशीर्ष भी त्रिकोण ही होते हैं।[6] त्र्यस्र नाट्यमंडप का माप भरत ने नहीं

---

१. रंगपीठापेक्षया (रंगमंडपापेक्षया) सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय (संशोधित पाठ) हि० अ० भा० पृ० ३१८-९।

२. समन्ततश्च कर्त्तव्या हस्ताः द्वात्रिंशदेवतु। ना० शा० २।८६।

३. बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा। ना० शा० २।८९।

४. अष्टहस्तं तु कर्त्तव्यं रंगपीठ प्रमाणतः। चतुरस्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम्। ना० शा० २।९८।

५. ना० शा० २।१००।

६. त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्त्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्येत्रिकोणमेवास्य रंगपीठं तु कारयेत्।
द्वारं तेनैव कोणेन कर्त्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयं चैव कर्त्तव्यं रंगपीठस्य पृष्ठतः।
ना० शा० २।१०२-३ (गा० ओ० सी०)।

प्रस्तुत किया है। परन्तु अभिनवगुप्त ने अनुमान किया है कि विप्रकृष्ट मध्यम नाट्यमंडप की तरह इसकी प्रत्येक भुजा ६४ हाथ और चतुरस्र नाट्यमंडप के समान ३२ हाथ की हो सकती है।[1]

नाट्यमंडप के कुछ अन्य अंग—नाट्यमंडप के मुख्य भाग रंगपीठ और रंगशीर्ष के रचना-विधान के उपरान्त भरत ने नाट्यमंडप से संबंधित अन्य अंगोपांगों की रचना का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन विधियों में भित्ति-कर्म, दारू-कर्म, स्तम्भ-रचना, द्वार-रचना और प्रेक्षकों की आसन-प्रणाली मुख्य हैं।

भित्ति-रचना—नाट्यमंडप का आधार तो भित्ति ही है। इसी भित्ति में स्तंभ, नागदन्त (खूंटी), वातायन तथा द्वार आदि की रचना होती है। भित्ति ऐसी हो जिसमें वातायन छोटे हों, पवन मन्द-मन्द बहे, वेग से नहीं। सम्मुख द्वार न हो कि उच्चरित शब्द प्रतिध्वनित नहीं होने पाए। द्वार और वातायन की रचना द्वारा नाट्य-प्रयोग अधिकाधिक श्राव्य हो सके, तथा उच्चरित स्वरों को गम्भीर-स्वरता प्राप्त हो।[2] नाट्यमंडप की भित्ति चारों ओर से श्लिष्ट ईंटों से बनी हो।[3]

भित्ति प्रसाधन—भरत ने भित्ति-प्रसाधन का अत्यन्त कलात्मक और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। भित्ति-रचना के उपरान्त भित्ति-लेप तथा सुधाकर्म (चूना पोतना) करना चाहिए। अभिनवगुप्त के मत से भित्ति-लेप का कार्य शंख, बालू और सितुहा आदि के चूड़े से होना चाहिए।[4] नाट्यमण्डप की भित्ति के चारों ओर से परिमृष्ट तथा अत्यन्त शोभन हो जाने पर चित्र-रचना का विधान है। चित्रकर्म में सुन्दर नर-नारी, हरे-भरे वृक्षों के आलिंगन-पाश में बँधी सुकुमार लताएँ तथा मानव-जीवन के भोग-विलास की सुकोमल भावनाएँ उन सुन्दर भित्तियों पर अंकित हों।[5] भित्तियों के इस प्रसाधन-विधान को देखकर मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के वैभवशाली प्रासादों और वीथियों में पनपती सुकुमार विलास-लीलाओं की स्मृति उभर उठती है।

भरत ने विकृष्ट नाट्यवेश्म के लिए भित्ति का यह विधान किया है। पर निःसंदेह चतुरस्र नाट्यमण्डप की भित्ति भी इसी साज-सज्जा से निर्मित होती है।

स्तम्भ-रचना—भरत ने दृढ़ नाट्य-मण्डपों की रचना के लिए भित्तियों के साथ स्तम्भों के स्थापन एवं रचना का भी विधान किया है। स्तंभ-स्थापन की विधि के प्रसंग में चारों वर्णों के स्तंभों के मूल में स्वर्ण, रजत, ताम्र और लौह आदि धातुओं के रखने का विधान है। विभिन्न नाट्य-मण्डपों में कुल कितने स्तंभ हों, यह स्पष्ट नहीं है। भरत ने इन स्तंभों का विधान चतुरस्र नाट्यमण्डप के विवरण के प्रसंग में किया है। भरत के अनुसार तो चतुरस्र नाट्यमण्डप के लिए केवल २४ स्तंभों की आवश्यकता है जिनमें से दस स्तंभ तो प्रेक्षागृह में 'सोपानाकृति' आसनों

१. उभयानुग्रहाच्च विकृष्टचतुरस्रमानद्वयमेव भवति। अ० भा० भाग १, पृष्ठ ७०।

२. तस्मान्निवातः कर्त्तव्यः कर्तृभिः नाट्यमण्डपः।
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति। ना० शा० २।८१ ख; ८२ क (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० २।८६।

४. अ० भा० भाग १, पृ० ६४।

५. भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः।
चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा।
लताबंधाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्॥ ना० शा० २।८३-८५क (गा० ओ० सी०)।

के बाहर होंगे। शेष छः स्तंभ पूर्वस्थापित स्तंभों से चार-चार हाथ के अन्तर पर दक्षिण और उत्तर की ओर होने चाहिए। इन सोलह स्तंभों के अतिरिक्त शेष आठ स्तंभों की भी स्थापना करनी चाहिए जिन पर आठ हाथ के स्तंभ भी रखे हों।[१]

स्तम्भों की स्थापना और संख्या—आचार्य अभिनवगुप्त ने इन स्तम्भों के स्थापन के सम्बन्ध में आचार्य शंकुक, भट्ट लोल्लट, वार्तिककार तथा भट्टतौत के मतों को प्रस्तुत किया है, क्योंकि स्तंभ के सम्बन्ध में भरत के विचार पर्याप्त स्पष्ट नहीं हैं। पर इन चारों आचार्यों की स्तम्भ-स्थापना-सम्बन्धी मान्यताएँ भी परस्पर-विरोधी हैं और अंशतः अस्पष्ट भी। शंकुक ने ३२ × ३२ हाथ के वर्गाकार नाट्यमण्डप को शतरंज के फलक की तरह समान आकार के ६४ चतुष्कोणों में विभाजित किया है। शंकुक की कल्पना के अनुसार छः स्तम्भ रंगपीठ के पृष्ठभाग तथा ६ अग्रभाग में हैं। शेष बारह प्रेक्षकोपवेशन में समान दूरी पर रहते हैं।[२] परन्तु भट्टलोल्लट और वार्तिककार की स्तम्भ-कल्पना अधिक उपयोगी मालूम पड़ती है, क्योंकि ये दोनों आचार्य तो चार ही स्तम्भों को प्रेक्षकगृह में स्थान देते हैं, शेष बीस में से छः-छः रंगपीठ के पृष्ठ और अग्रभाग में तथा छः को नेपथ्यगृह में स्थान देते हैं।[३] प्रेक्षकगृह में स्तम्भों की न्यूनता के कारण प्रेक्षकों को नाट्य-प्रयोग देखने में सुविधा होती है। भट्टतौत की दृष्टि से तो प्रेक्षकगृह में बारह स्तम्भ, तथा रंगपीठ के पृष्ठ एवं अग्रभाग में चार-चार स्तम्भ तथा शेष चार नेपथ्यगृह में स्थापित होते हैं। अभिनवभारती के त्रुटिपूर्ण पाठ के कारण इन आचार्यों के विचार पर्याप्त स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने इन त्रुटियों को दूर कर संशोधित पाठ स्वीकार किया है।[४]

स्तम्भों का प्रसाधन—आचार्य अभिनवगुप्त ने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि ये स्तम्भ परस्पर आठ हाथ की दूरी पर न हों।[५] ये स्तम्भ मंडप (छत) तथा शहतीर धारण करने के कारण दृढ़ तो हों ही, पर उन पर पुत्तलिकाओं के मनोहर चित्र भी अंकित हों जिससे नाट्यमण्डप में सुन्दरता और सुरुचि का वातावरण हो।[६] यह स्तम्भ-विधान तो विशेष रूप से चतुरस्र नाट्यमण्डप के लिए है पर विकृष्ट नाट्यमण्डप का आकार बड़ा होने से उसमें अधिक स्तम्भों की आवश्यकता होती है। अभिनवगुप्त ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये २४ स्तंभ तो षड्दारुक पर स्थापित स्तम्भों के अतिरिक्त हैं। अतः चतुरस्र में अट्ठाइस तथा विप्रकृष्ट में उससे भी अधिक स्तम्भों की स्थापना होती है। पर त्रिकोण प्रेक्षागृह में स्तम्भों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है।[७]

द्वार-रचना—भरत ने रंगशीर्ष के पृष्ठ भाग में स्थित नेपथ्य गृह में दो द्वारों का सबसे पहले

१. ना० शा० २।६३।

२. अष्टभिः भागैः सर्वतः क्षेत्रं विभजेत् तेन चतुरंगफलकवत्।
चतुः षष्ठि कोष्ठम् भवति। अ० भा० भाग १, पृ० ६५।

३. अन्येतु-'अष्टौ स्तंभान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहुः। अ० भा० भाग-१, पृष्ठ ६६।

४. हि० अ० भा० (संशोधित पाठ), पृ० ३६१-६२, अ० भा० ६७।

५. अ० भा० भाग १, पृ० ६७ तथा हि० अ० भा०, पृ० ३७६।

६. ना० शा० २।६५।

७. विकृष्टे स्तंभानामाधिक्यमभ्यनुजानीते (?) अ० भा० भाग १, पृ० ६८।

विधान किया है।[1] ये दोनों द्वार नेपथ्यगृह एवं रंगशीर्ष को विभाजित करने वाली भित्ति में बनाये जाते हैं। अतः रंगशीर्ष के पृष्ठभाग में नेपथ्यगृह की दीवार में दो द्वारों की कल्पना नितान्त स्पष्ट है। ये दोनों द्वार तो अपरिहार्य हैं। परन्तु यदि रंगपीठ और रंगशीर्ष पृथक् हैं और दोनों ही किसी यवनिका से नहीं अपितु भित्ति से विभाजित हों तो नेपथ्यगृह से प्रविष्ट पात्र तो रंगशीर्ष पर ही रहते हैं, उनके आने का द्वार रंगपीठ के पृष्ठभाग में होना चाहिए कि पात्र रंगपीठ पर प्रवेश कर सकें। भरत ने पुनः एक स्थल पर द्वार का विधान किया है। यह भी नेपथ्यगृह के सम्बन्ध में ही है। रंगपीठ पर प्रवेश के लिए एक द्वार हो तथा जन-समाज के प्रवेश के लिए एक द्वार प्रेक्षकगृह में रंगपीठ के सम्मुख हो।[2] नाट्यशास्त्र २।६६ में 'द्वार' शब्द एकवचनांत है। त्र्यस्र नाट्यमण्डप में कोण-स्थान तथा रंगपीठ के पृष्ठभाग में द्वारों का विधान है।[3] पुनश्च कक्ष्या विभाग में भी भरत ने नेपथ्यगृह की भित्ति में दो द्वारों का विधान किया है।[4] भरत का द्वार-विधान कुछ अस्पष्ट-सा होने के कारण अनेक मतमतांतरों का कारण बना हुआ है।

नाट्यमण्डप में तीन द्वार—यदि भरत-निरूपित द्वार-विधान को यथावत् स्वीकार किया जाये तो तीन द्वारों की परिकल्पना होती है। एक प्रेक्षकगृह में जन-प्रवेश के लिए तथा दो नेपथ्यगृह में रंगपीठ पर आने के लिए। निःस्संदेह नाट्यमण्डप का यह अत्यन्त प्राचीन रूप है, जब यव(म)निका का प्रयोग रंगशीर्ष और रंगपीठ के मध्य नहीं किया जाता होगा। तीन द्वार की संभावना का संकेत आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में दिया भी है। परन्तु यह अविकसित नाट्यमण्डप का संकेत करता है।[5] अभिनवगुप्त ने एकवचनान्त 'द्वार' शब्द को राशिवाचक माना है। इस प्रकार नेपथ्यगृह में दो 'द्वार' की कल्पना नितान्त उपयुक्त मालूम पड़ती है। पर अन्य आचार्यों के मत से तीन द्वार नाट्यमण्डप पर होते हैं।

नाट्यमंडप में चार एवं छः द्वार—आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रेक्षकों, पात्रों एवं नाट्य-प्रयोग की सुविधा को दृष्टि में रखकर चार द्वारों की परिकल्पना भरत के अनुसार की है। उनके विचार से पात्र-प्रवेश के लिए दो द्वार नेपथ्य-गृह में, जन-प्रवेश के लिए एक द्वार प्रेक्षक-गृह में तथा सूत्रधार एवं उसके परिवार के (प्रयोक्ता आदि) के प्रवेश के लिए नेपथ्य-गृह के पृष्ठभाग में एक द्वार की रचना होने पर कुल चार द्वार नाट्य-गृह में होते हैं।[6] आचार्य अभिनवगुप्त को चार

---

१. कार्यं द्वार द्वयंचात्र नेपथ्यगृहकस्यतु। ना० शा० २।६६क (गा० ओ० सी०)।

२. द्वारं चैकं भवेत्तत्र रंगपीठ प्रवेशनम्।
जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेवतु॥ ना० शा० २।६६-६७ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० २।१०३, वही।

४. ना० शा० १३।२, वही।

५. रंगपीठस्य यत् पृष्ठं रंगशिरः तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षया एकवचनम्।
तेन द्वारद्वयमेव रंगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय। चकारदन्यप्रवेशार्थम्।
जनप्रवेशनंद्वारं। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति संगृहीतं भवति। अ० भा० भाग-१, पृ० ६८।

६. जनप्रवेशनं च तृतीय द्वारं नेपथ्यगृहस्य।
येन भार्यामादाय नटपरिवारः प्रविशति।
अन्येतु द्वारवृत्त्या सामाजिक जन-प्रवेशनार्थं एवं चतुर्द्वारं नाट्यगृहम्।
अ० भा० भाग १, पृ० ६६।

द्वारों की परिकल्पना ही अभीष्ट है। यद्यपि उन्होंने अपने मत के उपरान्त अन्य आचार्य के मतानुसार छः द्वारों का भी उल्लेख किया है, जिसमें दो द्वारों की रचना दोनों पार्श्वों में प्रकाश के लिए की जाती है।[1] शेष द्वार पूर्ववत् होते हैं।

डी० आर० मनकद की परिकल्पना—डी० आर० मनकद महोदय ने अन्य सब आचार्यों से भिन्न नाट्यमण्डप के लिए पाँच द्वारों की परिकल्पना की है। उन्होंने अभिनवगुप्त के विचारों से सहमत होते हुए नाट्यशास्त्र के २।९६ में प्रयुक्त एकवचनान्त द्वार शब्द को राशिवाचक माना है। परन्तु वे दो द्वार नेपथ्यगृह में रंगपीठ पर पात्र-प्रवेश के लिए, दो द्वार मत्तवारणी और रंगशीर्ष की विभाजक भित्ति में और एक द्वार जन-प्रवेश के लिए प्रेक्षकगृह में स्वीकार करते हैं। उनके विचार से नाट्यमण्डप में यवनिका का प्रयोग स्वीकार करने पर ही पाँच द्वारों की परिकल्पना होती है। परन्तु यवनिका का प्रयोग न भी होता हो तो रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य की भित्ति में इन द्वारों की परिकल्पना की जा सकती है। अभिनवगुप्त की अपेक्षा इनकी कल्पना सर्वथा भिन्न है।[2]

द्वार सम्बन्धी निषेध—भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही तीन से छः द्वारों की परिकल्पना की गई है। इस सम्बन्ध में भरत के निषेध भी महत्त्वपूर्ण हैं। भरत ने नाट्यमण्डप के लिए कुछ द्वारों का निषेध भी किया है। इसका निश्चित उद्देश्य है। सम्मुख द्वार होने से नाट्यमण्डप 'निर्वात' और 'गंभीर-धीर शब्दवान्' नहीं हो पाता। फलतः पात्रों द्वारा उच्चरित पाठ्य प्रतिध्वनित नहीं हो पाते। अतएव भरत ने 'द्वारविद्ध' नाट्यमण्डप का निषेध किया है। द्वार के सम्बन्ध में विहित विधि-निषेध नाट्य-प्रयोग की उपयुक्तता को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। इन द्वारों के माध्यम से सामाजिक एवं पात्रों का प्रवेश तथा अपेक्षित प्रकाश की व्यवस्था होती थी, परन्तु द्वारों की रचनाशैली ऐसी होती थी कि पात्रों द्वारा उच्चरित वाक्य गुंजित भी हों।[3]

दारुशिल्प—नाट्यमण्डप की रचना के प्रसंग में भरत ने काष्ठ-शिल्प के प्रयोग का भी विधान किया है। काष्ठ का प्रयोग दृढ़ता और सुन्दरता के लिए नाट्यमण्डप के कई महत्वपूर्ण स्थानों पर होता था। स्तंभों की रचना, स्तंभ-द्वारों पर तोरणों के विधान, छतों के लिए शहतीर तथा प्रेक्षकोपवेशन की रचना में काष्ठ का प्रयोग होता था।[4] काष्ठ का प्रयोग उपयोगी तो होता ही था। परन्तु भरत की दृष्टि सौन्दर्य की ओर थी। अतः उन्होंने विविध शैलियों में रचित जालियों, झरोखों और काष्ठ-निर्मित वातायनों की बड़ी ही सुन्दर परिकल्पना की है। काष्ठ-स्तम्भों तथा शहतीर आदि पर नर-नारी के मनोहर चित्रों, भोग-विलास की सुकुमार प्रतिछवियों के अंकन का विधान है।[5] उह, प्रत्यूह, निर्व्यूह और संजवन आदि छः काष्ठ-विधियों के ललित प्रयोग का निर्देश है। समस्त नाट्यमण्डप, विशेषकर रंगपीठ और

१. अन्ये त्वाधद्वार (द्वयमि) वार्धेन हेतुनाऽन्यद्वारद्वयं पार्श्वस्थितं।
कुर्यादालोकसिद्ध्यर्थमिति षड्द्वारं नाट्यगृहमाचक्षते। अ० भा० भाग १, पृ० ७०।

२. हिन्दू थियेटर : डी० आर० मनकद—इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४९१।

३. कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत्। ना० शा० २।८०-८२ (गा० ओ० सी०)।

४. रंगशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुक समन्वितम्। वही २।६८ ख।
इष्टकदारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्। वही २।९१।

५. ना० शा० २।७५ ख तथा ७७-७८।

रंगशीर्ष को चारों ओर से मनोहर प्रतिछवियों से अंकित काष्ठों से सुसज्जित रहना चाहिए। नाट्यशास्त्र में दारुकर्म के सम्बन्ध में दिये गये निर्देश बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। भरत-काल के नाट्य-मण्डप में काष्ठ का कलात्मक प्रयोग प्रचुरता से होता था।

आसन-रचना प्रणाली—नाट्यशास्त्र में प्रेक्षकगृह की आसन-विधि अत्यन्त संक्षिप्त है। स्तम्भ-रचना के प्रसंग में ही प्रेक्षकोपवेशन की रचना का विधान प्रस्तुत किया गया है। भरत के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भट्टतौत तथा वार्तिककार के मतों का भी आकलन किया है।

'सोपानाकृति' आसन-प्रणाली—प्रेक्षकोपवेशन में आसनों की रचना स्तम्भों के बाहर होनी चाहिये, जिससे रंगपीठ पर अभिनीत दृश्य बिना बाधा के प्रेक्षक देख सकें। ये ईंट और लकड़ियों के बने हुए हों। परन्तु आसनों की पंक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे से एक हाथ ऊपर उठती हुई हों। आसनों के स्वरूप सोपानाकृति हों।[1] भरत की इस मान्यता का समर्थन भट्टतौत ने भी किया है कि सोपानाकृति उपवेशन-शैली रहने से प्रेक्षक एक-दूसरे को आच्छादित नहीं कर पाते। रंगपीठ पर प्रस्तुत सब दृश्य बड़ी सरलता से देख पाते हैं। भट्टतौत ने 'शैलगुहाकार' और 'द्विभूमि' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में इस आसन-रचना-विधि का विशेष रूप से व्याख्यान किया है।[2] वार्तिककार का भी मत भट्टतौत के मत से आश्चर्यजनक साम्य रखता है।[3] सम्भव है, वार्तिककार के मत का ही उपबृंहण भट्टतौत ने किया हो। आसन-रचना-प्रणाली का किंचित् संकेत मत्तवारणी के प्रसंग में भी मिलता है। वहाँ पर प्रयुक्त 'रंगमण्डप' शब्द यदि प्रेक्षकोपवेशन का बोधक हो तो 'मत्तवारणी' तथा 'प्रेक्षकोपवेशन' का स्तर एक हो जाता है। क्योंकि रंगपीठ की ऊँचाई के तुल्य प्रेक्षकोपवेशन का अन्तिम आसन है और मत्तवारणी तथा रंगपीठ का स्तर एक ही है। डी० आर० मन्कद महोदय ने भी अभिनवगुप्त की इसी मान्यता का समर्थन किया है।[4]

नाट्यमंडपों पर छत—भरत ने नाट्यमंडप के प्रधान अंगोपांगों के विवरण के प्रसंग में 'छत' के सम्बन्ध में मौन ही धारण किया है। ये भारतीय नाट्यगृह छतदार थे या प्राचीन ग्रीक नाट्य-गृहों की तरह ये ऊपर से खुले हुए थे? भरत ने छत का पृथक् विधान तो नहीं किया है परन्तु भित्ति-रचना में वातायनों की न्यूनता, मंडप-धारण में स्तंभों की दृढ़ता, नाट्य-मंडप की धीर-शब्दता तथा शैलगुहा के-से आकार के नाट्य-मंडप की परिकल्पना से नाट्य-मंडपों के छतदार होने का समर्थन होता है। यदि नाट्य-मंडप छतदार नहीं होते तो वातायन से प्रकाश आने की कल्पना क्यों की जाती। यदि स्तंभों के ऊपर मंडप नहीं होते तो उनके दृढ़ होने का क्या

---

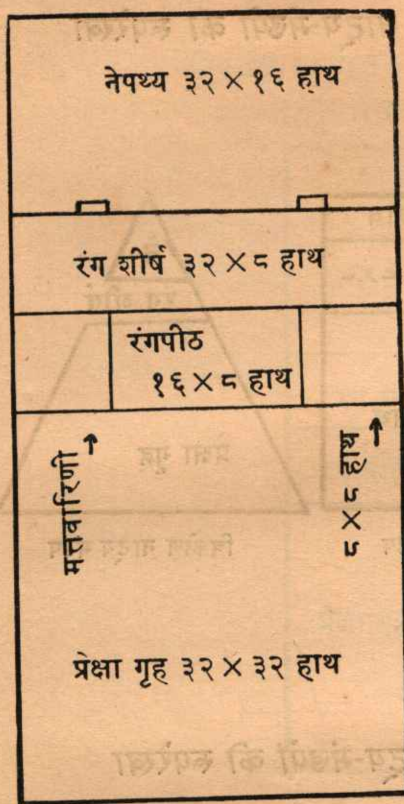
१. स्तंभानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टकदारुभिः कार्यं प्रेक्षकानां निवेशनम्।
हस्तप्रमाणैः उत्सेधैः भूमिभाग समुत्थितेः।
रंगपीठावलोक्यं तु कुर्यादारानडां विधिम्॥ ना० शा० २।६० ख, ६२ क (गा० ओ० सी०)।

२. उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भम् व्याचक्षते, द्वे द्वे भूमी यत्र निम्नोन्नते
ततोऽप्युन्नता इति निम्नोन्नतक्रमेण रंगपीठ निकटात् प्रभृतिद्वार—
पर्यन्तं यावद्रम्गपीठोत्सेधतुल्या भवतीति। एवं हि परस्परानाच्छादनं हि सामाजिकानाम्।
अ० भा० भाग १, पृ० ६४।

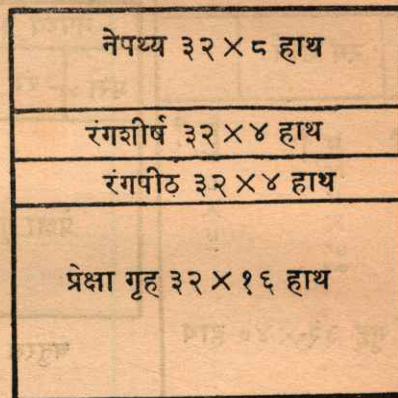
३. सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समन्तो रंगे।
येनानाच्छादनया स्यादालोकस्तु रंगस्य। हि० अ० भा०, पृ० ३६२।

४. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४८५, १९३२ (संशोधित पाठ)।

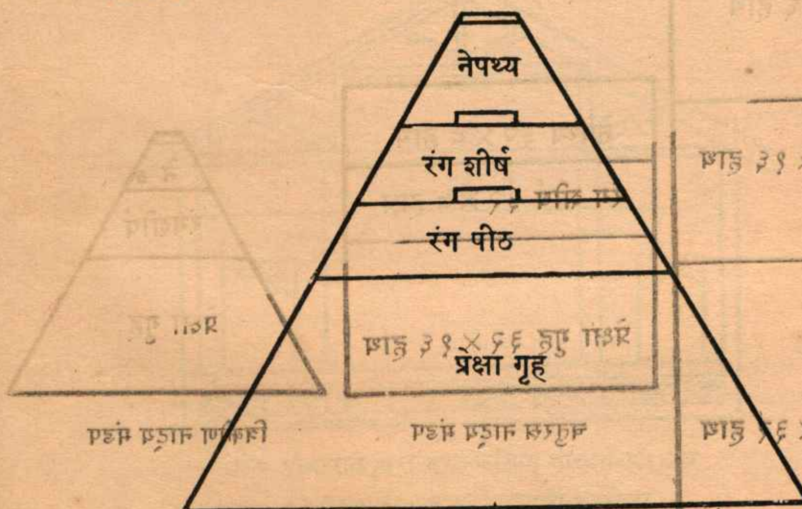
भरत के अनुसार नाट्य मंडपों के विभिन्न रूप



विप्रकृष्ट मध्य नाट्य मंडप

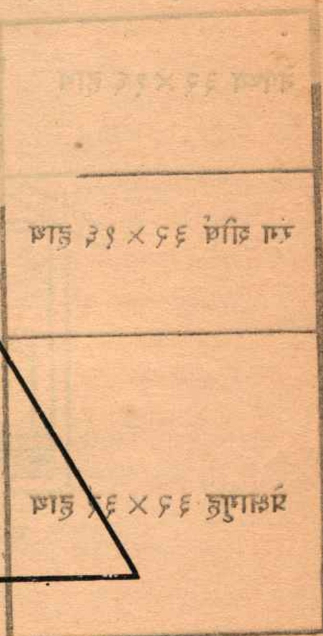


चतुरस्र नाट्य मंडप



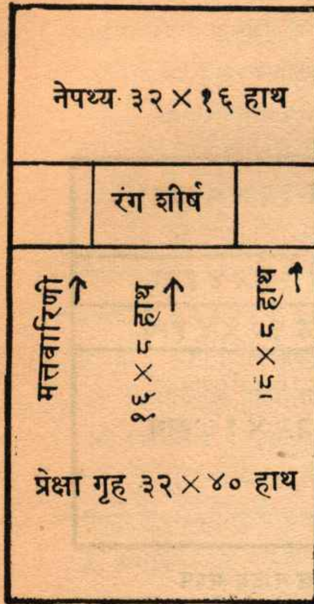
त्रिकोण नाट्य मंडप

माप—१ इंच = ८० हाथ

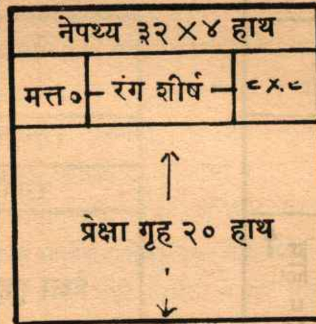


आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से नाट्य मंडपों के विभिन्न रूप

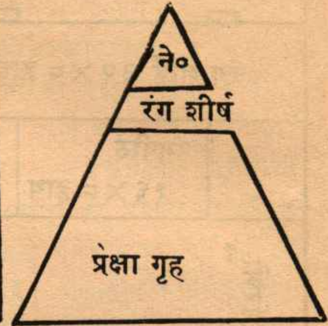
एम० एम० घोष द्वारा भरत-कल्पित नाट्य-मंडपों की रूपरेखा



विप्रकृष्ट मध्य नाट्य मंडप

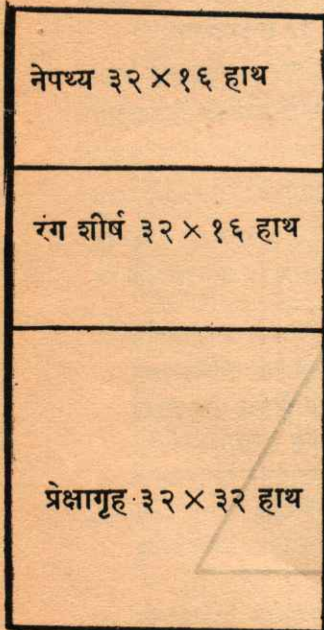


चतुरस्र नाट्य मंडप

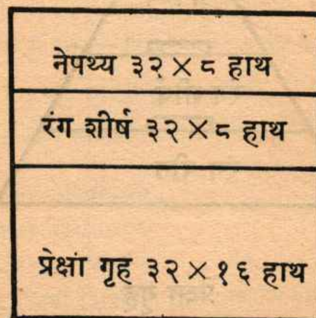


त्रिकोण नाट्य मंडप

सुब्बा राव द्वारा भरत-कल्पित नाट्य-मंडपों की रूपरेखा



विप्रकृष्ट मध्य नाट्य मंडप



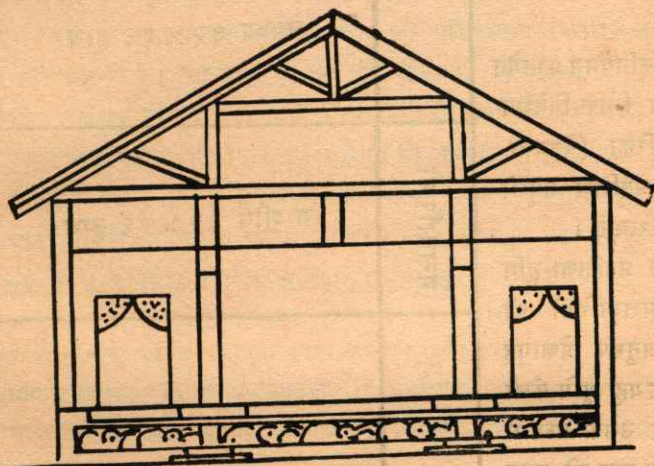
चतुरस्र नाट्य मंडप



त्रिकोण नाट्य मंडप

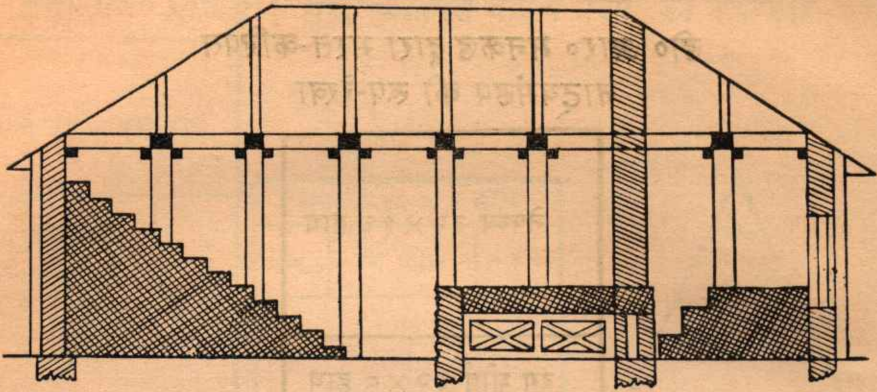
डी० आर० मनकड द्वारा भरत-कल्पित
नाट्यमंडप की रूप-रेखा

नेपथ्य ३२ × १६ हाथ
रंग शीर्ष ३२ × ८ हाथ
रंग पीठ ३२ × ८ हाथ
प्रेक्षा गृह ३२ × ३२ हाथ



प्रो० सुब्बाराव द्वारा भरत-कल्पित मत्तवारिणी और
षट्दारुक की एक कल्पनाशाली रूप-रेखा

अभिनव भारती के अनुसार नाट्य मंडपों के विभिन्न रूप



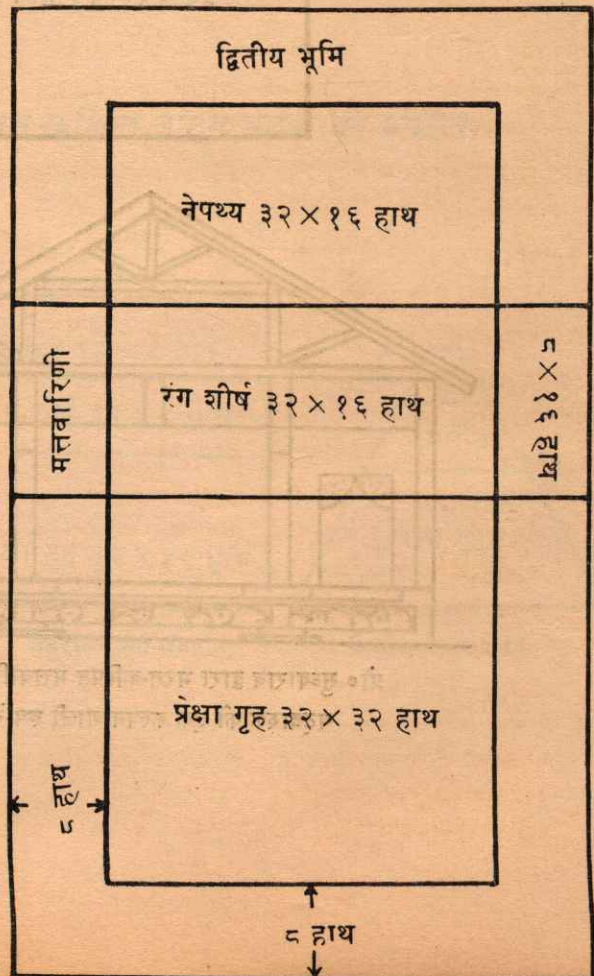
उपाध्यायास्तु वीप्सागर्मं व्याचक्षते। द्वे द्वे भूमि यत्न निम्नोन्नते ततोऽप्युन्नता इति निक्रमेण (निम्नोन्नतक्रमेण) रंगपीठनिकटात्प्रभृति द्वारपर्यन्तं यावद्रंगपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति। एवं हि परस्परानाच्छादनं सामाजिकानाम्। शैल-गुहाकारत्वं स्थिरशब्दादित्वं च भवति।

अ० भा०, पृ० ६५।

आचार्य भट्टतौत के अनुसार—द्विभूमि नाट्यमण्डप।

मत्तवारणी बहिर्निगमन प्रभागेन सर्वतो द्वितीय भित्ति-निवेशेन देवप्रसादाद्वारिका (देवप्रसादाट्टालिका) प्रदक्षिण सदृशो द्वितीया भूमिरित्यन्ते।
देव-मंदिरों की प्रदक्षिणा-भूमि की तरह मत्तवारिणी की चौड़ाई के अनुरूप प्रेक्षागृह के चारों ओर यह भूमि फैली रहती है और उसके मध्य में रंग-मंडप शैल-गुहा की तरह मालूम पड़ता है।

—अ०भा०भाग-१, पृ० ६४।



अर्थ होता है ? छत होने पर ही उच्चरित पाठ्य प्रतिध्वनित होता है। और यदि ऊपर छत न हो तो पर्वत की गुफा के समान उनका आकार ही कैसे होता ! अतएव भरत-प्रतिपादित नाट्यमंडप पर छतों की रचना का निश्चित रूप से विधान किया गया है।[१]

'शैलगुहाकार' नाट्यमंडप—पर्वत-गुफाओं में शब्द प्रतिध्वनित होते हैं, उसीके अनुरूप 'शैलगुहाकार' नाट्यमंडप में उच्चरित पाठ्य प्रतिध्वनित होते हैं। राव महोदय के मत से 'शैलगुहाकार' और 'द्विभूमि' शब्दों का प्रयोग भरत ने रंगपीठ के ऊपर की छत 'रंगशीर्ष' के लिए किया है। रंगशीर्ष की ऊपरी छत विषम-स्तर है, समस्तर नहीं। यदि रंगशीर्ष समस्तर हो तो आवाज़ टकराकर रंगपीठ पर ही चली आएगी। इसीलिए भरत ने 'विषमस्तर रंगशीर्ष' की परिकल्पना की है, कि उच्चरित पाठ्य 'विषमस्तर, द्विभूमि, शैलगुहाकार', 'रंगशीर्ष' से प्रतिध्वनित हो प्रेक्षकोपवेशन की ओर प्रसारित हो। राव महोदय की यह कल्पना अत्यन्त समृद्ध एवं नाट्य-प्रयोग की श्राव्यता की दृष्टि से विचारपूर्ण है एवं मूल्यवान् भी।[२]

द्विभूमि नाट्यमंडप—अभिनवगुप्त ने नाट्य की 'द्विभूमि' के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों की अनेक कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक मत के अनुसार रंगपीठ के ऊपर और नीचे की भूमि 'द्विभूमि' होती है। दूसरे मत के अनुसार मतवारणी की चौड़ाई के अनुरूप नाट्यमंडप के चारों ओर देवालयों की प्रदक्षिणा भूमि के समान भित्ति की एक और परिखा घेर दी जाती है। यह रंगपीठ के पार्श्व में भी होती है। यही 'द्विभूमि' होती है। तीसरे मत के अनुसार रंगपीठ के ऊपर एक और मंडप की रचना होती है, यही द्विभूमि होती है। चौथे मत के अनुसार भरतप्रयुक्त 'शैलगुहाकारोद्विभूमि' इन दो शब्दों का संधि-विच्छेद 'शैलगुहाकारः+अद्विभूमि' इस रूप में कर दोमंजिले नाट्यमंडप का विरोध किया गया है।[3] भरत-प्रयुक्त 'शैलगुहाकारोद्विभूमि' के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त से पूर्व ही अनेक मान्यताएँ प्रचलित थीं।

आचार्य अभिनव गुप्त के उपाध्याय भट्टतौत की परिकल्पना विलक्षण तथा आधुनिक प्रेक्षागृहों के बहुत अनुरूप है। भट्टतौत के मत से 'द्विशब्द', 'वीप्सागर्भ' है। नाट्यमंडप में रंगपीठ के निकट से प्रेक्षकोपवेशन के द्वार तक नीची-ऊँची दो प्रकार की भूमि का क्रमशः नीचे से ऊँचाई की ओर सीढ़ीनुमा (सोपानाकृति) आसनों की रचना होती है। ये आसन क्रमशः रंगपीठ की उँचाई के समान हो जाते हैं। इस द्विभूमि आसन व्यवस्था से सामाजिक परस्पर एक-दूसरे को आच्छादित नहीं कर पाते। नाट्यमंडप का भीतरी आकार भी शैलगुहा की तरह हो

१. (क) मंदवाता यत यनोपेतो निर्वातो धीर शब्दवान्। ना० शा० २।८१, क
(ख) शस्वा मंडप धारणे २।६०, दृढ़ात्मंडपधारणे। २।६५ (ना० शा०)
(ग) कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडपः। २।८१ ख (ना० शा०)

२. In modern construction language it means simply that the theatre must have a roof and that this roof must be gable-roof hipped at ends and not a flat roof.

Abhinava Bharati; Vol. I, p. 447, Prof. D. Suba Rao.

३. द्वे भूमी रंगपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेतिकेचित्।
मतवारणी बहिर्निगमन प्रमाणेन सर्वतो द्वितीयमिति निवेशेन
देवप्रसादाट्टालिका प्रदक्षिणा सदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये।
उपरिमंडपनिवेशनादित्यपरे। अद्विभूमिरित्येके। अ० भा० भाग १, पृ० ६३-६४।

जाता है। इस शैली में निर्मित नाट्यमंडप में उच्चरित स्वर प्रतिध्वनित भी होते हैं।[१]

'शैलगुहाकार' और अद्विभूमि नाट्यमंडप के सम्बन्ध में प्राचीन एवं आधुनिक नाट्याचार्यों की परिकल्पनाएँ आकर्षक हैं और नाट्यप्रयोग के लिए नितान्त उपयोगी भी। भट्टतौत एवं अभिनवगुप्त निम्नोन्नत आसन-विधि, किसी आचार्य की दो-मंजिले नाट्यमंडप की परिकल्पना तथा सुब्बाराव महोदय की विषम-छत प्रणाली सब प्राचीन भारतीय रंगमंडप की उन्नतिशालिता का संकेत करते हैं। अभिनवगुप्त और राव महोदय द्वारा प्रस्तुत 'शैलगुहाकार' और 'अद्विभूमि' की परिकल्पनाएँ यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु प्रभाव की दृष्टि से एक ही उद्देश्य का समर्थन करती प्रतीत होती हैं, कि नाट्यमंडप का आभ्यन्तर आकार ऐसा हो कि उच्चरित शब्द प्रेक्षकोपवेशन तक प्रतिध्वनित हों।[२]

भारतीय वाङ्मय में नाट्यमंडप

नाट्यशास्त्र में नाट्यमंडप का जैसा विस्तृत विधान भरत ने प्रस्तुत किया है उसकी तुलना में अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नाट्यमंडप सम्बन्धी विवरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। पर उनका महत्त्व नाट्य के उद्भव और विकास की दृष्टि से ही है। वैदिक संहिताओं से भावप्रकाशन तक के विविध ग्रन्थों में नाट्यमंडप के जो वृत्त उपलब्ध हैं वे प्रायः अनुमान पर ही आधारित हैं। स्वतंत्र रूप से नाट्यमंडप का पूर्व विवरण बहुत कम ग्रन्थों में उपलब्ध है। हम यहाँ उनकी सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

वैदिक और लौकिक साहित्य में नाट्यमंडप—यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में नाट्य के सूत, शैलूष, कारी (विदूषक), वामन, चित्रकारिणी आदि अनेक नाटकीय पात्र तथा वीणा, तबला और मजीरा आदि वाद्यों का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण उस प्राचीन वैदिक युग में ऐसे नाट्यमंडप की परिकल्पना कर सकते हैं जहाँ इन पात्रों और विविध नाट्योपयोगी सामग्रियों का एकत्र प्रयोग होता हो।[3] वाल्मीकि रामायण में वधू नाटक संघों और नाटकों तथा रंगशालाओं का बहुत स्पष्ट उल्लेख है।[४] पातंजल महाभाष्य में रंगमंडप पर नटों की स्त्रियों द्वारा परस्पर परिहास तथा उनकी चारित्रिक दुर्बलता का उपहास प्रस्तुत किया गया है।[५] अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

---

१. उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भं व्याचक्षते।
द्वे द्वे भूमी यत्र निम्नोन्नते ततोऽप्युन्नता निम्नोन्नतक्रमेण रंगपीठनिकटात् प्रभृति द्वारपर्यन्त यावद्रंगपीठोत्सेधतुल्या भवति एवं हि परस्परानाच्छादनं हि सामाजिकानाम्। शैलगुहाकारत्वात् स्थिरशब्दत्वं च भवति। अ० भा० भाग १, पृ० ६३-६४ (द्वि० सं०)।

२. तत्रैव शब्दस्य भ्रमणात् अन्योन्य प्रतिश्रुतिकार समारंभ सम्पूर्णाच्च
अ० भा० भाग १, पृ० ६४।
तथा—
The accoustical property of a Jable roof is to reflect the sound from the stage to the audience in the auditorium and that of the flat roof is to reflect the sound back again to the stage.
Abhinava Bharati, p. 447, Vol. I, Prof. D. Suba Rao, 2nd Edition.

३. यजुर्वेद ३०।६, १०, १४, २०, २१।

४. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड ५।१२, अयोध्याकाण्ड ६।१४।

५. तयानटानां स्त्रियो रंगगता यो यः पृच्छति कस्य यूयम् इति तं तव तवेत्याहुः। पातंजलमहाभाष्य ७।

पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनमें नाट्यशाला का स्पष्ट उल्लेख है। अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रचार अधिकरण में विहारशालाओं का वर्णन है जिन पर रंगोपजीवी अभिनेता नाट्य, नर्तन और गायन करते थे। कौटिल्य ने ग्रामों में प्रेक्षणशालाओं की रचना का निषेध किया है। नाट्यमंडप और नाट्यमण्डली इतने सुसंगठित थे कि अभिनेताओं को संभवतः नियमित वेतन भी मिलता था।[1] कामशास्त्र में उन प्रेक्षागृहों का उल्लेख है जो सरस्वती मंदिरों के साथ ही बने होते थे। इनमें कुशीलव समजों (उत्सवों) का आयोजन किया करते थे।[2]

बौद्ध और जैन साहित्य भी नाट्यमंडप के सम्बन्ध में नितांत मौन नहीं हैं। आरंभिक साहित्य में इस ललित कला के प्रति निषेध का आग्रह चाहे जितना कठोर रहा हो, पर बाद में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की सुकुमार कलावृत्ति इधर उन्मुख हो चली। अवदान शतक में रूप-यौवन मदमत्ता नर्तकी अपने गान और नृत्य से बोधिसत्व को ही मुग्ध करना चाहती थी। उक्त कथा में बौद्ध नाटक के प्रयोग का उल्लेख है। बोधिसत्व स्वयं नाट्याचार्य तथा अन्य नट बौद्ध पात्रों के रूप में अवतरित होते हैं। इनसे बौद्ध युग में नाट्यमंडप के होने की पुष्टि होती है।[3] पर जैन धर्म के राजप्रसेनीय सूत्र में तो नाट्यमंडप के स्तंभ, अर्द्धचन्द्राकार तोरण, शालभंजिका भित्तिलेप और चित्र रचना आदि का भी विस्तृत विवरण उपलब्ध है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में प्रेक्षागृह, नेपथ्य और तिरस्करिणी (यवनिका) का विवरण मिलता है। नाटकान्तर्गत नाट्य के विवरण के प्रसंग में इन विषयों की स्पष्ट चर्चा हुई है। शाकुन्तल की संगीतशाला में देवी हंसपदिका स्वरसाधना करती है।[5] ये प्रेक्षागृह, संगीतशालाएँ तथा चित्रशालाएँ राजभवनों के अंग थे। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना तथा अन्य प्रसंगों में नाट्यमंडप तथा उसके अन्य अंगों का उल्लेख अवश्य मिलता है। भवभूति का उत्तररामचरितम् इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें एक विराट् रंगमंच की कल्पना की गई है, जहाँ 'रामायण नाटक' देखने के लिए देव-असुर निमंत्रित थे, और नाट्यप्रयोग की सिद्धि तथा बाधा के निर्णय के लिए रंगप्राश्निक भी नियुक्त थे। भवभूति कल्पित प्रेक्षागृह लोकरंगमंच का निकटवर्ती मालूम पड़ता है।[6] राजशेखर ने काव्यमीमांसा में सभामण्डप के लिए सोलह स्तंभ, चार द्वार, आठ मत्तवारणियों का विधान किया है। संगीत रत्नाकर की तरह यहाँ राजा, कवि और भाषाकवि आदि के लिए अलग-अलग आसन का विधान है।[7]

पुराणों का साक्ष्य—नाट्यमंडप के संबंध में हरिवंश, विष्णुधर्मोत्तर, मत्स्य और अग्निपुराण में उल्लेख योग्य सामग्री मिलती है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में दो प्रकार के नाट्यमंडपों की चर्चा भर की गई है। हरिवंश में नाट्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध है, छलिक नृत्य, रामनाटकों

१. अर्थशास्त्र अध्यक्षप्रचार द्वितीय अधिकरण अध्याय १, २।२७।
२. कामसूत्र १।४।२८-३१।
३. अवदान शतक (कुवतया) ७५वीं कथा।
४. राजप्रसेनीय सूत, सूत्र ३६, पृ० ८६-८७।
५. तेन हि द्वावपि प्रेक्षागृहे संगीतरचना कृत्वा, मा० अ० अंक २।२-१। तथा भो वयस्य संगीतशालाभ्यन्तरेऽवधानं देहि। अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ५।
६. कृतश्च मर्त्यामर्त्यस्य भूतग्रामस्य समुचितस्थानसंनिवेशो मया। वत्स लक्ष्मण! अपि स्थिताः रंगप्राश्निकाः।
७. सा षोडशभिः स्तंभैः चतुर्भिः द्वाररष्टाभिः मत्तवारिणीभिरूपेता स्यात्। काव्यमीमांसा, पृ० १३२।

का प्रयोग और पारितोषिक वितरण आदि का जैसा सजीव विवरण मिलता है, उससे बहुत ही समृद्ध नाट्यमंडप की कल्पना की जा सकती है। मत्स्यपुराण में प्रासाद, नगर निर्माण आदि वस्तु-शिल्पों की चर्चा के प्रसंग में वास्तुनिर्माण के अट्ठारह आचार्यों (भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, विशालाक्ष, ब्रह्मा, कुमार, नन्दिकेश्वर शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और वृहस्पति) का उल्लेख है। अग्निपुराण में तो प्रासाद, गृह, नगर आदि की वास्तुकला का विधान करते हुए वेश्याओं, नर्तकियों और नटों के लिए दक्षिण दिशा में गृह-निर्माण का विधान है।[1]

कला एवं शिल्प-ग्रन्थों का साक्ष्य—शिल्परत्न, मानसार, संगीत रत्नाकर और भावप्रकाशन में नाट्यमंडप के बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध हैं। शिल्परत्न में राजप्रासाद के सम्मुख चार प्रकार के मंडपों में नृत्य (नाट्य) मडप की भी परिगणना हुई है। उस नाट्यमंडप के लिए नेपथ्यधाम, मुख्यरंगभूमि, वाद्ययंत्रों के रखने के स्थान तथा नाट्यभूमि के विभाजन का विधान है।[2] यह विभाजन पूर्ण नहीं है पर नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यमंडप का उस पर प्रभाव परिलक्षित होता है। मानसार भवननिर्माण कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। नाट्यमंडप के छोटे स्तंभों का विवरण देते हुए उस पर व्यालि और मकरों की प्रतिछवियों के अंकन का विधान है।[3] पर निःसंदेह यहाँ नाट्यमंडप का उपलब्ध बहुत अस्पष्ट है। उसकी अपेक्षा संगीत रत्नाकर में वर्णित नृत्यशाला का रूप पर्याप्त स्पष्ट है। रत्नों के स्तंभ, वितान और सिंहासन आदि का विधान है। नृत्यशाला के लिए वर्णित आसन शैली बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमें राजा, मंत्री, सेनापति, अन्तः-पुर की महिलाओं, रसिक, कवि, नागर, विलासी, विलासिनी और अंगरक्षक आदि के लिए स्थान निर्धारित है।[4] भावप्रकाशन में उपलब्ध नाट्यमंडप संबंधी विवरण प्रायः भरतानुसारी है। वहाँ चतुरस्र और त्र्यस्र नाट्यमण्डपों के अतिरिक्त वृत्त नामक नये नाट्यमण्डप की परिकल्पना की गई है। इस नाट्यमण्डप में राजा एवं परिजन साथ ही संगीत की योजना करते हैं।[5] चतुरस्र राजा के साथ वारविलासिनी, आमात्य, वणिक्, सेनापति और सभ्रान्तकुल के मित्र भी दर्शक होते हैं। पर त्र्यस्र रंगमंडप में राजमहिषी, ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य और अन्तःपुर के अन्यजन दर्शक के रूप में उपस्थित रहते हैं। भावप्रकाशन में वर्णित तीनों प्रकार के नाट्यमण्डप राजभवनों के अंग हैं न कि स्वतंत्र नाट्यमंडप।

सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं के प्रेक्षागृह—नाट्यशास्त्र को छोड़ भारतीय वाङ्-मय में प्रेक्षागृह का जो भी विवरण मिलता है, वह प्रायः अस्पष्ट और अपूर्ण है। नाट्योद्भव के आरंभिक काल में ये प्रेक्षागृह राजभवनों की छत्रछाया में संगीतशाला और नृत्यशालाओं के रूप में पनपे, या यह भी संभव है कि आर्यों की समृद्धि और वैभव के युग में ये रंगमंडप राजप्रासादों से लोक रंगमंचों तक छाये थे, सर्वत्र इस सुकुमार पर श्रमसाध्यकला का विकास फल-फूल रहा था, पर कलाविरोधी आततायियों के दुर्धर्ष आक्रमण के बाद राजप्रासादों की शीतल छाया में

१. विष्णुधर्मोतर पुराण २०।४-७, मत्स्यपुराण, अध्याय २५२-५७।
अग्निपुराण, अध्याय १०२-१०६।

२. मनुष्य राजधान्यादौ युक्त्या लक्षणसंयुतम्।
सर्वं समाचरेत् नाट्यमंडपेषु यथोचितम्॥ शिल्परत्न पृ० १९६-२०१, (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज)

३. मानसार: पी० के० आचार्य, सन्दर्भ हिन्दू थियेटर पृ० ४९२, डी० आर० मनकड।

४. संगीत रत्नाकर, पृ० १३५-६१, आनन्द शर्मा सीरीज।

५. भावप्रकाशन, पृ० २९५, पं० ५-२०।

सिमटकर रह गये और जब मुसलमानों के प्रचण्ड आक्रमणों ने राजप्रासादों, पुस्तकालयों, मंदिरों, विश्वविद्यालयों को अपनी ध्वंस-लीला का शिकार बनाया तो नाट्यमंडप भी उजड़ गये।[१] इसीलिए नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ भी नाट्यमण्डप के विवरण उपलब्ध हैं, वे बहुत ही अस्पष्ट और अधूरे हैं। कालिदास के मेघदूत की एक पंक्ति[२] से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि नागरजन नगर के कोलाहल से दूर शान्त एकान्त पार्वत्य गुफाओं में 'कलाविलास' का आनन्द लेते थे। वह कहीं प्रस्तर मूर्तियों और कहीं भित्तिचित्रों तथा कहीं नाट्यगृहों के रूप में अवशिष्ट हैं। मध्य प्रदेश के सरगुजा राज्य में वर्तमान सीतावेंगा और जोगीमारा गुफाओं में प्राप्त प्रेक्षागृह इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। प्राचीन नाट्यमंडप का एकमात्र रूप इन्हीं शिलावेश्मों में अब भी सुरक्षित मालूम पड़ता है। इसमें रंगमंडप प्रेक्षकों के लिए आसन तथा मुख्य रंगभूमि और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य यवनिका के लिए दोनों दीवारों में दो छिद्र भी बना दिये गये हैं। इससे इतनी ही सूचना मिलती है कि मुख्य रूप से नाट्यमंडपों पर अभिनय-नृत्य और गीत का जो भी प्रयोग होता रहा हो, परन्तु राजप्रासादों से लेकर पार्वत्य गुफाओं में भी किसी-न-किसी रूप में भारतीय नाट्यमंडप फूल-फल रहा था और नाट्य एवं नृत्य कला का स्वस्थ विकास हो रहा था।[३] यद्यपि उसकी स्पष्ट रूपरेखा नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र ग्रन्थों के अनुमान पर ही आधारित है, नाट्यशास्त्र का भी विवरण पाठ की त्रुटि और टीकाओं के परस्पर विरोधी होने के कारण सर्वथा भ्रान्तिरहित भी नहीं है।

यवनिका

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमंडप के विभिन्न अंगों के विवरण सन्दर्भ में भरत 'यवनिका' के सम्बन्ध में मौन ही रहे हैं। पर एक अन्य प्रसंग में 'यवनिका' और 'पटी' शब्दों का प्रयोग किया है, इसलिए बहुत से विद्वानों ने कल्पना की है कि या तो पाँचवें और बारहवें अध्यायों की रचना द्वितीय अध्याय के बाद हुई हो या द्वितीय अध्याय की रचना होने तक भारतीय नाट्यमण्डपों पर यवनिका का प्रयोग ही न होता हो।[४] प्रस्तुत सन्दर्भ में उपर्युक्त तीनों अध्यायों की रचना के पौर्वापर्य पर विचार नहीं करना चाहते, पर इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक भारतीय नाट्यमंडपों पर यवनिका का प्रयोग आरम्भ हो गया था।

नाट्यशास्त्र के पाँचवें और बारहवें अध्यायों में निम्नलिखित संदर्भों में 'यवनिका' तथा 'पटी' शब्दों का प्रयोग हुआ है—

१. रंगमंडप पर प्रयोज्य नाट्य में कविनिबद्ध गीतों के अतिरिक्त अन्य गीतों का प्रयोग मुख्य

१. ब्लास जे० एच० आर्चिलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० १२३-३० (१६०३-४)।

२. उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि मेघदूत।

३. There is ampee evidence to show that the names Rangabhumi and Natakshalas can not be some sort of architectural structures, but well planned, well-built, decorated theatres. *Theatre Architecture in Ancient India* : V. Raghavan, Theatre of Hindus. p. 156.

४. Of coursethis may suggest an earlier character of the contents of the 2nd Adhyaya. Hindu. I. H. Q. p. 498. 1932. R. D. Mankad.

रंगभूमि पर न कर यवनिका के ओट से करना चाहिए। परन्तु अन्य नृत्य एवं पाठ्य का प्रयोग यवनिका को हटाकर करना चाहिए। प्रस्तुत सन्दर्भ में दो श्लोकों में यवनिका शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है।[१]

२. दूसरे प्रसंग में बारहवें अध्याय में नाट्यप्रयोग के शुभारंभ काल में ध्रुवागान के संप्रवृत्त होने पर पट (टी-यवनिका) के आकर्षित होते ही नाना अर्थ और रस के आधारभूत पात्रों के प्रवेश का विधान किया गया है। इस पट की आकर्षण विधि से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि यहाँ पर भरत ने जिन दो श्लोकों का उल्लेख किया है वे यवनिका अथवा पटी के प्रयोग का समर्थन करते हैं।[२]

आचार्य अभिनवगुप्त ने इन श्लोकों पर टिप्पणी करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि यवनिका के अपसारण से पूर्व तन्त्री एवं मृदंग वाद्यों से युक्त आलाप का प्रयोग तो होना ही चाहिए। परन्तु वह मार्ग तथा रसोपेत भी होना चाहिए। मार्ग से उनका अभिप्राय रंगभूमि पर अपेक्षित गृह उद्यान आदि का रमणीय दृश्य विधान है। यवनिका और रंगभूमि पर स्थान आदि का संकेत व्यापक दृश्यविधान का अंग है। यहाँ यवनिका के अपसारण तथा नानार्थ रस-संभव पात्र के प्रवेश विधान से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि आधुनिक ड्रॉप कर्टेन की तरह इस यवनिका का प्रयोग मुख्य रंगभूमि पर रंगपीठ और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य किया जाता हो। अन्यत्र एक और भी यवनिका के प्रयोग का उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने पूर्वरंग के प्रसंग में किया है। उनकी दृष्टि से एक यवनिका रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य में विभाजक भित्ति के रूप में भी रहती है। इन मूल उद्धरणों और प्राचीन टीकाओं के आधार पर प्राचीन भारतीय नाट्यमंडपों पर यवनिका के प्रयोग का समर्थन तो हो जाता है पर वे यवनिकाएँ कितनी और कहाँ पर प्रयुक्त होती हैं, यह अनिर्णीत ही रह जाता है।[3]

संस्कृत नाटकों का साक्ष्य—संस्कृत नाटकों के साक्ष्य से भी यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। भास के अविमारक, शूद्रक के मृच्छकटिक और कालिदास के मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञान शाकुन्तल के संबद्ध प्रसङ्ग बड़े ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं।

अविमारक में 'बैठा हुआ अविमारक प्रवेश करता है'।[४]

मृच्छकटिक में 'उत्कण्ठित वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती है'।[५]

अभिज्ञान शाकुन्तल में आसनस्थ राजा और विदूषक का प्रवेश होता है।[६]

---

१ एतानि तु वहिर्गीतानि अन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तंत्रीभाण्डकृतानि च॥
ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीहकारयेत्।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्य कृतानि च॥ ना० शा० ५।११-१२ (गा० ओ० सी०)।

२. ध्रुवायां संप्रवृत्तायां परे चैवापकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससंभवः॥ ना० शा० १२।३, (गा० ओ० सी०)।

३. अ० भा० भाग-१, पृ० १३०, २१०।

४. ततः प्रविशत्युप विष्टोऽविमारकः, अविमारक, पृ० १३१।

५. ततः प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च। मृच्छकटिक अंक २।

६. ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च। अ० शा० अंक ५।

आसनस्थ राजा और विदूषक संगीत रचना होने पर प्रवेश करते हैं।[1]

इस निर्देश का कोई अर्थ तभी होता है जब रंगपीठ और प्रेक्षकोपवेशन के मध्य की यवनिका का अपसारण हो और संबद्ध पात्र अकस्मात् प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित हों। वास्तव में संस्कृत नाटकों में प्रायः सर्वत्र दृश्य निर्देशों की योजना नाटककारों ने की है।

मालविकाग्निमित्र में तो यवनिका के संबंध में और भी अधिक स्पष्ट निर्देश प्राप्त है। उक्त नाटक के द्वितीय अंक में एक छलिक गीति नाट्य की स्पेशल योजना की गई है। इसके प्रयोक्ता आचार्य हैं हरदत्त और गणेश, अभिनेत्री है मालविका, दर्शक हैं सम्राट् साम्राज्ञी, विदूषक एवं अन्य दरबारी, नाट्यप्रयोग की उत्तमता की निर्णायिका है तपस्विनी। मालविका अभिनय की साजसज्जा में प्रस्तुत हो अभी नेपथ्य में ही है। यवनिका रंगपीठ के अग्रभाग पर टंगी है। सम्राट् अग्निमित्र की प्रेमाकुल उत्कंठित आँखें मालविका के मधुर रूप-दर्शन के लिए ऐसी अधीर हैं मानो उस तिरस्करिणी को बरबस हटा देंगी।

नेपथ्यपरिगतायाः दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
सहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्। माल० अ० अंक २।

इस नाट्य-प्रसंग से रंगपीठ के अग्रभाग में एक यवनिका के प्रयोग की पुष्टि होती है। यहाँ भी आसनस्थ राजा और विदूषक के प्रवेश का निर्देश है। यह तभी संभव है जब हम रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका की स्थिति स्वीकार करें। यों तो संस्कृत एवं प्राकृत के प्रायः सभी प्रधान नाटकों में यवनिका, पटी, तिरस्करिणी और प्रतिशिरा आदि का उल्लेख मिलता है, पर रत्नावली नाटक के प्रयोग का बड़ा ही रोचक विवरण दामोदर गुप्त विरचित कुट्टनीमत में मिलता है और यवनिका के प्रयोग का तो अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। रत्नावली के प्रथम अंक की भूमिका वेश्या मंजरी रत्नावली है, यहाँ यवनिका को हटाकर वासवदत्ता ऐसी अदा से प्रवेश करती है कि रत्नावली उसका प्रवेश जान भी नहीं पाती—

अपनीत तिरस्करिणी ततोऽभवन्नृपसुतसमं चेष्टया।
अविदित रत्नावल्या पूजोचित वस्तुहस्ततयोऽनुगता॥ कुट्टनीमत, ९२०।

एस० एम० टैगोर महोदय ने भारतीय रंगमंच पर यवनिका के प्रयोग पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्राचीन रंगमंडपों पर यवनिकाएँ काम में आती थीं। अंक-परिवर्तन के अनुसार दृश्य-परिवर्तन होने पर संभवतः दृश्य के अनुरूप यवनिका-परिवर्तन भी होता था।[2]

उपर्युक्त उपलब्ध विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि प्राचीन भारतीय नाट्य परंपरा न केवल यवनिका से ही परिचित थी, अपितु नाटकों के प्रयोग काल में रंगमंडपों पर सफल प्रयोग एवं प्रभावशालिता की दृष्टि से एक से अधिक स्थानों पर उनका प्रयोग भी होता था।[3] दो यवनिकाएं प्रधान रूप से काम में आती थीं—एक रंगपीठ के अग्रभाग में, दूसरी नेपथ्यगृह और रंगशीर्ष के मध्य विभाजक भित्ति के रूप में रहती थी। भरत ने रंग-शीर्ष की बड़ी ही कल्पनापूर्ण सुन्दर योजना का विधान भी किया है। मुख्य रंगभूमि-रंगपीठ के पृष्ठभाग में यह रंगशीर्ष होता था जहाँ पात्र प्रेक्षकों की दृष्टि से ओझल हो, अगले दृश्य में भाग

१. ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यः। मा० अ० अंक २।
२. The eight principal Rasas of Hindus. S. M. Tagore, पृ० ५८-५९।
३. इण्डियन थियेटर, पृ० ५९, सी० बी० गुप्त।

लेने के लिए प्रस्तुत रहते थे। ग्रंथिक या वाचिक आदि इसी यवनिका की ओट से संभवतः आज की तरह वाचिक (अभिनय) की प्राम्प्टिंग भी करते हों। इसी अर्थ में पतंजलि ने महाभाष्य में ग्रथिक शब्द का प्रयोग भी किया है। पर इन प्रधान दो या तीन यवनिकाओं के अतिरिक्त अन्य छोटी यवनिकाओं का भी प्रयोग रंगमंडप पर होता हो तो आश्चर्य नहीं। इन यवनिकाओं का प्रयोग अंक-परिवर्तन के अनुरूप होता था। संस्कृत नाटकों में ऐसे नाट्यनिर्देश उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कभी-कभी कुछ पात्र संसभ्रम में आकर यवनिका पटी को किंचित् हटाकर रंगमंच पर प्रवेश कर जाते थे।[1]

नाट्यशास्त्र के आधुनिक विद्वान् यवनिका के प्रयोग के संबंध में एकमत नहीं मालूम पड़ते। मनोमोहन घोष के अनुसार यवनिका का प्रयोग रंगपीठ के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी होता था। इस यवनिका का प्रयोग अंक की परिसमाप्ति और आरंभ में होता हो। शेष दो यवनिकाएँ रंगपीठ और नेपथ्यगृह के मध्य होती थीं तथा इनमें दो द्वार होते थे। इस प्रकार घोष महोदय के मतानुसार चार यवनिकाओं का प्रयोग प्राचीन रंगमंडप पर होता था।[2] मनकद महोदय रंगपीठ के अग्रभाग में ड्राप कर्टेन की स्थिति को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि संस्कृत नाटकों की परिसमाप्ति में किसी गंभीर भावपूर्ण प्राकृतिक दृश्य की योजना होती है न कि किसी चमत्कारपूर्ण नाटकीय घटना की (!) अतः मन्कद महोदय की दृष्टि से यवनिका का प्रयोग भारतीय रंगमंच पर नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय की रचना के उपरांत हुआ होगा।[3] ए० के० कुमारस्वामी महोदय भी ड्रॉप कर्टेन की स्थिति को नहीं स्वीकारते, परन्तु रंगपीठ और नेपथ्य-गृह के मध्य दो यवनिकाओं का होना उन्हें स्वीकार है। संभव है ये दोनों यवनिकाएँ छोटी होती हों और इन्हें ही हटाकर जब पात्र प्रवेश करते हों तो 'पटीक्षेप' या 'अपटीक्षेप' आदि निर्देशों का प्रयोग होता हो।[4] डॉ० सी० बी० गुप्त तो केवल एक ही यवनिका को स्वीकार करते हैं, उनके मत से वह रंगपीठ और नेपथ्य अथवा रंगशीर्ष के मध्य होती थी।[5] पर गुप्त महोदय के विचार से सहमत होना संभव नहीं मालूम पड़ता। रंगपीठ और रंगशीर्ष अथवा नेपथ्य के मध्य एक यवनिका का प्रयोग तो नितांत स्वाभाविक है और अंक परिवर्तन होने पर दृश्यानुरूप पटी परि-वर्तन भी होता हो। ड्रॉप कर्टेन का रंगपीठ के अग्रभाग में होना अंक विभाजन की नितांत आवश्यकता है और संस्कृत नाटकों के निर्देश के अनुरूप भी है। अतः रंगपीठ के अग्रभाग, रंग-पीठ-रंगशीर्ष अथवा नेपथ्य के मध्य एक अथवा दो, दोनों ओर की मत्तवारणियों में दो छोटी यवनिकाओं को मिलाकर संभव है चार-पाँच यवनिकाएँ प्रयुक्त होती हों।

प्राचीन भारतीय रंगमंडपों पर यवनिका के प्रयोग की पुष्टि न केवल नाट्यशास्त्र एवं प्राचीन ग्रंथों से ही होती है अपितु भग्नावशेष के रूप में प्राचीन नाट्यमंडपों के जो रूप उपलब्ध हैं, उनके अनुसंधान और विश्लेषण से भी इस बात का समर्थन होता है। इस संदर्भ में सरगुजा

---

१. तिरस्करिणीयमयनीय राजानमुपेत्यः विक्रमोर्वशी अंक २, ततः प्रविशत्यपरीक्षेपेण राजा पुरुरवा रथेन सूतश्च, वही अंक १।
२. नाट्यशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ७७। पादटिप्पणी १०।
३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४६५, (१९३२)।
४. हिन्दू थियेटर, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४६४ (१९३२)।
५. इण्डियन थियेटर, सी० बी० गुप्त, पृ० ५८।

रियासत की रामगढ़ गुफाओं की ओर हमारी दृष्टि जाती है, जिनमें प्राचीन काल के प्रेक्षागृह के रूप अभी भी शेष हैं। ब्लाश महोदय ने उन्नीसवीं सदी के अस्तकाल में बड़े बलपूर्वक इन गुफाओं में सदियों से विस्मृत प्रेक्षागृहों का पता लगाया था। इस गुफा में वर्तमान प्रेक्षागृह में एक छोटा-सा रंगमंच है, जहाँ बैठकर अभिनेता, नर्तक और गायक आदि मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत किया करते थे। रंगमंच के सम्मुख निम्नोन्नत शैली में रचित प्रेक्षकोपवेशन है, गुफाओं के दोनों पार्श्वों में दो छिद्र हैं, अनुमान किया जाता है कि इन दोनों छिद्रों में डंडा लगाकर यवनिका टाँगी जाती थी।[1]

यवनिका के संदर्भ में हमारा ध्यान पतंजलि द्वारा प्रयुक्त दो विशिष्ट नाटकीय शब्दों की ओर जाता है, वे हैं, शोभनिक और ग्रंथिक। शोभनिक संभवतः नाट्य-प्रयोग के क्रम में मनभावन दृश्यों का रंगमंच पर अंकन करते थे जबकि ग्रंथिक या वाचिक आदि पात्र दृश्यानुरूप पाठ्यांशों का वाचन करते थे। यहाँ चित्र-रचना का उल्लेख तथा यवनिका की परिकल्पना दोनों ही एक-दूसरे से असंबद्ध मालूम नहीं पड़ते।[2]

रंगमंडप की विभाजनपद्धति—प्राचीन रंगमंडप की विभाजनपद्धति का विश्लेषण करने पर यवनिका के प्रयोग की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। रंगमंडप के आधे भाग में प्रेक्षकोपवेशन रहता है, शेष आधे भाग में रंगपीठ (मुख्य रंगभूमि) रंगशीर्ष और नेपथ्यगृहों की योजना होती है। रंगपीठ के अग्रभाग में यवनिका टँगी रहती है। अपनी साजसज्जा में प्रस्तुत पात्र यवनिका के हटते ही प्रेक्षकों के दृष्टिपथ में प्रवेश करते हैं। रंगपीठ के पृष्ठभाग में रंगशीर्ष है जहाँ अगले दृश्यों को प्रस्तुत करने वाले पात्र प्रतीक्षा करते हैं, वाद्य आदि विभिन्न सामग्रियाँ रहती हैं। रंगपीठ और रंगशीर्ष या तो यवनिका द्वारा विभाजित होते हैं या स्थायी भित्ति रचना द्वारा। दोनों के मध्य भित्ति होने पर दो द्वारों की परिकल्पना की गई है जहाँ भी यवनिका टंगी रहती है। रंगशीर्ष के पृष्ठभाग में नेपथ्यगृह होता है जहाँ पात्रों की वेशभूषा, रूपसज्जा आदि की नेपथ्यज विधियों का प्रयोग होता है। यहाँ नेपथ्यगृह के सम्मुख यवनिका अनिवार्य रूप से रहती है।[3]

भारतीय रंगमण्डपों पर यवनिका का प्रयोग और पाश्चात्य प्रभाव—यवनिका का प्रयोग भारतीय नाट्यपरम्परा में सम्भवतः ग्रीक प्रभाव की देन है, विंडिश्च प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना की थी,[4] उसका संभवतः कारण था, 'यवनिका' शब्द का स्वरूप विकास। यूनानी तथा अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के प्राचीन भारतीय लेखकों ने 'यवन' शब्द का प्रयोग किया था। निश्चय ही जब दो भिन्न जातियों और संस्कृतियों के बीच अन्तरावलंबन हुआ तो भारतीय एवं पाश्चात्य कलाओं की विभिन्न धाराओं का भी संगम हुआ। परन्तु भारतीय और पाश्चात्य कलाओं की दार्शनिक भित्ति में सतही अन्तर नहीं, दोनों की दृष्टि और सृष्टि के

१. आर्चियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट १६०३-४; पृ० १२३ तथा जे० ए० एस० बर्जेस, इण्डियन एंटिक्वेरी भाग ३५, पृ० १६५-६।

२. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बंधयतीति चित्रेषु कथम्, चित्रेष्वपि उद्गुर्णनिपातिनाश्च प्रहारा दृश्यन्ते। पातंजल महाभाष्य ३।१।२७।

३. ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते।
तयार्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभिः॥ ना० शा० १३।२ (गा० ओ० सी०)

४. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ ६१।

धरातल भी भिन्न हैं। एक संघर्षमूलक और दुःखपर्यवसायी है तो दूसरी आदर्शमूलक और सुखपर्यवसायी है। अतः यवनिका के प्रयोग की दृष्टि से भारतीय रंगशालाएँ यूनानी रंगशालाओं की ऋणी हों, यह बात कल्पनातीत और भ्रमपूर्ण मालूम पड़ती है। यही कारण है कि कीथ जैसे विद्वानों ने भी विंडिश्च प्रभृति विद्वानों की मान्यताओं का खण्डन किया है।[१] यह भी संभव है कि 'यवनिका पटी' की रचना विदेशी यूनानियों द्वारा बड़ी शान-शौकत से होती हो, इसीलिए यवनिका शब्द का प्रयोग 'पटी' के विशेषण के रूप में होता हो। सिल्वान लेवी ने यह कल्पना भी की है। यवनिका के अतिरिक्त 'यवनी' शब्द का प्रयोग नाट्यग्रन्थों में मिलता है, जो विदेशी युवतियों का वाचक है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में सम्राट् दुष्यन्त को 'यवनीभिः परिवृतः' दिखलाया है।[२] जिस समय दो सभ्यताओं का महामिलन हो रहा था, उस राज प्रभाव से कलाकारों का मानसपटल कैसे अप्रभावित रहता। जो भी हो यवनिका शब्द के प्रयोग-मात्र से यह कल्पना करना संगत नहीं मालूम पड़ता कि यवनिका मूल रूप में भारतीय रंगमण्डपों की मौलिक प्रसाधन सामग्री नहीं थी। 'यवन' शब्द के कारण विदेशी प्रभाव की परिकल्पना संगत नहीं मालूम पड़ती। भारतीय नाट्यपरंपरा ने 'यवनिका' का प्रयोग ग्रीकों के प्रभाव की छाया में नहीं किया तो यवनिका की सामग्री का उनसे ग्रहण अथवा ग्रीक कलाकारों द्वारा यवनिका की रचना की बात कल्पनामात्र है।[३]

जवनिका, यवनिका और यमनिका—यवनिका के लिए समानान्तर 'जवनिका' और यमनिका—ये दो पद भी प्रचलित हैं। नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में भिन्न-भिन्न पाठ उपलब्ध हैं। काव्यमाला संस्करण में 'जवनिका' काशी संस्करण तथा अभिनव भारती संस्करणों में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग किया गया है।[४] नाट्यशास्त्र के उपलब्ध किसी संस्करण में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। कुछ संस्कृत नाटकों में 'यमनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है। डॉ० एस० के० दे महोदय ने शब्द को समान महत्त्व दिया है। 'यम' शब्द निरोधवाचक है। यमनिका पात्रों को प्रेक्षकों की दृष्टि से निरोध कर रखती है, इस दृष्टि से वह नाम भी उपयुक्त है। यवनिका शब्द के द्वारा विदेशी प्रभाव की बात भी खण्डित हो जाती है।[५]

यह भी सम्भव है कि यवनिका शब्द का प्राकृत रूपान्तर 'जवनिका' शब्द हो। यद्यपि सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित ने जवनिका शब्द की व्युत्पत्ति वेगवाचक 'जु' धातु से की है।[६] यह शब्द और उसका अर्थ यवनिका का पर्याय 'तिरस्करिणी' के सन्दर्भ में भी सर्वथा उपयुक्त ही मालूम पड़ता है, क्योंकि तिरस्करिणी (पर्दा-पटी) वेग से खींची जाती है। अमर कोष में 'जवनिका' शब्द का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से इसी अर्थ में किया गया है। पर 'यवनिका'

१. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ ६१।
२. एष बाणासन हस्ताभिः यवनीभिः बनपुष्पमालाधारणीभिः परिवृत इत एवागच्छति। अ० शा० अंक २।
३. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृष्ठ ३५६।
४. ना० शा० ५।११-१२ (गा० ओ० सी० तथा काशी संस्करण)।
५. 'द कर्टेन इन ऐनसियेंट इण्डियन थियेटर, भारतीय बिधा, वोल्यूम ६, १९४८, तथा 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली', पृष्ठ ४६४ (१९३२)।
६. पाणिनि ३.२.५० जुचंक्रम्य दन्द्रम्य सृगधि ज्वलश्चलषपतपदः। जु इति सौत्रोधातु गति वेगे च जवनः। कृदन्त प्रकरणम् सिद्धान्त कौमुदी।

अथवा 'यमनिका' का उल्लेख नहीं है। यवनिका शब्द का विकास सम्भवतः बन्धनवाचक 'यु' धातु से हुआ है, क्योंकि उसके द्वारा नाटकीय दृश्य दृष्टिपथ से ओझल रहते हैं।[1] यों यमनिका शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में भले ही न हुआ हो पर है वह बहुत प्राचीन शब्द। शुक्ल यजुर्वेद में यमनी शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है और यमनी शब्द से यमनिका का विकास सम्भव है।[2] 'यम' धातु निरोधवाचक है। डी० आर० मन्कद महोदय तो यवनिका की अपेक्षा यमनिका का ही प्रयोग उचित मानते हैं, क्योंकि यही मूल शब्द है। यदि जवनिका को यवनिका का प्राकृत रूपान्तर न भी स्वीकार करें तो कोषों में उल्लिखित अर्थों के सन्दर्भ में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। इस दृष्टि से तीनों शब्दों—यमनिका, यवनिका और जवनिका के स्वरूप और अर्थ तथा उनकी प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं अधिकाधिक साम्य है। 'यवनिका' शब्द नाट्य-निर्देशों में विशेष्य के रूप में नहीं 'पटी' के विशेषण के रूप में ही प्रायः व्यवहृत होता है।[3]

अतः यमनिका, यवनिका अथवा जवनिका शब्द के साथ जिन अर्थपरंपराओं (वेग से पटी का खींचना या पटी द्वारा नाटकीय दृश्य का ओझल रहना) का विकास हुआ है, उस सन्दर्भ में निश्चित रूप से यवनिका भारतीय नाट्यपरंपरा तथा नाट्यमण्डप की विशिष्ट रचना-विधि की नितान्त आवश्यकता है। यूनानियों से ऋण में प्राप्त की गई नई नाट्यसंपदा नहीं है। भारतीय नाट्यमण्डपों में यवनिका का प्रयोग नितान्त मौलिक है। नाट्यशास्त्र संस्कृत एवं प्राकृत नाटक तथा नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों की टीकाएँ इसी का समर्थन करती हैं।

दृश्यविधान

दृश्यविधान की प्रवृत्ति और परम्परा—कक्ष्याविभाग का सम्बन्ध नाट्यमण्डप के दृश्य-विधान से है। नाट्यमण्डप में प्रधान रूप से दो प्रकार के दृश्यविधान प्रस्तुत किये जाते हैं। एक दृश्यविधान तो रंगमण्डप की साज-सज्जा का अंग बनकर ही प्रस्तुत होता है और दूसरा नाट्य-वृत्त के अनुरोध से। भरत ने प्रथम दृश्यविधान के सम्बन्ध में अनेक रमणीय वास्तु-विधियों की परिकल्पना की है। रंगशीर्ष 'शुद्धादर्शतल' के समान हो, उसमें वैदूर्य, स्फटिक एवं सोने का काम किया गया हो।[4] स्तम्भों पर नाना शिल्प-प्रयोजित बारीक नक्काशी हो, अरण्यों में विचरते पशुओं और आकाश में उड़ते कपोतों के मनोहर चित्र अंकित हो।[5] सब ओर से सुशोभित भित्तियों पर निर्मित चित्रों में, पुरुष, स्त्रीजन, पुष्पित लताएँ तथा नर-नारी के आत्मभोगजन्य छवियाँ अंकित हों।[6] रमणीय दृश्यविधान रंगमंच की साज-सज्जा को नितान्त मनोहर और नाट्यप्रयोग को आकर्षक बना देता है।

नाट्य से इतिवृत्त के अनुरोध से अनेक प्रकार के नयनाभिराम दृश्यों की योजना होती

१. प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा। अमरकोष पं० १३१४, सिद्धान्तकौमुदी धातुपाठ १४८०।

२. शुक्ल यजुर्वेद १४।२२।

३. इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली: पृष्ठ ४०४ (१९३२)।

४. शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते। ना० शा० २।७३क (गा० ओ० सी०)।

५. ना० शा० २।७५-७८ (गा० ओ० सी०)।

६. चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषा स्त्रीजनास्तथा।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्। ना० शा० २।८४ख, ८५क।

है। भारतीय नाट्य-कथा ग्राम, नगर, वन, उपवन, तपोवन, प्रासाद, दुर्ग और भयावने जंगलों की पृष्ठभूमि पर परिपल्लवित होती रही है। भरत ने उन दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए कई उपयोगी प्रणालियों का विधान किया है। आहार्य अभिनय की पुस्तविधि द्वारा ऐसे प्राकृतिक दृश्यों और बनैले पशुओं को नाट्यमण्डप पर प्रस्तुत करने का स्पष्ट विधान है। इस दृश्यविधान द्वारा भरत ने नाट्य-प्रयोग को अधिकाधिक लोकानुरूप बनाने का प्रयास किया है। कुछ वस्तुओं के जोड़-जाड़ या वस्त्र आदि से लपेटकर उन वस्तुओं को आकृति-संस्थानों के अनुकृत रूप में प्रस्तुत करने का विधान है। इन्हीं विधियों से रंगमंच पर पहाड़, गाड़ी, महल, ढाल, कवच, झण्डा, हाथी तथा घोड़ा आदि के विभिन्न प्रदर्शनों का प्रयोग होता है।[1]

दृश्यविधान को प्रस्तुत करने की एक और प्रणाली है कक्ष्याविधि। कक्ष्याविधि एक प्रकार का महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक नाट्य-प्रयोग है। इसकी सारी विधियाँ नाट्यधर्मी रूढ़ियों पर आश्रित हैं। इसलिए कक्षाविभाग का प्रयोग भी परंपरा तथा दर्शक की कल्पना पर आधारित है। कक्षाविभाग के अनुसार ही रंगमंच पर काल्पनिक रीति से स्थान, देश एवं कक्ष आदि का विभाजन कर लिया जाता है। रंगमंच पर ही घर, नगर, वन, उपवन, तपोवन, प्रासाद, यान, विमान, पृथ्वी, आकाश, पाताल और स्वर्ग आदि की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रणाली से ही देश, दूरी, दिशा, दिव्यों के मानुषोचित आचरण, परिच्छेद और द्वार-प्रवेश आदि का विधान होता रहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल में रथ की तीव्र गति, मृग का पलायन और दुष्यन्त के स्वर्गावतरण आदि के दृश्य इसी कक्ष्याविधि से प्रस्तुत किये जाते हैं।[2] भरत ने यह स्वीकार किया है कि संसार की सभी वस्तुओं को नाट्य-प्रयोग के क्रम में यथार्थ रूप में तो प्रस्तुत करना न तो सम्भव है और न पुस्तविधियों द्वारा सब दृश्यों को सर्वथा शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार सरलता से शायद प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः नाट्यधर्मी विधियों द्वारा संकेतात्मक रूप से इनका विधान उचित है।[3] कक्षाविभाग में उसी का विधान प्रस्तुत किया गया है।

दृश्यविधान के क्रम में भारतीय नाटकों में एक और भी शैली का बड़ा ही प्रभावशाली प्रयोग होता रहा है। नाटकीय वातावरण पूर्ण समृद्धता के साथ प्रेक्षक के मानस पर अंकित हो, इसलिए देश और काल के वर्णन के लिए काव्यात्मक एवं चित्रात्मक दृश्यविधान की भी योजना प्रायः भारतीय नाटकों में सर्वत्र हुई है। ये वर्णित नाट्य-दृश्य इतने हृदयग्राही एवं बिम्बात्मक होते हैं कि इनके दृश्यविधान की न तो आवश्यकता ही है और न रंगमंच पर उनका यथार्थ रूप में दृश्य-चित्रण पूर्णतया सम्भव ही है। शोभनिक या पात्र के द्वारा पाठ मात्र से प्रेक्षक की कल्पना-भूमि में वह चित्र पूर्णता के साथ उभर उठता है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि दृश्यविधान की इन परंपराओं के अतिरिक्त भारतीय नाटकों में मानवीय रूप-सौन्दर्य और प्राकृतिक छवियों के प्रस्तुत करने की एक परंपरा यह रही

---

१. ना० शा० २१।१९६-२०१।

२. अ० शा० अंक १ तथा ७।

३. प्रासाद गृहयानानि नाट्योपकरणानि च।
न शक्यानि तथा कर्तुं यथोक्तानीह लक्षणैः।
लोकधर्मी भवेत् का त्वन्या नाट्यधर्मी तथाऽपरा।
स्वभावो लोकधर्मी विभावो नाट्यमेव हि। ना० शा० २१।१९३-१९३ (का० मा०)।

है कि पात्र भावावेश की स्थिति में स्वयं भी अपने प्रिय या प्रिया की छवि चित्रित करते रहे हैं। चारुदत्त की वसन्तसेना अपने प्रियतम की अनुकृति स्वयं अंकित करती है। शाकुन्तल का दुष्यन्त मालिनी-तटवासिनी, मुग्धा शकुन्तला के परम रमणीय रूप की चित्र-रचना स्वयं करता है, जिसमें शकुन्तला के दिव्य सौन्दर्य और शान्त तपोवन में बहती मालिनी, उसके सैकत तट में लीन हंसों के जोड़े और कृष्णमृग के वामनयन को खुजलाती मृगी आदि पृष्ठाधार के रूप में अंकित हैं। रत्नावली की 'सागरिका' स्वयं ही उदयन के परमसुन्दर रूप की चित्र-रचना करती है। ये भी दृश्यविधान के अंग हैं, और इन चित्रों के द्वारा नाटच-कथा के भाव-प्रवाह में तीव्रता और अनुभूति में मांसलता घनीभूत हो उठती है।[1]

कक्ष्याविभाग और भारतीय चिन्तनधारा—वस्तुतः भरत के कक्ष्याविभाग में उनकी मौलिक चिन्तन-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। भारतीय जीवन प्राकृतिक परिवेश में फूलता-फलता रहा है। जीवन के एक विशिष्ट रूप की भारतीयों ने कल्पना की है। उसके अनुसार प्रकृति (पृथ्वी) माता है और मनुष्य उसका पुत्र है।[2] मनुष्य का जीवन जिस रूप में प्रकृति के परिवेश में विकसित होता है, भरत ने उसी के अनुरूप वनों, ग्रामों, नगरों, प्रासादों और पर्वतों की भव्य, रमणीय दृश्यावली के मध्य नाटच-प्रयोग का विधान किया है। केवल मानसिक अवस्थाओं के तदनुरूप अभिनय से ही नाटच नहीं होता अपितु नाटच के लिए बाह्य परिवेश भी मानसिक दशाओं, भाव-प्रवाहों के अनुरूप हों, उनकी अनुरूपता भी रंगमंच पर सुनियोजित होनी चाहिए। नाटच-सिद्धान्तों के आकलन के प्रसंग में भरत ने प्रयोग में अनुरूपता पर बहुत बल दिया है, यह अनुरूपता ही भरत के रंगविधान को अधिकाधिक यथार्थ के निकट ले जाती है।[3] भरत के कक्ष्या-विधान का अभिप्राय यही है कि नाटच-प्रयोग अधिकाधिक प्रकृत प्रतीत हो। भरत ने रंगमण्डप-निर्माण, कक्ष्याविभाग तथा आहार्य अभिनय का जितना विस्तृत और व्यापक विधान किया है, उसके संदर्भ में भारतीय रंगमंच के रंगविधान को नितान्त कल्पनात्मक मानना उचित नहीं जान पड़ता।[4] प्राकृतिक पदार्थों, विविध जीवों एवं अन्य पात्रों को तदनुरूप प्रयोग करने का आग्रह भरत की यथार्थवादी प्रयोग-विधि का ही संकेत करता है। यद्यपि बहुत-सी दृश्य-परिस्थितियाँ निःसन्देह प्रेक्षक की कल्पना-भूमि पर ही परिपल्लवित होती हैं, अधिकाधिक परिस्थितियों और रूपों को पुस्त आदि विधियों द्वारा प्रस्तुत करने का विधान है। जहाँ नाटच-प्रयोग को यथार्थ रूप देने में असंभवता मार्ग में खड़ी हो जाती है, उन्हीं प्रयोगों के लिए प्रतीकात्मक विधियों का नाटच-धर्मी परंपरा के अनुसार प्रयोग का विधान है।

भरतनिरूपित कक्ष्याविभाग

प्रयोग-काल में कथा-वस्तु एवं प्रयोग के आग्रह से पात्र रंगमंच पर आते हैं और रंगमंच

१. चारुदत्त अंक ४। अ० शाकुन्तल अंक ६।१७-१८, रत्नावली अंक २।

२. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्ववेद १२।१।१२। ऋग्वेद १।११, ४।३३।

३. आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकैः भूषणैरपि।
यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्यां तत्र तादृशम्।
वयोवेशानुरूपेण प्रयोज्यं नाट्यकर्मणि। ना० शा० २६।५-६ (गा० ओ० सी०)।

४. भारतीय रंगमंच के दृश्य-विधान की योजना चित्रात्मक अथवा यथार्थवादी कभी नहीं रही। नाट्यकला, पृष्ठ २०० (डॉ० रघुवंश)।

से निकलते हैं तथा रंगमंच पर ही कभी-कभी दूरी या निकटता आदि का भी प्रयोग होता है। लोकानुरूप आभ्यन्तर-बाह्य की विधि एवं दूरी निकटता आदि का प्रयोग यहाँ सीमित रंगमंच पर तो कदापि संभव नहीं है। अतः रंगमंच पर ही उनकी परिकल्पना की गई है।

रंगमंच के तीन भाग—रंगमंच पर ही आभ्यन्तर, बाह्य और माध्यम की परिकल्पना की जाती है। जो पात्र पहले से रंगमंच पर प्रवेश करते हैं, रंगमंच का वह भाग और वे पात्र भी आभ्यन्तर होते हैं क्योंकि वे रंगमंच के अन्तःस्थान में हैं। परन्तु जो पात्र रंगमंच पर पहले से नहीं होते, बाद में प्रवेश करते हैं, वे आभ्यन्तर नहीं, बाह्य होते हैं, और जिस मार्ग से वे पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते हैं, रंगमंच का वह भाग माध्यम होता है। इसलिए कि इसी माध्यम या प्रवेश-द्वार से रंगमंच के आभ्यन्तर भाग में पात्र प्रवेश करते हैं। यह प्रवेश-द्वार नेपथ्य-गृह से सम्बन्धित होता है। रंगमंच के आभ्यन्तर भाग में स्थित पात्र से मिलने के लिए बाह्य भाग से यदि कोई पात्र आता है तो दक्षिणाभिमुख हो आत्मनिवेदन करता है। रंगमंच का विधान भरत ने जिस रूप में किया है उसके यह अनुरूप ही है। मुख्य भाग रंगपीठ है, यही आभ्यन्तर होता है, यहीं पर पात्र नाटच-प्रयोग करते हैं। शेष पश्चिम भाग में रंगशीर्ष और नेपथ्य होते हैं, रंगशीर्ष में ही वे विश्राम या प्रतीक्षा करते हैं, और इसी में स्थित नेपथ्यगृहाभिमुख दो द्वारों से पात्रों का आवागमन होता है।[1]

कक्ष्याविभाग द्वारा देश, दिशा और दूरी के संकेत—कक्ष्याविभाग द्वारा ही रंगमंच के किसी भाग में देश का निर्देश कर दूरी या निकटता की कल्पना की जाती है। किसी पात्र ने दूर देश की यात्रा की या निकट देश की, इसका भान उसकी गति एवं चरण-विन्यास से होता है। यदि चरण-विन्यास अधिक संख्या में होते हैं तो अधिक दूरी और इसी प्रकार चरण-विन्यास की गणना के आधार पर ही मध्य दूरी और निकटता का भान होता है और यह सब नाटचधर्मी रूढ़ि द्वारा सम्पन्न होता है[2] न कि लोकधर्मी परम्परा के द्वारा। वस्तुतः यह भी लोक-परम्परा से प्रभावित है। लोक में अधिक दूर की यात्रा करने पर अधिक संख्या में चरण का संचार होता है, कम दूरी में कम। इसी आधार पर इस नियम का विधान होता है।

रंगमंच पर दिशा का भी संकेत होता है और उसका आधार है नेपथ्य-गृह और वाद्य-यंत्रों के लिए निर्मित द्वार। जिस ओर द्वार का मुख होता है वही नाटच-प्रयोग में पूर्व दिशा होती है। इसी द्वार से पात्रों का आवागमन भी होता है। अतः जो पात्र दो द्वारों में से किसी एक के द्वारा निकलता है उसी द्वार से पुनः प्रवेश भी करता है। बाह्य-पात्र का प्रवेश और निष्क्रमण दोनों ही एक द्वार से होता है। यही नहीं यदि आभ्यन्तर का पात्र कार्यवश उसी के साथ निष्क्रमण करता है तो वह भी उसी द्वार से, जिस द्वार से बाह्य पात्र आता है। एकाकी या किसी अन्य के साथ जब भी वह पात्र प्रवेश करता है तो उसी निर्दिष्ट द्वार से ही।[3] द्वार-प्रवेश की इस पद्धति

---

१. ना० शा० १३।८-१० (गा० ओ० सी०),
का० सं० १४।८-१०, का० भा० १३।८१०।

२. ना० शा० १३।११-१२ (गा० ओ० सी०),
का० सं० १४।११-१२, का० भा० १४।११-१२।

३. ना० शा० १२।१३-१४ (गा० ओ० सी०),
का० भा० १३।१४-१५, का० सं० १४।१४।

का प्रयोग हमें भास के नाटकों में भी प्राप्त होता है। स्वप्नवासवदत्ता के पंचम अंक में स्वप्न के रोमांचक दृश्य में दो द्वारों की परिकल्पना की गई है। एक द्वार से विदूषक प्रावारक (चादर) के लिए बाहर जाता है और दूसरे द्वार से वासवदत्ता और चेटी का प्रवेश होता है। स्वप्नावेश दूर होते ही वासवदत्ता जिस द्वार से आई थी उसी द्वार से वह निष्क्रमण करती है और विदूषक का जिस द्वार से निष्क्रमण हुआ उसीसे प्रवेश भी होता है। अन्यथा वासवदत्ता और विदूषक एक-दूसरे को देख लेते, जो अभिप्रेत नहीं था। इस प्रक्रिया से प्रेक्षकों को पात्रों से परिचय पाने में सुविधा होती है।[1] भरत ने यह उल्लेख किया है कि प्रेक्षागृह के बाहर खुले स्थान में भी नाटच-प्रयोग होता है, उस परिस्थिति में वाद्य-यंत्रों को पीछे कर नाटच-प्रयोक्ता जिस दिशा में खड़े होकर नाटच-प्रयोग करता है वही पूर्व दिशा मान लेनी चाहिए। यह नाटचधर्मी परम्परा के अनुसार होता है। वस्तुतः ऐसे खुले रंगमंचों में तो द्वार भी नहीं होते। जिस स्थान पर वाद्य-भांड आदि रखे रहते हैं, उनके द्वारा ही द्वार और दिशा की कल्पना की जाती है।[2]

दिव्यों की आवासभूमि—दिव्य पात्रों की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वे अपने यान, विमान, आकाशीय मार्ग या मायाबल से पर्वत, नगर और सागर आदि सब पर बिना किसी विघ्न-बाधा के संचरण करते हैं, परन्तु मनुष्य के किसी प्रयोजन या मानवीय कारणों से छद्मवेश धारण कर नाटकों में पात्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तो उनका संचरण भूमि पर ही होना चाहिये।[3]

भरत ने दिव्य जातियों और उनके लिए विशिष्ट आवास-स्थान पर्वतों की परिगणना की है। उन्हीं पर्वतों पर उनका निवास-स्थान प्रदर्शित होना चाहिये। यक्ष, गुह्यक और कुबेर के अनुचर आदि के लिए शुभ्र; कैलास, गंधर्व और अप्सराओं के लिए हेमकूट; नाग, वासुकि और तक्षक के लिए निषध; तैंतीस प्रकार के अन्य देवताओं के लिए महामेरु; ब्रह्मर्षि और सिद्धों के लिए वैदूर्य, मणि-रंजित नील पर्वत और दैत्यदानव एवं पितरों के लिए श्वेत पर्वत का प्रयोग रंगमंच पर होना चाहिये। पर्वतों की रचना पुस्तविधि द्वारा होती है और कक्ष्याविधि के द्वारा रंगमंच के किसी भाग-विशेष में पर्वत-विशेष की कल्पना की जा सकती है। भरत और अभिनव-गुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया है कि स्थान आदि के प्रदर्शन में कथावस्तु से संबंधित विशिष्ट स्थान का ही प्रदर्शन उचित होता है, सबका नहीं। पुस्तविधि द्वारा स्थान-विशेष की रचना आदि हो जाने पर गति-प्रचार के द्वारा नाट्यार्थ का भावन भी होता है।[4]

कक्ष्याविभाग और परवर्ती नाटककार—भरत-निरूपित कक्ष्याविभाग का प्रभाव परवर्ती नाटककारों पर भी पड़ा है। मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, स्वप्नवासवदत्तम् और रत्नावली आदि नाटक विशेष रूप से अध्ययन के योग्य हैं। मृच्छकटिक में ऐसे अनेक नाट्य-प्रसंग हैं जिनमें कक्ष्याविधि का प्रयोग कर दूरी, देश तथा स्थान परिवर्तन आदि का संकेत होता है। प्रथम अंक में विट और शकार नायिका वसन्तसेना का पीछा करते हैं। बहुत दूर तक सारा दृश्य राजपथ

---

१. स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ५ का अन्तिम अंश।

२. ना० शा० १३।६५-६८ (गा० ओ० सी०),
का० सं० १४।६४-६७, का० भा० १३।६०-६३।

३. ना० शा० १३।१८-२० (गा० ओ० सी०), का० भा० १३।१८-२२, का० सं० १४।१८-२१।

४. वही १३।२८-३२ वही वही १३।२२-२७, वही १४।२८-३२।

पर अभिनीत होता है। भागने और पीछा करने के दृश्य के प्रयोग के लिए तो अत्यधिक स्थान की अपेक्षा होती है, पर रंगमंच पर तो सीमित ही स्थान होता है। अतः कक्ष्याविधि द्वारा ही वेश्या का पलायन (षट् पादों का संचार) और चारुदत्त के गृह में प्रवेश आदि का प्रतीकात्मक अभिनय हो सकता है। तृतीय अंक में राजपथ पर संचरण करने, विदूषक और चारुदत्त का घर में प्रवेश तथा शर्विलक का चारुदत्त के घर में सेंध देकर चोरी करना आदि वस्तुविधान असाधारण दृश्य-विधान की अपेक्षा रखते हैं। न्यायाधिकरण में अधिकारी, वादी और प्रतिवादी का आगमन, तदुपरान्त चारुदत्त का वध्य स्थान के लिए प्रस्थान, पुनः वसंतसेना का अप्रत्याशित आगमन, चिता में सती होती वधू धूता की रक्षा के लिए चारुदत्त आदि पात्रों का तीव्र गति से संचरण आदि दृश्य प्रयोग की दृष्टि से बड़े प्रभावोत्पादक पर जटिल हैं। पुस्तविधि से यदि इनकी रचना भी की जाय तो बहुत बड़े रंगमंच की आवश्यकता होगी। अत: कक्ष्याविधि की दृष्टि से ऐसे दृश्यों का कल्पनात्मक प्रयोग भी होता है। वस्तुतः मृच्छकटिक[१] में प्रायः प्रत्येक अंक में ऐसे दृश्यों का आयोजन है। पालक के पलायन का दृश्य रोमहर्षक और अत्यन्त उद्वेगपूर्ण है, परन्तु वे सब दृश्य लोकधर्मी नाट्यपरंपरा से भी अभिनीत एवं प्रस्तुत होते हैं।

वासवदत्ता के चतुर्थ अंक में एक ओर राजा और विदूषक और दूसरी ओर वासवदत्ता, पद्मावती और अन्य सखियाँ वार्तालाप कर रही हैं। राजा और विदूषक इन नारी-जनों की उपस्थिति से अवगत नहीं हैं। अतः उदयन अनजान में उपस्थित अपनी दोनों पत्नियों के प्रति अपना मनोभाव प्रकट करते हैं, जिसका प्रभाव नाटक की भावी घटनाओं पर पड़ता है।[२] यहाँ कल्पित कक्ष्याविभाग द्वारा ही दृश्यविधान प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः कक्ष्याविभाग स्थान, देश, दूरी, द्वार और मार्ग आदि के प्रदर्शन के लिए नितांत नाट्योपयोगी है। नाटककारों ने इस विधि का प्रयोग कर अपने नाटकों में प्रभावशालिता का सृजन किया है।[३]

इस कक्ष्याविधि का विवेचन परवर्ती आचार्यों ने नहीं किया, उसका एक मात्र कारण यह है कि यह तो नितान्त नाट्य-प्रयोग का विषय है, नाट्य-सिद्धान्त का नहीं। अतः वे इस विषय पर मौन हैं। भरतकोष में आचार्य वेणी के मत का आकलन किया गया है, उसमें भरत के विचारों का पिष्टपेषण मात्र है, कोई नवीनता नहीं।[४]

समाहार—कथावस्तु के अनुरोध से रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्यविधान अधिकाधिक अनुभवगम्य हो तथा सरलता से प्रयोज्य हो, इस दृष्टि से कक्ष्याविभाग का विधान भरत ने किया

---

१. मृच्छकटिक अंक १, ८ तथा ६।

२. स्वप्नवासवदत्तम्, भास अंक—४।

३. We find that the stage could be used to represent a place when persons sleep and court scenes are enacted and that it was divided into as may apartments. (Kakshyas) as plot required.
Indian Theatre, p. 45 (C. B. Gupta, 1954)

४. भरतोक्तप्रकारेण रचिते नाट्यमंडपे।
नगरार्णव शैलादेः स्वर्गादेः भुवनस्य च॥
स्थान प्रवेशयोरेषां व्यवस्थापरिकल्पनम्।
यत्नाट्ये क्रियते कक्ष्याविभागः सोऽभिधीयते॥ भरतकोष पृ० ८१०।

है। कक्ष्याविभाग की सारी प्रक्रिया कल्पनात्मक है और यह नाट्यधर्मी विधि से ही सम्पन्न होती है। वस्तुतः नाट्यधर्मी विधि भी लोकधर्म की परंपराओं पर ही तो परिपल्लवित होती है; क्योंकि लोकधर्मी से भिन्न कोई भी धर्म नाट्य में प्रयोज्य नहीं होता परन्तु लोकगत प्रक्रिया में अधिकाधिक वैचित्र्य-सृजन के लिए कवि और नाट्य-प्रयोक्ता कल्पना का समावेश कर लेता है। भरत के युग में रंगमंच पर प्रयोज्य दृश्य-विधान की अपनी सीमाएँ थीं। कवि-कल्पित सब दृश्य या घटनाएँ यथार्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकती थीं। इसीलिए कल्पना के रूप में ही उनका प्रयोग होता था। इस कल्पना के द्वारा ही प्रेक्षक को घटनाओं का बोध और रसों का उद्बोधन होता था। अतः कक्ष्याविभाग उस युग के रंगमंच की आवश्यकता थी। नितान्त कल्पनात्मक विधान मात्र नहीं।

प्रसाद के नाटकों में कल्पित सब दृश्य-योजनाएँ पुस्तविधि द्वारा प्रयुक्त नहीं हो सकती हैं, कुंभा में जल-प्लावन के दृश्य, पात्रों का आवागमन और इसी प्रकार की अनेक दृश्य-योजनाएँ नाट्यधर्मी रूढ़ियों के सहारे प्रस्तुत की जा सकती हैं।[1]

---

१. स्कन्दगुप्त अंक ३, पृ० १०४,
भक २। पृ० ८७ आदि।

चतुर्थ अध्याय

नाटय-सिद्धान्त

१. दशरूपक विकल्पन
२. इतिवृत्त-विधान
३. पात्र-विधान

महारसं महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम् ।
महापुरुषसंचारं साध्वाचार जनप्रियम् ॥

सुश्लिष्टसंधिसंयोगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मुदु शब्दाभिधानं च कविः कुर्यातु नाटकम् ॥

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा ।
नानापुरुषसंचारा नाटकेऽसौ विधीयते ॥

सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः ।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥

अनेकशिल्पजातानि नैककर्मक्रियाणि च ।
तान्यशेषाणि रूपाणि कर्तव्यानि प्रयोक्तृभिः ॥

दशरूपक विकल्पन

रूपकों का स्वरूप

भारतीय वाङ्मय में काव्य की प्रधान धाराएँ दृश्य और श्रव्य इन दो भिन्न शास्त्रीय नामों से प्रसिद्ध हैं। श्रव्य काव्य की परिधि में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य, आख्यान एवं ऐतिहासिक काव्य आदि की परिगणना होती है। वर्णना श्रव्य काव्य की प्रधान संपदा है। दृश्य काव्य की परिधि में उन काव्य-रूपों की परिगणना होती है जो नाट्य हों। नाट्य केवल दृश्य ही नहीं होता, श्रव्य भी होता है। आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के माध्यम से राम या सीता आदि की अवस्था के अनुकरण[1] या सुख-दुःखात्मक लौकिक संवेदनाओं के प्रतिफलन[2] आदि के द्वारा नाट्य को रूप प्राप्त होता है। परन्तु नाट्य के द्वारा किसी नायक या नायिका का रूप ही रूपायित नहीं होता अपितु उसका संपूर्ण जीवन-रस आत्मलीनता की स्थिति में आस्वाद्य या अनुभवगम्य होता है। यह रस ही सौन्दर्य या चरम आनन्द है, जो नाट्य के माध्यम से आस्वाद्य होता है।

नाट्य, नृत्य और नृत्त—नाट्य प्राचीन भारतीय वाङ्मय का बड़ा ही लोकप्रिय शिल्प रहा है। इसके द्वारा हमारे जातीय जीवन के सांस्कृतिक विकास के सुदीर्घ इतिहास पर मंद-मधुर आलोक सदियों से फैलता रहा है। वैदिक काल के ऋषियों ने 'नाट्य' तो नहीं पर 'नृत्त' शब्द का प्रयोग किया है।[3] नट शब्द का संभवतः सर्वप्रथम प्रयोग पाणिनि ने नट-सूत्रों के संदर्भ में किया है।[4] नट-सूत्रों में नाट्य के नियमों का विधान था (?) नृत्त और नट ये दोनों शब्द नृत्य और अभिनय के बोधक थे, यह भारतीय नाट्यशास्त्र के संदर्भ-ग्रन्थों से पता चलता है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के आरम्भिक दो अंकों में नाट्य शब्द का प्रयोग

---

१. अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यम्—द० रू० प्र० १, पृ० ४।

२. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते॥ ना० शा० १।११६ (गा० ओ० सी०)।

३. प्रांचो अगाम नृत्तये। ऋ० १० मं० १८।३, १।३६।२, ८।२४।९; नृत्ताय सूतं, यजुष् ३०।६०।

४. अष्टाध्यायी ४।३।११०।

नृत्य और अभिनय दोनों के ही लिए किया है; क्योंकि मालविका ने दुष्प्रयोज्य चतुष्पदी 'छलिक' का अभिनय किया है। इसमें आहार्य अभिनय को छोड़ अन्य आंगिक अभिनय, गीत एवं नृत्य का एक साथ समन्वित प्रयोग हुआ है।[1] वस्तुतः नृत्य नाट्य का निकटवर्ती है। परन्तु नृत्य की अपेक्षा नाट्य में सर्वांगपूर्णता रहती है। अभिनय के मूल में नानावस्थात्मक लोकचरित भाव-भूमि के रूप में वर्तमान रहता है। अतः नाट्य में नानाविध रसमयता भी रहती है।[2]

नाट्य सुख-दुःखात्मक लोकचरित की बहुविधता का संवेदनात्मक प्रतिफलन होने के कारण ही मानव के जीवन-सागर में एक हिलोर, एक लहर उत्पन्न करता है। (नृत्य) नृत्त उस नाट्य का उपकारक मात्र है।

नाट्य और रूपक—यह नाट्य श्रव्य एवं दृश्य होता है, इसीलिए रूप या रूपक के नाम से परंपरा से प्रसिद्ध रहा है। अभिनवगुप्त के मतानुसार नाट्य शब्द नमनार्थक 'नट' शब्द से व्युत्पन्न होता है। इसमें पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर-प्रभाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है, अतः वह नाट्य या रूपक होता है।[3] दशरूपककार धनंजय ने तो इसकी दृश्यता के कारण ही इसका रूपक होना सिद्ध किया है।[4] जिस प्रकार चक्षु-ग्राह्य लौकिक वस्तुओं को हम रूप की संज्ञा देते हैं उसी प्रकार नाट्य या अभिनय का काव्य-रूप तो श्रव्य तथा चक्षु-ग्राह्य भी है। अतएव इस दृश्यता की विशेषता के कारण ही वह 'रूपक' होता है। जिस प्रकार मुख में चन्द्र के आरोप द्वारा एक सौन्दर्य-विशेष का अनुभव होता है, उसी प्रकार नट में राम आदि की अवस्था का आरोप होता है, इसलिए भी इसे 'रूपक' शब्द से अभिहित किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि रूपक, नाट्य, अभिनय और नाटक भी दृश्य-काव्यों के लिए प्रचलित रहे हैं।[5] नाट्य में मानवीय सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं का पुनरुद्भावन होता है और रूपक के द्वारा ही 'नट' राम की सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं का अनुभावन करते हैं। इस प्रकार ये दोनों ही शब्द एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। दशरूपक के अनुसार इनका प्रयोग शक्र, इन्द्र और पुरन्दर की तरह पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है। वस्तुतः रूप, रूपक, नाट्य और अभिनेय आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में दृश्य-काव्य के लिए होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में उन रूपकों का महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विवरण प्रस्तुत किया है। अगले पृष्ठों में हम उनका तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

भरतनिरूपित दशरूपक

नाटक—नाटक दशरूपकों में प्रधान है। भरत ने नाटक की जैसी व्यापक परिकल्पना नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत की है उसके विश्लेषण से नाटक का अत्यन्त महनीय एवं विराट चित्र

---

१. मालविकाग्निमित्र अंक १,२।

२. नाट्यशब्दो रसे रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाऽभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः। सं० र० भाग ४, पृ० ७।

३. नट नताविति नमनं स्वभाव त्यागेन प्रह्वीभाव लक्षणम्। अ० भा० भाग-१, पृ० ८०।

४. रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपात्—द० रू० १।६७ तथा धनिक की टीका।

५. द० सु० १।१-३, भा० द० पृ० १, भा० प्र० १ पृ० २२०। विष्णुपुराण—नाटकाख्यान लक्षणम् ३।१७-५, हरिवंश : विष्णु पर्व: ६३। ८-११।

प्रस्तुत होता है।[1] यही कारण है कि भरत द्वारा प्रतिपादित नाटक का यह प्रकृत और महत्तर रूप न केवल नाट्यशास्त्रियों के लिए ही, अपितु नाट्यकारों के लिए भी सदियों तक अनुकरणीय आदर्श बना रहा। भरत की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है कि नाटक के मूल में मनुष्य मात्र की सुख-दुःखात्मक संवेदनाएँ वर्तमान रहती हैं। नृपति आदि का वृत्त और चरित नाना भावों और रसों की पृष्ठभूमि में यहाँ परिपल्लवित होता है, इस रूप में कि, प्रकृत जन के हृदय में भी उन सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं की वासनात्मक अनुभूति का पुनरुद्बोधन हो, उदात्तीकरण हो। अतः भरत की दृष्टि में नाटक सुख-दुःखात्मक है, रसमय है तथा पुरावृत्त एवं अनेकविध चरित का पुनरुद्भावन भी है।[2]

ख्यातत्रयः—नाटक सर्वलक्षणसंपन्न होता है। वस्तु-वृत्त, विषय (देश), नायक और रस ये चारों ही प्रख्यात होने चाहिये।[3] नाटक के ये प्रधान अंग हैं। इन्हीं के आधार पर नाटक का प्रतिष्ठान होता है। वस्तु यदि प्रख्यात एवं लोकप्रिय न हो तो दर्शक के हृदय में उसके प्रति अनुराग शायद न उत्पन्न हो। अतः हमारे जातीय जीवन की परंपरा से उत्तराधिकार में प्राप्त रामायण, महाभारत, पुराण एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर नाटक के वृत्त का विकास होना चाहिये। भास के अनेक नाटक रामायण और महाभारत की कथाओं पर आधारित हैं और दूसरी ओर स्वप्नवासवदत्ता का वस्तु-वृत्त रामायण और महाभारत की धार्मिक परंपरा से नहीं अपितु लोकपरंपरा के विलुप्त गौरव ग्रन्थ 'बृहत् कथा' की 'उदयन-कथा' के आधार पर परिपल्लवित है।

ख्यातदेश—केवल वस्तु-वृत्त ही नहीं, जिस देश से उसका संबंध है वह भी पूर्ण लोकप्रिय हो; जैसे प्राचीन काल के मालव, पांचाल, वत्स और मगध आदि राज्य या जनपद। अन्यथा अभिनवगुप्त की दृष्टि से वत्सराज जैसे प्रसिद्ध सम्राट् के होते हुए भी अप्रसिद्ध देश में उनके जीवन की घटनाओं के वर्णन से उसमें रस-चर्वणा तो क्या प्रतीति भी न होगी। अतः वस्तु-वृत्त की आधारभूमि वह देश या जनपद भी ख्यात हो।[4]

ख्यात नायक—नायक भी प्रख्यात और उदात्त हो। नायक नाटक के केन्द्र में प्राण-ज्योति की तरह निवास करता है, उस केन्द्र से ही नाट्य के ज्योति-रस का प्रस्रवण होता है। अतः उसका प्रसिद्ध होना नितान्त आवश्यक है। प्रायः प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों के नायक ख्यात ही हैं। राम, कृष्ण, उदयन, दुष्यन्त और पुरुरवा आदि सब ख्यात नायक हैं। परम्परा युगों से इनकी कीर्ति-गाथा वहन करती आ रही है।

नायक की उदात्तता—वस्तु, देश और नायक इन तीन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त नायक के लिए उदात्तता का भी कथन किया गया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से भरत द्वारा प्रयुक्त उदात्त शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। नाटक के नायक में वीररस की योग्यता होनी चाहिए तथा नाटक

---

१. ना॰ शा॰ १।१०६-१२०, १८।६-४४ (गा॰ ओ॰ सी॰)।

२. नृपतीनां यच्चरितं नाना रसभावचेष्टितं बहुधा।
सुखदुःखोत्पतिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम। ना॰ शा॰ १८।१२, ४२ (गा॰ ओ॰ सी॰)।

३. प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव। ना॰ शा॰ १८।१०।

४. तत्र प्रकर्षणे ख्यात वस्तु तथा विषयो मालवपांचालादिदेशो—
तत्र प्रसिद्धि खंडनेन प्रतीति विघातात्। कथा रसचर्वणायाः। अ॰ भा॰ भाग २, पृ॰ ४११।

के नायक केवल धीरोदात्त ही नहीं वे धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त भी होते हैं।[1] संस्कृत के नाटकों के नायक इन विभिन्नताओं से ओत-प्रोत भी हैं और उनमें वीररस की योग्यता की भी कल्पना समान रूप से मिलती है। उत्तररामचरित का नायक धीरोदात्त, स्वप्नवासवदत्तम् का धीरललित, वेणीसंहार का धीरोद्धत तथा नागानंद का नायक धीरप्रशान्त है।

आचार्यों की मान्यताएँ—परवर्ती आचार्यों में नाटक के नायक की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने धीरोदात्त-मात्र को ही नाटक का नायक स्वीकार किया है।[2] परन्तु संस्कृत के अनेक ऐसे नाटक हैं जिनमें नायक या तो धीरोद्धत हैं या धीरप्रशान्त एवं धीरललित भी। अतः इन परवर्ती आचार्यों का विचार न तो भरत के अनुरूप है और न संस्कृत नाटकों के विभिन्न नायकों के जीवन के अनुरूप ही। सम्भव है, इस भ्रम का प्रचलन भरत के दो श्लोकों[3] के कारण हुआ हो, जिनमें उन्होंने देवों को धीरोद्धत, राजाओं को धीरललित, मंत्रियों को धीरोदात्त तथा ब्राह्मण एवं वणिजों को प्रशान्तरूप में चित्रण का सामान्य विधान किया है। वस्तुतः यह तो सामान्य निर्देश है। परन्तु नाटक-प्रकरण में नायकों के लिए विशेष निर्देश किया गया है, उसका अधिक महत्त्व है। इसको दृष्टि में न रखने के कारण ही आचार्यों ने दो विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। आचार्य धनिक और हेमचन्द्र[4] की विवेचना के कारण भरत के विचारों के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्ति मालूम पड़ती है। वस्तुतः नायक की प्रकृति तो सदा अपरिवर्तित रहती है, पर मनोवृत्ति में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। देव या नृप और मंत्री या वणिक् आदि पात्रों की स्थायी प्रकृति तो सदा एक-सी रहती है, परन्तु उनकी मनोवृत्ति तो बदलती रहती है। यदि किसी एक नाटक में उनका प्रयोग हो तो उनकी प्रकृति का चित्रण सामान्य निर्देश के अनुसार होता है। भरत के अनुसार यदि इनमें से सब एकाधिक प्रकृति के पात्रों का एकत्र योग रहता है, तो दिव्य पात्र को स्वाभिमान-युक्त धीरोद्धत, राजा को कोमल प्रकृति का ललित, सेनापति या अमात्य को धीरोदात्त एवं वणिक् या ब्राह्मण को धीरप्रशान्त रूप में प्रस्तुत होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक के नायक को उदात्त-गुण-सम्पन्न होना चाहिए, पर उदात्तशाली होते हुए भी अन्य किसी भी वृत्ति से युक्त हो सकता है; क्योंकि नाट्यशास्त्र में भरत ने ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है कि नायक धीरललित या धीरोदात्त ही हो। वह धीरोद्धत और धीरप्रशान्त भी हो सकता है।[5] इन परम्परागत नियमों

---

१. उदात्त इति वीररसयोग्यउक्तः। तेन धीरललित धीरप्रशान्त धीरोद्धत धीरोदाताः चत्वारोऽपि गृह्यन्ते। अ० भा० भाग-२, पृ० ४११।

२. प्रख्यातवंशो राजर्षिः धीरोदात्तः प्रतापवान्। सा० द० ६।६।
दिव्येन वा मानुषेण धीरोदात्तेन संयुतम्। र० सु०, पृ० १३०।

३. देवाःधीरोद्धताः ज्ञेयाः स्युर्धीरललिताः नृपाः।
सेनापतित्मात्यश्च धीरोदात्ताः प्रकीर्तितोः।
धीरप्रशान्ताश्च विज्ञेयाः ब्राह्मणाः वणिजस्तथा। ना० शा० २४।४ (का० भा० सं०)।

४. द० रू० २ प्र० ३-५ श्लोक पर धनिक की टीका का० अनु० हेमचन्द्र, पृ० ३७०-५।

५. Bharata does not intend that the hero of Nataka should be a Dhirodatta or dhirlalita only : Laws and Practices of Sanskrit Drama : page 6 ; (S.N. Sastri).

का प्रयोगवश उल्लंघन भी हो सकता है। महावीरचरित में परशुराम धीरोद्धत नायक है। भरत के विचारों का समर्थन रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी किया है। उनकी दृष्टि से धीरललित, धीरोदात्त, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त ये चार प्रकार नृपतियों के होते हैं, न कि केवल धीरोदात्त ही होता है।[1]

राजर्षि नायक—नाटक के नायक की कुछ और विशेषताएँ भरत की दृष्टि से विचारणीय हैं। तदनुसार नाटक में नायक राजर्षि हो तथा उसके उच्चवंश का चरित वर्णित हो। अभिनव-गुप्त ने राजर्षि शब्द पर विचार करते हुए अपना यह मत प्रतिपादित किया है कि नाटक का नायक जीवित राजर्षि नहीं हो सकता परन्तु किसी अन्य आचार्य के मत का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए यह भी उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार आदि समसामयिक राजा भी नायक होते हैं। राम के समक्ष नाट्यरूप में रामायण का प्रस्तुत होना प्रसिद्ध है (उत्तररामचरित, अंक-७)। नायक को दिव्य पात्र का आश्रय प्राप्त हो। अभिनवगुप्त के अनुसार नाटक में मर्त्य-चरित की तो प्रधानता रहती है पर देव-चरित का भी वर्णन हो सकता है। दिव्य पात्र नाटक के नायक नहीं हो सकते, वे पताका या प्रकरी आदि के नायक हो सकते हैं। नागानन्द में करुणामयी भगवती का साक्षात्करण या अप्रत्यक्ष रूप से दुष्यन्त पर इन्द्र का प्रभाव दिव्याश्रयोपेतता ही है। आचार्य विश्वनाथ ने दिव्य और दिव्यादिव्य इन दो प्रकार के नायकों की भी कल्पना की है।[2] दिव्य श्रीकृष्ण और दिव्यादिव्य श्री रामचन्द्र हैं। परन्तु ये दोनों पात्र संस्कृत के नाटकों में सर्वत्र मर्त्य नायक के रूप में ही वर्णित हैं, दिव्य या दिव्यादिव्य के रूप में नहीं। दिव्य पात्र से भरत का आशय है ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण और कामदेव आदि देवता। ऐसे देवताओं को नायक के रूप में स्वीकार करने में यह कठिनाई होगी कि मर्त्यचरित न होने के कारण उन सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं का प्रतिफलन नहीं होगा। दुःख का उनमें अभाव है। नाट्य में दुःख दूर करने के लिए प्रतिकार भी न होगा। अतः नाटक का नायक दिव्य नहीं मर्त्य होता है। नायिका यदि दिव्या हो भी तो उससे विरोध नहीं होता, क्योंकि उर्वशी के नायक-चरित से ही उसके वृत्त का भी आक्षेप हो जाता है।[3]

नाटक में चार पुरुषार्थ—भरत ने नाटक की कथावस्तु के लिए नाना विभूति, ऋद्धि एवं विलास की भी कल्पना की है। यद्यपि मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का प्रयोग यहाँ अपेक्षित है पर इन दोनों में ऋद्धि (अर्थ) और विलास (काम) सबके लिए बड़े ही प्रिय हैं। अतः उनकी बहुलता का चित्रण अपेक्षित है।[4] प्रायः सब संस्कृत नाटकों में राज्य-समृद्धि तथा कौमुदी-महोत्सव या वसन्तोत्सव आदि के विलासपूर्ण चित्रणों का विस्तार है। वस्तुतः ऋद्धि और विलास के द्वारा भरत ने एक प्रकार से वीर और शृंगाररस की प्रधानता का तो संकेत कर ही दिया है। परन्तु नागानन्द आदि ऐसे नाटक हैं, जिनमें आत्मत्याग और करुणा की भी प्रधानता है।

---

१. वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारः नेतृणां मध्यमोत्तमाः। ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानीते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः। —ना० द० पृ० २९।

२. दिव्योऽथ दिव्यादिव्योवा। दिव्येण मानुषेण वा —र० सु० ३।१३०। सा० द० ६।६।

३. अ० भा० भाग २, पृ० ४१२।

४. ना० शा० १८।१०-११ (गा० ओ० सी०)।

नाटक में महत्तर जीवन की कल्पना—नाटक में ख्यात नायक, ख्यात देश तथा ख्यात कथावस्तु के निर्देश से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत नाटक के द्वारा महत्तर जीवन की कल्पना को रूप देना चाहते थे। राजाओं के जीवन से सम्बन्धित वस्तु-वृत्त में आभिजात्य संस्कार की समृद्धि और विलास का सौरभ भरा हुआ था। उसमें महत्तर आदर्श को मूर्त रूप देने का महान् शुभ संकल्प है। इसीलिए नाटक के प्रभाव और उद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए भरत ने कई महत्त्वपूर्ण निर्देशों का आकलन किया है।

उदात्त भावों का आकलन सबके पश्चात् हो कि उन उदात्त भावों से आविष्ट हो प्रेक्षक रंगमंडप से बाहर आएँ। नाना रस-भाव-युक्त काव्य का अवसान उद्भूतता में होना चाहिए। स्वप्नवासवदत्ता में आवन्तिका का वासवदत्ता के रूप में प्रकट होना तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त-शकुन्तला का मारीच आश्रम में मिलन उदात्तता के उत्तम उदाहरण हैं।[1]

नाटक की सर्वांगपूर्णता—नाटक की पूर्णता के लिए नाट्य की मातृरूपा वृत्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पर यह कोई आवश्यक नहीं कि चारों वृत्तियों का एकत्र योग हो ही। मुद्राराक्षस में कैशिकी वृत्ति नहीं है और वेणीसंहार में केवल सात्वती और आरभटी वृत्तियाँ ही हैं। नाटक की कथावस्तु के अंग, उद्देश्य एवं प्रभाव की दृष्टि से 'पाँचों सन्धियों, चौंसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों से युक्त गुण और अलंकार से सुशोभित, उदात्तवचनान्वित, अत्यन्त सरस, अत्यन्त उत्कृष्ट भावों से समन्वित, महापुरुषों और श्रेष्ठजनों के आचरण से विभूषित, संधियों से संश्लिष्ट, प्रयोग में रमणीय, सुख का आश्रय तथा मृदुल शब्दयुक्त नाट्य की रचना करनी चाहिए'।[2] यहाँ भरत ने पुनः स्पष्ट कर दिया है कि लोक के सुख-दुःख से समुत्पन्न अवस्था तथा नाना पुरुषों के जीवन की घटनाओं का चित्रण नाटक में होता है। इसमें समस्त ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला और कर्म का योग होता है (न तज्ज्ञानं नर्तीच्छल्पं न सा विद्या न साकता)।

नाटक की रचना और लोक-संवेदना—नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटक का विवरण अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है। सर्वत्र मानव जीवन की सुख-दुःखात्मक संवेदनशील भूमि पर ही नाटक को परिपल्लवित करने का उनका प्रबल आग्रह है। अतः नाटक की सामग्री तो मानव-जीवन की सुख-दुःखात्मक संवेदना है, पर उसका अवसान महारस, महाभोग में होता है। अतः भट्टतौत की दृष्टि से इस मानव-लोक की समस्त संवेदना से नाटक (जगत्) का सृजन रसपोषण-आनन्द-सृजन के लिए होता है।[3] इसमें सब भाव, सब रस और सब कर्म-प्रवृत्तियों की त्रिवेणी प्रवाहित होती

---

१. ये चोदाता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्या।
सर्वेषां काव्यानां नाना रसभावयुक्तियुक्तानाम्।
निर्वहणे हि कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतस्तज्ज्ञैः। ना० शा० १८।४१-४३ (गा० ओ० सी०)।

२. पंचसंधि चतुर्वृत्ति चतुः षष्ट्यंगसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं गुणालंकारभूषितम्।
महारसं महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम्।
महापुरुष संचारं साध्वाचार जनप्रियम्।
सुश्लिष्ट संधियोगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्। ना० शा० १६।१३६-१४१ (गा० ओ० सी०)।

३. रसपोषाय तज्जातं लोकान्नाट्य जगत् स्वयम्।
प्रतिभायाः प्रगल्भायाः सर्वस्वं कविवेधसः। भट्टतौत, अभिनव भारती, भाग ३, पृष्ठ ७८।

है।[1] इसलिए रूपक-भेदों में यह सर्वश्रेष्ठ होता है। भरत ने नाटक के सम्बन्ध में जैसी उदात्त और अत्यन्त स्पष्ट कल्पना प्रस्तुत की है, भरत के बाद भी सदियों तक अन्य भारतीय आचार्यों ने भी उसी प्रभाव की छाया में नाटक की परिभाषा में प्रस्तुत की और नाट्यकारों ने विभिन्न रूप में की।

परवर्ती आचार्यों के मन्तव्य—सागरनंदी ने लोक के सुख-दुःख से समुद्भूत अवस्था के अभिनय को नाट्य रूप में स्वीकार किया है[2] जो नितान्त भरतानुसारी है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने एक ही श्लोक में भरत की मान्यताओं को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया कि राज-चरित ख्यात हो, पुरुषार्थों में से मोक्ष को छोड़ शेष फलरूप में प्राप्य हों, अंकों में विभाजन, संध्यांगों की योजना तथा नायक प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हो[3]। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, दशरूपककार धनंजय, शिंगभूपाल और विद्यानाथ आदि आचार्यों की परिभाषा इसी परंपरा में है।[4] शारदा-तनय ने भावप्रकाशन में सुबंधु के मतानुसार पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र नामक नाटक की पाँच जातियों का उल्लेख किया है। (भा० प्र०, पृ० २३८-४०)। इन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नाटक की परिभाषाएँ नितान्त भरतानुसारी ही नहीं हैं अपितु भरत की मूल परिभाषाओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं। भारतेन्दु और श्यामसुन्दरदास की परिभाषाएँ उसी परंपरा में हैं। भारतेन्दु की परिभाषा भरत के 'श्रव्य दृश्य क्रीडनीयक' की निकटवर्ती है।[5]

नाटक के कतिपय विधि-निषेध—भरत ने नाटक के प्रसंग में कतिपय विधि-निषेधों का भी उल्लेख किया है। नाटक का विभाजन अंकों में होना चाहिए। अंक पाँच से दस ही तक हों। अधिक होने पर वे महानाटक होते हैं जैसे 'हनुमन्नाटक'। अंकों के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु की सुश्रृंखलता के लिए प्रवेशक और विष्कंभक की योजना होनी चाहिए।[6] युद्ध, राज्य-भ्रंश, मरण और नगरोपरोध आदि के दृश्य इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए। नायक के वध का दृश्य प्रस्तुत न कर उसका अपसरण, ग्रहण या संधि आदि की योजना करनी चाहिए।[7] किसी भी अंक में घटनाओं की ऐसी योजना नहीं चाहिये कि पात्रों की अनावश्यक भीड़-भाड़ हो जाए, जैसे सेतु-बंध की घटना[8]। नाटकीय घटनाओं की परिसमाप्ति 'गोपुच्छाग्र' की तरह होनी चाहिए। नाटक

१. सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥ ना० शा० १९।१४७।

२. अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते। ना० शा० पृ० १२।

३. ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्।
सांगोपायदशासंधि दिव्यांगं तत्र नाटकम्। नाट्यदर्पण, पृ० १, श्लोक ५।

४. साहित्य दर्पण ६।७-११, दशरूपक—३।१, २२-३८, रसार्णवसुधाकर ३।१२८-३२; प्रतापरुद्रीय नाटक प्रकरण ३२-३३। भावप्रकाशन, पृ० २२१-२२२।

५. 'काव्य केल सर्वगुणसंयुक्त खेल को नाटक कहते हैं।' भारतेन्दु नाटकावली, भाग २, पृ० ४२१-४२८; तथा—क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्। ना० शा० १।११ ख, श्यामसुन्दरदास; रूपक रहस्य, पृ० १६८-१६९।

६. ना० शा० १८।११, २९।

७. ना० शा० १८।३८-४० क।

८. न महाजन परिवारं कर्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा।
ये तत्र कार्यपुरुषाः चत्वारः पंच वा ते स्युः। ना० शा० १८-४१ क।

संबंधी विधि-निषेधों के क्रम में भरत की दृष्टि सदा प्रयोगात्मक रही है। अतएव नाट्यप्रयोग की दृष्टि से एक और भी महत्त्वपूर्ण भाषा-संबंधी उनका विधान है। नाटक की भाषा मृदुललित पदाढ्य, गूढ़शब्दार्थहीन और जनपद-सुखबोध्य होनी चाहिए। अन्यथा क्लिष्ट भाषायुक्त नाटक तो ऐसा ही अशोभन मालूम पड़ता है जैसे कमण्डलधारी संन्यासियों से घिरी वेश्या।[1] अतः भरत की दृष्टि तो अत्यन्त स्पष्ट एवं उपयोगी है। दुर्भाग्यवश संस्कृत के परवर्ती नाटककारों ने भरत के नाट्यसिद्धान्तों की अवहेलना की। फलस्वरूप संस्कृत नाटकों का ह्रास हुआ और वे आभिजात्य वर्ग के आमोद-प्रमोद का विषय बनकर रह गये। किसी व्यापक मनोभूमि के अभाव में वे प्रकृत रूप में परिपल्लवित नहीं हो सके।

प्रकरण

प्रकरण रूपक का प्रधान भेद है और नाटक की तरह पूर्ण लक्षण भी। यह कल्पना-प्रधान रूपक है। कवि की प्रतिभाशक्ति साध्यफल, वस्तुवृत्त तथा नायक की परिकल्पना स्वतन्त्र रूप से करती है। इस दृष्टि से भरत द्वारा प्रयुक्त औत्पत्तिक, आत्मशक्या, अनार्ष, अभूतगुणयुक्त तथा आहार्य आदि शब्द बड़े ही महत्व के हैं। आधारभूमि की इन्हीं भिन्नताओं के कारण नाटक से प्रकरण एक भिन्न एवं स्वतन्त्र नाट्य-प्रणाली है।

कल्पित कथावस्तु : नायक : साध्यफल—प्रकरण की कथावस्तु और साध्य, उत्पाद्य होती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो। बल्कि वह अनार्ष मात्र हो, अर्थात् पुराण आदि में उपनिबद्ध कथाओं के आधार पर पल्लवित न हो। परन्तु वृहत् कथा आदि लोकपरम्पराश्रित ग्रन्थों में उपनिबद्ध कथाओं के आधार पर विकसित हों।[2] अभिनवगुप्त ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि न केवल अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों ही से अपितु पूर्व निबद्ध काव्यों से भावों और वस्तु आदि का आहरण करना चाहिए।[3] वस्तुतः प्रकरण सम्बन्धी भरत की विप्रतिपत्ति निषेधात्मक है और स्वीकारात्मक भी। निषेधात्मक 'अनार्ष' के प्रयोग द्वारा रामायण, महाभारत आदि का प्रकरण के वृत्त के स्रोत के रूप में निषेध है। सम्भव है भरत से पूर्व नाटक और प्रकरण के स्रोत एक-दूसरे से भिन्न नहीं हो पाये हों। भरत ने उनकी 'आर्षता' का स्पष्ट निषेध किया है।[4] यह भी सम्भव है कि नाटक की तरह प्रकरण भी प्रख्यात-उत्पाद्य दोनों ही रहे हों; परन्तु भरत ने उनकी नितान्त मौलिकता का

---

१. मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्।
जनपदसुखबोध्यम् युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्। ना० शा० १६।१५२ख-१५३ (गा० ओ० सी०)।

२. यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तुशरीरं च नायकं चैव।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद्बुधैर्ज्ञेयम्। ना० शा० १८।४५, द० रू० ३।३६-४२, ना० ल० को०, सा० द० ६।२५३-४।

३. अ० भा०, भाग २, पृ० ४३०।

४. From this it may be assumed that once there were Prakaranas in which the plot was not wholly original. N. S. Eng. Trans.—M. M. Ghosh, p. 362-363.

विधान किया है। यह पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों से आहरणीय होने पर 'अभूतगुणयुक्त' होना चाहिए। भरत की दृष्टि से प्रकरण की कथावस्तु, उसका साध्यफल कवि-कल्पना की सृष्टि हो। प्राचीन कवियों की आदृत कथा में प्रकरण-रचयिता कल्पना द्वारा रसमयता का संचार करे। अनार्ष के रसमय बनाने से श्रद्धालुओं को जुगुप्सा नहीं होती।

कल्पित नायक और पात्र—प्रकरण का नायक नाटकानुसारी राजा आदि नहीं होता, अपितु विप्र, अमात्य और सार्थवाह होते हैं। उनके नानाविध चरित का प्रयोग कथा-सामग्री के रूप में होता है। अतः शृंगार के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सामग्री का उपयोग होता है। इनमें से कोई भी नायक हो सकता है।[1] नाटक के उदात्त नायक राम या शिव के समान दिव्य नायकों का प्रयोग नहीं होता और न राज-संभोग का ही कोई अवकाश रहता है। निःसन्देह दिव्य नायक का निषेध तो भरत ने नाटक के लिए भी किया है। राजा के सम्मान, गौरव और प्रतिष्ठा का चमत्कार प्रकरण में नहीं दिखाई देता। क्योंकि यहाँ न राजा होते हैं और न उनकी छायानुवर्तिनी गौरव-गरिमा ही रहती है।[2] राजाश्रित कंचुकी आदि राजकीय पात्रों के स्थान पर वेशकला में निपुण विट, श्रेष्ठी और दास आदि पात्रों की प्रधानता रहती है। अभिनवगुप्त ने प्रकरण के लिए विदूषक का महत्त्व स्वीकार नहीं किया है। उनकी दृष्टि से उसका स्थान विट ग्रहण करता है।[3] परन्तु 'मृच्छकटिक' प्रकरण के प्रथम अंक में विट और विदूषक दोनों एक साथ ही प्रस्तुत हुए हैं। पुनश्च दोनों पात्रों की उपयोगिता भिन्न एवं स्वतन्त्र है। दोनों के कार्य-व्यापार से हास्य रस और व्यंग्य का सृजन होता है परन्तु विदूषक नायकानुवर्ती होता है और विट प्रायः वेश्यानुवर्ती। अतः प्रकरण में विट और विदूषक का एक साथ ही प्रयोग हो सकता है।

प्रकरण की नायिका—स्त्री-पात्रों में वेश्या प्रधान होती है कदाचित् कुलांगना भी। परन्तु सचिव, अमात्य, सार्थवाह एवं पुरोहित जैसे विशिष्ट और सम्भ्रान्त पात्रों के मध्य पारिवारिक कथा का क्रम चल रहा हो, वहाँ वेश्या की उपस्थिति का निषेध है। यही नहीं, एक ही दृश्य में वेश्या और कुलस्त्री का एक काल में प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त की कुलवधू धूता का वसन्तसेना से नाट्य के अवसान में वधू के रूप में ही मिलन हो पाता है।[4] चारुदत्त और वसन्तसेना का मिलन या तो एकान्त उपवन में आयोजित है या रात्रि में। अभिनवगुप्त के मतानुसार यदि प्रयोजनवश दोनों एक ही दृश्य में वर्तमान भी हों, तो दोनों की भाषा और प्रकृति का अन्तर खूब स्पष्ट होना चाहिए। वेश्या की भाषा संस्कृत और कुलांगना की शौरसेनी होती है, तथा कुलांगना का आचार विनय-प्रधान होता है, वेश्या का उसके विपरीत।[5]

प्रकरण और प्रकृत जीवन का सुख-दुःखात्मक राग—नाटक की भाँति अंक, विष्कंभक, संधियों एवं वृत्तियों का प्रयोग प्रकरण में किया जाता है। परन्तु कैशिकी की मात्रा यहाँ नाटक की अपेक्षा कम रहती है, क्योंकि प्रकरण के नायक-नायिका 'अपायशतों' का अतिक्रमण कर साध्य तक पहुँचते हैं। अतः शृंगार का पर्याप्त अवकाश नाटक की तरह यहाँ नहीं है। यह कोई आव-

---

१. ना० शा० १८।४८-४९ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० १८।५०-५२।

३. कंचुकिस्थाने दासः विदूषकस्थाने विटः अमात्यस्थाने श्रेष्ठीत्यर्थः। अ० भा०, भाग २, पृ० ४३१।

४. मृच्छकटिकम्, अंक १०, पृ० २५९ (नि० सागर)।

५. ना० शा० १८:५१-५३ (गा० ओ० सी०)।

श्यक नहीं है कि प्रेम-कथा वस्तुविधान का निश्चित आधार हो ही। मृच्छकटिक की राजनीतिक कथा में प्रेमतत्त्व का नितान्त अभाव है। नाटक से प्रकरण कई अर्थों में भिन्न है। नाटक का आधारभूत स्रोत वैदिक साहित्य से पुराण तक सम्भ्रान्त और शिष्ट साहित्य रहा होगा, जबकि प्रकरण के लिए स्रोत के रूप में इस उच्चस्तरीय साहित्य का सर्वथा निषेध किया गया है। इस प्रकार प्रकरण न केवल स्वरूप, पात्र, रचना के आदर्श और उद्देश्य की दृष्टि से ही भिन्न हैं, वे अपने मौलिक तत्त्वों की दृष्टि से भी पृथक् हैं। नाटक आदर्श जीवन का भव्य और उदात्त चित्र है, जबकि प्रकरण प्रकृत जीवन के सामाजिक साम्य-वैषम्य, राग-विराग आदि की प्राण-शक्ति से उच्छ्वसित है। प्रकरण कल्पना-प्रधान तो है पर उसके प्राणरस में सुख-दुःखात्मक यथार्थ जीवन-भूमि की सोंधी गंध है, जबकि नाटक में स्वर्गंगा के फूलों की या राजप्रासादों के दुर्लभ भाव की भीनी गंध।

परवर्ती आचार्यों की मान्यता—प्रकरण के सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों ने भी पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। विचार के प्रसंग में भरत के प्रकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त का उपवृंहण करते हुए प्रकरण एवं तदन्तर्गत नायिकाओं के अनेक भेदों की परिकल्पना की है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नेता, वस्तु और फल की विभिन्नता के आधार पर सात भेद तथा उन सातों के भी कुलस्त्री, गणिका तथा कुलस्त्री-गणिका इन तीन नायिकाओं में से प्रत्येक के आधार पर प्रकरण के २१ भेदों का उल्लेख किया है।[1] वस्तुतः नायिकाओं के इन तीन भेदों के आधार पर प्रकरण के इन तीन भेदों का तो विवरण नाट्यदर्पण, भावप्रकाशन, रसार्णव सुधाकर, नाटक लक्षण कोष, साहित्यदर्पण और दशरूपक में समान रूप से मिलता है।[2] शुद्ध प्रकरण में कुलस्त्री नायिका होती है जैसे मालतीमाधव में मालती धूर्त में गणिका नायिका होती है जैसे तरंगदत्ता और मिश्र या संकीर्ण में कुलस्त्री और गणिका दोनों ही नायिका होती हैं। मृच्छकटिक में धूता और वसन्तसेना दोनों ही नायिका हैं।

प्रकरण में शृंगार की प्रधानता की दृष्टि से आचार्यों में मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने प्रकरण में शृंगार की प्रधानता प्रतिपादित की है।[3] परन्तु नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से प्रकरण में क्लेशातिशयता के कारण शृंगार को प्रधानता नहीं दी जा सकती। मालती-माधव में शृंगार का अतिशय चित्रण नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से भरत-विरोधी है।[4] इसी संदर्भ में वी० राघवन् महोदय का यह विचार मान्य प्रतीत होता है कि संस्कृत के मृच्छकटिक और मालतीमाधव आदि प्रकरणों में 'त्रासद' तत्त्व है और इसीलिए भरत एवं अन्य अनेक परवर्ती आचार्यों ने इस रूपक भेद में शृंगार-प्रधान कैशिकी का परिवर्जन किया है।[5] 'शारिपुत्त' प्रकरण

---

१. कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री त विपर्यये।
   विटे पत्यौ द्वयं तस्मात् एकविंशतिथाप्यदः। ना० द० २।३।
२. र० सु० ३।२१४-२१७, भा० प्र०, पृ० २४१-२४३: ना० ल० को०, पृ० ११६, सा० द० ६।२५३-२५४. द० रू० ३।३६-४२।
३. रसः प्रधान : शृंगारः। र० सु० ३।२१५, शृंगारोऽङ्गी। सा० द० ६। २५३।
४. वृत्तिचतुष्टयस्यातिदेशेऽपि कैशिकी बाहुल्यं न निबन्धनीयम्।
   क्लेशस्य प्राचुर्येण शृंगार हास्ययोरल्पत्वात्। यत् पुनर्भवभूतिना मालतीमाधवे कैशिकीबाहुल्यमुप-निबद्धं तन्न वृद्धाभिप्रायमनुरुणद्धीति। ना० द० (विवृत्ति) पृ० १०६ (द्वि० सं० गा० ओ० सी०)।
५. द सोशल प्लेज इन संस्कृत, पृ० ५-६ (वी० राघवन्)।

के आधार पर उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि प्रकरण में धार्मिक तत्त्वों का भी समावेश होता था। परन्तु बौद्ध धर्म पर आधारित यह प्रकरण अपवाद ही है। अश्वघोष ने काव्य और नाट्य की रचना बौद्ध धर्म के विचारों के प्रचार के लिए की थी, न कि स्वतन्त्र रूप से काव्य या नाट्य-रचना के लिए।[1]

कथावस्तु, साध्यफल और पात्रों की परिकल्पना प्रकरण में उत्पाद्य हो, इस पर सब आचार्य सहमत हैं। सबने समान रूप से प्रकरण के तीनों तत्त्वों की कल्पना-प्रधानता पर बल दिया है।[2] पात्र के रूप में विप्र, वणिक्, सचिव, विदूषक, विट, धूर्त, चेट आदि की प्रधानता समान रूप से स्वीकार की है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध में प्रकरण के शुद्ध और शंकर नामक दो भेदों का उल्लेख किया है।[3] अन्य कोई नवीनता नहीं है। प्रकरण के लेखकों ने भरत का अनुकरण करते हुए प्रकरण की रचना की। उत्तरवर्ती शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र और प्राप्त प्रकरणों के आधार पर लक्षणों का निर्धारण किया। स्वभावतः आचार्यों के विचारों में किंचित् मतभिन्नता तो है पर किसी नई विचार-पद्धति का आलोक नहीं।

भरत एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों के आधार पर प्रकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(क) प्रकरण कल्पना-प्रधान रूपक है, अतएव इसका स्रोत लौकिक साहित्य है।

(ख) इसके नायक ख्यात राजा आदि नहीं, सेनापति, अमात्य और वणिक् आदि धीर-प्रशान्त होते हैं।

(ग) वेशस्त्री की इसमें प्रधानता होती है पर शिल्प व्यपदेश से कुलांगना का प्रवेश भी निषिद्ध नहीं है।

(घ) नाटक के समान अंक विष्कंभक, प्रवेशक, सध्यंग और नाट्यालंकारों का प्रयोग होता है।

(ङ) शृंगार की योजना तो होती है पर क्लेशायत्तता के कारण उसकी प्रधानता नहीं होती।

वस्तुतः प्रकरण जीवन की उर्वर धरती पर खिला एक सुरभित पुष्प है, जिसमें कल्पना का सौन्दर्य और मनुष्य की संवेदना का सरस सुवास उच्छ्वसित होता रहता है।

नाटिका

भरत ने दस रूपकों के विवेचन की प्रतिज्ञा करके भी नाटिका नामक रूपक का भी प्रतिपादन किया है। 'नाटिका' नाट्यशास्त्र का मूल अथवा प्रक्षिप्त अंश है, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। मूल नाट्यशास्त्र में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश आ मिले हैं यह

---

१. सौन्दरानन्द १८।६४ प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षान् प्रतिहतम्।
काव्य व्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति ॥

२. यत्रेति वृत्तमुत्पाद्यम् र० सु० ३.११४, भा० प्र०, पृ० २४२। कविना रसपुष्टि हेतुरधिकावापो विधेय इति, ना० द०, पृ० १०४।

३. भारतेन्दु नाटकावली में संगृहीत 'नाटक' नामक निबन्ध, पृ० २२४।

स्पष्ट रूप से अभिनवगुप्त ने 'नाट्यसंग्रह' के प्रसंग में प्रतिपादित किया है।[1] यदि नाटिका भरत नाट्यशास्त्र का मूल अंश न भी हो तो भी यह अत्यन्त प्राचीन रूपक भेदों में है। दशरूपक, विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाटिका का रूपक अथवा उपरूपकों के अन्तर्गत स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[2]

नाटिका का स्वरूप—नाटक और प्रकरण नामक प्रधान रूपक भेदों के विविध तत्त्वों के योग से नाटिका की रचना होती है। प्रकरण के समान इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित होती है और नायक नाटक के समान प्रख्यात एवं नृपवंशी होता है। अन्तःपुर की नवानुरागपूर्ण संगीत कन्या नायिका होती है। इसमें नारी-पात्रों की बहुलता, ललित अभिनय, अंगों का सुसंगठन, नृत्य, गीत और पाठ्य की रमणीय योजना और रति-संभोग की प्रधानता रहती है। नायक और संगीत कन्या के गुप्त प्रेम के कारण देवी द्वारा क्रोध और राजा द्वारा उसके उपशमन आदि की अनेक रमणीय योजनाएँ होती हैं। पात्र के रूप में नायक, देवी, दूती और परिजन आदि का प्रयोग होता है। इसमें चार अंक होते हैं। इस रूपक में शृंगार की प्रधानता होती है।[3]

अन्य आचार्यों के मन्तव्य—भरत ने नाटिका की इतनी स्पष्ट और विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है कि परवर्ती आचार्यों के लिए नवीन तथ्यों का आकलन करना संभव नहीं था। अतः उन्होंने उन्हीं विचारों का विस्तार किया है। दशरूपक के अनुसार यह संगीत कन्या भी ज्येष्ठ नायिका के समान नृप वंशजा ही होती है पर नितान्त मुग्ध, दिव्य और अति मनोहर भी। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार तो देवी और कन्या दोनों ही नायिकाएँ होती हैं। परन्तु दोनों की प्रख्यातता और अप्रख्यातता के भेद से नाटिका के चार भेद होते हैं। धनंजय, धनिक और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटिका का विवेचन करते हुए 'प्रकरणिका' के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किये हैं। धनंजय और धनिक के अनुसार प्रकरणिका का पृथक् अस्तित्व नहीं है और रामचन्द्र के अनुसार प्रकरण पृथक् अस्तित्व है। उनकी दृष्टि से नाटिका नाटकोन्मुखी है और प्रकरणिका प्रकरणोन्मुखी। सागरनंदी, शारदातनय और विश्वनाथ ने भरत के अनुसार ही नाटिका को चतुरंकी, शृंगार-प्राय और कैशिकी-वृत्ति-युक्त माना है। अभिनवगुप्त के अनुसार रतिसंभोग आदि की योजना तो कन्या के लिए होती है और क्रोध, प्रसाद और दंभ आदि की योजना ज्येष्ठ देवी के लिए। हर्ष-रचित प्रियदर्शिका और रत्नावली, ग्रामेयी (ना० ल० को०) तथा भारतेन्दु-रचित 'चन्द्रावली' इसके उदाहरण हैं।[4]

समवकार

समवकार प्रधान रूपकों में है, और पात्र, कथावस्तु एवं अन्य नाट्य-व्यापारों के संदर्भ में

---

१. अनेन तुश्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते न तु भरते। अ० भा० भाग १, पृ० २६५-६।

२. एवं (नाटिकावत्) प्रकरणी कार्या। विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६।

३. अनयोश्च बंधयोगादन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटक योगे प्रकरणेवा।
प्रकरण नाटक भेदादुत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपतिम्।
अन्तःपुर संगीत कन्योमधि कृत्य कर्तव्याः॥ —ना० शा० १८।५७-६० (गा० ओ० सी०)।

४. ३।४३-४८ दशरूपक, नाट्यदर्पण २।५-१०, ना० ल० को० पृ० ११३-४, सा० द० ६।२८१, भा० प्र०, पृ० २४३, अ० भा० भाग-२, पृ० ४३५।

यह नितान्त विलक्षण है। समवकार की कथावस्तु, पात्र एवं साध्यफल के सम्बन्ध में भरत ने पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है। इससे प्राचीन रूपकों के उद्भव के इतिहास से हमारा परिचय होता है। इस परिप्रेक्ष्य में समवकार का बड़ा महत्त्व है।

नायक—समवकार की कथावस्तु का संचयन देव और असुरों के उद्धत जीवन से होता है और इसके पात्र भी देव और असुर होते हैं। पर वे नाटकों के नायक की तरह प्रख्यात और उदात्त भी होते हैं।[1] भरत ने देवों को यद्यपि उद्धत कहा है परन्तु मूलतः उद्धत होने पर भी परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा वे उद्धत, गंभीर तथा धीर आदि भी होते हैं। विष्णु, ब्रह्मा, त्रिपुरारि, और इन्द्र आदि एक-दूसरे की अपेक्षा प्रशान्त और उद्धत होते हैं। ब्रह्मा तो प्रशान्त हैं पर नृसिंह उद्धत हैं। इस दृष्टि से नाटक के नायक की तरह इनके भी चार भेद तो स्वभावभिन्नता की दृष्टि से होते ही हैं।[2] धनंजय, रामचन्द्र, शारदातनय, सागरनंदी तथा शिंगभूपाल आदि ने समवकार के नायक को दिव्य ही माना है।[3] परन्तु आचार्य विश्वनाथ उसे मर्त्य भी मानते हैं।[4] उनके विचार परस्पर-विरोधी हैं। आरंभ में उन्होंने दानवों को नायक माना, पुनः ये मानव नायक कैसे हो सकते हैं? समवकार में नायकों की बहुलता होती है और इनकी संख्या भरत ने बारह बताई है। ये बारह नायक होते हैं, नायक या प्रतिनायक मिलाकर इनकी संख्या बारह होती है, यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु तीन अंकों के समवकार में संभवतः प्रत्येक अंक में चार नायक या नायक-प्रतिनायकों का प्रयोग होता है।[5] या प्रत्येक अंक में बारह नायक होते हैं।

त्रेत का प्रयोग—तीन अंकों के समवकार में तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का उपद्रव और तीन प्रकार का शृंगार प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम अंक का समय-मान बारह नाडिका है, द्वितीय अंक की चार और तृतीय अंक की दो। इस प्रकार अंक की अवधि उत्तरोत्तर स्वल्प होती जाती है। एक नाडिका २४ मिनट की होती है।[6]

तीनों अंकों में प्रयोज्य कपट, उपद्रव और शृंगार के तीनों रूपों का भी व्याख्यान भरत ने किया है। युद्ध, जल, वायु, अग्नि, हाथी या नगर के अवरोध आदि के कारण उपद्रव होता है। इसी प्रकार कपट भी पर-प्रयोजित, कभी देववश और कभी जीवन के सुख-दुःख के आघातों से उत्पन्न होता है। शृंगार के भी तीन प्रकार होते हैं, धर्म-प्रेरित, अर्थ-प्रेरित और काम-प्रेरित। धर्म-प्रेरित शृंगार प्रतिपत्नी का, अर्थ-प्रेरित शृंगार वेश्या और वेश्याकामी का तथा काम-प्रेरित शृंगार अहल्या और इन्द्र आदि के समान होता है। तीनों प्रकार के कपट, विद्रव और शृंगार में से एक-एक का योग प्रत्येक अंक में होता है। इस प्रकार समवकार की कथावस्तु नाटक या प्रकरण की भाँति शृंखलाबद्ध नहीं होती, वह बिखरी हुई होती है। संभवतः कथावस्तु की इस 'विकीर्णता' के कारण ही इसका अन्वर्थ नाम समवकार है।[7]

१. ना० शा० १८।६२-६३ (गा० ओ० सी०)।
२. अ० भा० भाग २, पृ० ४३७।
३. ना द०, पृ० १०६, उदात्त देवदैत्येश, द०रू० ३।६२-६८, भा० प्र० २४८-२५०, र०सु०, पृ०२८८-२९०।
४. नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवा। सा० द० ६। २५७, भा० प्र० पृ०, २४८।
५. अ० भा० भाग २, पृ० ४३४।
६. ना० शा० १८।७०-७२ (गा० ओ० सी०)।
७. समवकीर्यन्तेस्मिन्नर्था इतिसमवकारः। ना० द०, पृ० १०६।
संगतैरवकीर्णैश्चार्यैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियन्ते निबध्यंते। ना० द०, पृ० १०६।

नानारसाश्रयता—कथावस्तु के आधार पर रस भी परिपल्लवित होता है। समवकार में नायक के अनुरूप ही वीर या रौद्र रसों की प्रधानता रहती है। अन्य कोमल रसों का उद्भावन होता है पर वेक्षण स्थायी होते हैं। भरत ने 'नानारससंश्रयता' का उल्लेख किया है। यहाँ श्रृंगार रस की स्थिति तो है, क्योंकि पारस्परिक संघर्षों के मूल में देवों और दानवों का किसी सुन्दर स्त्री के प्रति आकर्षण का भी भाव रहता है।[१] परन्तु वह भी क्षण-स्थायी होता है। स्वभावतः उसके 'नर्म' आदि चारों अंगों के योग न होने से यहाँ 'कैशिकी' वृत्ति भी नहीं होती। भट्टतौत के अनुसार[२] समवकार में काम की सत्ता तो रहती है परन्तु वह काम दुष्यन्त या राम-सा नहीं रावण का-सा होता है, अतः उसमें विलास का रस कहाँ ? और कैशिकी वहाँ ही होती है जहाँ काम का कोमल विलास हो। अतः इसमें भारती, सात्त्वती और आरभटी के लिए ही अधिक अवकाश रहता है। वीर और रौद्र रसों का तेज और ओज ही ऊर्जस्वित होता है। नाट्यदर्पणकार के भी विचार इसी परंपरा में हैं।[3]

अल्पाक्षर छन्द—छन्दों के रूप में उष्णिक्, गायत्री आदि कुटिल बंध के छन्दों के प्रयोग का विधान भरत ने किया है। सात अक्षरों का उष्णिक् विषम छन्द है और छः अक्षरों की गायत्री अर्धसम। परन्तु भरत के टीकाकार (?) उद्भट का विचार है कि इन छन्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि अधिक अक्षर वाले स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग करना चाहिये।[४]

अभिनवगुप्त के अनुसार समवकार की विशेषता यह है कि देव यात्रा आदि के दृश्य से श्रद्धालु भक्त इस प्रयोग से अनुगृहीत होते हैं और स्त्री, बालक और मूर्ख विद्रव, कपट तथा श्रृंगार आदि के दृश्यों पर मुग्ध होते हैं।[५] इसका काव्यवृत्त यद्यपि विकीर्ण रहता है पर कार्य-व्यापार बड़ा प्रभावशाली रहता है। अतः समवकार में आकर्षण और अनुरंजन का योग अत्यन्त मनोमुग्धकारी होता है। भरत के नाट्यशास्त्र में दूसरी बार प्रयुक्त नाट्य 'अमृत मंथन' समवकार ही था। दशरूपककार धनंजय ने भी उसी रूप में स्वीकार किया है।[६] यह प्रथम सफल नाट्य-प्रयोग था। भारतेन्दु ने भरत के अनुसार ही तीन अंक, बारह नायक तथा दैवी कथा स्वीकार की है।[७] उन्हें समवकार का कोई उदाहरण नहीं मिला।

ईहामृग—ईहामृग रूपक के अत्यन्त प्राचीन भेदों में है। इसका उदाहरण उपलब्ध नहीं है। बारहवीं सदी के बाद के कुछ ईहामृगों का उल्लेख मिलता है। वत्सराज-रचित 'रुक्मिणीहरण'

---

१. एवं कार्यस्तज्ज्ञैः नाना रससंश्रयः समवकारः। ना० शा० १८।७३-७७ (गा० ओ० सी०)।

२ उपाध्यायास्त्वाहुः—न कामसद्भावमात्रादेव कैशिकी संभवः।
रौद्रप्रकृतीनां तदभावात् विलास प्रधानं यद्रूपं सा कैशिकी। अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४४१।

३. देव दैत्यानामुद्धतत्वेन शृंगारस्य छायामात्रत्वेन निबन्धनादिति। ना० द० पृ० १०६ (गा० ओ० सी०) द्वि० सं०।

४. नैव प्रयोज्यानित्युद्भटः पठति, स्रग्धरादीन्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे।
—अ० भा० भाग २, पृ० ४४१।

५. एवं श्रद्धालवो देवनाभक्ताः तद्देवमात्रादावनेव प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसंधान हृदयाः स्त्रीबाल-मूर्खाश्च विद्रवादिनाहृतहृदयाः क्रियन्त इत्युक्तः समवकारः। अ० भा० भाग २, पृ० ४४१।

६. तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
दृष्टाह्यभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात्॥ ना० शा० ४।४, द० रू० ३।६४।

७. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० २२४, भाग २।

बारहवीं सदी का है। कृष्ण मिश्र का 'वीर-विजय' तथा कृष्ण अवधूत का 'सर्वविनोद' नाटक और भी परवर्ती है।[1] रूपकों में नाम भी इसका कुछ विलक्षण है। 'ईहा' का इच्छा या अभिलाषा अर्थ होता है।[2] 'मृग' शब्द का प्रयोग चारा खोजने वाले पशु के अर्थ में वैदिक काल में होता था। ऋग्वेद में हस्तिमृग और अश्वमृग आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। बाद में मृग नामक पशु के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया।[3] नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विषय के विश्लेषण से ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईहामृग की कथावस्तु 'अलभ्यदिव्य' नायिका के मार्गण को लक्ष्य कर ही विकसित होती है। प्रायः सब नाट्यशास्त्रियों ने इस अर्थ-बिन्दु को दृष्टि में रखकर ईहामृग के अर्थ की कल्पना की है।[4]

अलभ्यदिव्य नारी के लिए संघर्ष—दिव्य स्त्री के लिए दिव्य पुरुष युद्ध करते हैं। दिव्य स्त्री की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा के आधार पर इस रूपक की कथावस्तु का विकास सुश्रृंखल रीति से होता है। परन्तु वह विप्रत्यय-कारक होता है। उद्धत स्वभाव के पुरुष-पात्र तथा स्त्री के रोष के योग से काव्यबंध परिपल्लवित होता चलता है। अलभ्य स्त्री की प्राप्ति के कारण श्रृंगार का भाव भी तो रहता ही है परन्तु संक्षोभ, विद्रव, संफेट, स्त्री का भेदन, अपहरण और अवमर्दन आदि नाट्य-व्यापारों के प्रयोग से रूपक में चमत्कार का सृजन होता है।

वध का शमन—ईहामृग में अलभ्यदिव्य नारी की प्राप्ति के प्रयत्न में उद्धत प्रकृति के दिव्य पात्रों में परस्पर संघर्ष का अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण वातावरण तो उत्पन्न हो जाता है। परिणाम-स्वरूप एक-दूसरे पुरुष के वध का भयानक क्षण उपस्थित हो जाने पर भी किसी व्याज से वध के शमन का विधान भरत ने किया है।[5]

व्यायोग और ईहामृग—व्यायोग और ईहामृग एक-दूसरे के निकटवर्ती हैं। व्यायोग की तरह ही ईहामृग में पात्र उद्धत होते हैं, उनकी संख्या बारह होती है। नायक प्रख्यात होता है, और वस्तुवृत्त भी (प्रख्यात होता है) अंक एक होता है। वीर और रौद्र रसों से उद्दीप्त होता है, पर समवकार की तरह श्रृंगार का नहीं, रत्याभास का क्षण-स्थायी आविर्भाव अवश्य होता है। वृत्तियाँ आरभटी, भारती और सात्वती आदि मुख्यतः वर्तमान रहती हैं।

उत्तरवर्ती आचार्यों की मान्यता—उत्तरवर्ती आचार्यों ने ईहामृग के विवेचन में भरत का अनुसरण किया है। नाटकलक्षण रत्नकोषकार सागरनंदी ने बारह पात्रों के स्थान पर छः, दो प्रधान रसों के स्थान पर छः रसों तथा चार अंकों का योग प्रतिपादित किया है।[6] परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने ईहामृग के लिए एक ही अंक स्वीकार किया है। अन्य किसी आचार्य के मत से एक अथवा छः नायक की भी कल्पना ईहामृग के लिए की गई है।[7] वस्तुतः ईहामृग के अंक, रस और नायक की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में ऐकमत्य नहीं है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार

१. ना० शा० अं० अनु०, पृ० ३६६ पादटिप्पणी तथा इण्डियन ड्रामा : स्टेनकोनो, पृ० ११४।

२. आप्टे, पृ० २५३, ईहा प्रधानो मृगः।

३. भाषा में ध्वनि परिवर्तन का चमत्कार—भाषा, पृ० १६, वर्ष १-२।

४. नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहति वांच्छतीति ईहामृगः (सा० द० ६।२६०)।

५. ना० शा० १८।७७-८४, द० रू० ३।७२-७६।

६. कैशिकी वृत्तिहीनोऽचतुष्ट्याान्वितो यथोर्वशीमर्दनम् दिव्यबाला करणप्रवृत्त युद्धः प्रसिद्धः पुरुषः विप्रत्यपककारकः षण्णायकः षड्रसः वस्तुश्रृंगारयुक्तो नायकसंग्रामयुक्तः। ना० ल० को०, पृ० ११८।

७. सा० द० ६।२६०; नाट्यदर्पण, पृ० ११६।२५-३६; भाव प्रकाशन, पृ० २५३।

इसमें चार अंक आवश्यक नहीं हैं। एक अंक भी हो सकता है। नायकों की संख्या वे बारह मानते हैं। इतिवृत्त ख्यात और आख्यात भी हो सकता है। दिव्य-स्त्री के कारण संग्राम होता है। शारदातनय के विचार सागरनंदी की परम्परा में हैं। कैशिकी के अतिरिक्त तीनों वृत्तियों और भयानक और बीभत्स को छोड़ शेष छः रसों का योग होता है। नायकों की संख्या चार से छः तक होती है। अंक चार होते हैं। स्त्री के कारण संग्राम की भी योजना होती है। अतएव किंचित् कैशिकी का भी प्रयोग होता है। 'कुसुमशेखर' नामक रूपक का ईहामृग के उदाहरण के रूप में शारदातनय ने उल्लेख किया है। भारतेन्दु के अनुसार ईहामृग में नारी-प्रेम के कारण नायक-प्रतिनायक में युद्ध होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य का सम्पादन होता है। अंक चार होते हैं।[१] बाबू श्यामसुन्दरदास ने ईहामृग की परिभाषा दशरूपक के[२] अनुसार ही प्रस्तुत की है। वस्तुवृत्त ख्यात तथा उत्पाद्य दोनों ही हो। अंक चार तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियों का प्रयोग होता है। नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत देवता या मनुष्य होते हैं। न चाहनेवाली दिव्य नारी को प्रतिनायक छिपकर प्रेम करता है। उसी प्रसंग में युद्ध भी होता है। इसमें मरण का सर्वथा निषेध है। भरत ने ईहामृग की कथावस्तु में अलभ्य परम सुन्दरी नारी के लिए उद्धत देव पात्रों में संघर्ष तथा वृत्त की सुश्रृंखलता पर बल दिया है।[3] सब आचार्यों ने भरत की परिभाषा का सामान्यतया अनुसरण किया है।

डिम

'डिम' कई दृष्टियों से नाटक का निकटवर्ती रूपक है। 'डिम' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त ने डिम, डिम्ब और विद्रव को पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार किया है।[४] विद्रव के मूल में उपद्रव तथा उद्धतता का भाव वर्तमान रहता है। डिम्ब शब्द समूहवाचक भी है। देवता, राक्षस, यक्ष, पिशाच और नाग आदि विविध पात्रों के जमघट के कारण ही 'डिम्ब' यह समूहवाचक नाम 'डिम' के लिए प्रचलित हुआ।

प्रख्यात त्रय—नाटक के समान डिम में कथावस्तु, उससे संबंधित देश तथा नायक तीनों ही ख्यात होते हैं। नायक में उदात्तता का भाव वर्तमान रहता है। श्रृंगार और हास्य को छोड़ शेष छः रस इसमें वर्तमान रहते हैं। श्रृंगार के अभाव के कारण कैशिकी वृत्ति को छोड़ शेष तीनों का प्रयोग होता है। काव्य का इतिवृत्त नाना भावों से सम्पन्न होता है तथा रौद्र रस से दीप्त भी। कथावस्तु के विकास के क्रम में निर्घात, उल्कापात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, युद्ध, द्वन्द्वयुद्ध, घर्षण तथा उत्तेजना आदि का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त माया इन्द्रजाल और पुस्तविधि का भी प्रचुर योग होता है। डिम नामक रूपक में देव, भुजगेन्द्र, यक्ष, राक्षस आदि नायक होते हैं।[५] इन नायकों की संख्या सोलह होती है। अंक चार होते हैं तथा अभिनवगुप्त के

१. भारतेन्दु नाटकावली, : परिशिष्ट, पृ० ४२५।
२. दशरूपक ३।७२-७५, रूपक रहस्य; श्यामसुन्दर दास, पृ० १७४।
३. ईहामृगस्तु कार्यः सुसमाहित काव्यंवधश्च। १८।८०ख (गा० ओ० सी०)।
४. डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्यायाः, तद्योगादयं डिमः। अन्ये तु ड्यन्त इति डिमः उद्धतनायकास्तेषां आत्मनां वृत्तिर्यत्रेति। अ० भा० भाग २, पृ० ४४३।४।
५. प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरंगो यै डिमः कार्यः।

अनुसार चार दिनों की घटनाओं की योजना इसमें होती है।[1]

आचार्यों के मन्तव्य—रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनंदिन, शारदातनय, धनंजय, हेमचन्द्र और शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने डिम के विवेचन में भरत का अनुसरण किया है। परन्तु यत्र-तत्र विचारों के विस्तार के सन्दर्भ में किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। आचार्य अभिनवगुप्त और विश्वनाथ की दृष्टि से इसमें विष्कंभक और प्रवेशक के प्रयोग का अवकाश नहीं है।[2] परन्तु शारदातनय की दृष्टि से उक्त दोनों का प्रयोग उचित है।[3] रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दृष्टि से तो डिम में दो ही नहीं, चार रसों का प्रयोग नहीं होता। भरत-निरूपित हास्य और शृंगार के अतिरिक्त शान्त और करुण रस का भी निषेध किया गया है।[4] शान्त के करुण-हेतुक होने से करुण का निषेध तो स्वयं ही हो जाता है।

डिम के उदाहरण के रूप में नाट्य-शास्त्र और दशरूपक में 'त्रिपुरदाह' का उल्लेख है। परन्तु शारदातनय ने तारकोद्धरण और वृत्रोद्धरण तथा सागरनंदी ने भी नरकोद्धरण तथा वृत्रोद्धरण का उल्लेख किया है। काव्यानुशासन में डिम के लिए विद्रोह का भी प्रयोग किया गया है।[5]

भारतेन्दु बाबू ने डिम की बहुत ही संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इस रूपक-भेद में उपद्रव-दर्शन विशेष है। श्यामसुन्दरदास के रूपक-रहस्य में दशरूपक के आधार पर परिभाषा प्रस्तुत की गई है जो भरत के नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है।[6]

व्यायोग

व्यायोग महत्त्वपूर्ण प्राचीन रूपक भेदों में है। यह डिम के समान और उससे किंचित् भिन्न भी है। भरत की दृष्टि से व्यायोग, यह नाम भी अन्वर्थ है। इसमें बहुत-से पात्रों का एकत्र आकलन होता है।[7] अभिनवगुप्त की दृष्टि से युद्धप्राय इस रूपक भेद में पुरुष पात्र युद्ध का प्रयोग करते हैं, अतएव यह व्यायोग होता है।

व्यायोग का वृत्त और नायक—इसका नायक दिव्य नहीं राजर्षि होता है। परन्तु अभिनवगुप्त राजर्षि को भी नायक मानने के पक्ष में नहीं है। पर प्रख्यात वह अवश्य होता है।

शृंगारहास्यवर्जं शेषैः सर्वैः रसैः समायुक्तः।
दीप्तरस काव्ययोनिः नानाभावोपसम्पन्नः॥ ना० शा० १८।८४-८८ (गा० ओ० सी०)।

१. तेन दिनचतुष्टय वृत्तमेवात्र प्रयोज्यम्। अ० भा० भाग २, पृ० ४४४।

२. सा० दर्पण ६।२५६, अ० भा० भाग २, पृ० ४४४।

३. भावप्रकाशन, पृ० २४८।

४. शान्तस्य च करुण हेतुकत्त्वेनोपलक्षत्वात् करुणोऽपि निषिध्यते दुःखप्रकर्षात्मकत्त्वात्।
नाट्यदर्पण २।२१ तथा उसकी विवृत्ति।

५. ना० शा० ४।१० (गा० ओ० सी०); भा० प्र०, पृ० २४८; ना० ल० को०, पृ० ११६; हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० ३२२।

६. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४२५; रूपक रहस्य, पृ० १७२ तथा दशरूपक ३ ५७-५९।

७. बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे।
व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायक शरीरः।
अल्पस्त्रीजन युक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव॥ ना० शा० १८।९०-९२।
तथा - व्यायामे युद्धप्राये नियुद्ध्यन्ते पुरुषा यत्रेत्ति व्यायोग इत्यर्थः।
नियुद्धं बाहु युद्धं संघर्षः शौर्यविधाकुलरूपादिकृता स्पर्धा॥ अ० भा० भाग २, पृ० ४४५।

समवकार की भाँति पुरुष-पात्रों की अधिकता होती है। स्त्री-पात्रों की अल्पता होती है। स्त्री के कारण नायक-प्रतिनायक में कोई संग्राम कल्पित नहीं होता। एक दिन की घटना की ही कथा-वस्तु में योजना होती है। अतएव एक ही अंक होता है। कथावस्तु नायक की तरह ख्यात होती है। उसमें चमत्काराधायक सामग्री के रूप में युद्ध, नियुद्ध, आघर्षण और संघर्षण आदि नाट्य-व्यापारों का प्रयोग होता है। वीर और रौद्र रसों की गरिमा से व्यायोग पूर्णतया दीप्त रहता है। स्त्री-पात्रों के अभाव अथवा अल्पता के कारण कैशिकी वृत्ति को छोड़ शेष तीनों वृत्तियों का प्रयोग होता है। गर्भ-विमर्श को छोड़ अन्य तीनों संधियों का भी प्रयोग होता है।

आचार्यों के मन्तव्य—परवर्ती आचार्यों ने व्यायोग पर भरत-निर्धारित नियमों की छाया में ही विचार किया है। धनंजय के अनुसार इसमें युद्ध की योजना स्त्री के कारण नहीं होती। इसमें अनेक पात्रों का प्रयोग होता है। शारदातनय के भी विचार नितान्त धनंजय के ही अनुरूप हैं। संग्राम अस्त्रीनिमित्तक होता है और नायक तीन-चार से दस तक हो सकते हैं। सागरनंदी ने व्यायोग में ऋषिकन्याओं के परिणय का उल्लेख किया है। विश्वनाथ की दृष्टि से व्यायोग का नायक प्रख्यात धीरोद्धत्त राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष हो सकता है।[1]

भारतेन्दु ने स्त्री-पात्र का निषेध किया है तथा भरत के अनुसार ही युद्ध आदि के प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख किया है। रूपक-रहस्य में प्रस्तुत व्यायोग की परिभाषा भरत और धनंजय की विचारधारा से प्रभावित है।[2] भास का मध्यम व्यायोग का उत्तम उदाहरण प्राप्य है। इतना प्राचीन व्यायोग होने पर भी इसकी परंपरा का विकास नहीं हुआ। बाद में लिखे गये व्यायोगों का इन आचार्यों ने उल्लेख किया है। प्रह्लाददेव का पार्थ-पराक्रम (१२वीं सदी), वत्सराज का परमार्दिदेव (११६३ ई०—१२०३), विश्वनाथ का सौगंधिकाहरण (१३१६ ई०) व्यायोग के उदाहरण हैं। रामचन्द्र का निर्भयभीम तथा मोक्षादित्य का भीमविक्रम विजय भी व्यायोग के रूप में उल्लिखित हैं।[3] धनंजय ने जामदग्न्य जय का उल्लेख किया है। प्रयोग की दृष्टि से व्यायोग का बड़ा महत्त्व है।

उत्सृष्टिकांक

उत्सृष्टिकांक करुणा-प्रधान रूपक है। अभिनवगुप्त के अनुसार दिवंगत आत्माओं के लिए शोकातुर स्त्रियों के विलाप का इसमें अंकन होता है। भास का उरुभंग इसका उत्तम उदाहरण है। विषय और वस्तु दोनों ही ख्यात होते हैं, कभी अपवाद रूप में अख्यात विषयवस्तु का भी कवि उपयोग कर सकता है। उद्धत युद्ध के अवसान के उपरान्त मृतात्माओं के लिए स्त्रियों का रुदन और शोक का प्रवाह इस रूपक की सामग्री के रूप में प्रयोग में आता है। उन स्त्रियों द्वारा नाना प्रकार की व्याकुल चेष्टाओं का प्रदर्शन होता है। अतः सात्वती, आरभटी और कैशिकी इन वृत्तियों को छोड़ केवल वाग्व्यापार-प्रधान भारती वृत्ति का ही प्रयोग होता है।[4]

१. भा० प्र०, पृ० २४८; ना० ल० को०, पृ० ११६; सा० द० ६।२३१-३२।

२. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४२५; रूपकरहस्य, पृ० १७२।

३. टाइम्स ऑफ़ संस्कृत ड्रामा : मनकद, पृ० ५६-६१।
भास : पुलस्कर, पृ० २०३ तथा संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २६५।

४. ना० शा० १८।९०-९-३ तथा—एवं रंजनाप्रधानेन करुणेन युक्तं रूपकमभिधाय
—अ० भा० भाग २ पृ० ४४७।

अदिव्य पुरुष-पात्र—पात्र के रूप में दिव्य पुरुषों को छोड़ शेष पुरुषों का प्रयोग होना चाहिए, पर यदि दिव्यों का प्रयोग पात्र के रूप में हो, तो प्रयोग के लिए उनका देश, भारतवर्ष ही होना चाहिए। देवों की भूमि में तो भोग और आनन्द ही रहता है। वहाँ दुःख और शोक कहाँ ? अतः दिव्य नायक होने पर उनकी प्रयोग-भूमि भारत ही होगी। उत्सृष्टिकांक यद्यपि करुण-प्रधान है पर मूलतः इसकी करुणा में भी रंजनात्मकता रहती है।

एकांकी—उत्सृष्टिकांक एकांकी है, क्योंकि पूर्व-वर्णित व्यायोग भी एकांकी ही है। शारदातनय ने कोहल और व्यास एवं आंजनेय के मतों के आधार पर इसे द्वयंकी और त्र्यंकी भी माना है।[१] शिंगभूपाल की दृष्टि में यह रूपक अमंगल-प्राय तो है पर पर्यवसान मंगल में ही होता है। वध आदि का प्रयोग पुनर्जीवन-धारण करने के लिए होना चाहिए। भावप्रकाशनकार ने इस संदर्भ में लक्ष्मण पर वाण का प्रहार, नागानंद की करुणापूर्ण घटना तथा कादम्बरी के चन्द्रापीड की मृत्यु (?) आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[२]

नाटकान्तर्गत नाटक—कीथ महोदय ने उत्सृष्टिकांक को नाटकान्तर्गत नाटक अथवा अंक के रूप में ही स्वीकार किया है।[३] परन्तु बहुत पहले ही धनिक ने इस प्रकार के तर्क का खण्डन कर दिया है। धनिक की दृष्टि में उत्सृष्टिकांक स्वतंत्र रूपक है। नाटकान्तर्गत नाटक या अंक नहीं है।[४] मनमोहन घोष महोदय ने भी कीथ महोदय के इस मत का खंडन किया है।[५] धनिक और विश्वनाथ की दृष्टि से उत्सृष्टिकांक में नायक प्राकृतनर होते हैं तथा प्रख्यात वृत्त में कवि-कल्पना का प्रचुर योग होता है।[६] भारतेन्दु तथा बाबू श्यामसुन्दरदास ने उत्सृष्टिकांक को एकांकी, आख्यान को प्रख्यात तथा नायक को गुणी माना है। उन्होंने कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है।[७]

प्रहसन

हास्य-व्यंग्य-प्रधानता—प्रहसन हास्य-प्राय रंजना-प्रधान रूपक है। प्रहसन के दो भेदों का उल्लेख भरत ने किया है—शुद्ध और संकीर्ण। दोनों ही भेदों के मूल में तत्कालीन समाज में प्रचलित आडम्बर और पाखण्डपूर्ण आचरणों के प्रति उपहासमिश्रित व्यंग्य का भाव वर्तमान रहता है। शुद्ध भेद के अन्तर्गत समाज के शिष्ट एवं सभ्रान्त-जनों का ग्रहण होता है। ये सभ्रान्त-जन धर्म-कर्म और पाप-पुण्य की आड़ में छद्मवेशी बने वेश्या-प्रेम, इन्द्रियलोलुपता जैसे निंद्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। शुद्ध प्रहसन के माध्यम से ऐसे ही तथाकथित शैव, भागवत, विप्र आदि के जीवन के बाह्याडम्बर की कारा को तोड़कर उनके निंद्य जीवन का प्रकृत रूप सामने लाया जाता

---

१. भा० प्र०, पृ० २५१।
२. भा० प्र०, पृ० २५२।
३. संस्कृत ड्रामा, पृ० २६८।
४. उत्सृष्टिकान्तर्गतांकं व्यवच्छेदार्थम्। द० रू० ३।७१।
५. ना० शा० अं० अनु०, पृ० ३७१ पादटिप्पणी।
६. उत्सृष्टिकांके प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपंचयेत्।
   रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृताः नराः। द० रू०। ३।७० ख, ७१ क।
७. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४२५; रूपक रहस्य, पृ० १७३-७४।

है। इस प्रकार शुद्ध प्रहसन विनोद और व्यंग्यपूर्ण भी होता है।

प्रहसन में सामाजिक तत्त्व—प्रहसन के मूल में सामाजिकता का भाव भी वर्तमान रहता है। संकीर्ण प्रहसन के अन्तर्गत समाज का वह निम्नस्तरीय वर्ग आता है जो अपने निंद्य और नीच कर्मों के लिए समाज में परंपरा से प्रसिद्ध है तथा उपहास और परिहास का प्रतीक बने हुए हैं, उनके निंद्य आचरण, विकृत अंग। चेष्टा और वेशभूषा द्वारा प्रहसन का सृजन होता है। वेश्या, चेट, नपुंसक, विट और धूर्त आदि पात्रों की परिगणना इसी संकीर्ण भेद के अन्तर्गत होती है। इसमें भी लोकोपचार की प्रधानता होती है। दोनों ही प्रहसन के भेद हास्य-प्रधान होते हैं।[1] प्रहसन के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार ने भरत के विचार का जिस रूप में विस्तार किया है वह बर्नार्ड शॉ के व्यंग्य-प्रधान नाटकों (फार्स) का निकटवर्ती है, जिसमें पाखंडियों के छल-छद्म का व्यंग्य-विनोदपूर्ण उद्घाटन होता है। इस प्रकार प्रहसन व्यंग्य-विनोद-प्रधान रूपक होते हुए भी जीवन में सुधार का सूक्ष्म प्रेरक भी है।[2] भरत ने अंक का निर्धारण नहीं किया पर अभिनवगुप्त ने अन्य किसी आचार्य के मत के आधार पर शुद्ध को एकांकी माना है तथा संकीर्ण को अनेकांकी। धनंजय और शारदातनय ने इन दो भेदों के अतिरिक्त वेकृतं नामक एक तीसरे भेद का उल्लेख किया है। सागरनंदी ने दो भेद ही स्वीकार करते हुए मुख और निर्वहण दो संधियों का योग तथा आरभटी वृत्ति का निषेध किया है। शुद्ध प्रहसन का 'शशिविलास' और संकीर्ण का 'भगवदज्जुका' उदाहरण है। प्रहसन में वीथ्यंग के योग को लेकर आचार्यों में परस्पर मतभेद है। भरत का अनुसरण करते हुए सब आचार्यों ने वीथ्यंग का विधान प्रहसन में किया है परन्तु विश्वनाथ ने उसका निषेध किया है। इन्होंने दो भेदों के दस अंगों का उल्लेख विस्तार से किया है।[3]

प्रहसन के दो रूप—प्रहसन के उदाहरण के रूप में दो प्रकार मिलते हैं, एक तो स्वतंत्र नाटचग्रंथों के रूप में तथा दूसरे नाटचग्रंथों में उपलब्ध विदूषक, विट आदि पात्रों के हास्य-सृजन के रूप में। क्योंकि नाटक, प्रकरण और भाण में हास्य का सृजन प्रायः होता ही है। आचार्यों ने लटकमेलक (१२वीं सदी), ज्योतिरीश्वर के धूर्त समागम (१५वीं सदी), जगदीश्वर के हास्यार्णव, सागर कौमुदी, सौरंध्रिका, कलिकेलि प्रहसन (भा० प्र०), कंदर्प केलि, धूर्तचरितम् तथा नाटकमेलक (सा० द०), भगवदज्जुका[4] आदि प्रहसनों का उल्लेख किया है।

नाटचदर्पणकार ने प्रहसन का महत्त्व एक और दृष्टि से भी प्रतिपादित किया है कि हास्य-प्रदर्शन के द्वारा बालक, स्त्री तथा मूर्खों की रुचि नाटकों के प्रति जागृत होती है, जिसमें चारों पुरुषार्थों की ओर भी मानव की प्रवृत्ति का उद्बोधन होता है। भरत के प्रहसन-विधान से उस काल की सामाजिक स्थिति का बड़ा ही स्पष्ट चित्र सामने उभरता हुआ मालूम पड़ता है। यही कारण है कि शुद्ध प्रहसन के अंतर्गत ब्राह्मण, भागवत्, शैवतापस और शाक्त आदि समाज के

१. ना० शा० १८।१०-१-१०६ (गा० ओ० सी०)।

२. प्रहसनेन पाखंडप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषः न तान् उपसर्पति। नाट्यदर्पण, पृ० १२८ (गा० ओ० सी०)।

३. अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४४६; भावप्रकाशन, पृ० २४७; दशरूपक ३।५४-५६;
नाटक लक्षणरत्नकोष, पृ० १२०-१२१;
अंगी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थितिर्नवा। सा० द०, पृ० ७७६।

४. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृष्ठ २६१-६२।१८१ तथा भगवदज्जुका, पृष्ठ १६।

धार्मिक प्रवृत्ति के प्रतीक छद्मवेशी पाखंडियों के नग्न जीवन के चित्रण का विधान किया है और संकीर्ण में परंपरागत सामाजिक गर्हणाओं का। प्रहसन मुख्यतया हास्य, विनोद और व्यंग्य-प्रधान रूपक है पर इसके मूल में सामाजिक दशा के प्रदर्शन का भाव निहित रहता है। वह विनोदक एवं सुधारक भी है।

भारतेन्दु के अनुसार भी यह हास्य-रस का खेल होता है। इसके नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण आदि होते हैं। इसमें प्राचीन नाट्य-नियमों के अनुसार एक अंक होना चाहिए परंतु आधुनिक नियमों के अनुसार दो अंक भी हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी' और 'हास्यार्णव'। श्यामसुन्दरदास ने भी शुद्ध, विकृत और संकर—ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। प्रपंच, छल और असत् प्रलाप आदि वीथ्यंगों का व्यवहार होता है। डॉ० दशरथ ओझा भी उपर्युक्त विचारों और भावनाओं से सहमत हैं।[1]

भाण

भाण के दो रूप—भाण हास्य-अनुरंजन-प्रधान रूपक है। इसमें एक ही पात्र अपने वचन-विन्यास तथा आंगिक चेष्टा आदि के द्वारा सामाजिकों का मनोविनोद करता है। वह एक पात्र की वाणी द्वारा आत्मानुभूति व्यक्त करता है, परंतु अप्रविष्ट पात्र के अनुभूत तथ्य को अंग-विकारों द्वारा अनुभवगम्य बताता है। उसकी शैली विलक्षण होती है। क्योंकि दूसरों के वचनों को प्रश्न और उत्तर की प्रणाली में आकाश पुरुषों के कथन, अंग-विकार तथा अन्य प्रकार के अभिनयों द्वारा रंगमंच पर नाट्य रूप में प्रस्तुत करता है। भाण का इतिवृत्त मनुष्य-जीवन की नानावस्थाओं से सुसंपन्न होता है। पात्र मुख्यतः धूर्त एवं विट आदि होते हैं। यह एकांकी और एक नट रूपक होता है। परंतु वह एक नट ही कई पात्रों के हृदयों के गूढ़ रहस्यों, पाखंडों, प्रेम की छलनाओं, वैशिक लोक की मायामरीचिकाओं और धूर्तताओं का साभिनय वर्णन प्रस्तुत करते हुए हास्य का सृजन करता है। इस दृष्टि से भाण के दो रूप होते हैं, एक में आत्मानुभूत का शंसन और दूसरे में परस्थ अनुभव का साभिनय वर्णन होता है। भाण में वाग्-व्यापार की प्रधानता होने के कारण भारती वृत्ति तो निश्चित रूप से वर्तमान रहती है।[2]

भाण में व्यंग्य-विनोद और शृंगार का योग—यह प्रहसन प्रधान है और भारती के अंगों में प्रहसन एक अंग भी। परन्तु आचार्यों में इस विचार को लेकर मतभेद है कि इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है या नहीं। धनंजय के अनुसार भारती वृत्ति के अतिरिक्त उसमें वीर और शृंगार का प्रयोग अपेक्षित है तथा दसों लास्यांग एवं 'मुख' तथा 'निर्वहण' संधियों का योग रहता है।[3] यह एक विलक्षण बात है कि भरत और धनंजय ने भाण की प्रहसनता का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, पर अभिनवगुप्त के अनुसार भाण में 'सविस्मय' की प्रधानता होती है। भाण के अधिकारी मूर्ख होते हैं।[4] सम्भव है भारती वृत्ति के उल्लेख मात्र से प्रहसन का उल्लेख

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (परिशिष्टांश) ४२६; रूपकरहस्य, पृष्ठ १७१ तथा नाट्य-समीक्षा, पृष्ठ ३०।

२. ना० शा० १८।१०८-११० (गा० ओ० सी०)।

३. द० रू० ३।४६-५१ सूचयेद्वीर शृंगारौ।

४. उत्सृष्टिकांक प्रहसनभाणस्तु करुणहास्यविस्मय प्रधानत्वात् रंजक रस प्रधानाः। ततएवात्र स्त्रीबाल-मूर्खादिरधिकारी। अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४५१।

मानकर भरत ने उल्लेख नहीं किया हो। विश्वनाथ के अनुसार भारती वृत्ति के अतिरिक्त कैशिकी वृत्ति का प्रयोग भाण में अपेक्षित है, क्योंकि विट का वर्णन वेश्याओं की प्रेम-लीला से भी संबंधित अवश्य रहता था।[१] शारदातनय के उद्धरणों के अनुसार कोहल भी भारती वृत्ति और श्रृंगार के योग का समर्थन करते हैं।[२] नाट्यदर्पणकार ने वीर और श्रृंगार रसों का समर्थन किया है। और हास्य तो श्रृंगार का एक प्रकृत अंग है ही।[३]

अन्य आचार्य[४] भाण की लोकानुरंजनकारिता, एक नट, एक अंक तथा धूर्त विट के नायक होने के सम्बन्ध में सहमत हैं। दशरूपक के काल से ही भाण में श्रृंगार के महत्त्व को आचार्यों ने स्वीकार किया है। उसका कारण है वेश्या आदि के विलास और छल-छद्मपूर्ण जीवन का विट या धूर्त आदि के द्वारा अनुरंजनकारी वर्णन। अन्यथा नारी-पात्र की तो स्थिति यहाँ नहीं रहती। इसी बात को दृष्टि में रखकर कैशिकी का विरोध भी किया है। 'पद्मप्राभृतक', 'धूर्तविट-संवाद', 'उभयाभिसारिका' और 'पदताडितकम्' ये चार भाण बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त वामनभट्ट का श्रृंगार भूषण, वरदाचार्य का वसंततिलक, रामचन्द्र दीक्षित का श्रृंगार-तिलक और नल्ला कवि का श्रृंगार सर्वस्व आदि अनेक भाणों का पता चला है।[५] भाण में गीत, वाद्य और नृत्त का भी प्रयोग कालान्तर में होने लगा था, और उसके उस सुकुमार रूप के आधार पर भाणी या भाणिका नामक एक भेद और भी प्रचलित हुआ। सागरनंदी के अनुसार भाणी या भाणिका में नायिका उदात्त सूक्ष्म नेपथ्य से विभूषित होती है। कैशिकी और भारती वृत्ति प्रधान होती है। भाण का लक्ष्य जहाँ प्रहसन और अनुरंजन है वहाँ समाज के दुर्बल और अश्लील पक्षों का भी चित्रण होता है।[६] यही कारण है कि कालान्तर में रूपक का यह अंग अधिक विकसित नहीं हो सका और न लोकप्रिय ही।

इन आचार्यों की तुलना में भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं। भाण एकांकी होता है। 'विषस्य विषमौषधम्' इसका उत्तम उदाहरण है। परिभाषा में भाणान्तर्गत अभिनय-क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ दशरूपक की परम्परा में हैं। अतः उसमें वृत्ति, संधि और लास्यांगों के होने का भी उल्लेख है।[७] भाण निश्चित रूप से व्यंग्य विनोद-प्रधान रूपक है, जिसमें श्रृंगार और हास्य की मीठी लहर उठती रहती है।

वीथी

वीथी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूपक है। यह सब रस और लक्षण से सम्पन्न, तेरह अंगों से

---

१. साहित्य दर्पण ६।२५५ और उसकी टीका।
२. भारती वृत्ति भूयिष्ठश्रृंगारैक रसाश्रयम्।
कोहलादिभिराचार्यैरुक्तं भाणस्य लक्षणम्। भा० प्र० २४४-४५।
३. नाट्यदर्पण पृष्ठ ११२ (द्वि० सं०), गा० ओ० सी०।
४. र० सु०, पृष्ठ २८८; ना० ल० को०, पृष्ठ ११८।
५. श्रृंगारहाटः चतुर्भाणी—वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित, भूमिका भाग, पृष्ठ ३।
६. भरतकोष, पृ० ४२३ तथा ना० ल० को० पृ० ११८-११६।
७. भारतेन्दु नाटकावली द्वि० भाग, पृ० ४२४ तथा रूपक रहस्य, पृ० १७०।

समृद्ध होता है। अंक एक होता है और पात्र एक या दो। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों का योग इसमें होता है। एक पात्र के रहने पर भाण की तरह आकाशभाषित शैली में उत्तर-प्रत्युत्तर का ग्रंथन होता है और दो पात्रों के रहने पर उक्ति-प्रत्युक्ति शैली में नाटकीय कथोपकथन होता है। भरत ने वीथी के उद्घात्यक, अवगलित, अवस्यंदित, नात्मी और असत् प्रलाप आदि तेरह अंगों का उल्लेख किया है। इनमें से कितने भी अंगों का वीथी में प्रयोग हो सकता है।

वीथी का नायक—सब रसों की प्रधानता होने के कारण नायक तीनों प्रकृति के होते हैं।[1] शंकुक ने अधम प्रकृति के पात्र को नायक के रूप में स्वीकार नहीं किया है। अभिनव गुप्त ने उनके मत का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अधम होने के कारण ही वह नायक क्यों नहीं होगा।[2] जहाँ हास्य रस आदि की प्रधानता होती है, वहाँ भाण या प्रहसन में अधम ही नायक होता है। नाट्यदर्पणकार ने भी अभिनवगुप्त के विचारों का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि शंकुक की मान्यता स्वीकार कर लेने पर विट के नायक होने की संभावना नहीं रहती।[3]

वीथी का प्रतिपाद्य रस—दशरूपककार के अनुसार वीथी में कैशिकी-वृत्ति होती है। शृंगार सूच्य होता है, प्रधान भी। पर अन्य रसों की धारा भी मन्द-मन्द तरंगित होती रहती है। दशरूपक के अनुसार ही भावप्रकाशन को वीथी का रसस्पर्शी रूप ही अभिप्रेत है। उनके मत से लास्यांग और वीथ्यंग दोनों का योग वीथी नाट्य में होना चाहिए। शिंगभूपाल ने वीथी की नायिका के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि वह सामान्या हो या परकीया पर वह अनुरागिनी अवश्य हो। वस्तु में वीथी की प्रधानता के कारण कुलपालिका नायिका नहीं हो सकती। सागरनन्दी के अनुसार वीथी में एक या दो नहीं, तीन पात्र हों। उदाहरण के रूप में 'वंकुल वीथी' का उल्लेख उन्होंने किया है। भरत द्वारा प्रतिपादित सर्वलक्षणसम्पन्न रसाढ्या वीथी को रामचन्द्र ने 'सर्व स्वामि रसा' कहा है और उसे सब रूपकों का सार माना है। पर शृंगार और हास्य के सूच्य ही होने के कारण कैशिकी-वृत्ति-हीन भी माना है। धनंजय और शारदातनय इसमें शृंगार की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं।[4]

आचार्यों के मन्तव्य—वीथी के सम्बन्ध में भरत एवं अन्य आचार्यों के मतमतान्तरों के ऊहापोह से हमारे समक्ष दो-तीन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रकट होते हैं—(क) वीथी भरत की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण रूपक भेद है, (ख) यह सर्व रसा, एक या द्विपात्रहार्य, एकांकी रूपक है, (ग) वीथी में वीथ्यंगों के साथ लास्यांगों के प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। भरत मौन हैं। शारदातनय, शिंगभूपाल आदि को संदेह है। भोज की दृष्टि से लास्यांग का भी प्रयोग होना चाहिए। लास्यांग का प्रयोग स्वीकार करने पर यह गीत-वाद्य-नृत्य-प्रधान रूपक भेद हो जाता है भाण की तरह, (घ) प्रहसन और भाण से वीथी इस दृष्टि से भिन्न है कि इन दोनों रूपकों के

---

१. ना० शा० १८।११२-११३।

२. अ० भा० भाग २, पृ० ४५।

३. ना० द०, पृ० १३३।

४. द० रू० ३।६८-६९; भा० प्र०, पृ० २५१-२; र० सु०, पृ० २६०; ना० ल० को०, पृ० १२१, ना० द०, पृ० १३३।

नायक विटधूर्त आदि अधम पात्र होते हैं। परन्तु वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों ही नायक हो सकते हैं। (ङ) भाण-प्रहसन का एकांकी होना अत्यावश्यक नहीं है, पर वीथी एकांकी ही है। उनमें एक-दो रस है, यह सर्व-रसा है। संधि की दृष्टि से समानता है, वृत्ति की दृष्टि से विरोध नहीं। वस्तु कल्पित हो और एक या दो पात्रों द्वारा प्रयोज्य हो इस दृष्टि से ये रूपक भेद वीथी के निकट भी हैं।

कुछ अन्य रूपक

प्रकरणिका—नाटिका की तरह प्रकरणिका का भी उल्लेख कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से किया है। नाट्यशास्त्र में प्रकरणिका का उल्लेख तो नहीं है परन्तु दशरूपक एवं उसकी अवलोक नामक टीका में प्रकरणिका का खण्डन किया गया है।[1] उससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रकरणिका की परम्परा दशरूपक से पूर्व ही वर्तमान थी। वर्धमान ने 'गणरत्नमहोदधि' में नाटिका सम्बन्धी भरत के विधान[2] के आधार पर यह कल्पना की है कि प्रकरणिका का विधान मूलतः नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध है।[3] उक्त विधान के अनुसार नाटिका का वृत्त प्रख्यात होता है और प्रकरणिका का अप्रख्यात। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अभिनवगुप्त ने उक्त अंश पर अपनी विवृत्ति नहीं लिखी है। स्वयं अभिनवगुप्त भी प्रकरणिका नामक भेद से परिचित थे। ध्वन्यालोक लोचन[4] तथा अभिनवभारती में[5] प्रकरणिका से अपना परिचय प्रकट किया है। आचार्यों में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपकों के अन्तर्गत तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उपरूपकों के अन्तर्गत प्रकरणिका का विधिवत् विवेचन किया है। निःसन्देह विष्णुधर्मोत्तरपुराण[6] और वाग्भट्ट का काव्यानुशासन[7] भी प्रकरणिका से अपरिचित नहीं है।

प्रकरणिका का स्वरूप—नाटिका के समान प्रकरणिका (प्रकरणी) की भी नाटक एवं प्रकरण के योग से रचना होती है। परन्तु दोनों में यह स्पष्ट अन्तर है कि नाटिका नाटकोन्मुखी होती है' प्रकरणिका प्रकरणोन्मुखी। प्रकरणिका के नायक वणिक् आदि होते हैं। वेशसंभोग आदि उन्हीं के अनुरूप होता है। स्त्री-पात्र भी उसी श्रेणी के होते हैं। प्रकरण के समान ही यहाँ दुःखाधिक्य के कारण कैशिकी-वृत्ति का प्रयोग अत्यल्प होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भरत-

---

१. दशरूपक ३।४३।
२. नाटी संज्ञया द्वे काव्ये। एको भेदः प्रख्यातः नाटिकाख्यः।
इतरस्तु अप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञः। संदर्भ—भोजाज शृङ्गार प्रकाश, पृ० ५८६। वी० राघवन्।
३. अनयोश्च बंधयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नारी संज्ञाश्रिते काव्ये। ना० शा० २०।६०-६१ (काशी सं०)।
४. अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकातोटकरासकप्रकरणिकावान्तर प्रपंच सहितम्—अनेक भाषा व्यामिश्ररूपम् ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १४१।
५. अन्येतु प्रकरणनाटक भेदात् नाटिकाभिधते—इति प्रकरणिकाऽपि सार्थवाहादिनायकयोगेन कैशिकी प्रधाना लभ्यते इत्याहुः। अ० भा० भाग २, पृ० २४६।
६. एवं (नाटिकावत्) प्रकरणी कार्या चतुरंकाऽपि सा भवेत्। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।१७।
७. काव्यानुशासन (वागभट्ट) पृ० १८ (का० मा०) एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः। ना० द० २।८।

निरूपित दशरूपकों के अतिरिक्त नाटिका और प्रकरणिका का उल्लेख कर 'द्वादशरूपक' का सिद्धान्त स्थापित किया है, क्योंकि जैन धर्म में भी 'द्वादशवच' ही होते हैं। नाटिका और प्रकरणी को मिलाकर द्वादश रूपकों की परिगणना होती है। आचार्य विश्वनाथ ने दो पंक्तियों में अति-संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत की है, जिसमें नायक सार्थवाह तथा नायिका नृपवंशजा होती है। पर अन्तर यह है कि विश्वनाथ ने उपरूपकों तथा रामचन्द्र ने रूपकों में ही उसका उल्लेख किया है। शिंगभूपाल ने नाटिका और प्रकरणिका दोनों का खण्डन किया है। उनका खण्डन दशरूपक की परम्परा में है कि प्रकरण के समान ही प्रकरणिका की विशेषताएँ हैं। अतः उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं माना जा सकता। सामान्य भिन्नताओं के आधार पर विभिन्न रूपकों की कल्पना करने पर उनकी संख्या की कोई सीमा न रहेगी।

सट्टक

सट्टक एक महत्त्वपूर्ण रूपक भेद है। यह नाटिका के समान है परंतु उससे दो बातों में भिन्न है कि इसमें प्रवेशक और विष्कंभक का प्रयोग नहीं होता तथा भाषा प्रधान रूप से प्राकृत होती है। सट्टक का उल्लेख तथा विवेचन आचार्यों ने रूपक एवं उपरूपक के रूप में भी किया है।

आचार्यों की मान्यताएँ—भोज ने संभवतः सर्वप्रथम सट्टक की परिभाषा प्रस्तुत की। उनकी दृष्टि से नाटिका और सट्टक नाट्य-संपदा में नाटक और प्रकरण की अपेक्षा किंचित् ही न्यून होते हैं। भाषा के सम्बन्ध में भोज की परिभाषा अस्पष्ट है। सट्टक एक भाषा में हो, यह तो स्पष्ट है, पर वह भाषा प्राकृत, संस्कृत से भिन्न अपभ्रंश हो या प्राकृत यह स्पष्ट नहीं है।[1]

सट्टक की भाषा—अभिनवगुप्त ने कोहल द्वारा सट्टक के उल्लेख का संकेत किया है तथा राजशेखर-रचित कर्पूरमंजरी को उसका उदाहरण माना है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी प्राकृत भाषा में है। अतः सट्टक की भाषा प्राकृत हो, यह वे स्वीकार करते हैं।[2] इस सन्दर्भ में राजशेखर-रचित कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। उक्त प्रस्तावना में सट्टक से नाटिका की समानता तथा उसमें प्रवेशक-विष्कंभक के अभाव का उल्लेख है, पर उसकी भाषा प्राकृत ही हो, यह स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। नटी की जिज्ञासा के समाधान में सूत्रधार ने यही बताया है कि कवि ने प्राकृत में सट्टक की रचना इसलिए की हैं कि वे कवि-राज हैं तथा प्राकृत भाषा संस्कृत की अपेक्षा मृदुल (भाषा) है।[3] भोज-रचित परिभाषा में प्रयुक्त 'अप्राकृत संस्कृतया' पद को रामचन्द्र-गुणचन्द्र, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने यथावत् प्रस्तुत

---

१. नाटके लक्षणं यतु तत्स्यात् प्रकरणेऽपि च।
सट्टकनाटिकायां च किंचिदूतं तदुच्यते॥
विष्कंभक प्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति।
अप्राकृत (प्राकृतया) संस्कृतया (?) स सट्टको नाटिकाप्रतिभः। भोजाज शृंगार प्रकाश पृ० ५४०-४१,
वी० राघवन् द्वारा संशोधित।

२. तथा हि शृंगार रसे सातिशयोपयोगिनि (नी) प्राकृतभाषेति
सट्टकः कर्पूरमंजर्याख्यः राजशेखरेण तन्मात्र एव निबद्धः। अभिनव भारती भाग २, पृ० ५३६।

३. किं सट्टकम् ? कथितमेव विदग्धैः।
तत्सट्टकमिति भण्यते दूरं यो नाटिका अनुहरति।
किं पुनरपि प्रवेशकविष्कंभकौ न केवलं भवतः। कर्पूरमंजरी १।६।

किया है।[1] उससे सट्टक की भाषा सम्बन्धी समस्या का कोई समाधान नहीं हो पाता। 'अप्राकृत संस्कृत' प्रयोग के आधार पर चिदम्बरण चक्रवर्ती ने यह कल्पना की है कि अपभ्रंश में सट्टक की रचना होती है।[2] शारदातनय सट्टक की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए 'प्रकृष्ट प्राकृतमयी' शब्द का प्रयोग कर भाषा सम्बन्धी सन्देह को दूर करने का प्रयास किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि सट्टक की भाषा के सम्बन्ध में अस्पष्टता उस समय विद्यमान थी। एक आचार्य के विचार से राजा द्वारा प्राकृत भाषा के अप्रयोग का विधान है तो दूसरे के विचार से राजा द्वारा मागधी और शौरसेनी भाषा के प्रयोग का। वे सट्टक में प्राकृत भाषा के प्रयोग के समर्थक हैं। सागरनंदी के विचार भी उसी परंपरा में हैं। सट्टक का विभाजन चार अंकों में न कर चार यवनिकांतर शब्द से किया है। यवनिका सट्टक-वस्त्र की बनी होती है। अतएव सट्टक यह नाम प्रचलित हो गया हो ऐसी भी कल्पना की जा सकती है।[3]

उपरूपक

उपरूपक का स्वरूप

नाट्यशास्त्र में प्रधान दश-(ग्यारह) रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का किंचित् भी विवरण (प्राप्य) नहीं है। कुछ परवर्ती आचार्यों ने रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का उल्लेख एवं विवेचन किया है। भारतीय नाट्य तथा नृत्यगीतमिश्रित रागकाव्यों (दृश्य) के प्रयोगात्मक रूपों के विकास एवं इतिहास की दृष्टि से इन रूपकों का बड़ा महत्त्व है। रूपकों के द्वारा प्रेक्षकों के अन्तःकरण में स्थित स्थायी भाव को रस-स्थिति में पहुँचा दिया जाता है। उनमें कोई एक रस-प्रधान होता है तथा शेष गौण तथा प्रधान का सहायक मात्र होता है। रूपक के द्वारा रस का सम्पूर्णतया आभोग होता है। परन्तु उपरूपक अपेक्षाकृत भाव-विशेष को प्रदर्शित करता है। इसमें भावावेश और गीत-नृत्य की प्रधानता रहती है। जीवन की संपूर्णता यहाँ अभिव्यक्ति नहीं पाती। कोई एक रमणीय दृश्य-खंड, गीत-नृत्य की पृष्ठभूमि में रागात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रूपक में कथावस्तु उसके अंग, कथोपकथन तथा शील-संविधान की पुष्ट एवं संश्लिष्ट योजना होती है। परन्तु उपरूपक में नाट्य के वे सब अंग नितान्त शिथिल होते हैं पर हृदय का कोई मधुर भाव गीत-नृत्य की सहायता से अत्यन्त आकर्षक रूप में प्रस्तुत होता है।

उपरूपकों की परंपरा—उपरूपकों की परंपरा का आरंभ भरत के बाद ही हुआ। संभवतः गीत-नृत्य-प्रधान रागात्मक उपरूपकों को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय आचार्य कोहल को ही है। उन्हीं के आधार पर अभिनवगुप्त ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, विद्गक (शिल्पक), रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक इन आठ प्रकार के नृत्तात्मक रागकाव्यों का उल्लेख एवं संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत किया है।[4] दशरूपक की अवलोक टीका में भाण के समान अधोलिखित

१. नाट्यदर्पण, पृ० १६० (गा० ओ० सी०) द्वि० सं०; काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, पृ० ३२५;
काव्यानुशासन : वाग्भट्ट, पृ० १८ (का० भा०)

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, पृ० १७१-२।

३. अंक स्थानीय विन्यस्त चतुर्यवनिकान्तरा—भाव प्रकाशन, पृ० २४४ तथा २६६; ना० ल० को० पं० ३१९९-३२०१।

४. लयान्तर प्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नाना रसं सुनिर्वाह्यकथं काव्यमिति स्मृतम्॥ (कोहल) अ० भा० भाग १, पृ० १८१-८२।

एकहार्य नृत्य-भेदों का उल्लेख है : डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य।[1] हेमचन्द्र ने इनके अतिरिक्त एक गोष्ठी और जोड़ दी है। भोज ने द्वादश रूपकों की तरह द्वादश उपरूपकों की भी परिभाषा प्रस्तुत की है। वे निम्नलिखित हैं—श्रीगदित, दुर्भल्लिका, प्रस्थान, काव्य (चित्रकाव्य), भाण (शुद्ध, चित्र और संकीर्ण), भाणिका, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, प्रेक्षणक, रासक और नाट्य रासक।[2] भोज के उपरान्त शारदातनय, सागरनंदिन, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और आचार्य विश्वनाथ ने उपरूपकों का विधिवत् विवेचन किया है।

उपरूपकों की संख्या—इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भामह, दण्डी तथा वात्सायन प्रभृति आचार्यों ने भी कुछ उपरूपकों का अस्पष्ट-सा उल्लेख दिया है। भामह ने प्रबन्ध का वर्गीकरण करते हुए शम्पा, द्विपदी, रासक और स्कंदक का उल्लेख किया है।[3] दण्डी ने लास्य, छलिक, और शाम्य का। वात्सायन के कामसूत्र में तो हल्लीसक, नाट्यरासक और प्रेक्षणक का उल्लेख मिलता है। कुमारिल के वार्तिक तंत्र में द्विपदी और रासक की परिगणना हुई है।[4] महाकवि कालिदास ने शर्मिष्ठा की कृति दुष्प्रयोज्य छलिक का उल्लेख किया है।[5] इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि रूपकों के बाद उपरूपकों की परंपरा का आरंभ हुआ और वे पर्याप्त प्राचीन हैं। यद्यपि अभिनवगुप्त और धनिक तक ने उपरूपक के रूप में इन भेदों का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, दशरूपक और प्रतापरुद्रीय आदि में उपरूपकों का उल्लेख नहीं है। अग्निपुराण में रूपकों के अन्तर्गत ही उपरूपकों की परिगणना की गई है।[6] जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ राजप्रश्नीय के तेरहवें सूत्र में बत्तीस नाट्य-विधियों का संकेत किया गया है। राजप्रश्नीय के रचनाकाल में ही नाट्य-विधियों के उल्लेख का आधार-ग्रन्थ 'नाट्यविधि प्राभृत' था, जो नष्ट हो गया। भक्ति-चित्र, चक्रवाल, द्रुतविलंबित, सागर-नगर-प्रविभक्ति, नंदाचम्पा प्रविभक्ति आदि बत्तीस नृत्य-रूपकों का विवरण दिया है।[7]

इन उपरूपकों में से सट्टक और त्रोटक को तो कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत ही परिगणित किया है और द्वादश रूपकों की परिकल्पना की है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और भोज द्वादश रूपक स्वीकार करते हैं, शेष आचार्य दस या ग्यारह। भरत, धनंजय और अभिनवगुप्त के मत से ग्यारह रूपक हैं। इन आचार्यों ने उपरूपकों की परिगणना नहीं की है। भरतानुमोदित न होने पर भी महत्त्व की दृष्टि से उन उपरूपकों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) **नाटिका और प्रकरणी** का उल्लेख विश्वनाथ ने उपरूपकों के अन्तर्गत किया है, अन्य आचार्यों ने रूपकों के अन्तर्गत। हम इसका विवरण रूपकों के अन्तर्गत प्रस्तुत कर चुके हैं। यह शृंगार-प्रधान उपरूपक है।[8] (२) **त्रोटक**—त्रोटक में पाँच, सात, आठ और नौ अंक भी होते

१. दशरूपक १।८ पर अवलोक टीका में उद्धृत। भा० प्र०, पृ० २५०।
२. शृंगारप्रकाश, अध्याय ४, अन्तिम अंश।
३. भामह : काव्यालंकार १।२४।
४. दण्डी काव्यादर्श—१।३९।
५. मालविकाग्निमित्र, अंक १।
६. अग्निपुराण, पृ० ५३९-४१।
७. यतोऽमीषां नाट्यविधीनां सम्यक् स्वरूप प्रतिपादितं पूर्वान्तर्गते नाट्यविधि प्राभते। तच्चेदानीं व्यवच्छिन्नमिति। राजप्रश्नीय सूत्र २३, पृ० ५२-५५; आगमोदयसमिति प्रकाशन, बम्बई।
८. सा० द० ६।२८१।

हैं। दिव्य और मर्त्य जीवन से संबंधित कथावस्तु की योजना इसमें होती है। विदूषक के कारण यह भी शृंगार-प्रधान रूपक है। विक्रमोर्वशीय पाँच अंकों का त्रोटक है।[1] अभिनवगुप्त ने त्रोटक का उल्लेख किया है।[2] शारदातनय द्वारा उद्धृत नाट्यशास्त्र के भाष्यकार (?) श्रीहर्ष की एक परिभाषा के अनुसार त्रोटक नाटक का ही भेद है।[3] हर्ष त्रोटक में विदूषक की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। विक्रमोर्वशीय में विदूषक वर्तमान है। फलतः यह उसका उदाहरण नहीं माना जा सकता। सागरनंदी ने हर्ष से भी प्राचीन अश्मकुट्ट, नखकुट्ट और वादरायण के मतों का उल्लेख किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अंक में विदूषक तथा दिव्यमानुष पात्रों का संयोग कवि प्रस्तुत करते हैं।[4] पर बहुत से आचार्य विक्रमोर्वशी को त्रोटक का उदाहरण नहीं स्वीकार करते। 'मेनका नहुष' में नौ, 'मदलेखा' में आठ और 'स्तंभितरम्भक' में सात अंक हैं और विदूषक भी नहीं है।

(३) **गोष्ठी** एकांकी, कैशिकी-वृत्तियुक्त तथा गर्भ और अवमर्श संधि से शून्य होती है। इसमें दस पुरुष और पाँच-छः स्त्रियों का पात्र के रूप में प्रयोग होता है। शारदातनय के अनुसार इसमें काम-शृंगार के प्रभाव की अतिशयता होती है। परन्तु भोज के अनुसार कृष्ण द्वारा असुरों के वधादि का भाव प्रस्तुत किया जाता है।[5] भाव प्रकाशन में भोज के शृंगारप्रकाश में वर्णित परिभाषा के अतिरिक्त अन्य परिभाषाओं का भी उल्लेख है और परस्पर विरोधी है। नाट्यदर्पण और काव्यानुशासन की परिभाषाएँ भोज की परिभाषा की परम्परा में हैं। (४) **नाट्यरासक**— नाट्यरासक लोकप्रिय एकांकी रूपक है। इसमें ताल और लय का प्रयोग प्रचुरता से होता है। नायक उदात्त होता है तथा उपनायक पीठमर्द। इसमें हास्य की प्रधानता तो रहती है, पर शृंगार रस की मधुर धारा भी मंद-मंद प्रवाहित होती रहती है। नारी वासकसज्जा होती है। मुख और निर्वहण संधियों का योग होता है। दसों लास्यांग इसमें वर्तमान रहते हैं।[6] भोज के अनुसार नाट्यरासक नृत्य-प्रधान उपरूपक है। इसका प्रयोग नर्तकियों द्वारा होता है। पहले दो नर्तकियाँ प्रवेश करती हैं और रंगमंच पर पुष्पांजलि का विसर्जन करती हुई नृत्य प्रस्तुत कर लौट जाती हैं। पुनः नर्तकियों का दल आता है और नृत्य एवं गीत-वाद्य का क्रम चलता है। वसन्तोत्सव से सम्बन्धित होने के कारण इसे 'चर्चरी' भी कहते हैं।[7] संभव है, नाट्यरासक यह नाम इसीलिए पड़ा कि इस नाट्यरासक में नृत्य की अपेक्षा कथावस्तु का ग्रन्थन तथा अभिनय का प्रयोग विशेष होने लगा। नृत्य की अपेक्षा नाट्य की मात्रा इसमें अधिक है, अतः यह नाट्यरासक के रूप में विकसित हुआ और नाटकादि की तरह सामाजिक को संश्लिष्ट रसास्वादन कराने में समर्थ है।

---

१. साहित्य-दर्पण ३।२८२।
२. अ० भा०, भाग १।
३. तदेव त्रोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। भावप्रकाशन, पृ० २३८ तथा राइटर्स कोटेड इन अभिनव भारती : वी० राघवन—द जर्नल ऑफ़ ओरिएन्टल रिसर्च, मद्रास—६।२०४-७।
४. सा० द० ६।२८३; ना० ल० को, पृ० १२६; भा० प्र०, पृ० २५६; नाट्यदर्पण पृ० २१४; काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, पृ० ४४६।
५. आहाश्मकुट्ट—दिव्यमानुषसंयोगोऽव्यंकेऽव्यंके विदूषकः। ना० ल० को०, पृ० ११४-११५।
६. सा० द० ६।२८५; ना० द०, पृ० १६३-६४; भा० प्र० २६४-५।
७. भोज : शृंगारप्रकाश भाग २, पृ० ४२५-६; अ० भा० भाग १, पृ० १८१।

समाज के सब वर्गों में इन नाट्य रासकों के द्वारा भक्ति और श्रृंगार का भाव प्रवाहित हुआ।[1]

(५) **रासक**—रासक एकांकी उपरूपक है। पात्र पाँच होते हैं। भारती और कैशिकी वृत्तियों का प्रयोग होता है। भाषाएँ विभिन्न होती हैं। सूत्रधार नहीं होता। वीथ्यंग, नृत्य एवं गीतकलाओं का प्रयोग होता है। नायिका ख्यात होती है और नायक मूर्ख। उत्तरोत्तर उदात्त भावों का प्रकाशन होता चला है। परन्तु यह मुख्यतया नृत्य-प्रधान रूपक होकर भावप्रदर्शन का कार्य संपन्न करता रहा है।[2] 'मेनकाहित' इसका उदाहरण है। भोज ने रासक का विशेष विवरण दिया है। उसके अनुसार रासक और हल्लीस में बहुत समता है। हल्लीसक में एक कृष्ण के चारों ओर अनेक गोपिकाएँ रास-नृत्य रचती हैं। परन्तु रासक में प्रत्येक गोपिका के साथ कृष्ण रास-नृत्य रचते हैं। रास में स्त्री-पुरुष अथवा केवल स्त्री के सरस भावपूर्ण नृत्य की प्रधानता है।[3] इसमें नर्तकियों की ही प्रधानता रहती है। भोज के मत के संदर्भ में ही अभिनवगुप्त का भी मत विचारणीय है। उन्होंने रासक को अनेक नर्तकी-योज्य माना है।[4] रासक मसृण और उद्धत भी होता है, परन्तु यह नृत्य-प्रधान और भाव-प्रवण होता है।[5]

(६) **प्रस्थान**—यह नाम ही अभिनवगुप्त एवं भोज की दृष्टि से अन्वर्थ है, क्योंकि इसमें प्रियतम के प्रवासगमन का भाव अनुबद्ध रहता है। इसमें प्रवास-विप्रलंभ का भाव रहता है। प्रथमानुराग और श्रृंगार की स्थितियाँ भी प्रस्तुत की जाती हैं। इसमें दो अंक होते हैं। दास नायक होता है और विट उपनायक। दासी नायिका होती है। धनिक के अनुसार प्रस्थानक एक नृत्य-रूपक है। इसमें वीररस का भी अंत में प्रयोग होता है। अतः यह सुकुमार और उद्धत भी होता है। शारदातनय के अनुसार श्रृंगारतिलक इसका उदाहरण है।[6] (७) **उल्लाप्य**—उल्लाप्य एकांकी अथवा तीन अंकों का उपरूपक है। इसका नायक उदात्त और वृत्त दिव्य होता है। इसमें हास्य, श्रृंगार और करुण रसों का समन्वय होता है। यवनिका के भीतर से ही कथावस्तु के अनुरूप मनोहर गीत की योजना होती रहती है। शिल्पक के २७ अंगों तथा अवमर्श संधि को छोड़ अन्य संधियों का यहाँ प्रयोग होता है। शारदातनय के अनुसार 'देवी महादेव' और 'उदात्त कुंजर' इसके उदाहरण हैं।[7] (८) **काव्य**—अभिनवगुप्त के मतानुसार यह राग काव्य है। गीत-नृत्य प्रधान उपरूपक है यह। आरंभ से अन्त तक एक पात्र द्वारा एक कथा का श्रृंखलाबद्ध ग्रन्थन इसमें होता है। काव्य का गायन एक राग में होता है, लय और ताल भी अपरिवर्तित रहते हैं। फलतः रस भी प्रायः एक ही रहता है। राग-काव्य की यह परिभाषा भोज के 'विशुद्ध काव्य' की

---

१. नाट्य-समीक्षा, पृ० ३५-३६ (दशरथ ओझा)।

२. सा० द० ६।२६०, ना० ल० को० पृ० १३३, द० रू० १।८ पर अवलोक।

३. तदिदं हल्लीसकमेव तालबंधविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते। सरस्वती कंठाभरण, पृ० २६४।

४. अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्ठि युगलात् रासकं मसृणोद्धतम्। अ० भा० भाग १, पृ० १८१।

५. नाट्य समीक्षा पृ० ३४ (डॉ० दशरथ ओझा)।

६. सा० द० ६।२८६; ना० ल० को० पृ० १३१; दशरूपक पर धनिक की टीका १।८; भोज : श्रृंगार प्रकाश पृ० ५४३।
गजादीनां गतिं तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते। अ० भा० भाग १, पृ० १८३।

७. सा० द० ६।२८७, भा० प्र०, पृ० २९६।

परिभाषा का निकटवर्ती है। कोहल और भोज के अनुसार जिसमें राग और काव्य परिवर्तित होता रहता है वह 'चित्रकाव्य' होता है। गीतगोविन्द इसी तरह का चित्रकाव्य है। दन्तकथा के अनुसार गीतगोविन्द को जयदेव की पत्नी ने स्वयं अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया था। भागवतों की भजन-परंपरा में उसे अभी भी अभिनय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अभिनवगुप्त ने अभिनीयमान राग-काव्य के दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—मारीचवध और राघवविजय। दोनों ही रामकथा पर आधारित हैं। मारीचवध में ककुभ और राघवविजय में ठक्कराग का प्रयोग होता है। आरभटी वृत्ति को छोड़ शेष वृत्तियाँ तथा गर्भ और अवमर्श को छोड़ शेष संधियों का यहाँ प्रयोग होता है। खण्डमात्रा, द्विपादिका और भग्नताल आदि गीतों से यह अलंकृत रहता है। भावप्रकाशन के अनुसार 'गौड़ विजय' और 'सुग्रीव केलन' इसके उदाहरण हैं।[१]

(९) **श्रीगदित**—श्रीगदित यह नाम भी अन्वर्थ है। श्री के समान ही विरहिनी नायिका अपने नारायण से प्रियतम की प्रशंसा करती है। इसमें प्रशंसा, निन्दा और आक्रोश का समन्वय होता है। भोज का श्रीगदित और अभिनवगुप्त (कोहल आदि का) के षिद्गक एक-दूसरे के निकटवर्ती हैं। श्रीगदित में भी विरहिनी नायिका अपने पति के प्रति आक्रोश प्रकट करती है। भावप्रकाशन के अनुसार इसका उदाहरण 'रामानन्द' है। विश्वनाथ के मत से यह एकांकी रूपक है। नायक-नायिका और वस्तु प्रख्यात होते हैं। गर्भ-विमर्श संधियों को छोड़ शेष संधियों का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति की बहुलता होती है। सागरनंदी के मत से विरहिनी नायिका करुण भाव से यहाँ गायन करती है।[२]

(१०) **संलापक**—स (सं) ल्लापक तीन या चार अंकों का उपरूपक है। नायक पाखंडी होता है। कथावस्तु ख्यात, उत्पाद्य अथवा मिश्र भी होती है। कभी-कभी शृंगार और हास्य रसों का प्रयोग नहीं भी होता है। विश्वनाथ के अनुसार करुण भी नहीं होता। फलतः कैशिकी और भारती वृत्तियों का प्रयोग नहीं होता। परन्तु नगर-अवरोध, संग्राम तथा प्रवंचना आदि उपद्रवों के प्रयोग के कारण अन्य दोनों वृत्तियाँ होती हैं। प्रतिमुख को छोड़ शेष चारों संधियों का भी प्रयोग होता है।[३] (११) **शिल्पक**—शिल्पक चार अंक और चार वृत्तियों वाला उपरूपक है। नृत्य आदि शिल्प की प्रधानता होती है। इसमें हास्य रस नहीं होता, पर सागरनन्दी के अनुसार यह 'सर्वरस-पूजित' होता है। नायक ब्राह्मण और उपनायक अनुदात्त प्रकृति का होता है। श्मशान आदि के वर्णन की प्रधानता होती है। उत्कण्ठा, संशय, तर्क, ताप, उद्वेग, आलस्य, अनुकम्पा और आतंक आदि २७ अंगों का भी प्रयोग इसमें होता है।[४] (१२) **डोम्बी**—डोम्बी एकांकी उपरूपक है। इसमें नायिका उदात्त होती है। नायिका के प्रति नायक (राजा) की छल-अनुरागपूर्ण मनोभावना की कोमल अभिव्यंजना होती है। अतएव कैशिकी और भारती वृत्तियों का प्रयोग

---

१. लयान्तरप्रयोगेन रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारसं सुनिर्वाह्यकथं काव्यमिति स्मृतम्। अ० भा० भाग १, पृ० १८२; सा० द० ६।२८८; द० रू० १।८ धनिक की टीका; भा० प्र०; पृ० २६२-३; भोजाज शृंगार प्रकाश : वी० राघवन, पृ० ५४६।

२. भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० ५४६; अ० भा० भाग १, पृ० १८१; सा० द० ६।२९२, यत्र स्त्री करुणभासीना पठतिः। ना० ल० को०, पृ० १३१; भा० प्र०, पृ० २५८।

३. भा० प्र० पृ०, २५६; सा० द० ६।२९१।

४. भा० प्र०, पृ० २५७; वही ६।२९३; ना० ल० को०, पृ० १२६; द० रू० १।८ धनिक की टीका।

होता है। दसों लास्यांगों का इसमें सन्निवेश होता है। 'कामदत्ता' इसका उदाहरण है।[1] (१३) **प्रेक्षणक**—एक विलक्षण उपरूपक है। इसके द्वारा 'कामदहन' जैसी कथाओं को ललित और लयान्वित नृत्त के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यह उत्तर भारत में प्रचलित होलिकोत्सव की परम्परा का है। भावप्रकाशन में प्राप्त परिभाषा तो अस्पष्ट-सी है, उसमें नर्तक की परिभाषा दी गई है। इसमें सूत्रधार, विष्कंभक और प्रवेशक नहीं होते। नायक उत्तम और मध्यम भी होते हैं। नान्दी और प्ररोचना का प्रयोग नेपथ्य से होता है। द्वंद्व-युद्ध का भी प्रयोग होता है। विपत्ति और अनुचिन्ता की प्रबलता होती है।[2] 'वालि-वध' इसका उदाहरण है।

(१४) **दुर्भल्लिका**—दुर्भल्लिका में चार अंक होते हैं। प्रथम अंक की तीन नाडिका में विट अपनी क्रीड़ा प्रस्तुत करता है। पाँच नाडिका के द्वितीय अंक में विदूषक हास्य का सृजन करता है। छः नाडिका के तृतीय अंक में पीठमर्द और दस नाडिका के अन्तिम चतुर्थ अंक में नायक का नाट्य होता है। कैशिकी और भारती वृत्तियों तथा गर्भ-संधि को छोड़ शेष सन्धियों का प्रयोग होता है। भोज के अनुसार दूती चौर्यरति तथा युवा और युवती के अनुराग-रहस्य को प्रकट करती है। शारदातनय की परिभाषा भोज से प्रभावित है। अभिनव भारती में कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं है। नाट्यदर्पण ने इसे दुर्मिलित शब्द से अभिहित किया है।[3] विन्दुमती इसका उदाहरण है। (१५) **विलासिका**—विलासिका श्रृंगार-बहुल, एकांकी और दसों लास्यांगों से युक्त होती है। पात्र के रूप में विदूषक, विट तथा पीठमर्द का इसमें प्रयोग होता है। पर नायक नहीं होता। गर्भ-विमर्श सन्धियों को छोड़ शेष सन्धियों का प्रयोग होता है। वस्तु-वृत्त स्वल्प और नेपथ्य सुन्दर होता है।[4] अभिनव भारती में इसका उल्लेख नहीं है।

(१६) **हल्लीश**—हल्लीश नृत्य-प्रधान उपरूपक है, गीत का भी किंचित् प्रयोग होता है। यह नृत्य मंडलाकार होता है, मध्य में कृष्ण के समान नायक को चारों ओर से घेरकर गोपिका-सी नर्तकियाँ नाचती और गाती रहती हैं। अभिनवगुप्त और भोज की परिभाषाएँ एक-दूसरे की अनुवर्ती हैं। हल्लीश और संस्कृत नाट्य का 'रासक' गुजरात के गर्वा नृत्य का समानान्तर नृत्य-रूपक है। दोनों आचार्यों की परिभाषाओं से इसकी नृत्यरूपकता पर प्रकाश पड़ता है। पर इसमें किस प्रकार की संगीत-रचना होती है, यह स्पष्ट नहीं है। यह एकांकी रूपक है। सात-आठ स्त्रियाँ पात्र के रूप में नृत्य करती हैं। पुरुष पात्र एक ही होता है और वह शौरसेनी का प्रयोग करता है। मुख और निर्वहण सन्धियों का प्रयोग होता है। भावप्रकाशन के अनुसार वह 'खण्ड-ताल-लयान्वित' होता है। इसमें ललित और दक्षिण आदि पाँच नायक तक होते हैं। 'केलिरैवत' इसका उदाहरण है।[5]

---

१. भा० प्र०, पृ० २५७-५८; अ० भा० भाग १, पृ० १८३।

२. भा० प्र०, पृ० २६४; सा० द०, पृ० ६।२८६; ना० ल० को०, पृ० १३३। रथ्या-समाज-चत्वर सुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभिः। पात्रविशेषैः यत्, तत् प्रेक्षणकं कामदहनादि। ना० द०, पृ० १६१।

३. ना० ल० को०, पृ० १३२-३३, ना० द०, पृ० १६१ (गा० ओ० सी० द्वि० सं०), सा० द० ६।२६३। भा० प्र० २६७।

४. सा० द० ६-२९४।

५. मण्डलेनतुयन्नृत्यं (स्त्रीणां) हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥
अ० भा० भाग १, पृ० १८१; भोजाज श्रृङ्गार प्रकाश, पृ० ५५५; भा० प्र०, पृ० २६७।

(१७) **भाण**—भाण का विवरण अभिनवगुप्त, भोज, शारदातनय, सागरनंदी तथा विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाण में नर्तकी नृसिंहावतार और वामावतार की वर्णना का प्रयोग करती है। अतः यह उद्धनांग-प्रवर्तित होता है। भोज के अनुसार यह गीत-नृत्य प्रधान है, परन्तु मध्य में गायक कुछ गद्यांश भी जोड़ता चलता है। इसमें उद्धत, ललित और ललितोद्धत नृत्य का प्रयोग होता है। भाण में कठिन-से-कठिन अभिनय-वस्तु का भी प्रयोग होता है। भाण के मूल में हरि, हर, सूर्य, भवानी और स्कन्द की अभ्यर्थना का भाव रहता है। उद्धत करणप्राय तथा स्त्री-रहित होता है। परन्तु सुकुमार प्रयोग होने पर यही भाणिका के रूप में परिवर्तित होता है, और इसमें स्त्री पात्रों का प्रयोग होता है।[1]

(१८) **भाणिका**—भाणिका एकांकी नृत्य-रूपक है। इसका विकास भी भाण नामक दशरूपक भेद के आधार पर हुआ है। इसमें वेश-विन्यास की सुन्दरता तथा ललित करणों का प्रयोग होता है। उछल-कूद जैसे उद्धत करणों का यहाँ प्रयोग नहीं होता। यह स्त्री-प्रयोज्य तो होती ही है, गाथा का गायन भी उन्हीं के द्वारा होता है। गायन के मध्य में सभ्यजनों के उत्साह के लिए भाण की तरह ही विविध वचनों का उपन्यास भी होता चलता है। श्रृंगार-प्रधान होने के कारण कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है तथा वचन-विन्यास के कारण भारती वृत्ति का भी। नायिका उदात्त होती है, नायक मंद श्रेणी का। भावप्रकाशन के अनुसार उपन्यास, विन्यास विबोध आदि सात अंगों का यहाँ भी प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाणिका में भी कृष्ण के बाल-जीवन, नृसिंहावतार और वराहावतार की कथाएँ अनुबद्ध रहती हैं। सागरनन्दी के अनुसार 'भाणी' में श्रृंगार की प्रधानता रहती है। दसों लास्यांग होते हैं। 'वीणावती' इसका उदाहरण है। यह एकांकी, विट, विदूषक और पीठमर्द उपशोभित होती है।[2]

दशरूपक और उपरूपक का भाण

नृत्य-रूपक भाण में गीत-नृत्य के अतिरिक्त गद्यात्मक वचनविन्यास भी रहता है। यहाँ हरिहर तथा कार्तिकेय आदि देवताओं को लक्ष्य कर लयान्वित स्तुति की जाती है। दशरूपक का भेद 'भाण' तो श्रृंगार-प्रधान, व्यंग्य विनोदपूर्ण रूपक है जिसमें विट आदि धूर्त पात्र होते हैं तथा इसमें गीत-नृत्य की रचना न होकर वेश्या और उसके प्रेमियों की कथा अनुबद्ध होती है।

(१९) **मल्लिका**—उपर्युक्त रूपकों के अतिरिक्त मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक, शम्या, द्विपदी, छलिक और नर्तनक आदि उपरूपकों का भी आचार्यों ने उल्लेख किया है। मल्लिका श्रृंगार-प्रधान तथा कैशिकी वृत्तियुक्त रूपक है। अंक एक या दो होते हैं, विदूषक और विट इसमें वर्तमान रहते हैं। 'मणिकुल्या' इसका उदाहरण है। कल्पवल्ली में हास्य और श्रृंगार रस का योग रहता है। नायक उदात्त, उपनायक पीठमर्द होता है। वासकसज्जा अभिसारिका नायिका होती है। तीन लय और दसों लास्य इसमें होते हैं तथा मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियाँ वर्तमान रहती हैं। 'माणिक्य वल्लिका' इसका उदाहरण है। पारिजातक लता' एकांकी, मुख-निर्वहण संधियुक्त होती है। इसमें वीर एवं श्रृंगार रसों की प्रधानता रहती है। विदूषक की क्रीड़ा और परिहास से यह मनोहर होती है। 'गंगातरंगिका' इसका उदाहरण है।[3]

---

१. अ० भा० भाग १, पृ० १८१; भा० प्र०, पृ० २५८-६०।

२. अ० भा० भाग १, पृ० १८१; भोजाज श्रृङ्गार प्रकाश, पृ० ५५३-५४; ना० ल० को०, पृ० १३१-३२; सा० द० ६।२९९।

३. भा० प्र०, पृ० २६७-८।

(२०) **शम्या**—शम्या शब्द का प्रयोग स्वयं भरत ने किया है। तालसहित (बाएँ) सत्य, हस्त और पाद का संचालन 'शम्या' के नाम से अभिहित होता है।[1] शम्या शब्द का प्रयोग समय-संकेतक छोटी यष्टि के लिए भी होता है। वाल्मीकि रामायण में नृत्य प्रयोग-काल में समय का निर्धारण करने वाले व्यक्तियों के लिए 'शम्या' का प्रयोग हुआ है।[2] सम्भव है यह इस प्रकार के 'नृत्य-रूपक' का संकेतक है जिसमें रंगीन यष्टियों के प्रहार के द्वारा लयताल का सूचक प्रहार होता हो।

(२१) **द्विपदी**—द्विपदी का उल्लेख भामह ने भी किया है।[3] द्विपदी गीत और गति-लय का बोधक शब्द है। द्विपदी गीत के आधार पर ही सम्भवतः द्विपदी नृत्य भी प्रचलित हो सका। ऐसी परम्परा रही है। कन्नड़ के प्राचीन नाटक 'यक्षगान' का नाम तदन्तर्गत संगीत के आधार पर ही है। द्विपदी शब्द का प्रयोग गति-विधान के लिए भी होता है। गति-प्रचार पात्र की मानसिक अवस्था के अनुरूप होता है। तीव्र या मन्द गति द्वारा रस-विशेष का संकेत होता है। मालती माधव के टीकाकार जगद्धर के अनुसार द्विपदिका का प्रयोग करुष, विप्रलम्भ, चिन्ता और व्याधि में होता है।[4] इस प्रकार लय, संगीत और गीत से नृत्य तक द्विपदी का प्रयोग होता है। संगीत रत्नाकर में द्विपदी का उल्लेख गीत-रचना के रूप में किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार द्विपदी आदि छन्द-भेद हैं। अस्तु द्विपदी का सम्बन्ध गीत और नृत्य से है और यह भी गीत-नृत्य प्रधान उपरूपक था। (२२) **छलिक**—छलिक तो शृंगार-वीर-प्रधान उपरूपक होता है। इसमें ताण्डव और लास्य दोनों का योग होता है। हरिवंश में छालिक्य नृत्य की विस्तृत कथा मिलती है, जिसके अनुसार बलराम-रेवती और कृष्ण-रुक्मिणी तथा अन्य युवा-युवतियों ने नृत्य-गीत-वाद्य का समन्वित रूप प्रस्तुत किया। इसमें नारद ने वीणा, कृष्ण ने वंशी और अर्जुन ने हल्लीसक बजाया था। अप्सराओं ने मृदंग बजाये। छलिक का उल्लेख कालिदास ने भी किया है, जिसमें गीत-नृत्य का सम्मिलित प्रयोग हुआ है। प्रद्युम्न-प्रभावती विवाह के प्रसंग में रामायण के अभिनय का उल्लेख है। (वारांगनाओं) ने देव-गांधार छलिक का गान किया, तदनन्तर नांदी का प्रयोग हुआ। इससे यह सूचित होता है कि छलिक पूर्वरंग का अंग था और इसमें गीत-नृत्य की प्रधानता रहती थी।[5]

उपसंहार

रूपक के भेदों के विकास में नाटक-प्रकरण का महत्त्व

पिछले पृष्ठों में रूपकों और उपरूपकों का विवेचन तथा आचार्यों के मतमतान्तरों का दिग्दर्शन किया गया है। दस (बारह) रूपकों और बाइस उपरूपकों की परिगणना से हमारे

---

१. ना० शा० ३१।३८-३९ (का० सं०)।

२. वा० रामायण अ० ६१-४८। शम्या स्त्री युगकीलकः, अमरकोष २।९.४ शम्या तु सत्ययोःपानः सततलकरपादयोः। ना० शा० ३१।१२-१४।

३. भामह : काव्यालंकार।

४. मालती माधव : जगद्धर की टीका, ना० द०, पृ० १६१।

५. ततस्तु देवगांधारं छालिक्यं श्रवणामृतं। भैमस्त्रियः प्रजगिरे मनः श्रोत्रसुखावहम्॥
हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ८८-८९, ९३ (चित्रशाला प्रेस), मालविकाग्निमित्र, अंक-१।

समक्ष कई महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। भास से पूर्व ही रूपक के विविध रूपों की रचना आरंभ हो गई थी, क्योंकि स्वयं भास ने एकांकी, डिम, समवकार, व्यायोग आदि रूपकों की रचना की। रूपकों के अन्तर्गत भी कई भेद हैं, जिनके उदाहरण स्वतंत्र रूप में नहीं मिलते और उनके आन्तरिक संगठन देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उन सबको सर्वलक्षणसंपन्न नाटक से प्रेरणा मिलती रही है। संभव है, नाटक की रचना ही सबसे पहले आरंभ हुई हो, यद्यपि मनमोहन घोष एकांकी को सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं।[1] कालान्तर में कुछ-कुछ विशेषताओं को लेकर नाटक, प्रकरण और व्यायोग, आदि का विकास हुआ। उदाहरण के रूप में नाटिका और प्रकरणी दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि नाटक के समान नाटिका का नेता राजा होता है और प्रकरणी का नेता प्रकरण के समान सार्थवाह आदि। इन दोनों ने पूर्ण-लक्षण रूपकों में भेद-विस्तार में योग दिया।

विशुद्ध नाट्य की गणना रूपक के रूप में—संभव है ये उपरूपक के भेद भरत के समय भी प्रचलित हों और भरत ने जान-बूझकर ही उनकी पृथक् परिगणना या रूपकों में अन्तर्भाव नहीं किया, क्योंकि दशरूपक के टीकाकार धनंजय तथा अभिनवगुप्त के मत से वे तो गीत-नृत्य प्रधान रूपक थे नाट्य-प्रधान नहीं।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने तो इन उपरूपकों को गेय श्रेणी में ही रखा हो। कोहल ने एक और भी विभाजन-मार्ग और देशी के नाम से प्रस्तुत किया।[3] उस विभाजन के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल से ही रूपकों की साहित्यिक और लोक-परंपराएँ प्रचलित थीं। साहित्यिक परंपरा के नाट्य 'रूपक' के रूप में समृद्ध हुए और लोकपरंपरा के गीत-नृत्य प्रधान उपरूपक के रूप में विख्यात हुए।

रूपकों पर अभिजात्य संस्कार और कला का प्रभाव—रूपकों पर अभिजात्य संस्कार और कला का प्रभाव है। वे परिष्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा कलादृष्टि से परिपूर्ण हैं। पर जिनमें आभिजात्य संस्कार नहीं पनप सके और कला की दृष्टि से परिपूर्ण नहीं थे वे देशी बने रहे। इनके द्वारा कुछ गीत-नृत्तों या नृत्यों का प्रयोग करके मनोरंजन करने का हलका-सा प्रयास भर होता था। रूपकों के ही भेदों—नाटक और प्रकरण में सुख-दुःखात्मक जीवन की जैसी मनोमुग्धकारिणी संवेदना, सौन्दर्य की जैसी सजीव सृष्टि और जीवन के ओज और उदात्तता का जैसा प्रतिफलन होता है, वह अन्य रूपकों में नहीं। भावों की विराट्ता, विचारों की समृद्धि, आनन्द और हास्य का वैसा समन्वित प्रभाव अन्य रूपकों या उपरूपकों में कहाँ है? वे प्रायः एकांगी हैं। किन्हीं में रौद्र या वीर की प्रधानता है तो किन्हीं में श्रृंगार या हास्य की। अतः भेद की परंपरा का आरंभ, संभव है, भरत से पूर्व ही हुआ हो और भास के काल तक तो वह बहुत स्पष्ट हो चुका था।

भेदों के मूल में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण—रूपकों में जो परस्पर भेद है वह केवल स्वरूप, शैली और विषय की भिन्नता को ही लेकर नहीं। वस्तुतः हमें इस प्रश्न पर थोड़ा और गहराई से विचार करना चाहिए। रूपकों के भेदों में उस युग की सामाजिक मनोदशा का बड़ा स्पष्ट संकेत मिलता है। वे हमारी तत्कालीन सामाजिक और मानसिक स्थितियों के

---

१. कन्ट्रीब्यूशन्स टु दी हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू ड्रामाज़, पृ० ६।

२. द० रू० १।८ पर अवलोक टीका; अ० भा० भाग २, पृ० ६ (भूमिका रा० कृ० कवि); भ० को०, पृ० ८३७, ८६७।

३. का० अनु०, पृ० ४३३।

बोलते प्रतिरूप (रेकार्डेड) हैं। नाटक-प्रकरण की-सी मान्यता भाण-प्रहसन को कभी प्राप्त नहीं हुई। स्वयं नाटक जैसी मान्यता प्रकरण को भी नहीं मिली। भारतीय समाज में उच्चवर्ग को जो आदर और सम्मान प्राप्त था, उस संभ्रान्तता और सुरुचि का अधिकार कला के इन क्षेत्रों पर असाधारण था, जबकि रूपक के अन्य रूप जन-समाज के जीवन की प्रतिछाया के बोलते प्रतिरूप थे। अतः रूपकों के विभाजन के मूल में जीवन की नाना परिस्थितियों, मनोवृत्तियों तथा उच्च सामाजिक दशाओं का भी महत्त्व है। जीवन की इस विविधता और भिन्नता ने ही तो रूपकों के भेदों में रस, शैली और स्वरूप की दृष्टि से उनमें पृथकता का आधार प्रस्तुत किया है। इस व्यापक विचार-भूमि में वस्तु के सुनियोजन, यथावसर चमत्कारपूर्ण कल्पना का योग, कहीं गीत-वाद्य की प्रमुखता, कहीं जीवन-रस की मसृणता या दीप्तता, कहीं राम की उदात्तता, भीम की उद्धतता, कहीं उदयन का धीरलालित्य और कहीं नागानन्द की धीरप्रशान्तता के दर्शन होते हैं।

रूपकों के भेद : आर्यों की चिंतन-समृद्धि के प्रतीक—रूपक और उपरूपकों के प्राप्त भेदों का शास्त्रीय विवेचन कई और भी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। आर्यों की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं की सर्जन-क्षमता कैसी थी, इसका भी परिचय हमें प्राप्त होता है। मौलिक नाट्य-रचयिता नाट्य-प्रधान और गीत-नृत्य-प्रधान रूपकों की सर्जना कर रहे थे। दूसरी ओर चिंतक उनकी गहन मीमांसा करके उनके सामान्य और विशेष नाट्यतत्त्वों का गहन अध्ययन कर तर्क-सम्मत विभाजन और वर्गीकरण कर रहे थे। उस काल के भारतीय आन्तरिक और बाह्य संघर्षों में भी कला और चिन्तन की जैसी उत्कृष्ट और मूल्यवान् सजीव-सृष्टि दे गए वह साधारण उपलब्धि नहीं है।[1]

भेदों का आधार भरत की विचारधारा—भरत ने रूपकों का जो विकल्पन और वर्गीकरण किया, वह परवर्ती सब आचार्यों के लिए आधार बना रहा। विभाजन का कोई नया आधार किसी भी आचार्य ने नहीं प्रस्तुत किया। कोहल का मार्ग और देशी या सुबंधु का भास्वर और ललित आदि भेद लोक-प्रिय नहीं हो सके। पुनश्च, जिन कुछ नवीन भेदों की परिकल्पना भी की गई, उनका भी आधार भरत की ही विवेचन-प्रणाली थी। प्रायः जितने भी आचार्य थे उन्होंने रूपकों के भेद-विस्तार का भी खंडन किया। परन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ऐसे मनीषी थे जिन्होंने नवीन भेदों को प्रश्रय दिया, क्योंकि नाटिका या प्रकरणिका आदि में भी अपार शक्ति और सौन्दर्य का उन्मेष था। पर इस प्रकार की शास्त्रीय विवेचना का शिलान्यास भरत ने ही किया, उसी पर शास्त्रीय परंपरा का विकास हुआ।

---

१. ड्रामेटिक सिस्टम ऑफ़ हिन्दूज़, विल्सन, थियेटर ऑफ़ हिन्दूज़ : संकलित, पृ० १७-१८।

२

इतिवृत्त-विधान

नाट्य-शरीर की अनेकरूपता

इतिवृत्त, नेता और रस—नाट्य के तीन प्रधान तत्त्व हैं। इतिवृत्त नाट्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। नाट्य के आत्मा रूप रस और चरित्र का स्वरूप इसी इतिवृत्त की क्रियात्मकता में उदित होता है। यह नाट्य-शरीर वागात्मक होता है। मानव-शरीर की रचना में अस्थि-संधियों के समान नाट्य के शरीर-रूप इतिवृत्त की रचना में भी पंच संधियों का महत्त्व असाधारण है। नाट्य के इतिवृत्त की दो शाखाएँ हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक।

आधिकारिक इतिवृत्त फलोन्मुख होता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि के द्वारा जिस कार्य-व्यापार का अवसान फल-प्राप्ति के रूप में होता है, वही आधिकारिक होता है, क्योंकि इस वृत्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नेता (नायक) से होता है। समस्त कार्य-व्यापार का फल-भोक्ता वही होता है। इसीलिए यह वृत्त आधिकारिक होता है। आधिकारिक वृत्त के अतिरिक्त अन्य वृत्त आनुषंगिक होते हैं, ये उसके उपकारक होते हैं, फलाभिमुख होने में सहायता देते हैं। रामकथा में सीता-प्रत्यावर्तन की कथा आधिकारिक और सुग्रीव का प्रयत्न प्रासंगिक है।[1]

वस्तुतः कोई भी इतिवृत्त नाट्य में मूलतः न तो आधिकारिक होता है न प्रासंगिक ही। उसे यह द्वित्व रूप तो कवि-कल्पना द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु कवि भी इसके लिए नितान्त स्वतंत्र नहीं है कि इच्छानुसार आधिकारिक और प्रासंगिक इतिवृत्तों की कल्पना करे। फलोत्कर्ष की कल्पना औचित्यमूलक होती है। धीरललित या धीरोदात्त प्रकृति के नेताओं के लिए जैसा साध्य या फल उचित होगा उसी के उत्कर्ष का निबंधन उचित है। पुनश्च, प्रासंगिक कथा की योजना सर्वत्र आवश्यक भी नहीं है। फलसिद्धि में नेता यदि सहायता की अपेक्षा करता है तब प्रासंगिक इतिवृत्त की योजना होती है।[2]

यह प्रासंगिक इतिवृत्त-विस्तार की दृष्टि दो अंचलों में फैल जाती है—पताका और प्रकरी।

१. ना० शा० १६।१-५; द० रू० १।१२; सा० द० ६।४३; ना० द० १।१०, पृ० २७ (द्वि० सं०); ना० ल० को०, पृ० २२४, भा० प्र० २०१, र० सु० ३-१६।

२. कविर्यत्फलमुत्कर्षेण विवतति तत्प्रधान फलम् तथा—कविरपि न स्वेच्छया, फलस्योत्कर्ष निबद्ध-मर्हति, किंत्वौचित्येन। यस्यधीरोद्धत्तादेर्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षेनिबंधनीयः। अ० भा० भाग ३, पृ० ४।

पताका कथा का विस्तार वस्तुवृत्त के बहुत-से क्षेत्रों में होता चलता है। आधिकारिक कथा का वह उपकारक तो होती है पर उसका स्वयं भी महत्त्व होता है। सुग्रीव और विभीषण राम के उपकारक होने पर भी स्वयं भी उपकृत हैं। प्रकरी का विस्तार स्वल्प होता है और वह मुख्यतया परार्थ होती है। वेणीसंहार या स्कन्दगुप्त में चक्रपालित आदि का महत्त्व परार्थ ही है। पताका स्थानक के चार प्रकार चमत्कारातिशयता, काव्यबंध की श्लिष्टता तथा काव्यवस्तु के अस्फुट संकेत आदि की दृष्टि से होते हैं, यद्यपि धनंजय एक ही स्वीकार करते हैं।

वस्तुवृत्त का यह विभाजन नेता तथा अन्य पात्रों के पुरुषार्थ साधक नाट्यव्यापार पर आधारित है। धीरललित या धीरोदात्त आदि पात्र अपनी प्रकृति के अनुसार त्रिवर्ग-साधन में प्रवृत्त होते हैं और उनकी प्रकृति के अनुरूप फलोत्कर्ष की कल्पना की जाती है और आवश्यकता-नुसार सहायक प्रासंगिक वस्तुवृत्ति की भी। वस्तुवृत्त के विभाजन के अन्य कई आधार हैं। वस्तुवृत्त की कल्पना सामर्थ्य और उसके प्रयोग की विविध शैलियाँ भी विभाजन के अन्य आधारों को प्रस्तुत करती हैं।

आधिकारिक और प्रासंगिक वृत्त के संदर्भ में हम कवि की कल्पना के महत्त्व का उल्लेख कर चुके हैं। भरत ने नाटक और प्रकरण के विवेचन के प्रसंग में प्रख्यात और उत्पाद्य कथाओं का विवरण प्रस्तुत किया है। अतः नाट्य का इतिवृत्त इतिहास और पुराणों के आधार पर परिपल्लवित होता है तो वह **प्रख्यात** होता है और उन आर्ष ग्रन्थों का आधार छोड़ लोक-परंपरा एवं कल्पना-शक्ति के आधार पर इतिवृत्त परिपल्लवित होता है तो वह **उत्पाद्य**।[1] वह कथावस्तु **दशरूपक** के अनुसार दिव्य और मर्त्य-कथा के योग से **मिश्र** भी होती है जिसमें कुछ अंश प्रख्यात भी होता है, कुछ उत्पाद्य भी।[2]

अवस्थाएँ—इतिवृत्त के केन्द्र में प्राप्य साध्यफल के रूप में पुरुषार्थ-साधन वर्तमान रहता है। तीन पुरुषार्थों में से एक या अनेक की योजना हो सकती है। रूपक के आरम्भ में यह अल्परूप में संकेतित होता है, पर बाद में वही अनेक रूप में परिपल्लवित होता है। साध्य फल की प्राप्ति के लिए नायक जिस कार्य-व्यापार का प्रसार करता है, क्रमशः उसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं: प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति की संभावना, नियतफल की प्राप्ति तथा फलयोग।[3]

(१) **प्रारंभ**—महान् फलयोग के प्रतिनायक (अथवा अमात्य या नायिका आदि) के मन में बीज के रूप में उत्सुकता का निबंधन होता है। कथा का वही अंश फलारंभ या आरंभ होता है। (२) **प्रयत्न**—फलप्राप्ति दृष्टि में न रहने पर भी इतिवृत्त में फलयोग के लिए उत्सुकता-प्रदर्शन तथा तदनुरूप प्रयत्न की आकांक्षा हो, तो प्रयत्न-प्रेरित वह कथांश 'प्रयत्न' होता है। (३) **प्राप्ति-संभावना**—उपाय मात्र के उपलब्ध होने से विशिष्ट फल की प्राप्ति की किंचित् कल्पना की जाती है, परन्तु विघ्न की आशंका बनी रहती है, तो 'प्राप्ति-संभावना' नामक अवस्था होती है। (४) **नियताप्ति**—प्रतिबन्धकों के विध्वंस के उपरान्त पूर्वोपात्त मुख्य उपाय से नियंत्रित कार्य-व्यापार फल की ओर अग्रसर होता है तो यह नियताप्ति नामक अवस्था होती है।

---

१. ना० शा० १०, ४५; द० रू० १।१५-१६।

२. मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः। द० रू० १।१०।

३. ना० शा० १९।९-१३; द० रू० १।१५-२२क; सा० द० ६।५५-५९; ना० द० १।३५-३६; ना० ल० को०, पृ० ६६-६९; भा० प्र०, पृ० २०६; प्र० रू०, पृ० १०५-६; र० सु० ३।२४-२६।

(५) फलयोग—जिस इतिवृत्त में नायक को अभिप्रेत समग्र क्रियाफल की प्राप्ति हो, तो वही अवस्था 'फलयोग' की होती है।

इतिवृत्त की पाँचों अवस्थाओं का आनुपूर्व विकास केवल नायक को ही लक्ष्य कर नहीं होना चाहिए। इतिवृत्त के अन्य पात्र—सचिव और नायिका आदि की अवस्था नायकानुगामिनी ही होती है। अतः कार्यव्यापार की पाँचों अवस्थाओं का विकास समग्र रूप में होना चाहिए। यद्यपि ये अवस्थाएँ काल और स्वभाव की दृष्टि से भिन्न तो होती हैं, परन्तु निश्चित फल को दृष्टि में रखकर एक भाव से संबद्ध हो इनका विन्यास होता है। यह पारस्परिक समागम फल का हेतु हो जाता है। नाट्य के इतिवृत्त का आरंभ आधिकारिक कथावस्तु से ही होना चाहिए, क्योंकि वह बीज-रूप नाट्य-व्यापार ही फल-रूप में विकसित होता है।[1]

अर्थ-प्रकृतियाँ

पुरुषार्थ साधक इतिवृत्त की पाँच अवस्थाओं की भाँति, उसकी पाँच अर्थ प्रकृतियाँ भी होती हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ अभिनवगुप्त की दृष्टि से फल के साधन या उपाय हैं। दशरूपककार और साहित्यदर्पणकार के शब्दों में प्रयोजन सिद्धि के हेतु हैं। अवस्था का सम्बन्ध प्रधानतया नायक की मानसिक दशा तथा कथा के विकास-क्रम से है और अर्थ-प्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु के उपादान-कारणों से। अवस्थामूलक भेद का विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है और उपायमूलक अर्थ-प्रकृति के भेदों का इतिवृत्त की शारीरिक रचना पर। अतः अवस्थामूलक और उपायमूलक दोनों भेदों द्वारा इतिवृत्त की आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों का समन्वय होता है।[2]

उपायमूलक अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

(१) बीज—'बीज' इतिवृत्त का वह आरंभिक अंश है, जो किसी गंभीर प्रयोजन-संवेदना के बिना घटता है पर उस 'घटना-बीज' का वपन होने पर वह उत्तरोत्तर फैलता चलता है और फल-रूप में समाप्त होता है। लोक में स्वल्पकार बीज फल-रूप में परिणत होता है, नाट्य-कथा का आरंभिक अंश भी उसी लौकिक बीज की तरह होता है और आधिकारिक कथा से सर्वथा संबंधित। **(२) 'विन्दु'**—विन्दु कथा का वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जो नाट्य के इतिवृत्त के अवसानकाल तक रहता है। भले ही इतिवृत्त या आवश्यकतावश प्रयोजन का विच्छेद भी क्यों न हो जाए। परन्तु वस्तु-बंध की समाप्ति तक वह वर्तमान रहता है। धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और अभिनवगुप्त ने विषय का विवेचन किया है। नायक तो फलानुसंधान उपाय में प्रवृत्त रहता है, उसके सतत प्रयत्नों का विस्तार जल-तल पर छितराते तेल-विन्दु की तरह होता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रयोजन के अनुसंधान के लिए समस्त प्रयत्नों का विस्तार नायक द्वारा ही हो। सचिव आदि के द्वारा भी अनुसंधान के प्रयत्न होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार 'बीज' और 'विन्दु' में अन्तर यह है कि बीज मुख-संधि को प्रवृत्त कर अपना उन्मेष करता है, विन्दु मुखसंधि के अनन्तर। यही दोनों की विशेषता है। दोनों ही समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहते हैं।[3]

विन्दु के स्वरूप के संबंध में आचार्यों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। नाटकलक्षण कोषकार

---

१. ना० शा० १६।१४-२५; अ० भा० भाग २, पृ० ६।

२. द० रू० का चौखंभा संस्करण, पृ० १४-१५ पर पाद-टिप्पणी।

३. ना० शा० १६-२२-३; ना० द० १-२६; सा० द० ४७-८; द० रू० २।१७ द्र अपितु समस्तेतिवृत्त-व्यापके। अ० भा०, पृ० २ भाग २।

के अनुसार नाट्यार्थ का प्रत्येक अंक में अवमान या उत्साह द्वारा परिकीर्तन किया जाता है, वही बिन्दु है। राघवाभ्युदय में कैकयी का, वेणीसंहार में द्रौपदी के कचाकर्षण का, नागानंद में जीमूत-वाहन के उत्साह का और तापस वत्सराज के प्रत्येक अंक में वासवदत्ता के प्रेम के अनुसंधान का वर्णन सर्वत्र बार-बार आवृत्त होता है। आवृत्ति का यह क्रम समाप्ति-काल तक चलता है, यही 'बिन्दु' है। शिंगभूपाल के विचार से जिस प्रकार जल की बूंदों को वृक्षों के मूल में अभिषेक करने से फलागम होता है, उसी प्रकार यदा-कदा बिन्दुपात से नाट्य-कथा का विकास होता चलता है।[१]

(३-४) **पताका और प्रकरी**—'पताका' शब्द कथावस्तु के विकास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में भी युद्ध और विजय-यात्रा के प्रसंग में गगनचुंबी ध्वज-दंडों पर पताकाएँ फहरायी जाती थीं। संपूर्ण सेना का द्योतन उसी एकवर्तिनी सेना द्वारा होता था। इसी प्रकार पताका एक देश-वर्तिनी होकर भी समस्त इतिवृत्त का प्रकाशन करती है।[२] कर्ण का चरित इसी प्रकार का है। पताका परार्थ, प्रधान का उपकारक होकर भी प्रधानवत् होती है। भाव प्रकाशन की दृष्टि से पताका-कथा आधिकारिक कथा के साथ-साथ चलती है। परन्तु शिंगभूपाल, विश्वनाथ और रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसका प्रयोग अत्यावश्यक नहीं मानते।[३] प्रकरी आनुषांगिक कथा होती है, कथा के किसी प्रदेश में ही उसका उपयोग होता है, यह प्रधानवत् कल्पित नहीं होती, क्योंकि नितांत परार्थ और उपकारक होती है। यत्र-तत्र बिखरे हुए फूलों की-सी शोभा का कारण होती है। रामकथा में शवरी की कथा प्रकरी ही है। यदि इन दोनों आनुषंगिक कथाओं का प्रयोग नहीं होता तो बिन्दु का ही विस्तार होता है।

(५) **कार्य**—कार्य अर्थप्रकृति का पाँचवाँ अंग है। आधिकारिक वस्तु का प्रयोग प्रधान-नायक, पताका-नायक और प्रकरी-नायक आदि के द्वारा होता है। उस प्रयोग के सहायक के रूप में अन्य अचेतन सामग्रियों का भी प्रयोग होता है। त्रिवर्ग-साधक यह समस्त नाट्य-व्यापार 'कार्य' होता है। रसार्णव सुधाकर के अनुसार यह कार्य यदि त्रिवर्ग में से किसी एक ही को साध्य रूप में ग्रहण करता है, तो 'शुद्ध' होता है और यदि अनेक साध्य होते हैं तो 'मिश्र'।[४]

अर्थ-प्रकृति की प्रधानता

सब अर्थ-प्रकृतियों का सर्वत्र प्रयोग प्रारंभादि अवस्था की तरह नहीं होता। नायक का जिस अर्थ-प्रकृति से जितना अधिक प्रयोजन होता है, वही अर्थ-प्रकृति प्रधान होती है। दूसरी अर्थ-प्रकृतियाँ वर्तमान होने पर भी अविद्यमान-सी होती हैं। जिस प्रकार पताका और प्रकरी में पराक्रमशाली पात्रों के रहते हुए भी प्रधान नायक की ही मुख्यता रहती है, न कि पताका-नायक या प्रकरी-नायक की; उसी प्रकार अर्थ-प्रकृतियों में जो सर्वाधिक प्रयोजन-सिद्धि का कारण बनती है, वही प्रधान होती है।[५]

---

१. ना० ल० को०, पृष्ठ १७३-१८५।
जलबिन्दुर्यथा सिंचंस्तरुमूलं फलाय हि। तथैवायं मुहुः क्षिप्तो बिंदुरित्यभिधीयते।

२. ना० ल० को०, पृष्ठ १८६।

३. भा० प्र०, पृष्ठ २०५।५; ना० द०, पृष्ठ ४३; सा० द० ६।४६-५१; र० सु० ३।११२-११८।

४. ना० शा० १६।२६ (गा० ओ० सी०), द० रू० १।७६, ना० द० १।३३क, सा० द० ६।५३, र० सु० ३।१७, प्र० रू० १०७।३, ना० ल० को० पं० २०६-२१३; भा० प्र०, पृष्ठ २०५।१७-२२।

५. ना० शा० १६।२७ (गा० ओ० सी०)।

अर्थ-प्रकृतियों का विभाजन

सब अर्थ-प्रकृतियाँ सर्वत्र वर्तमान नहीं रहतीं परन्तु बीज, बिन्दु और कार्य, ये तीन अर्थ-प्रकृतियों में मुख्य हैं। अतः वे तो निश्चित रूप से वर्तमान रहती हैं। नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से केवल बीज-बिन्दु ही सर्वव्यापी होते हैं, कार्य नहीं। पताका, प्रकरी और कार्य में से एक, दो या तीन के प्रयोग होने पर एक मुख्य अर्थ-प्रकृति होती है, शेष गौण होती हैं। नाट्य दर्पणकार ने जिस प्रकार अर्थ-प्रकृतियों के दो वर्गों की कल्पना की है, उसी प्रकार उसके क्रम में विपर्यय का भी उन्होंने विधान किया है। भरत का क्रम है बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। परन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार 'बिन्दु' का स्थान चौथा है दूसरा नहीं। उनके विभाजन और परिगणना का एक और भी आधार है। वे साध्य के उपाय-भूत समस्त अर्थ-प्रकृतियों को चेतन और अचेतन दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं। चेतन और अचेतन दोनों के ही दो भेद हैं—मुख्य और गौण। चेतन श्रेणी का मुख्य भेद है बिन्दु, क्योंकि यह कार्यानुसंधान रूप है। गौण के भी दो भेद हैं—स्वार्थ-सिद्धि-परक और परार्थ-सिद्धि-परक। पताका स्वार्थ-सिद्धि-परक है और प्रकरी परार्थ-सिद्धि-परक। अचेतन का मुख्य भेद है बीज। वह सबका (कार्य) मूल होता है और गौण होता है कार्य। अभिनवगुप्त ने इसी शैली से भरत के विचारों का व्याख्यान किया है। इस प्रकार बीज और बिन्दु 'चेतनाचेतन' रूप अर्थ-प्रकृतियाँ तो प्रधान होती हैं और शेष पताका, प्रकरी और कार्य गौण।[1]

पताका में एक संधि या अनेक संधियों की योजना की जाती है। प्रधान कथा-वस्तु के अनुयायी होने के कारण वह 'अनुसंधि' कही जाती है। भट्टलोल्लट के अनुसार पतानायक से संबंधित 'इतिवृत्त भाग' परार्थ-साधक होता है। अतः वह अनुसंधि है। पताका गर्भ संधि या विमर्श संधि तक रहती है, क्योंकि उसकी योजना प्रधान कथावस्तु के लिए होती है अपने लिए नहीं।[2] नाटकलक्षण कोष में भातृगुप्ताचार्य के उद्धृत अवतरण में किसी अन्य आचार्य के द्वारा 'पंच-साध्य' का उल्लेख किया गया है—साधक, साधन, साध्य, सिद्धि और संभोग।[3]

नाट्य-शरीर की पंच संधियाँ

भरत ने नाट्य के शरीर-रूप इतिवृत्त के लिए पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थ-प्रकृतियों के योग से पाँच संधियों की भी कल्पना की है। पाँचों संधियाँ प्रारंभ आदि अवस्था की तरह इति-वृत्त रूप नाट्य-शरीर के अभिन्न अंग हैं। वे अनिवार्य रूप से इतिवृत्त की विभिन्न दशाओं में प्रयोज्य हैं। पंच संधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में सब आचार्यों में ऐकमत्य है। परन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भरत और परवर्ती आचार्यों में मत-भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। भरत के अनुसार संधियों के द्वारा विभिन्न अवस्थाओं के कार्य-व्यापारों का योग होता है। "अभिनेय रूपक में नायक आदि के द्वारा प्रारंभ आदि अवस्थाओं के उपयोग के लिए जितनी भी उपयोगी अर्थ (नाट्य) राशि है, वही 'संधि' होती है।"[4] ये अर्थावयव परस्पर जुटते हैं इसीलिए इन्हें संधि

---

१. ना० द० पृष्ठ १।२८ (द्वि० सं०), अ० भा० भाग ३, पृष्ठ १२।

२. ना० शा० १६।२८, अ० भा० भाग २, पृष्ठ १६-१७।

३. ना० ल० को० पं० ४७०-४७१।

४. समुच्चयपदैः पंचानां सर्वत्रावश्यं भावित्वं द्योतितम्।
नायकस्य स्वमुखेन परद्वारेणवाया प्रारंभावस्था प्रथमा व्याख्याता तदुपयोगी यावानर्थराशिः स

शब्द से अभिहित किया जाता है। इसी अर्थराशि के अवान्तर भाग 'उपक्षेप' आदि संध्यंग होते हैं। अभिनवगुप्त ने संधि का यही सामान्य रूप प्रस्तुत किया है।

अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों का योग

संधि के संबंध में धनंजय ने भरत की अपेक्षा भिन्न विचार-परंपरा प्रस्तुत की है। उनके विचार से पाँच अवस्थाएँ और पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ क्रमशः एक-दूसरे से मिलती हैं, तो संधि होती है। संधि में एक ओर कथांशों का सम्बन्ध अर्थ-प्रकृति के रूप में कार्य से होता है, दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलयोग से। इन दोनों ही 'कार्य' और 'फलयोग' के सम्बद्ध होने पर संधि होती है।[1] दशरूपक के अनुसार संधियों की रचना निम्नलिखित रूप में होती है :

अवस्था		अर्थप्रकृति		संधि
प्रारम्भ	+	बीज	=	मुखसंधि
प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुखसंधि
प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भसंधि
नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्श संधि
फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण संधि

आचार्य विश्वनाथ, शारदातनय, शिंगभूपाल आदि सबने धनंजय का ही अनुसरण करते हुए इतिवृत्त की अवस्था और अर्थ-प्रकृति के प्रत्येक अंग के संयोग से संधि की रचना के सिद्धान्त की पुष्टि की। परन्तु यह मान्यता सर्वथा निर्दोष नहीं है।

धनंजय और आचार्य विश्वनाथ आदि का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर इतिवृत्त के व्यावहारिक प्रयोग में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। इनके अनुसार विमर्श या अवमर्श संधि की रचना प्रकरी और नियताप्ति के योग से होती है। परन्तु प्रकरी आनुषंगिक कथा है। प्रधान कथा के उपकार के लिए गर्भसंधि में कहीं-कहीं कल्पित की गई है। राम-कथा की शवरी-कथा 'प्रकरी कथा' है और उसका प्रसार 'पताका-कथा' (सुग्रीव कथा) तक होता है। वहाँ गर्भसंधि ही चलती रहती है। अतः अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों के यथासंख्य योग का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण मालूम पड़ता है।

आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता

भरत और अभिनवगुप्त का ही विचार समीचीन मालूम पड़ता है कि संधियाँ बीज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक हैं। कभी बीज अंकुरित होता है, कभी बाधाओं में छिप जाता है, कभी पुनः प्रकट होता है। अन्ततः फलरूप में परिणत होता है। उसी प्रकार नाट्य-व्यापार के रूप में नायक से संबंधित मुख्य साध्य प्रयत्न-प्रेरित हो साध्याभिमुख होता है। बाधाएँ उपस्थित होती हैं। प्राप्यफल अदृश्य-सा भी हो जाता है। उत्थान, पतन, जय-पराजय के विभिन्न

मुखसन्धिः। तस्यार्थराशेरवान्तरभागान्युपक्षेपाधानि संध्यंगानि। तेनार्थावयवा संधीयमानाः परस्परमंगैश्च संधयं गानि समाख्या निरुक्ताः। अ० भा० भाग ३, पृष्ठ २३।

१. अन्तरैकार्थसंबंधः सन्धिरेकान्वये सतिः। द० रू० १।२२-२३; भा० प्र० २०७।६-१०; र० सु० ३।२६; सा० द० ६।७४।

जीवन-व्यापारों के क्रम में अन्ततः नायक को अपना साध्य फल प्राप्त होता है। इस रूप में कथा के अनेक अंगों का, विभिन्न अवस्थाओं का योग होता है, वह संधि होती है। ऐसा मत स्वीकार कर लेने पर कोई कठिनाई नहीं रहती और भरतानुकूल भी यह मंतव्य निर्धारित हो जाता है। निःसन्देह इस मत के अनुसार अर्थ-प्रकृतियों का महत्त्व न्यून हो जाता है, क्योंकि भरत, अभिनव गुप्त और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी यह प्रतिपादित किया है कि अर्थ-प्रकृतियों में सबका योग सर्वत्र हो ही, कोई आवश्यक नहीं है। पताका और प्रकरी आनुषंगिक कथाओं के अंग हैं। अतः इनका प्रयोग कवि की अपेक्षा पर निर्भर करता है। ऐसे भी नाटक हैं, जिनमें पताका या प्रकरी का प्रयोग नहीं मिलता तथा उनके क्रम में भी विपर्यय संभव है, यह हम प्रतिपादन कर चुके हैं।[१]

वस्तुतः इन संधियों के द्वारा नाट्य में निबंधनीय इतिवृत्त का अवस्था-भेद से पाँच भागों में विभाजन होता है और प्रत्येक संधि के बारह और तेरह अंग हैं। इन अंगों के योग से संधि होती है। प्रासंगिक वृत्त की संधियाँ मुख्य कथावस्तु की अनुयायी होती हैं। अतः 'अनुसंधि' ही कही जाती है।[२] भरत ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि नियमतः तो रूपकों में पाँचों संधियों का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु कारणवश हीन-संधि रूपकों की भी रचना होती है। डिम और समवकार में चार संधियाँ होती हैं। व्यायोग और इहामृग में तीन ही संधियाँ होती हैं। वीथ्यंग और भाण में दो ही संधियाँ होती हैं। पूर्ण संधि नहीं होती है, जहाँ बहुफल कर्तव्य का आरंभ होता है। परन्तु प्रासंगिक इतिवृत्त में यह नियम प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ भी पूर्ण-सधि नहीं होती, क्योंकि वह तो परार्थ होती है, वहाँ प्रधान कथावस्तु का अविरोधी वृत्त कल्पित होना चाहिए। सागरनंदी के अनुसार भी संधि तो कथाओं का परस्पर संघटन है।

नाट्य-शरीर की पंचसंधियाँ

(१) **मुख-संधि**—मुख-संधि में नाना अर्थ और रस के योग से बीज की उत्पत्ति होती है। शरीर में मुख की प्रधानता है, उसी प्रकार प्रारम्भ में ही बीज के उत्पन्न होने से शरीर में मुख के समान नाट्य-शरीर की यह संधि 'मुख-संधि' के रूप में प्रसिद्ध है। अभिनेय रूपक के आरंभ में उसके उपयोग का जो भी वृत्त रसास्वाद के साथ उत्पन्न होता है, वह सब 'मुख-संधि' होती है।[3] मुख-संधि में प्रधान वृत्त का फल-हेतु बीज रूप में प्रस्तुत होता है।

भरत एवं अन्य आचार्यों ने मुख्य रूप से मुख-संधि का यही रूप प्रस्तुत किया है, पर किंचित् भिन्न रूप में अन्य आचार्यों के भी मत प्राप्य हैं। सागरनंदी ने तीन आचार्यों का मत प्रस्तुत किया है। प्रथम मत भरतानुसारी है। परन्तु द्वितीय मत के अनुसार बीज और बिन्दु दोनों के ही साहचर्यवश मुख-संधि में (आख्यात) में योजना होती है। एक अन्य आचार्य ने केवल बीज का ही कीर्तन मुख-संधि में आवश्यक माना है परन्तु श्लेष या छाया के माध्यम से।[४] विक्रमोर्वशी के प्रथम अंक में सुनियोजित मुख-संधि का परिचय मिलता है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम का बीज नाना अर्थ-रस से परिपुष्ट हो उत्पन्न होता है।

---

१. ना० द० १।१० तथा उस पर विवृत्ति, पृ० २७-२८, अ० भा० भाग ३, पृ० २४-२५।

२. ना० द० १ ३७ पर विवृत्ति, पृ० ४८ (द्वि० सं०), ना० ल० को० पं० ४४०-४५५।

३. यत्र बीजसमुत्पत्तिः नानार्थ रस संभवा। काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्। ना० शा० १९।३९, अ० भा० भाग ३, पृ० २३।

४. ना० ला० को० पं० ५४५-५५०; द० रू० १।२४ ख, सा० द० ६।६३।

(२) **प्रतिमुख संधि**—प्रतिमुख संधि में उत्पन्न बीज रूप इतिवृत्त का उद्घाटन तो होता है, पर वह 'दृष्ट' और 'नष्ट' की अवस्था में रहता है। फलाभिमुख बीज का उद्घाटन एक दशा विशेष है। अनुकूल वातावरण में वह बीज रूप इतिवृत्त उद्घाटित होता-सा दृश्य मालूम पड़ता है परन्तु विरोधी के (कारण प्रतिनायक आदि) प्रभाव से 'नष्ट होता'-सा मालूम पड़ता है, जैसे अंकुरित बीज पांशुपिहित हो। वेणीसंहार में इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होता है। भीष्मवध से पाण्डवाभ्युदय रूपी 'बीज-वृक्ष' के 'अंकुर' का उद्घाटन दृश्य तो होता है पर अभिमन्यु के वध से वह 'नष्ट' हुआ-सा लगता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिमुख संधि के विश्लेषण के प्रसंग में अन्य कई मतों का उल्लेख किया है। (क) कार्यवश दृष्ट और कारणवश नष्ट-सा लगता है। (ख) नायक-वृत्त में बीजांकुर दृश्य होता है पर प्रतिनायक-वृत्त में नष्ट-सा लगता है। (ग) उपादेय में दृश्य होता है, हेय में नष्ट। ये विचार अभिनवगुप्त के अनुरूप नहीं हैं। वस्तुतः प्रतिमुख में दृष्टता की ही प्रधानता है, नष्टता तो अवमर्श का अंग है। 'दृष्ट-नष्टता' तो प्रतिमुख संधि की अवस्था की अनिवार्य विकासशील अवस्था है। भूमि में (मुख में) न्यस्त बीज की तरह वह कभी उद्घटित होता है, कभी कारणवश तिरोहित भी होता है।[1] पुरूरवा के प्रति उर्वशी के प्रथम अनुराग के उद्बोधन द्वारा प्रेम-बीज का उद्घाटन होता है परन्तु 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक के अभिनय के लिए इसका देवलोक के लिए प्रस्थान करना पांशुपिहित बीज की तरह है।

(३) **गर्भसंधि**—उत्पत्ति और उद्घाटन की दोनों विशिष्ट दशाओं से व्यापृत बीज जहाँ फलोत्पन्नता के लिए अभिमुख होता है, वहाँ गर्भसंधि होती है।[2] गर्भ-संधि के स्पष्टीकरण के लिए परिभाषा में तीन विशिष्ट अर्थ-गर्भित पदों का भरत ने प्रयोग किया है, वे हैं, प्राप्ति, अप्राप्ति और पुनः अन्वेषण। यहाँ नायक-विषयक प्राप्ति होती है, अप्राप्ति का सम्बन्ध प्रतिनायक से होता है और इसी को लेकर अन्वेषण होता है। रत्नावली के तृतीय अंक में वत्सराज की फल-प्राप्ति में वासवदत्ता द्वारा विघ्न उपस्थित होता है, किन्तु सागरिका और विदूषक की योजनाओं से राजा को फल-प्राप्ति की आशा हो जाती है, फिर विघ्न उपस्थित होता है और फलहेतु के उपायों का पुनः अन्वेषण होता है। अन्वेषण की व्यंजना राजा के इन वचनों से होती है—'मित्र अब वासवदत्ता के मनाने के अलावा और कोई उपाय नहीं रह गया है।' अभिनवगुप्त के अनुसार अप्राप्ति का आंशिक भाव भी गर्भसंधि में अवश्य वर्तमान रहना चाहिए। अन्यथा संभावनात्मक प्राप्ति-संभव का प्रयोग कैसे होगा। अप्राप्ति होने से ही तो अन्वेषण के संभावनात्मक उपायों का अन्वेषण होता है। धनंजय की दृष्टि से भी प्राप्ति-संभावना रूप तृतीय अवस्था अवश्य होती है। पर पताका भी हो यह आवश्यक नहीं है।[3]

(४) **विमर्श (या अविमर्श) संधि**—विमर्श शब्द विचार या चिन्तन-वाचक है।

---

१. बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्। मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्॥ तथा—तस्मादयमत्रार्थः—बीजस्योद्घाटनं तावत् फलानुगुणो दशाविशेषः तद्दृष्टमपि विरोधिसंनिधेर्नष्टमिव, पांसुना पिहितस्येव बीजस्याङ्कुररूपयुद्धाटनम्। अ० भा० भाग २, पृ० २४।

२. उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरव वा। पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इतिसंज्ञिनः। ना० शा० १६।४१।

३. अप्राप्त्यंशश्चाभावश्यंभावी अन्यथा संभावनात्मा प्राप्तिसंभवः कथं निश्चय एव स्यात् अ० भा० भाग ३, पृ० २६। पताकास्यान्नवा—द० रु० १।३६।

भरतोत्तर आचार्यों में 'विमर्श' के लिए 'अविमर्श' शब्द भी प्रचलित है। 'विमर्श-अवमर्श' इन दो भिन्न शब्दों का प्रयोग अभिनवगुप्त के पूर्व ही आरंभ हुआ था। धनंजय ने अवमर्श शब्द का ही प्रयोग किया है। जहाँ क्रोध, व्यसन (विपत्ति) और विलोभन (लोभ) से फल-प्राप्ति के विषय में चिन्तन या पर्यालोचन किया जाए, परन्तु बीज-रूप फलहेतु का कथांश तो गर्भ-संधि के काल में ही प्रकट (निर्भिन्न) हो जाता है, वहाँ अवमर्श संधि होती है।[1] अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में दुर्वासा के शाप से विमोहित राजा द्वारा शकुन्तला के परित्याग के बाद उसके अन्तर्हित होने पर, तथा षष्ठ अंक में 'अंगुलीय' की प्राप्ति से शकुन्तला की स्मृति हो जाती है, दुर्वासा के शाप से उत्पन्न विघ्न 'विमर्श' है। इस संधि के संबंध में कई प्रकार की तर्कनाएँ विचारणीय हैं। पहले प्राप्ति-संभावना में दृढ़ विश्वास हो (गर्भ निर्भिन्न बीजार्थः), पुनः संशय हो, यह उचित नहीं मालूम पड़ता है, क्योंकि नैयायिकों की दृष्टि में संशय और निर्णय के मध्य तर्क रहता है। परन्तु विमर्श संधि नियत फल-प्राप्ति की अवस्था से व्याप्त रहती है। फल की नियताप्ति और संदेह दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? परन्तु विचार करने पर संशय की विद्यमानता उचित नहीं मालूम पड़ती है। जिस प्रकार तर्क के बाद भी हेत्वन्तरवश बाधा और छल के अपाकरण में संशय हो जाता है, क्या नहीं होता? अवश्य होता है। अभिनेय रूपक में भी निमित्त-बल से कहीं से संभावित भी फल जब बलवान् कारणों के द्वारा जनक और विघातक दोनों के समान-बल होने पर क्या संदेह उत्पन्न नहीं होता? तुल्यबल विरोध की स्थिति में मनुष्य का पौरुष फल-प्राप्ति के लिए पूर्ण वेग से उठता है। इसीलिए तर्क के बाद संशय और तब निर्णय होता है।

पौरुष के साधक प्रशंसा के भाजन होते हैं। प्राणों के संदेह रहने पर अनेक पौरुषशील पुरुषों का उद्धार संभावना के बिना भी हो जाता है। प्रयत्न अथवा विधुर प्रयत्न के कारण जो विपत्ति होती है, उससे प्रेरित हो नाश पर भी विजय पाने की उत्कट अभिलाषा का जागरण और उद्यम की प्रचंडता का उद्बोधन होता है। इसीलिए फल की प्राप्ति नियत हो जाती है। श्रेय कार्य विघ्न-बहुलता से व्याप्त होते हैं। विघ्न के अपसारण के लिए नायक अपने उद्योग-सूत्र का स्वाभिमानपूर्वक प्रसार करता है। सागरिका-बंधन होने पर भी महामाया द्वारा प्रयुक्त इन्द्रजाल की घटना का उपनिबन्धन नियताप्ति की दिशा में उठाया गया एक दृढ़ चरण है।[2]

दूसरे आचार्यों के मत से 'अवमर्श' शब्द विघ्नवाचक शब्द है। गर्भ-संधि काल में फलहेतु बीज का जो उद्भेदन हुआ वह क्रोध, लोभ और व्यसन के कारण विघ्न-युक्त होता है। इस विघ्न के सम्बन्ध में विराम या विचार होता है। यही अवमर्शता है। उद्भट की दृष्टि से अन्वेषण-भूमि की 'अवमृष्टि' ही अवमर्श है। सागरनंदी और अभिनवगुप्त ने इस संधि के सम्बन्ध में अन्य कई आचार्यों के मतों का आकलन किया है। एक आचार्य के अनुसार प्रकीर्ण अर्थ जात (इतिवृत्त) के सम्बन्ध में जहाँ सोचा-विचारा जाता है और शत्रु की बहुत अधिक हानि होती है अथवा संपन्न रूप कार्य के सम्बन्ध में मन में सन्देह उत्पन्न हो, तब 'विमर्श' होता है।[3]

वस्तुतः 'विमर्श' और 'अवमर्श' दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। विमर्श के

---

१. गर्भनिर्भिन्न बीजार्थी विलोभन कृतोऽथवा। क्रोधव्य वसनोवापि स विमर्श इति स्मृतः। (ना० शा० १६।४२), द० रु० १।४३।

२. अ० भा० भाग ३, पृ० २८-२९, तथा रत्नावली, अंक ४।

३. ना० ल० को०, पृ० ७७६-८०; अ० भा० भाग ३, पृ० २७।

अनुसार गर्भ में निर्भिन्न फल-हेतु बीज के मार्ग में विलोभन और व्यसन आदि के कारण विघ्न होने पर विचार या चिंतन होता है और अन्वेषण के लिए उचित प्रयत्न भी। अवमर्श में भी फलाभिमुख कार्य-व्यापार में विघ्न उपस्थित होने पर विचार या चिन्तन होता ही है।

प्राप्ति संभावना के उपरान्त संशय की अवस्था की कल्पना की जाती है और संशय रूप विघ्न के उपस्थित होने पर पात्र अपने पौरुष का प्रयोग करता है, केवल मूक चिंतन ही नहीं। अतः रूपक में यह स्थल पात्र के शील-निरूपण की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इसी में विघ्न विघात के लिए उसके हृदय में उत्साह की सहस्र धाराएँ फूट पड़ती हैं। परिणामतः निर्वहण में रसपेशलता और भी बढ़ जाती है। नाट्यदर्पणकार की दृष्टि से विघ्नों से ताड़ित होने पर ही महात्मा जन यत्नशील होते हैं। विघ्नों से घिरे रहने पर भी वे फल की ओर से विमुख नहीं होते। इसलिए इस संधि में विघ्न हेतुओं का निबंधन आवश्यक है।[1]

(५) **निर्वहण-संधि**—मुखादि संधि और बीज-सहित प्रारंभ आदि अवस्थाओं तथा नाना प्रकार के सुख-दुःखात्मक भावों का चमत्कारपूर्ण रीति से एकत्र समानयन हो, फलनिष्पत्ति में सुनियोजित हो, तब निर्वहण-संधि होती है। यह संधि फलयोगावस्था से व्याप्त रहती है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने निर्वहण के व्याख्यान में अन्य कई आचार्यों के मंतव्यों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मुखसंधि में 'अवलम्ब्यमानता' के कारण आद्य प्रधानभूत जो उपाय हैं, वे महातेजस्वी फलसंपत्ति में सहायक होते हैं। इस संधि की परिभाषा में 'समानयन' शब्द का प्रयोग अर्थगर्भित है। विभिन्न संधियों की अवस्था के विकास-क्रम में जो बिखरे हुए कथांश के सूत्र होते हैं, उन सबका समाहार यहाँ चमत्कारपूर्ण रीति से होता है।[3] भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' (छठा अंक) में वासवदत्ता का आनयन होता ही है, परन्तु चमत्कार के लिए एक ओर महामंत्री योगन्धरायण और दूसरी ओर वासवदत्ता की धात्री भी वासवदत्ता के अभिज्ञान के लिए प्रस्तुत रहती हैं। वासवदत्ता और उदयन की मिलन-मंगल-वेला में उज्जैनी और वत्सदेश की बिखरी हुई शक्तियों का समानयन होता है पर अत्यन्त चमत्कारपूर्ण रसपेशल रूप में। प्रसादकृत चन्द्रगुप्त के अंतिम दो दृश्यों में नंद का मंत्री राक्षस आत्मसमर्पण करता है, ग्रीक सम्राट् सिल्यूकस अपनी पराजय ही नहीं स्वीकार करता अपितु अपनी पुत्री कार्नेलिया को भी अर्पित करता है। इस प्रकार विरोधी शक्तियाँ भी चन्द्रगुप्त के अनुकूल हो समाहृत होती हैं। ध्रुवस्वामिनी के तृतीय अंक के अंतिम दृश्य भी इसी शैली में नियोजित हैं। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का केवल मिलन ही नहीं होता, अपितु पुरोहित द्वारा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी के संबंध-त्याग की घोषणा होती है और रामगुप्त के अन्त की भी।

अतः निर्वहण संधि में फलनिष्पत्ति अपने चरम रूप में प्रस्तुत होती है।

सन्धियों के अंग

नाटच के शरीर-रूप इतिवृत्त में अवस्थाओं और सन्धियों का असाधारण महत्त्व है,

---

१. ना० द० विवृत्ति, पृ० ५० (द्वि० सं०)।

२. समानयनमर्थानां मुखाधानां सबीजिनाम्। नाना भावोत्तराणां यद भवेन्निर्वहणं तु तद्। (ना० शा० १९।४३) ना० शा० १९।४३, द० रू० १।४८ ख—४९ क।

३. अ० भा०, भाग ४, पृ० २९।

परन्तु उन सन्धियों के अंग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। भरत ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन किया है। अंगहीन मनुष्य में जैसे कार्यक्षमता नहीं रहती वैसे ही अंगहीन रूपक (काव्य) में प्रयोग की क्षमता नहीं होती। काव्य उदात्त और गुणशाली ही क्यों न हो, परन्तु अपेक्षित स्थलों पर सन्धियों के विविध अंगों का संयोग (प्रयोग) न होने के कारण वह प्रयोग हीन-कोटि का होता है, और उससे सज्जनों के मन का अनुरंजन नहीं होता। नाट्य या काव्य हीनार्थ भी हो, परन्तु विविध अंगों से विभूषित हो, तो प्रयोग की दीप्तिता के कारण (उसके द्वारा) शोभा का प्रसार होता है। इसीलिए भरत का स्पष्ट मत है कि सन्धि-प्रदेशों में रसानुकूल अंगों की योजना करनी चाहिए।[1]

संध्यंगों के प्रयोजन—भरत ने अंगों के निम्नलिखित छः प्रयोजनों का उल्लेख किया है—(क) रसास्वादकृत अभीष्ट प्रयोजन की रचना, (ख) इतिवृत्त का उत्तरोत्तर विकास (अनुपक्षय), (ग) इतिवृत्तों की परस्पर अनुरंजनात्मकता (राग-प्राप्तिः), (घ) गुह्य कथांशों का प्रच्छादन, (ङ) बार-बार सुनी हुई कथावस्तु का अंग-प्रयोग के माध्यम से अद्भुत रूप में प्रयोग, (च) अतिशय उपयोगी प्रकाश्य कथांश का प्रकाशन।[2]

इन अंगों के द्वारा कथा में चमत्कार और अनुरंजनात्मकता का योग होता है। गुह्य कथांशों का आच्छादन और उपयोगी का प्रकाशन, प्रत्येक प्रधान या पताका कथा तथा इतिवृत्त की परस्पर अनुरंजनात्मकता से निःसन्देह इतिवृत्त अत्यन्त रसमय रूप में प्रस्तुत होता है। यही कारण है कि भरत ने संध्यंगों के प्रयोग को बहुत प्रश्रय दिया है।

संध्यंगों की संख्या—प्रत्येक सन्धि के कुछ निश्चित अंग हैं, उन्हीं अंगों के द्वारा उस सन्धि की रचना होती है, भरत ने सन्धियों के लिए निर्दिष्ट अंगों का नामकरण और परिभाषा प्रस्तुत की है।

मुखसन्धि के अंग—मुखसन्धि के बारह अंग हैं: उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण और भेद। इसमें नाना प्रकार के अर्थ-रस को उत्पन्न करने के लिए बीज की समुत्पत्ति होती है। (१) **'उपक्षेप'** के द्वारा काव्यार्थ रूप बीज का वपन होता है। प्रस्तावना उपक्षेप के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि वह रूपक का अंग नहीं है तथा उसमें नटवृत्त की व्याप्तता के कारण इतिवृत्त व्याप्त नहीं हो पाता। अतः उपक्षेप के द्वारा काव्यार्थ तथा प्रधान रस-रूप बीज का संक्षेप में उपक्षेपण किया जाता है। (२) **'परिकर'** में उत्पन्न अर्थ का किंचित् विस्तार होता है। (३) **'परिन्यास'** में किंचित् विस्तृत होते हुए काव्यार्थ का न्यास प्रेक्षक के हृदय में होता है।[3]

(४) **'विलोभन'** में गुण की स्तुति रहती है। यह स्तुति ही विलोभन का कारण है।

---

१. अंगहीनोनरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत्।
अंगहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत्।
उदात्तमपि यत काव्यं स्याङ्गैः परिवर्जितम्!
हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सतां रजयेन्मनः।
काव्यं यदपि हीनार्थं सम्यगंगैः समन्वितम्।
दीप्तत्वात प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः। ना० शा० १६।५३-५६ (गा० ओ० सी०)

२. ना० शा० १६।५० ५२ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १६।३६, ५७, ७० (गा० ओ० सी०)।

अभिनवगुप्त के अनुसार उपक्षेप से विलोभन तक के चार अंग मुखसन्धि में आवश्यक हैं, और भरत-निर्दिष्ट क्रम से ही।[1] (५) '**युक्ति**' द्वारा अर्थों का संप्रधारण या प्रकाश्य अर्थ का प्रकाशन होता है।[2] (६) '**प्राप्ति**' के द्वारा सुखदायक वस्तु की प्राप्ति या मुख के प्रयोजन का उपसंहार होता है। मनमोहन घोष ने 'सुखार्थ' के स्थान पर 'मुखार्थ' शब्द को परिभाषा में स्वीकार किया है। परन्तु अन्य आचार्यों ने 'सुखार्थ' शब्द का ही पाठ स्वीकार किया है। उनके विचार से प्राप्ति या प्रापण ऐसा अंग है जहाँ सुख या सुख के हेतुओं का अन्वेषण होता है।[3]

(७) '**समाधान**' में बीज रूपी काव्यार्थ का उपगमन होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से प्रधान नायक की अनुगतता होने से काव्यार्थ का आघात होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की कल्पना है कि 'समाधान' के द्वारा बीज का उपक्षेपण विचित्र शैली में पुनः प्रस्तुत किया जाता है। 'समाधान' शब्द का अर्थ-विस्तार करते हुए भरत ने 'उपगम', सागरनंदी, विश्वनाथ और धनंजय ने 'आगम', रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'पुनर्न्यास' और शिंगभूपाल ने 'पुनराधान' इस प्रकार का अर्थ-विस्तार किया है। परन्तु इन भिन्न अर्थ-परम्पराओं में मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त के अनुसार नायक की अनुगतता से बीज का पुनरूपगमन होता है और अन्य आचार्यों द्वारा बीज का व्यवस्थापन।[4] (८) '**विधान**' द्वारा सुख-दुःख पर आधारित नाट्यार्थ का विधान होता है। सब नाट्याचार्यों में विधान के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य है।[5] (९) '**परिभावना**' में जिज्ञासा की अतिशयता से मिश्रित आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है।[6]

(१०) '**उद्भेद**' में काव्यार्थ-रूपी बीज प्ररोह की अवस्था में होता है। 'उद्भेद' शब्द के प्रयोग के कारण परवर्ती आचार्यों में परस्पर बहुत मतभेद मालूम पड़ता है। भरत द्वारा 'बीजार्थ का प्ररोह' यह स्पष्ट कर देने पर भी इन आचार्यों ने इसको 'उद्घाटन' शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है। 'उद्घाटन' प्रतिमुख संधि का एक अंग भी है। बीज की प्ररोहावस्था और उद्घाटनावस्था दोनों विकास की दो भिन्न दशाओं के सूचक हैं। प्ररोह उद्घाटन से पूर्व की अवस्था है। कुछ आचार्यों की दृष्टि से उद्भेद द्वारा गूढ़ार्थ का प्रकाशन होता है न कि बीज का प्ररोह मात्र।[7] (११) '**करण**' में प्रस्तुत वस्तु का आरम्भ किया जाता है। नाट्यदर्पणकार ने करण के स्थान पर 'कारण' शब्द का प्रयोग किया है।[8] (१२) '**भेद**' के द्वारा बीज की फलोत्पत्ति में बाधा-रूप शत्रुओं के संधान का भेदन होता है। दशरूपक के अनुसार पात्र का बीज के प्रति प्रोत्साहन ही 'भेद' होता है। नाट्यदर्पण के अनुसार 'भेदन' के अनेक रूप हैं। भेदन के द्वारा अंक के अन्त में पात्रों का निष्क्रमण होता है तथा शत्रुओं के संधान का भेदन भी। आचार्यों में भेदन के सम्बन्ध में

---

१. ना० शा० १९।७१क (गा० ओ० सी०), अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ३८, द० रू० १।२७, सा० द० ३।४२।
२. ना० शा० १९।७१ख (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० अं० अ०, पृष्ठ ३९० पादटिप्पणी।
४. अ० भा० भाग ५, पृ० ३६, ना० ल० को० पं० ५६८-६६, सा० द० ६।७४, द० रू० १।२८, ना० द० १।५८ (गा० ओ० सी०, द्वि० सं०)।
५. अ० भा० भाग २, पृ० ४०, ना० द० १।४३, (गा० ओ० सी०, द्वि० सं०)।
६. ना० शा० १९।७३ख (गा० ओ० सी०)।
७. ना० शा० १९।७४क, सा० द० ६।७८, र० सु० ३।३७, द० रू० १।२६।
८. ना० शा० १९।७४ख, ना० द० १।४४।

अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं ।[1]

प्रतिमुख सन्धि के अंग

इस संधि में वस्तु-रूप बीज का किंचित् उद्घाटन तो होता है, पर भूमिस्थित बीज की तरह नष्ट-सा भी होता मालूम पड़ता है। भीष्म-वध से बीज दृष्ट होता है और अभिमन्यु के वध से नष्ट ।[2]

प्रतिमुख संधि के तेरह अंग हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म नर्मद्युति, प्रगयण, निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार ।[3]

(१) **विलास** में रति (प्रेम) सुख के लिए इच्छा प्रकट की जाती है। रति नामक भाव के कारणभूत भोग के विषय प्रमदा या पुरुष के लिए परस्पर इच्छा होती है। जिस रूपक का साध्य काम रूपी फल हो वहीं पर प्रतिमुख में विलास नामक अंग की भावना होती है। परन्तु रति रूप की भावना उचित स्थान पर अपेक्षित है। वेणीसंहार में दुर्योधन-भानुमती के मध्य विलास की भावना रसानुकूल नहीं है, क्योंकि वेणी संहार नाटक का साध्य 'काम' (शृंगार) नहीं, वीर रस है। ध्वन्यालोककार ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि संधि और संध्यंग का संगठन रस-बंध को दृष्टि में रखकर होना चाहिए ।[4] (२) **परिसर्प**—दृष्ट अथवा नष्ट काव्यार्थ का अनुसरण या अनुसंधान होने पर यह परिसर्प नामक संध्यंग होता है। इसके द्वारा प्रकृत काव्यार्थ का प्रसार होता है। अन्य आचार्यों की अपेक्षा विश्वनाथ ने 'दृष्ट-नष्ट' के स्थान पर 'ईष्ट नष्ट' का अनुसरण या पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है। नाट्यदर्पणकार ने परिसर्प को प्रतिमुख संधि का तीसरा अंग माना है तथा उनके विचार से यह प्रतिमुख संधि के उन अंगों में है जिसका प्रयोग अत्यावश्यक है, शेष आठ ऐच्छिक हैं। यह विभाजन अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं किया गया है ।[5]

(३) **विधूत**—आरम्भ (आदि) में किए गए अनुनय का अस्वीकार ही 'विधूत' होता है। अभिनवगुप्त ने भरत-प्रयुक्त 'आदि' शब्द के आधार पर यह कल्पना की है कि आदि में अनुनय-पूर्ण वचनों का अस्वीकार होता है पर पुनः स्वीकार भी होता है। अन्य आचार्यों को 'पुनः स्वीकार' की कल्पना अभिप्रेत नहीं है तथा 'विधूत' का अर्थ भरत के अपरिग्रह की अपेक्षा अरति (न+रति) अर्थ स्वीकार किया है। अरति तो दुःख या खेद-वाचक है। परन्तु खेदवाचक 'रति' एक पृथक् संध्यंग ही है। परवर्ती विश्वनाथ और शिगभूपाल ने तो 'अरति' और 'अस्वीकार' दोनों का ही अन्तर्भाव 'विधूत' में किया है। वस्तुतः अर्थधारा की यह भिन्नता नाट्यशास्त्र के पाठभेदों के कारण भी प्रचलित हो गई। विधूत का अरति अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि अरति-

---

१. ना० शा० १६।७४ख; अ० भा० भाग ३, पृ० ४१; र० सु० ३।३७; हिं० ना० द०, पृष्ठ २१७; द० रू० १।३०।

२. ना० शा० १६।५६-६० (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १६।५६-६० (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० १६।७६ क; अ० भा० भाग ३, पृ० ४२, द० रू० १।३२; भा० प्र०, पृ० २०६।

५. ना० शा० १६।७६ ख; सा० द० ६।८३; ना० द० १।४७ पुष्पादीनि पुनः पंचावश्यं प्रतिमुखसंधौ भवन्त्येव।

वाचक 'रोध' पृथक् अंग है ही।[1]

(४) **तापन**—अपाय (विघ्न) दर्शन होने पर 'तापन' नामक संध्यंग होता है। प्रकाशित नाट्यशास्त्र को छोड़ कुछ अन्य संस्करणों में 'तापन' के स्थान पर 'शमन' का प्रयोग मिलता है। फलतः दशक रूपक एवं कुछ अन्य ग्रन्थों में 'तापन' के स्थान पर 'शमन' या 'शम' नामक अंग का उल्लेख है। 'शम' नामक अंग द्वारा 'अरति का शमन' होता है। इस प्रकार दोनों की अर्थधारा एक-दूसरे के विपरीत है। आचार्य विश्वनाथ ने 'तापन' पाठ स्वीकार करते हुए 'उपाय का अदर्शन' यह व्याख्या की है। सागरनंदी ने 'अपाय-दर्शन के' रूप में उसके अर्थ का व्याख्यान किया है। अभिनवगुप्त, सागरनंदी और विश्वनाथ तापन की परम्परा के समर्थक हैं और धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं शिंगभूपाल आदि शमन या सांत्वन की परम्परा के, जिसमें अपाय का दर्शन या अपाय का शमन होता है। यह विचार-भिन्नता नाट्यशास्त्र के पाठ के कारण ही है।[2] (५) **नर्म**—मनोरंजन और विनोद के लिए जहाँ हास्य का प्रयोग होता है, वहाँ हास्य-नर्म नामक अंग होता है।[3]

(६) **नर्मद्युति**—जिस हास्य-वचन की योजना दोष-प्रच्छादन के लिए की जाए वह नर्मद्युति नामक अंग होता है। इस अंग के द्वारा एक ओर हास्य दूसरी ओर दोष-प्रच्छादन ये दोनों ही कार्य संपन्न होते हैं। परन्तु आचार्य विश्वनाथ, शारदातनय तथा धनंजय ने 'परिहास वचन से उत्पन्न आनन्द की स्थिति' को 'नर्मद्युति' के रूप में स्वीकार किया है। इन आचार्यों की दृष्टि से नर्म और नर्मद्युति में अन्तर बहुत कम रहता है। शिंगभूपाल ने दोष के स्थान पर क्रोध-प्रच्छादन का विचार कल्पित किया है। हास्य का सृजन क्रोध के अपह्नव के लिए होता है। नाट्य दर्पणकार ने दोष-प्रच्छादन तथा हास्य से उत्पन्न आनन्द दोनों अर्थ-परम्पराओं का उल्लेख किया है।[4] (७) **प्रगयण**—प्रश्न और उत्तर की शैली में जहाँ पात्रों के मध्य वचन-विन्यास होता है वहाँ 'प्रगयण' होता है। काव्यमाला संस्करण में प्रगयण के स्थान पर 'प्रशमन' पाठ स्वीकार किया गया है परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं। दशरूपक में प्रगमन पाठ तो है पर परस्पर उत्तरोत्तर काव्य-विन्यास को ही प्रगमन स्वीकार किया है।[5] (८) **निरोध**—विपत्ति की प्राप्ति होने पर 'निरोध' नामक अंग होता है। निरोध के स्थान पर विरोध और 'रोध' आदि भी पाठ अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्य हैं। यह निरोध ईष्ट साध्य की बाधा से होता है।[6] (९) **पर्युपासन**—क्रुद्ध व्यक्ति के अनुनय की प्रक्रिया 'पर्युपासन' के नाम से संबोधित होती है। पर्युपासन और विधूत एक-दूसरे के निकटवर्ती हैं परन्तु इसमें अनुनय का ही विधान है, पर विधूत

---

१. ना० शा० १९।७७क; अ० भा० भाग ३, पृ० ४३; सा० द० ६।८१; र० सु० ३।४३; द० रू० १।३३ (विधूतंस्यादरतिः)।

२. ना० शा० १९।७०ख; अ० भा० भाग ३, पृ० ४३; ना० ल० को० पं० ६६९; सा० द० ६।८५, द० रू० १।३३; ना० द० १।४८ख; र० सु० ३।४४।

३. ना० शा० १९।७८क, ना० द० १।४९।

४. न० शा० १९। ७७ख; र० सु० ३-४९; सा० द० ६।८७; द० रू० १।३३; भा० प्र०, पृ० २०६, ना० द० १।४९।

५. ना० शा० १९।७९क, का० भा० ७७क, द० रू० १।३४क।

६. ना० शा० १९।७९ख।

में उस अनुनय को स्वीकार करने का भी विधान है।[१]

(१०) **पुष्प**—अनुरागसूचक वचन का विन्यास जहाँ होता है वहाँ 'पुष्प' नामक अंग होता है। पुष्प नाम अन्वर्थ है। जिस प्रकार पुष्प (प्रेम) विकासशील होता है उससे सौरभ फैलता रहता है, उसी प्रकार जिन अनुरागपूर्ण वचनों से प्रेम की मादकता छा जाती है, ऐसे वाक्य पुष्प की तरह चित्ताकर्षक होते हैं। (११) **वज्र**—जहाँ वज्र से निष्ठुर वाक्यों का प्रयोग किया जाय वह 'वज्र' नामक अंग होता है। ऐसे वाक्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार स्वयं कर्कश होते हैं, पूर्व वाक्य एवं किए हुए पूर्व कार्य का विध्वंसक होता है। (१२) **उपन्यास**—किसी कार्य के लिए कोई युक्ति प्रस्तुत होती है तो वह 'उपन्यास' नामक अंग होता है। विश्वनाथ और शारदातनय के अनुसार प्रसन्नता-प्रतिपादक वाक्य उपन्यास होता है। भोज ने इसे अंग के रूप में स्वीकार ही नहीं किया है। (१३) **वर्ण-संहार**—जहाँ पात्रों का सम्मिलन हो, वह वर्णसंहार होता है। अभिनवगुप्त और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने वर्ण का अर्थ नायक, प्रतिनायक, सहायक पात्र किया है। परन्तु विश्वनाथ एवं धनंजय आदि अन्य आचार्यों की परम्परा में 'वर्णित अर्थ का तिरस्कार तथा ब्राह्मण आदि वर्ण चतुष्टय का सम्मिलन' यह कल्पित किया है, परन्तु संहार तो वज्र से ही हो जाता है।[२]

गर्भ सन्धि के अंग

गर्भ सन्धि के निम्नलिखित तेरह अंग हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्ति, तोटक, अधिबल, उद्वेग और विद्रव। भरत-निरूपित अंगों की परिभाषा, स्वरूप, क्रम और नाम की तुलना में परवर्ती आचार्यों ने किंचित् परिवर्तन प्रस्तुत किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तो इनमें से आक्षेप, अधिबल, मार्ग, असत्याहरण और त्रोटक को प्रधान माना है तथा संग्रह, रूप, अनुमान और प्रार्थना आदि आठ अंगों को गौण। इस सन्धि में बीज रूप वस्तु का उद्भेद तो होता है पर पुनः नष्ट-सा हो जाने पर अन्वेषण किया जाता है।[३]

(१) **अभूताहरण**—कपट पर आधारित वचन-विन्यास होने पर अभूताहरण या असत्याहरण होता है।[४] (२) **मार्ग**—तत्त्वार्थ का कथन होने पर मार्ग नामक संध्यंग होता है। परन्तु मनमोहन घोष महोदय ने मार्ग का संकेत (इंडिकेशन) शब्द से परिभाषित किया है। उनकी दृष्टि से 'मार्ग' में वक्ता या पात्र अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट करता है। मार्ग शब्द अनुसन्धान या अन्वेषणपरक भी होता है। अतः इसमें तत्त्वार्थ या परमार्थ का अनुसन्धान भी आवश्यक ही है।[५] (३) **रूप**—विचित्र अर्थ (प्राप्ति) की सम्भावना होने से जहाँ परस्पर-विरोधी तर्कजाल की रचना की जाती है तो 'रूप' नामक संध्यंग होता है। अन्य परवर्ती ग्रंथों में परिभाषा का यही रूप प्रतिपादित है। परन्तु काव्यमाला संस्करण में केवल 'चित्रार्थ समवाय' को ही रूप माना है

---

१. ना० शा० १९।८०क।

२. ना० शा० १९।८०ख–८२; द० रू० १।३५; सा० द० ६।९३-९५; भा० प्र०, पृ० २०९, ना० द० १।४६क; अ० भा० भाग १, पृ० ४७।६।९५।

३. ना० शा० १९।६१ख ६३ तथा १९।४१ (गा० ओ० सी०); द० रू० १।३६, ना० द० १।५१-५२।

४. ना० शा० १९।८२ ख (गा० ओ० सी०), सा० द० ६।९६, द० रू० १।३८।

५. ना० शा० १०।८३ क; ना० शा० अं० अनु०, पृ० ३९२; द० रू० १।३८ख।

न कि 'तर्क' को भी।[1]

(४) **उदाहरण**—अतिशयता या उत्कर्ष-युक्त वाक्य की योजना 'उदाहरण' नामक अंग में होती है। (५) **क्रम** नामक अंग में भाव-तत्त्व की उपलब्धि होती है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से इस अंग में भाव्यमान अर्थ की परिकल्पना की जाती है। (६) **संग्रह**—शान्त, मधुर वचन और दान की उक्ति का 'संग्रह' इस अंग में होता है। (७) **अनुमान** जहाँ किन्हीं हेतुओं के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाय वहाँ अनुमान नामक अंग होता है। यहाँ लिंगरूप हेतु के आधार पर अविनाभूत लिंगी का अनुमान होता है। यहाँ लिंगी के सम्बन्ध में निश्चयता रहती है सन्देह या वितर्क नहीं। अतः मुखसन्धि के ऊह-रूप 'युक्ति' तथा प्रतिमुख सन्धि के वितर्क-प्रधान 'रूप' से भी भिन्न है। (८) **प्रार्थना**—रति हर्ष आदि की जहाँ याचना की जाती है अथवा साध्य-फल के लिए प्रकर्षता से अभ्यर्थना हो। नाट्यदर्पण के अनुसार प्रार्थना को संध्यंग के रूप में बहुत-से आचार्य स्वीकार नहीं करते। दशरूपक, रसार्णव सुधाकर, भावप्रकाशन में इसका उल्लेख नहीं है। (९) **आक्षिप्ति**—हृदय में स्थित किसी गुप्त अभिप्राय के निमित्तवश प्रकट होने पर 'आक्षिप्ति' नामक अंग होता है। काव्यमाला संस्करण में क्षिप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से अन्तःप्रतिष्ठापित अभिप्राय का बहिःकर्षण होता है, क्योंकि वह रहस्य गोपनीय नहीं होता। आचार्य ने आक्षेप, उत्क्षिप्त और क्षिप्ति आदि का प्रयोग किया है।[2]

(१०) **त्रोटक**—आदेशपूर्ण वाक्य का प्रयोग होने पर त्रोटक होता है। त्रोटक शब्द अन्वर्थ है। हर्ष, क्रोध आदि के आवेगपूर्ण वचनों से हृदय का भिन्न हो जाना स्वाभाविक है। (११) **अधिबल**—कपट आचरण के द्वारा दूसरे कपटी को पराजित करने पर 'अधिबल' नामक अंग होता है। एक की वंचना-क्रिया दूसरे की वंचना-क्रिया को अपने बुद्धि-बल से पराजित करती है। दशरूपककार ने अधिबल को त्रोटक का अन्यथा भाव के रूप में स्वीकार किया है। त्रोटक में आवेगवचन का विन्यास होता है पर अधिबल तो स्वतन्त्र अंग है, अर्थविचार की दृष्टि से भिन्न भी। (१२) **उद्वेग**—शत्रु, दस्यु और राजा के कारण भय होने पर उद्वेग होता है। (१३) **विद्रव**—शंका, भय और त्रास के कारण उद्विग्नता होने पर' विद्रव' नामक अंग होता है। नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में 'विद्रव' के स्थान पर 'संभ्रम' का भी उल्लेख है। दश-रूपककार ने 'संभ्रम' शब्द को ही स्वीकार किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'विद्रव' और 'संभ्रम' का अन्तर स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि से उपनत भय 'उद्वेग' होता है और उस भय की संभावना में 'विद्रव' होता है।[3]

विमर्श सन्धि (अवमर्श)

विमर्श सन्धि के अंगों की संख्या के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में एक-सा उल्लेख नहीं मिलता है। गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ संस्करण के अनुसार उनकी

१. ना० शा० १९।८३ख, द० रू० १।३९ क, सा० द० ६।९८, ना० ल० को० ७३५।
२. ना० शा० १९।८४-८६, द० रू० १।३९-४०; सा० द० ६।९९-१०२, ना० ला० को० ७४०-४९, भा० प्र०, पृ० २११, ना० द० १।५३-५४।
३. ना० शा० १।८७-८८क, ना० द० १।५४-५५, द० रू० १।४१-४२, सा० द० ६।१०५-१०८, ना० ल० को० ७५५, ७५८, ७६९, ७६६; भा० प्र०, पृ० २११।

संख्या पन्द्रह हो जाती है। काव्यमाला संस्करण में तेरह, पर पाद-टिप्पणी में सोलह अंगों का उल्लेख है। काशी संस्करण में ६३ अंग हैं। पर सब संस्करणों में संधियों का उपसंहार करते हुए ६४ अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। अखिल भारती में ६४ का ही समर्थन किया है। मुख में १५, प्रतिमुख में १३, गर्भसंधि में १३, विमर्श में १२ और निर्वहण में १४। इस प्रकार कुल ६४ ही अंग होते हैं। इस सन्धि में क्रोध, व्यसन या विलोभन-वश फल-प्राप्ति के विषय में पर्यालोचन किया जाता है तथा गर्भसंधि के द्वारा बीज का प्रस्फुटन होता है।[1]

(१) **अपवाद** (दोषों का प्रख्यापन),

(२) **संफेट में रोषपूर्ण भाषण या शेष भाषण,**

(३) **द्रव में पूज्यजन के तिरस्कार का भाव होता है।**

किन्हीं ग्रंथों में द्रव के स्थान पर विद्रव और अभिद्रव का भी प्रयोग है। विद्रव का भाव होता है ताड़न, वध और बंधन आदि। नामभिन्नता के साथ सन्धि की दो भिन्न अर्थ-परम्पराएँ भी प्रचलित हैं। एक के अनुसार पूज्यजन के तिरस्कार का भाव सूचित होता है और दूसरी परम्परा के अनुसार वध-बन्धन आदि का सूचन होता है।[2]

(४) **'शक्ति'**—नामक अंग में कुपित व्यक्ति के क्रोध का शमन या प्रसादन होता है। प्रसादन-शक्ति के कारण ही इस अंग का नाम 'शक्ति' है। दशरूपक के अनुसार विरोधी घटना का प्रशमन होता है और साहित्य दर्पण के अनुसार विरोधी व्यक्ति के क्रोध का प्रशमन होता है। काव्यमाला संस्करण में 'विरोध-शमन' के स्थान पर 'विरोधोयगम' पाठ ही स्वीकार किया गया है। (५) **व्यवसाय**—अंगीकृत अर्थ के कारणों की प्राप्ति की सम्भावना होने पर व्यवसाय नामक अंग होता है। परन्तु दूसरी एक और परम्परा के अनुसार आत्मशक्ति का आविष्करण ही व्यवसाय होता है। दशरूपक के प्रसिद्ध विदेशी अनुवादक हॉस ने इसी अर्थधारा को स्वीकार किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दोनों परम्पराओं का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि आत्म-शक्ति का आविष्कार तो 'संरम्भ' नामक संध्यंग से सूचित होता है। उन्होंने किसी अन्य आचार्य के मत को उद्धृत करते हुए इस अंग को स्वीकार योग्य नहीं भी माना है। (६) **प्रसंग**—प्रसंग में गुरुजनों का कीर्तन होता है, पर एक नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार अप्रस्तुत अर्थ का कथन ही प्रसंग होता है। (७) **धुति**—तिरस्कार या अपमानपूर्ण वाक्यों के प्रयोग होने पर यह अंग होता है।[3]

(८) **खेद**—मानसिक और कायिक चेष्टाओं के कारण श्रान्ति का भाव जहाँ उत्पन्न होता है तो यह अंश होता है। दशरूपक और रसार्णव सुधाकर में खेद को स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में खेद का उल्लेख है। (९) **प्रतिषेध**—ईप्सित अर्थ का निषेध होने पर यह अंग होता है, इसका निषेध के रूप में भी आचार्यों ने उल्लेख किया है। खेद के समान ही दशरूपक, रसार्णव सुधाकर और भावप्रकाशन में उल्लेख नहीं है।

---

१. ना० शा० १९।६३ ख,-६५ क, (गा० ओ० सी०), का० मा० ६२-६३क; का० सं० २१।६५-६६ख।

२. ना० शा० १९।८८ख-९० क, द० रू० १।४५ख, ना० ल० को० ८०१-८१४; सा० द० ६।११०-११२; ना० द० १।५७ख-५८क; भा० प्र०, पृ० २११।

३. ना० शा० १९।९०-९२क; द० रू० १।४५-४६; ना० द० १।६७-६९; सा० द० ६।११२, ११६, ११४; ना० ल० को पं० ८२६

(१०) **विरोध**—कार्य में विघ्न उपस्थित होने पर यह अंग होता है। विरोध की एक और परिभाषा भी मिलती है, का० मा० संस्करण के अनुसार उत्तेजनात्मक वचनों द्वारा घात-प्रतिघात होने पर विरोध होता है। इन्हीं दो अर्थ-धाराओं के आधार पर नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में विभिन्न परिभाषाएँ दिखाई देती हैं। (११) **आदान**—बीज और फल की समीपता होने पर यह अंग होता है।[1]

(१२) **छादन**—किसी विशेष उद्देश्य से अपमानकृत वाक्य की योजना होने पर छादन सादन या छलन नामक अंग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार अवमानकृत वाक्य की योजना होने पर अपमान रूपी कलंक अपवादित हो जाता है। अतः छादन नाम अन्वर्थ भी है। मनमोहन घोष महोदय ने छादन के स्थान पर सादन पाठ स्वीकार किया है पर परिभाषा के रूप में कोई अन्तर नहीं है। नाट्यदर्पणकार ने अपनी विवृत्ति में 'छादन' के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक मत-मतांतरों का संकलन किया है। शब्द प्रयोग की दृष्टि से छादन, सादन और छलन ये तीन शब्द प्रयुक्त हैं और अर्थधारा की दृष्टि से अवमान-सहन किसी प्रयोजन से, अपमान-मार्जन या मोहन-रूप छलन ये तीन अर्थ स्वरूप प्रचलित हैं। मूल रूप से तीनों अर्थ-धाराएँ भरतानुसारी हैं। (१३) **प्ररोचना**—इस अंग में उपसंहार का संकेत किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार निर्वाह्य अर्थ का संकेत होता है। विश्वनाथ और शारदातनय आदि आचार्य निर्वहण सन्धि में होने वाली भावी कार्य-सिद्धि का संकेत ही प्ररोचना को मानते हैं। (१४-१५) **युक्ति और विचलना**—इन दो अंगों का उल्लेख गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़, संस्करण के प्रक्षिप्त पाठ में है, का० मा० और काशी संस्करणों में नहीं है। अभिनवगुप्त ने युक्ति पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए बताया है कि आचार्यों में परंपरा से ही संध्यंगों के संबंध में मतभेद रहा है, किसी ने बारह और किसी ने तेरह अंग माने हैं।[2]

निर्वहण संधि

निर्वहण संधि के निम्नलिखित तेरह अंग हैं—संधि, निरोध, ग्रंथन, निर्णय, परिभाषा, धुति, आनन्द, समय, शुश्रूषा, उपगूहन, पूर्ववाक्य, काव्यसंहार और प्रशस्ति। पंच अवस्था और पंच अर्थ प्रकृति रूप सुखदुःखात्मक इतिवृत्त का रसात्मक रूप में फल-निष्पत्ति के लिए समानयन होने पर निर्वहण संधि होती है।[3]

(१) **संधि**—इस अंग में मुखसंधि में उपक्षिप्त बीज का पुनः उपगमन होता है। सागरनंदी ने संधि के स्थान पर अर्थ का उल्लेख किया है। अर्थ द्वारा प्रधान अर्थ के उपक्षेप की कल्पना की है। (२) **निरोध**—युक्तिपूर्वक कार्य या फल का अन्वेषण ही निरोध होता है। निरोध के लिए विबोध और विरोध आदि शब्द भी प्रचलित हैं। दशरूपक में 'विबोध' और प्रतापरुद्र यशोभूषण में 'निरोध' का उल्लेख होने पर दोनों के विचार-तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। नाटकलक्षण

---

१. ना० शा० १९।९२-९४क; ना० द० १।५९क, सा० द० ६।११७-१९, द० रू० १।४९; न० ल० को० ८३८।४४।

२. ना० शा० १९।९४-९६; द० रू० १।४६; सा० द० १।१२०-१२६; ना० द० १।५८, ना० ल० को० ८४९-५२, अ० भा० भाग ३, पृ० ५५-५६।

३. ना० शा० १९।६५ख-६७ख (गा० ओ० सी०); का० मा० १९।६४-६५; का० सं० २१।६७ख,-६९क।

कोष में अनुयोग का प्रयोग इसी अंग के लिए है। (३) **ग्रंथन**—में कार्य या फल का उपक्षेप होता है। जिस कार्य-व्यापार के द्वारा फलयोग का ग्रन्थन संभव हो इसीलिए यह अन्वर्थ नाम प्रचलित है। (४) **निर्णय**—इस अंग में प्रमाण-सिद्ध वस्तु का कथन होता है। नाट्यदर्पणकार ने मूल विचार का विस्तार करते हुए अज्ञात या संदेहयुक्त व्यक्ति के लिए अनुभूत अर्थ के कथन को ही निर्णय माना है। (५) **परिभाषण**—निंदासूचक वचन-विन्यास इस अंग में होता है। दशरूपक और भावप्रकाशन के अनुसार परस्पर वार्तालाप होने पर परिभाषण होता है। (६) **द्युति**—(धृति, कृति), प्राप्त क्रोधादि अर्थ का प्रशमन होने पर द्युति नामक अंग होता है। द्युति के समानान्तर धृति पाठ का उल्लेख काव्यमाला संस्करण में है, दशरूपक में कृति पाठ है। परन्तु तीनों भिन्न शब्दों के अर्थतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। (७) **आनंद**—इस अंग में प्रार्थित अर्थ की प्राप्ति होती है।[1]

(८) **समय**—इस अंग में दुःख के दूर होने का भाव वर्तमान रहता है। समय के लिए शम का भी प्रयोग कई आचार्यों ने किया है। शम का भाव है दुःख-शमन या दुःखापगम। (९) **शुश्रूषा**—शुश्रूषा आदि से उपसंपन्न प्रसन्नता ही प्रसाद होता है। नाट्यदर्पणकार ने प्रसाद के स्थान पर 'उपास्ति' शब्द का प्रयोग किया है, दूसरे को प्रसन्न करने वाला सेवा आदि व्यापार ही 'उपास्ति' होता है। (१०) **उपगूहन**—इस अंग में अद्भुत अर्थ की प्राप्ति की योजना होती है। (११) **भाषण**—सामदान आदि संपन्न अर्थ ही भाषण होता है। सामदान आदि शब्दों का प्रयोग परिभाषा में उपलाक्षणिक है। सुखान्त नाटकों के अन्त में प्रियवचन मात्र-सामदान ही होते हैं। (१२) **पूर्व वाक्य**—इस अंग में फल का उपदर्शन होता है। धनिक ने पूर्वभाव शब्द स्वीकार करते हुए कार्य-दर्शन उसका अर्थ किया है। (१३) **काव्यसंहार**—नाटक के अन्त में वर-प्रदान की समाप्ति होने पर 'काव्य-संहार' नामक अंग होता है। फल-प्रदर्शन के उपरान्त नाटक के समाप्ति-काल में कोई श्रेष्ठ पात्र 'किंते भूय उपकरोमि' यह कहता हुआ वर-प्रदान के लिए प्रस्तुत होता है। (१४) **प्रशस्ति**—राजा और देश आदि की कल्याण-कामना का भाव प्रशस्ति में निहित रहता है।[2]

संध्यंग के अतिरिक्त संध्यन्तर

उपर्युक्त चौंसठ अंगों के अतिरिक्त २१ संध्यन्तरों का उल्लेख नाट्यशास्त्र के (गा० ओ० सी०, और का० मा०) संस्करणों में किया गया है, वे निम्नलिखित हैं: साम, दाम, भेद, दण्ड, प्रदान, वध, प्रत्युत्पन्नमतित्व, गोत्र-स्खलन, साहस, भय, ह्री, माया, क्रोध, ओज, संवरण, भ्रान्ति, हेत्त्वाधारण, दूत, लेख, स्वप्न, चित्र और मद। इन इक्कीस संध्यंतरों में से कुछ का अन्तर्भाव व्यभिचारी भावों में हो जाता है तथा कुछ तो कथावस्तु के विविध अंग हैं। दशरूपक और साहित्य-दर्पण में इनका पृथक् उल्लेख नहीं है, नाट्यदर्पणकार ने इनका उल्लेख करके भी अंगों के अन्तर्गत

---

१. ना० शा० १९ ९७-१००ख; द० रू० १।५१-५३; ना० ल० को० ८६१-७२; सा० द० ६।११४-२६; ना० द० ६-११५।

२. ना० शा० १९।१०१-१०४क; ना० द० १।६४; द० रू० १।५२-५३ पर धनिक की टीका; सा० द० ६। १३५-३९, भ० भा० भाग-३, पृ० ५९।

अन्तर्भाव होने से इनकी परिगणना करना अनावश्यक माना है।[1]

लास्यांग

भरत ने दस लास्यांगों का भी उल्लेख और व्याख्यान किया है। ये लास्यांग भी भाण की तरह एक-पात्र-हार्य होते हैं, पूर्व रंग के अतिरिक्त अभिनेय रूप में भी योजना होती है :

(१) **गेयपद** में अभिनयरहित गायन, (२) **स्थितपाठ्य** में वियोगिनी द्वारा रसोपयोगी प्राकृत भाषा में पाठ, (३) **आसीन** में अभिनयरहित हो चिन्ता-शोक-समन्वित पाठ, (४) **पुष्पगण्डिका** में पुष्पमाला की तरह गीत नृत्य की योजना, (५) **प्रच्छेदक** में जल-क्रीड़ा होने पर जल में, प्रसाधन करते हुए दर्पण में, पानगोष्ठी के अवसर पर पान-पात्र में और चन्द्रातप में प्रिय के प्रतिबिम्ब के आलिंगन का चित्रण, (६) **त्रिमूठक** में समवृत्त अलंकृत पुरुष भावाढ्य नाट्य, (७) **द्विमूठक** में श्लिष्ट भाव रसोपेतता, (८) **उत्तमोत्तम** में अनेक रसों का पर्यवसान, (९) **भाषिक** में कामपीड़ित विरहिणी द्वारा प्रिय के स्वप्न में दर्शन होने पर भाव-प्रदर्शन और (१०) **चित्रपद** में मदनानल संतप्ता वियोगिनी का (स्वप्न में) प्रिय को लक्ष्य कर अभिनय होता है।[2]

संध्यंगों की योजना और रसपेशलता

पंच सन्धियों के चौंसठ अंगों का उल्लेख तो भरत ने किया है और यह समझकर कि नाट्य-प्रयोग में चमत्कार और रसपेशलता का सृजन इनके माध्यम से होता है। भरत बड़े यथार्थवादी नाट्य-शास्त्री थे, अतः अंगों की योजना के प्रसंग में नाट्य के मूल उद्देश्य-रस की कल्पना उनके चिन्तन-मार्ग का प्रकाश-स्तम्भ की तरह निर्धारण करती है। अतः विभिन्न सन्धियों में अंगों की योजना रस की अपेक्षा से होनी चाहिए, उसकी उपेक्षा करके नहीं। अंगों की योजना तो रस-सृजन का साधन मात्र है। यदि कोई अंग अपेक्षित रस-भाव के अनुकूल न हो तो उसकी योजना कदापि नहीं करनी चाहिए। दूसरी ओर किसी संधि के कुछ अंगों का दो-तीन बार भी प्रयोग हो सकता है यदि उसके द्वारा रसपेशलता का प्रसार हो।[3] भरत की इस विचार-धारा का प्रभाव उत्तरवर्ती नाटककारों पर भी पड़ा है। रत्नावली में प्रतिमुख सन्धि के 'विलास' नामक अंग का बार-बार प्रयोग करके श्रृंगार-रस को उद्दीप्त किया है। वेणीसंहार नाटक में 'संफेट' और 'विद्रव' नामक अंगों के बार-बार प्रयोग से वीर और रौद्र रस को उद्दीप्त किया गया है। परन्तु मूल ग्रन्थ में 'द्वित्रि' शब्द का प्रयोग करके अतिशय प्रयोग भी वर्जित किया है।

कवि-वाणी में साधारणता-प्राणता

संधियों के अंगों की योजना कार्य और अवस्थाओं के संदर्भ में ही होती है। संध्यंतर उपयोगी हैं, परन्तु उनका अन्तर्भाव तो संध्यंग, व्यभिचारी भाव तथा कथावस्तु में ही हो जाता

१. ना० शा० १९।१०७-१०९ (गा० ओ० सी०)। एषु च केषांचित् सामादीनां स्वप्नभंग रूपत्वात्, केषांचित्मत्यादीनां व्यभिचारी रूपत्वात् न पृथक् लक्षण प्रयासः। ना० द०, पृष्ठ १०२।

२. ना० शा० १९।११९-१३८ (गा० ओ० सी०)।

३. कविभिः कार्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य तु।
संमिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः॥ ना० शा० १९।१०४-१०६।

है। पर लास्यांगों के प्रयोग के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने विस्तार से विचार किया है और अपने उपाध्याय भट्टतौत के विचारों का आकलन भी। भट्टतौत के अनुसार लास्यांगों का भी एकमात्र प्रयोजन है नाट्य-प्रयोग में रसपेशलता का संचार। अलंकार, गुण, वृत्ति, संधि आदि आनंद-दायक गुणों के एक-दूसरे के अनुकूलतापूर्वक योग होने से झटिति रस की व्यंजना होती है। सरल बंध-युक्त वृत्तों और स्निग्ध पदों द्वारा सहृदय के मर्म का स्पर्श होता है। इस प्रकार की उत्तम काव्य-सामग्री काव्य में निबद्ध होने तथा अत्यधिक रसपोषक तत्त्वों से समृद्ध होने पर रस का पोषण-अभिवर्षण करती है। इस संसार से नाट्य-लोक का आविर्भाव उस पोषणता ही के लिए तो हुआ। लोकोत्तर संभार से युक्त होने पर ही कवि-वाणी रस का आविर्भाव करती है, क्योंकि उसमें साधारणता का प्राण-रस उच्छ्वसित होता रहता है।[1]

इतिवृत्त-विभाजन के कुछ अन्य आधार

भरत ने नाट्य के शरीर रूप इतिवृत्त का बहुत ही तर्क-सम्मत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कथावस्तु की स्रोतमूलक, अवस्थामूलक, उपायमूलक तथा अंगमूलक विवेचना मुख्यतः भरत एवं अन्य आचार्यों के आधार पर हमने प्रस्तुत की है। यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भरत का विवेचन ही मूलतः परवर्ती आचार्यों के भी विवेचन के लिए आधार बना रहा। इन आचार्यों ने कथावस्तु के विभिन्न विभाजनों और अंगों के सम्बन्ध में कहीं भी मौलिकता का संकेत नहीं किया है। यत्र-तत्र संध्यंगों के नामों और उनकी परिभाषाओं में जो भी किंचित् अन्तर दृष्टि-गोचर होता है और वह भी नाट्यशास्त्र के विभिन्न प्रचलित संस्करणों के प्रभाव के कारण ही। अतः भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य के इतिवृत्त, उद्भव और विकास की दृष्टि से आकर ग्रन्थ है।

नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इतिवृत्त का विभाजन

अर्थ प्रकृतियाँ, संध्यंग और लास्यांग आदि तो इतिवृत्त के अनिवार्य कथांश हैं, जिनके ही द्वारा उसकी सुसंगठित और रस-भावपूर्ण रचना होती है। परन्तु रंगमंच पर प्रयोग की दृष्टि से कथावस्तु का एक और भी महत्त्वपूर्ण विभाजन भरत ने प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण कथा अंकों में विभाजित की जाती है। नाटक और प्रकरण में पाँच से दस अंक तक होते हैं।[2] अन्य रूपक-भेदों के लिए भी अंकों की संख्या नियत है। पर कथा के कुछ ऐसे भी अंश होते हैं, जो अंकों के द्वारा प्रयोज्य नहीं होते, उनकी सूचना विभिन्न शैलियों में दर्शकों को दी जाती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार कथा के दो खण्ड होते हैं। कथावस्तु का सरस उचित और आवश्यक अंश तो अंकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है परन्तु प्रयोग की दृष्टि से नीरस और अनुचित अंश विभिन्न अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से। दशरूपककार ने उसे ही 'सूच्य' और 'दृश्य' शब्दों से अभिहित किया है। सूच्य के द्वारा नीरस और अनुचित घटनाओं का सूचन होता है और दृश्य द्वारा रंगमंच पर प्रयोज्य वृत्त को प्रस्तुत किया जाता है।[3] नाट्य दर्पणकार ने आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं

१. अ० भा० भाग ३, पृष्ठ ७८ (भट्टतौत)।
२. प्रकरण नाटक विषये पंचाद्यादशपरा भवन्त्येके। ना० शा० १८।२६क (गा० ओ० सी०)।
३. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्त रसभाव निरन्तरः। द० रू० १।५६-५७।

के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य। सूच्य और प्रयोज्य तो पुराने भेद ही हैं, अभ्यूह्य एवं उपेक्ष्य नये और उपयोगी हैं। अभ्यूह्य के द्वारा देशान्तर-प्राप्ति आदि की कल्पना की जाती है और उपेक्ष्य के द्वारा कथा के जुगुप्सित भाग की। स्पष्ट है कि अंकान्तर्गत प्रयोज्य कथांश के अतिरिक्त अन्य सबका सूचन सूच्य तथा अंकच्छेद के द्वारा होता है।[१]

अंक का स्वरूप—भरत की दृष्टि में 'अंक' रूढ़ि शब्द है। भावों और रसों के योग से अंकान्तर्गत इतिवृत्त उत्तरोत्तर अंकुरित होता चलता है। इसमें नाना प्रकार के विधानों का भी योग होता है, इसीलिए यह 'अंक' होता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट की दृष्टि से अंक यदृच्छा शब्द है, यह भावों और रसों से गूढ़ और व्याप्त होता है।[२] उन्होंने 'रूढ़ि' के स्थान पर 'गूढ़' पाठ स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से अंक शब्द चिह्नार्थक है, चिह्न के द्वारा एक वस्तु का दूसरी वस्तु से पृथक्करण होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अंक के द्वारा अभिनेय नाट्य रूपक का अन्य अभिनेय काव्यों से पृथक्करण होता है। अभिनेय काव्य का अंक-युक्त विशिष्ट अंश रस-भाव से परिपुष्ट होता है। अतएव वही अंक होता है। सूच्य या उपक्षेपण नहीं।[3]

अंक में नाट्य का इतिवृत्त अंशतः ही समाप्त होता है, कार्य-योग से बिन्दु का तो विस्तार होता रहता है। नायक, प्रतिनायक और सहायक पात्रों का सुख-दुःखात्मक चरित यहाँ प्रयोज्य होता है। पात्रों के चरित्र की इस विविधता के कारण ही अंक अनेक रस से समृद्ध होता है। क्रोध, प्रसाद, शोक, शाप, उत्सर्ग और विवाह आदि की हर्षोद्विगकारी घटनाएँ दृश्य रूप में प्रयोज्य होती हैं। एक ही अंक में इतिवृत्त के अनेक रूपों का प्रयोग होता है। आवश्यक तो होते हैं पर परस्पर-विरोधी नहीं। भरत ने इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि अधिक घटनाओं के आकलन से मुख्य इतिवृत्त में परस्पर-विरोधिता आ जाती है। अतः अत्यावश्यक परस्पर संबद्ध एवं अनुरंजनात्मक वृत्त की ही योजना और प्रयोग अपेक्षित है।[४] अधिक घटनाओं

---

१. नीरसानुचितं सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययः।
उह्यं तदविनाभूतं, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम्। ना० द० १।११।

२. अवस्थोयेतं कार्यं प्रसमीक्ष्य विन्दुविस्तारात्।
अंकं इति रूढ़िशब्दो रसैश्च रोहयार्थान्।
नानाविधान युक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदं कः॥ ना० शा० १८।१३-१४ (गा० ओ० सी०)।
भावैश्च रसैश्च गूढश्छन्नः व्याप्तोऽर्थोऽङ्कशब्देन।
यादृच्छिकेनोच्येत इति भट्टलोल्लटाद्या 'गूढ़' इति पाठं व्याचक्षिरे॥ अ० भा० भाग २, पृष्ठ ४१५।
कर्त्तव्योऽङ्कं सोऽपि गुणान्वितं नाट्यतत्वज्ञैः।

३. ना० ल० को० पं० २९५-३००, ना० द० १।१८, भा० प्र० २१६।

४. यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च वीजस्य भवति संहारः।
किंचिदवलानविंदुः सः, अंक इति सदावगन्तव्यः।
ये नायकाः निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरित सम्भोगः।
नानावस्थोपेतः कार्यस्त्वंकोऽविकृष्टस्तु।
नायक देवी गुरुजन पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्
नैकरसान्तर विहितो ह्यंक इति स वेदिव्यस्तु। ना० शा० १८।१९, २० (गा० ओ० सी०)।

के आकलन से अंक विकृष्ट (लम्बा) हो जाता है और लम्बे अंक प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों के लिए खेदजनक होते हैं।[1]

अंक में प्रयुक्त घटना की समय-सीमा

अंक में कितने दिनों की घटना नाट्य में प्रयोज्य हो, यह एक जटिल प्रश्न है। प्रयोग एवं नाट्य-सिद्धान्त की दृष्टि से भरत का मत नितान्त स्पष्ट है। अर्थ-बीज को लक्ष्य कर एक दिवस-प्रवृत्त घटना का प्रयोग करना चाहिए, जो नाट्य-प्रयोग के आवश्यक कार्यों का विरोधी न हो। एक अंक में बहुत से कार्यों की योजना करनी पड़ती है। क्षण, याम और मुहूर्त के लक्षण से युक्त दिवस की अवस्था का परिज्ञान कर पृथक्-पृथक् कार्य का अंकों में विभाजन अपेक्षित होता है। यदि एक अंक में दिवसावसान तक भी कार्य परिसमाप्त नहीं हो तो अंकच्छेद करके प्रवेशक के द्वारा शेष वस्तुवृत्त प्रयोज्य होता है। अंक की परिसमाप्ति में पात्र का निष्क्रमण तो होता है परन्तु वह बीजार्थ को रसपुष्ट ही करता है।[2] अभिनवगुप्त की दृष्टि से पात्र का निष्क्रमण तो यवनिका के तिरोधान द्वारा संपन्न होता है, उसका यह निष्क्रमण भी प्रयोजनानुसारी और विशिष्ट रस संपत्ति से विभूषित होता है।[3] वस्तुतः समग्र इतिवृत्त का अंक-गत विभाजन कार्य को दृष्टि में रखकर ही होता है। अंकों में विभाजित कथावस्तु के लिए समय का निर्धारण भी अपेक्षित होता है। सागरनंदी ने अंक के लिए काल की सीमा के सम्बन्ध में एक दिवस-प्रवृत्त, अर्द्ध दिवस-प्रवृत्त एवं दिवस और रात्रि-प्रवृत्त घटनाओं का विधान कर भरत के ही विचारों के स्पष्ट प्रभाव की सूचना दी है।[4] भरत की दृष्टि का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि शास्त्रीय दृष्टि से एक अंक में एक दिवस से अधिक की घटना के प्रयोग के पक्ष में वे नहीं थे। भरत ने वर्ष भर से अधिक की घटना के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है। पात्र का अंक में प्रवेश सहेतुक होता है और निष्क्रमण भी नाट्यार्थ के अनुरोध पर ही होता है।[5]

अंकच्छेद—अंक के विभाजन के लिए भरत ने कई प्रयोग-सम्मत आधार प्रस्तुत किये हैं। दिवसावसान तक यदि एक अंक में उत्पन्न होने योग्य वृत्त न हो तो अंकच्छेद करके प्रवेशक के द्वारा शेष कार्य को पूरा करना चाहिए। संपूर्ण वृत्त का विभिन्न अंकों में विभाजन अपेक्षित है। यदि दूर देश की यात्रा अभिप्रेत हो तो उसका भी संकेत अंकच्छेद अथवा प्रवेशक के द्वारा संभव हो पाता है। यदि मास या वर्ष का अन्तर प्रकट करना हो तो वह भी अंकच्छेद द्वारा ही संभव है। परन्तु भरत का यह स्पष्ट मत है कि अंकच्छेद के द्वारा एक वर्ष से लम्बी अवधि का सूचन नहीं

---

१. अविकृष्ट इत्दीर्घः। दीर्घो हि प्रयोक्तृप्रेक्षकाणां खेदाय स्यात्। अ० भा० भाग २, पृ० ४१८।

२. एकदिवसप्रवृत्तं कार्यस्त्वंऽकोऽर्थं बीजमधिकृत्य।
आवश्यक कार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु।
ज्ञात्वा दिवसावस्थां क्षणयाममुहूर्तलक्षणोपेताम्।
विभजेत् सर्वमशेषं पृथक्-पृथक् कार्यमंकेषु। ना० शा० १८।२१, २५, २६ (गा० ओ० सी०)।

३. उपायभूतं कार्यं प्रयोजनानुसारि विशिष्ट रससंपदोपेतं विधाय तत्परिसमाप्तौ यवनिकया तिरोधान-रूपं निष्क्रमणं दर्शनीयम्। अ० भा० भाग २, पृ० ४२०।

४. ना० ल० को०, पृ० १३, पं० २६५-३०३।

५. वही, पं० ३०२-३।

होना चाहिए।[1] वस्तुतः भरत द्वारा एक वर्ष की सीमा औपचारिक है, क्योंकि रामायण एवं महाभारत की कथाओं में चौदह और बारह वर्षों का समय लगता है, अतः यत्ननिष्पाद्य कार्यों का विभाजन आवश्यक है। लोक में घटित वृत्त यहाँ जितने वर्षों में प्रस्तुत होता है उसकी परिगणना उसी के अनुरूप होती है। शेष वर्ष अविधमान से हो जाते हैं।[2] मारीच का वध और सुग्रीव के राज्याभिषेक के द्वारा कई वर्षों का संकेत हो जाता है। अतएव सहस्र वर्षों की कथा भी थोड़े-से वर्षों के माध्यम से प्रकट की जाती है। यह सब कार्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।[3] इसी दृष्टि से उत्तररामचरित में प्रथम एवं द्वितीय अंक तथा शाकुन्तल के पंचम और सप्तम अंक का अन्तर वर्षों का है और उचित है।

अंक में पात्रों की उपस्थिति—नाटक और प्रकरण के प्रत्येक अंक में नायक की उपस्थिति सामान्यतया अपेक्षित है। अंकांतर्गत कथांश रंगमंच पर प्रयोज्य होता है और वह दृश्य होता है। दशरूपक और भावप्रकाशन में स्पष्ट उल्लेख है कि दृश्य इतिवृत्त का प्रयोग अंकों के द्वारा होता है।[4]

भरत ने अंक की परिभाषा, स्वरूप, प्रतिपाद्य तथा उसकी अवधि का विचार कर अर्थोपक्षेपकों के सम्बन्ध में विचार किया है। दृश्य काव्य के अन्य अनेक भेदों या उसके प्रस्तुत करने की 'स्वगत' आदि पद्धतियों का विवरण इस प्रसंग में प्रस्तुत न कर चित्राभिनय के अन्तर्गत किया है। क्योंकि स्वगत, प्रकाश, नियत-श्राव्य, अश्राव्य आदि विधियाँ अभिनय के प्रसंग में विशेष रूप से प्रयोज्य होती हैं। निःसन्देह इन विधियों के द्वारा भी इतिवृत्त अंशतः विकसित होता है। अतः परवर्ती आचार्यों ने इन सब विधियों की परिगणना दृश्य इतिवृत्त के अन्तर्गत ही की है।

दृश्य-भेद

इतिवृत्त का दृश्य अंश ही प्रधान अंश है। उसके भेद दो हैं—श्राव्य और अश्राव्य। श्राव्य भी दो प्रकार का होता है—**सर्वश्राव्य** और **नियतश्राव्य**। **सर्वश्राव्य** को प्रकाश शब्द से भी संबोधित किया जाता है, उसे प्रेक्षक सुनते हैं, परन्तु **नियतश्राव्य** नट-निहित इतिवृत्त का अंश है। नियतश्राव्य का अंश ही सीमित व्यक्तियों के लिए श्राव्य होता है, नियत श्राव्य का भी जनान्तिक और अपवारित इन दो विधियों द्वारा प्रयोज्य है। जनान्तिक के द्वारा किसी पूर्व वृत्त का सूचन एक पात्र दूसरे पात्र के कानों में कहकर करता है, इसमें त्रिपताका नाम की हस्तमुद्रा का भी प्रयोग होता है। अपवारित में किसी गोपन रहस्य का उद्घाटन होता है, उसका सम्बन्ध पात्र से, अन्य से तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से रहता है। **अश्राव्य** तो स्वगत या आत्मगत कथा का

---

१. अंकच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षसंचितंवाऽपि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्।
यः कश्चित् कार्यवशादागच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्।
तत्राप्यंकच्छेदः कर्तव्यं पूर्वतत्वज्ञैः। ना० शा० १८।३१-३२ (गा० ओ० सी०)।

२. कार्यग्रहणं ह्येतदर्थं मुनिना कृतम्। यत्रहि यत्ननिष्पाद्य संचितं तदेव वर्षं गण्यते। वर्षान्तराणि तु तत्र विधमानान्यपि अविधमानकल्पानि। अ० भा० भाग २, पृ० ४२३।

३. तदेतद् वहुकाल-प्रणेयं नांके विधयेमित्यर्थः। ना० ल० को०, पृ० १३।

४. दृश्यंमंकैः प्रदर्शयेत् १।६३क, द० रू०। भा० प्र०, पृ० २१६, पं० १४।

अंश है जिसका प्रयोग पात्र एकाकी भी करता है और दूसरे की उपस्थिति में भी।[1] स्वप्नवासवदत्ता के प्रथम अंक में ऐसे ही स्वगत की योजना की गई है, जिसमें अन्य पात्र भी उपस्थित हैं। परन्तु तीसरे अंक की कथावस्तु में पर्याप्त समय तक एकाकी ही वासवदत्ता स्वगत-भाषण करती है। इनके अतिरिक्त **आकाशभाषित** के द्वारा भी कथांश को प्रस्तुत किया जाता है। अतः कथा का कुछ अंश उसमें भी वर्तमान रहता ही है। कथा का अधिक भाग सर्वश्राव्य शैली में ही विकसित होता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि जनान्तिक और अपवादित या आकाशभाषित आदि प्रयोग की नाट्यधर्मी विधियाँ हैं, अन्यथा लोकाचार में उनकी उपयुक्तता सिद्ध नहीं हो सकती।

अर्थोपक्षेपक

भरत ने अंक के अतिरिक्त पाँच अर्थोपक्षेपकों का भी उल्लेख किया है। इन्हीं के माध्यम से कथा में शृंखलाबद्धता आती है। कथा का यह सूच्य अंश नीरस या अनुचित होने के कारण अंक के माध्यम से दृश्य रूप में प्रयोज्य नहीं होता। सूच्य अर्थोपक्षेपण की निम्नलिखित पाँच प्रणालियाँ हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख।[2]

विष्कंभक—विष्कंभक का प्रयोग पुरोहित, अमात्य और कंचुकी आदि मध्यम कोटि के पात्रों द्वारा होता है। नाटक की मुख-संधि में ही इसका प्रयोग होता है। चारायण के अनुसार इसका प्रयोग नाटक और प्रकरण दोनों में होता है तथा विष्कंभक प्रवेश के स्थानीय ही होता है। पात्रभेद से विष्कंभक के दो भेद होते हैं—शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध विष्कंभक में केवल मध्यम पात्र होते हैं अतएव भाषा संस्कृत होती है या शौरसेनी प्राकृत। परन्तु संकीर्ण में मध्यम और अधम दोनों प्रकार के पात्रों का प्रयोग होने से स्वभावतः उनकी भाषा भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित होती है। प्राकृत भी बहुत नीचे स्तर की। धनंजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार विष्कंभक में अतीत और भावी घटनाओं का सूचन होता है।[3] विष्कंभक का प्रयोग अंक के आदि में, आमुख के बाद अथवा प्रथम अंक के आरंभ में होता है। कोहल के अनुसार प्रथम अंक के आदि में प्रयोग उचित होता है। यह दो अंकों के मध्य के कथासूत्र की शृंखला है परन्तु इसका प्रयोग दो अंकों के मध्य भी देखा गया है। शकुन्तला नाटक में तृतीय अंक के उपरान्त और चतुर्थ अंक से पूर्व। परन्तु अंक के मध्य या अवसान में इसका प्रयोग नहीं होता। नाट्यदर्पणकार ने इसे अंक-संधायक माना है।[4] अतः विष्कंभक इतिवृत्त के रूप में, अतीत की एक शृंखला के रूप में और दो अंकों की कथा की शृंखला के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग निश्चित रूप से अंक के आरम्भ में ही होता है।

प्रवेशक—प्रवेशक का प्रयोग नीच पात्रों के द्वारा प्रायः प्राकृत भाषा में होता है। प्राकृत भी मागधी और आभीरी आदि कोटि की होती है। भ्रातृगुप्त, सागरनंदी और शारदातनय के

१. ना० शा० २५।८५-९४, द० रू० १।६३-६७, भा० प्र०, पृ० २१९-२२०।
२. ना० शा० १९।११० (गा० ओ० सी०), द० रू० १।५८, ना० द० १।२२ पर विवृत्ति, पृ० ३३।
३. न० शा० १९।१११-११२ (ग,० ओ० सी०)। द० रू० १।५९-६०क, ना० ल० को—आह चारायणः- प्रकरण नाटकयोर्विष्कंभक इति पृ० १६, ना० द० १।२४।
४. अंकादाविति प्रथमेऽङ्के आमुखादूर्ध्वम्, अन्येतु पुनरारंभे इति तावत् सर्वे समामनंति कोहल: पुनरेतं प्रथमांकादावेवेच्छति। न० द० १।२४ पर विवृत्ति, पृ० ३४।

मत से संस्कृत भाषा का प्रयोग हो सकता है यदि विट या ब्राह्मण पात्र हों। नीच पात्रों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण उदात्तवचनों का विन्यास इसमें नहीं होता। नाटक और प्रकरण दोनों में ही इसका प्रयोग होता है। बिन्दु आदि का संक्षेपार्थ लक्ष्य कर दो अंकों के मध्य में इसका प्रयोग होता है। प्रवेशक की योजना कई उद्देश्यों से होती है। इसके द्वारा समय उदयास्त, रस-परिवर्तन, अंक का आरंभ और कार्य आदि का भी संकेत होता है। सेतुबंध आदि घटनाओं का सम्बन्ध बहु-संख्यक पात्रों से हो, दृश्य-रूप में जिनकी अवतारणा संभव नहीं हो, उन सबकी योजना प्रवेशक के द्वारा होती है। दीर्घकालव्यापी घटनाओं का भी सूचन संक्षिप्त रूप में प्रवेशक के द्वारा होता है। युद्ध, राज्य-भ्रंश, मरण और वध आदि के दृश्य अंक में अभिनेय नहीं हैं। अतः उनका भी प्रयोग प्रवेशक द्वारा ही होना उचित होता है।[1]

अभिनव भारती में अन्य आचार्यों के मतों के विश्लेषण से यह अनुमान किया जा सकता है कि रंगमंच पर ऐसे दृश्यों की अवतारणा के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में मतैक्य नहीं था। इन आचार्यों के मतानुसार व्याधिज और अभिघातज मरण के दृश्य रंगमंच पर ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अभिनवगुप्त का मत इन आचार्यों के नितान्त प्रतिकूल है, वे मरण या वध के दृश्यों को इसीलिए नहीं प्रस्तुत करना चाहते, क्योंकि दृश्य रूप में प्रस्तुत होने पर सामाजिकों के हृदय में विरसता उत्पन्न होती है और नाट्य-रस में बाधा भी।[2] नायक में वध का सूचन तो प्रवेशक में भी निषिद्ध है। अंक में दिवसावसान तक कार्य समाप्त न हो सके तथा प्रयोग-बहुलता के कारण अंक में कथांश की समाप्ति न होती हो, तो इन सबका प्रवेशक के द्वारा ही सूचन होना चाहिए। क्योंकि अंक के विकृष्ट होने से उसका प्रयोग खेदजनक होता है, अतः प्रवेशक की सबसे बड़ी विशेषता है परिमित वागात्मकता और प्रयोजन है लम्बी घटनाओं का संक्षेप में सूचन जिससे कि प्रेक्षकों का उत्साह नाट्य-प्रयोग के प्रति बना ही रहे। प्रवेशक का प्रस्तुतीकरण गद्य-पद्य दोनों के द्वारा किया जाता है। सागरनंदी ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा प्रवेशक का विस्तारपूर्वक विचार किया है। परन्तु वह सारी विचारधारा नाट्यशास्त्र के अठारहवें और उन्नीसवें अध्यायों में प्रतिपादित विचारों का ही उपबृंहण है।[3]

चूलिका—चूलिका घटनाओं के सूचन की एक विशिष्ट विधि है। परन्तु अर्थोपक्षेपण की अन्य चारों विधियों से यह भिन्न है क्योंकि इसका सूचन रंगमंच पर नहीं होता अपितु यवनिका के भीतर से होता है। चूलिका के द्वारा अर्थ का निवेदन ही होता है। सूचना देने वाले पात्र भी निम्नकोटि के सूत, मागध और नंदी आदि होते हैं। विष्कंभक और प्रवेशक की योजना तो दो अंकों के मध्य होती है या अंक के आरम्भ में (विष्कंभक), परन्तु चूलिका का प्रयोग अंक के मध्य में होता है। शिंगभूपाल ने चूलिका के एक और भेद खण्ड-चूलिका की कल्पना की है, दोनों में ही पात्रों के बहिर्गमन और निष्क्रमण का अवसर नहीं होता, अतः अंक के आरंभ में ही प्रयुक्त होती हैं।[4]

---

१. ना० शा० १९।११४ (गा० ओ० सी०), ना० द० १।२५, द० रू० १।६०ख-६१क, सा० द० ६।२८।

२. अ० भा० भाग २, पृ० ४२७।

३. ना० ल० को० पं० ३०५-३६०।

४. ना० शा० १९।११३, (गा० ओ० सी), द० रू० १।६१ ख, ना० ल० को० ४३७-३९, सा० द० ६।३९, भा० प्र०, पृ० २१७ पं० १७, र० सु० ३।१८२-१८४।

अंकावतार—एक अंक के समाप्त होते-होते ही (विच्छेद हुए बिना ही) दूसरे अंक की कथावस्तु का संकेत हो जाता है, मानों दूसरे अंक का उस सूचन के द्वारा अवतरण हो जाता है। इस अंकावतार में बीजार्थ (की युक्ति) की योजना रहती है।[1] मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक के समाप्त होने से पूर्व ही द्वितीय अंक में मालविका द्वारा गीत-नृत्य-प्रधान प्रयोज्य छलिक नाट्य का संकेत दे दिया गया है। अंकावतार का प्रयोग अंक से बाहर नहीं, अंक में ही होता है, जैसाकि विष्कंभक या प्रवेशक का होता है। अतः अर्थोपक्षेपण के भेद के रूप में इसका कोई औचित्य नहीं मालूम पड़ता। कोहल ने अंकमुख, अंकावतार और चूलिका की परिगणना अकों के भेद के अन्तर्गत की है, अर्थोपक्षेपण में नहीं।[2]

अंकमुख—अंकमुख में समस्त कथा के सारे रूप का सूचन किया जाता है। इसकी योजना प्रायः अंक के आरम्भ में होती है। भरत नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में विभिन्न परिभाषाएँ हैं। परन्तु सबमें भावी कथावस्तु के श्लिष्ट रूप में उपक्षेपण का भाव प्रतिपादन किया गया है। प्रयोक्ता पात्र स्त्री या पुरुष भी हो सकते हैं। धनंजय की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। उनके अनुसार छूटे हुए अर्थ (वस्तु) सूत्र का सूचन होता है। वस्तुतः अंकास्य और अंकावतार की परिभाषाएँ बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उन्होंने भरत का अनुसरण नहीं किया है।[3]

पाँचों अर्थोपक्षेपकों में विष्कंभक और प्रवेशक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, इन दोनों के माध्यम से दीर्घकाल-व्यापी घटनाओं का सूचन होता है। इनकी विशेषता होती है परिमित वागात्मकता। इनके अतिरिक्त शेष तीन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उनसे भविष्य की घटनाओं का सूचन होता है, उत्तरोत्तर उनकी अवधि न्यून होती जाती है। कुमार स्वामी के अनुसार अंकास्य और अंकावतार की योजना अंक में ही होती है। विष्कंभक और प्रवेशक का प्रयोग अंकों के बाहर होता है और चूलिका का प्रयोग अंक में ही होता है परन्तु यवनिका के भीतर से ही।[4]

समाहार

भरत द्वारा समस्त कथावस्तु का स्रोतगत, अवस्थागत, उपायगत और अंगगत विभाजन भरत की विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिचायक है। कथावस्तु के समीचीन संगठन के लिए पंच संधियों और ६४ संध्यंगों, संध्यंतरों और लास्यांगों की परिकल्पना से भरत का वस्तु-विधान नितान्त शास्त्र-सम्मत हो जाता है, क्योंकि लोक-जीवन तथा व्यक्ति के भाव-लोक में घटनाओं की जैसी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, उनका ही समानीकरण करके कथावस्तु का यह रूप भरत ने प्रस्तुत किया है। मूलतः इस प्रकार की कथा-वस्तु की परिकल्पना का उद्देश्य है कि कल्पित पात्रों के चरित्र का समुचित विकास हो और वह रसात्मक भी हो। चरित्र की उदात्तता या लालित्य

---

१. ना० शा० १६।११५ (गा० ओ० सी०), द० रू० १।६२ख, ना० द० १।२७क, भा० प्र०, पृ० २१८; सा० द० ६।४०, र० सु० ३।१६१ख-१६३, प्र० रू०, पृ० ११६।

२. त्रिधांकोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्केमुखेन वा।
अनया त्वार्यया अंकस्य त्रैविध्यमुच्यते।

अ० भा० भाग २, पृ० ४१७ पर कोहल के नाम पर उद्धृत पंक्तियाँ।

३. ना० शा० १६।११६ (गा० ओ० सी०), ना० ल० को० पं० ४०६, भा० प्र० ३१७, ना० द० १।२६, सा० द० ६।४१, द० रू० १।६३।

४. रत्नायण, पृ० ११६।६-११।

आदि का प्रभाव मन पर आनन्दात्मक हो। भट्टतौत ने भरत के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट प्रकट किया है। लक्षण, अलंकार, गुण, दोष, शब्द-वृत्तियाँ और संध्यंग आदि एक-दूसरे से अनुकूलता-पूर्वक सम्मिलित हो रसोदय की ओर गतिशील होते हैं। वस्तु-विकास की परिणति रसोन्मेष में ही होती है।[1]

---

१. एवं प्रकारं यत्किंचित् वस्तुजातं (कथार्पितम्)
अनूनाधिकसामग्री परिणामोन्मिषद्रसम्। (भट्टतौत)
इति सम्भावनाप्राणतया हि यल्लोके सम्भाव्यते परमार्थम् तत्—
वस्तुनो लोकोत्तरत्वेनैव संभारेण युक्ता कवि वाणी हठादेव रसमयी
भवति साधारणता प्राणत्वादिति तत्र तात्पर्यम्। (अभिनव गुप्त)

—अ० भा० भाग ३, पृ० ७८।

३

पात्र-विधान

पात्र-विधान की पृष्ठभूमि

नाट्य में पात्र का विशेष महत्त्व है। पात्र के शील-स्वभाव, आचार-विचार, आहार-व्यवहार और अवस्था एवं प्रकृति की विभिन्नता एवं विविधता की पृष्ठभूमि में कथावस्तु परि-पल्लवित होती है। देश, काल और परिस्थिति के आलोक में मानव का जीवन-पुष्प विकसित होता है। उसका सौरभ और रस तो उसी पात्र में छलकता है, तभी वह नाट्य-रस आस्वाद्य होता है। रूप और रस की रंगभूमि में ये पात्र ही (नायक-नायिका आदि) तो होते हैं, जो उसे प्राण देते हैं, गति देते हैं। भास के उदयन और वासवदत्ता, कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला तथा भवभूति के राम और सीता का कवि-कल्पित जीवन केवल कवि की कला-दृष्टि की ही सृष्टि नहीं है, उस पर समग्र जातीय जीवन की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का भी प्रभाव है।

इसलिए नाट्य में पात्र (नायक-नायिका आदि) का महत्त्व असाधारण है। उसको प्रस्तुत करने की कला भी असाधारण होती है। इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर भरत ने नाट्य-शास्त्र में पात्र-विधान की व्यापक परिकल्पना की है। यह विधान समान रूप से कल्पनाशील कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक के लिए उपयोगी है। परवर्ती आचार्यों ने भी पात्र-विधान के संदर्भ में भरत के ही विचारों का उपबृंहण किया या भेद-विस्तार के लिए नवीन नामों की परिगणना की है, परन्तु उनके भेद-विस्तार में भरत की-सी मौलिक चिन्तन-धारा का परिचय नहीं प्राप्त होता।

पात्र : जीवन की शाश्वत धारा के प्रतीक—भरत ने पात्र-विधान (नायक-नायिका आदि विवेचन) को बहुत महत्त्व दिया है और उसके विचार की पीठिका भी बहुत ही व्यापक है। उसके विश्लेषण से ऐसा अनुभव होता है कि भारत जैसे विशाल राष्ट्र के विभिन्न अंचलों में रहने वाला नाना रूप-रंग, वेशभूषा, शील स्वभाव, आचार-व्यवहार और अवस्था एवं प्रतीक की दृष्टि से विभिन्न और विविध नर-नारी के लोक-जीवन को देखा-परखा था। यही कारण है कि उपर्युक्त विषय का विश्लेषण करते हुए नायक एवं नायिका आदि के वर्गीकरण के लिए कई आधारों की कल्पना की है। भरत द्वारा प्रतिपादित नायक-नायिका विवेचन पर कामशास्त्र

(तंत्र) का भी प्रभाव है और 'काम' मनुष्य जीवन की मादक ऊष्मा भी तो है। पुरुषार्थ-साधन में प्रवृत्त नायक सम्भवतः सबसे अधिक काम-भाव से ही प्रभावित रहता है। इस सत्य की पुष्टि उन्होंने विस्तार से की है। तदनन्तर शील, स्वभाव और प्रकृति आदि के आधार पर पात्रों का वर्गीकरण किया है। भरत ने यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों और पुरुषों की प्रकृति विचित्र और विविधताशाली होती है। पर उनमें से प्रत्येक की कल्पना और उल्लेख सम्भव नहीं है। अतः सामान्य रूप से उनका वर्गीकरण किया गया है और निःसन्देह वे तर्क-सम्मत एवं उस युग के जीवन के अनुरूप भी हैं।[1]

मानव-चरित्र में काम भाव की प्रबलता—पात्रों के जीवन-स्वरूप की जैसी कल्पना नाट्यशास्त्र में की गई है और उसका प्रकृत रूप संस्कृत नाटकों में जैसा प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रृंगार और वीर ये जीवन के प्रधान रूप हैं, जिनकी ओर आचार्यों और कवियों की दृष्टि रही है। यों वीरता अर्थमूलक और धर्ममूलक भी होती है, पर अधिकतर (नाटकों में) उसमें काममूलकता का भाव ही वर्तमान है। सब भावों के मूल में काम-भाव वर्तमान रहता है। वही काम इच्छा-गुण-सम्पन्न होने पर अनगिनत रूपों में कल्पित होता है।[2] क्योंकि मानवीय इच्छा की कोई सीमा-रेखा नहीं है। यों सामान्य रूप से लोक-जीवन में धर्मकाम, अर्थकाम और मोक्षकाम ये तीन रूप दिखाई देते हैं। परन्तु नाट्य में पात्र के रूप में नर-नारी का जीवन जहाँ प्रस्तुत होता है, वहाँ काम की प्रबलता रहती है। अन्य कामों से इस (श्रृंगार) काम की पर्याप्त भिन्नता है। कामरूप इच्छा तो समान रूप से सुख के साधन या प्रत्यक्ष रूप से सुख की प्राप्ति के लिए होती है। पर धर्म और अर्थ तो स्वयं सुखरूप नहीं हैं, वे सुख के साधन हैं। साक्षात् धर्म के द्वारा अप्रत्यक्ष स्वर्ग (कामना) के लिए अनन्त सुख-साधनों का उपार्जन होता है। मोक्ष का सम्बन्ध बाह्य साधन से नहीं, आत्मिक विकास से है, और वह परमानन्द विश्रान्ति रूप होने के कारण सुखात्मक ही है। पर वह आनन्द परम दुर्लभ है, अतः लोक-हृदय-संवेद्य नहीं है। स्त्री-पुरुष का संयोग तो साक्षत् सुख का साधन होता है। अतः उस सुख-साधन के लिए मनुष्य (प्राणी) मात्र में सहज इच्छा रहती है। उसी अर्थ में जीवन की अन्य वृत्तियों की अपेक्षा काम-वृत्ति का प्रभाव मनुष्य पर सर्वाधिक रहता है। उस विशुद्ध काम-भाव से सारा लोक (अर्थ) अनुरंजित रहता है और धर्म भी। रामकथा के प्रतिनायक रावण के नाश के मूल में सीता-प्रत्यायन की ही कामप्रेरणा है। कामंदक का यह कथन नितान्त उचित है कि नारी का नाम ही आह्लादक है। इसीलिए स्त्री-पुरुष के काम-भाव के प्रदर्शन से नाट्य में लोक-हृदय-संवेद्यता का संचार होता है।[3]

भरत-कल्पित पात्रों का जीवन ऐहिकतामूलक—पात्रों के जीवन का जो स्वरूप भरत ने प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही ऐहिकतामूलक है। उनके चरित्र की कल्पनाओं, सात्विक

---

१ स्त्रीणां पुंसा च यद्यपि विचित्राः स्वभावास्तथापि प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसंग्रहा इति प्रकृतित्रयं वक्तव्यम्। अ० भा० भाग ३, पृ० २४८।

२. प्रायेण सर्वभावानां कामन्निष्पत्तिरिष्यते।
सचेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा परिकल्पितः॥ —ना० शा० २१।९५-९६ (गा० ओ० सी०)।

३. तेन च सर्वोऽर्थोनुरंज्यते। स्त्रीति नामापि संह्लादीति (कामंदक स० ४।५२), तथापि तत्स्पृष्टे लोकोत्तरोऽप्यर्थो हृदयसंवादादयत्नेनैव हृदयंगमत्वमभ्युपगच्छति। —अ० भा० भाग ३, पृ० १८६।

विभूतियों, महनीय उदात्तताओं के मूल में लालित्य और सौन्दर्य की प्रेरणा सदा वर्तमान रहती है। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में भरत की चिन्तन-धारा की तुलना फ्रायड के काममूलक सिद्धान्तों से की जा सकती है। भरत ने मनुष्य जीवन में काम-भाव की प्रधानता प्रतिपादित की है और स्त्रियों को उस परम आराध्य सुख का मूल माना है। मनोवैज्ञानिक विचार-वेत्ताओं की दृष्टि से जीवन की समस्त प्रवृत्तियों के मूल में कामसुख की उपलब्धि और उसकी कुण्ठा ही है।[1]

चरित्र-रचना में लौकिक सुख-दुःख का मधुर रस—नाट्य में प्रधान इतिवृत्त होता है और इतिवृत्त का एक मुख्य फल होता है। उस फल के भोग की संज्ञा 'अधिकार' है। अतएव फल का भोक्ता अधिकारी नाट्य का प्रधान पात्र अथवा नायक होता है। क्योंकि नाट्य की समस्त घटनाओं का अवसान फल के रूप में उसी में होता है वही बीज-बिन्दु आदि-संवलित नाटक के नाट्य का अन्त करता है, धर्म, काम, अर्थ रूप फल का भागी होता है।[2] सीता प्रत्यायन में न जाने कितनी प्रधान और अवान्तर घटनाओं की परिकल्पना की गई है, परन्तु सीता के प्रत्यायन रूप फल का भोक्ता तो राम ही है। वस्तुतः वह न केवल नाट्य की विकासमूलक अवस्थाओं और उपायमूलक अर्थप्रकृतियों का ही केन्द्र हो जाता है अपितु वह नाट्य के प्रधान रसों का भी स्रोत हो जाता है। नायक नाट्य का वह केन्द्र-बिन्दु है, जहाँ से जीवन की किरणों का आलोक फूटता है, जिसमें वीरता का दर्पित तेज भी होता है तो प्रभात का मंद मधुर आलोक भी और चन्द्र-किरणों की उर्मिलस्निग्ध ज्योत्स्ना भी। इन्द्रधनुष की सतरंगी सुख-दुःखमिश्रित छवि उसमें आलोकित होती है। भरत ने अपनी कल्पना के नायक और नायिका एवं सहायक पात्रों के जीवन की विविधता और विभिन्नताओं में से राजा, अमात्य, देवी, वेश्या, श्रेष्ठी और विदूषक आदि ऐसे सामान्य रूपों को प्रस्तुत किया है, जो अंग-संगठन, रूप-रंग, शील-स्वभाव, आचरण की शुद्धता एवं अपनी प्रकृति आदि की दृष्टि से समाज में प्रतीक बन चुके हैं। उनका प्रचलित रूप लोक-हृदय-संवेद्यता प्राप्त कर चुका है, क्योंकि नाट्य में तो जीवन का वह प्रकृत रूप ही हृदय-ग्राही और उपयोगी होगा जो लोक-हृदय-संवेद्य हो। जिस प्रकार कथावस्तु और रस के लिए लोक-हृदय-संवेद्यता अत्यावश्यक है, उसी प्रकार प्रधान पात्र एवं अन्य पात्रों के चरित्र का भी तो वस्तु और रस के साँचे से ही सृजन होता है। निःसन्देह इस सृजन के मूल में एक आदर्श का भाव अवश्य वर्तमान रहता है। प्रधान पात्र का चरित्र उदात्त और धीर हो, अनुकरणीय हो तथा जिसका पर्यवसान दुःख में नहीं, सुख में हो।[3]

आर्यों ने जीवन में मुख्यतः आनन्द की ही परिकल्पना की। इसीलिए नाट्य के केन्द्र में

---

१. भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ताः पुनः। ना० शा० २२।९७ (गा० ओ० सी०)।
तथा—We reckon as belonging to 'sexual' all expressions of tender feeling, which spring from the source of primitive sexual feelings··· Collected Lectures Vol. II, p. 299.

२. बीजविन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यमंतं नयतीति नायकः।
स एव धर्मकामार्थफलभाग भवति। ना० ल० को० पं० २५०-२६०।

३. स्वच्छन्द स्वादुरसाधारो वस्तुच्छायामनोहरः।
सेव्यं सुवर्णनिधिवद नाट्ययमार्गस्य नायकः। र० सु० १।५६।

स्थित प्रधान पात्र जीवन के आनन्द-रस से ही अनुप्राणित रहता है। दुःख है, पर उन पर विजय पाता हुआ वह सुख और आनन्द की ओर बढ़ता है। इसी आनन्द के अनुसंधान की मंगल-यात्रा में जीवन के चरण-चिह्न चरित्र के रूप में अंकित होते हैं। भरत ने जीवन की विराट् विभूतियों को देखकर, परखकर नाट्य के विभिन्न पात्रों के लिए जीवन का एक सामान्य रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें सुख भी है, दुःख भी है, पाप भी है, पुण्य भी है, धर्म है और अधर्म भी। पर अन्ततः जीवन की परम उपलब्धि लोकोत्तर सुख की उपलब्धि है, वह धर्म-काम हो, अर्थ-काम हो, यदि शुद्ध काम हो पर काम का—आनन्द का—भाव वर्तमान रहता है। इसी पृष्ठभूमि में हमें भरत के पात्र-विधान का विश्लेषण करना चाहिए। भरत द्वारा कल्पित नायकों के स्वरूप पर निश्चित रूप से वैदिक काल से वीर काव्य काल तक के इन्द्र और वृत्र, कार्त्तिकेय और तारकासुर, शिव और मय, राम और रावण तथा कृष्ण और कंस, अर्जुन और दुर्योधन जैसे महान् व्यक्तित्वों का प्रभाव पड़ा है।[1]

पात्रों के भेद

नायक-नायिका और अन्य पात्र उतने ही प्रकार के हो सकते हैं जितने कि मनुष्य के विविध प्रकार हैं। परन्तु उनकी क्या कोई सीमा है? मनुष्य की चित्तवृत्ति परस्पर इतनी भिन्न है, और कभी-कभी इतनी समान भी कि उसके आधार पर कोई वर्गीकरण बहुत कठिन है। पर भरत ने उनकी मुख्य विशेषताओं का आकलन कर वर्गीकरण के कुछ आधारों को प्रस्तुत किया है। उनके अन्तर्गत नायक-नायिकाओं की प्रधान विशेषताओं और उनके आधार पर उनके पृथक् रूपों की स्थापना की है। परन्तु नायक-नायिकाओं के गुणाधारित वर्गीकरण से पूर्व मूलतः जीवन की प्रकृति को आधार मानकर नर एवं नारी का तीन भागों में वर्गीकरण किया है, उसमें सब पात्रों का अन्तर्भाव होता है।

पुरुष-नारी पात्रों की त्रिविध प्रकृति—पुरुषों और स्त्रियों की तीन प्रकार की प्रकृति होती है, उत्तम, मध्यम और अधम। जितेन्द्रियता, ज्ञान, नानाशिल्पों में कुशलता, दाक्षिण्य, नाना शास्त्रों में संपन्नता, गंभीरता, उदारता, धीरता और त्याग के गुणों से संपन्न होने पर उत्तम प्रकृति होती है। लोक-व्यवहार में चतुरता, शिल्प और शास्त्र में व्युत्पन्नता, विज्ञान एवं मधुरता से युक्त होने पर मध्यम प्रकृति होती है। रूखी वाणी, दुःशीलता, पिशुनता, मित्रद्रोह, अकृतज्ञता, आलस्य, नारियों के प्रति चंचलता, कलह-प्रियता, पाप, पर-द्रव्यापहारिता और क्रोध का भाव होने पर अधम प्रकृति होती है।[2]

कोमल हृदय, स्मित भाषिणी, अनिष्ठुर, गुणवर्णन में निपुण, सलज्ज, विनयशील, मधुर, रूपवती, गुण-संपन्न, गंभीर धीर स्त्री उत्तम प्रकृति की होती है। मध्यम प्रकृति की नारी उत्तम प्रकृति की नारी से गुणों में किंचित् ही न्यून होती है, पर दोष उसमें अत्यल्प होते हैं। अधम प्रकृति की नारी अधम पुरुषों की प्रकृति के समान ही होती है।[3]

---

१. रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः। वा० रा० २।२६-४४, अ० १।२१-२६।

२. ना० शा० २४।२-७, (गा० ओ० सी०), काशी सं० ३४।२-८।

३. ना० शा० २४।८-१२ (गा० ओ० सी०)।

मिश्र प्रकृति—स्त्री और पुरुष की तीन श्रेणियाँ शील के आधार पर होती हैं। नृप, अमात्य, सेवक, नृपपत्नी, सेविका आदि उन विभिन्न प्रकृतियों के आधार पर होते हैं। नाट्य में ऐसे भी पात्र होते हैं, जिन पात्रों की प्रकृति उतनी स्पष्ट नहीं होती। वे संकीर्ण पात्रों की कोटि में आते हैं। संकीर्ण पात्रों में अभिनवगुप्त की दृष्टि से कभी अधम प्रकृति के पात्रों की परिगणना होती है और कभी उत्तम-मध्यम प्रकृति के पात्रों की भी। पुरुषों में नपुंसक और नारियों में प्रेष्या अधम ही हैं। इसी प्रकार विट, शकार और चेटी आदि अधम प्रकृति के ही पात्र हैं। पर कभी-कभी उनकी समृद्धिशालिता के कारण उनकी प्रकृति में अस्थायी रूप में उत्तम-मध्यम प्रकृति की भी झलक मिल जाती है।[1]

नायक के प्रधान चार प्रकार—भरत ने नर-नारी की विविध प्रकृतियों का विश्लेषण कर, उनकी तीन सामान्य प्रकृतियों का निर्धारण किया है। परवर्ती आचार्यों ने उन मानवीय गुण-गरिमाओं का उल्लेख भिन्न शैली में किया है। विश्वनाथ, धनंजय, प्रतापरुद्र और सागर-नंदी आदि ने नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। ये उल्लिखित गुण भरत द्वारा उत्तम-मध्यम प्रकृति के पुरुषों के निर्दिष्ट गुण-परंपरा से ही गृहीत हैं। शिंगभूपाल, वाग्भट्ट और धनंजय ने उस संख्या में परिवृद्धि की है।[2] परन्तु विश्वनाथ और विद्यानाथ ने उन सब गुणों का समाहार करके नायक के इन गुणों का उल्लेख किया है :

नायक, त्यागी, यशस्वी, कुलीन, बुद्धिमान, रूपवान, युवा, उत्साही, दक्ष, प्रजानुरागी, तेजस्वी, चतुर और शीलवान हो।

हमारा अभिप्राय इतना ही है कि नायक के सामान्य गुणों के निर्धारण में इन आचार्यों ने प्रकृति की विशेषताओं के अन्तर्गत गुण नामावली से ही प्रेरणा ग्रहण की है, क्योंकि पुरुषों की उत्तम-मध्यम प्रकृतियों के अन्तर्गत भरत ने १८ विशेषताओं का उल्लेख किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र तथा शिंगभूपाल ने भरत की इन तीन प्रकृतियों का उल्लेख भी किया है।

भरत ने प्रधान नायक के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि पात्रों में प्रधान नायक वही होता है जो नाट्य के सब पात्रों के व्यसन और अभ्युदय की तुलना में सर्वाधिक व्यसन और अभ्युदय का भागी होता है। सुग्रीव और विभीषण भी समान रूप से व्यसन और अभ्युदय प्राप्त करते हैं परन्तु इन दोनों पात्रों के व्यसनाभ्युदय राम के व्यसनाभ्युदय की तुलना में उतने उत्कर्षशाली नहीं हैं। अतः प्रधान नायक राम ही हैं, सुग्रीव और विभीषण नहीं।[3]

उपर्युक्त मानवीय प्रकृतियों के अन्तर्गत शीलाश्रित चार प्रकार के नायकों की परिकल्पना भरत ने की है। नायकों के सम्बन्ध में शीलाश्रित यह वर्गीकरण परवर्ती आचार्यों द्वारा भी उसी रूप में प्रतिपादित किया गया है। नायिका-भेद की तरह नायक-भेद में संख्या विस्तार की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। चारों प्रकार के नायकों के स्वरूप-निर्धारण में प्रकृत्यन्तर्गत गुणनामावली

---

१. ना० शा० २४।१३-१४।

२. द० रू० २।१०२, सा० द० ३।३५, ना० द० १।६, प्र० रू० १।११-१२, वागभट्ट : काव्यानुशासन, पृ० ६२।

३. व्यसनी प्राप्य दुखं वा युज्यते ऽभ्युदयेन यः।
तथा पुरुषमाहुस्तं प्रधानं नायकं बुधाः। ना० शा० २४।२१ख-२२क (गा० ओ० सी०)।

से ही इनको परिपुष्ट किया गया है। शीलाश्रित नायकों के चार प्रकार निम्नलिखित हैं :

धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[1]

नायक में धीरता की अनिवार्यता—विविध प्रकार के नायक अपने शील और प्रकृति के आधार पर उदात्त, ललित, प्रशान्त और उद्धत होते हैं। पर वे धीर अवश्य होते हैं। चारों प्रकार के नायकों की सामान्य गरिमा 'धीरता' ही है। भरत ने चार प्रकार के नायकों के लिए उनकी सामाजिक स्थिति तथा स्वभाव आदि के आधार पर निर्धारित किया है कि राजा धीर-ललित, देव धीरोद्धत, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वणिक् धीरप्रशान्त हों। यद्यपि ये चारों भी अपने वर्ग में एक-दूसरे की अपेक्षा उदात्त, ललित, शान्त और उद्धत होते ही हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नृप में उदात्तता होगी ही नहीं या दिव्य नायक में लालित्य नहीं होगा। वर्ग-विशेष के नायक के जीवन की प्रधान सम्पत्ति को दृष्टि में रखकर यह सामान्य निर्देश प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से उल्लेख करते हुए तो नाटक के नायक को 'उदात्त' शब्द से परिभाषित किया है और नियमानुसार नाटक का नायक ऋद्धि और विलास आदि गुणों से युक्त 'राजर्षि' ही होता है। जनक और दशरथ-पुत्र राम तो धीरोदात्त नायक हैं। वस्तुतः सब नायकों के लिए सामान्य गुण-सम्पत्ति तो धीरता में ही निहित है। कोई भी नायक, ललित, उदात्त और प्रशान्त आदि शील-सम्पदाओं में से किसी एक से विभूषित हो सकता है, पर प्रत्येक नायक का धीर होना नितान्त आवश्यक है। यह धीरता ही पात्र को नायक-पद की मर्यादा से विभूषित करती है।[2]

परवर्ती आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त चार प्रकार के नायकों के क्रमशः निम्नलिखित स्वरूप हैं :

(१) **धीरललित**—कलाप्रिय, सुखी, कोमल प्रकृति तथा चिंता-रहित पात्र धीरललित होता है। शारदातनय की दृष्टि से यह विलासी, भोग-रसिक तथा रतिप्रिय होता है, जैसे रत्ना-वली का उदयन नितान्त शृंगारी, कला-प्रिय और धीरललित नायक है।

(२) **धीरशान्त**—नायक की महाप्रणता, गम्भीरता, क्षमाशीलता और लालित्य आदि गौरवशाली गुणगरिमाओं से 'धीरशान्त' अलंकृत होता है। रामचन्द्र के अनुसार धीरशान्त निरभिमानी, कृपालु, विनयी और न्यायपरायण होता है।

(३) **धीरोदात्त**—महाप्राण, अतिगम्भीर, क्षमाशाली, स्थिर, अभिमान के भाव गुप्त रखने वाला, दृढ़व्रती धीरोदात्त नायक होता है। विद्यानाथ की दृष्टि में वह कृपावान् भी होता है।

(४) **धीरोद्धत**—दर्पद्वेष से भरा, मायाछद्मपरायण, अहंकारी, भयंकर, घमंडी, चंचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी पात्र 'धीरोद्धत' नायक होता है। विद्यानाथ की दृष्टि से वह इंद्रजाली भी होता है। अच्युतराय ने उद्धत को नायक का चौथा भेद स्वीकार ही नहीं किया है।[3]

---

१. ना० शा० २४।१६-१८ (गा० ओ० सी०)।

२. नहि जनक प्रभृतीनां रामादीनामपि वा धीरललितत्वम्। यदाह—धीरोदात्तः जयति चरितं राम-नाम्नश्च विष्णोः। अ० भा० भाग २, पृ० ४१४।

३. भा० प्र०, पृ० ६२, ना० द० १।८-६, द० रू० २।४४-४५, सा० द० ३।३७-४०।

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ भरत द्वारा प्रस्तुत तीन प्रकृतियों की परिभाषा के विचार-तत्त्वों से प्रभावित ही नहीं हैं, उन्हीं का आकलन किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ किया गया है। धीरोदात्त, धीरललित और धीरप्रशान्त नायकों पर उत्तम-मध्यम तथा धीरोद्धत पर अधम प्रकृति की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

नायक-भेद का एक और आधार

नायक प्रायः दिव्य, राजा या उच्चवंश के होते हैं, प्राचीन काल में ऐसे सम्भ्रान्त एवं कुलीन परिवारों में प्रायः बहुविवाह की भी प्रथा थी। नाट्य के नाटक वैध पत्नी के अतिरिक्त अन्य नारियों से भी शृंगार भाव रखते थे। उनकी काम-प्रवृत्ति के आधार पर शृंगारी नायकों की चार श्रेणियों का संकेत शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। वे निम्नलिखित हैं :

अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ।

१. **अनुकूल नायक** वह है जो किसी अन्य नायिका के प्रति आसक्त नहीं रहता, उसकी एक ही नायिका होती है। जैसे राम की सीता।

२. **दक्षिण नायक** अपनी ज्येष्ठा नायिका के प्रति सदय रहता है और दूसरी नायिकाओं से अनुराग होने पर भी पूर्वा के प्रति उदासीनता नहीं प्रदर्शित करता।

३. **शठ** नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका का लुक-छिपकर अहित करता रहता है और नवीन नायिका से गुप्त प्रेम-व्यापार चलाता रहता है।

४. **धृष्ठ** नायक अपनी ज्येष्ठा प्रेयसी की जानकारी में अपनी नवीन प्रेयसी के साथ मिलन का मधुर व्यापार करता है और अंगों पर मिलन के चिह्नों को देखकर भी लज्जित नहीं होता।[१]

विश्वनाथ के अनुसार ये चारों भेद उपर्युक्त चारों भेदों में से प्रत्येक के होते हैं। इस प्रकार नवीन आचार्यों की दृष्टि से ये सोलह भेद हो जाते हैं। इन सोलह नायकों में से प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ ये तीन भेद गुणोत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होते हैं और कुल भेद अड़तालीस होते हैं।[२]

भरत का प्रभाव—वस्तुतः आचार्यों द्वारा कल्पित ये चार भेद मौलिक नहीं हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय तथा वैशिक अध्यायों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए इन भेदों के लिए आधार ही नहीं प्रस्तुत किया था अपितु विशिष्ट सन्दर्भ में अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ का प्रयोग भी किया है। इस प्रयोग का विधान इस प्रसंग में है कि प्रेमी-प्रेमिकाओं के साथ अपना प्रेम-भाव (सच्चा प्रेम-भाव, शठता का भाव तथा धृष्ठता आदि का भाव) जिस रूप में प्रदर्शित करते हैं, नायिकाएँ नायकों के लिए उनके आचार-व्यवहार के अनुरूप ही सम्बोधनों का प्रयोग करती हैं। सच्चे प्रेम-निर्भर नायक के लिए निम्नलिखित सम्बोधनों का विधान है :

प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित और नन्दन। पर नायक के अनुचित व्यवहार के कारण क्रोध में नायिका द्वारा अत्यन्त रोषावेशपूर्ण सम्बोधन का विधान है :

---

१. द० रू० २।६-७, सा० द० ३।४१-४५, प्र० रू० ३९, काव्य प्रकरण। भा० प्र०, पृ० ९३।

२. एवं षोडशधाभिन्नाः ज्येष्ठादित्रयसंयुताः।
एतेऽष्ट चत्वारिंशत् स्युः नायकाः कविकल्पिताः॥ भा० प्र०, पृ० ९३, सा० द० ३।४६, ४१

दुःशील, दुराचार, शठ, वाम, विकत्थन, निर्लज्ज, और निष्ठुर।

'अनुकूल' और दक्षिण नायकों के भेद के लिए प्रिय, कान्त, नाथ तथा विनीत में पर्याप्त आधार है। क्योंकि प्रिय विप्रिय कार्य नहीं करता, अनुचित भाषण नहीं करता। अतः 'अनुकूल' के निकट है। नाथ, विनीत, कान्त आदि दक्षिण के निकट है, क्योंकि इनमें ज्येष्ठा प्रेयसी के प्रसादन का बहुत स्पष्ट भाव वर्तमान रहता है। भरत का 'शठ' मधुरभाषी तो होता है पर व्यवहार में वह स्त्री का अहित ही करता है। वह परवर्ती आचार्यों के शठ का आधार है। धृष्ठ में भरत ने वाम, विकत्थन और निर्लज्ज आदि अनेक सम्बोधनों के भावों का स्पष्ट विन्यास है।[1]

इन सम्बोधनों ने निश्चित रूप से परवर्ती नायक-भेदों के लिए आधारभूमि का कार्य किया। परन्तु, संभव है, प्रेरणा का स्रोत वैशिक अध्याय भी हो। वैशिक अध्याय में कामतंत्र को दृष्टि में रखकर स्त्रियों के साथ पुरुषों के विभिन्न व्यवहारों की शास्त्रीय मीमांसा कर पुरुषों के पाँच भेदों की परिकल्पना की गई है—

चतुर—दुःख-क्लेश सहने वाला, प्रणय-कोप के प्रसादन में कुशल होता है। **उत्तम**—मधुर, त्यागी, विरागी तथा नारी के अपमान को सहन नहीं करता। **मध्यम**—नारी के किंचित् रोष को देखकर भी विरक्त हो जाता है, समय पर दान देता है। **अधम**—मित्रों द्वारा निषेध करने पर और नारी द्वारा अपमानित होने पर भी वह उसके प्रेम में आकुल रहता है। **संप्रवृत्त**—भय और क्रोध की चिन्ता न करने वाला, काम-तंत्र में निर्लज्ज होता है।[2]

नायक-भेदों पर सामाजिक चेतना का प्रभाव

इन पाँच भेदों का भी प्रभाव इन आचार्यों की कल्पना-वृद्धि पर अवश्य पड़ा है। संभवतः बाद में कल्पित अन्य तीन भेदों ने, पति, उपपति और वैशिक के लिए भी आधार प्रस्तुत किया हो। पति के रूप में नायक के भेदों का आख्यान तो हुआ ही है। 'उपपति' वह होता है जिसे किसी अन्य की पत्नी का प्रेम भी प्राप्त होता है, और 'वैशिक' वेशविद्या में कुशल, अत्यन्त रसिक, कला-प्रेमी नायक होता है विट की परम्परा का। वस्तुतः ये विस्तृत भेद तो उस युग की सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं। आर्य-जीवन के आदर्श को त्याग विलास-लोलुपता के पंक में फँसी जाति के कदर्थ जीवन की प्रतिछवि इन भेदों में झलकती है। भरत ने इन भेदों के लिए निश्चित आधार प्रस्तुत किया था।[3] परवर्ती आचार्यों ने उनका आकलन कर शास्त्रीय रूप दिया।

अन्य प्रधान पुरुष पात्र

आचार्यों की मान्यता—उपर्युक्त नायक-भेदों के अतिरिक्त नायकों के प्रधान-गौण-भाव को दृष्टि में रखकर भोज, धनंजय, विश्वनाथ और शिंगभूपाल आदि आचार्यों ने भी नायकों की कई विशिष्ट श्रेणियों का निर्धारण किया है। नाट्य के मुख्य फल का अधिकारी तो नायक होता ही है। परन्तु नाट्य में अन्य बहुत से प्रधान पात्र होते हैं, उनमें कुछ तो नायक के सहायक होते हैं

१. वाचेव मधुरोयस्तु कर्मणा नोपपादकः।
योषितः किंचिदप्यर्थं सशठः परिभाष्यते। (आदि) ना० शा० २२।३१४-३१६, ३०१-३०६।

२. ना० शा० २३।५२-६२ (गा० ओ० सी०)।

३. र० सु० १।८३, ८५-८८, तथा उज्ज्वलनीलमणि, पृ० (९-१५) तथा ना० शा० २३। २-८।

और कुछ विरोधी भी। भोज की दृष्टि से उनके चार भेदों की परिकल्पना की जा सकती है—

नायक, उपनायक, अनुनायक और प्रतिनायक।

नायक तो कथा शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहता है। **उपनायक**—नायक के समान ही पूज्य और उत्कृष्ट होता है पर उसे नृप आदि का पद नहीं मिल पाता। **अनुनायक**—नायक से किंचित् न्यून होता है और कथा-शरीर में विशेष उपयोगी होता है। यह अनुनायक दशरूपक के पताका-नायक के तुल्य होता है, जो मुख्य नायक का भक्त हो, उसके सब कार्यों में योग देता है—जैसे रामकथा में सुग्रीव। **प्रतिनायक**—मुख्य नायक की योजनाओं का प्रतिरोधी होता है, उसमें भी नायक के तुल्य उत्साह, प्रताप और अभिमान के भाव होते हैं जैसे रामकथा का रावण।

वस्तुतः अनुनायक और प्रतिनायक की संख्या निर्धारित नहीं रहती है। रामकथा में सुग्रीव और विभीषण ये दो अनुनायक हैं पर (महावीरचरित में) परशुराम और रावण दो प्रतिनायक भी। दशरूपक तथा नाट्यदर्पण में पताका-नायक, गौण नायक और प्रतिकूल नायकों का उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप से किया गया है।[1]

भरत की मान्यता

परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नायक, उपनायक और अनुनायक आदि भेदों की परिकल्पना का आधार भरत द्वारा प्रतिपादित बाह्य पुरुषों का विस्तृत वर्गीकरण है। पात्रों के स्वरूप-निर्धारण एवं वर्गीकरण के प्रसंग में आठ प्रकार के प्रधान पात्रों का उल्लेख तथा लक्षण प्रस्तुत किया है। (युव) राजा, सेनापति, पुरोहित, मंत्री, सचिव, प्राङ्विवाक् तथा कुमाराधिकृत। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सहायक पात्र प्रधान नायक के होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में पुरोहित, मंत्री, सेनापति पात्र के रूप में हैं और मृच्छकटिक में प्राङ्विवाक।

(युव) राजा—इनमें सर्वाधिक गुण-संपन्न होता है, वह बलवान्, बुद्धि-संपन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, चतुर, प्रगल्भ, धृतिशाली, दूरदर्शी, महाउत्साही, कृतज्ञ, प्रियभाषी, शूर, अप्रमत्त, कार्य-कुशल, अनुरागवान्, अव्यसनी, धर्मज्ञ तथा नीतिज्ञ होता है।[2] अभिनवगुप्त ने मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त नृप और राजा को युवराज का वाचक माना है। यह युवराज भोज के उपनायक के समान ही है।[3] **पुरोहित और मंत्री**—कुलीन, बुद्धि-संपन्न, नाना शास्त्रों के विद्वान्, स्नेहशील, अप्रमत्त, लोभरहित, विनीत, पवित्र और धार्मिक होते हैं। **सचिव**—बुद्धिमान्, नीति-संपन्न, आलस्य-रहित, पर-दोष-दर्शन-चतुर, अर्थशास्त्र-कुशल, कुलीन और देशकाल-ज्ञाता होता है। **प्राङ्विवाक**—व्यवहार और अर्थतत्व का ज्ञाता, बहुश्रुत, कार्याकार्य विवेकी, धार्मिक, धीर, क्षमाशील, क्रोधरहित और समदर्शी होता है। **कुमाराधिकृत**—स्नेहशील, क्षमाशील, विनीत, निपुण, तटस्थ, नयज्ञ, ऊहापोह-विलक्षण और सर्व शास्त्रों में सम्पन्न होते हैं।[4] **सेनापति**—शीलवान्,

१. तत्र कथाशरीरव्यापी यथोक्तगुणयुक्तो नायकः। नायकाभ्यर्हणीयः सम उत्कृष्टो वा अनवाप्तद उपनायकः। नायकात् किंचिदूनः कथाशरीरे विशेषोयोगवाननुनायकः। नायकप्रतिकूलवृत्तिः तदु-च्छेदावहप्रतापाभिमानार्थ साहसादिगुणोत्कर्षी धीरोद्धतप्रायः प्रतिनायकः। तथा—द० रू० २।८-९, ना० द० ४।१३, सा० द० ३।४७ भोज (भरतकोष, पृ० ३२७), र० सु० १।६०।

२. ना० शा० २४।७६-८०क (गा० ओ० सी०)।

३. युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्तः (अ० भा० भाग ३, पृ० २५६)।

४. ना० शा० २४।८०ख, ८७ (गा० ओ० सी०)।

सत्य-संपन्न, प्रियभाषी, आलस्यहीन, देशकाल का ज्ञाता, अनुरक्त और कुलीन होता है।[1]

सहायक पात्र—ये पात्र अपने व्यक्तित्व और संस्कार के कारण प्रधान पात्रों की श्रेणी में होते हैं तथा पुरुषार्थ-साधन में प्रवृत्त प्रधान नायक को भिन्न-भिन्न रूप में सहयोग देते हैं। परन्तु राजा अथवा नायक के सहायक अन्य पुरुष-पात्र भी होते हैं। उनमें विदूषक, विट और शकार आदि का बड़ा महत्त्व है। भारतीय नाटकों में विदूषक का प्रयोग प्रायः सर्वत्र किया गया है। उसके माध्यम से मनोविनोद तो होता ही है पर श्रृंगार-प्रधान नाटकों में प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन-व्यापार में वह बड़ा सहायक भी सिद्ध होता है। भरत ने ऐसे मध्यम और अधम श्रेणी के कुछ महत्त्वपूर्ण पात्रों का उल्लेख किया है। धीरललित आदि विभिन्न नायकों के संदर्भ में भिन्न प्रकार के विदूषकों का विधान किया है। भरत की दृष्टि से धीरोद्धत दिव्य नायक के लिए लिंगी (ऋषि), धीरललित राजा के लिए राजजीवी, धीरोदात्त सेनापति के लिए वीर, द्विज और धीरप्रशान्त ब्राह्मण के लिए शिष्य।[2] ये विदूषक वियोग-काल में नायक का मनोविनोद करते हैं तथा तरह-तरह की सुरुचिपूर्ण कथाओं के सुनाने में बड़े दक्ष होते हैं। विदूषक के अतिरिक्त शकार, विट, चेट आदि पात्र भी नाट्य में प्रयोज्य होते हैं। इनकी प्रकृति प्रायः अधम होती है परन्तु सौभाग्य और संस्कारवश कभी-कभी इनमें भी उत्तम-मध्यम भावों का प्रसार हो जाता है।

विदूषक—वामन, दन्तुर, कुब्ज, विकृतानन, खल्वाट, पिंगलाक्ष होता है और जाति से द्विज। चार प्रकार के नायकों के विदूषक भी भिन्न रूप-रंग और आकृति के होते हैं। **विट**—रूपवान्, उज्ज्वलवेश, मेधावी, वेश्योपचार कुशल, मधुर, दक्षिण, कवि और चतुर होता है।[3]

शकार—उज्ज्वल वस्त्र-आभरण सम्पन्न, अकारण क्रुद्ध और प्रसन्न होने वाला, मगध भाषा-भाषी, अनेक विकारों से युक्त और अधम प्रकृति का होता है।[4] **चेट**—कलाप्रिय, वाचाल, विरूप, गंधसेवी, मान्य-अमान्य।

नाट्यशास्त्र एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों के निरूपण से दो बातें हमारे समक्ष बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। ये परवर्ती आचार्य अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए भेदों का अधिक विस्तार करते थे, इन भेदों में भी चिन्तन की दृष्टि से किसी मौलिक कल्पना के लिए अवकाश नहीं मालूम पड़ता है। यह तो हमने विस्तार से प्रतिपादित किया ही है कि इन भेदों का भी आधार नाट्यशास्त्र के निरूपण में स्वयं वर्तमान है। भेद के उन बीजों को ही आचार्यों ने परिपल्लवित कर शास्त्रीय रूप दिया।

नायकों के अलंकार

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रधान पुरुष पात्रों की सात्विक विभूतियाँ भी होती हैं, जिनसे उनका व्यक्तित्व निरन्तर प्रतिभाषित होता रहता है, जैसे सूर्य के साथ उसकी किरणों का आलोक। वे निम्नलिखित है[5]—

१. २४।६६-६७ (का० मा०)।
२. ना० शा० २४।१९-२०क, (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० २४।१०१-१०३ (का० मा०)।
४. ना० शा० २४।१०२, १०४ (का० मा०)।
५. ना० शा० २२।३३-४१।

(१) **शोभा** में दक्षता, शूरता, उत्साह, नीच कार्यों के प्रति घृणा और उत्तम गुणों के प्रति स्पर्धा की प्रकृति रहती है। (२) **विलास** में धीर संचारिणी दृष्टि, दृढ़ आचरण और स्मितपूर्वक आलाप की प्रकृति रहती है। (३) **माधुर्य** में अभ्यास के बल पर विपत्तियों की झंझा में पात्र की इन्द्रियाँ शान्त और सुव्यवस्थित रहती हैं। (४) **स्थैर्य** में धर्म, अर्थ, काम के साधन में प्रवृत्त होने पर व्यसन के होने पर भी दृढ़ता का भाव रहता है। (५) **गांभीर्य** में गम्भीरता के प्रभाव से हर्ष, क्रोध, भय आदि की स्थिति में आकृति पर उसका चिह्न नहीं रहता है। (६) **ललित** में हृदय के आवेग से उत्पन्न, विकार-रहित स्वभाव से उत्पन्न शृंगार की चेष्टा की प्रधानता रहती है। (७) **औदार्य** में दान, दूसरे का त्राण, प्रिय भाषण की प्रवृत्ति रहती है। (८) **तेज** में शत्रु के द्वारा अपमान और तिरस्कार को प्राणों की बलि देकर भी न सहने की क्षमता होती है। वस्तुतः पुरुष-पात्रों की यह सात्विक विभूति ही नायकों के चरित्र-निर्माण का पृष्ठाधार है।

शूरता, दक्षता, माधुर्य, उदारता, गम्भीरता और तेज के द्वारा ही चरित्र में वह चमत्कार और रस आता है कि वह एक ओर आनन्ददायक होता है तो दूसरी ओर अनुकरणीय भी हो जाता है। भरत ने उन्हीं चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न पात्रों का विभाजन और वर्गीकरण किया है जो अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक नाट्योपयुक्त है।

नारी पात्र

नायिका नाट्य की प्राण-वाहिनी धारा है, जिसमें जीवन का मर्मस्पर्शी मधुर रस लहराता रहता है। इस जीवन-रस के पान के लिए ही नायक प्राण तक विसर्जन करने को प्रस्तुत रहता है। कवि अपनी काव्य-कला के चरम सौन्दर्य की कोमल सुकुमार सृष्टि करता है और प्रयोक्ता अपनी नाट्य-कला के परम उत्कर्ष को रूपायित करता है। नाट्याचार्य भरत मुनि ने नारी को सुख का मूल, काम-भाव का आलंबन और काम को सब भावों का स्रोत मानकर प्रस्तुत विषय का विचार जितने विस्तार से किया है उतनी ही सूक्ष्मता से भी।[1] वस्तुतः भरत से लेकर विश्वनाथ तक के प्राचीन आचार्यों की विवेचना का यह अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। नारी सुख की मूल, त्रिभुवन का आधार और त्रैलोक्यरूपा के रूप में शैवागमों में प्रशंसित रही है। इस संदर्भ में भरत द्वारा नारी के महत्त्व की स्वीकृति नितान्त उचित है।[2]

नायिका-भेद का आधार—आचार्यों ने नायिका-भेद के विवेचन के लिए कई प्रकार के आधारों को स्वीकार किया है और उन आधार-भूमियों पर विविध भेदों का विस्तार किया है। नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचरण की पवित्रता या अपवित्रता, काम-दशा की विभिन्न अवस्था, वय की विशेषता, अंग-रचना और विभिन्न प्रकृतियाँ आधार-भूमि के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। भरत ने इनमें कुछ आधारों को स्वीकार कर नायिका-भेद का विवेचन किया है। फलतः उसमें अनावश्यक विस्तार नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि नाट्योपयोगी नायिका की ओर थी, परवर्ती

---

१. सर्वस्यैव हिलोकस्य सुखदुखनिवर्हणः।
भूयिष्ठं दृश्यते कामः स सुखं व्यसनेष्वपि। ना० शा० २२।९७ (गा० ओ० सी०)।

२. नारी त्रैलोक्य जननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी। शक्ति सयम तंत्र, नारायण खंड १३·४४

आचार्यों की तरह रसोपयोगी नायिकाओं की ओर नहीं।

भरत के नायिका-भेद की विचार-भूमि—भरत ने नायिका-भेद के लिए चार आधार स्वीकार किए हैं। उनमें स्थूल और सूक्ष्म विचार-तत्त्वों का समन्वय है। नारी के अंग-सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके शील-सौजन्य, आचरण की पवित्रता, जीवन की प्रकृति तथा अवस्था को विशेष महत्त्व दिया गया है। नायिका-भेद के निम्नलिखित कुछ आधार हैं—

(१) प्रकृति-भेद—उत्तमा, मध्यमा आदि (तीन)।

(२) आचरण की शुद्धता अथवा अशुद्धता--बाह्या, आभ्यंतरा आदि (तीन)।

(३) सामाजिक प्रतिष्ठा—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री, गणिका (चार)।

(४) कामदशा की अवस्था—वासकसज्जा आदि (आठ)।

(५) शील—ललिता, उदात्ता, निभृता आदि (चार)।

(६) अंग-रचना और अन्तःप्रवृत्ति—दिव्य सत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा आदि (बाईस)।

भरत के आधारों पर ध्यान देने से यह तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने विचार का आधार मुख्यतः नारी की काम-प्रवृत्ति, शालीनता, सौजन्य, सामाजिक प्रतिष्ठा और कठोरता आदि को बनाया था। अतः उनका विचार व्यापक है। उसमें विविध रूप-रंग और स्वभाव की नारियों का समावेश होता है।

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार—नायक-भेदों की चर्चा के उपरान्त भरत ने नाट्योपयोगी नायिकाओं का बड़ा ही उत्तम विवेचन किया है। रूपक के विभिन्न भेदों में जिस प्रकार नायक विभिन्न वर्ग और सामाजिक स्तर के होते हैं, उसी प्रकार नाटक, प्रकरण, भाण और प्रहसन आदि में विभिन्न वर्ग और सामाजिक स्तर की नायिकाएँ होती हैं। अतः उनको दृष्टि में रखकर यह भेद-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नायिकाओं के निम्नलिखित चार भेद हैं—

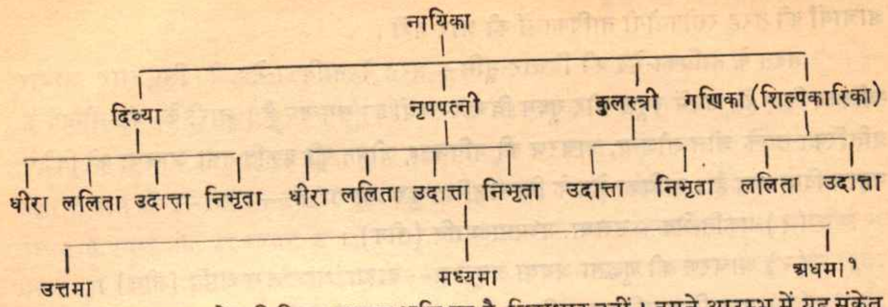
दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका।

दिव्या, विक्रमोर्वशी की उर्वशी है, नृपपत्नी वासवदत्ता है, कुलस्त्री मालती माधव की मालती है और गणिका है मृच्छकटिक की वसंतसेना।

इन भेदों के नामकरण से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का बोध हो जाता है। पुनश्च इन चारों नायिकाओं की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है इसलिए इन चारों के भी ललिता, उदात्ता, धीरा और निभृता आदि चार भेद हैं। दिव्या और नृपपत्नी तो उपर्युक्त चारों गुणों से सुशोभित होती हैं। परन्तु कुलांगना तो उदात्त और निभृत ही होती है। गणिका और शिल्पकारिका तो ललित और उदात्त होती है। गुणों के क्रम से दिव्य और नृप-पत्नी समान है। उनमें चारों गुण वर्तमान हैं और शेष में केवल दो-दो ही। भरत ने पाँचवें भेद में शिल्पकारिका का भी उल्लेख किया है और वह भी गणिका के ही तुल्य होती है। शिल्पकारिका का अन्यत्र नारियों के स्वभाव आदि के वर्णन के प्रसंग में विवरण मिलता है। सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर भरत के अनुसार नायिका-भेद का यह रेखा-चित्र अंकित किया जा सकता है[1]—

---

१. ना० शा० २४।२४-२६क (गा० ओ० सी०)।



भरत का यह भेद विशिष्ट आधार-भूमि पर है, निराधार नहीं। हमने आरम्भ में यह संकेत किया है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और स्तर के आधार पर उन्होंने जो भेद प्रस्तुत किया, परवर्ती नाट्यकार उससे प्रभावित हुए। कालिदास के नाटकों की नायिकाएँ दिव्या और नृपपत्नी हैं, शूद्रक की गणिका है तथा भवभूति की कुलांगना। यह भेद नाट्य-प्रयोग को दृष्टि में रखकर भरत ने प्रस्तुत किया परन्तु इस व्यापक विचार को दृष्टि में न रखने के कारण ही एस० एन० शास्त्री महोदय ने भरत के भेदों को ऐच्छिक और सिद्धान्तहीन कहा है।[2] वस्तुतः परवर्ती आचार्यों के नायिका-भेद के लिए तो भरत ने ही आधार प्रस्तुत किया तथा दोनों की दृष्टि में भी तो बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर था। भरत ने नाट्य को प्रश्रय देकर विभाजन किया और उन आचार्यों ने रस को।

आचरण की शुद्धता या अशुद्धता का आधार

भरत ने नाट्य-धर्म के संदर्भ में दो प्रकार के कामोपभोग का उल्लेख किया है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यंतर उपभोग की चर्चा नाटक में होती है। बाह्य कामोपभोग वेश्यागत होता है। अतः उसका प्रयोग प्रकरण में होता है। स्त्रियों के नाना प्रकार के सत्व से उत्पन्न तीन प्रकार की आचरण-प्रकृति दिखाई देती है तथा उसीके अनुसार उनका नामकरण भी भरत ने किया है : **बाह्या, आभ्यंतरा** और **बाह्याभ्यंतरा**। कुलीन अंगना आभ्यंतरा होती है, बाह्या वेश्या होती है और इन दोनों की मिश्र प्रकृति से निर्मित बाह्याभ्यंतरा यद्यपि वेश्यांगना ही होती है पर उसका आचरण नितान्त पवित्र होता है। इन तीन प्रकार की नारियों में से वेश्या का प्रवेश अन्तःपुर में नहीं होता। अन्तःपुर में कुलांगना या दिव्या का ही प्रवेश संभव है। पुरुरवा के अन्तःपुर में दिव्या उर्वशी का प्रवेश विहित है।[3] यह काम-सगुत्पत्ति रूप-सौन्दर्य के श्रवण, दर्शन तथा अंग की लीलापूर्ण चेष्टाओं से होती है। सीता के रूप-श्रवण से रावण में और शकुन्तला के रूप-दर्शन से दुष्यन्त में काम-भाव उत्पन्न हुआ।[4]

१. भरत की दृष्टि से नायिका-भेद की संख्या मूल रूप से चार है और ललिता, धीरा आदि भेद से उनकी संख्या बारह हो जाती है और ये प्रत्येक उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन होने पर छत्तीस हो जाती हैं।

२. The division seems to be primary and purely arbitrary inasmuch as it does not admit of any basic principle of division adopted by latter Canonists. —*Laws of Sanskrit Dramas*, p. 211.

३. ना० शा० २२।१४६-१५४ (गा० ओ० सी०)।

४. इह कामसमुत्पत्तिर्नाना भावसमुद्भवा।
स्त्रीणां वा पुरुषाणां उत्तमाधममध्यमा।

अन्तःपुर में नाट्योपयोगी अन्य नारी पात्र

राजोपचार में प्रयुक्त नारियों का विस्तृत विवरण भरत ने इस प्रसंग में प्रस्तुत किया है। नायिका के अतिरिक्त, राजाओं की अन्य पत्नियाँ भी होती हैं, उनकी मर्यादा भिन्न-भिन्न होती है। इसीलिए उनके नाम भी भिन्न हैं। महादेवी, स्वामिनी और स्थापिता आदि भिन्न पद और मर्यादा की प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त मध्य और निम्नश्रेणी की अनेक महिलाओं की नामावली भरत ने प्रस्तुत की है, जो अन्तःपुर के भोग-विलासमय, कलापूर्ण जीवन में लालित्य और सौन्दर्य के वातावरण का सृजन करती हैं। भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा और आयुक्तिका[1] आदि इसी प्रकार की नारी-पात्र हैं। इन मध्यम तथा अधम श्रेणी की नारियों का प्रयोग परवर्ती नाटककारों ने अपने नाटकों में किया है। प्रतिहारी, वृद्धाधात्री और तापसी आदि का प्रयोग भास के स्वप्नवासवदत्तम् में है। मालविकाग्निमित्र (द्वितीय अंक) में परिव्राजिका ही अभिनय की उत्कृष्टता की निर्णायिका है।[2] उपर्युक्त अठारह आभ्यंतर नारी-पात्रों में गणिका की परिगणना नहीं की गई है, क्योंकि वह सामान्यतया सुशील नहीं होती। अतएव उसका प्रवेश अन्तःपुर में निषिद्ध है।

कामदशा पर आधारित भेद—सामान्य अभिनय के प्रसंग में विविध कामदशाओं का वर्णन करते हुए भरत ने अवस्था-भेद से आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। नायक या पुरुष प्रेमी के प्रेम, विरह-भाव, उपेक्षा, अनादर और त्याग आदि के आधार पर इन आठ भेदों की परिकल्पना भरत ने की है। मेरी दृष्टि से ये आठों ही भेद प्रतिक्रियात्मक हैं। परवर्ती आचार्यों में इन्हें बड़ी लोकप्रियता भी प्राप्त हुई। भरत ने तो विशुद्ध नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया, विशेषकर श्रृंगार-प्रधान रूपकों के लिए। परन्तु बाद के आचार्यों ने इन भेदों को स्वीकार कर उपबृंहण तो किया पर कामजर्जर सामन्ती जीवन की कामक्षुधा की तृप्ति के लिए ही। भरत द्वारा प्रतिपादित कामावस्था पर आधारित आठ प्रकार की नायिकाएँ—

(१) **वासकसज्जा**—रति संभोग की लालसा से प्रेरित आनन्दपूर्वक अपना मंडन करती है। (२) **विरहोत्कंठिता**—अनागत प्रिय के दुःख से पीड़ित होती है। (३) **स्वाधीनभर्तृका**—जिसके सौन्दर्य और रति-रस पर मुग्ध हो पति निरंतर उसी का निकटवर्ती बना रहता है, वह स्वाधीन भर्तृका होती है। (४) **कलहांतरिता**—ईर्ष्या या कलह के कारण विदेश गया पति लौटता नहीं, अमर्श के आवेश में पड़ी स्त्री कलहांतरिता होती है। (५) **खंडिता**—अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण जिसके प्रिय के नहीं आने से वह दुःखी, पीड़ित, खंडिता होती है। (६) **विप्रलब्धा**—जिसका प्रिय दूती भेजकर, समय और स्थान निर्धारित कर भी मिलन के लिए नहीं आ पाता, वह विप्रलब्धा होती है। (७) **प्रोषितभर्तृका**—अन्य आवश्यक

श्रवणाद् दर्शनाद्रूपादंगलीलाविचेष्टितैः।
मधुरैश्च समालापः कामः समुपजायते। ना० शा० २२।१५७-१५८ (गा० ओ० सी०)।

१. ना० शा० २४।३१-६४ (गा० ओ० सी०)।

२. स्वप्नवासवदत्तम् : भास, अंक ६; मालविकाग्निमित्र, अंक १।

कार्यों में व्यस्त रहने के कारण जिसका पति विदेश में रहता है और उसकी पत्नी विरह में उदास जीवन बिताती है।[१] (८) **अभिसारिका**—प्रबल काम-भाव के कारण लज्जा त्यागकर जो स्त्री स्वयं प्रिय के साथ अभिसार करती है। स्वाधीनभर्तृका में प्रिय प्रिया के पास मँडराता रहता है, पर यहाँ तो अभिसारिका स्वयं पति का अनुगमन करती है। आचार्यों ने कुलजा, परांगना, वेश्या और प्रेष्याभिसारिका आदि भेदों का उल्लेख किया है।[२] वेशभूषा की दृष्टि से उनके दो भेद होते हैं—शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका। शुक्लाभिसारिका चाँदनी रात में स्वच्छ वसन धारण कर प्रियतम के निकट अभिसार करने जाती है और कृष्णाभिसारिका ज्योत्स्ना-विहीन रात्रि में नील वस्त्रों में। ये आभरण धारण नहीं करतीं।

नायकों के तीन अन्य भेद—भरत ने कामदशा की विभिन्न अवस्थाओं के भेद से आठ प्रकार की नायिकाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए तीन प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या। निःसन्देह ये तीनों ही दिव्या और नृपपत्नी इन दो उपर्युक्त भेदों से भिन्न हैं, उपर्युक्त आठ प्रकार की कामदशाओं के प्रदर्शन में इन्हीं नायिकाओं का प्रयोग करना चाहिये, यह भरत का स्पष्ट मत है।[३] हमारे विचार से भरत के यही तीन भेद परवर्ती आचार्यों के लिए ग्राह्य हुए। इन्हीं तीन नायिकाओं के आधार पर स्वीया, अन्या और साधारणी इन मूल भेदों के आधार पर तीन सौ चौरासी नायिका भेदों का उपबृंहण किया।

मनोदशा का आधार—भरत ने नर-नारी के प्रेमोपचार के आधार पर नायिका-भेद का एक और भी विवरण दिया है। यह भेद मुख्यतः नारी की मनोदशा पर आधारित है। मनुष्य की मनोदशा तो अपरिसीम है, पर उनमें से कुछ का निर्धारण भरत ने किया है और विस्तार के साथ उसका स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। वे निम्नलिखित हैं—

मदनातुरा, अनुरक्ता, विरक्ता, चतुरा, लुब्धा, मानिनी और पंडिता आदि।

मदनातुरा एकान्त में लीला करती है, अनुरक्ता प्रिय की प्रशंसा सुनती है, उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होती है तथा प्रिय के लिए क्लेश सहती है। विरक्ता अति उपकार करने पर भी तुष्ट नहीं होती, अकारण क्रुद्ध होती है। चतुरा चतुरता से, लुब्धा अर्थ प्रदान से, पंडिता कला ज्ञान से, मानिनी मनाने से वश-वर्तिनी होती है। भरत ने केवल आरंभ की तीन की ही परिभाषा दी है।[४]

अन्तःप्रकृति का आधार—सब नारियों के लिए सामान्य रूप से तीन प्रकार के भेदों की परिकल्पना भरत ने की है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनों भेदों का संकेत भरत ने सामान्य अभिनय, वैशिक अध्याय और नायक-नायिका की प्रकृति के विवेचन के प्रसंग में किया

---

१. ना० शा० २२।२११-१६, र० सु० १।१२५-१३२-३४, ना० द० ४।२३-२६, ना० ल० को० २५२५-२५५१, द० रू० २।२४-२७, सा० द० ३।८७-९६, भा० प्र० ९८।३-६, २२ पंक्ति।

२. ना० द० ४।२६, ना० ल० को० २५७२-:८, र० सु० १।१३४-१४७, भा० प्र०, १००।१, सा० द० ३।८९-९२, द० रू० २।१७, प्र० रू० १।५४, ना० शा० २२।२२०, अ० भा० भाग ३, पृ० २०६, उज्ज्वल नीलमणि पृ० १३८।

३. वेश्यायाः कुलजायाश्च प्रेष्यायाश्च प्रयोक्तृभिः।
एभिर्भाव विशेषैस्तु कर्तव्यमभिसारणम् ॥ ना० शा० २२।२२६ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २२।१६६-१४४ (गा० ओ० सी०)।

है। वस्तुतः यह विवेचन एक ओर तो सामान्य नारी का है और दूसरी ओर नायिका का भी।

अंग-रचना और मनः-सौष्ठव पर विश्वप्रकृति का प्रभाव

भरत ने नारी की अंग-रचना, मनः-सौष्ठव और उसके आकर्षक रूप-विन्यास एवं विलक्षण स्वभाव का विवेचन बहुत विस्तार से किया है। उनकी स्वतंत्र स्थापना है कि नारी-प्रकृति नितान्त स्वतंत्र नहीं है। उस पर इस विराट् प्रकृति के, अन्य प्राणियों के रूप-रंग और स्वभाव आदि का भी प्रभाव पड़ता है, और उनके प्रभाव-योग से नारी को पूर्णता प्राप्त होती है। इसी-लिए कोई मृग-सी सुकुमार और चंचल बड़े नेत्रों वाली होती है, कोई गौ की तरह पितृ देवार्चन-रता, सत्यता और पवित्रता की धारा में धुली हुई तथा निरंतर क्लेश सहने वाली, कोई गन्धर्व-कन्या-सी गीत, वाद्य और नृत्य में रत, स्निग्ध नयन, स्निग्ध केश और स्निग्ध त्वचा वाली होती है, कोई देवांगना-सी नीरोग, दीप्ति-शोभित, अल्पाहारप्रिया, गंध पुष्परता और परम रमणीय होती है, कोई मानवी धर्म, कार्य और अर्थ में निरत, चतुर क्षमाशील, संतुलित अंगवाली, कृतज्ञ, अहंकाररहित, मित्रप्रिया, सुशीला होती है और कोई बानर की-सी अल्पतनु, प्रसन्न, पिंगलरोम वाली, छलप्रिया, प्रगल्भ, चपल, तीक्ष्ण, बाग-बगीचों की सैर करने वाली, किंचित् उपकार को भी बहुत मानने वाली और हठपूर्वक रति करने वाली होती है।[1]

भरत की यह स्थापना विलक्षण है और विचारोत्तेजक भी। उन्होंने मनुष्य, पशु-पक्षी देवांगनाओं और गन्धर्व कन्याओं की शरीर-रचना और मनः-प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन कर मानव योनि में नारियों के विभिन्न रूप-रंग, आकार और स्वभाव के आधार पर सामान्य रूप से बाईस प्रकार की नारियों का उल्लेख किया है। वे सत्व या प्रकृति-भेद से नानाशील होती हैं। उनके सत्व या प्रकृति के अनुसार ही उनके उपसेवन का विधान है। स्त्रियों के स्वभावानुसार अत्यल्प व्यवहार होने पर भी वे अधिक सुखदायक होती हैं और स्वभाव का ध्यान न रखकर बहुत-सा भी किया गया उपचार दुःखदायक ही होता है।[2] नारी-प्रकृति और अंग-रचना के सम्बन्ध में भरत की यह विप्रतिपत्ति नितान्त मौलिक है। मनोवैज्ञानिकों और प्राणि-शास्त्रियों के लिए अनुसंधान का विषय है कि नारी के शरीर और मन की सूक्ष्म ग्रन्थियों में मानवीय, दैवी और पशु प्रकृतियों का क्या योग है?

सत्वभेद, आचार-व्यवहार भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा-भेद आदि के आधार पर नारियों और नायिकाओं का विवेचन करते हुए तीन भेदों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। नारी सामान्य रूप से उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होती है—

---

१. स्वल्पोदरी भग्ननासा तनुजंघा वनप्रिया।
चलविस्तीर्ण नयना चपला शीघ्रगामिनी
दिवात्रासपरा नित्यंगीतवाद्यरतिप्रिया
निवासस्थिरचित्ता च मृगसत्वा प्रकीर्तिता।
पितृदेवार्चनरता सत्यशौचगुरुप्रिया
स्थिरा परिक्लेशसहा गवां सत्वं समाश्रिता। ना० शा० २२।१०२-१४३।

२. ना० शा० २२।१४५-१४६ (गा० ओ० सी०)।
उपचारो यथा सत्वं स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षदः। महानप्यन्यथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत्॥

उत्तमा नारी—प्रिय के समक्ष अप्रिय प्रसंग होने पर भी अप्रियवचन नहीं बोलती, वह बहुत देर तक रोषयुक्त नहीं रहती, कलाकुशल होती है। शील, शोभा और कुल की उच्चता के कारण पुरुषों की कामना का लक्ष्य होती है। कामतंत्र में कुशल, उदार, रूपवती, ईर्ष्यारहित हो बातचीत करनेवाली, कार्यकाल की विशेषज्ञ वह परम रमणीय नारी होती है।[1]

मध्यमा नारी—पुरुषों की अभिलषित तथा उनकी कामना करने वाली, कामोपचार में कुशल प्रतिपक्षियों से ईर्ष्या करने वाली, क्षीण-क्रोध वाली, अभिमानिनी और क्षणभर में प्रसन्न होने वाली मध्यम श्रेणी की नारी होती है।[2]

अधमा नारी—बिना अवसर के क्रोध करने वाली, दुष्टशीला, अतिमानिनी, चंचल, कठोर और देर तक क्रोध करने वाली अधम श्रेणी की नारी होती है।[3]

नायिकाओं के तीन भेद उत्तमता, मध्यमता और अधमता की दृष्टि से भी होते हैं। यह हम नायक-भेद के प्रसंग में आरम्भ में ही प्रस्तुत कर चुके हैं। भरत ने उस प्रसंग में उत्तम नारी के गुणों का तो उल्लेख किया है पर मध्यम और अधम के नहीं, वह इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।[4]

भरत का नायिका-भेद-विवेचन कई विचार-भूमियों पर आधारित है, यह पिछले पृष्ठों में प्रतिपालित किया गया है। परन्तु नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से दिव्या, नृप-पत्नी, कुलजा और गणिका ये चार ही भेद प्रशस्त हैं। उन्हीं के ललित और धीर आदि भेदों का आख्यान भी भरत ने किया है। शेष भेदों का संबंध नारी के अंगसंगठन, शरीर-प्रकृति, मनोवृत्ति तथा स्वभाव की उत्तमता, मध्यमता तथा कामदशा आदि पर आधारित है। इन भेदों का विवेचन नाट्यशास्त्र और प्रयोग दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती नाटककारों और आचार्यों ने अपने नाटकों में नायिका के रूपरंग, स्वभाव, शील और आचरण की परिकल्पना भरत के अनुसार ही की।

भरत-निरूपित नायिका-भेद पर उनसे पूर्व किसी प्रचलित परम्परा का प्रभाव था, यह नितान्त स्पष्ट है, क्योंकि प्रस्तुत विषय के प्रतिपादन के प्रसंग में भरत ने कामतंत्र का उल्लेख कई बार किया है।[5]

परवर्ती आचार्यों का नायिका-भेद

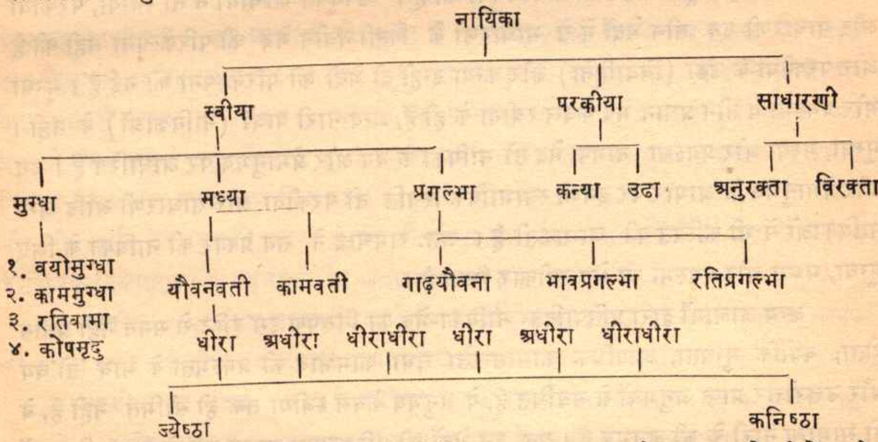
नायिका-भेद का विचार धनंजय, शारदातनय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शिंगभूपाल और विश्वनाथ आदि भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को छोड़ शेष सब आचार्यों की एतत्संबंधी विचार-प्रणाली सामान्य रूप से एक-सी है। विस्तार में जाने पर किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। दशरूपककार ने 'नववयोमुग्धा' और 'काममुग्धा' आदि भेदों की परिकल्पना की है तो साहित्यदर्पणकार ने 'प्रथमावतीर्ण मदन विकारा' और 'प्रथमावतीर्ण यौवन' आदि नवीन भेदों का आख्यान किया है। परन्तु स्वीया, अन्या और साधारणी इन तीन प्रधान

१. ना० शा० २३।३६-३८ (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० २३।४०-४१ (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० २३।४१ (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० २४।८-१२।
५. अभ्यन्तरगतं सम्यक् कामतंत्रं समुत्थितम्। ना० शा० २२।२०२ख।

भेदों के संबंध में आचार्यों में ऐकमत्य है। नवीन आचार्यों की दृष्टि में नायिका-भेद की कुछ नयी विचारभूमियाँ ये हैं—

(१) पति के प्रेमानुसार — ज्येष्ठा, कनिष्ठा।
(२) वय के अनुसार — मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।
(३) मान के अनुसार — धीरा, अधीरा, धीराधीरा।
(४) मनोदशा के अनुसार — अन्यसुरति दुःखिता, गर्विता।
(५) अवस्था के अनुसार — प्रोषितपतिका आदि।
(६) प्रकृति या गुण के अनुसार — उत्तमा, मध्यमा और अधमा आदि।
(७) आचरण के अनुसार — स्वीया, अन्या आदि।

नायिका-भेद का आधार—भेदों के अन्य आधारों की भी परिकल्पना की जा सकती है, परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत कुछ सामान्य आधारों का निर्धारण किया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि इन सब भेदों के मूल में परवर्ती कामशास्त्र का प्रभाव भी है। स्वयं भरत ने भी नायक-नायिका-भेद के विवेचन के प्रसंग में कामतंत्र का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] भरत और इन परवर्ती आचार्यों की आधार-भूमियों पर विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मूलतः उनके प्रेरणा-स्रोत तो भरत ही थे। इन आचार्यों ने एक महत्तर कार्य अवश्य किया है कि भरत के नाट्यशास्त्र में कुछ भेद किंचित् अस्पष्ट-से थे और यत्र-तत्र बिखरे थे उनका संकलन और स्तरीकरण करके शास्त्रीय एवं व्यवस्थित रूप दिया। यह कार्य दशरूपककार ने ही प्रारंभ किया और परवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण करते हुए यत्र-तत्र परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया। परवर्ती आचार्यों द्वारा सुविचारित नायिका-भेद की अधोलिखित रूप-रेखा अंकित की जा सकती है[2] :



आचार्य धनंजय उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के नौ भेद और मानते हैं। विश्वनाथ ने मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा के १६ भेदों की कल्पना की है। विश्वनाथ के अनुसार मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा के निम्नलिखित भेद हैं :

---

१. ना० शा० २२।६५ (गा० ओ० सी०)।

२. द० रू० २।१५-२७, सा० द० ३।६८-६६, भा० प्र०, पृ० ६५-६६; ना० ल० को० २५१८।

मुग्धा	मध्या	प्रगल्भा
१. प्रथमावतीर्ण यौवना	१. विचित्रसुरता	१. स्मराधा
२. प्रथमावतीर्णमदनविकारा	२. प्ररूढ़त्स्मरा	२. गाढ़ तारुण्या
३. रतिवामा	३. प्ररूढ़यौवना	३. समस्तरतकोविदा
४. मानमृदु	४. इषत् प्रगल्भवचना	४. भावोन्मत्ता
५. समधिक लज्जा	५. मध्यमव्रीडिता	५. दरव्रीडा
		६. आक्रान्तनायका

नायिका-भेद के आधार की असंगतता

उपर्युक्त सोलह प्रकार की नायिकाएँ वासकसज्जा आदि आठ भेदों के क्रम से १२८ प्रकार की होती हैं और वे भी उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के भेदों के अनुसार ३८४ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। शारदातनय, धनंजय, विश्वनाथ, शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने सामान्य रूप से नायिका-भेद की यही रूपरेखा निर्धारित की है। शिंगभूपाल द्वारा उद्धृत एक आचार्य के मतानुसार वासकसज्जा आदि आठों भेद परकीया नायिका के नहीं होते। केवल विरहोत्कंठिता, प्रोषितभर्तृका और विप्रलब्धा की ही तीन अवस्थाएँ होती हैं, क्योंकि वे पति की छाया में पराधीन होती हैं, सब अवस्थाओं की परिकल्पना उचित नहीं है।[1] केवल रामचंद्र-गुणचंद्र ने प्रधान भेदों में भरत की ही तरह दिव्या का भी उल्लेख किया है तथा एक नवीन भेद क्षत्रिया की भी कल्पना की है जो संभवतः भरत की नृप-पत्नी की स्थानीया है। प्रधान भेदों के अतिरिक्त उन्होंने एक और भी महत्त्वपूर्ण अन्तर की परिकल्पना की है।[2] उपर्युक्त आचार्यों ने तो स्वीया, परकीया और साधारणी इन तीन भेदों में से साधारणी के किसी नवीन भेद की परिकल्पना नहीं की है और परकीया के उढा (विवाहिता) और कन्या इन्हीं दो भेदों की परिकल्पना की गई है। मुग्धा और प्रगल्भा ये तीन प्रधान भेद केवल स्वीया के ही हैं, अन्य नारी पात्रों (नायिकाओं) के नहीं। मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक भेद तो नायिका के वय और प्रेमानुभव पर आधारित हैं। वय और प्रेमानुभव के आधार पर इनकी स्वाभाविक स्थिति तो परकीया और साधारणी आदि अन्य नायिकाओं में भी कल्पित की जा सकती है। अतः रामचन्द्र ने सब प्रकार की नायिका के लिए मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा का भेद स्वीकार किया है।

अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नायिका-भेद का निरूपण इस दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मुग्धता, अत्यधिक कामासक्तता तथा कामभाव की प्रगल्भता के भाव तो वय और उत्तरोत्तर प्राप्त अनुभवों से संबंधित हैं, ये अनुभव केवल स्वीया तक ही सीमित नहीं हैं, वे तो सामान्य नारी के भी अनुभव हैं। अतः इन भेदों की परिकल्पना समान रूप से सब नायिकाओं के लिए होनी चाहिए।[3] रूपगोस्वामी ने तो इन भेदों का विस्तार परकीया के एक भेद परोढ़ा के लिए स्वीकार किया है, पर उसी के एक भेद कन्या तथा साधारणी (वेश्या) के लिए नहीं।[4]

---

१. अवस्थात्रयमिति केचिदाहुः परस्त्रियाः। र० सु०, पृ० ३७।
२. ना० द० ४।१६-२६ (द्वि० सं०)।
३. ना० द० ४।२०-२२ (द्वि० सं०)।
४. उज्ज्वल नीलमणि, पृ० १०७।७१ (नि० सा० सं०)।

जबकि नारी के मनोवेग के संदर्भ में कन्या भी नववय में मुग्धा हो सकती है। वय और अनुभव प्राप्त होने पर मध्या और प्रगल्भा भी। गणिका में तो ये मनोवेग स्वभाव से होते ही हैं। अतः पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नायिका-भेद की यह निर्धारण-पद्धति तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ती।

स्वीया और उसके भेद—स्वीया नायक की विधिवत् विवाहित पत्नी होती है। शीलवती, सलज्ज, पतिव्रता, अकुटिल, पतिप्रेम-परायण और व्यवहार-निपुण होती है।[1]

भरत ने दिव्या, नृपपत्नी और कुलजा ये तीन भेद स्वीकार किये हैं, और इन तीनों भेदों का संक्षेपीकरण स्वीया में हुआ है। राम की पत्नी सीता स्वीया नायिका है।

'स्वीया' नायिका के तीन प्रधान भेद सब आचार्यों ने स्वीकार किये हैं—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। **मुग्धा**—मुग्धा नायिका अवस्था तथा कामवासना दोनों में नई रहती है। वह रति के अनुकूल नहीं रहती और क्रोध में भी कोमलता नहीं त्यागती। **मध्या**—मध्या नायिका में यौवन और कामवासना दोनों का उदय हो जाता है तथा सुरत क्रीड़ा को मोह के अन्त तक सहन कर सकती है। **प्रगल्भा**—प्रगल्भा नायिका तो यौवन के प्रवाह में डूबी कामोन्मत्त रहती है। काम-व्यवहार में निर्लज्ज होती है तथा पति के साथ रति-क्रीड़ा में सुध-बुध खोकर वह लीन हो जाती है। स्वीया के दो भेदों 'मध्या' और 'प्रगल्भा' के 'धीरा', 'अधीरा' और 'धीराधीरा' ये तीन भेद और भी कल्पित किये गए हैं।

'धीरा' व्यंग्यपूर्ण वचनों से रोष प्रकट करती है, 'अधीरा' कठोरपूर्ण वचनों से प्रिय को प्रताड़ित करती है और 'धीराधीरा' रोकर अपना क्षोभ और रोष प्रकट करती है। मध्या और प्रगल्भा के इन छः भेदों के पुनः ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये दो भेद और होते हैं, इस प्रकार स्वीया के बारह भेद होते हैं। इन आचार्यों की दृष्टि से भरत ने स्वीया के स्थानीय कुलजा के उदात्त और निभृत ये दो भेद स्वीकार किये और नृपपत्नी के उदात्त, ललित, धीर और निभृत ये चार भेद।[2] इसमें सन्देह नहीं कि इन नवीन भेदों की परिकल्पना उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्था और प्रेम की मीठी-कड़ुवी अनुभूतियों से मुख्य रूप से संबंधित है। इससे नायिका के व्यापक चरित्र के विकास का अवसर बहुत कम मिल पाता है, दूसरी ओर भरत द्वारा प्रतिपादित उदात्त, ललित और धीर आदि भेद उसकी स्थायी प्रकृति की शोभा का उद्‌घाटन करते हैं। भरत के भेदों में चारित्रिक विशेषताओं के उद्‌भावन का अवसर अधिक है।

परकीया—परकीया आचार्यों द्वारा कल्पित नायिका का दूसरा भेद है। 'परकीया' नायक की अपनी पत्नी नहीं होती। वह किसी अन्य व्यक्ति की पत्नी होती है या अविवाहित (कन्या) भी।

परकीया का संघर्ष—भरत ने नायिका-भेद के अन्तर्गत परकीया का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। परन्तु राजाओं के अन्तःपुर के काम-व्यापार के प्रसंग में 'प्रच्छन्न कामित' राजा के प्रणय-व्यापार का भरत ने विस्तार से उल्लेख किया है। राजाओं के प्रणय-व्यापार का लक्ष्य बनती हैं उनके अन्तःपुर में रहने वाली विवाहित, अविवाहित (परिचारिकाएँ ?) अवरुद्ध गणिका, कन्यका और प्रेष्या आदि। परनारी से रति-सुख प्राप्त कर प्रच्छन्न कामी को परम सुख वैसा ही प्राप्त होता है मानो भूमा का चरम आनन्द प्राप्त हुआ हो। परकीया से प्रच्छन्न

---

१. द० रू० ३।१५-१७, सा० द० ३।६८-७८, भा० प्र० ६६।११-११२, ना० द० ४।२०-२२।

२. ना० शा० २४।२४-२५, द० रू० २।२०-२१, सा० द० ३।८१-८३, र० सु० १।१०६-६, भा० प्र०, पृ० ६६-१४, १००-१।

प्रेम का कारण है कि देवियों के प्रति आदरभाव या प्रियतमाओं का भय। पर यह सारा प्रेम-व्यापार प्रच्छन्न ही होता है।[१] इस प्रच्छन्न प्रेम और उनकी प्रच्छन्न कामिनियों को भरत ने नायिकाओं की कोटि में नहीं रखा, इसीलिए परकीया को नायिका की मर्यादा भरत ने नहीं दी है। परकीया को वह सामाजिक प्रतिष्ठा भी भरत के काल में प्राप्त नहीं हुई थी और बाद में भी वह स्वीया का स्थान नहीं ग्रहण कर सकी। यही कारण है कि दशरूपककार धनंजय ने परकीया का तो उल्लेख किया परन्तु विवाहित परकीया का नाट्य की नायिका के रूप में निषेध भी कर दिया।[२] इसका स्पष्ट आशय है कि धनंजय के काल तक भी परकीया को नायिका का मर्यादापूर्ण सम्मान प्राप्त नहीं हो सका था। परन्तु समाज में सच्चरित्रता का मापदण्ड उत्तरोत्तर शिथिल होता गया और अन्तःपुरों में विलासिता और कामवासना को प्रश्रय मिलता गया। नायिकाओं में स्वीया के साथ परकीया ने भी अपने चरण दृढ़ कर लिये। नायिका-भेद सम्बन्धी उत्तरकालीन साहित्य में उसका स्थान अक्षुण्ण हो गया। परन्तु यह भी एक निश्चित तथ्य है कि किसी भी उच्च कोटि के प्राचीन भारतीय नाटक में परकीया को नायिका का स्थान प्राप्त नहीं हुआ, विशेषकर उढा को। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने से पूर्व की परंपरा की उपेक्षा करके नायिका-भेद में परकीया का उल्लेख नहीं किया।[३] इसमें सन्देह नहीं कि राजाओं और सामन्तों के अन्तःपुरों में गुप्तकाल के पूर्व से ही इन मधुर-प्राण परकीया रमणियों का प्रवेश हो गया था। भास के उदयन[४] और कालिदास के यक्ष के द्वारा[५] अपनी प्रेयसियों के अतिरिक्त अपने परिजन के प्रति प्रच्छन्न प्रेम-भाव प्रदर्शित करने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः भरत द्वारा प्रच्छन्न कामी के प्रसंग में पर-नारी-प्रेम तथा संस्कृत नाटकों में ऐसे नारी-पात्रों की कोमल सुकुमार छाया से हम परिचित हैं।[६] वह सदियों से अपने मर्यादित पद के लिए संघर्ष करती रही है। परन्तु उन सद्धर्मानुयायी आचार्यों ने उसे सामाजिक उच्चता का वह स्थान सदियों तक नहीं दिया जब तक साहित्य में जीवन का तेज जीवित रहा। पर उसके मंद पड़ते ही आठवीं-नवीं सदी के बाद उसके प्रशस्तचरण काव्य और नाट्य में दृढ़ हो गये और वह केवल व्यवहार और प्रयोग में ही प्रच्छन्न होकर राजाओं की कामुकता को उत्तेजित नहीं करती रही अपितु शास्त्र में उसने अपना एक निश्चित स्थान बना लिया और वह नायिका हुई।

साधारणी (वेश्या)—साधारणी का नामोल्लेख नितान्त मौलिक नहीं है। भरत ने इस भेद को स्वीकार किया है और वेश्या की परंपरा रामायण काल के पूर्व से ही प्रचलित

---

१. प्रच्छन्नकामितं यत्तु तद्धैरतिकरं भवेत।
   यद्वामाभिनिवेशित्वंयतश्च वितिवार्यते।
   दुर्लभत्वं च यन्तार्याः सा कामस्य परारतिः। २२।२०६-७, अ० भा० भाग ३, पृ० २०६।

२. नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्। द० रू० २।२० ख।

३. नाट्यदर्पण ४।१६।

४. राजा—किं विरचिकां स्मरसि?
   वासवदत्ता—आः, अपेहि इहापि विरचिकां स्मरसि। स्वप्नवासवदत्ता, अंक ५।

५. त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्। उत्तरमेघ ४७।

६. ना० शा० २२।२०५-२०८, द० रू० २।२१, र० सु० १।११०-११२, ना० द० (रागिण्येवा प्रहसने) ४।२०, सा० द० ३।८४-८५।

थी ।[1] हरिवंश में भी वेश्याओं का उल्लेख है । साधारणी वेश्या होती है और प्रकरण में नायिका होती है । नाट्यदर्पणकार ने साधारणी के स्थान पर 'पण्यकामिनी' का उल्लेख किया है और शिंग-भूपाल ने 'अनुरक्ता' और 'विरक्ता' इन दो भेदों का भी उल्लेख किया है । क्योंकि विरक्ता का प्रयोग शृंगार रस के आवर्जन में कदापि नहीं हो सकता, अतः वह प्रहसन की तो नायिका हो सकती है पर प्रकरण की नहीं । प्रकरण की नायिका यदि वेश्या हो तो उसका अनुरागिनी होना अत्यावश्यक है । अनुरागवती वेश्या के रहने पर ही दरिद्र चारुदत्त और मृच्छकटिक में शृंगार की रस-तरंगिनी मंद-मंद प्रवाहित होती है, अन्यथा दु:ख-क्लेश-प्रधान प्रकरण में रसमयता का आविर्भाव कैसे होगा यदि नायिका (वेश्या) विरक्त हो । नायिका के रूप में दिव्या वेश्या का प्रयोग होता है पर वहाँ भी अनुराग होना अत्यावश्यक है,[2] विक्रमोर्वशी में उर्वशी वेश्या है पर दिव्या भी । अतएव नाटक की नायिका है । अतः गुणशाली नायक के प्रति वेश्या के हृदय में प्रेमानुबंध की योजना होनी ही चाहिये । रुद्रट ने अनुरागवती वेश्याओं का स्थान काम-तृप्ति की दृष्टि से कुलस्त्री और परांगना से भी उत्कृष्ट माना है, क्योंकि वे काम का सर्वस्व होती हैं ।[3]

साधारणी या वेश्या के अनुरक्ता और विरक्ता इन दो भेदों का उल्लेख दो रूपों में नाट्य-शास्त्र में प्राप्त होता है । आचरण के मापदंड की दृष्टि से भरत ने 'आभ्यन्तरानायिका' के अति-रिक्त बाह्या और बाह्याभ्यन्तरा दो भेदों का भी उल्लेख किया है । बाह्या तो वेश्या होती है, पर बाह्याभ्यन्तरा वेश्या होकर भी कृतशौचा नारी होती है, अर्थात् एक ही प्रियतम को अपना प्रेम सर्वस्व अर्पित करती है ।[4] यह 'बाह्याभ्यन्तरा' ही शिंगभूपाल की 'अनुरक्ता' की निकटवर्ती है और बाह्या तो विरक्ता वेश्या हो सकती है । अन्यत्र वैशिक अध्याय में भी पुरुष द्वारा विभिन्न प्रकार की नारियों के प्रसादन के प्रसंग में 'अनुरक्ता' और 'विरक्ता' भेदों का स्पष्ट उल्लेख है ।[5]

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों का नायिका-भेद—नायिका-भेद के संदर्भ में हमारा ध्यान इन परवर्ती आचार्यों के अतिरिक्त व्रज-भाषा के कवियों और आचार्यों की ओर जाता है जिन्होंने अपनी प्रतिभा और शक्ति का उपयोग नायिकाओं के विस्तृत भेदों की परिकल्पना में किया । इन आचार्यों द्वारा निरूपित नायिका-भेद विस्तृत और सुव्यवस्थित तो मालूम पड़ता है पर नितान्त मौलिक नहीं है । जिस प्रकार भरत के परवर्ती आचार्यों ने भरत के नायिका-भेद के आधार पर मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा आदि अनेक भेदों का विस्तार किया उसी प्रकार इन आचार्यों ने संस्कृत के परवर्ती आलंकारिकों से प्रेरणा ग्रहण करके भेद का और भी विस्तार किया ।[6] केशव और देव

---

१. सर्वे च तालापचराः गणिकाश्च स्वलंकृताः । वा० रामायण, अ० ३।१७-१८ ।
तथा - गणिकानां सहस्राणि निःसृतानि नराधिप ।
कुमारैः सह वार्ष्णेयैः रूपवद्भिः स्वलंकृतैः । हरिवंश विष्णुपर्व ८८।७६ ।

२. गणिका क्वापि दिव्या ना० द० ४।२०, र० सु० सा चेत दिव्यानाटके—१।११२ ।

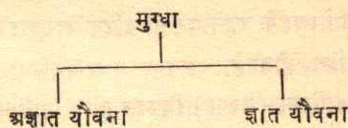
३. ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य निःशंककेलिर्न परांगनासु ।
वेश्यासु चैतद्द्वितीयं प्ररूढं सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्व ।। र० सु०, पृ० ३० (रुद्रट) ।

४. ना० शा० २२।१५२-१५४ ।   ५. वही २३।१६-२६ ।

६. 'हिन्दी का नायिका-भेद संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है । आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या ? पर यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नहीं ।' रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १४७-५०, डॉ० नगेन्द्र ।

ने मुग्धा के निम्नलिखित चार भेद कल्पित किए :

१. नववधू, २. नवयौवना, ३. नवल अनंगा, ४. लज्जाप्राय रति । परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने मुग्धा के प्रथमावतीर्ण यौवन आदि जो चार भेद कल्पित किए ये उन्हीं के दूसरे रूप हैं। शब्दों का किंचित् अन्तर है, अर्थतत्त्व तो एक ही है। मुग्धा का एक और भी विभाजन हिन्दी के आचार्यों के बीच बहुत लोकप्रिय हुआ।



वस्तुतः ये भेद-प्रभेद नितान्त मौलिक नहीं हैं। रस-मंजरी के रचयिता भानुदत्त ने इन सब भेद-प्रभेदों का विस्तार से उल्लेख किया है। मध्या के भी आरूढ़ यौवना (केशव), रूढ़ यौवना (देव) प्रादुर्भूत मनोभवा, प्रगल्भवचना और सुरति विचित्रा आदि भेद किए हैं, पर वे भी आचार्य विश्वनाथ के प्ररूढ़यौवना, प्ररूढ़त्स्मरा तथा इषत् प्रगल्भवचना के ही दूसरे रूप हैं।

वस्तुतः इन भेदों का मूल स्रोत भरत द्वारा निरूपित यौवन के चार भेदों का ही परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है। 'प्रथम यौवन' में उरु, गण्ड, जघन, अधर, स्तन, कर्कश और रति-मनोज्ञ होते हैं। इन गुणों से मुक्त नारी 'नव यौवना' होती है। द्वितीय यौवन में अंग-अंग उभर उठते हैं। पयोधर पीत मध्यम नत, यह काम का सार रूप होता है। क्रोध और ईर्ष्या से भरी होती है। तृतीय यौवन में सब शोभा से संपन्न हो, रति-संभोग में दक्ष और प्रगल्भा नारी होती है। चतुर्थ यौवन में नारी पुरुष की संगति तो चाहती है परन्तु अंगों का लावण्य धूमिल हो जाता है। अतएव यह यौवन श्रृंगार का शत्रु होता है।[1] परकीया नायिका के मूलतः दो ही भेद थे, पर बाद में तो गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, कुलटा और अनुशयना आदि अनेक भेद किये गए। इन आचार्यों के भेदोपभेद के विस्तार का महत्त्व शास्त्रीय दृष्टि से ही था। पर उससे भी अधिक उस युग की सामाजिक और सामन्ती परिवेश में नारी का जीवन जिस रूप में श्रृंखलाबद्ध होता जा रहा था उसका स्पष्ट परिचय भी मिलता है न कि महत्त्वपूर्ण मौलिक शास्त्रीय चिन्तनधारा का।[2]

भरत का प्रभाव

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत ने नायिकाओं का विवेचन वर्गगत, जातिगत, स्वभावगत, चारित्र्यगत, अवस्थागत भेदों के आधार पर किया। वह विचार की दृष्टि से तो नितान्त मौलिक है और समाज-विज्ञान की दृष्टि से भी। चूंकि 'नाट्य' लोक-जीवन का सजीव सक्रिय प्रतिरूप था, अतः नाट्य में नर-नारी के जीवन के उन रूपों का वितरण विभिन्न दृष्टिकोणों से होना स्वाभाविक था। भरत के बाद सदियों तक उतनी व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से नाट्यशास्त्र की रचना नहीं हुई। उपलब्ध ग्रंथों में नायिका-भेद की वृद्धि

१. सर्वासां नारीणां यौवनभेदाः स्मृताश्च चत्वारः।
नेपथ्यरूपचेष्टागुणेन श्रृंगारमासाद्य ।। ना० शा० २३।४२-५२ (गा० ओ० सी०)।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २३७—रामचन्द्र शुक्ल ।

होती गई है। लगता है, भरत और धनंजय के मध्यकाल की शृंखला काल-प्रवाह में विलीन हो गई। क्योंकि भरत की दृष्टि में नायिकाओं की संख्या इतनी अधिक नहीं है। परवर्ती आचार्यों और भरत की दृष्टि में एक महत्त्वपूर्ण मौलिक अन्तर है। परवर्ती आचार्यों ने नायिका-भेद का विस्तार करते हुए उसकी नाट्योपयोगिता को दृष्टि में नहीं रखा। उनकी दृष्टि रसाभिनिवेशिनी थी। पर भरत ने ऐसी नायिकाओं का वर्गीकरण और विभाजन विशेष रूप से किया, जिनका प्रयोग नाट्य में हो सके। परवर्ती परंपरा ने यह सिद्ध भी कर दिया है कि भरत द्वारा प्रवर्तित प्रधान नायिका-भेदों के आधार पर ही कवियों ने नारी को रूपरंग ही नहीं दिया उसमें भरतानुमोदित भावना की सुकुमारता और चारित्रिक विभूतियों से उसके प्राणों में मादक सौरभ भी भर दिया। कालिदास की शकुन्तला, शूद्रक की वसंतसेना और हर्ष की रत्नावली ने भरत की कल्पना में सदियों पूर्व जन्म ले लिया था उसी को इन रस-सिद्ध कवियों ने साकार कर प्राणों का मधुर गुंजन भी दिया।

नायिकाओं के अलंकार—पुरुषों की भाँति ही नायिकाओं के अलंकार होते हैं। इन अलंकारों के द्वारा नारियों के विविध भावों और सुकुमार भाव-भंगिमा आदि का प्रेषण भी होता है और अनिर्वचनीय सौन्दर्य का सृजन भी। ये अलंकार भाव-रस के आधार होते हैं। सात्त्विक भाव मनुष्य मात्र के मन में संवेदन के रूप में व्याप्त हैं। परन्तु वह देहाश्रित है, देह के माध्यम से उन सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति होती है। इन सात्त्विक विभूतियों के दर्शन उत्तम स्त्री-पुरुषों में होते हैं। स्त्रियों की उत्तमता के दर्शन अंगों में सुकुमारता और लालित्य, मन में कोमलता और प्राणों में मधुरता और रसमयता के रूप में होते हैं। परन्तु पुरुष की उत्तमता तो उसकी वीरता, उदात्तता, दृढ़ता और साहस में निहित है। स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना और मनः-प्रकृति दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं। स्त्री की जीवन-प्रकृति के अनुरूप ही भरत ने उन बीस अलंकारों की परिकल्पना की है जो उसके जीवन के अन्तर और बाह्य को सौन्दर्य, सुकुमारता, सलज्जता, पवित्रता और स्नेहशीलता की उज्ज्वलता से विभासित करते रहते हैं। सीता और वासवदत्ता के जीवन के चारों ओर वही महिमाशाली पवित्र ज्योति प्रतिभासित होती है। ये अलंकार केवल शरीर की शोभा नहीं, वे प्राणों का मधुर गुंजन हैं नारी के शील का परिष्कृत परिनिष्ठित रूप।[1]

नायिकाओं के अलंकार की तीन श्रेणियाँ हैं, आंगिक, अयत्नज और स्वाभाविक।

नारियों के आंगिक विकार यौवन वयस् में अधिक बढ़ जाते हैं। इनकी संख्या तीन है—भाव, हाव, हेला।

भाव—सत्त्व की आन्तरिक वृत्ति है, उसकी अभिव्यक्ति देह के माध्यम से होता है, वह देहात्मक ही होता है। सत्त्व से भाव उत्पन्न होता है, भाव से हाव और हाव से हेला। ये तीनों ही क्रमशः विकसित होते हैं और आन्तरिक सत्त्व के ही विविध रूप हैं। सत्त्व की अभिव्यक्ति नर-नारी के संदर्भ में भावों के द्वारा ही होती है। दशरूपककार के अनुसार निर्विकारात्मक सत्त्व से भाव का प्रथम स्फुरण होता है।[2]

हाव—हाव भाव से ही उत्पन्न होता है और इस अवस्था में नारी आलापोन्मुख नहीं

---

१. अलंकारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेयाः भावरसाश्रयाः।
यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकाराः वक्त्रगात्रजाः॥ ना० शा० २२।४।

२. ना० शा० २२।८, ना० द० ४।२८ख, द० रू० २।३३, सा० द० ३।१०३, र० सु०।

होती, उसके रस-भरे नयनों और भौंहों से प्रेम-भाव के मधुर विकार उत्पन्न होते हैं। प्रेम-भाव शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, देह-विकार उसे रूप देते हैं।[1]

हेला—हाव से ही उत्पन्न होता है, पर यहाँ शृंगार रस-रूप में विकसित हो जाता है। हिल् शब्द का अभिप्राय होता है भावकरण। हेला चित्त की ऐसी स्थिति होती है जब शृंगार रस अत्यन्त तीव्र हो जाता है। हृदय में भाव का प्रसार अत्यन्त वेग से होता है उसी के अनुरूप अंग पर विकार की भी लहरें उभर उठती हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार हेला तीव्रता का वाचक है। और भरत ने भाव के तीव्र प्रसार के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया।[2]

स्वभावज अलंकार—वस्तुतः सत्व के इन तीन रूपों के द्वारा मनुष्य के भावलोक की प्राण-कलिका—'रति' का उद्बोधन होता है। रतिप्रबोध के उपरान्त उठने वाली मदिर-भाव-लहरियाँ नारी के लिए परम उत्सव का विषय होती हैं। वे ही लोकोत्तर अलंकार के रूप में भरत द्वारा वर्णित हैं। स्त्रियों के स्वभावज अलंकार दस होते हैं[3] :—

(१) **लीला**—प्रियतम की अनुकृति ही लीला होती है। शिष्ट, वचन, सुकुमार भाव-भंगिमा और मोहक वेश-विन्यास द्वारा संपन्न होती है। (२) **विलास**—प्रियतम के उपस्थित होते ही नारी के हाथ, पाँव, भौंह, उठना-बैठना और गति आदि में सामूहिक भाव से अनिर्वचनीय लास्य परिलक्षित होता है। (३) **विच्छित्ति**—माल्य, आच्छादन, भूषण, आलेपन आदि का असावधानी से प्रयोग (न्यास) करने पर अधिक शोभा का प्रसार होता है। (४) **विभ्रम**—वाचिक, आंगिक और आहार्य अभिनयों के क्रम में मद, राग, एवं हर्ष की अतिशयता के कारण नारी विपरीत आचरण करती है, हाथ से ग्रहण करने के बदले पाँव से ग्रहण करना, रसना को कंठ में न्यास करना आदि विपरीत आचरण प्रेम के सौभाग्य-गर्व के सूचक होते हैं।

(५) **किलकिंचित्**—आनन्द की अतिशायता के कारण भय, हर्ष, गर्व, दुःख, रुदन, आदि अनेक भावों का एक साथ सम्मिश्रण हो जाता है। (६) **मोट्टायित**—प्रियतम की कथा मात्र सुनने या दर्शन होने पर प्रियतमा प्रियतम की भावनाओं में बेसुध हो खो जाती है। (७) **कुट्टमित**—प्रियतम के द्वारा केश, उरोज, और अधर आदि के स्पर्श से स्त्री में हर्ष एवं आवेग उत्पन्न होता है। यह अंग स्पर्श या पीडन दुःखदायक होने पर आनन्दोत्तेजक होता है। (८) **विव्वोक**—अभिलषित प्रेम के प्राप्त होने पर सौन्दर्य एवं प्रेम के अभिमान के मद में उपेक्षा का प्रदर्शन करने पर विव्वोक होता है। (९) **ललित**—नारी द्वारा अंग उपांग का संचालन, भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन अत्यन्त सुकुमारता से होने से शृंगारोद्वेजक होने के कारण वह ललित होता है। इसमें सातिशय विलास का वर्णन होता है। (१०) **विहृत**—प्रीतियुक्त वाक्यों का किसी व्याज या स्वभाववश अवसर पर भी न प्रयोग करने पर विहृत होता है।

नारी के अयत्नज (१) **शोभा**—रूप, यौवन, लावण्य, एवं विलास से अंग-सौन्दर्य समृद्ध मालूम हो तो 'शोभा' होती है। (२) **कान्ति**—वही शोभा काम-विकार युक्त होने पर और भी अधिक छविमयी हो जाती है तो कान्ति। (३) **दीप्ति**—काम-भाव का अतिशय प्रसार होने पर वह सौन्दर्य और भी दीप्त हो उठता है तो दीप्ति। (४) **माधुर्य**—क्रोध आदि के दीप्त होने पर

१. ना० शा० २२।१०, द० रू० २।३४क, सा० द० ३ १०४।
२. ना० शा० २२।११, द० रू० २।३४ख, सा० द० ३।१०५।
३. वही २२।१४-२५, वही २।३८-४१, वही ३।११२-१२०, ना० द० ४।३१-३५क।

भी रति-क्रीडा आदि की भाँति चेष्टाओं की सुकुमारता और रमणीयता होने पर 'माधुर्य' होता है। (५) **धैर्य**—चंचलता और अभिमान रहित होने पर चित्तवृत्ति धैर्य युक्त होती है तो धैर्य। (६) **प्रागल्भ्य**—सब काम-कलाओं का निर्भीक प्रयोग ही 'प्रागल्भ्य' होता है। (७) **औदार्य**—ईर्ष्या और क्रोध आदि की उत्तेजनापूर्ण दशाओं में भी पुरुष के वचनों के प्रति अनुदीरणा होने पर औदार्य होता है।[1]

इन अयत्नज अलंकारों का प्रयोग सुकुमार ललित प्रयोग में होता है। विलास और ललित को छोड़ दीप्त (वीर) में भी इनका प्रयोग होता है। सागरनंदी, मातृगुप्त और साहित्यदर्पणकार ने इन बीस के अतिरिक्त स्वभावज अलंकारों के अन्तर्गत और भी आठ अलंकारों की परिगणना की है। मद (यौवन, आभूषण-जनितगर्व), विकृत (लज्जावश उचित अवसर पर भी न बोलना), तपन (प्रियवियोग में पीड़ा का अनुभव), मौग्ध्य (प्रिय की उपस्थिति में प्रतीत वस्तु के सम्बन्ध में अज्ञात होकर पूछना), विक्षेप (प्रिय के निकट अर्द्धवेश धारण, व्यर्थ इधर-उधर देखना), कुतुहल (रम्य वस्तु के देखने पर उत्सुकता), हसित (यौवन के आवेग से अनावश्यक हँसना), चकित (पति के निकट भय और घबराहट प्रकट करना), और केलि (प्रिय के साथ केलि-क्रीडा)।[2] परन्तु इनमें से कई तो अनुभाव रूप हैं और वे प्रेम की विभिन्न दशाओं का संकेत करते हैं न कि नारी के जीवन की प्रवृति के रूप हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने बीस ही संख्या स्वीकार की है। उनकी दृष्टि से कुछ आचार्यों द्वारा मद, विकृत आदि की नायिकाओं के अलंकारों के रूप में परिगणना भरत-विरोधी है।[3]

समाहार—भरत ने पात्र-विधान के प्रसंग में मुख्य रूप से नाट्योपयोगी पुरुष एवं नारी पात्रों का ही विवरण प्रस्तुत किया है। उस युग में राज-परिवारों और जन-समाज में जीवन जिस रूप में प्रवाहित हो रहा था उसका प्रभाव भरत के पात्र-विधान पर निश्चित रूप से पड़ा है। नारी-पात्रों के भेद-विस्तार पर विचार करते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि भरत की विचार-दृष्टि पर कामतंत्र का प्रभाव (नितान्त स्पष्ट) है। मनुष्य के जीवन में अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा काम की प्रधानता का भरत ने प्रतिपादन किया है। यह उचित भी है, क्योंकि यह काम तो स्वयं सुख रूप ही है। मनुष्य-जीवन में काम की महत्ता की स्वीकृति और तदनुरूप प्रतिपादन भरत की यथार्थवादी दृष्टि का परिचायक है। काम की इस प्रबलता का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों में भी किया गया है।[4] परन्तु भरत ने नायक एवं नायिकाओं के जितने प्रकार के भेदों का उल्लेख किया है, उनसे उनके जीवन की वहुविधता का भी परिचय मिलता है। इसी आधार पर यह स्वीकार करना चाहिये कि भरत 'नाट्य' के चरित्रों को लोकोत्तर ही नहीं लौकिकता की सोंधी मिट्टी

---

१. ना० शा० २३।२६-३१, द० रू० २।३५, सा० द० ३।१६६-११२, ना० द० ४।३५-३७क।

२. सा० द० ३।११२-१३०।

३. एतावत् एवैत इत्यत्र नियमो विवक्षितः। तेन मौग्ध्यमदभाव विकृत परितपलादीनामपि शाक्याचार्य राहुलदिभिरमिधानं विरुद्धमित्यलं बहुना। अ० भा० भाग-३, पृ० १६४।
'राहुल-आदि' शब्द से अभिनवगुप्त का आशय है पद्मश्रीसारगनंदी मातृगुप्त आदि आचार्य। अ० भा० भाग-३, पृ० १६४ पर रामकृष्ण कवि की पादटिप्पणी के आधार पर।

४. न च नारी समं सौख्यं न च नारी समा गतिः।
न च नारी सदृशं भाग्यं न भूतो न भविष्यति।—शक्ति संगम तंत्र १३।४६।

पर भी पनपता हुआ देखना चाहते थे। यही कारण है कि पात्र-विधान के प्रसंग में प्रधान पात्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के नाट्योपयोगी पात्रों की परिकल्पना की गई है। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि पात्र-विधान के प्रसंग में इनके समक्ष कोई महत्तर आदर्श था ही नहीं। भरत की लोकवादी दृष्टि भी नायकों के माध्यम से ऐसे महत्तर चरित्र-सर्जना की कल्पना कर रही थी, जैसे चरित्र रामायण और महाभारत में कभी कवि-कल्पित हुए थे। अतः भरत की दृष्टि पात्र-विधान करते हुए यथार्थवादी तो है परन्तु उस पर महत्तर आदर्श की बहुरंगी प्रभा भी लोकात्मक सौन्दर्य और आदर्श का समन्वय करती है।

भरतनिरूपित नायक और नायिका-भेद का विवेचन यथार्थ और आदर्श का संगम है। पर उसके मूल में मनुष्य की अंग-रचना, अन्य प्रकृति और मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। भरत की यह देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पात्र के विविध चरित्र के माध्यम से कथावस्तु का विकास होता है। वस्तुतः कथावस्तु और चरित्र दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। महनीय चारित्रिक विशेषताओं से ही कथावस्तु में गति आती है, प्राण का संचार होता है।[२] इन दोनों के योग से रस का चरम आनन्द आस्वाद्य होता है। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि परवर्ती आचार्यों के नायिका-भेद की परिकल्पना रसाभिनिवेशिनी है नाट्योन्मुखी नहीं, पर भरत का पात्र-विधान सर्वथा नाट्योपयोगी है। अतएव उनका पात्र-विधान नाट्योपयोगी ही नहीं शास्त्रीय विचार-विवेचन का विषय भी है। भरत ने इसीलिए उन्हीं नायिकाओं, नारी पात्रों और पुरुष पात्रों का विवरण दिया है जो नितान्त नाट्योपयोगी हैं और जिनके जीवन-स्रोत से नाट्य का वृक्ष उत्तरोत्तर परिपल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

२. नाट्यकला, पृ० ४०-४१ (डा० रघुवंश)।

पाँचवाँ अध्याय

नाट्य के रस और भाव

१. नाट्यरस

२. नाट्य का भावलोक

नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

ना० शा० ६ अ० ।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥

ना० शा० ६ ३७ ।

ततो वृक्ष स्थानीयं काव्यं ।
तत्र पुष्पादि स्थानीयोऽभिनयादिनट व्यापारः।
तत्र फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः ।
तेन रसमयमेव विश्वम् ।

अ० भा० भाग १, पृ० २६४ (द्वि० सं०) ।

नाट्यसमुदायरूपाद्रसाः ।
यदि वा नाट्यमेव रसाः ।
रससमुदायो हि नाट्यम् ।
नाट्य एव च रसाः।
काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।

(भट्टतोत) अ० भा० भाग १, पृ० २६० (द्वि० सं०) ।

चर्व्यमाणतैक प्राणो विभावादि जीविता विधिः
पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्
हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीण मिवालिंगन्
अन्यत् सर्वमिव तिरोद्धत् ब्रह्मास्वादभिवानुभावयन्
अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।

—का० प्र० ४, उल्लास-४ ।

५

नाट्य-रस

रस-दृष्टि का विकास

रस भारतीय साहित्य-विद्या का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। भरत ने नाट्य में लक्षण, गुण, दोष और अलंकार आदि की परिकल्पना रसोद्बोधन के ही लिए की है। वाचिक अभिनय के इन अंगों के द्वारा रसोद्बोधन होता है तथा आंगिक एवं आहार्य आदि अभिनय वाक्यार्थ की ही व्यंजना करते हैं।[1] नाट्यशास्त्र के विश्लेषण से स्पष्ट ही हो जाता है कि भरत ने नाट्य-रस के संदर्भ में ही रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य परम्परा से माने जाते हैं, परन्तु उनके पूर्व से ही रस की शास्त्रीय परम्परा प्रचलित थी। क्योंकि नाट्य-शास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रस और भाव का विवेचन करते हुए अपने विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आनुवंश्य आर्यायें और कारिकायें भरत ने उद्धृत की हैं। एक स्थल पर तो उन्होंने रस-शास्त्र पर रचित एक ग्रंथ के नाम का भी उल्लेख किया है।[2] अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि नाट्य-रस के विवेचन की परम्परा भरत से पूर्व ही, अविकसित रूप में ही सही, पर वर्तमान थी। आचार्य-शिष्यों की सनातन-परम्परा में प्रवहमान इन विचार-पुष्पों का भरत ने आकलन और चयन कर उसे शास्त्र-सम्मत और व्यवस्थित रूप दिया।[3]

परवर्ती आचार्य—भरत के परवर्ती आचार्यों ने नाट्यरस की शास्त्रीय परम्परा का

---

१. लक्षणालंकृति गुणा दोष शब्दप्रवृत्तयः।
वृत्तिसंध्यंगसंरंभः संभारो यः कवेः किल॥
अन्योन्यस्यानुकूल्येन संभूयैव समुत्थितैः।
झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादभिः गुणाः (णैः)॥ भट्टतोत, अ० भा० भाग-३, पृ० ७८।

२. अत्रार्यें रसविचार मुखे। ना० शा० (का० मा०) पृ० ६७।

३. अनुवंशे भवौ शिष्याचार्य परंपरासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्ति विशेषौ। अ० भा० भाग-१, पृ० २९७ (द्वि० सं०)

प्रसार और विवेचन किया। इन आचार्यों में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टोद्भट्ट, भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि उल्लेख योग्य हैं। आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती के माध्यम से भरत के रस-सिद्धान्त पर इन आचार्यों के मूल्यवान् विचारों से हमारा परिचय होता है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र की परंपरा का अनुसरण करते हुए धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनंदी, शारदातनय और शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की और नाट्य-रस का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों के काल तक नाट्य-रस से पृथक् एवं स्वतंत्र रूप में रस-सिद्धान्त ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया था। आनन्दवर्द्धनाचार्य, भोज, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने रस-सिद्धान्त का उस रूप में महत्त्व प्रतिपादित किया था। इन आचार्यों की विचार-सरणि भरत के नाट्य-रस की परिकल्पना से इस बात में भिन्न है कि इनकी रस-दृष्टि नाट्योन्मुखी नहीं, काव्योन्मुखी है। परिणामतः काव्यप्रकाशकार मम्मट से रसगंगाधरकार महापंडित जगन्नाथ राज आदि तक अन्य आचार्यों ने काव्यरस (सिद्धान्त) का उपबृंहण किया न कि नाट्यरस का। जिस नाट्य से रसोदय होता है, वह नाट्य इन आचार्यों के लिए विवेच्य विषय नहीं रहा। यद्यपि इन आचार्यों ने भी भरत के मूल रस-सिद्धान्त को ही अपने विचारों के आधार के रूप में स्वीकार किया। परन्तु उनके रस-संबंधी विचार एक-दूसरे से भिन्न थे।[१] भरत की दृष्टि में यह नाट्यरस, नाट्यरचना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता।[२]

भरत की व्यापक नाट्य दृष्टि—भरत ने नाट्यशास्त्र में अनेक प्रसंगों में नाट्य की परिभाषा, स्वरूप, प्रयोजन, उपादान एवं उद्देश्य आदि का विस्तार से विचार किया है। उनके विश्लेषण से नाट्य का स्वरूप प्रतिभासित होता है तथा भरत के व्यापक दृष्टिकोण का परिचय भी प्राप्त होता है। नाट्य की व्यापकता, मानव-जीवन की सुख-दुःखात्मक संवेदना, अनुरंजकता, पुरुषार्थ साधन की क्षमता, उपदेशपरकता, व्यक्तित्व का विलयीकरण, रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध आदि न जाने जीवन के कितने रूपों का समाहार भरत ने नाट्य में किया है।[३]

त्रिगुणात्मिका प्रकृति और नाट्यरस—इस त्रिगुणात्मक लोक में मनुष्य-स्वभाव के न जाने कितने रूप हैं। सुख-दुःख के प्रभाव से जीवन की अवस्थाएँ भी विविध और विलक्षण होती हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवेश में मनुष्य जीवन सुख-दुःख के सूक्ष्म सूत्रों से बुनकर प्रतिक्षण विकसित होता चलता है, उसकी प्रज्ञा में यह सुख-दुःखात्मक संवेदना निरन्तर होती रहती है। आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा वह सुख-दुःखात्मक संवेदना अभिनीत होने पर नाट्य एवं आस्वाद्य होती है। नाट्य में नट सुख-दुःखात्मक स्वभाव को त्याग कर कविनिबद्ध 'पर-प्रभाव' या संवेदना को आत्मस्थ कर आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। नट 'स्व-भाव' का नमन कर पर-प्रभाव की चेतना-संवेदना में 'स्व' को विलीन

---

१. The oldest known exponent of this system is Bharata, from whom spring all later systems and theories such as we know then, and whom even Anandbardhan himself in applying the ras-theory to Poetics, names as his original authority :

—Sanskrit Poetics, p. 19 (S.K. De.)

२. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना० शा० अ० ६।

३. ना० शा० १।१०८-११६ (गा० ओ० सी०), १६।१४४-१५२, अ० भा० प्रथम भाग, पृ० २८६-२६०।

कर देता है। इसीलिए वह 'नट' होता है और उसके आंगिक आदि अभिनय एवं गीत-वाद्य आदि कार्य 'नाट्य' हो जाते हैं।[१] नाट्य में न केवल नट ही स्वभाव का त्याग कर संवेदना की अभिव्यक्ति करता है अपितु कवि की वाणी भी स्वभाव का त्यागकर लोकोत्तर संवेदना की साधारणता के प्राण-रस का प्रतिष्ठान करती है, और उसी प्रभाव से सामाजिक के हृदय की आत्म-संवेदना के स्वर कवि-वाणी और नट के अभिनय में एकाकार हो जाते हैं। नाट्य की इस एकाकारता से ही लोकोत्तर संवेदना के महाभोग-महारस का उदय होता है, यह महारस, परमानन्द स्वरूप, विलक्षण, वैचित्र्यकारक और अनिर्वचनीय होता है।[२]

नाट्य (रस) : अनुभावन नहीं अनुकीर्तन

नाट्य भरत की दृष्टि में समस्त लोक का अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन है, अनुभावन नहीं। अनुभावन द्वारा पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूप का ग्रहण होता है और अनुकीर्तन से नाट्य के अलौकिक व्यापार द्वारा विभावादि की विशेषता को दूर कर साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है। अनुभावन का प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्ध है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है उसका अनुभावन या प्रत्यक्षीकरण भी नहीं होता। दुष्यन्त और शकुन्तला आदि प्रत्यक्षीकरण के लक्ष्य नहीं हो सकते। उनका अनुभावन भी नहीं हो सकता। अतएव भरत ने अनुभावन का निषेध और भावानुकीर्तन का विधान किया है।[3] अनुकीर्तन के द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला आदि विशिष्ट व्यक्तित्व अथवा सामान्य विभावादि का ग्रहण न होकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है। उनके साधारणीकृत होने पर ही प्रेक्षक का भी नट के अनुव्यवसाय से तादात्म्य होता है। अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्तन होने से प्रेक्षक की प्रज्ञा में दुष्यन्त शकुन्तला के साथ तादात्म्य भाव की स्थापना होती है। इसी अभिन्नता या तादात्म्य प्रतीति के कारण उसके हृदय में रसानुभूति या सौन्दर्य का उद्बोधन होता है।

नाट्यरस और साधारणीकरण

तीन लोकों के भावानुकीर्तन रूप नाट्य के लिए साधारणीकरण नितान्त अनिवार्य है। यदि साधारणीकरण न हो तो सामाजिक कवि एवं लोकाचार की दृष्टि से यह नाट्य-व्यापार संभव ही नहीं है। विभावादि के विशिष्ट व्यक्तित्व से उदासीन होने के कारण सामाजिक को न तो तादात्म्य होगा और न उस अवस्था में रसानुभूति ही होगी। कवि की दृष्टि से भी व्यक्ति-विशेष के प्रणय-अनुराग के चित्रण में अनौचित्य दोष की आशंका हो जाती है। लौकिक दृष्टि से विशिष्ट विभावादि का अनुभावन या नट-व्यापार तो नितान्त लौकिक होता है। लौकिक रूप में किसी को लज्जा, किसी को संकोच और किसी को भय या क्रोध भी हो सकता है। पर रसास्वाद नहीं, वह तो साधारणीकरण के द्वारा तादात्म्य होने पर ही होगा।[४] विभावादि का विशिष्ट

१. ना॰ शा॰ १६।१४४, १४६, एतच्च समस्तं नाट्याङ्गोप लक्षणं प्रयुज्यत इति नटैर्ज्ञायते चेतिसामाजिकैस्तेनोभयोरपि नमनमुक्तमिति संभावनाकृतमौचित्यम्। अ॰ भा॰ भाग-३, पृ॰ ८०-८१।

२. महारसं महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम्। ना॰ शा॰ १६।१४०।

३. नेकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ना॰ शा॰ १।१०७ (गा॰ ओ॰ सी॰)।

४. साधारणीकरण : डा॰ नगेन्द्र, पृ॰ १७, 'आलोचना' जुलाई '६४।

व्यक्ति के रूप में प्रतीति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे तो वर्तमान नहीं हैं। विशिष्ट पदार्थ तो अपनी उपस्थिति द्वारा ही अपना कार्य संपादन करते हैं। पर विभावादि की उपस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः सामाजिक कवि और लोकाचार की दृष्टि से भी विभावादि विशिष्ट व्यक्तित्व का साधारणीकृत रूप ही नाट्य होता है न कि विभावादि विशिष्ट व्यक्तित्व, उसी अवस्था में साधारणीकृत विभावादि के साथ सामाजिक का तादात्म्य होता है। तादात्म्य में रस का आस्वाद रहता है, तादात्म्य की प्रतीति ही 'नाट्य' या 'भावानुकीर्तन' है।

नाट्य-रस और अनुकृति—नाट्य की अनुकरण-मूलकता के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों में मत-मतान्तर परिलक्षित होता है। अधिकतर आचार्यों ने नाट्य को 'अवस्थानुकृतिमूलक' या 'अनुकृतिमूलक' शब्दों के द्वारा परिभाषित किया है। इसका आधार भी इन्हें नाट्यशास्त्र में संभवतः मिला हो। भरत ने नाट्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'लोकवृत्तानुकरण', 'लोककृतानुकरण' तथा 'पूर्ववृत्तानुचरित' आदि अनुकृतिवाचक शब्दों का प्रयोग किया है।[१] पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली की मीमांसा पद्धति में अनुकृति को विशेष रूप से महत्त्व प्रदान किया गया है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में 'कलामात्र की अनुकृति-मूलकता' प्रतिपादित की है। नाट्य भी एक कला है, अतः यह भी एक अनुकृति-प्रधान-कला है। पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों में बहुत बड़ा अन्तर है। भारतीय आचार्य 'अवस्था की अनुकृति' को नाट्य मानते हैं और अरस्तू महोदय 'कार्य-व्यापार' मात्र को। एक का ध्यान अनुकार्य की आन्तरिक वृत्तियों की ओर है तो दूसरे का ध्यान बाह्य वृत्तियों की ओर।[२] भारतीय आचार्य नाट्य को लोक प्रचलित 'अनुकृति' के सामान्य स्वांग आदि अर्थ में नहीं ग्रहण करते। भरत एवं अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग नाट्य की विशिष्ट विचार-परम्परा और निराली अभिव्यक्ति पद्धति को दृष्टि में रखकर किया है।

अनुकरण की उपहासमूलकता—लोक में अनुकरण शब्द तो सदृशता या समान-दर्शनपरक है। निम्न श्रेणी के भाँड़ आदि दूसरों के अनुकरण या स्वाँग (नकल) आदि प्रस्तुत कर उपहास का सृजन करते हैं। इस उपहास के द्वारा पात्रों में दुःख, क्रोध और खेद भी होता है। ऐसे उपहास-मूलक अनुकरण और नाट्य के अनुकरण में परिणाम की दृष्टि से बहुत कम साम्य है। यही कारण है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्य की ऐसी अनुकृतिमूलकता का खण्डन किया है।[3] नाट्य आनन्दमूलक है और उसके प्रस्तोता भी परिष्कृत रुचि के नट होते हैं, अनुकरण तो उपहासमूलक होता है और निम्न श्रेणी के भाँड़ या स्वाँग करने वालों के द्वारा किया जाता है। भरत ने भी अनुकरण को उपहासास्पद माना है। अतः 'नाट्य' लोक-प्रचलित 'अनुकरण' तो

---

१. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। ना० शा० १।११२, १६।४५।

२. (a) Epic, poetry, tragedy, comedy, dythramties, as also for the most part the music of the flute and of the lyre in the most general view of them initiation. Poetics, p. 5.

(b) Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth. Cicero, Natyasastra Eng. Trans. M. M. Ghosh, p. 43.

(c) A. B. Keith, Sanskrit Dramas, p. 355.

३. तदिदमनु कीर्तनमनुव्यवसाय विशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्—अ० भा० भाग १, पृ० ३६।

निश्चित रूप से नहीं है। भरत ने इन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग नाट्य की व्यापक आधारभूमि को स्पष्ट करने के लिए किया है। सामान्य अनुकृति का प्रयोग होने पर तो भरतों को दानवों के क्रोध और देवों और ऋषियों के अभिशाप का भाजन बनना पड़ा।[1]

चित्तवृत्तियों का अनुकरण—विभावादि विशिष्ट व्यक्तियों का अनुकरण नहीं होता। परन्तु रति, क्रोध, हर्ष और शोक आदि रसमूलक चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण संभव नहीं है। नट के हर्ष और शोक आदि भाव दुष्यन्त आदि विभावों के हर्ष और शोक से सर्वथा भिन्न हैं, सदृश नहीं। अतः नट विभावादि (दुष्यन्त, शकुन्तला) के हर्ष-शोक का अनुकरण नहीं कर सकता। यदि वह अपने हर्ष और शोकादि को प्रस्तुत करता है तो वह तो वास्तविक हो जाता है। विभावादि अनुकार्य का अनुकरण नहीं होता। अत: प्रेक्षक के अन्तर में रस का जो अभिस्रवण होता है वह सजातीय के अनुकरण से उसके अन्तर का भी साधारणीकरण हो जाता है। राम रूप नट और उसमें तादात्म्य का आविर्भाव हो जाता है, नाट्य के प्रभाव से।[2]

सजातीय और सदृश अनुकरण

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्य सम्बन्धी उदात्त विचारों को स्पष्ट करते हुए 'सजातीय अनुकरण' का समर्थन और 'सदृश अनुकरण' का खण्डन किया है। दोनों ही शब्द दार्शनिक पृष्ठभूमि पर परिपल्लवित हुए हैं। न्यायदर्शन के अनुसार जाति नित्य रूप से अनेक व्यक्तियों में समवेत रहती है। मनुष्य व्यक्ति के रूप में तो नष्ट होता रहता है परन्तु जाति रूप में मनुष्यत्व नित्य है। सब में, सब कालों में जाति की सत्ता वर्तमान रहती है।[3] इस व्यापक आधार पर ही विभाव आदि की हर्ष-शोक आदि रसमूलक चित्तवृत्तियों में हर्षत्व और शोकत्व जाति थी और आज के नट या पात्र, जिन हर्ष और शोक आदि भावों को प्रकट कर रहे हैं, इनमें भी हर्षत्व और शोकत्व जाति के रूप वर्तमान हैं। अतः अतीत के दुष्यन्त और शकुन्तला आदि विभावों का हर्ष और शोक तथा नट या पात्र द्वारा प्रस्तुत वर्तमान हर्ष और शोक आदि में समान जातीयता का एक ही सूत्र गूँथा हुआ है। जाति की समानता की दृष्टि से प्रेक्षक के हृदय में सुख-दुःख की जाति समान ही है, अतएव साधारणीकरण होता है। इस सजातीय-अनुकरण के द्वारा नाट्य-रस का आविर्भाव होता है।[4] सदृश अनुकरण के मूल में समान दर्शन का भाव विद्यमान रहता है। पर यह तो विद्यमान पदार्थों या विशिष्ट व्यक्तियों में संभव है। पर विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों में इसकी संभावना नहीं है। दुष्यन्त और शकुन्तला रूप विभावादि तो अविद्य-

---

१. परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथादैत्याः सुरैर्जिताः।
मा तावद्भो द्विजा युक्तमिद्भस्द्विडम्बनम्॥ ना० शा० ७।१०, १।५७, ३६।३३।

२. अ० भा० भाग १, पृ० ३६-३७ (द्वि० सं०)।

३. गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत् सिद्धे। अ० ५।१-१०, न्यायदर्शन। अ० १।६०-७०।

४. अनुकार इति हि सदृश कारणम्। तत्कस्य? न तावद्रामादेः तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादि विभावानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोक क्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावेवाननुकारत्वात्। न चान्यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किं तु सजातीयानेव। न तू तत्सदृशान्। अ० भा० भाग-१, पृ० ३७ (द्वि० सं०)।

मान है और नट विद्यमान है, ये विभावादि साधारणीकृत भी हैं, साधारणीकृत में सादृश्य कैसा ? सादृश्य सजातीय में नहीं, विजातीय में होता है, चन्द्र और सुन्दर आनन तथा कामिनी के सुडौल सरल नयन हरिणी के नैनों से सदृशता की कल्पना की जाती है ।

नाट्यरस की श्रेष्ठता—काव्य एवं आख्यान आदि से नाट्य श्रेष्ठतम है, क्योंकि यह 'प्रतिसाक्षात्कार कल्प' है, लोक का प्रतिबिम्ब रूप है । बिम्बभूत मुखादि का दर्पण में प्रतिफलन होता है । लोक में साक्षात् किये हुए शुभाशुभ विकल्पक अर्थ का नाट्य में प्रतिसाक्षात्कार होता है, अतः साक्षात्कार के तुल्य होता है । कथा या आख्यान में यद्यपि सजातीय भावों का साधारणीकरण होता है, पर काव्य या नाट्य सी चमत्कारातिशयता न होने के कारण चित्तवृत्ति में प्रेक्षक की-सी तन्मयता का आविर्भाव नहीं होता । गुणालंकार-मनोहर लोकोत्तर रस-प्राण से आप्लावित शब्दार्थ शरीर रूप काव्य में चित्तवृत्ति तो निमग्न हो जाती है । परन्तु सब को प्रत्यक्ष का-सा साक्षात्कार का आनन्द नहीं आता । नाट्य में तो प्रेक्षक को प्रत्यक्ष साक्षात्कार का आनन्द आता है । गीत, वाद्य और नृत्य आदि के प्रयोग से वातावरण में मनोहरता आती है । पात्र उपयुक्त वेशभूषा धारण कर साधारणीकृत विभाव आदि की सजातीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं । कवि-निबद्ध यह संवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रेक्षक के स्वच्छ दर्पण-से हृदय में प्रतिफलित होती है । साधारणीकरण की प्रक्रिया से शकुन्तला आदि की सजातीय संवेदनाओं से प्रेक्षक के हर्ष और दुःख आदि का तादात्म्य हो जाता है, वह रामाविष्ट या दुष्यन्ताविष्ट हो जाता है । आत्मविलयन की यह स्थिति ही नाट्य है, रस है ।[1]

अभिनवगुप्त की दृष्टि से लौकिक सुख-दुःख भाव के सदृश उनके संस्कारों से अनुप्राणित समुदाय रूप अर्थ नाट्य होता है । अभिनय भी उस नाट्य का एक भाग है । अभिनय या नाट्य साक्षात्कार सदृश होता है । अतः काव्य या आख्यान की अपेक्षा इस संवेदनात्मक नाट्य में जो वास्तविक प्रत्यक्ष का-सा आनन्द मिलता है वह अन्यत्र कहाँ । यह नाट्य ही तादात्म्य प्रतीति है और तादात्म्य प्रतीति वह महारस, वह महासुख है जो प्रेक्षकों को आनन्द-रस में निमग्न कर देता है ।

नाट्य-रस की आस्वाद्यता

रस का अर्थ—रस के आदिप्रणेता और व्याख्याता भरत ही माने जाते हैं । उन्होंने रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाट्य के संदर्भ में किया है । निःसंदेह रस का प्रेरणा-स्रोत वेद एवं अन्य प्राचीन साहित्य रहा होगा । नाट्य के प्रधान चार तत्त्वों के अनुसंधान के प्रसंग में अथर्ववेद से रस तत्व के ग्रहण का उल्लेख भरत ने किया है ।[2] रस आनन्दस्वरूप है इस प्रकार का विवरण उपनिषदों में मिलता है । रस के आनन्दात्मक होने के कारण परब्रह्म परमेश्वर या आत्मा का भी रस रूप में ही ऋषियों ने उल्लेख किया है ।[3] आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से रस रूप में

---

१. सामाजिके योऽनुव्यवसायोजन्यते सुखदुःखाधाकार तत्तच्चित्तवृत्ति रूपरूषित निजसंविदानंदप्रकाशमयः, अतएव विचित्रो रसनस्वादन चमत्कार चर्वण निर्वेश भोगाद्यपरपर्यायः, तत्र यदवभासते वस्तु, तन्नाट्यम्—अ० भा० भाग १, पृ० ३७ ।

२. रसानाथर्वणादपि । ना० शा० १।१७ (गा० ओ० सी०) ।

३. रसो वैसः । रसं ह्येवायंलब्ध्वा आनंदी भवति । तैत्तरीय उपनिषद् , ब्रह्मानंद वल्ली—७ ।

आनन्दमय ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है, आत्मा आनन्द रूप है और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्द स्वरूप है।[1]

लोक-प्रचलित व्यवहार की दृष्टि से 'रस' शब्द मधुर आदि षड्स, पारद, विषय, सार, जल, संस्कार, क्वाथ, अभिनिवेश और देहधातु के सार के रूप में प्रसिद्ध है अन्यत्र नहीं। परन्तु शृंगार आदि में प्रयुक्त होने वाले इस 'रस' शब्द का क्या अभिप्राय है? इस शंका का समाधान करते हुए भरत ने रस की आस्वाद्यता का विधान किया है। विषय को स्पष्ट करते हुए भरत ने एक लौकिक उदाहरण इस प्रकार दिया है। संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का भोक्ता पुरुष रसों का आस्वादन करता है। इस अन्नरस का आस्वादयिता 'सुमना' होता है, क्योंकि अन्नरस का उसने आस्वादन किया। उसी भाँति नाना प्रकार के विभाव, अनुभाव रूप भावों, अभिनयों द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानस) युक्त स्थायी भावों को सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि (रस) प्राप्त करते हैं। ये आस्वादयिता सुमना (सहृदय) कहे जाते हैं।[2]

रसास्वादन : मानस व्यापार—भरत ने रस की आस्वाद्यता के विवेचन के प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया है। लौकिक रस का आस्वादन तो विभिन्न इन्द्रियों से होता है, परन्तु नाट्य-रस का आस्वादन तो मन से ही होता है। वह मानस व्यापार है रसना का नहीं। वह रागात्मक चित्तवृत्ति का रस-रूप परिणाम है। यह रस नाट्य-समुदाय से ही आविर्भूत होता है। अतः नाट्य में रस निहित है। नाट्यायमान (दृश्य) काव्य जैसा रस-पेशल होता है वैसा श्रव्य नहीं, क्योंकि नाट्य होने से उसमें साक्षात्कार कल्पना का आविर्भाव होता है। साक्षात्कार में जो आनन्द है वह परोक्ष में नहीं।[3]

रसानंद की तीन श्रेणियाँ—रस की आस्वाद्यता का आनन्द ब्रह्म-रस के तुल्य है। मुक्ति मार्ग के साधक भी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति (आनन्द की प्रेरणा) से आलोकित होकर उस मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य की मूलवृत्ति ही आनन्दात्मक है। यद्यपि अपनी सुरुचि, संस्कार, और प्रवृत्ति के अनुसार कोई रसनाव्यापार के द्वारा उपलभ्य आनंद की ओर प्रयत्नशील होते हैं, तो कोई मानस-व्यापार द्वारा प्राप्य नाट्य-रस की ओर प्रवृत्त होते हैं और कोई आत्ममुक्ति द्वारा प्राप्य ब्रह्मरस में निमग्न होते हैं। तीनों ही रसानंद में आत्म-विसर्जन का भाव समान रूप से वर्तमान रहता है। विषयी रसनाव्यापार द्वारा कामोपभोग-काल में आत्मविस्मृत-सा हो जाता है, नाट्य-रस के उदय काल में सहृदय साधारणीकृत विभावादि के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, यह तादात्म्य ही आत्मलीनता है। निर्विकल्प सुख का साधक भी अहं का त्याग करके ही ब्रह्मरस में लीन होता है। अतः यह आस्वाद्यता ही नाट्य-रस का प्राण है, निस्संदेह इस प्राण का आधान साधारणीकरण या आत्म-विसर्जन द्वारा ही होता है।

---

१. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानंदघनमास्वाद्यते। अ० भा० भाग १, पृ० २९२।

२. भावभिनयसंबंधान् स्थायिभावांस्तथाबुधः।
आस्वादयंति मनसा तस्मान्नाट्य रसाः स्मृताः। ना० शा० ६ ३३।

३. नाट्यसमुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थ विषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। अ० भा० भाग १, पृ० २९०। (द्वि० सं०)।

नाट्यरस की आस्वादयोग्यता

नाट्यरस का आस्वाद्यता के साथ ही उसकी आस्वादयोग्यता की समस्या भी उठती है। नाट्य के साथ अनुकार्य, कवि, काव्य, प्रयोक्ता, और प्रेक्षक ये सब सम्बन्धित हैं। परन्तु नाट्य-प्रयोग से प्रयोक्ता और प्रेक्षक ही विशेष रूप से सम्बन्धित है। क्योंकि प्रयोक्ता नाट्य का प्रयत्न-पूर्वक प्रयोग करता है और प्रेक्षक उस रसमय प्रयोग का आस्वादन करता है। भरत का विचार तो इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट है कि नाट्यरस का आस्वादक प्रेक्षक ही है। नाना भावों से अभिव्यंजित और वाचिक आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय से समृद्ध स्थायी भाव का रस रूप में आस्वादन सुमनस प्रेक्षक ही ग्रहण करते हैं और लोकोत्तर आनन्द में लीन हो जाते हैं। उनकी दृष्टि से अन्य के रसास्वादन होने की संभावना नहीं मालूम पड़ती है।[1] परन्तु परवर्ती आचार्यों में इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। भट्टलोल्लट ने भरत-सूत्र की व्याख्या करते हुए अनुकार्य राम आदि तथा अनुकर्ता नट में भी रस का आस्वादन स्वीकार किया है।[2] अभिनवगुप्त ने प्रेक्षक में ही रसास्वाद की योग्यता का प्रतिपादन करते हुए पात्र में उसका सर्वथा निषेध किया है। उनकी दृष्टि से पात्र या नट रस का आस्वादन नहीं करते। देश काल और प्रमाता आदि के भेद से रस नियंत्रित नहीं होता। नट में रस के आस्वादन का उपाय मात्र रहता है। इसीलिए नट को पात्र भी कहते हैं। पात्र में मद्य के आस्वादन की क्षमता नहीं होती वह तो मद्यप में होती है। पात्र तो मद्यप के मद्य-पान का माध्यम मात्र है, उसी प्रकार नाट्य का पात्र भी कवि-कल्पित रस के आस्वादन का प्रेक्षक के लिए एक माध्यम मात्र है। अतएव वह पात्र है। पात्र का रसास्वादन अथवा रसज्ञान का उपाय मात्र होता है।[3]

नाट्यरस का आस्वादक पात्र या प्रेक्षक— परवर्ती आचार्यों में धनंजय ने भट्टलोल्लट द्वारा प्रतिपादित नट की आस्वादयोग्यता का ही समर्थन किया है। दशरूपककार धनंजय और टीकाकार धनिक के मत से नर्तक में काव्यार्थ की भावना, रस के आस्वाद का निषेध नहीं हो सकता। पर धनिक नर्तक की उसी स्थिति में आस्वाद-योग्य मानते हैं जब नर्तक भी सामाजिक की तरह सहृदय हो। वह सामाजिक के दृष्टिकोण से ही रसास्वाद कर सकता है। अतः नर्तक में रसास्वाद की योग्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए उसकी सामाजिक वृत्ति को अपरिहार्य बनाकर भरत और अभिनवगुप्त के सिद्धान्त से किंचित् ही भिन्नता रहने दी है। यद्यपि भरत ने पात्र और नर्तक आदि की जो परिभाषाएँ दी हैं उसके अनुसार वह इतना कला-समृद्ध होता था कि उसमें रसास्वाद्य की योग्यता मानना उचित ही है। बिना सहृदयता के वैसा भावपूर्ण अभिनय वे कैसे प्रस्तुत करते![4]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने नर्तक को आस्वादक तो नहीं माना है परन्तु काव्यार्थ-भावना की क्षमता उसमें हो तो वह सामाजिक की तरह रसास्वादक भी हो सकता है। इन्होंने

---

१. आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा० भाग १, पृ० २८८ (गा० ओ० सी०)।

२. (मुख्यया वृत्या रामादो) अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात्। अ० भा० भाग १, पृ० २७२।

३. अतएव च नटे न रसः...। नटे तर्हि किम्? आस्वादनोपायः। अतएव पात्रमित्युच्यते। नहि पात्रे मद्यास्वादः अपितु तदुपायकः। अ० भा० भाग १, पृ० २९१।

४. द० रू० ४।४२ तथा धनिक का टीका।

एक ओर भरत और अभिनवगुप्त की परम्परा का समर्थन किया है तो दूसरी ओर धनंजय और धनिक का भी।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पात्र में रसास्वाद की योग्यता का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से जिस प्रकार वेश्याएँ धन के लोभ में दूसरे के लिए रति का प्रसार करती हुई स्वयं भी परम रति का अनुभव करती हैं या गायक श्रोताओं के लिए गायन प्रस्तुत करता हुआ स्वयं भी गायन का आनन्दानुभव करता है, इसी प्रकार पात्र भी राम-सीता आदि विभावों को प्रस्तुत करते हुए तन्मयता प्राप्त कर लेता है। अतः उसमें भी रसास्वाद की योग्यता रहती है।[2]

वस्तुतः रस की पात्रता प्रेक्षक के अतिरिक्त मूल अनुकार्य (राम आदि), कवि, पात्र और प्रेक्षक में सामान्य रूप से है, परन्तु रसास्वाद की योग्यता तो मुख्य रूप से प्रेक्षक में ही है। कवि का तो रसमय होना नितान्त उचित है। उसी की रसमयता (कल्पना) से काव्य या नाट्य में रसमयता का आविर्भाव होता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार कवि के रसमय (श्रृंगारी) होने पर सारा विश्व रसमय प्रतीत होता है, और उसके वीतराग होने पर सारा विश्व नीरस प्रतीत होता है।[3] भोज ने अपने श्रृंगार प्रकाश में रसास्वाद की पात्रता के सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण. किया है। उनके अनुसार रस की स्थिति चेतन प्राणियों में होती है, काव्य के शब्दार्थमय शरीर के अचेतन होने के कारण उसमें सक्रिय रस की स्थिति की परिकल्पना नहीं की जा सकती। लौकिक रूप में, अनुकार्य पात्रों में रस भाव-रूप में वर्तमान रहता है। कवि और नट में किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।[4] स्वयं अभिनवगुप्त ने एकमात्र प्रेक्षक में ही रसास्वाद की योग्यता का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हुए भी कवि को सामाजिक के तुल्य स्वीकार किया है।[5]

अनुकार्य में रस और सामाजिक में रसाभास

प्रेक्षक की आस्वाद योग्यता के सम्बन्ध में आचार्यों में ऐकमत्य है; क्योंकि नाट्य का अभिनय प्रेक्षक के लिए होता है और उसके रसरूप फल का भोक्ता एकमात्र प्रेक्षक या सामाजिक ही है। अन्य रसाधान कवि और प्रयोक्ता आदि रसास्वाद के उपाय ही हैं। दशरूपक के टीकाकार बहुरूप मिश्र द्वारा उल्लिखित किसी आचार्य ने तो मूल रूप से रस की स्थिति अनुकार्य राम आदि में प्रतिपादित की है और सामाजिक में केवल रसाभास की कल्पना की है।[6] उनकी यह कल्पना

---

१. सा० द० ३।१८-१९।

२. ना० द०, पृ० १४२।

३. श्रृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥ ध्वन्यालोक ३।४३।

४. श्रृंगार प्र०, पृ० ४४४।

५. अ० भा० भाग १, पृ० २९४।

६. केचित्तु रामादिगत एव रसः काव्यप्रतिपाद्यः, सामाजिकगतस्तु रसाभास इति प्रतिजानीते। तत्तु वयं न मृष्यामहे।

—द० रू० पर बहुरूपमिश्र की टीका, भोजाज श्रृंगार प्रकाश (वी० राघवन्), पृ० ४६२ पर पांडुलिपि से उद्धृत।

नितान्त असंगत है; क्योंकि मूल अनुकार्य पात्र लौकिक सम्बन्धों से रहित न होने के कारण साधारणीकरण के अभाव में परस्पर एक-दूसरे के प्रति निरपेक्ष आनन्द अनुभव नहीं करते। अनुकार्य दुष्यन्त के लिए तो एकमात्र कण्व-पुत्री शकुन्तला (असाधारणीकृत रूप में) आलम्बन है न कि साधारणीकृत स्त्री मात्र। जबकि प्रेक्षक के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत दुष्यन्त-शकुन्तला रूपधारी पात्र सामान्य नर-नारी के रूप में, नियत सम्बन्धों को त्यागकर सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्द की सृष्टि करते हैं।

समाहार—भरत एवं अन्य आचार्यों की आस्वाद्य-योग्यता सम्बन्धी विचारों की मीमांसा से महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। सुख-दुःखात्मक जीवन-रस का प्रवाह अनुकार्य को स्पर्श करता हुआ प्रेक्षक में आकर विलीन हो जाता है। रस-यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले कवि अपनी समृद्ध-कल्पना से नट आदि अपने भावपूर्ण अभिनय से उसको प्रेक्षक के निकट भोग-रूप में प्रस्तुत करने के लिए वेग देते हैं। प्रेक्षक साधारणीकृत सहृदयता के कारण मुख्यतः पात्र के माध्यम से रस का आस्वाद ग्रहण करता है। निःसंदेह भरत और अभिनवगुप्त ने भी रसास्वादक प्रेक्षक के लिए बौद्धिक प्रतिभा, संस्कार, काव्यानुशीलन और सहृदयता आदि को अत्यावश्यक माना है।[1]

वस्तुतः भरत और अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त कि 'सुमनस प्रेक्षक ही रसास्वादयिता होता है' संगत भी मालूम पड़ता है, क्योंकि नाट्य का प्रयोग तो सुमनस प्रेक्षक के लिए ही होता है। इस दृष्टि से यह प्रसिद्ध पंक्ति बड़ी उपयुक्त प्रतीत होती है कि कवि तो काव्य की रचना करता है और रस का आस्वादयिता तो समीक्षक होता है।[2] आनन्दवर्द्धनाचार्य की दृष्टि से भी प्रेक्षक या प्राश्निक का मर्मज्ञ होना अत्यावश्यक है। मर्मज्ञ प्रेक्षक ही रसास्वादयिता हो सकता है।[3]

नट नाट्य-कला में जो रसिक और सहृदय हो वही कवि-निबद्ध विभाव आदि को भावपूर्ण रूप में रसोद्रेक के लिए प्रस्तुत कर सकता है। ऐसे नट या पात्र में रसास्वाद की योग्यता न होना आपाततः उचित नहीं मालूम पड़ता है। परन्तु विचारणीय यह है कि पात्र या नट काव्यार्थ भावना से युक्त होने पर भी नाट्य-प्रयोग का, वास्तव में, प्रेक्षक तो नहीं होता, नाट्य-प्रदर्शन को देखने पर ही तो प्रेक्षक को रसास्वाद होता है, पर वह तो प्रदर्शन का अंग है निरपेक्ष प्रेक्षक नहीं। उसका आनन्द काव्य-पाठ के स्तर का हो सकता है। यदि साहित्यदर्पण के अनुसार वह काव्यार्थ का भावन करता हुआ सामाजिक पद पर प्रतिष्ठित हो सके, तो प्रेक्षक और पात्र के रसास्वाद के स्वरूप में महान् अन्तर होगा। व्यापक रूप में रस की सत्ता तो सर्वत्र रहती है।[4] अतः रस की मादक स्निग्धधारा कवि, काव्य, पात्र और प्रेक्षक को समान रूप से प्रभावित करती रहती है। कवि-निबद्ध कल्पना और पात्र द्वारा प्रस्तुत अनुभाव आदि के माध्यम से प्रेक्षक जो स्वाद लेता है, उस रस की सत्ता इन दोनों के प्राणों को भी रसावेश से आकुल अवश्य करती है। प्रेक्षक के हृदय में वासना-रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव आनन्द के रूप में वैसे ही परिणत होते हैं जैसे प्रकाशमान सूर्य संसार को अपनी सोष्म किरणों से जाग्रत कर चेतना का उद्बोधन करता है। उसी प्रकार कवि की प्रतिभा भी रस का प्रकाश करती है और पात्र का सरस अभिनय

---

१. ना० शा० २७.६२-६३ (गा० ओ० सी०)।
२. कविः करोति काव्यानि रसं जानंति पंडिताः।
३. ध्वन्यालोक—शब्दार्थ शानमात्रेणैव न वेद्यन्ते।
४. सा० द० ३।१८-१९।

भी उसके भावों का उद्‌बोधन। अतः प्रेक्षक में आस्वादयोग्यता तो है, पर कवि और पात्र में रसोदय की क्षमता स्वीकार करनी चाहिए।

रस सुखात्मक या दुःखात्मक

नाट्य-रस की सुखात्मकता या दुःखात्मकता भारतीय साहित्य-मनीषियों के लिए एक मौलिक चिन्तन का विषय रहा है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक सब आचार्यों ने अपने विभिन्न मतमतांतरों का आकलन किया है। सामान्य रूप से रस तो आनन्दमूलक जीवन-तत्त्व के रूप में प्रचलित है। परन्तु साहित्य-विधा में सुचिन्तित विचारधाराएँ इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। धनंजय और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने नाट्य-रस की आनन्दमूलकता का प्रतिपादन किया है, तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कुछ रसों को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक माना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को सुख-दुःखात्मक मानते हुए भी सामाजिक की दृष्टि से रस को हर्षफलपर्यवसायी रूप में स्वीकार किया है। रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरत के श्लोकों और व्याख्याओं में ही इस विचार-विभिन्नता के बीज हमें अंकुरित होते मालूम पड़ते हैं।

नाट्य-रस सुखात्मक

भरत ने नाट्य-प्रयोजन तथा रस-विश्लेषण के संदर्भ में इस विषय का विवेचन विशेष रूप से किया है। नाट्य विनोदकारक और रंजना-प्रधान है। नाट्य की विविधता का प्रतिपादन करते हुए उसके लिए सर्वत्र सुखदायक एवं हित-कारक विशेषणों का प्रयोग किया है। उससे उनकी 'हर्ष-पर्यवसायी' दृष्टि का ही समर्थन होता है। नाट्य हितोपदेश-जनन, धृतिक्रीडासुखादिकृत्, दुःख-शोक एवं श्रम-पीड़ित के लिए विश्रान्तिजनक, धर्म्य, यशस्य, हितदायक, बुद्धिवर्द्धन और लोकोपदेशजनक होता है।[1] यही नहीं नाट्य को महारस, महाभोग और 'उदात्तवचनान्वित' जैसे आनन्द-रसपूर्ण विशेषणों से विभूषित किया है।[2] इन विशेषणों से नाट्य-रस के स्वरूप के सम्बन्ध में भरत के सुखमूलक दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है। परन्तु दोनों अध्यायों में दो महत्त्वपूर्ण श्लोकों में नाट्य-रस के सुख-दुःखात्मक स्वरूप का संकेत भी होता है। भरत की दृष्टि में लोक का सुख-दुःखसमन्वित स्वभाव, अंगादि अभिनयों से उपेत होने पर 'नाट्य' होता है।[3] नाट्य की सुख-दुःखसमन्वितता के आधार पर नाट्य-रस उभयात्मक भी होता है, ऐसा स्पष्ट आभास होता है। रसाध्याय में भी भरत ने प्रेक्षक द्वारा हर्षादि के प्राप्त करने का भी उल्लेख किया है। 'हर्ष' का स्पष्ट निर्देश है। पर 'आदि' शब्द के द्वारा शोकादिदुःखपरक भावों का भी अन्तर्भाव भरत ने किया है, ऐसी कल्पना आचार्यों ने की है।[4] भरत 'नाट्य' को सुख-दुःखात्मक, नानावस्थान्त-

---

१. ना० शा० १।१११-११६।

२. ना० शा० १६।१४०।

३. सोऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः
सोंगाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते। ना० शा० १।११६ तथा १६।१४२, १४४।

४. प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा० भाग १, पृ० २८६। तथा
अन्ये तु आदिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं हि नाट्यम्। तथात्वे निमित्ताभावात् तत्परिहार प्रसंगाच्चेति मन्यमानाः 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' इति पठन्ति। अ० भा० भाग १, पृ० २८६।

रात्मक लोक-जीवन का अनुकीर्तन या प्रतिफलन मानते हैं, अतः नाट्य-रस का स्वरूप सुख-दुःखात्मक हो यह स्वाभाविक भी है।

उभयात्मक

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के विचारों का उपबृंहण करते हुए नाट्य रस को सुख-दुःखात्मक माना है। उनकी दृष्टि से आठों (या नवों) रसों में शृंगार, हास्य, वीर तथा अद्भुत सुख-प्रधान हैं परन्तु उनमें भी दुःख का किंचित् अंश अवश्य ही मिला रहता है। रौद्र, भयानक, करुण एवं बीभत्स दुःख-प्रधान रस हैं, परन्तु इनमें सुखात्मकता गौण रूप में वर्तमान रहती है। इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने यह भी प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त चार दुःख-प्रधान रसों में अन्यों की अपेक्षा करुण रस में दुःख का आवेग अत्यन्त प्रबल होता है, अतः वह नितान्त दुःखात्मक होता है; क्योंकि अभीष्ट विषय का नाश तो दुःखात्मक होता ही है, पर उसके साथ पूर्वानुभूत सुख की स्मृति और भी दारुण और मर्मवेधक होती है।[1] फलतः रौद्र, भयानक और बीभत्स इन तीनों की अपेक्षा करुण-रस कहीं अधिक दुःखात्मक होता है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य (रस) की निरूपण-पद्धति का आधार जीवन की 'सुख-दुःख उभयात्मकता' है, क्योंकि भरत ने नाट्य को जीवन के सुख-दुःखात्मक रूप का सजातीय अनुकरण माना है। लोक-जीवन में सुख-दुःख की उभयात्मक संवेदना होती ही है। अतः अभिनवगुप्त की यह मान्यता भी नितान्त उचित ही है कि सब रस सुख-प्रधान होकर भी दुःखात्मक हैं और दुःखात्मक होकर भी सुखात्मक हैं। केवल 'शान्त' नामक नवम रस को उन्होंने नितान्त सुखात्मक माना है, क्योंकि घनीभूत दुःख-संचय के स्मरण से प्रेरित वैराग्य के कारण सुख-बहुलता का आविर्भाव होता है। आनन्द-बहुलता की दृष्टि से अभिनवगुप्त के मतानुसार शान्त ही रसराज है। यद्यपि परवर्ती कई आचार्यों ने न तो 'शान्त' नामक नवम रस को ही स्वीकार किया और न एकमात्र 'शान्त' को ही सुखात्मक रस माना।[2]

रसों के वर्गीकरण का आधार

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का एतत्सम्बन्धी मत अभिनवगुप्त के प्रथम मत की ही परम्परा में उभयात्मक है। परन्तु किंचित् अन्तर भी है। अभिनवगुप्त के आरम्भिक मत के अनुसार रस उभयात्मक हैं, उनमें कुछ सुख-प्रधान, कुछ दुःख-प्रधान हैं। परन्तु सबमें सुख-दुःख का भाव अंशतः वर्तमान रहता ही है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसों की सर्वथा दो भिन्न श्रेणियाँ निर्धारित कर दी हैं। उनके द्वारा स्वीकृत नौ रसों में शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त तो सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स दुःखात्मक हैं। प्रथम पाँच रस 'इष्ट विभावादि' तथा अन्तिम चार 'अनिष्ट विभावादि' पर आधारित होने के कारण क्रमशः सुखात्मक और दुःखात्मक भी

---

१. स च सुख-दुःख रूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदैकात्मा। तथा द्वैकालिकस्त्वभीष्ट विषयनाशजः प्राक्तन सुखस्मरणानुबिद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः। अ० भा० भाग १, पृ० ४३ (द्वि० सं०)।

२. (क) एवं ते नवैव रसाः, अ० भा० भाग १, पृ० ३४१ (द्वि० सं०)।
(ख) शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिः नाट्येषु नैतस्य। द० रू० ४।३५ख।

होते हैं ।[1]

कवि की प्रतिभा एवं पात्र की अभिनय-कुशलता से मुग्ध सुमनस दुःखात्मक करुण आदि रस में भी परम आनन्द का अनुभव करते हैं । इसी आनन्द-स्वाद के लोभ से प्रेक्षक उसमें प्रवृत्त होते हैं । कवि तो सुख-दुःखात्मक लोक के अनुरूप राम-सीता आदि विभावों का चरित्र ग्रन्थन करते हुए सुख-दुःखात्मक रसानुविद्ध काव्य या नाट्य की रचना करते हैं । उन कृतियों में प्रकृतभाव से सुख-दुःख के तत्त्व वर्तमान रहते हैं । प्रेक्षक में उन दोनों का ही उद्बोधन होता है न कि केवल आनन्द का ही । सीताहरण, हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के यहाँ दास्यभाव, शैव्या विलाप, लक्ष्मण का शक्तिवेध और रति या अज के विलाप आदि के करुण प्रसंगों को नाट्य-रूप में देखकर किस सहृदय को सुख का स्वाद मिलेगा ? साधारणीकृत विभावादि के दुःखात्मक भावों का अनुकरण दुःखात्मक ही है । अनुकरण के क्रम में यदि वे दुःखात्मक दृश्य भी सुखात्मक हो जाएँ तो क्या वह अनुकरण (?) उचित हो सकेगा ? इष्ट आदि के विनाश में करुणा का जो अभिनय होता है तो उसमें आस्वाद्यता दुःख की ही है । दुःखी व्यक्ति दुःख की चर्चा से सुख मानता है और प्रेम-चर्चा से उदासीन ।

आचार्यों के मत-मतान्तर

वामन, शृंगार प्रकाश के रचयिता भोज, रुद्रभट्ट और हरिपाल देव आदि ने भी रस को सुख-दुःख उभयात्मक माना है । सुख-दुःखात्मक जीवन की अनुरूपता के कारण रस भी इनकी दृष्टि में उभयात्मक ही है । इन आचार्यों ने रामचन्द्र-गुणचन्द्र की परम्परा में नाट्य के प्रति यथार्थवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया है ।[2]

आचार्य धनिक, विश्वनाथ, भट्टनायक, विप्रदास, कुंभ और मधुसूदन सरस्वती आदि ने रस की सुखात्मकता का ही प्रतिपादन किया है । इनकी दृष्टि से रस ब्रह्मानन्द सहोदर है । रस-दशा में प्रेक्षक की सब वृत्तियाँ एकाकार हो आनन्द में विलीन हो जाती हैं । आचार्य विश्वनाथ एवं धनिक की दृष्टि से करुण आदि भी सुखात्मक रस हैं । यदि इनमें भी लौकिक दुःख ही होता तो कौन प्रेक्षक दुःखात्मक नाट्य की ओर प्रवृत्त होता ! लोकव्यवहार में दुःखद घटनाओं से दुःख और सुखद घटनाओं से सुख उत्पन्न होता है । पर नाट्य या काव्य का लोक तो विलक्षण है । नाट्य में अभिनीत सुख-दुःखात्मक प्रसंग आनन्द और सौंदर्य का ही उद्बोधन करते हैं । अन्यथा सीताहरण और शैव्या-विलाप आदि की ओर प्रेक्षक की प्रवृत्ति कैसे होती ! करुण प्रसंगों में प्रेक्षक के नयनों में जो आँसू छलकते हैं, वह तो उसके चित्त की द्रवणशीलता के कारण । यह अश्रु-

---

१. ...सुखदुःखात्मको रसः । ना० द० ३।७ ।
करुण रौद्र बीभत्स भयानकाः चत्वारो दुःखात्मनः ।
यत् पुनः सर्वं रसानां सुखात्मकत्वं तत् प्रतीतबाधितम् । ना० द०, पृ० १४१-४३ (द्वि० सं०) ।

२. (क) मलिनो दुःखकारी च विप्रलंभो प्रियावहः । संगीत सुधाकर—हरिपालदेव ।
संदर्भ-स्रोत — नम्बर ऑफ़ रसाज़ — वी० राघवन, पृ० १४५ ।
(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते । रसकलिका, पृ० ५१-५५ (रुद्रट) संदर्भ स्रोत भोजाज शृ० प्र० ४८३ ।
(ग) करुणा प्रेक्षणीये तु संप्लवः सुखदुःखयोः । वामन हिन्दी कामसूत्र, पृ० १२२ ।
(घ) रसाद्दिसुख-दुःखावस्थारूपाः । भोज का शृङ्गार प्रकाश—भाग २, पृ० ३६६ ।

मोचन भी आनन्दात्मक ही है।[१] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार बुद्धि-निष्ठ होने पर वे सुख-दुःखादि के हेतु होते हैं पर बौद्धनिष्ठभाव केवल सुखात्मक होता है।[२] मधुसूदन सरस्वती के विचार में रस की सुखमयता का प्रतिपादन तो है भावों की सात्विकता के कारण। पर उनमें सुखमय भावों में रजस्, तमस् के मिश्रण से सुख-दुःख का तारतम्य होता है। अतएव सब रसों में तुल्य सुखानुभव नहीं होता।[३] इनका विचार नाट्यदर्पण की परम्परा में है। अरस्तू के दुःख-रेचनवाद के मूल में अंशतः यही भावना वर्तमान है। दुःखजनक दृश्यों के देखने से प्रेक्षक के हृदय के दुःख का विनोदन होता है, उदात्तीकरण होता है।[४] रस-दशा में परत्व-ममत्व का भेद विगलित हो जाता है और साधारणीकृत विभावादि के माध्यम से रस का पूर्ण आस्वाद होता है। यह आस्वाद ही परम ज्योतिर्मय आनन्द है जब अन्य सब प्रकार के ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं। परम आनन्द रूप रस ही की एकमात्र सत्ता रहती है। सामाजिक के द्वारा चर्व्यमाण चमत्कारपूर्ण अलौकिक रसानन्द ब्रह्म-रूप है, इसमें दुःख का अंश कहाँ ?[५]

रस-सिद्धान्त पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव

भारतीय दर्शन की पीठिका में भी रस की आनन्दात्मकता की व्याख्या होनी चाहिए। यह सारी सृष्टि देव की आनन्दमूलक मानसी सृष्टि है, आनन्द की प्रेरणा से ही भूत-मात्र की सृष्टि हो रही है। सारे दर्शन दुःख की अत्यन्त निवृत्ति-रूप मुक्ति या आनन्द-पथ का संकेत करते हैं। विशेषकर भरत और अभिनवगुप्त द्वारा कल्पित रस की आनन्दात्मकता पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का स्पष्ट प्रभाव मालूम पड़ता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सृष्टि के छत्तीस तत्त्व हैं, जिनमें चौबीस सांख्य के तथा शिव और शक्ति आदि बारह तत्त्व प्रत्यभिज्ञादर्शन के और भी हैं। नाट्यशास्त्र में ३६ ही अध्याय हैं और अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के प्रत्येक अध्याय में शिव की एक शक्ति का स्मरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार माया से पुरुष तक के सात तत्त्वों के माध्यम से जीवात्मा इस रसमय विश्व को स्वकीय समझ उपभोग करता है, जो वास्तव में प्रकृति की सृष्टि है और परिणाम में असत्य। नाट्य के द्वारा अभिव्यक्त रसानुभूति की भी प्रक्रिया यही है। प्रेक्षक साधारणीकृत विभावादि (अवास्तविक) के साथ तादात्म्य की प्रतीति करता है और इस प्रतीति द्वारा ही उसके शुद्ध हृदय-दर्पण में आनन्द-रूप आत्म तत्त्व का प्रकाश होता है।[६]

१. करुणादौ अपिरसे जायते यत् परमं सुखम् (सा० द० ३।३-१३)।
स्वादः काव्यार्थसंभेदात् आत्मानंदसमुद्भवः (द० रू० ४।४३ तथा धनिक की टीका, पृ० ६८, (नि० सा०)।
२. बौद्धनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः। भक्ति रसायन ३-५।
३. सर्वेषा भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात् तारतम्यं अवगंतव्यं।—तथा
अतो न सर्वेषु रसेषु तारम्यसुखानुभवः। भक्तिरसायन, पृ० २२।
४. Aristotle's Art of Poetry, p. 32-33, W. Hamilton Fyee London, 1948.
५. परिच्छेदः विवर्जितेः सामाजिकैः चर्व्यमाणः चमत्कारात्मकः परः।
आनन्दं ब्रह्मणोरूपं रसएव। विप्रदास—भ० को०, पृ० ५३०।
६. The authors of the works on Rasa, music and dramaturgy have adopted the same Pratyabhijnya. System of philosophy in explaining the process of aesthetic experience, enjoyed by spectators while witnessing dramatic performances : K. S. Ramswami Sastri, Abhi. Bharati (Intro.), p. 18.

रसजन्य आनन्द— लौकिक दृष्टि से दुःखजनक दृश्य भी नाट्य में कैसे आनन्दवाही होते हैं, अभिनवगुप्त ने इसकी बड़ी उत्तम परिकल्पना की है। रसजन्य आनन्द के लिए यह आवश्यक है कि रसोपलब्धि की सारी प्रक्रिया विघ्न-रहित हो। उसका समस्त वातावरण प्रभावशाली और हृदय को आनन्द-रस में निमग्न करने वाला हो। इसीलिए विरोधमूलक दुःखजनक स्थितियों में भी रसमयता का आविर्भाव होता है। यों सामान्य स्थिति में दुःखोत्पादक दृश्यों के परिवेश में सामाजिक को सुख अनुभव हो, यह स्वाभाविक तो नहीं मालूम पड़ता। परन्तु, एक बात है, बाधक विघ्नों के अभाव में सामाजिक जब उस करुणरस-समृद्ध नाट्य में तन्मय हो जाता है तो उसी तन्मयता के कारण आनन्द-रस का प्रस्रवण सामाजिक की चेतना-भूमि पर होता है। अतः स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद रूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सब रस आनन्दस्वरूप होते हैं। केवल शोकानुभूति के आस्वादन में भी उसके निर्विघ्न विश्रान्तिरूप होने से लोक में कोमल हृदय नारियों को भी हृदय की विश्रान्ति प्राप्त होती है। विश्रान्ति सुख है, अविश्रान्ति दुःख।[1]

रस के आनन्द स्वरूप की भाव-भूमि—भारतीय नाटकों में सुखान्तता का निर्वाह तथा नाट्यशास्त्र में अति खेदजनक दृश्यों के परिवर्जन का इस संदर्भ में बहुत महत्त्व है। यूरोप की नाट्य-परंपरा दुःखपर्यवसायी भावना से आन्दोलित रही है।[2] विश्व के दो गोलार्द्धों में नाट्य के प्रति दृष्टिकोण का जो व्यापक और मौलिक अन्तर है उसके मूल में जीवन-दृष्टि का भी कम अन्तर नहीं है। वैदिक काल से लेकर बाणभट्ट तक आर्य मनीषियों की वाणी आनन्द-प्रेरित रही है। वैदिक ऋषियों द्वारा जीवन की मधुमयता का गान, आनन्द-निर्भर शत-शत शरत् वसन्तों की मंगलमयी कल्पनाएँ जीवन के आनन्द-रूप का संकेतक हैं।[3] फलतः जीवन के प्रतिरूप नाट्य की आनन्दमूलकता तो एक स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। चिंतन की इस आनन्दमूलक धारा को भारत की परम रमणीय प्राकृतिक विभूति से मातृवत्सला सत्ता के रूप में पोषण और संरक्षण प्राप्त होता था।[4] अतः नाट्य के फलरूप में आनन्द की कल्पना करना भारतीय चिंतनधारा और उसके प्राकृतिक परिवेश के अनुकूल है।

नाट्य-रस के सम्बन्ध में भरत की कल्पना आर्यों की आनन्दमूलक चिन्तन-धारा, आर्यावर्त की प्राकृतिक विभूति की ममता और आनन्द की शीतल छाया में पनपी। आर्यों के

---

१. तत्र सर्वेऽभी सुखप्रधानाः। स्व संवित् चर्वणरूपस्यैकधनस्य प्रकाशस्यानंदसारत्वात् तथा हि-एकधन शोकसंवित् चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् (सुखस्य) अविश्रान्ति रूपतैव दुःखम्। तत् एव कापिलैः दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिः इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्। कितूपरंजकवशात्तेषामपि कटुतिक्तता स्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव॥ अ० भा०, भाग १, पृ० २८२ (द्वि० सं०)।

२. Whenever the tragic deed, however is done with in the family—when murder or the like is done or meditated by brother on brother, by son on father, by mother on son, or son on mother. These are the situations the poet should seek after.—Aristotles Art of Poetry, p. 36-38.

३. यत्रानन्दश्च मोदश्च मुदः प्रमुद आसने। तत्र माममृतं कृधि। ऋग्वेद। ६।११३-११।

४. (क) देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। साम। ४।४।३।
(ख) माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः। साम० १२।१।१२।

आन्तरिक और बाह्य जीवन-प्रवृत्तियों के अनुरूप ही प्रधान रूप से नाट्य-रस सुखात्मक है, यह कल्पना आविर्भूत हुई है। परन्तु जीवन की अनुरूपता के कारण उसमें किंचित् दुःख का अनुवेधन भी रहता है। नाट्यरस के रूप में आनन्दमय ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है, दुःख भाव तो तिरोहित-सा हो जाता है।

रस-निष्पत्ति

भरत ने रसाध्याय में रस-निष्पत्ति का विवेचन सूत्र एवं भाष्य दोनों ही शैलियों में किया है। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है।[1] इस मानस रसास्वाद की तुलना भरत ने लौकिक रसना-आस्वाद से की है। नाना प्रकार के गूढ़ आदि व्यंजनों से उपसिक्त सुसंस्कृत अन्न का भोक्ता पुरुष रस का आस्वादन करता है, तदनुरूप ही विभाव तथा व्यभिचारीभाव रूप नाना भावों तथा अनुभाव रूप अभिनयों से संबद्ध स्थायी-भावों को सहृदय पुरुष या प्रेक्षक मन से आस्वादन करते हैं। यह आस्वाद ही नाट्यरस है, परम आनन्द-स्वरूप है।

रस-निष्पत्ति सम्बन्धी भरत-सूत्र की व्याख्या भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण के संदर्भ में प्रस्तुत की है। रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया और उसका जो स्वरूप इन आचार्यों ने निर्धारित किया, तदनुसार रसनिष्पत्ति संबंधी ये मान्यताएँ उत्पत्तिवाद या भावोपचयवाद, अनुमितिवाद या अनुकरणवाद, मुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के रूप में परम्परा से प्रसिद्ध हैं। अभिनव भारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना के क्रम में सब वादों का खंडन किया है।

भट्टलोल्लट का स्थायीभावोपचयवाद—भट्टलोल्लट की रस-निष्पत्ति सम्बन्धी मान्यता के मूल में तीन विचार-बिन्दुओं का आकलन किया गया है—(१) स्थायी भावोचय, (२) कारण-कार्य भाव द्वारा रसोत्पत्ति तथा (३) रस की स्थिति केवल अनुकार्य एवं अनुकर्ता में ही।

विभाव-अनुभाव आदि से उपचित स्थायी भाव ही रस-रूप में उत्पन्न होता है। परन्तु वही स्थायी भाव यदि विभाव आदि से उपचित या पुष्ट न हो तो वह रस न होकर स्थायी भाव ही रहता है। अतः स्थायी भाव का यदि विभावादि से संयोग होता है, तभी रस उत्पन्न होता है। स्थायी भाव और रस की निष्पत्ति का सम्बन्ध कारण-कार्य भाव की तरह है। स्थायी रति आदि चित्तवृत्तियों के रस-रूप में उत्पन्न होने के कारण हैं विभावादि, और कटाक्ष आदि अनुभाव तो रसजन्य कार्य है। घटरूप कार्य के लिए मिट्टी और डण्डा आदि जिस प्रकार कारण होते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव के रस-रूप में उत्पन्न होने में विभाव आदि भी कारण हैं। अतः लौकिक कारण-कार्य भाव के समान विभावादि के संयोग से स्थायी भाव रस-रूप में उत्पन्न होता है। कुछ प्राचीन आचार्य भट्टलोल्लट के इस तर्क से सहमत प्रतीत होते हैं।[2]

यह स्थायी भाव-रूप रस भट्टलोल्लट की दृष्टि से मुख्य रूप से तो अनुकार्य राम आदि में

---

१. विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६, पृ० २७२ (गा० ओ० सी०)।

२. विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावाः चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २७२। तथा—रतिः शृंगारतां गतः अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतांगतः। २।२।८१-८३ (काव्यादर्श)।

ही रहता है परन्तु राम आदि की अनुरूपता की प्रतीति के कारण गौण रूप से नट में भी रहता है। सामाजिक में रस-प्रतीति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट नितान्त मौन हैं। परन्तु कई आचार्यों की दृष्टि में भट्टलोल्लट द्वारा प्रयुक्त नट उपलक्षण है, उसके द्वारा सामाजिक का भी ग्रहण होता है क्योंकि सामाजिक को तो रस का अनुभव होता ही है। पर यह आनन्दानुभव भ्रान्ति पर ही आधारित होता है। भ्रान्ति के कारण सामाजिक को नट में राम के रूप की प्रतीति होती है, अर्थात् प्रेक्षक नट में राम का आरोप करता है। इसीलिए भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त आरोपवाद के रूप में भी प्रसिद्ध है।[1]

भट्टलोल्लट की त्रुटियाँ—'स्थायी भावों का उपचय या परिपुष्टि ही रस है,' भट्टलोल्लट के इस विचार में त्रुटियों की संभावना आचार्य शंकुक को मालूम पड़ीं। विभावादि के योग से रत्यादि स्थायी भावों का जो 'साक्षात्कारात्मक' ज्ञान होता है, वह तो रस ही है, स्थायी भाव नहीं। अतः स्थायी भाव और रस तो एक-दूसरे से भिन्न हैं। विभावादि के योग से पूर्व जो रत्यादि स्थायी भाव हैं उन्हें तो 'रस' नहीं स्वीकार किया जा सकता। उस स्थायी भाव का ज्ञान शब्दों के द्वारा वाच्य है, रस की तरह साक्षात्कारात्मक नहीं है, वह तो परोक्ष है। अतः विभावादि के योग से पूर्व 'स्थायी भाव' शब्द-वाच्य परोक्ष ज्ञान है और विभावादि के योग होने पर स्थायी भाव जो रस-रूप में परिणत होता है, वह तो साक्षात्कारात्मक ज्ञान है, तथा शब्द-वाच्य नहीं, अभिनेय है। अतः स्थायीभाव रस-रूप नहीं है। यदि रस की स्थिति पहले ही स्वीकार कर लें तो भारत को रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त के प्रवर्तन की क्या आवश्यकता थी! स्थायी भाव ही को रस मान लेने में अन्य कई त्रुटियाँ और भी आ जाती हैं। स्थायी भावों में मात्रा का भेद होता है और तदनुरूप रस में भी मंदता और तीव्रता स्वीकार करनी होगी। पुनश्च 'स्थायीभाव के उपचय' के सिद्धान्त का शोकादि में विरोध होता है। शोक में तो आरम्भ में तीव्रता रहती है और उत्तरोत्तर अपचय होता जाता है। तब शोक के उपचय के बिना करुण-रस की उत्पत्ति कैसे होगी? इन दोषों को दृष्टि में रखकर आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए 'अनुकरणवाद' और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की।[2]

शंकुक का अनुकरण और अनुमितिवाद

आचार्य शंकुक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 'रसानुकरणवाद' तथा 'अनुमितिवाद' के आधार पर किया है। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के योग से रस का अनुमान होता है, अनुकरण होता है। अनुक्रियमाण रति ही शृंगाररस के रूप में परिवर्तित होती है।[3] वह स्थायी भाव-रूप कारण से उत्पन्न नहीं होता। रति आदि शब्दों से वाच्य स्थायी भाव का ज्ञान परोक्षात्मक होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। परन्तु उसी का वाचिक और आंगिक अभिनयों से परिपुष्ट ज्ञान साक्षात्कारात्मक होता है। रत्यादि का यह अभिनय अनुकरणात्मक है। इस अनुक्रियमाणता से ही रत्यादि स्थायी भाव रस-रूप में अनुमित होते हैं। अतः शंकुक की दृष्टि से 'अनुक्रियमाण स्थायी भाव' ही रस है। अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायी भाव की रसमयता

१. काव्य प्रकाश की टीका—झल्लीकर, पृ० ८८। (भ० ओ० री० इ०, पूना)।

२. अ० भा० भाग १, पृ० २७३।

३. तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत् प्रभवत्वंचयुक्तम्। अ० भा० भाग १, पृ० २७३।

प्रतिपादित करने के लिए शंकुक ने अनुमान की कल्पना की। जिस प्रकार पर्वत में धुएँ के देखने से नैयायिक अग्नि का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार पात्र में राम आदि के अनुभाव आदि को देखकर वहाँ रस की सत्ता का अनुमान प्रेक्षक करते हैं। अतः विभाव आदि तो अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य।

भट्टलोल्लट की उत्पादक-उत्पाद्य कल्पना के स्थान पर शंकुक ने अनुमापक और अनुमाप्य सम्बन्ध की परिकल्पना की। लोकप्रचलित सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य आदि ज्ञानों से विलक्षण चित्रतुरगादि न्याय के आधार पर अनुमान के लिए शंकुक ने मार्ग प्रशस्त किया। राम और दुष्यन्त आदि 'अनुकार्य' का 'अनुकर्ता' नट तो चित्र-तुरग की तरह अवास्तविक है परन्तु चित्र तुरग को देखकर तुरग का ज्ञान होता है, वैसे ही नट की वेशभूषा एवं अभिनय के प्रभाव के कारण सामाजिक अपनी वासना और वस्तु-सौन्दर्य के बल से अवास्तविक अनुकर्ता नट को ही राम या दुष्यन्त के रूप में अनुमान कर लेता है। उसी रूप में रस का अनुमान हो जाता है। शंकुक की दृष्टि भी नितान्त स्पष्ट है कि वास्तविक रति तो दुष्यन्त और रामादि में ही है परन्तु नट में उसकी अनुकरणात्मकता के कारण वह अनुक्रियमाण स्थायीभाव रस-रूप में अनुमित होता है।[1] शंकुक का भी सिद्धान्त अनुकरण और अनुमिति पर आधारित होने के कारण त्रुटिरहित नहीं है। अतः शंकुक के दोनों मतों का भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने खंडन किया है।

अनुकरणवाद का खण्डन

अनुकरण का प्रमाण—अनुक्रियमाण स्थायी भाव रस है, यह शंकुक का अनुकरणमूलक सिद्धान्त न तो सामाजिक की दृष्टि से, न पात्र की दृष्टि से और न भरत के प्रतिपादित सिद्धान्त की ही दृष्टि से आदरणीय प्रतीत होता है। सामाजिक की दृष्टि से स्थायी भाव के अनुकरण को 'रस' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि किसी वस्तु के प्रामाणिक होने पर ही वह रस या अन्य वस्तु का अनुकरण है, यह कहा जा सकता है। सुरापान का अनुकरण करता हुआ पात्र दुग्धपान करता है। यह प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण इसमें अनुकरण की बात में तथ्य है। परन्तु नट में ऐसी कोई प्रत्यक्ष या प्रामाणिक बात नहीं दिखलाई देती। नट का शरीर या उसके शरीर पर स्थित मुकुट, दृश्यमान रोमांच, गद्गद भाव, भुजाक्षेप और भ्रूक्षेप और कटाक्षादि को अनुकरण माना जाय, तो ये तो इन्द्रिय-ग्राह्य हैं और रति आदि स्थायी भाव मनो-ग्राह्य। दोनों के आधार भी भिन्न-भिन्न हैं। प्रतिशीर्षकादि के आधार शरीर हैं और स्थायी भाव का आधार है आत्मा। अतः पात्र में पाई जाने वाली जिन बातों को अनुकरण-रूप मानकर रस-रूप में शंकुक ने प्रतिपादित किया है वे रस के योग्य नहीं मालूम पड़ते। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुकरण तो सदृशतामूलक है। मुख्य (अनुकार्य) और अमुख्य (अनुकर्ता) दोनों के देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है। परन्तु राम-गत (मुख्य) रति को प्रेक्षकों में से किसी ने नहीं देखा है। अतः पात्र राम के रतिभाव का अनुकरण करता है और यह अनुक्रियमाण रतिभाव

---

१. तस्माद् हेतुभिः विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगवलतः प्रतीपमानैः स्थायीभावो मुख्यरामादिगत स्थाप्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामांतरेण व्यपदिष्टो रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २७२।

रस-रूप में अनुमाप्य होता है, विचार का आधार ही खंडित हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य का तो अनुकरण ही नहीं हो सकता। यह अनुक्रियमाण रतिभाव ही रस-रूप में अनुमाप्य होता है, विचार का यह आधार ही खंडित हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य का तो अनुकरण ही नहीं हो सकता।[1]

भट्टनायक का त्रिविध व्यापार : रस का आभोग

'अनुक्रियमाण रति भाव-शृंगार रस-रूप में परिणत होता है', इस सिद्धान्त का खण्डन कर भट्टनायक ने अपने मत का जो उपबृंहण किया है उसके दो रूप हैं : विध्यात्मक और निषेधात्मक। विध्यात्मक के अन्तर्गत तीन मौलिक व्यापारों की कल्पना की गई है, जिन (व्यापारों) के द्वारा रस का भोग होता है। निषेध के अन्तर्गत रस की प्रतीति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति इन तीनों का ही निषेध किया गया है। इनकी दृष्टि से रस की प्रतीति, उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति परगत अर्थात् पात्र-निष्ठ मानी जाय तो उससे प्रेक्षक को क्या रसास्वाद मिलेगा ? अतः परगत प्रतीति, उत्पत्ति और अभिव्यक्ति को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं होता। यदि स्वगत अर्थात् प्रेक्षक-निष्ठ प्रतीति, उत्पत्ति और अभिव्यक्ति स्वीकार करें तो करुण रस के प्रसंग में प्रेक्षक का हृदय भी शोक-विगलित होने लगेगा। अतः भट्टनायक ने परगत अर्थात् पात्रगत स्वगत अर्थात् प्रेक्षक-निष्ठ रस की उत्पत्ति, प्रतीति और अभिव्यक्ति का वर्जन कर दिया। परगत स्वीकार करने से सामाजिक को कोई रसानुभूति नहीं होती और स्वगत रस की प्रतीति आदि स्वीकार करने पर दुःख-प्रधान रसों में प्रेक्षक के शोकाप्लावित होने की आशंका होती है। अतः भट्टनायक ने तीनों उपर्युक्त मतों का खण्डन कर रसानुभूति के लिए तीन व्यापारों की परिकल्पना की।

भट्टनायक की नवीन परिकल्पना

शब्द में अभिधाशक्ति तो होती है उसी के द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान हमें होता है। परन्तु नाट्य-प्रयोग एवं काव्य में भट्टनायक की दृष्टि से भावकत्व और भोजकत्व ये दो व्यापार और भी होते हैं। भावकत्व या भावना-व्यापार द्वारा सामाजिक के हृदय में साधारणीकृत राम और सीता-रूप विभावादि का आविर्भाव होता है। उनके रति आदि भाव भी साधारणीकृत होकर सामाजिक के रतिभाव से तादात्म्य प्राप्त करते हैं। दोष-रहित गुणालंकार-सहित काव्य के अभिनेता पात्र के माध्यम से देशकाल और प्रमातृ-भेद-रहित सीताराम और उनके रति आदि सुख-दुःखात्मक भावों में सामाजिक स्वयं विलीन होता है। उसका ममत्व-परत्व आदि भेद-विचार इसी व्यापार द्वारा विलीन हो जाता है और इसी भावकत्व या भावना-व्यापार के परिणामस्वरूप भोग का आविर्भाव होता है। रस का आस्वादन होता है। रसास्वादन की इस दशा में सामाजिक की चेतना में रजस्-तमस् की अपेक्षा सत्त्व का प्रकाश, आनन्द और विश्रान्तिमयता का आविर्भाव होता है। आनन्द की यह स्थिति मनुष्य की चेतना के चरम आनन्द का रूप है, अतः ब्रह्म रस का

---

१. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेर्विभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। अ० भ० भाग १, पृ० २७६।

सहोदर है। भट्टनायक के विचार का यही निष्कर्ष है।[1]

अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोग की परिकल्पना के द्वारा भट्टनायक ने रस-शास्त्र की विवेचना के क्षेत्र में नितान्त और मौलिक विचार की सृष्टि की। उनकी इस मौलिक देन का स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने भी यथावत् स्वीकार कर लिया। उन्हें मुख्यतः आपत्ति है अभिधा, भावना और भोग-व्यापारों के स्वीकार करने में। अतः उन्होंने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित तीनों व्यापारों का खण्डन किया है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यंजनावाद

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए अपना अभिव्यंजनावादी नामक मत स्थापित किया। सर्वप्रथम उन्होंने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित अभिधा, भावना और भोग नामक व्यापारों के प्रामाणिक न होने के कारण उनका खण्डन किया, क्योंकि किसी अन्य आचार्य ने रसाभोग के लिए इन विशिष्ट प्रक्रियाओं को पृथक् रूप से स्वीकार नहीं किया। पुनश्च उत्पत्ति, प्रतीति और अभिव्यक्ति इन तीनों का भट्टनायक द्वारा खण्डन भी अभिनवगुप्त की दृष्टि से नितांत दोषपूर्ण है, क्योंकि संसार में ऐसी कौन वस्तु है जिसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः रस की या तो उत्पत्ति होती है या अभिव्यक्ति, और उस स्थिति में उसकी प्रतीति भी अवश्य ही होती है। भट्टनायक ने यह स्वीकर भी किया है कि रस की प्रतीति 'भोग' रूप ही है (प्रतीतिरिति तस्य भोगी करणम्)। निःसंदेह भट्टनायक द्वारा कल्पित भावना का अर्थ उन्हें स्वीकार है; क्योंकि काव्य के द्वारा रस का भावन होता है। परन्तु वह तो व्यंजना-व्यापार द्वारा ही संभव है। भोग तो 'साक्षात्कारात्मक' प्रतीति का विषय और आस्वादन रूप अनुभूत रस ही काव्य का प्रयोजन होता है। साधारणीकरण के माध्यम से आविर्भूत सुख-दुःखात्मक संवेदन या अनुभूति व्यंग्य का विषय है। यह संवेदन ही रस है, महाभोग है।[2]

रसानुभूति का काल

भट्टलोल्लट और शंकुक ने क्रमशः स्थायीभाव के उपचय और अनुकरण को रस-रूप में स्वीकार किया था। अतः दोनों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया कि रस स्थायी भाव से विलक्षण है, स्थायी भाव नहीं। स्थायी भाव व्यक्त या अव्यक्त रूप में मनुष्य मात्र के हृदयों में वासना-रूप में सदा वर्तमान रहते हैं। कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके हृदय में उत्साह, रति, शोक या क्रोध आदि चित्तवृत्तियाँ वर्तमान न रहती हों। परन्तु विभावादि के योग से उनकी अभिव्यक्ति होती है अन्यथा अव्यक्त रहती है। अतः अव्यक्त

---

१. अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधावामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणोहियत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः ॥ अ० भा० भाग १, पृ० २७६।

२. सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यास्यां रतिरेष भाति। ततएव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिक तुल्या न तदारोपादिरूपा। सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीति ग्राह्यो भाव एव रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २८०।

या व्यक्त दशा में वे मनुष्य में वर्तमान रहते हैं। पर रस की सत्ता न तो रस-प्रतीति के पूर्व रहती है न रस-प्रतीति के उपरान्त ही। इसका प्राण तो चर्व्यमाणता ही है। चर्व्यमाणता से ही यह अभिव्यक्त होता है और चर्वणाकाल तक ही विद्यमान रहता है। यह दीप के प्रकाश में दृश्यमान घट-पटादि की तरह पहले से सिद्ध नहीं है। अतः यह रस-चर्वणा या आस्वादन काल तक ही रहता है, जबकि स्थायी भाव तो चर्वणा के अतिरिक्त काल में भी वर्तमान रहते हैं। अतः स्थायी भाव का उपचय या अनुकरण रूप-रस नहीं अपितु उससे विलक्षण है।[1]

रसानुभूति और काम-भाव

नाट्य-प्रयोग के क्रम में साधारणीकरण के माध्यम से प्रेक्षक की संवेदना-भूमि पर रस का अभिस्रवण होता है। रस की इस आनन्दमयता के मूल में सार्वभौम काम-भाव की सत्ता वर्तमान रहती है। भरत की दृष्टि में सब मानवीय भावों की निष्पत्ति काम से ही होती है।[2] भरत-प्रयुक्त यह काम-भाव मानवीय संकल्प का भी वाचक है, मात्र शृंगार का संकेतक नहीं।[3] इसी व्यापक दृष्टिकोण के कारण भरत ने धर्म-काम, अर्थ-काम, शृंगार-काम और मोक्ष-काम आदि शब्दों का प्रयोग किया है। निःसन्देह स्त्री एवं पुरुष का रति-भाव तो सर्वोत्तम काम-भाव है; क्योंकि यह स्वयं सुख-स्वरूप है और धर्म और अर्थ आदि की कामना सुख-साधन के लिए होती है। अतएव स्त्री-पुरुष के काम-भाव के लिए शृंगार शब्द का प्रयोग होता है। क्योंकि शृंगार में भोक्ता के आनन्द का आवेग शृंग (प्रकर्ष) पर आरूढ़ हो जाता है।[4] भोज ने रस का विवेचन करते हुए इसी व्यापक अर्थ में काम-शृंगार और रति आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[5] उनकी दृष्टि से मनुष्य की आत्मा में स्थित अहंकार या अभिमान ही शृंगार होता है। यह जन्म-जन्मान्तरों के अनुभव और वासना से उत्पन्न होता है। यह शृंगार सब रसों और भावों का प्रवर्तक है। काम-भाव की प्रधानता की यह विचारधारा प्राचीन भारतीय चिन्तनधारा से पुष्ट होती आ रही है।[6] आधुनिक मनोविश्लेषणवादियों की कामभाव सम्बन्धी विचारधारा भरत और भोज की प्रति-स्पर्धिनी है।[7] उनकी दृष्टि से भी काम-भाव समस्त मानवीय भावों का स्रोत है। नाट्य-प्रयोग में प्रेक्षक को मनःसंकल्पात्मक आत्म-साक्षात्कार का परम सुख प्राप्त होता है।

---

१. अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणैक सारो, न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्त कालावलंबी स्थायिविलक्षण एव रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २८४।

२. ना० शा० २३।९०-९२ का० भा०।

३. कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प समुद्भवः। शिवपुराण।

४. येन शृंगम् रीयते ''शृंगारोहिनाम् आत्मगुण संपदाम् उत्कर्ष बीजम्। शृ० प्र०

५. भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्यः रतिभावः प्रयुज्यते। शृ० प्र० भाग ३, पृ० ३३।

६. (क) कामस्तदग्रे समवर्तताधि—मनसोरेतः प्रथमम् यदासीत्। ऋग्वेद १०।१२९-४।
   (ख) श्रेयः पुष्पफलम् काष्ठात् कामो धर्मार्थयोः वरः।
   कामोधर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाद्यंतदात्मकः। महाभारत शान्ति पर्व।

७. After all there is only one real emotion and that is love. Most other feelings are love-sickened. Envy and jelously are both jaundied love. Personality, M. B. Greenbi, p. 257.

रसानुभूति की विलक्षणता

इस रस की विलक्षणता यह है कि लोक में प्रचलित कारक हेतु और ज्ञापक हेतुओं की तरह विभावादि की स्थिति नहीं है। कारक हेतु के अनुसार बीज अंकुर का कारक हेतु है। परन्तु बीज का ज्ञान किसी को हो या नहीं बीज अंकुर को उत्पन्न करेगा ही। उसमें किसी अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं। परन्तु विभावादि के जाने बिना सामाजिक के हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती। अतः कारकहेतु जैसे लौकिक नियमों से यह रसचर्वणा संचालित नहीं होती। ज्ञापक हेतु अनुसार तेल की सत्ता तिल में पहले से रहती तो है, पर अदृश्य ही। तिल को पेंडने से तेल की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् कारण में कार्य की सत्ता तो रहती है परन्तु वह अभिव्यक्त होने पर दृश्यमान होती है। अतः ऐसे सांसारिक पदार्थों को ज्ञाप्य कहते हैं। विभावादि ज्ञापक हेतु भी नहीं है, क्योंकि रस तो विभावादि के योग से ही आस्वाद्य होता है और रसचर्वणा से पूर्व या पश्चात् उसकी स्थिति नहीं रहती। अतः लोकप्रचलित कारक और ज्ञापक हेतुओं से वह भिन्न है। यद्यपि संसार की सब वस्तुएँ कार्य या ज्ञाप्य हैं पर रस न तो कार्य है न ज्ञाप्य ही। यही इसकी अलौकिकता[1] है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शरबत या पान में विविध प्रकार की स्वादु सामग्रियों के मिश्रण से जो अद्भुत रसास्वाद प्रतीत होता है वह तो न मिर्च का स्वाद है न गुड़ का ही। वह उनकी विशिष्ट रसमयता से सर्वथा भिन्न और नवीन रस है। यह नूतनता, विलक्षणता ही रस-चर्वणा की अलौकिकता है। इसका प्राण रस्य-मानता ही है। भरत-सूत्र में रस-निष्पत्ति का जो उल्लेख है, वह रस की निष्पत्ति के कथन के लिए नहीं, अपितु रसता के द्वारा वह निष्पत्ति होती है, रसना (आस्वाद) इसका आधार है और रसना द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। इसलिए औपचारिक रूप में रस-निष्पत्ति का कथन भरत ने किया है।[2]

अतः यह आस्वादन या रस-प्रतीति कारक और ज्ञापक हेतुओं का व्यापार न होने के कारण अलौकिक तो है पर स्वसंवेदनात्मक होने से सूर्य की तरह वह सत्य है, अप्रामाणिक नहीं है। आस्वाद तो प्रतीति रूप ही है, किन्तु लौकिक प्रत्यक्षादि बोध-रूप प्रमाणों से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि नाट्य के विभावादि जो उपाय हैं वे निर्वैयक्तिक होने के कारण नितान्त विलक्षण हैं। विभावादि के संयोग से रसता या आस्वादन की प्रतीति होती है, अतएव उस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत लोकोत्तर अर्थ आस्वाद्य होने से रस होता है।

भाव और रसोदय

स्थायीभाव : रसत्व का पद

रसोदय के लिए विभाव की अपेक्षा होती है। भरत की दृष्टि से विभाव विज्ञान-विशेष ज्ञानार्थक विशिष्ट शब्द है, अर्थात् कारण एवं हेत्वर्थक है। आंगिक, वाचिक और सात्विक आदि

---

१. अ० भा० भाग १, पृ० २८४-५, का० प्र० ४।९२-९५ (५ ओ० इ०)।

२. तेनविभावादि संयोगाद्रसना यतोनिष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। अ० भा० भाग १, पृ० २८५।

अभिनयों से युक्त स्थायी और व्यभिचारी भावों का ज्ञान विभाव आदि के माध्यम से होता है। इन अभिनयों के द्वारा जिस आस्वाद्यमान काव्यार्थ (रस) का भावन होता है, ये ही अनुभाव होते हैं। विभाव और अनुभाव आदि के द्वारा कवि-कल्पित भावों का भावन या आस्वादन होता है। इन्हीं के द्वारा सामाजिक के हृदय में गंधवत् भाव व्याप्त हो जाता है।[1]

काव्यार्थ पर आधारित विभाव-अनुभाव आदि से व्यंजित उनचास भावों के सामान्य गुणयोग (साधारणीकरण) के द्वारा प्रेक्षक के हृदय में रसोदय होता है। परन्तु इनमें स्थायी भावों को ही रसत्व का पद मिलता है, शेष को नहीं। यद्यपि पाणि, पाद, उदर एवं अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों की दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं, परन्तु कुलशील, विद्या और शिल्प आदि की विलक्षणता के कारण उनमें कुछ राजपद की मर्यादा पाते हैं, अन्य परिजन के रूप में उसके अनुचर होते हैं। रस-लोक में भी स्थायी भाव प्रधान चित्तवृत्ति होने के कारण राजपद भोगते हैं, तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव उसी के उपाश्रित हो उपकारक होते हैं। प्रधानता के कारण स्थायी भावों को ही रसत्व का सम्मान प्राप्त होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्थायी भाव के गौण एवं प्रधानता के सम्बन्ध में प्रतिपादित किया है कि रति आदि स्थायी भाव भिन्न रसों में व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव-रूप भी हो सकते हैं; क्योंकि अन्य रसों में ये तो आगन्तुक होते हैं। आगन्तुक स्थायी भाव में प्रधानता नहीं रहती। अपने रसों से भिन्न रस में सहचारी रूप से पोषक होने पर व्यभिचारी भाव और अनुभाव रूप में स्थित रहते हैं। परन्तु व्यभिचारी भावों को स्थायी भाव का पद कभी नहीं मिलता। रसत्व का पद तो स्थायी भाव को ही मिलता है।[2]

भावों से रस या रसों से भाव

भाव और रस के सम्बन्ध में सम्भवतः भरत से पूर्व ही आचार्यों में मत मतान्तर थे। पर भरतोत्तर आचार्यों में यह मतभिन्नता और भी स्पष्ट होती गई है। इन विचारों के विश्लेषण से तीन प्रधान मन्तव्य विचारणीय लगते हैं—

(१) क्या भावों से रसों की अभिनिर्वृत्ति होती है ?

(२) क्या रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति होती है ?

(३) क्या रस और भाव दोनों ही एक-दूसरे को उत्पन्न करते हैं ?

भावों से रस की अभिनिर्वृत्ति होती है, इस मत के समर्थन में भरत का मत अत्यन्त स्पष्ट है पर अन्य मतों के समर्थन की सामग्री भी नाट्यशास्त्र में मिलती है। रस-विवेचन के आरम्भ में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि कोई काव्यार्थ बिना रस के प्रवृत्त नहीं होता तथा कोई भाव न तो रसहीन है और न कोई रस भावहीन है। इन विचारों से परवर्ती आचार्यों में पर्याप्त भ्रम का प्रसार हुआ है।

भट्टलोल्लट और शंकुक प्रथम एवं द्वितीय पक्षों के समर्थक हैं। भट्टलोल्लट तो 'भावों के उपचय' को ही रस मानते हैं और शंकुक की दृष्टि से अनुकर्ता पात्र के माध्यम से अनुकार्य रामादि के रत्यादि भावों की प्रतीति सामाजिक को होती है। तीसरे मत के समर्थन में नितान्त परिपुष्ट कल्पना की गई है कि भाव और रस एक-दूसरे के उपकारक हैं। भावहीन रस और रसहीन भाव

---

१. यदि वा भावयन्ति आस्वादनं कुर्वन्ति हृदयं व्याप्नुवंति। अ० भा० भाग १, पृ० ३४३।

२. ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३४६ (गा० ओ० सी०), हिं० ना० द०, पृ० ३३०।

की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जैसे व्यंजन और औषधि के संयोग से स्वादुना का सृजन होता है उसी प्रकार भाव और रस एक-दूसरे का भावन करते हैं। लोक में बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल तथा फल से पुनः बीज होता है, उसी प्रकार काव्य (नाटक) वृक्ष-रूप है, नटों का अभिनयादि व्यापार फूल के रूप में है, और सामाजिकों का रसास्वाद फल-रूप है, उसी प्रकार रस की सत्ता भावों में वर्तमान रहती ही है। भरत का यह स्पष्ट मत है कि सूक्ष्म रूप में भावों में रस की सत्ता वर्तमान रहती है, पर रस की अभिनिर्वृत्ति तो भावों से ही होती है न कि रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति होती है। आचार्य अभिनवगुप्त को भी यही मत अभिप्रेत है, रसों से भावों की उत्पत्ति का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है।[1]

रसों की संख्या

आचार्यों की मान्यताएँ

भारतीय नाट्य एवं काव्यशास्त्र की परम्परा में रसों की संख्या के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मान्यताएँ परिलक्षित होती हैं। भरत ने आठ (या नौ) रसों को स्वीकार करके भी मूल रूप में चार ही रस स्वीकार किये हैं, शेष को उन्हीं सेउद्भूत माना है। भोज ने मनुष्य की आभा में स्थित अहंकार-रूप श्रृंगार को ही रसराज माना जबकि भवभूति की दृष्टि में एक करुण रस ही मूल रस है और शेष श्रृंगार आदि रस उसी मूल रस से प्रवर्तित होते हैं।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने नौ रसों को स्वीकारते हुए शान्त रस को मूल रस माना है। वस्तुतः इन सभी आचार्यों ने अपनी जीवन-दृष्टि के अनुरूप ही रस के स्वरूप और संख्या आदि का निर्धारण किया है।

रस से रसोत्पत्ति के कारण

भरत के अनुसार रस तो व्यावहारिक दृष्टि से आठ हैं, पर मूल रस चार हैं; और उन चारों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति होती है। श्रृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और बीभत्स से भयानक। भरत की इस मान्यता के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि भरतपूर्व काल में मूल रस चार ही थे और कालान्तर में इनसे उत्पन्न रसों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। भोज ने भरत की इस मान्यता का विरोध किया है; क्योंकि श्रृंगार से हास्य ही उत्पन्न हो, कोई आवश्यक नहीं है। विप्रलम्भ की दशा में उससे करुण भी उत्पन्न होता है। कुमारसम्भव के पंचम सर्ग में रति का विलाप इसी प्रकार का है। श्रृंगार से वीर और अद्भुत रस उत्पन्न होते हैं। रौद्र से करुण उत्पन्न होता है पर करुण अन्य कारणों से भी उत्पन्न होता है। वीर से अद्भुत रस उत्पन्न होता है पर कायरों में वह भय भी उत्पन्न करता है। यही नहीं, चार मूल रसों में स्वयं श्रृंगार भी 'जन्य' रस हो सकता है। अतः भरत-निरूपित मूल चार रस-प्रकृति का औचित्य भोज की दृष्टि में खण्डित हो जाता है। पर अभिनवगुप्त ने भरत की इस

---

१. ना० शा० ६।३८ तथा दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिः न तु रसेभ्यो भावानमभि निर्वृत्तिः। ना० शा० भाग-१, पृ० २९२-९४, अतो न रसेभ्यो भावाः। अ० भा० भाग १, पृ० १९२।

२. ना० शा० ६।, एकः रसः करुण एव, उ० रा० च०; आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयेनेः। शृं० प्रकाश १!

मान्यता की व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि भरत ने इस विचार के द्वारा भावों और रसों के आन्तरिक सम्बन्ध का व्याख्यान किया है न कि कोई स्पष्ट नियम निर्धारण।[1]

भरत-निरूपित चार मूल रसों से चार रसों की उत्पत्ति के कारणों की बड़ी गम्भीर विवेचना की है। उनकी दृष्टि से निम्नलिखित मुख्य कारण हैं—

(१) एक रस से दूसरे रस के उत्पन्न होने में 'तदाभास' और 'तदनुकृति' कारण हैं। शृंगार से उत्पन्न 'हास्य' में 'तदाभास' और 'तदनुकृति' दोनों ही कारण हैं। 'तदाभास' का अभिप्राय है किसी वस्तु के सम्बन्ध में अयथार्थ ज्ञान और 'तदनुकृति' का भाव है शृंगार आदि की अनुकृति। 'तदाभास' में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के आभास रूप ही हास्य के विभाव के रूप में कारण बन जाते हैं। शृंगार में तदाभास की प्रतीति तब होती है जब खल-नायक का अनुराग पर-स्त्री या तटस्थ या द्वेषिणी स्त्री के प्रति हो। रावण का सीता के प्रति अनुराग-प्रदर्शन रति नहीं रत्याभास है, क्योंकि एक तो सीता परस्त्री है और रावण पर अनुरक्त भी नहीं है। परन्तु अपनी रुद्र प्रकृति और वय के विपरीत चिन्ता, दीनता, मोह और रुदन आदि व्यभिचारी भाव तथा अश्रुपात एवं परिदेवन आदि अनुभाव-समुदाय के प्रदर्शन के अनुचित होने से रावण तदाभासात्मक होकर हास्य का विभाव रूप बन जाता है। रावण सीता के प्रति अनुराग का प्रदर्शन कर प्रेक्षक में अनुराग का नहीं हास्य का उद्बोधन करता है। इस प्रकार तदाभास रूप शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है।

वस्तुतः इस आभासात्मक शृंगार से ही हास्य की उत्पत्ति नहीं होती अपितु सब रसों के आभास होने पर हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य रस के विभाव (कारण) हैं अनौचित्य-प्रेरित मनुष्य की प्रवृत्तियाँ। यह तो सब रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सन्दर्भ में प्रदर्शित अनुचित प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है। अतएव रसशास्त्र में रसाभास और भावाभास का प्रयोग किया जाता है। मोक्ष-हेतु न होने पर जहाँ मोक्ष-हेतु-सा प्रतीत हो वहाँ शान्ताभास ही होगा। जो जिसका बन्धु न हो उसके वियोग में व्यर्थ शोक और प्रलाप का प्रदर्शन हास्य का ही सृजन करता है। इसीलिए अनौचित्य-प्रेरित हास्य का त्याग पुरुषार्थों के सन्दर्भ में उचित माना गया है।

(२) एक रस के फल के बाद दूसरे फल की अवश्यभाविता—एक रस के फल के बाद दूसरे रस का उत्पन्न होना यह रस से रसोत्पत्ति का दूसरा कारण है। रौद्र रस इसका उत्तम उदाहरण है। रौद्र रस का फल है शत्रु का वध या बंधन आदि। पर वध-बंधन आदि यही फल शत्रु-पक्ष की नारियों के लिए करुण रस के विभाव के रूप में प्रवृत्त हो जाते हैं। रुद्र-प्रकृति भीम द्वारा दुःशासन का क्रूर अन्त होता है उसके दारुण वध के रूप में, पर गांधारी के लिए वह वध ही करुण रस का उत्पादक हो जाता है।

(३) रस द्वारा रसान्तर का फल के रूप में अनुसंधान रूप हेतु—जो रस दूसरे रस को फल के रूप में कल्पित कर ही प्रवृत्त होता है यह तीसरा हेतु होता है। वीर रस इसका उदाहरण है। महापुरुष का उत्साह संसार को अपनी वीरता और तेजस्विता से विस्मित करने की दृष्टि से प्रवृत्त होता है। अतः वीर रस के प्रवर्तन से विस्मय या अद्भुत की प्रवृत्ति होती है। राम द्वारा समुद्र पर सेतुबंधन रूप वीरता का परिणाम विस्मय ही है। वस्तुतः रौद्र के अनन्तर भयानक

---

१. भोजराज शृंगारप्रकाश, पृ० ४३६।

और श्रृंगार के बाद नियमतः (विच्छेद होने पर) करुण ही होता है। सीता के प्रति राम का करुण भाव, वासवदत्ता के जल मरने का शोकजनक समाचार सुनने पर उदयन का विलाप और काम-दहन के उपरांत रति का प्रणय-प्रलाप रूप करुण रस के मूल में श्रृंगार की उद्दाम शक्ति है। इसी प्रकार वीर से भयानक की भी उत्पत्ति देखी जाती है। कर्ण की उपस्थिति में ही जब अर्जुन ने उसके पुत्र का निर्मम वध कर दिया तो सारा जगत् ही मानो भयभीत हो गया। अतएव भरत द्वारा प्रयुक्त 'वीराच्चैव भयानकः' में च शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है। वीरता के द्वारा शत्रु के हृदय में दो ही भाव उत्पन्न होते हैं, भयानकता के या भय के। वीर तो भयानक रस से आप्लावित हो जाता है और शत्रु पर जवाबी प्रहार करता है, पर कायर तो भयभीत ही हो जाता है। अतः वीरता में उत्साह प्राणवत् है, अन्यथा वीरता द्वारा शत्रुनिष्ठ भयोत्पादन के अतिरिक्त कोई फल नहीं रह जायगा। परन्तु वीरता के दोनों ही परिणाम लोक में देखे जाते हैं। अतः अभिनवगुप्त के अनुसार भयानक रस की उत्पत्ति में वीरता का प्राणरूप उत्साह कारण अवश्य होता है।

(४) तुल्य विभावादि के होने से रसान्तर की सम्भावना रूप हेतु—दो रसों के विभावादि के एकसा होने से भी एक रस से दूसरा रस उत्पन्न होता है। वीभत्स के विभाव हैं रुधिर आदि। परन्तु ये ही भयानक के भी विभाव हैं। अतः समान विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भाव होने से वीभत्स रस से ही भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

वस्तुतः श्रृंगार, वीर आदि के चार प्रधान रसों से हास्य, करुण आदि की उत्पत्ति की जो कल्पना भरत ने की है, वे चारों ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त रहते हैं। वे चार रस सौन्दर्यातिशय के जनन रूप हैं।

रसों में शान्त रस !

रसों से रसों की उत्पत्ति का सिद्धान्त भरत ने प्रतिपादित किया, पर वे रस आठ हैं या नौ इस सम्बन्ध में भरत-निरूपित मान्यता के सम्बन्ध में उनके व्याख्याकारों और परवर्ती आचार्यों में परस्पर मतमतांतर है। नाट्यशास्त्र के उपलब्ध दो संस्करणों में 'शान्त' का नवम् रस के रूप में उल्लेख किया गया है, पर काशी संस्करण में शान्त को अस्वीकार कर आठ ही रसों का प्रतिपादन किया गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आचार्यों की दृष्टिभिन्नता के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो प्रकार के पाठ अभिनवगुप्त से पूर्व ही प्रचलित थे। यही कारण है कि उन्होंने शान्त-रस विरोधी भट्टलोल्लट के मत का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि से शान्त रस का खण्डन करने वाले आचार्य ही आठ रस मानते हैं।[1] अन्यथा अन्य आचार्यों की परम्परा से प्राप्त नाट्यशास्त्र के संस्करणों में शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' का उल्लेख कैसे होता ! नाट्यशास्त्र के प्रचलित विभिन्न पाठों के आधार पर एक ओर आचार्य अभिनवगुप्त, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शार्ङ्गदेव, अग्निपुराणकार, शारदातनय एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने शान्त को नौवाँ रस मानकर प्रतिपादन किया है[2] पर भट्टलोल्लट की परम्परा से प्रभावित धनंजय, धनिक और मम्मट प्रभृति

१. एतावन्त एव रसा इत्युक्तं पूर्वं तेनानंत्येऽपि पार्षद प्रसिद्ध्या, एतावतां प्रयोज्यत्वं यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपनापरांमृश्येत्यलम्। अ० भा० भाग-१, पृ० २९८।

२. ना० द० ४।६, सा० द० ३।१८७-८८, अ० प्र० अ० ३३९, भा० प्र०, पृ० १३५-६।

आचार्य आठ ही रस स्वीकारते हैं[1], विशेषकर नाटकों के लिए।

इसमें सन्देह नहीं कि भट्टलोल्लट और धनंजय के पूर्व ही शान्त रस को रसों में स्थान प्राप्त हो गया था। परन्तु शान्त के सुखदुःखातीत मोक्ष रूप तथा नाट्य के सुखदुःखात्मक संवेदन रूप होने से आचार्यों की एक परम्परा ने इसी आधार पर रसों के अन्तर्गत उसकी परिगणना का विरोध किया। दशरूपक के टीकाकार धनंजय ने नागानंद नाटक में शान्तरस की स्थिति का खंडन किया है। उनकी दृष्टि से इस नाटक में न तो शान्तरस है और न नाटक के नायक जीमूत वाहन में शान्त रस के नायक होने की क्षमता ही है। एक ओर तो वह मलयवती के अनुराग में रँगा है और दूसरी ओर वह विद्याधर चक्रवर्तित्व भी प्राप्त करना चाहता है। ये पुरुषार्थ-साधक कामनाएँ शमभाव के नितांत विपरीत हैं। नागानन्द में शान्त के स्थान पर वीर रस की सत्ता यदि स्वीकार कर ली जाए तो कोई विरोध भी नहीं होता। मलयवती के प्रति प्रेमभाव और विद्याधर पद की प्राप्ति दोनों ही काम एवं अर्थमूलक मानवीय प्रवृत्तियों के रूप होते हैं, जिनका अस्तित्व वीर रस में होता है। इन आचार्यों की दृष्टि से शांत तो सुख-दुःख और राग-द्वेष आदि मानवीय प्रवृत्तियों से रहित आध्यात्मिक मनःस्थिति है, वह सुख-दुःखात्मक 'नाट्य' का रस कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि उसके स्थायीभाव के रूप में प्रचलित 'शम' और निर्वेद को भी स्वीकार नहीं किया है। राग-द्वेषविहीन शम या निर्वेद रूप विभावादि का अभिनय सम्भव नहीं है।[2]

शान्त रस के समर्थक आचार्यों की दृष्टि से चार पुरुषार्थों में मोक्ष भी है। जिस प्रकार कामादि पुरुषार्थों के अनुरूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ कवियों की मर्मस्पर्शी वाणी और अनुकर्ता पात्रों के भावपूर्ण अभिनयों के द्वारा सहृदयों के लिए आस्वाद्य हो शृंगारादि रस के रूप में उद्भूत होती हैं, उसी प्रकार मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की साधक 'शम' या 'निर्वेद' नामक चित्तवृत्ति भी कवि और पात्र के प्रभावशाली व्यापारों द्वारा आस्वाद्यता प्राप्त कर रसत्व की मर्यादा पाती है। अतएव लोक-व्यवहार एवं शास्त्र के अनुसार शान्त रस की स्थिति स्वाभाविक है। यदि नाट्य सप्तद्वीपानुकरण या लोकवृत्तानुचरित है तो मोक्ष रूप पुरुषार्थ का साधन इस लोक में अनेक महापुरुष करते हैं। जीवन की वह भी परम उत्कर्षशाली चेतना है, वृत्ति है, उसका तदनुरूप अभिनय क्यों नहीं हो सकता![3]

शम ही शान्त रस का स्थायी भाव है तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद नहीं, निर्वेद तो शोक-प्रवाह का प्रसार रूप विशिष्ट चित्तवृत्ति है, शोक रागमूलक होता है, पर तत्त्वज्ञान का प्रवर्त्तक वैराग्य या शम तो राग का प्रध्वंस रूप है। राग के प्रध्वंस होने पर ही आत्मा में तत्त्वज्ञान का प्रकाश होता है और मोहरूपी तमिस्रा विगलित हो जाती है और परमानन्द परम सुख का उदय होता है। अतः 'शम' ही शान्त का स्थायी भाव है न कि पानक रस के समान सब स्थायी भाव मिलकर समष्टि रूप से विलक्षण शान्तरस के स्थायी भाव होते हैं और न रति आदि में से कोई एक ही शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है। हास, क्रोध और भयानक आदि चित्तवृत्तियों में परस्पर

---

१. शममपि केचित् पादुः पुष्टिः नाट्येषु नैतस्य। द० रू०, का० प्र० ४।२६, ४७।

२. दशरूपक-४।

३. ना० शा० अ० ६, पृ० ३३३ (गा० ओ० सी०), इह तावद्धर्मादि त्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः। तथा मोक्षाभिधान परमपुरुषार्थोचित। चित्तवृत्ति किमिति रसत्वं नानीयत इति। अ० भा० भाग-१, पृ० ३३३।

विरोध होगा तथा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न स्थायी भाव स्वीकार करने पर तो शान्त रस के अनन्त भेद होने लगेंगे। मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन तो तत्त्वज्ञान ही है। अतः शान्त रस के लिए तत्त्वज्ञान रूप आत्मा ही स्थायी भाव है। इन्द्रिय सन्निकर्ष से भिन्न आत्मा का ज्ञान तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान है। उस अदेह आत्मा का ज्ञान ही शान्त रस का स्थायी भाव हो सकता है। अतः ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप विषयोपभोग रूप दुःख से निवृत्त आत्मा शान्त रस में स्थायी भाव रूप है। आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की एक परम्परा के अनुसार शान्त को नौवाँ रस इसी रूप में प्रतिपादित किया है।[1]

भरत ने तो आठ या नौ तक ही रसों को स्वीकार किया है, पर रसों की संख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति परवर्ती आचार्यों में परिलक्षित होती है। भोज ने तो परम्परागत आठ रसों के अतिरिक्त शान्त, प्रेयान्, उद्धत और उर्जस्वी इन चार रसों का उल्लेख किया है। शान्त की प्रकृति शम, प्रेयान् की स्नेह-प्रकृति, उद्धत की गर्व-प्रकृति और ओजस्वी की अहंकार-प्रकृति होती है। शृंगार आदि की तरह इनके भी विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होते हैं। भरत के विपरीत रुद्रट की तरह भोज तेतीस व्यभिचारी तथा आठ सात्विक भावों को रसत्व की मर्यादा देने का समर्थन करते हैं, क्योंकि इनमें भी रसनीयता की शक्ति है।[2]

आचार्यों ने किसी रस की प्रधानता के प्रतिपादन के लिए शृंगार या करुण एक ही रस को रसराज माना हो या मनुष्य की विभिन्न चित्तवृत्तियों का समानीकरण या स्तरीकरण कर भरत की तरह आठ या नौ रसों का उपबृंहण किया और बाद में भक्ति रस या मधुर रस या प्रेयान् और ओजस्वी रस की ही कल्पना क्यों न की हो, पर भरत-प्रतिपादित अष्ट या नव रस तथा मूल चार रसों से अन्य रसों के उद्भव का सिद्धान्त मानव की मनोग्रंथियों और अन्तश्चेतना की विकासमान प्रक्रिया के नितांत अनुरूप है।

स्वीकृत रस

रसों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में जो भी मतमतान्तर हों परन्तु आठ (नौ) रसों को तो सब आचार्य स्वीकार करते हैं। यहाँ हम उन रसों, उनके विभावादि विषय, अनुभाव और भाव की परिगणना सूत्र-रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) शृंगार—शृंगार रस का उद्भव रति नामक स्थायी भाव से होता है। यह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से सम्पन्न होता है। उत्तम स्वभाव के अनुरक्त युवा और युवतियों का रति भाव आस्वाद्य योग्य होता है। सीता रामादि उत्तम प्रकृति के अनुकार्यों का रति भाव सामाजिक के हृदय में भी आस्वाद्य होता है; क्योंकि अनुकार्य और प्रेक्षक दोनों के सुखदुःखात्मक भावों के साधारणीकरण के द्वारा तादात्म्य की प्रतीति होती है। यह तादात्म्य प्रतीति ही रस के द्वार को उन्मुक्त कर देती है। संभोग और विप्रलंभ-शृंगार रस की दो अवस्थाएँ हैं, भेद नहीं। संभोग शृंगार सुन्दर ऋतु, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन, गीत आदि प्रिय विषय, भव्य भवन,

---

१. अ० भा० भाग-१, पृ० ३३६।

२. न चाष्टावेवेति नियमः। यतः शान्तं, प्रेयांसं, उद्धतं, उर्जस्वितं च केचिद्रसमाचक्षते। भोजाज शृंगार प्रकाश, जिल्द २, पृ० ४३८, तथा—त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः प्रयान्ति च रसस्थितिम्। शृंगार तिलक १।१४ रुद्रभट्ट।

रमणीय उपवन, गमन, श्रवण, दर्शन, जल-क्रीड़ा और अन्य लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है। परन्तु ये बाह्य विभाव न रहें तो भी रूपकों में संभोग शृंगार नायक की ज्ञान-समृद्धि के कारण उत्पन्न हो ही जाता है। यही कारण है कि भरत ने विभाव, आलंबन और उद्दीपन आदि का कृत्रिम भेद नहीं किया है। नयनों का चातुर्य भ्रूक्षेप, कटाक्ष-संचार, ललित-मधुर अंगहारों के द्वारा संभोग शृंगार के अनुभावों का अभिनय होता है। बिना अनुभाव और अभिनय के नाट्य में चमत्कार और रस का सृजन नहीं होता, वह तो वर्णनात्मक काव्य मात्र रह जाता है। अतः नाट्य में अनुभाव का बड़ा महत्त्व है।[1] इसीलिए काव्य में वह चमत्कार नहीं होता तो नाट्य में वहाँ चर्वणा का नितान्त अभाव रहता है। आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़ शेष तीस संचारी भाव इसमें रहते हैं। विप्रलंभ शृंगार में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, स्वप्न विबोध और व्याधि आदि अनुभावों का प्रयोग अपेक्षित है। विप्रलंभ शृंगार में व्याप्त विछोह आदि में प्रणय का भाव ही छिपा रहता है, रति के विलाप और उदयन के शोकोद्गार प्रेम-परिप्लावित हैं। कामशास्त्र में शृंगार की दश दशाओं का उल्लेख है, उसमें बहुत-सी दशाएँ दुःखपरक भी हैं। करुण और शृंगार विप्रलंभ में अन्तर यही है कि करुण तो निरपेक्ष होता है, मृत बंधुजन के लिए प्रदर्शित शोक में किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रह जाती, नितान्त उदासी और निराशा से जीवन दुःखमय हो जाता है। परन्तु विप्रलंभ में तो आशा का बंधन वियुक्त प्रेमी के प्रेम को परिपुष्ट करता रहता है।[2] शृंगार भी वाक्य, वेश और क्रिया-भेद से तीन प्रकार का होता है।

(२) हास्य—हास्य रस हास स्थायी भावात्मक है। दूसरे के विकृत वेश, अलंकार, निर्लज्जता, लालचीपन, असंगत भाषण और अंगों की विकृति रूप विभाव आदि के प्रदर्शन के द्वारा यह उत्पन्न होता है।[3] ओष्ठ, नासिका और कपोलों का स्पंदन, आँखों को खोलना और बन्द करना आदि अनेक अनुभावों के द्वारा अभिनेय होता है। अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा और स्वप्न आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद होते हैं। सामाजिक जब हास्य के विभावादि के बिना देखे ही दूसरों को हँसते देख हँसता है तो आत्मस्थ हास्य होता है, परन्तु गम्भीर स्वभाव के कारण विभावादि को देख लेने पर हास्य के उदित न होने पर दूसरे को हँसते देख किंचित् मुस्कराता है तो परस्थ हास्य होता है।[4] वस्तुतः हास्य काष्ठस्थित अग्नि के समान संक्रमणशील होता है, दूसरों को हँसते देख सामाजिक हँस पड़ते हैं। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित ये छः भेद होते हैं। उत्तम प्रकृति के नर-नारियों में स्मित और हसित, मध्यम में विहसित और उपहसित तथा नीच श्रेणी के नर-नारियों में अपहसित और अतिहसित के रूप दिखाई पड़ते हैं। अंग, वाक्य तथा वेष रचना के आधार पर तीन प्रकार का होता है।

---

१. ना० शा० भाग १, पृ० ३००-३१० (गा० ओ० सी०)।

२. करुणस्तु शापक्लेशविनिपातः—समुत्थोनिरपेक्षभावः।
औत्सुक्य चिंतासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलंभकृतः। अ० भा० भाग १, पृ० ३६६।

३. विपरीतालंकारै विकृताचाराभिधानवेशैश्च।
विकृतैरर्थविशेषैश्च हसतीति रसः स्मृतो हास्यः। ना० शा० ६।४६-६१ (गा० ओ० सी०)। द० रू० ४।७५-७७, ना० द० ४।१२-१३, सा० द० ३।२१६।

४. ···एवं हासः स्वभावतः संक्रमशील इति काष्ठभूयिष्ठता। अ० भा० भाग १, पृ० ३१५।

(३) **करुण रस**—करुण रस शोक नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। शापक्लेश में पतित, प्रियजन के वियोग, विभवनाश, बंधन, वध, देशनिर्वासन, अग्नि आदि में जलकर मरना और विपत्ति में पड़ना आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। अश्रुपात, शोक-प्रलाप, मुख सूखना, विवर्णता, अंगों की शिथिलता, लम्बी साँसें भरना और स्मृति-लोप आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, उत्सुकता, आवेग, भ्रम, मोह, भय, विषाद, दीनता, व्याधि, उन्माद, त्रास, जड़ता, आलस्य, मरण, स्तंभ, कंपन, विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि ये करुण रस के व्यभिचारी भाव होते हैं।[1] भरत ने करुण और शृंगार को स्थायी भाव-प्रभव तथा अन्य रसों को स्थायीभावात्मक शब्द से परिभाषित किया है। 'स्थायीभाव-प्रभव' का अभिप्राय है स्थायीभाव से उत्पन्न तथा स्थायीभावात्मक का अभिप्राय है स्थायीभाव रूप ही, अर्थात् स्थायी-भाव से रस-रूप में परिवर्तन किंचित् ही होता है। दोनों में अन्तर यह है कि हास्यादि रसों के स्थायीभाव सजातीय हासात्मक प्रतीति को ही उत्पन्न करते हैं परन्तु शृंगार और करुण सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते। शृंगार रस का स्थायी-भाव रति है, उससे जो रस-प्रतीति होती है वह रति-रूप नहीं अपितु सुख-रूप है, इसी प्रकार शोक से करुण रस की जो प्रतीति होती है, वह शोक-रूप नहीं, दुःख-रूप है। इस प्रकार शोक तथा रति दोनों ही चरमानुभूति-रूप सुख-दुःख की प्रतीति कराते हैं, यह प्रतीति विजातीय है, हास्य आदि की प्रतीति सजातीय है। दूसरा भेद का कारण और भी है, शृंगार और करुण के विभावादि काव्य या नाटक में ही रस-प्रतीति के कारण होते हैं, लोक में नहीं। लोक में प्रेमी और प्रेमिकाओं की रति को देखकर लज्जा का अनुभव होता है, आनंद का नहीं, पर काव्य और नाटक में वही आनन्द का विषय बन जाता है। अतः इनके विभावादि भी अलौकिक हैं। परन्तु हास्य आदि के विभावादि लोक और काव्य-नाटक में एकसे हैं, दोनों स्थलों पर विकृत वेष आदि से हास्य उत्पन्न होता ही है।[2] धर्म-नाश, अर्थ-नाश और बंधु-नाश से उत्पन्न करुण के तीन भेद होते हैं।

(४) **रौद्र रस**—राक्षस, दानव और उद्धत प्रकृति के मनुष्यों के आश्रित युद्धजन्य क्रोध रूप स्थायीभावात्मक रौद्र रस होता है। यह क्रोध, आघर्षण, अधिक्षेप अनृतभाषण, आधान, कठोरवाणी, अभिद्रोह और ईर्ष्या आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होता है। इसमें ताड़न, पीड़न, छेदन, प्रहरण, आहरण, शस्त्र-संपात और रुधिर प्रवाह करना आदि कार्य विशेष रूप से दिखाई देते हैं। लाल आँखों, टेढ़ी भौंहों, दाँत और होंठों का भींचना, कपोलों का फड़कना, तलहत्थियों को मीसना आदि अनुभावों से अभिनेय होता है।[3] अंग, वेश तथा वाक्य भेद से तीन प्रकार का होता है।

(५) **वीर रस**—उत्तम प्रकृति और उत्साहात्मक वीर रस होता है। इसकी उत्पत्ति भ्रमादि के अभाव, निश्चय, नय, इन्द्रियों पर विजय, सेना पराक्रम, शक्ति प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है। स्थिरता, धीरता, शूरता, त्याग और निपुणता आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, क्रोध, स्मृति और रोमांच आदि संचारी भाव

---

१. इष्टवध दर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वाऽपि।
एभिर्भाव विशेषैः करुणो रसो संभवति। ना० शा० ६।६२-६३।

२. अ० भा० भाग १, पृ० ३१२।

३. ना० शा० ६।६४-६६, द० रू० ४।७४, सा० द० ३।२२२, ना० द० ३।१५।

हैं। दान, धर्म और युद्ध में वीरता के प्रदर्शन से दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये तीन भेद होते हैं।[1]

(६) **भयानक रस**—भयानक रस भय स्थायीभाव रूप होता है। वह विकृत शब्द, पिशाच आदि सत्त्वों के देखने से, श्रृंगार उल्लू आदि से, भय, उद्वेग, शून्यघर, अरण्य-निवास, स्वजनों के वध या बंधन देखने से या सुनने से उत्पन्न होता है। हाथ-पैर काँपना, नयनों की चंचलता, शरीर में रोमांच, मुख का फक पड़ना, और स्वर-भेद आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। स्तंभ, स्वेद, गद्‌गद, रोमांच, कंपन, स्वर-भेद, शंका, मोह, दीनता, आवेग, जड़ता, चपलता, त्रास, मृगी (अपसार) और मरण आदि संचारी भाव हैं। कृत्रिम भय, चोर के साहसिक कर्म से तथा स्वभाव से स्त्रियों और बालकों में भय उत्पन्न होने से भयानक रस भी तीन प्रकार का होता है।[2]

(७) **वीभत्स रस**—जुगुप्सा स्थायीभाव रूप वीभत्स रस होता है। असुन्दर, अप्रिय, अपवित्र एवं अनिष्ट वस्तुओं के देखने-सुनने और उद्वेजन आदि रूप विभावों से उत्पन्न होता है। सब अंगों के संकोचन, उल्लेखन, थूकना और शरीर को धुनना आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। अपस्मार, जी मिचलाना, वमन आदि आवेग, मूर्च्छा, रोग और मरण आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[3] वीभत्स रस भी रुधिर और विष्ठा आदि घृणोत्पादक दृश्यों के देखने से दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। भट्टतौत की दृष्टि से ये दोनों प्रकार के वीभत्स रस अशुद्ध ही हैं। वीभत्स का शुद्ध रूप वह है जब ध्यानस्थ योगी को अपने शरीर से ही घृणा हो जाती है, वह मोक्ष-साधक है, अतः वीभत्स भी मोक्ष का साधक होता है।

(८) **अद्‌भुत**—विस्मय स्थायीभाव रूप अद्‌भुत रस होता है। दिव्यजनों के दर्शन, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति, उपवन, देवकुल आदि में जाना, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल की संभावना आदि विभावों से यह रस उत्पन्न होता है। आँखों का फैलना, निर्निमेषभाव से देखना, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, धन्यवाद-दान, निरंतर हाहाकार करना, हाथ-मुँह-अँगुली एवं वस्त्र का घुमाना आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। स्तंभ, अश्रु, स्वेद, गद्‌गद, रोमांच, आवेग, संभ्रम (घबराहट), अत्यधिक हर्ष, चपलता, उन्माद, धृति और जड़ता आदि अद्‌भुत रस के संचारी हैं। दिव्य और आनन्दज भेद से दो प्रकार का होता है।[4]

(९) **शान्त रस**—शम स्थायीभाव रूप मोक्ष का प्रवर्तक शान्त रस होता है। वह तत्त्व-ज्ञान, वैराग्य, हृदय-शुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यम, नियम, अध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना, सब प्राणियों पर दया, संन्यास धारण आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। निर्वेद, स्मृति, धृति, पवित्रता, स्तम्भ और रोमांच आदि व्यभिचारी भाव हैं। शान्त रस में दुःख रहता है न सुख, न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या, सब प्राणियों के प्रति एकसा भाव रहता है। श्रृंगार आदि सब रसों के रति आदि भाव इसके विकार-रूप हैं और शान्त रस प्रकृति रूप है। शान्त-रूप प्रकृति से रति

---

१. ना० शा० ६।६७-६८, सा० द० ३।२२४, द० रू० ४।७२, ना० द० ३।१६।
२. ना० शा० ६।६९-७२, सा० द० ३।२२५, ना० द० ३।१७, द० रू० ४।८०।
३. ना० शा० ६।७३-७४, द० रू० ४।७३, ना० द० ३।१८, सा० द० ३।२२६।
४. अ० भा० भाग १, पृ० ३३१, द० रू० ४, ना० द० ३।१९, सा० द० ३।२२७।

आदि विकार-रूप उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं।[१]

निष्कर्ष

भरत की रस-परिकल्पना नाट्योन्मुखी है, वे नाट्य के लिए इन रसों का उपयोग करते हैं। यद्यपि मनुष्य की विभिन्न मनोदशाएँ और (विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप आदि) पुरुषार्थ (धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष भी) आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा नाट्य होने पर ही रस रूप में आस्वाद्य होते हैं। अतः व्यापक दृष्टि से विचार करने पर तो नाट्य और रस एक बिन्दु पर मिलने वाले अभिक्षेपक ही तत्त्व हैं। नाट्यायमान भावदशा ही रस होती है, नाट्य ही रस होता है।[२] यह नाट्य या रस आनन्द-रूप ही है। इसे ही भोज[३] ने अहंकार शृंगार और अंवर क्रोचे[४] ने आत्मिक यथार्थता के नाम से अभिहित किया है। जहाँ जिस केन्द्र में मनुष्य की आत्मा की दीप्ति प्रज्वलित होती रहती है और सात्त्विकता के आवेग से आनन्द की ज्योति-रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं।[५] वस्तुतः भरत का भाव यही है कि रस अथवा नाट्य के द्वारा मनुष्य की संवेदनाओं का पुनरुद्भावन होता है। प्रतिफलन होता है, इसीसे रूप में रस्यता और जीवन का चरम सौन्दर्य और प्रकाश विकीर्ण होता है। क्योंकि इस सौन्दर्य-बोध में मनुष्य आत्मदर्शन करता है (आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवित) रसानन्द आत्मदर्शन का ही चरम सुख है।

---

१. न यत्र सुखं न दुखं न द्वेषो नापिमत्सरः। सम सर्वेषु भूतेषु स शांतः प्रथितो रसः। ना भावाः विकाराः रत्याद्यः शान्तुस्तु प्रकृतिर्मतः। विकारः प्रकृते गतिः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः। ना० शा० ४ पृ० ३३३-५ (गा० ओ० सी०)। ना० द० ३-२०, सा० द० ३।२२८।

२. रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। अ० भा० भाग १, पृ० २६०।

३. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्म योनेः। शृंगार प्रकाश-१ (भोज : शृंगार प्रकाश १।३)

4. This is the layer of flame which is the closest we can get to the central fire, to the will to live, on whatever you like to call it. And an impression of this profound emotional reality is what art must convey.—Abercrombie.

५. रत्यादयोऽर्धशतमेकविर्जितानि
भावाः पृथग्विध भावभुवो भवन्ति।
शृंगार तत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥ शृं० प्र० १।६

६

भाव

भाव का स्वरूप और उसकी व्यापकता

नाट्य का साध्य है रस और भाव उसका साधन। भाव इस भौतिक जगत् की व्यापक सत्ता है, वह चित्तवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र में वैसे ही व्याप्त है जैसे पार्थिव तत्त्व में गंध। परन्तु इस लोक की उत्तमोत्तम सृष्टि मनुष्य में वह अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में वर्तमान है। भावों से ही मनुष्य संचालित होता है। वस्तुतः बिना भाव के मनुष्य ही नहीं, सृष्टि की प्रक्रिया की कल्पना भी संभव नहीं है। भरत ने भाव की इस व्यापक सत्ता का ही विचार कर नाट्य के प्रसंग में उसके शास्त्रीय रूप का विवेचन किया है, क्योंकि नाट्य 'नाना भावोपसंपन्नं तथा नानावस्थांतरात्मक' तथा तीनों लोकों का 'भावानुकीर्तन' है।[1]

भाव और भावन

भरत ने भाव के संबंध में विचार करते हुए पहले यह प्रश्न उठाया कि 'भाव' यह शब्द चित्तवृत्ति के लिए क्यों प्रचलित है? इस मूल प्रश्न का समाधान उन्होंने दो प्रकार से किया है। हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में स्थित होने के कारण ये 'भाव' कहे जाते हैं, अथवा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक भावों से युक्त काव्यार्थों को ये भावित करते हैं। इस भावन-व्यापार के कारण ही ये भाव होते हैं। भाव शब्द व्याप्ति-बोधक है, और सबमें व्याप्त होने के कारण भी वह भाव होता है।[2] नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक तीनों में ही भाव व्याप्त हैं। कवि लोकचरित की उद्भावना करता है, इस उद्भावना में वह अपने कल्पित भावों को देशकाल के

---

१. त्रैलोक्यस्याय सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
नाना भावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्। ना० शा० १।१०७, ११२ (गा० ओ० सी०)।

२. किं भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः।
उच्यते वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः इति।
भू इति करणे धातुस्तथा चे भावितं वासितं कृतमित्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धं। अहो ह्यनेन गंधेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।
ना० शा०, पृ० ३४२-४ (गा० ओ० सी०)।

विभेदों से मुक्त, साधारणीकृत रूप में काव्य-कौशल द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए सर्व-हृदय-संवेद्य (आस्वाद्य) बनाता है। अभिनेता आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं मुखराग आदि अभिनयों से सम्पन्न कर कवि-कल्पित भावों का ही भावन करता है, परन्तु साधारणीकृत भावन-व्यापार के द्वारा वह प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन करता है, परिव्याप्त करता है। इस भावन-व्यापार के द्वारा ही प्रेक्षक के हृदय में रसानुभूति होती है। इस भावन व्यापार के कारण ही वे भाव के रूप में अभिहित होते हैं।[1]

अभिनेता कवि-कल्पित भावों का अभिनय करते हुए प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन (व्याप्ति) करता है। यह चित्तवृत्ति वासना के रूप में व्यक्ति में वर्तमान रहती है, अभिनय द्वारा भावन होने पर रस-रूप में प्रतीति-योग्य हो जाती है। भाव की रस-रूप में प्रतीति होती है भावन-व्यापार द्वारा। अतः भरत की दृष्टि में 'भाव' मात्र स्थायी चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु रसानुभव की समस्त प्रक्रिया का वह स्रोत भी है। उनके विचार से विभाव (आलंबन रूप नायक-नायिका एवं उद्दीपन रूप प्रकृति-सुन्दरता आदि) मात्र रस-प्रतीति के ही कारण नहीं होते, अपितु अभिनय के माध्यम से स्थायी भावों को भी प्रतीति-योग्य बनाते हैं, अतएव वे 'विभाव' के रूप में प्रसिद्ध हैं।[2]

अनुभाव

अभिनय की दृष्टि से अनुभाव का भी विशिष्ट प्रयोग होता है। प्रेक्षक द्वारा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों की चेष्टाओं का अनुभावन प्रेक्षक के हृदय में होने के कारण यह 'अनुभाव' होता है। आलम्बन विभाव के प्रति आश्रय में जिन भावों की अभिव्यक्ति अभिनय द्वारा होती है उनका भावन, साक्षात्करण या प्रतीति इन्हीं अनुभावों द्वारा होती है। ये 'अनुभाव' वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ और व्यापार ही हैं। अनुभाव के सम्बन्ध में भरत की यही दृष्टि है। परवर्ती आचार्यों ने अनुभाव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है। जो भावों के पश्चात् होते हैं, अतएव वे 'अनुभाव' हैं। स्थायी भावों के बाद वे कार्य-रूप उत्पन्न होते हैं, अनुभावों के द्वारा ही स्थायी भावों का भावन होता है।[3] परन्तु इन आचार्यों का विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अभिनय के क्रम में वे भावों के साथ ही व्यक्त और तिरोहित होते हैं। भाव तथा अनुभाव में पूर्व-पश्चात् या कारण-कार्य की स्थिति प्रत्यक्ष में भले ही जान पड़े परन्तु वह वास्तविक नहीं है।

---

१. विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इतिसंज्ञितः।
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७।१-२।

२. एवं ते विभावानुभाव संयुक्ता इति व्याख्याताः अतोह्येष भावानां सिद्धिर्भवति।
ना० शा० ७, पृ० ३४८।

३. वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखांगोपांग सयुक्तस्त्वनुभावः ततः स्मृतः॥ ना० शा० ७।५ (गा० ओ० सी०), नाट्यदर्पण ३।४५, सा० द० ६।

भाव : विभाव और अनुभाव के संयुक्त रूप

विभाव और अनुभाव से युक्त भाव है। दोनों का भाव से अनिवार्य सम्बन्ध है। इन्हीं विभाव और अनुभाव आदि से भावों की उत्पत्ति होती है (प्रेक्षक के हृदय में)। परन्तु यह अभिनय में होता है, प्रकृत जीवन में नहीं। विभाव, अनुभाव और भावों के पारस्परिक सम्बन्ध की परिकल्पना द्वारा भरत ने अपना यह मंतव्य स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृत जगत् के भाव कलात्मक स्तर पर किस प्रकार आस्वादन योग्य हो सकते हैं। भरत ने विभाव एवं अनुभाव को लोक-संसिद्ध माना है। अतः नाट्य-प्रदर्शन में भी आलंबन एवं उद्दीपन विभाव, कपोलों का स्पंदन या अलस भावों का प्रदर्शन तथा नयनोन्मीलन आदि अनुभाव लोकानुसारी होते हैं।

भावों का सामान्य गुणयोग

भरत ने इन उनचास भावों को काव्य रस की अभिव्यक्ति का कारण माना है। सामान्य गुण के योग से इन्हीं भावों से प्रेक्षक के हृदय में रसोदय होता है। 'सामान्य गुण योग' शब्द का प्रयोग भरत के तात्त्विक चिन्तन का प्रतीक है। भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित 'साधारणीकरण' का मूल सिद्धान्त 'सामान्य गुणयोग' की कल्पना में बीज रूप में अन्तर्निहित है। इसी सिद्धान्त के द्वारा विशिष्ट एवं व्यक्ति-परक भावों को साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तभी रसोदय होता है। यदि उन व्यक्तिपरक भावों का 'साधारणीकरण' न हो तो रस-प्रतीति होगी ही नहीं।[1] शुष्क काष्ठ में आग्नेय तत्त्व तो वर्तमान है पर वह अग्नि तभी प्रज्वलित होती है जब बाहर से अग्नि का संपर्क होता है। प्रेक्षक के हृदय में भाव वर्तमान रहते हैं परन्तु नाट्यार्थ (विभाव, अनुभाव आदि का संयुक्त रूप) का भावन उसकी हृदय-संवेदना को स्पर्श करता है। ये भाव ही उसके हृदय में रसोद्रेक के रूप में भावित या व्याप्त हो जाते हैं। काष्ठ को प्रदीप्त करने के लिए बाहर की आग अपेक्षित है, उसी प्रकार प्रेक्षक या भावक के हृदय के भाव को रसोद्दीप्त करने के लिए नाट्य वस्तु के भाव को अभिव्यक्त करने वाला अभिनय भी। अभिनय बाह्य भावाग्नि है, उसीसे प्रेक्षक के अन्तर की भावाग्नि रस-रूप में उद्दीप्त हो उठती है।[2]

नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में विभिन्न अभिनयों के माध्यम से लौकिक भावों के कवि-कल्पित अनुभव को नाट्यायित (रूपायित) किया जाता है, भरत की दृष्टि में भाव वह है। नाट्यार्थ (वस्तु), कविकल्पित साधारणीकृत भाव और प्रेक्षकों की रस-प्रतीति के भावित करने के अर्थ में 'भाव' शब्द का प्रयोग भरत ने किया है। इस सम्बन्ध में भरत द्वारा उद्धृत श्लोक बड़े महत्त्व के हैं, उनके द्वारा उन्होंने भाव-सम्बन्धी अपने विचारों की परिपुष्टि की है। उन तीनों श्लोकों में उन्होंने रस-प्रतीति के उद्देश्य से 'भाव' की रेखा पर साधारणीकरण के माध्यम से 'कवि', 'प्रयोक्ता' और 'प्रेक्षक' इस त्रिक के एकत्व की कल्पना की है। कवि लोक-चरित का साधारणीकृत उद्भावन करता है, अभिनेता कवि के हृदयस्थित भावों को अभिव्यक्त करते हुए प्रेक्षक की चित्तवृत्ति (भाव) का भावन कर रसोदय को रूप देता है। इस भाव-रूप साधन से रस-रूप

---

१. एभ्यश्च सामान्यागुणयोगेन रसाः निष्पद्यते। ना० शा० ७, पृ० ३४८।

२. योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठांभवाग्निना। ना० शा० ७।७।

साध्य का सृजन होता है।[1]

विभिन्न भावों का पारस्परिक सम्बन्ध—भरत ने नाट्यशास्त्र में उनचास भावों की परिकल्पना की है। इनमें आठ स्थायी, तेतीस संचारी और आठ सात्त्विक भाव हैं। इन्हीं भावों के विश्लेषण के प्रसंग में भरत ने विभाव और अनुभाव जैसे रसशास्त्रीय शब्दों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। 'विभाव' शब्द हेतु-वाचक है। इसके माध्यम से वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय विभावित होते हैं, विशेष रूप से जाने जाते हैं, अर्थात् स्थायी तथा व्यभिचारी भावों का ज्ञान इसी विभाव के द्वारा होता है। तब इसीसे रस-प्रतीति की संभावना होती है। अतः नाट्य-प्रयोग के संदर्भ में भरत ने कारण-वाचक विशिष्ट शब्द 'विभाव' का प्रयोग किया है। यही विभाव रूप कारण स्थायी एवं व्यभिचारी भावों (चित्तवृत्तियों) को वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के माध्यम से ज्ञापित करते हैं।[2]

स्थायी भाव-संचारी भाव : एक सूत्र न्याय—स्थायी भाव और व्यभिचारी भावों के स्वरूप का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो भाव मनुष्य में प्रधान रूप से वर्तमान रहते हैं, वे ही उसके चरित्र के गठन में योग देते हैं। कुछ भाव गौण रूप से यदाकदा उसके चरित्र के गठन में योग देकर विलीन हो जाते हैं। जो भाव किसी व्यक्ति में निरन्तर वर्तमान रहते हैं वे स्थायी होते हैं और जो अनियमित रूप से यदाकदा आकर प्रवहमान जीवनधारा में गति देकर लौट जाते हैं, वे संचारी होते हैं। शाकुन्तल के दुष्यन्त का चरित्र मुख्य रूप से श्रृंगारी नायक का है। स्वभावतः उसके चरित्र का गठन श्रृंगार-प्रधान होने के कारण उसमें स्थायी भाव रति ही है। यद्यपि संपूर्ण नाट्य में दुष्यन्त के जीवन में अन्य भावों का भी उन्नयन हुआ है पर वे स्थायी नहीं, व्यभिचारी हैं, और रति के अंग बनकर ही आविर्भूत होते हैं। द्वितीय अंक में वह कण्व-पुत्री शकुन्तला के दर्शन के लिए चिन्तित है, छठे अंक में शकुन्तला की अंगूठी की पहचान के बाद ग्लानि, प्रभाव के कारण निर्वेद, चित्रगत भ्रमर को देखकर अमर्ष और असूया आदि भावों के मूल में रतिभाव ही है। इन सब भावों के केन्द्र में रतिभाव ही है। शेष भाव उसी के प्रतिरूप हैं। ये 'स्थायी भाव' को प्रदीप्त करते हैं, उन्हें रस-रूप में प्रतीति-योग्यता प्रदान करते हैं।[3]

दशरूपककार ने यह कल्पना की है कि स्थायी भाव समुद्र की तरह है, जिसमें जितनी भी नदियाँ अपना मीठा जल लेकर जाती हैं उसमें मिलकर उनका जल खारा हो जाता है और उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। समुद्र समस्त वस्तुओं को आत्मसात् कर लेता है, वैसे ही स्थायी भाव भी अपने से प्रतिकूल या अनुकूल किसी भी तरह के भाव से विच्छिन्न नहीं हो पाते। दूसरे सभी प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्म-रूप बना लेते हैं। वस्तुतः रतिभाव में कई चिंता आदि व्यभिचारी भाव भी अविरुद्ध रूप में पाये जाते हैं। इनकी स्थिति माला के फूलों की-सी होती है। एक ही सूत्र में कई पुष्प गूँथ दिये जाते हैं, वैसे ही मनुष्य-चरित्र में प्रधान भाव के

---

१. नानाभिनय संवद्धान् भावयंति रसानिमान्।
यस्मात्तस्माऽमी भावा विज्ञेया नाट्य योक्तृभिः॥ ना० शा० ७।३ (गा० ओ० सी०)।

२. वहवोऽर्था विभाव्यंते वागंगाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं स विभाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० ७।४ (गा० ओ० सी०)।

३. अ० शा० अंक २, ६।

अतिरिक्त अन्य भाव भी गूँथे रहते हैं।[1]

२ स्थायी भाव—भरत ने आठ स्थायी भावों की परिकल्पना करते हुए उनकी अभिनय-विधियों का भी विधान किया है। इन आठ में शम का उल्लेख नहीं है। दशरूपककार ने भी शम नामक भाव को नाट्य-प्रयोग के लिए उचित नहीं माना है।[2]

(१) **रति** नाम का प्रमोदात्मक स्थायी भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, सुन्दर भवन का उपभोग और अप्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सस्मित वदन, मधुर कथा, भ्रूक्षेप और कटाक्ष आदि अनुभावों से रति भाव अभिनेय होता है। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय और अनुराग आदि रति के ही विभिन्न विकसित रूप हैं।[3] (२) **हास** नामक स्थायी-भाव दूसरे की चेष्टा के अनुकरण, असंबद्ध प्रलाप, कुहक, कुटिल कर्म तथा मूर्खता के प्रदर्शन आदि भावों से उत्पन्न होता है। इनका अभिनय अनेक प्रकार के स्मित, हसित, अपहसित और अतिहसित आदि हँसने के विभिन्न रूपों द्वारा होता है।[4] (३) **शोक** नामक स्थायी भाव प्रियजन के विछोह, संपत्ति-नाश, वध, बंधन और दुःखानुभव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अश्रुपात, विलाप, मुख के विवर्ण होने, स्वर-भंग, गात्र की शिथिलता, भूमि पर पतन, सशब्द रुदन, क्रन्दन, दीर्घ निःश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह तथा मरण आदि अनुभावों से इसका अभिनय होता है।[5] (४) **क्रोध** नामक स्थायी भाव संघर्ष, आक्रोश, कलह, विवाद और प्रतिकूल आदि विभावों से उत्पन्न होता है। नाक के विकर्षण (खींचने), आँखों के चढ़ने, ओंठ चबाने और कपोलों के फड़कने जैसे अनुभावों से अभिनेय होता है। यह क्रोध शत्रु, गुरु, प्रणयी, सेवक के कारणों से होता है और कभी कृत्रिम भी होता है, जैसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कृतककलह।[6] (५) **उत्साह** नामक स्थायी भाव का सम्बन्ध उत्तम-जनों की प्रकृति से है। अविषाद, शक्ति, धैर्य और शौर्य आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। यह धीरता, त्याग और उदारता आदि अनुभावों से अभिनेय होता है।[7] (६) **भय** नामक स्थायी भाव स्त्रियों एवं नीच जनों के स्वभाव से सम्बद्ध है। श्रेष्ठ जन और राजा के प्रति किये गये अपराध, हिंसक पशु, शून्य घर, जंगल, पहाड़, हाथी और सर्पदंशन, भर्त्सना, भयानक जंगल, मेघाच्छन्न दिन, रात्रि, अंधकार, उल्लू एवं अन्य निशाचरों की ध्वनियों के श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। काँपते हाथ-पैर, हृदय के काँपने, स्तंभ, मुँह सूखना, जिह्वा से चाटना, स्वेद संचार, कंपन, त्रास, अन्वेषण, पलायन और ज़ोर से चिल्लाना आदि अनुभावों से अभिनेय होता है।[8] (७) **जुगुप्सा** नामक स्थायी भाव का सम्बन्ध भी स्त्री और नीच जनों की प्रकृति से है। यह अरुचिकर दर्शन और श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सब अंगों का संकोचन, थूकना, मुख के सिकोड़ने तथा हृदय के पीड़ित होने आदि अनुभावों से अभिनेय

---

१. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः !
   आत्मभावं नयत्यर्थान् स स्थायी लवणाकरः ॥ द० रू० ४।३४ ।
२. ना० शा० ७।२७ गा० ओ० सी० (द्वि० सं०) तथा दशरूपक ४।३५ ।
३. ना० शा० ७।६ ।
४. वही, ७।१० ।
५. वही, ७।११-१४ ।
६. वही, ७।१५-२० (गा० ओ० सी०)।
७. वही, ७।२१ ।
८. वही, ७।२२-२५ ।

होता है।[१] (८) **विस्मय** नामक स्थायी भाव माया, इन्द्रजाल, मनुष्य के असाधारण कर्म, चित्र एवं लेप आदि कलाओं की अतिशयता रूप विभावों से उत्पन्न होता है। नयनों का विस्तार, अनिमेष दृष्टि, भ्रूक्षेप, रोमांच, शिर के काँपते और धन्यवाद आदि अनुभावों से अभिनेय होता है।[२]

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस है। भरत ने इस शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ निरुक्त की शैली में प्रस्तुत किया है। 'वि' और 'अभि' ये दो उपसर्ग हैं तथा 'चर' गत्यर्थक धातु है। इन तीनों के योग से व्यभिचारी शब्द व्युत्पन्न होता है। जो भाव विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं, भावों को रसोन्मुख करते हैं वे ही व्यभिचारी या संचारी होते हैं। वाचिक, आंगिक और सात्त्विक भावों से युक्त हो नाट्य-प्रयोग में स्थायी भावों को व्यभिचारी भाव रस-रूप में प्रतीति-योग्य बनाते हैं। भरत की दृष्टि से ये व्यभिचारी भाव स्थायी भावों को रस-रूप में व्यक्त करते हैं और यह प्रक्रिया नाट्य-प्रयोग में ही प्रयुक्त होती है।[3]

(१) **निर्वेद** नामक व्यभिचारी भाव दरिद्रता, रोग, अपमान, तिरस्कार, आक्रोश, क्रोध, ताडन, प्रियजन के वियोग और तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यह भाव स्त्री एवं नीच प्रकृति के लोगों के रुदन, निःश्वास, लम्बी श्वास तथा संप्रधारण आदि अनुभावों से अभिनेय है। (२) **ग्लानि** नामक व्यभिचारी भाव वमन, रेचन, रोग, तप, नियम, उपवास, मन का सन्ताप, अतिशय कामभाव, मद्यसेवन, राह की थकावट, क्षुधा, पिपासा, निद्रा भंग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वचन में दुर्बलता, नयन-कपोलों की कान्तिहीनता, कपोलों की क्षीणता, उदर की कृशता, पदविक्षेप की मन्दता, कम्पन, अनुत्साह, गात्र की तनुता, विवर्णता और स्वरभंग आदि अनुभावों से अभिनेय है। (३) **शंका** नामक व्यभिचारी भाव स्त्री एवं नीच जनों में उत्पन्न होता है। चोरी में पकड़ाने, राजा के अपराध और पापाचरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। बार-बार देखने, संकुचित होने, मुँह सूखने, जिह्वा परिलेहन (चाटने), मुख का रंग विवर्ण होने, स्वर-भंग, कम्पन, ओष्ठ सूखने तथा कंठावरोध आदि अनुभावों से शंका का अभिनय होता है।[४] (४) **असूया** नामक व्यभिचारी भाव अनेक अपराध, द्वेष, दूसरों के ऐश्वर्य, सौभाग्य, मेधा, विद्या तथा लीला, आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सभा में दोष-कथन, गुण की निन्दा, ईर्ष्यापूर्वक देखने, नीचे मुख करने, भौंहें चढ़ाने, अवहेलना और तिरस्कार आदि अनुभावों से अभिनेय होता है। (५) **मद** नामक व्यभिचारी भाव मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है। यह तरुण, मध्य और अवकृष्ठ के भेद से तीन प्रकार का होता है। इसके पाँच विभाव होते हैं जिनके द्वारा इनका अभिनय सम्पन्न होता है। कोई मत्त होकर गाता है, कोई रोता है, और कोई हँसता है, कोई कठोर वचन बोलता है, कोई सोता है। उत्तम प्रकृति के लोग सोते हैं, मध्यम प्रकृति के गाते हैं, अधम प्रकृति के लोग रोते हैं। उत्तम प्रकृति के पात्र मत्त हो स्मित वदन, मधुर

---

१. ना० शा० ७।२६।

२. वही, ७।२७।

३. विविधामाभिमुख्येन रसेषुचरन्तीति व्यविचारिणः। वागंगसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयंतीति व्यभिचारिणः। ना० शा० २७।३५५ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० ७।२८-३१, ३३-३५, द० रू० ४।७-१०, सा० द० ३।१४८, १६०, १७०; ना० द० ३।२८६

राग, पुलकित वदन, कुछ-कुछ असंयत वचन, सुकुमार और उद्धत गति का प्रदर्शन 'तरुण मद' में करते हैं। मध्यम प्रकृति के पात्रों के पैरों की लड़खड़ाहट, नयनों के आघूर्णन (चंचल), शिथिल बाहुओं का आकुल विक्षेप तथा कुटिल और अस्थिर चाल का प्रदर्शन करते हैं। अधम प्रकृति के पात्र स्मृति के नाश, अवरुद्ध गति, छींक, हिचकी, कफ आदि की वीभत्सता, जीभ के भारीपन और जड़ता तथा थूकने आदि से अपने मद का प्रदर्शन करते हैं। रंगपीठ पर मदपान करते हुए पात्र के अभिनय में वृद्धि और पीकर प्रवेश करने पर उसके अभिनय को मदक्षय का भाव प्रदर्शित होना चाहिये। (६) **श्रम** नामक व्यभिचारी भाव दूर की यात्रा और व्यायाम-सेवन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर दबाने और मालिश करने, निःश्वास, जंभाई, मन्द पदोत्क्षेप, आँख-मुँह सिकोड़ने और सीत्कार आदि अनुभावों के अभिनेय हैं।[1] (७) **आलस्य** नामक व्यभिचारी भाव खेद, रोग, गर्भ, स्वभाव, श्रम तथा अघाने आदि विभावों से स्त्रियों तथा नीच स्वभाव के लोगों में उत्पन्न होता है। सब प्रकार के कार्यों में अरुचि, शयन, आसन, निद्रा और तन्द्रा में रहने आदि अनुभावों के द्वारा यह अभिनेय होता है।[2] (८) **दैत्य** नामक व्यभिचारी भाव दुर्गति और मनस्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। धैर्य, शिर की पीड़ा, शरीर की प्रथुलता, अन्यमनस्कता आदि अनुभावों से अभिनय होता है। (९) **चिन्ता** नामक व्यभिचारी भाव ऐश्वर्य-नाश, इष्ट द्रव्य के अपहरण और दारिद्रय आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, ध्यान, नीचे मुखकर चिन्तन तथा शरीर की क्षीणता आदि अनुभावों से यह अभिनय होता है। (१०) **मोह** नामक व्यभिचारी भाव दैवी एवं अन्य विपत्ति, रोग, भय और पुराने वैर आदि के स्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निश्चेतता, भ्रमण, पतन, लड़खड़ाहट और न देखने आदि अनुभावों से अभिनय होता है। (११) **स्मृति** (नामक व्यभिचारी भाव) सुख-दुःखकृत भावों का अनुस्मरण ही तो स्मृति है। स्वास्थ्य, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्राभंग, सदृश-दर्शन, उदाहरण चिन्ता तथा अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिर में कम्पन, अवलोकन, भौंहों के चढ़ने आदि से अभिनेय है। (१२) **धृतिः** नामक व्यभिचारी भाव शूरता, विज्ञान, श्रुति, विभव, पवित्रता, आचार, आचरण, गुरुभक्ति, मनोरथ, अर्थ की विशेष प्राप्ति तथा क्रीड़ा आदि विभावों से उत्पन्न होता है। प्राप्त विषयों के उपभोग तथा प्राप्ति, अतीत के नष्ट विषयों के सम्बन्ध में चिन्ता के अभाव से अभिनेय होता है।[3] (१३) **व्रीड़ा** नामक व्यभिचारी भाव अनुचित कार्यात्मक होता है। गुरुजनों के प्रति अनुचित आचरण, अपमान, प्रतिज्ञा के निर्वाह न होने और पश्चात्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुँह छिपाकर या नीचा कर चिन्तन, धरती पर लिखने, वस्त्रों तथा अँगूठियों के छूने और नाखून को कतरने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१४) **चंचलता** नामक व्यभिचारी भाव राग, द्वेष, डाह, अमर्ष, ईर्ष्या तथा प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वाणी में कठोरता, भर्त्सना, वध-बन्धन, प्रहार और ताड़न आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१५) **हर्ष** नामक व्यभिचारी भाव मनोरथ, लाभ, प्रियजन-समागम, मन का सन्तोष, देवता, गुरु, राजा और स्वामी की प्रसन्नता, भोजन,

---

१. ना० शा० ७।३६-४७, द० रू० ४।१२, १७, २१, सा० द० ३।१४४-१४६, भा० प्र०, पृ० २४५।

२. ना० शा० ७।४८-५५, द० रू० ४।१४-१६, सा० द० ३।१४५, १५०, १५५, १७०।

३. ना० शा० ७।५६-६५, द० रू० ३।१६, २४; ३३, १४; सा० द० ३।१४९, १७२-७६, १७६, ना० द० ३।३२-४०।

वस्त्र तथा धन की प्राप्ति और उपभोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। नयन-वदन की प्रसन्नता, प्रिय भाषण, आलिंगन, रोमांच, अश्रुवर्षण और स्वेदागम से अभिनेय है। (१६) **आवेग** नामक व्यभिचारी भाव उत्पात, अवपात, वर्षा, अग्नि प्रकोप, हाथी का इधर-उधर भागना, प्रिय या अप्रिय श्रवण तथा विपत्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सर्वांग की शिथिलता, मन की खिन्नता, मुख की विवर्णता, विषाद और विस्मय आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१७) **जड़ता** नामक व्यभिचारी भाव सब प्रकार के कार्यों में अप्रवृत्ति होने पर होता है। इष्टानिष्ट-श्रवण और व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अकथन, अस्पष्ट भाषण, मौन रहने, अप्रतिभ रह जाने, एकटक देखने, तथा परवश आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१८) **गर्व** नामक व्यभिचारी भाव ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल और धन-लाभ आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका अभिनय असूया, अवज्ञा, तिरस्कार, उत्तर न देने, न बोलने, अंग देखने, विभ्रम, हँसी उड़ाने, वाक्य की कठोरता, गुरुजनों की अवहेलना, तिरस्कारपूर्ण वचन, तथा बात करने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (१९) **विषाद** नामक व्यभिचारी भाव कार्य न करने तथा दैवी विपत्ति से उत्पन्न होता है। सहायक के ढूँढ़ने, उपाय-चिन्ता, उत्साह नाश, मन की खिन्नता और निःश्वास लेने आदि अनुभावों से अभिनेय है। विपरीत दौड़ने, नीचे देखने, मुँह सूखने, मुँह के कोनों को मुख से चाटने, अनिद्रा और निःश्वास आदि अनुभावों से नीचों का विषाद अभिनेय है। (२०) **उत्सुकता** नामक व्यभिचारी भाव प्रियजन, वियोग के अनुस्मरण और उद्यान आदि दर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। दीर्घ निःश्वास, नीचे मुँह करके सोचने, निन्द्रा-तन्द्रा और शयन की अभिलाषा द्वारा अभिनेय है। (२१) **निद्रा** नामक व्यभिचारी भाव दुर्बलता, श्रम, क्लान्ति, मद, आलस्य, चिन्ता, अति आहार और स्वभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुख के भारीपन, शरीर के देखने, नयनों के घूमने, गात की जंभाई, उच्छ्वास लेने, शरीर को शिथिल करने और आँखों के मलने आदि अनुभावों से अभिनेय है।[1] (२२) **अपस्मार** नामक व्यभिचारी भाव देवता, यक्ष, नाग, राक्षस, भूत-प्रेत, पिशाच आदि द्वारा ग्रहण उनके अनुस्मरण, जूठे भोजन खाने, शून्यागार-सेवन, अपवित्रता, समय का ठीक पालन न करने और व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्फुरण (हृदय के धड़कने), निःश्वास लेने, काँपने, दौड़ने, गिरने, स्वेदागत, स्तम्भन, मुँह से फेन निकलने, जिह्वा के चाटने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (२३) **सुप्त** नामक व्यभिचारी भाव निद्रा में बाधा, विषयभोग करने, मोहित करने, पृथ्वी पर सोने, शरीर को फैलाने और सिकोड़ने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। गहरी साँस लेने, शरीर की शिथिलता, आँखों के मूँदने, सब इन्द्रियों के समोहित होने तथा स्वप्नाविष्ट होने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (२४) **विबोध** नामक व्यभिचारी भाव भोजन के परिणाम, निद्रा-भंग, स्वप्न के अन्त, तीव्र शब्द-स्पर्श और श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यह जंभाई लेने, आँखों को मलने और निद्रा द्वारा अभिनेय है। (२५) **अमर्ष** नामक व्यभिचारी भाव विद्या, ऐश्वर्य, शूरता और बल में अधिक समर्थ पुरुषों द्वारा अपमानित व्यक्ति में उत्पन्न होता है। शिर में कंप, प्रस्वेद आगम, अधोमुख हो चिन्तन, ध्यान, परिश्रम-परायण, उपाय तथा सहायक अन्वेषण आदि अनुभावों से अभिनेय है। (२६) **अवहित्थ** नामक व्यभिचारी भाव में आकार-गोपन होता है।

१. ना० शा० ७।६६-७१, द० रू० ३४।१क १६, ३१, ३२; सा० द० ३।१५३; ना० द० ५८, ६३, ७५; ३।३६-४३।

लज्जा, भय, पराजय, गौरव और छल आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अन्यथा-कथन, अवलोकन, कथाभंग और कृत्रिम धैर्य आदि अनुभावों द्वारा अभिनेय है।[1] (२७) **उग्रता** नामक व्यभिचारी भाव चोर के पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध और झूठ बोलने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वध, बंधन, ताडन और भर्त्सना आदि अनुभावों द्वारा यह अभिनेय है। (२८) **मति** नामक व्यभिचारी भाव नाना शास्त्रों की चिन्ता और तर्क-वितर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिष्यों के उपदेश देने, शास्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में निश्चय करने तथा संशय को दूर करने आदि अनुभावों से अभिनेय है। (२९) **व्याधि** नामक व्यभिचारी भाव वात-पित्त-कफ के संयोग से होता है। ज्वर आदि उसकी विशेषताएँ हैं। ज्वर दो प्रकार का है—शीतज्वर और दाहज्वर। शीतज्वर में सर्वांग में कम्पन, सिकुड़न, आग की अभिलाषा, रोमांच, ठुड्डी के हिलाने, नाक के सिकोड़ने, मुँह के सूखने और विलाप करने आदि अनुभावों से अभिनेय है। दाहज्वर में अंग, हाथ और चरणों के विक्षेप, भूमि की अभिलाषा, अनुलेपना, शीत की अभिलाषा, विलाप करने, मुँह सूखने और चिल्लाहट आदि अनुभावों से अभिनेय है। अथ व्याधियाँ भी मुँह के सिकुड़ने, गात्र के कड़ा होने, शरीर की शिथिलता, चिल्लाहट और शरीर के कम्पन आदि अनुभावों से अभिनेय हैं। (३०) **उन्माद** नामक व्यभिचारी भाव प्रियजन का वियोग, सम्पत्ति नाश, अभिघात, वात पित्त और कफ आदि के प्रकोप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अकारण हँसने, रोने या चिल्लाने, असंबद्ध प्रलाप, सोने, बैठने, उठने, दौड़ने, नाचने, गाने, पाठ करने, भस्म लेपने, तिनके, निर्माल्य, मैले चिथड़े कपड़े आदि के धारण करने तथा एक अथवा अनेक अव्यवस्थित चेष्टाओं के अनुकरण द्वारा अभिनय प्रदर्शित करना चाहिये।[2] (३१) **मरण** नामक व्यभिचारी भाव रोग और चोट से होता है। आंत, यकृत शूल की वेदना, वात-पित्त और कफ के वैषम्य, गण्डमाला, फोड़ा, ज्वर और विसूचिका (हैजा) आदि रोगों से उत्पन्न होता है। अभिघातज मरण, शस्त्र, सर्प दंश, विषपान, हिंसक पशु, हाथी, घोड़ा, यान-विमान आदि से गिरने से होता है। व्याधि से मरण का अभिनय एक प्रकार का होता है। गात्रों की विषण्णता और इन्द्रिय व्याधि की विरति द्वारा उसका अभिनय होता है। अभिघातज मरण का अभिनय अनेक प्रकार से होता है। शस्त्र प्रहार द्वारा मृत्यु, सहसा भूमि पर पतन, कम्पन और स्फुरण आदि द्वारा अभिनेय है परन्तु सर्प-दंश या विषपान-जन्य मृत्यु, का अभिनय कृशता, कम्पन, ज्वलन, हिचकी, मुँह से फेन आना, स्कन्ध का टूटना, जड़ता और मरण विष के आठ वेगों से होता है। (३२) **त्रास** नामक व्यभिचारी भाव बिजली, उल्का, वज्र के गिरने, मेघ और भयानक पशुओं की आवाज आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अंगों के संकोचन, काँपने, थरथराने, रोमांच, गद्गद होने तथा प्रलाप आदि अनुभावों से अभिनेय है। (३३) **वितर्क** नामक व्यभिचारी भाव सन्देह, विमर्श और तर्क-वितर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है। विविध प्रकार से विचारते, प्रश्नों द्वारा व्याख्याओं को निश्चित करने तथा मंत्रणाओं को गुप्त रखने आदि अनुभावों द्वारा अभिनेय है।[3]

---

१. ना० शा० ७।७३-८०, ना० द० ३।२६, ३५, ३७, ४४, सा० द० १५८, द० रू० ३।२२, १८, २४।

२. ना० शा० ७।८१-८५, द० रू० ३।१५, २७, २९, ३०, सा० द० ३।१५४, १६६, १६९, १७०; ना० द० ३।३३, ३७, ३९।

३. ना० शा० ७।८६-९०-९२, द० रू० ३।२९-३६, सा० द० ३।१६०, १७१, १८०, ना० द० ३।३५ख, ४०, ४१।

इन आत्मगत, परगत और मध्यस्थ व्यभिचारी भावों का देश, काल, अवस्था की अनुरूपता के सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों द्वारा प्रयोगवश इनका उपयोग विहित है। अतः व्यभिचारी भावों का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों में हो सकता है।[1]

सात्विक भाव और रसोदय

सात्त्विक भावों का प्रकाशन सफल अभिनय की विशिष्ट सम्पदा है। यह सत्त्व मन से उत्पन्न होता है। अतएव सात्त्विक रूप में यह प्रसिद्ध है। सात्त्विक भावों की उत्पत्ति मन की एकाग्रता से होती है। अन्य भावों के अनुरूप रोमांच, कंप, अश्रुपात और स्वरभंग आदि का प्रदर्शन अंग-प्रत्यंग द्वारा होता है, जो मन की एकाग्रता के बिना संभव नहीं है। नाट्य-प्रयोग में लोकचरित का अनुकरण होता है। इसलिए सत्त्व का प्रयोग नाट्य में विशेष रूप से अभीष्ट है। नाट्यधर्मी के अनुरोध से जिन सुख-दुःखात्मक भावों का प्रदर्शन होता है वे सात्त्विक भावों से विभूषित होने चाहिये कि वे भाव (प्रकृत रूप में) तद्वत् प्रतीत हों। शोक में अश्रु, हर्ष में पुलक और विस्मय भाव के प्रदर्शन में स्तम्भ आदि के प्रयोग होने पर वे नाट्य में यथार्थ रूप में गृहीत हो रस का संचार करते हैं। पात्र का सुख-दुःख तो अपना है, परन्तु प्रयोग-काल में वह मन की इस एकाग्रता (सत्त्व) के कारण प्रयोज्य पात्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मान लेता है। प्रभाव के कारण प्रयोग-काल में सुखी पात्र की आँखों से अश्रु गिरते हैं और दुःखी पात्र के नयन हर्ष से उत्फुल्ल और कपोल स्फुरित होते रहते हैं। यदि इन सात्त्विक चिह्नों का भावानुरूप प्रदर्शन न हो तो नाट्य में उनका अभिनय उचित रूप से न होने के कारण रस-रूप में भाव आस्वाद्य नहीं होता। वस्तुतः नट न तो सुखी रहता है और न दुःखी, वह तो सुख-दुःखात्मक भावों का प्रदर्शन प्रयोग के अनुरोध से करता है, और वह सत्त्व द्वारा अधिक मात्रा में पुष्ट हो रसाभिमुख होता है।[2]

सत्त्व में नाट्य की प्रतिष्ठा

सात्त्विक भावों की इस महत्ता को दृष्टि में रखकर ही भरत ने सामान्याभिनय के प्रसंग में आंगिक और वाचिक अभिनयों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। वाचिक और आंगिक अभिनयों का प्रदर्शन तो बाह्य चेष्टाओं द्वारा भी संभव है परन्तु सात्त्विक अभिनय नितान्त प्रयत्न-साध्य है। वह अभिनय तो मन की एकाग्रता से ही रूपायित हो पाता है, इसीलिए परिणाम रूप में अभिनय तो सत्त्व में ही प्रतिष्ठित है। जिस अभिनय में सत्त्व की अतिरिक्तता है, वह अभिनय ही उत्तम होता है, जिसमें अन्य अभिनयों की तुलना में सत्त्व समानता की मात्रा

१. ना० शा० ७, पृष्ठ ३७४ (गा० ओ० सी०)।

२. सत्वंहिनाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहित मनस्त्वादुच्चते। मनसः समाधौ सत्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमांचाश्रु वैवर्ण्यादि लक्षणोयथा भावोपगतैः स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्यस्वभावानुकरणत्वाच्चनाट्यस्य सत्वमीप्सितम्। एतदेवास्य सत्वं यत दुःखितेन सुखितेन वाऽश्र रोमांचौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः। न० शा० ७।३७५।

में होता है वह मध्यम और जिस अभिनय में सत्त्व हो ही नहीं वह अधम कोटि का अभिनय होता है।[1]

अभिनवगुप्त और शंकुक की मान्यताएँ

अभिनवगुप्त की विचार-दृष्टि इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट है कि नाट्य रसमय होता है। रस का अन्तरंग सात्त्विक ही है। इसका अभिनय बिना विशिष्ट प्रयत्न के सिद्ध नहीं होता। सात्त्विक के पूर्ण-योग होने पर नाट्य-प्रयोग प्रशस्य होता है। अन्य अभिनयों की अपेक्षा न्यून होने पर अभिनय-क्रिया अपूर्ण हो जाती है। परन्तु सात्त्विक के अभाव में तो अभिनय-क्रिया का उन्मीलन ही नहीं होता। अभिनय के द्वारा प्रयोक्ता तो चित्तवृत्ति को साक्षात्कार के रूप में प्रस्तुत करता है। नाट्य की प्राणस्वरूपा यह साक्षात्कार-कल्पना स्तम्भ, स्वेद और रोमांच आदि के भावानुरूप प्रदर्शन द्वारा ही आती है।[2]

संवेदन-भूमि में चित्त-वृत्ति का संक्रमण

सत्त्व तो मनः-संभूत भाव है और वह अव्यक्त है। भाव की प्रकर्षता के चिह्न रूप स्वेद रोमांच आदि ही देह के सहारे उसे रूपायित करते हैं। अव्यक्त भावों को व्यक्तता इन्हीं के द्वारा मिलती है। शंकुक ने भरत की इस मान्यता का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि राम आदि अनुकार्य-गत भावाश्रित सत्त्व तो अव्यक्त रहता है, वह रोमांच और अश्रु आदि के द्वारा ही प्रतीत होता है। सत्त्व मनःसंभूत होने पर भी उपचार की दृष्टि से देहात्मक ही है। देह के माध्यम से ही उन मनःसंभूत भावों को व्यक्तता प्राप्त होती है।[3] अनुकर्ता पात्र की चित्तवृत्ति अनुकार्य की सुखदुःखात्मक भावना से आच्छादित होने पर संवेदन भूमि में संचरण करती हुई देह में भी व्याप्त हो जाती है, वही सत्त्व है। धर्म, रोमांच और अश्रु आदि उस सत्त्व के ही गुण हैं। इन्हीं सात्त्विक गुणों के द्वारा प्रेक्षक अनुकार्यगत भावों को अपनी संवेदनाभूमि में अनुभव करता है और तब रस-प्रतीति होती है।[4]

---

१. तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु सत्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
सत्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्वो भवेन्मध्यो सत्वहीनोऽधमः स्मृतः। न० शा० २२।२

२. रसमयं हि नाट्यं रसे चान्तरंगः सात्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित।—सत्वे च नाट्यं प्रतिष्ठितम्। सत्व च मनः समाधानम्। तस्माद्भूयसा प्रयत्नेन न बिना न सिद्धयतीति।– सात्विकाभावे अभिनय-क्रिया नामापि नोन्मीलति। अभिनयनं हि चितवृत्ति साधारणतापत्ति प्राणसाक्षात्कार कल्पताध्यवसाय-संपादनमिति। अ० भा० भाग ३, पृ० १४६-५०।

३. श्री शंकुकादय इत्यं नयन्ति—कस्मात् पुनः सत्त्वं प्रयत्नातिशयमपेक्षते। उच्यते—रामायनुकार्यगतं भावासंश्रयं तद्भावना प्रकर्षजं रोमांचादिसंपादकं यद् आन्तरं नाट्यस्य सत्वं तदव्यक्तं अस्फुटं केवलं रोमांचादिभिः गमकत्वाद् गुणभूतः विज्ञेयं अन्यथा हि सुखाद्यभावे कुत एषामुद्भव इत्यहेतुकं स्यात्।
अ० भा०, भाग ३, पृ० १५०।

४. ततएव उत्पाद्यमानत्वात् अश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वात् च अनुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्। द० रू० ४।४ पर धनिक की टीका, नाट्यदर्पण ३।४५ का अवतरण।

सात्त्विक भाव अनुभाव भी

नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से अश्रु, रोमांच आदि का जो विशिष्ट महत्त्व है, वह हम प्रतिपादित कर चुके हैं। वस्तुतः इन सात्त्विक भावों में अनुभावत्व भी है। वे अनुभावों की तरह ही आश्रय के विकार हैं, फिर भी सात्त्विक भावों की पृथक् सत्ता भी मानी जाती है, क्योंकि ये भाव के सूचक हैं। परन्तु ये विकार रूप भी हैं, इसलिए अनुभाव भी हैं। इस प्रकार अश्रु और रोमांच आदि एक ओर सात्त्विक भाव दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से युक्त होते हैं। रामचन्द्र ने अश्रु आदि का उल्लेख स्थायी एवं व्यभिचारी भावों के कार्य-भूत अनुभाव के रूप में किया है।[1]

सात्त्विक भावों की संख्या और स्वरूप

भरत ने निम्नलिखित आठ सात्त्विक भावों की परिगणना एवं विवेचना की है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। भरत के पूर्व भी सात्त्विक एवं अन्य भावों के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों की शास्त्रीय परम्परा वर्तमान थी, उसी परम्परा से उन्होंने सात्त्विक भावों की व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण आर्याएँ और श्लोक उद्धृत किए हैं। निःसन्देह नाट्य के भावलोक और उनके यथास्थान प्रयोग के सम्बन्ध में इन श्लोकों में तात्त्विक विचारों का आकलन किया गया है। नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

सात्त्विक प्रतीकों की भाव-सामग्री

हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोष से **स्तम्भ**; क्रोध, भय, हर्ष लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्यायाम, क्लान्ति और गर्मी तथा संपीडन से **स्वेद**; शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श, बुढ़ापा एवं रोग से **कम्प**; आनन्द, अमर्ष, धूम, अंजन, जंभाई, भय, शोक, निर्निमेष देखने, शीत तथा रोग से **अश्रु**; शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लान्ति और ताप से **वैवर्ण्य** (मुख का रंग उड़ना); स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से **रोमांच** तथा श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट और मोह आदि से **प्रलय** उत्पन्न होता है।[2]

सात्त्विक भावों का विनियोग (अभिनय)

रसों तथा भावों के अनुभावक इन सात्त्विक भावों का विनियोग या अभिनय किन अव्यक्त भाव-दशाओं को व्यक्तता देने के लिए होगा, इसका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान भरत ने प्रस्तुत किया है। सात्त्विक भावों के विनियोग के विश्लेषण से भरत की सूक्ष्म नाट्य-दृष्टि का पता चलता है। हम उन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) **स्तम्भ**—निःसंज्ञ, निष्कंप, स्थिर, शून्य एवं जड़आकृति तथा शरीर को कड़ा करके स्तम्भ का अभिनय होता है। (२) **स्वेद**—पंखा झलने (ग्रहण) तथा स्वेद के हटाने तथा वायु की अभिलाषा द्वारा स्वेद का अभिनय होता है। (३) **रोमांच**—बार-बार शरीर के कंटकित होने, रोओं के खड़े होने तथा शरीर के स्पर्श से रोमांच का अभिनय होता है। (४) **स्वरभेद**—स्वर के

---

१. इह चित्तवृत्तिरेव संवेदनभूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्वभित्युच्यते।
अ० भा० भाग ३, पृ० १५२।

२. ना० शा० ७।९४-९९ (गा० ओ० सी०)।

भेद तथा कंठस्वर के गद्गद होने से स्वरभेद का अभिनय होता है। (५) **वेपथु**—काँपने, स्फुरित होने तथा थरथराहट से वेपथु का अभिनय होता है। (६) **वैवर्ण्य**—नाड़ियों के पीडन से मुख का रंग फीका करके **वैवर्ण्य** का अभिनय होता है। यह अभिनय प्रयत्न-साध्य है। (७) **अश्रु**—कुशल प्रयोक्ता द्वारा आँसुओं के पोंछने, नयनों में आँसुओं के छलकने तथा बार-बार अश्रुकणों के गिरने से अश्रु का अभिनय होता है। (८) **प्रलय**—निश्चेष्टता, निष्कंपता, श्वास संचालन की अस्पष्टता तथा भूमि पर गिरने से प्रलय का अभिनय होता है।[1]

सत्त्वःनाट्य की प्राणविभूति

भरत की दृष्टि में नाट्य-रस के सन्दर्भ में सत्त्व का असाधारण महत्त्व है। इसीलिए सत्त्वातिरिक्त अभिनय को ज्येष्ठ और सत्त्वहीन को वे अभिनय मानते ही नहीं। इस प्रसंग में उनका विचार ध्यातव्य है। वे सत्त्वप्रयोजित अर्थ (नाट्यवस्तु) को ही प्रयोग मानते हैं। उनकी दृष्टि से प्रयोग का अर्थ है सात्त्विक भावों द्वारा विषयवस्तु को व्यंजित करना। वैसा होने पर ही नाट्य प्रयोग-रूप में परिगणित होता है। ये सात्त्विक भाव अनेक प्रकार के अभिनयों पर आश्रित होते हैं। वे सब रसों में वर्तमान रहते हैं, तथा इनका प्रयोग होने पर प्रेक्षक के हृदय में रस का उदय होता है। यद्यपि स्थायी भाव सब भावों में प्रधान होते हैं परन्तु सत्त्व की अतिरिक्तता के साथ प्रयुक्त होने पर रस-रूप में आविर्भूत होते हैं।[2] कोई भी काव्य (नाट्य) एक रसज नहीं होता, उसमें अनेक भावों, कृतियों और प्रवृत्तियों का संयोजन होता है। परन्तु इन सब विविधताओं के मध्य भी प्राण-सूत्र सा एक स्थायी भाव वर्तमान रहता है। प्रयत्नपूर्वक उन सबके यथोचित संयोजन से ही रसत्व का आविर्भाव होता है। काव्य या नाट्य में नाना भाव, एवं अर्थ से सम्पन्न स्थायी, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों को माला में पिरोये हुए पुष्पों की तरह आयोजित करना चाहिये।[3]

भरत के चिन्तन की मौलिकता

भरत ने भावों की परिगणना और नाट्य-प्रयोग में उनके विनियोग के सम्बन्ध में जिन विचार-सूत्रों का ग्रंथन किया है, वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य का भाव-लोक तो अनन्त है। भरत ने उनमें से कुछ सामान्य या प्रधान भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। सुख-दुःख की विभिन्न दशाओं में मनुष्य की मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ कैसी और किन रूपों में होती हैं, उनका यथावत् अध्ययन कर नाट्य-प्रयोग के लिए उन्हें यहाँ भरत ने प्रस्तुत किया है। मानव-स्वभाव का भरत ने कितना गहन अध्ययन और चिन्तन किया था, यह देखकर

---

१. ना० शा० ७।१००-१०७ (गा० ओ० सी०)।

२. सत्त्व-प्रयोजितो ह्यर्थो प्रयोगोऽत्र विराजते।
येत्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनयं संश्रिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वे ते ज्ञेया नाट्य प्रयोक्तृभिः
तथा - नहि एक रसजं काव्यं नैक भावैक वृत्तिकम्।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः॥ ना० शा० ७, पृ० ३७९ (गा० ओ० सी०)।

३. नाना भावार्थ संपन्नाः स्थायी सत्त्वाभिचारिणः।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसाः बुधैः। ना० शा० ७।१२०

आश्चर्य होता है। मनुष्य सुख-दुःख की विभिन्न परिस्थितियों में सदियों से अपनी मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता रहा है। देश और राष्ट्र बदलते रहे हैं परन्तु सुख-दुःख की संवेदन-भूमि आज भी वही है। भरत ने नाट्यशास्त्र में मनुष्य की उसी संवेदन-भूमि के अन्तर-रस का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करने का विराट् प्रयास किया है। यह संवेदन-भूमि नाट्य की प्राण-शक्ति है। भरत का भाव-सम्बन्धी समस्त विवेचन नितान्त मौलिक एवं परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य रहा है। नाट्य की भाव-भूमि का इतना वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत विवेचन, शायद ही किसी अन्य भाषा के नाट्य या काव्यशास्त्र में इतने प्राचीन काल में हुआ हो।[1]

१. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स—(काणे) पृ० २३।

छठा अध्याय

अभिनय विज्ञान

१. वाचिक अभिनय

७

वाचिक अभिनय

शब्द और छन्दविधान : वाचिक अभिनय की व्यापकता

आंगिक, सात्त्विक और आहार्य आदि अभिनय विधियाँ वाचिक अभिनय या वाक्यार्थ की ही व्यंजना करती हैं। यह नाट्य का शरीर और सर्वप्रधान अभिनय है। वास्तव में वाणी तो सब का मूल है, इसी के आधार पर अन्य अभिनय चित्रवत् परिपल्लवित होते हैं। मनुष्य के मनोभावों की अभिव्यक्ति सात्त्विकादि अन्य अभिनयों द्वारा भी होती है पर उन्हें पूर्णता और सार्थकता प्राप्त होती है वाचिक अभिनय द्वारा ही। अतएव भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्द, छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण-दोष, भाषा एवं पाठ्य-शैली का तात्त्विक निरूपण किया है।[1]

शब्दविधान

भरत ने सर्वप्रथम वाचिक अभिनय के 'शब्द' रूप का शास्त्रीय विवेचन करते हुए अकारादि चौदह स्वर, 'क' से 'ह' तक व्यञ्जन वर्ण, स्थान-प्रयत्न, घोष-अघोष, वर्ण, नामाख्यात, उपसर्ग-प्रत्यय तथा संधि-समास आदि शब्दशास्त्र के प्रधान विषयों का प्रतिपादन एवं अनेक महत्त्वपूर्ण संबद्ध शब्दों की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि भरत से पूर्व शब्दविद्या के वैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा प्रचलित थी। शब्दविधान के अनुकूल पद-रचना होने पर पदबंध होता है। पदबंध ही काव्य या नाट्य होता है। शब्द शास्त्र की सीमा जहाँ समाप्त होती है छन्द का वही मंगलारंभ होता है।

पदबंध की दो शैलियाँ

प्राचीन भारतीय नाट्य एवं काव्य में संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रयोग

१. वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यः नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।
अंग नेपथ्य सत्त्वानि वाक्यार्थं व्यंजयंति हि ॥ ना० शा० १४।२। का० मा०।

२. ना० शा० १४।६-३२. का० मा०।

हुआ है। उनमें पदबंध की दो शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—चूर्ण (गद्य) और निबद्ध बंध (पद्य)। चूर्ण पदों में अर्थ की अपेक्षा से परिमित या प्रचुर अक्षरयुक्त पदों की योजना होती है तो निबद्ध बंध या पद में गुरुलघुयुक्त अक्षरों तथा मात्राओं की संख्या नियत रहती है। 'पद्य' यह संज्ञा अन्वर्थ है, क्योंकि उसके चारों पादों में लयात्मकता वर्तमान रहती है। पर चूर्ण या गद्य तो पठनीय मात्र होता है। नाट्य के संवाद प्रायः गद्य में परन्तु मनोरागों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति पद्य में भी होती है। सहृदय व्यक्ति के हृदय में संवेदना की विवृति लयात्मक रचना द्वारा सुचारुता से संपन्न होती है। वस्तुतः यह लयात्मकता तो सृष्टि की प्रक्रिया में ही वर्तमान है। विश्व के सृजन, धारण और प्रलय में लय है। सूर्य-चन्द्र और सृष्टि के अन्य ग्रह-नक्षत्रों में भी वह लय है, जिस लय से वाणी में उल्लास, माधुर्य और विलास मुखरित हो उठता है। भरत का यह कथन उचित ही है कि कोई छन्द न तो शब्दहीन है और न कोई शब्द छन्दहीन ही। शब्द और छन्द का योग नाट्य का उद्योतक होता है। नाना वृत्तों से निष्पन्न यह लयात्मकता या नाट्य का मोहक तन है।

गद्य की दो शैलियाँ : जाति और वृत्त

नाट्यशास्त्र में 'जाति' और 'वृत्त' नामक दो छन्द-शैलियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। जाति छन्द अक्षर-मात्राओं पर आधारित होता है। उसका प्रत्येक पाद सम ही हो यह नियम नहीं है। उसमें लघु अक्षर मात्रा एक संख्या और गुरु अक्षर मात्रा दो संख्या के रूप में परिगणित होती है। जाति छन्दों में 'आर्या' का प्रयोग गीतिकाव्य और नाट्य में बहुत लोकप्रिय रहा है। भरत और पिंगल दोनों ने ही आर्या के पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला और जघनचपला ये पाँच भेद परिकल्पित किये हैं।[1] आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत किसी प्राचीन आचार्य के मतानुसार जातिवृत्तों के पूर्वापर गण की परिगणना के अनुसार इस छन्द के सहस्रों भेद हो जाते हैं।[2] मात्राओं के भेद से जाति छन्द के गीति और उपगीति ये दो भेद होते हैं। गीति ही प्राकृत में उद्गाथा के रूप में प्रसिद्ध है।[3]

वर्णिक छन्द

वर्णिक छन्दों में जाति-छन्दों के विपरीत अक्षरों (गुरु और लघु) की संख्या तथा पौर्वापर्य्य क्रम नियत रहता है। स्वरों के आरोह और अवरोह के संदर्भ में वर्णिक वृत्तों का विकास त्रिकों के आधार पर हुआ है। प्रत्येक गण में लघु या गुरु तीन वर्ण होते हैं तथा प्रत्येक छन्द में दो या उससे अधिक निर्धारित गण होते हैं। इस प्रकार भरत ने आठ गणों की परिकल्पना की है—[4]

मगण (ऽ।। गुरुपूर्व), भगण (ऽऽऽ-गुरुत्रय), जगण (।ऽ। गुरुमध्य), सगण (।।ऽ अन्तगुरु), रगण (ऽ।ऽ-लघुमध्य), तगण (ऽऽ।-अन्तलघु), यगण (।ऽऽ-लघुपूर्व), नगण (।।। लघुत्रय)। भरत

---

१. ना० शा० १५।१६६-२२७।

२. अ० भा० भाग २, पृ० २६२।

३. प्राकृत पिंगल, पृ० ६।

४. ना० शा० १४।८२-११२।

ने गुरु और लघु अक्षरों के लिए 'गल' प्रतीक का विधान किया है। 'ग' गुरु का और 'ल' लघु का बोधक है। उसी के आधार पर अक्षरों की संख्या निर्धारित होती है। अक्षरों की संख्या हीन या अधिक न होने पर छन्द संपद होता है। छन्द में त्रिकों का समन्वय—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, स्वर के तार, मध्य और मन्द्र तथा अक्षर परिगणना की दृष्टि से सम, विषम और अर्धसम में दृष्टिगोचर होता है।[1]

छन्दों की संख्या

भरत ने वैदिक एवं लौकिक छन्दों का वर्गीकरण तीन प्रधान गणों में किया है—दिव्यगण, दिव्येतरगण तथा दिव्यमानुष गण। दिव्य छन्दों के अन्तर्गत गायत्री, अनुष्टुप् और वृहती आदि सात छन्दों के त्रिक प्रस्तार, दिव्येतरगणों के अन्तर्गत अतिजगती, शम्बरी, अष्टि और अत्यष्टि आदि तथा दिव्यमानुष के अन्तर्गत कृति, प्रकृति, अकृति आदि गणों के त्रिक प्रस्तार एवं अक्षर संख्या आदि का स्पष्ट निर्धारण हुआ है। दिव्यगण में अनुष्टुप् का प्रयोग रामायण, महाभारत एवं अन्य ग्रंथों में प्रचुरता से हुआ। दिव्येतर श्रेणी के सभी छन्द लोक-प्रचलित हैं। दिव्यमानुष श्रेणी के छन्द बहुत कम प्रचलित हैं। भरत एवं अभिनवगुप्त के छन्द विवेचन के अनुसार वृत्तों के भेद अनगिनत हो जाते हैं।

वृत्तों के विभिन्न वर्ग

इन विभिन्न वृत्तों की परिगणना मुख्य वर्गों के अन्तर्गत भरत ने की है। गायत्री दिव्य वर्ग का छन्द है और अनुष्टुप् भी। गायत्री के प्रत्येक चरण में छः अक्षर होते हैं और अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ। दिव्य वर्ग के अन्तर्गत गायत्री और अनुष्टुप् आदि प्रधान छन्दों से अनेकानेक लौकिक छन्द विकसित हुए। तनुमध्या, मकरशीर्षा, मालिनी और मालती (गायत्री), सिंह लीला, मत्तचेष्टित, विधुन्माला, चित्तविलसित (अनुष्टुप्), तथा दोधक, त्रोटक, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्र, रथोद्धता और शाष्मिनी (त्रिष्टुप्) आदि छन्द प्रचलित हैं। 'दोहा' दोधक ही विकसित रूप है। मूल वैदिक छन्द ही है।[2] घोष महोदय तो इस छन्द को ईस्वीपूर्व छठी सदी का मानते हैं।[3] भरत का छन्दविवेचन बहुत विस्तृत और व्यापक है। लौकिक काव्य काल में प्रचलित तोटक, वंशस्थ, हरिणीप्लुत (द्रुतविलंबित), अप्रेषया (भुजंगप्रयात), शिखरिणी, मंदाक्रान्ता, शार्दूल विक्रीडित आदि सभी छन्दों का स्रोत प्राचीन वैदिक छन्दों में उपलब्ध होता है।[4]

छन्दों के ललित नाम

भरत-निरूपित छन्दों के नाम ललित एवं कलात्मक हैं। उनके विश्लेषण से यह प्रमाणित होता है कि भरत-काल में छन्दशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था और छन्दशास्त्र प्रणेताओं पर काव्यकला की लालित्यपूर्ण दृष्टि का प्रभाव पूर्ण रूप से छाया था। अन्यथा इन्द्र-

---

१. षड्विंशतिश्च वृत्तानामित्यं चानंतमुच्यते। अ० भा० भाग २, पृ० ४१।

२. ना० शा० १५।२-१०, छन्दसूत्र ६।२, १५।१७-२७, वृत्तरत्नाकर ३।२१, वाणीभूषण २।७६।

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, पृ० ७२४।१६३१।

४. ध्वन्यालोक १।५, छन्दसूत्र ६।१०, वृत्तरत्नाकर ३।३३-३५।

वज्रा, उपेन्द्रवज्रा, विद्युल्लेखा (आकाशीय प्रकृति), सिंहलेखा, हरिणीप्लुत, गजविलसित, अश्वललित, शार्दूलविक्रीडित, भ्रमरमालिका, मयूरसारिणी, भुजंगविजृम्भित, क्रौंचपाद (पशु-पक्षी प्रकृति), मालती, मालिनी, कुमुद विभा, कुवलयमाला (पुष्पप्रकृति), तनुमध्या, कामदत्ता, प्रहर्षिणी, स्रग्धरा, सुवदना और श्रीधरा (नारी की कोमल सुन्दर प्रकृति) आदि विभिन्न छन्दों पर नामों की ये मोहन रंग विभा कैसे छाती।[1]

गायत्री से उत्कृति तक के विविध छन्दों का त्रिक प्रस्तार, अक्षर निर्धारण, वर्ग एवं गण आदि के सम्बन्ध में सारी विवेचना स्पष्ट एवं पर्याप्त विस्तृत है। जो छन्द कभी वैदिक ऋषियों की तपःपूत वाणी को मधुमयता प्रदान करते थे, सहस्रों वर्षों बाद भी किंचित् स्वरूप-परिवर्तन कर वे छन्द रससिद्ध कवियों, नाटककारों और लोकगीत के गायकों के माध्यम से गंगोत्री की भाँति अपनी निर्बाध यात्रा पर गतिमान् हैं।

छन्दों की रसानुकूलता

छन्दों के विवरण के संदर्भ में उनकी रसानुकूलता पर बल देते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि कौन वृत्त किस रस के लिए उचित है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से छन्द हमारे चित्त परिस्पंद-संवेदना के प्रतिरूप हैं।[2] नाट्यार्थ रसानुकूल छन्दों के योग से समृद्ध होता है। शृंगार रस के लिए आर्या जैसा मृदु वृत्त और वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में लघु अक्षराश्रित छन्द भावाभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयोगी होते हैं।[3] यों परंपरा से भी शिखरिणी मनुष्य के प्रेम, आनन्द और उल्लास, मंदाक्रान्ता प्रेमी की विरहोत्कंठा और शार्दूलविक्रीडित वीरता और ओजस्विता को रूपायित करने में पूर्ण सक्षम माना जाता रहा है। भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि छन्द संरचना करते हुए उदार मधुर शब्द नाट्यार्थ को वैसे ही दीप्त करते हैं जैसे कमल फूलों से सरोवर शोभित होता है।[4]

भरत का नाट्यशास्त्र छन्दशास्त्र का स्वतंत्र ग्रन्थ तो नहीं है। परन्तु उन्होंने नाट्यार्थ के उद्योतक कुछ छन्दों की परिभाषा और उदाहरण देकर उसे शास्त्र का व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने न केवल छन्दों का प्रतिपादन और उनकी रसानुकूलता का व्याख्यान किया अपितु विभिन्न प्रकार के शृंगार-प्रधान नाटक-प्रकरण और करुणविप्रलंभ प्रधान रूपकों को दृष्टि में रखकर छन्दों की उपयुक्तता का विधान किया। लक्ष्य है नाट्यार्थ की समृद्धि और नाद-सौन्दर्य द्वारा सहृदय के हृदय में पूर्ण रसोद्बोधन!

भरत ने जिस युग में छन्द-विधान किया था, भारतीय नाट्यकला के गौरव का वह प्रखर मध्याह्न था। भरत सदियों तक नाट्यकारों और नाट्यशास्त्रियों की ही सृजन-शक्ति और चिंतन-पद्धति पर ही नहीं छाये रहे अपितु छंदशास्त्र की परवर्ती परंपराओं पर उनका अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। देश के सांस्कृतिक और राजनीतिक विघटन तथा मुस्लिम मतांधता ने इस कला को तेजी

१. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० १३, एस० के० दे, इण्डियन कल्चर, पृ० २७४, डी० सी० सरकार।

२. अत एव भयानके शान्ते हास्ये वा यथायोगं संवेदनस्पन्दतां
चर्व्यमाणस्वाद्यताश्चर्यकृतो विभागो वृत्तानां मन्तव्यः। अ० भा० भाग २, पृ० ३४५।

३. ना० शा० १६।११३-१२०।

४. ना० शा० १६।१२१, १२७-२८।

से ह्रासोन्मुख होने के लिए विवश कर दिया। पुनरुद्धार के मंगल प्रभात का जब उदय हुआ तो भरत की नाट्यचिंतन परम्परा से हम सर्वथा अपरिचित नहीं, बहुत दूर जा चुके थे। गत पाँच दशकों में इब्सन और शॉ के नाट्य की नूतन पाश्चात्य शैली ने हमारी आज की नाट्य-परंपरा को बड़े वेग और गहराई से प्रभावित किया है। उस अनुकरण की बाढ़ में आधुनिक भारतीय नाट्य से 'गीतितत्त्व' का बहिष्कार और तिरस्कार और जीवन की अनुरूपता के नाम पर 'गद्य' हावी हो गया है। मानो जीवन की संवेदना और पीड़ा में गद्य ही हो, कवित्व की उष्मा और माधुर्य नहीं। पर अब जब बाढ़ उतरी है तो ऐतिहासिक और गीतिनाट्यों में 'गीतितत्त्व' का स्वागत हो रहा है और अन्य नाट्यविधाओं में भी संवेदना की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना के सहारे गीतितत्त्व की कोमल स्निग्ध छाया पसरती जा रही है। छन्द पुराने हों या नवीन, पर यदि उनके माध्यम से मनुष्य की मनोवेदना अधिक हृदयग्राही और प्रांजल हो अभिव्यक्ति पाये, उसमें जीवन की उष्मा और माधुर्य का स्पर्श अधिक प्रभावशाली हो,[१] तो निःसंदेह आज के इस कुण्ठाग्रस्त और तापतप्त जीवन में भी काव्य और नाट्यरचना के क्षेत्र में छन्द की संभावनाएँ महान् हैं।

लक्षण-विधान

लक्षण की परंपरा और पाठ-भिन्नता

लक्षण प्राचीन भारतीय नाट्य एवं काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग थे। नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में लक्षण की दो पाठ-परंपराएँ उपलब्ध हैं। काशी संस्करण में लक्षण अनुष्टुप् छन्द में वर्णित हैं तो काव्यमाला और गायकवाड़ संस्करणों में उपजाति वृत्त में। इन दोनों में सत्रह समान हैं शेष एक-दूसरे से भिन्न।[२] आचार्य अभिनवगुप्त ने उपजातिवृत्त में परिगणित लक्षणों को प्रामाणिक माना है तथा अनुष्टुप् छन्द में परिगणित शेष लक्षणों का उपजातिवृत्त में परिगणित लक्षणों में अन्तर्भाव किया है।[३] उपजातिवृत्त की परंपरा भट्टतोत से अभिनवगुप्त को प्राप्त हुई। धनंजय, कीर्तिधर और सर्वेश्वर प्रभृति आचार्यों ने उपजातिवृत्त तो शिंगभूपाल और विश्वनाथ ने अनुष्टुप् परंपरा का अनुसरण किया। भोज ने दोनों परंपराओं का समन्वय कर चौंसठ लक्षणों का उल्लेख किया तो सागरनंदी तथा विश्वनाथ ने लक्षणों के अतिरिक्त तैंतीस नाट्यालंकारों की भी परिकल्पना की।[४] लक्षण की पाठ-परंपरा में भिन्नता का समारम्भ भरत-शिष्य कोटल द्वारा तथा नाट्यालंकार की परिगणना का प्रवर्तन मातृगुप्ताचार्य द्वारा हुआ।[५]

ये 'लक्षण' अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वशाली काव्यांग थे। परन्तु कालान्तर में अलंकार एवं गुण-पद्धति के विकास के कारण लक्षण-पद्धति उत्तरोत्तर धूमिल पड़ती गई। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्वीकार किया कि गुण, अलंकार रीति और वृत्ति आदि जिस

---

१. John Crusoe Ransom, Poems and Essays (New York Vintage Books, 1955, p. 156-57)

२. ना० शा० १६।५-३६ (गा० ओ० सी०), काशी संस्करण, १७।६-४२।

३. अ० भा० भाग-२, पृ० २०८ तथा पृ० २९४ पर रामकृष्ण कवि की पादटिप्पणी।

४. ना० ल० को० पं० १७३४-१८४०, सा० द० ६।२७।

५. अ० शा० पर राघव भट्ट की टीका, पृ० २०।

प्रकार प्रसिद्ध काव्यमार्ग हैं उस तरह लक्षण नहीं।[1] फिर भी भोज, शारदातनय, शिंगभूपाल, विश्वनाथ और राघव भट्ट प्रभृति आदि आचार्यों ने नाट्यलक्षण एवं नाट्यालंकार का विवरण प्रस्तुत किया है, उससे इसके महत्त्व का अनुमान किया जा सकता है।

भरत-परिगणित लक्षण

अभिनवगुप्त की पाठ-परंपरा के अनुसार निम्नलिखित छत्तीस लक्षण परिगणित हैं—भूषण, अक्षर-संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद, अतिशय, सहेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याञ्चा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासन, संशय, आशीः, प्रियोक्तिः, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति और परिदेवन। इन लक्षणों से अन्वित 'काव्यबंध' की रचना उचित होती है।[2]

लक्षणों की नामावली से ही यह स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के प्रभातकाल में लक्षण कितना व्यापक काव्याङ्ग था। उपजाति छन्द में परिगणित लक्षण नाट्य के संध्यंगों के सर्वथा अनुरूप हैं (प्रोत्साहन, आख्यान, प्रतिबंध, क्षमा, पश्चात्तपन, अनुनय आदि) तो अन्य अनेक लक्षण अलंकारानुवर्ती हैं (संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, लेश और अर्थापत्ति आदि) और किंचित् परिवर्तन के साथ अलंकारों के रूप में विकसित हुए। गुणानुवाद से प्रशंसो-प्रशंसोपमा, अतिशय से अतिशयोक्ति, मनोरथ से अप्रस्तुत प्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति, सिद्धि से तुल्ययोगिता, तुल्य-तर्क से रूपक और उपमा आदि अलंकारों का भाव-साम्य है। भट्टतोत ने लक्षण-अलंकारों के उद्‌भव विकास पर यह मत प्रकट किया है कि लक्षणों के बल से ही अलंकारों में वैचित्र्य का आविर्भाव होता है।[3] अभिनवगुप्त ने भी यह प्रतिपादित किया है कि कुछ लक्षण उक्तिवैचित्र्य रूप और अलंकार के अनुग्राहक होते हैं।[4] इससे यह प्रमाणित होता है कि लक्षणों का द्विविध व्यापक व्यक्तित्व था, एक ओर वे नाट्य के संध्यंग रूप थे तो दूसरी ओर अलंकारानुवर्ती। दोनों रूपों में काव्य के अपृथक्-सिद्ध काव्यशोभाधायक महत्त्वपूर्ण काव्यांग के रूप में प्रतिष्ठा पा रहे थे।

लक्षण और परवर्ती आचार्यों की मान्यताएँ

आचार्य भरत ने छत्तीस लक्षणों की परिभाषा प्रस्तुत की। उनकी शिष्य-परंपरा एवं अन्य आचार्यों ने उन लक्षणों के स्वरूप का व्याख्यान किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने उन समस्त मतों में से दस का आकलन किया। उन मतों का सार निम्नलिखित है[5]—

(क) लक्षण काव्य-शरीर है। इसके द्वारा कथा-शरीर में वैचित्र्य का आविर्भाव होता

---

१. तत्त गुणालंकार रीतिवृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि।
अ० भा० भाग-२, पृ० २६४।

२. ना० शा० १५।२२२।

३. संस्कृत पोएटिक्स, भाग-२, पृ० ४५।

४. उपाध्यायमतं तु लक्षणबलात् अलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। अ० भा० भाग-२, पृ० ३२१।

५. अ० भा० भाग-२, पृ० २६५-६७।

है। ये लक्षण गुण और अलंकार के बिना ही अपने सौभाग्य से शोभते हैं। यह अलंकार के समान सौन्दर्याधायक तत्त्व है। यह काव्य शरीर की निसर्ग (अपृथक् सिद्ध) सुन्दरता है और पृथक् सिद्ध अलंकार कृत्रिम सुन्दरता। लक्षण अलंकार की निरपेक्षता से सौन्दर्य का प्रसार करते हैं।

(ख) नाट्यकथा के संध्यंग रूप अंश ही लक्षण हैं। लक्षण का संबंध नाटकादि के इतिवृत्त से है, काव्यमात्र से नहीं।

(ग) अभिधा का त्रिविध व्यापार (शब्द व्यापार, अभिधातृ व्यापार, प्रतिपाद्य व्यापार) ही लक्षण का विषय होता है। कवि किसी विशिष्ट विचार और कल्पना को दृष्टि में रखकर काव्य की रचना करता है। वहाँ चित्तवृत्त्यात्मक रस को लक्षित कर उन रसों को योग्य विभाव आदि के द्वारा वैचित्र्य का सम्पादक यह त्रिविध अभिधा व्यापार 'लक्षण' शब्द से अभिहित होता है। नारी के स्तनों के लिए पीवरता (मोटाई) सौन्दर्याधायक लक्षण है, पर मध्यभाग के लिए पीवरता तो कुलक्षण है। रसोचित विभावादि की व्यंजना करने पर अभिधीयमान वस्तु शोभाधायक लक्षण के रूप में प्रयुक्त होती है। अन्यथा रसोचित न होने पर वही कुलक्षण हो जाती है।

लक्षण का व्यापक एवं मौलिक स्वरूप

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार इस शास्त्रीय 'लक्षण' शब्द का लोकप्रचलित अर्थ से तादात्म्य है। लोक में पद्मरेखा आदि के अंकित शुभचिह्नों से महापुरुष की महत्ता और सौभाग्य का संकेत मिलता है। शरीर से अपृथक् ये लक्षण रत्ननिर्मित आभूषणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होते हैं, क्योंकि ये लक्षण तो अंगभूत हैं और वे आभूषण बाह्य अंगों के शोभाधायक मात्र ! काव्य और नाट्य का यह 'लक्षण' कमल और ध्वज-चिह्नों के अनुरूप नितांत अंगभूत है, शोभाधायक अलंकारों के समान बाह्य उपादान मात्र नहीं। ये अलंकार और गुण की अपेक्षा किए बिना ही आत्मसौन्दर्य से प्रतिभासित होते हैं। किसी अन्य उपादान की अपेक्षा किए बिना ही नाट्य और काव्य में शब्द और अर्थ का स्निग्ध मर्मस्पर्श होता है, एक निसर्ग सुन्दरता उद्भूत और अनुभूत होती है, उस सौन्दर्य का हेतु रूप धर्म ही लक्षण होता है।[1]

यह लक्षण काव्य एवं नाट्य की आधार-भूमि है, भित्ति है। भित्ति भवन का आधार है। भवन-निर्माण का समस्त सौन्दर्य तथा नाना वर्णों की मनोहर चित्र-रचना उसी पर परिपल्लवित होती है। वह भवन अपनी उपयोगिता के कारण न केवल सुखदायक आवासमात्र ही होता है अपितु हृदय की कलात्मक वृत्ति का अभिव्यक्ति रूप भी होता है, सौन्दर्यव्यंजना का माध्यम भी होता है। काव्य और नाट्य भी विशाल एवं मनोहर अट्टालिका सदृश हैं। शब्द और छन्दविधान भूमि सदृश है। वृत्त का समाश्रय ही क्षेत्र का परिग्रह है और लक्षणों की योजना भित्तिस्वरूप है। अलंकार और गुण का निदेशन मनोहर चित्र-रचना के तुल्य है। इसी चित्ररचना द्वारा सौन्दर्य का प्रकृत बोध होता है। अतएव लक्षण का महत्त्व समस्त काव्यांगों से कहीं अधिक व्यापक एवं मौलिक है।

समस्त अर्थालंकारों के बीजभूत, चमत्कारप्राण, कथा-शरीर को मनोहरता प्रदान करने

---

१. काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽयं शब्दयोः।
यः श्लेषादि गुण व्यक्ति दक्षः स्याल्लक्षणस्थितः। अ० भा० भाग २, पृष्ठ २६६।

वाले वक्रोकित रूप 'लक्षण' शब्द से व्यवहृत होते हैं। लक्षण-गुण और अलंकार की महिमा की अपेक्षा किये बिना ही काव्य की गरिमा का प्रसार करते हैं। अलंकार रत्नाभरण के तुल्य है जिनके विना पर अपने सहज सौन्दर्य से मनुष्य प्रतिभासित होता है। लक्षणरहित पुरुष सुन्दर नहीं कहा जाता। उसी प्रकार लक्षणरहित कथाशरीर गुण एवं अलंकारों से उज्ज्वल रहने पर भी नीरसता के कारण प्रौढ़ काव्य की गरिमा का सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। कथाशरीर से समृद्ध काव्यों में ही लक्षण की महिमा समृद्ध होती है, मुक्तकादि खण्ड-काव्यों में नहीं; क्योंकि भरत ने 'काव्यबंधों' का षट्त्रिंशत् लक्षणान्वित विधान कर मुक्तक काव्य का निषेध कर दिया है?[1] वास्तव में लक्षण तो असंख्येय हैं पर उनमें अत्यधिक उपयोगी छत्तीस का ही भरत ने व्याख्यान किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने उनकी गम्भीर मीमांसा तथा खण्डन-मण्डन कर एक-दूसरे में अन्तर्भाव किया। अभिनवगुप्त की व्याख्या आचार्य भट्टतोत आदि महान् काव्यमनीषियों की मौलिक समीक्षा पद्धति का परिचायक है, जिसमें किसी युग में लक्षणों का महत्त्व समस्त काव्यागों में अत्यन्त उत्कर्षशाली था। वे कथाशरीर, काव्यशरीर के अपृथक् अंग और गुणालंकारों के आधार के रूप में स्वीकृत थे। इस प्रकार लक्षणों ने समान रूप से नाट्य एवं काव्य दोनों क्षेत्रों तक अपनी प्रभाव-परिधि का विस्तार किया।[2]

लक्षणों का उत्तरोत्तर ह्रास

भरत, कोहल, भट्टतोत और अभिनवगुप्त द्वारा 'लक्षण' का शास्त्रीय विवेचन व्यापक काव्यांग के रूप में किया गया। परन्तु काव्यशास्त्र के विकास के क्रम में अलंकार, गुण और रीति आदि काव्यमार्गों के स्वतंत्र रूप से प्रतिपादन की परंपरा पुष्ट होती गयी, लक्षणों का वेग से ह्रास होने लगा। अलंकारवादियों में जयदेव ने दस लक्षणों का विवेचन करते हुए यह स्वीकार किया कि लक्षण अनन्त हैं, पर अलंकरानुवर्ती भी हैं।[3] भोज और शारदातनय ने नाट्य के चौंसठ संध्यंगों की तुलना में चौंसठ नाट्य-लक्षणों की कल्पना की तो आचार्य विश्वनाथ और सागर-नन्दी ने नाट्य-लक्षण[4] और नाट्यालंकार, दो पृथक् काव्यांगों का विवेचन करते हुए प्रतिपादित

---

१. काव्यबंधास्तु कर्तव्याः षटत्रिंशत् लक्षणान्विताः। ना० शा० १५।२२२।

२. It had its day when it loomed large in the field, eclipsing Alankaras which were poor in number. But gradually Laksana died in Alankar Sastra. Some concepts of Alankar Sastra, p. 2, V. Raghavan.

३. चन्द्रालोक तृतीय मयूख १।११।

४. भोज का शृङ्गार प्रकाश, भाव प्रकाशन, पृ० २२४।

(क) अनुष्टुप् छन्द में वर्णित लक्षण—'भूषण', 'अक्षरसंघात', 'शोभा', 'उदाहरण', 'हेतु', 'संशय दृष्टान्त', 'प्राप्ति अभिप्राय', निदर्शन, 'निरुक्त', 'सिद्धि', विशेषण, गुणानिपात, 'अतिशय', तुल्य तर्क, 'पदोच्चय', दृष्ट, उपदिष्ट, विचार, तद्विपर्यय, भ्रंश (संयुत शारदातनय), 'अनुनय', माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, 'पृच्छा', 'सारूप्य', 'मनोरथ', लेश, क्षोभ, 'गुण-कीर्तन', अनुक्तसिद्धि, 'प्रियवचन'। रेखाङ्कित लक्षण उपजाति और अनुष्टुप में परिगणित समान है।

(ख) अभिमान (सारूप्य या सादृश्य), प्रोत्साहन (प्रियवचन), मिथ्याध्यवसाय (विचार और विपर्यय), आक्रन्द (तुल्य तर्क), आख्यानम् (गुणाख्यानम्), यांचा (दाक्षिण्यम्), प्रतिषेध (लेश), निर्भासन

किया कि गुण, अलंकार, भाव और सन्धि में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। परम्परा निर्वाह तथा नाट्य में उपयोगिता के कारण उनका उल्लेख किया। आचार्य धनंजय सदियों पूर्व लक्षणों की अनुपयोगिता स्वीकार कर चुके थे।[1] परवर्ती काव्य एवं नाट्य-शास्त्रियों ने यदि लक्षणों एवं नाट्यालंकारों का उल्लेख भी किया तो वह परम्परा-निर्वाह मात्र है। किसी युग में 'लक्षण' का व्यापक महत्त्व नाट्य एवं काव्य दोनों के लिए समान रूप से आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ, पर काव्य-शास्त्र के उत्तरोत्तर विकास के साथ लक्षणों का ह्रास भी हुआ और कालान्तर में लक्षण-पद्धति सदा के लिए विलुप्त हो गई। यद्यपि भरत ने[2] लक्षण का विधान करते हुए निश्चित रूप से काव्य एवं नाट्य-कथा के विराट् क्षेत्र की परिकल्पना की तथा रसवादी भट्टतोत एवं अभिनवगुप्त ने लक्षणों का तात्त्विक निरूपण किया। पर ह्रास की गति उत्तरोत्तर उन्मुख होती गयी।

अलंकार

नाट्यशास्त्र में भरत ने 'लक्षणों' के उपरान्त अलंकारों की विवेचना की है। लक्षणों की संख्या जहाँ छत्तीस है और भिन्न पाठ-परम्पराएँ प्रचलित हैं वहाँ अलंकार कुल चार ही परिगणित हैं तथा पाठभेद की कोई परम्परा नहीं है। नाट्यशास्त्र के रचनाकाल में लक्षण-पद्धति की तुलना में अलंकार-पद्धति शैशवावस्था में थी।[3] बाद में भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अलंकार-पद्धति को इतना व्यवस्थित और व्यापक शास्त्रीय रूप दिया कि लक्षण-पद्धति काव्यशास्त्र से सर्वथा लुप्त हो गई। काव्यशास्त्र के अंग के रूप में अलंकार शास्त्र के प्रथम प्रणेता आचार्य तो भरत ही थे।

अलंकारों का उत्तरोत्तर विकास : लक्षणों का दायित्व

भरत-निरूपित अलंकारों की विवेचना के संदर्भ में हमारा ध्यान लक्षणों की ओर जाता है। भरत ने इन लक्षणों से अलंकार की पृथक्ता का प्रतिपादन तो नहीं किया परन्तु इनके तुलना-

---

(माला), आशी (निदर्शन), कष्ट (गर्हणम्), क्षमा (विशेषण), पश्चात्तापन (विचार), अर्थानुवृत्ति (अनुनय), उपजाति (उपदिष्ट), युक्ति (अभिप्राय), कार्य (अर्थापत्ति), अनुनीति (प्रसिद्धि), परिदेवन (अनुक्त सिद्धि, क्षोभ)। 'कोष्ठान्तर्गत लक्षणों का अन्तर्भाव अभिनवगुप्त ने उपजाति वृत्त में परिगणित लक्षणों में किया है।

(ग) 'भोजकल्पित नवीन लक्षण'—स्पृहा, परिवादन, उद्यम, छलोक्ति, काकु, उन्माद, परिहास, पिकत्थन, यदृच्छायोग, वैषम्य, प्रतिज्ञान, प्रवृत्ति—कुल बारह। (घ) शारदातनय कल्पित नवीन लक्षण—नय, अभिज्ञान, उद्देश, नीति, अर्थविशेषण, निवेदन, परिहार, आश्रय प्रहर्ष, उक्ति क्षेत्र—कुल ग्यारह। नीति से प्रहर्ष तक सा० द० नाट्यालंकार के रूप में परिगणित हैं। (ङ) विश्वनाथ और सागरनंदी द्वारा परिगणित नवीन नाट्यालंकार गर्व, आशंसा, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजन, साहाय्य उत्कीर्तन—कुल सात। भरत, भोज और शारदातनय द्वारा इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

१. लक्षणसंध्यंग काव्यानि सालंकारेषु तेषु हर्षोत्साहेषु अन्तर्भावान्न कीर्तिता, दशरूपक ४।

२. Bharat himself seems to be conscious of this double personality of his laksanas : Some Concept of Alankar Sastra, page 14.

३. Concept of Alankar Sastra, p. 40. V. Raghavan.

त्मक अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि से अलंकार की अपेक्षा लक्षण व्यापक काव्यांग थे। लक्षण काव्य शरीर है, उसकी निसर्ग सुन्दरता है। अलंकार की अपेक्षा किये बिना वह काव्य-सौन्दर्य का साधक होता है। परन्तु काव्य अलंकार-युक्त होने पर बिना लक्षण के सुशोभित नहीं होता। लक्षण काव्य-शरीर के सामुद्रिक लक्षणों की तरह अंगभूत हैं और अलंकार रमणी के उज्ज्वल रत्नहारों के समान बाह्य शोभाधायक अंग हैं। रत्नहारों से सुन्दर रमणी के सुकुमार अंग सौन्दर्य-मण्डित होते हैं, तदनुरूप लक्षण-विभूषित काव्य या नाट्य-शरीर के अंग-प्रत्यंग को अलंकार और भी दीप्त करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया है कि अलंकारों द्वारा काव्य शरीर में जो शोभा का प्रसार होता है वह लक्षण की महिमा से ही।[1] वास्तव में इन लक्षणों में से कुछ तो अलंकारानुवर्ती हैं कुछ नाट्यकथानुवर्ती। उनमें से आशीः, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, अर्थापत्ति, हेतु और सारूप्य आदि अनेक लक्षण स्वतंत्र रूप से अलंकार हो गये तथा अनेक ने अलंकारों के विकास में योग दिया। भामह से रुद्रट तक विकसित अलंकार-पद्धति के विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत-निरूपित लक्षणों ने अलंकारशास्त्र के व्यापक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।[2]

अलंकार की व्यापक शक्ति

भरत ने केवल चार अलंकारों का निरूपण किया था। पर भामह से अप्पय दीक्षित तक उनकी संख्या शताधिक हो गई। अलंकारों के उत्तरोत्तर विकास से भारतीय काव्यशास्त्र पर उसके व्यापक प्रभाव का समर्थन होता है। जहाँ परवर्ती कुछ आचार्यों ने अलंकारों की संख्या में वृद्धि की कल्पना में ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया वहाँ गम्भीर तत्त्वान्वेषी आचार्यों ने अलंकार को शास्त्र का व्यवस्थित रूप देकर काव्य की व्यापक शक्ति के रूप में उसे प्रतिष्ठा प्रदान की। दण्डी, महिमभट्ट और वामन की दृष्टि में सौन्दर्य मात्र अलंकार है। वह शब्द, अर्थ या अभिव्यक्ति शैली का ही सौन्दर्य क्यों न हो! कवि के लिए अनुभूति या वस्तु ही नहीं, उस अनुभूति को अभिव्यंजना प्रदान करने वाली शैली का भी महत्त्व है, जिससे वह अनुभूति प्रभाव-शाली और प्रीतिकर हो।[3] यह क्षमता अलंकार के व्यापक विधान से आती है। यह कविता को सर्वजन-हृदय-संवेद्य सहज सुन्दर रूप देती है। इसी रूप में ऐसा व्यापक सौन्दर्याधायक अलंकार काव्य की आत्मा-रूप रस का समवाय सम्बन्ध से उपकारक होता है। यह कटक केयूर के समान बहिरंग प्रसाधन सामग्री नहीं अपितु सामान्याभिनय के अन्तर्गत परिगणित हाव-भाव आदि की तरह आत्मकला के रूप में कविता का श्रृंगार करता है। आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया है कि ऐसे रसाक्षिप्त अलंकार अस्थायी रूप से रसात्मकता प्राप्त कर लेते हैं जैसे बाल-क्रीड़ा का नायक तत्क्षण राजा होता है। भरत-काल में अलंकारों के सम्बन्ध में यह गम्भीर तत्त्वान्वेषी दृष्टि तो नहीं थी, परन्तु बीज-रूप में संभवतः अलंकार की व्यापक शक्ति से

---

१. अभिनव भारती, भाग २, पृ० २६७, ३१७।

२. भोजाज श्रृंगार प्रकाश, पृ० ३५२ (वी० राघवन्), द्वितीय संस्करण।

३. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी), सौन्दर्यमलंकारः (वामन), चारुत्वमलंकारः व्यक्तिविवेक, पृ० ४, यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकाराः। रुद्रट : काव्यालंकार सार संग्रह पर नेमि साधु की व्याख्या, पृ० १४६।

वे परिचित अवश्य थे। अलंकार-विवेचना के अन्त में इस सत्य का संकेत उन्होंने किया है कि 'अर्थ-क्रियापेक्षी लक्षणों (अलंकारों से भी) काव्य की रचना करनी चाहिये'। अर्थक्रिया से उनका संकेत काव्य के रस-रूप काव्य-आत्मा की ओर ही है। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि अन्य अनेक आचार्यों ने अलंकार-पद्धति का विकास 'रस' से स्वतन्त्र रूप में किया, जिसमें संवेदनाओं और मनोवृत्तियों के उद्भावन की अपेक्षा चमत्कार और असाधारणप्राणता को विशेष प्रश्रय दिया गया।[1]

भरत-निरूपित अलंकार

भरत ने चार अलंकारों की विवेचना की है जिनमें तीन—उपमा, रूपक और दीपक तो अर्थालंकार हैं और यमक शब्दालंकार। भरतकाल में शब्दालंकार और अर्थालंकार की भिन्न परम्पराएँ तो विकसित नहीं हुई थीं। हाँ, भामह द्वारा प्रस्तुत अलंकारों की सूची के प्रसंग में इन दो भिन्न परम्पराओं का संकेत मिलता है जो निश्चय ही भरत की उत्तरकालीन हैं।[2]

उपमा—काव्य-बंधों में गुण और आकृति के सादृश्य के आधार पर जो कुछ उपमित होता है, भरत की दृष्टि से वही उपमालंकार होता है। यह सादृश्य दो भिन्न वस्तुओं में ही होता है। रमणी का मधुर स्निग्ध आनन और ज्योत्स्ना-मण्डित चन्द्र दो भिन्न वस्तुओं में आह्लादकता का सूत्र समान रूप से वर्तमान है। इस उपमा का विस्तार विषय की दृष्टि से प्रधान रूप से पाँच रूपों में होता है—प्रशंसा में प्रशंसोपमा, निन्दा में निन्दोपमा, कल्पना में कल्पितोपमा, सादृश्य में सदृशोपमा और किंचित् सादृश्य में किंचित् सदृशोपमा। भरत ने इन उपमाओं के शृंगार रसपूर्ण उदाहरण दिये हैं।[3] परवर्ती भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और रुय्यक आदि ने सादृश्य के सूक्ष्म कल्पना-तरंग-रंगों की छायाओं के आधार पर अनेक मौलिक अलंकारों की कल्पना की, उनसे भरत अपरिचित हैं।[4] उपमा अलंकार के उद्भव का इतिहास तो यास्क के निरुक्त से पूर्व वैदिक-मन्त्रों से आरम्भ होता है (मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे, अथर्वकाण्ड २।२८, वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा, अ० काण्ड १-१)। परन्तु भरत ने सर्वप्रथम उसे शास्त्रीय रूप देकर प्रधान भेदों का निर्धारण किया और उसके आधार पर अनेक अलंकार विकसित हुए। सन्देह, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, अपह्नुति, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि उपमालंकार के ही विस्तार हैं।[5] अप्पय दीक्षित ने उपमालंकार की बड़ी रमणीय कल्पना की है—उपमा रूपी एक नाटक स्त्री काव्य-रंग में विभिन्न भूमिकाओं में अवतरण करती हुई विद्वानों के चित्त का अनुरंजन करती है।[6] उपमालंकार कालिदास की प्राञ्जल संवेदनशील अभिव्यक्ति शैली का आधार रहा है। भारतीय कविता के सौन्दर्य-सृजन में उपमालंकार ने महत्त्वपूर्ण योग

---

१. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटनान्यपि रससमाहित चेतसः प्रतिमानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्यालोक, पृ० ८६-८७।

२. काव्यालंकार – भामह, १-१५।

३. ना० शा० १६।४१-५१. (गा० ओ० सी०)।

४. काव्यालंकार-२।३७, भामह; काव्यादर्श २।३०-३१, दण्डी; काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४।२।२, वामन।

५. अ० भा० भाग-२, पृ० ३२१।

६. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदात्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः। कुवलयानंद : चित्रमीमांसा।

प्रदान किया है। ऋग्वेद काल से आज तक सादृश्याधारित अभिव्यक्ति की उदात्त शैली व्यापक रूप में प्रभावित करती आयी है।

दीपक और रूपक का विवेचन भरत ने उपमा की तरह न कर, अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। रूपक में किंचित् सादृश्य और 'अवयवों की तुल्यता' का कथन किया गया है। भरत ने परवर्ती समस्त देश विवर्ती और एकदेश विवर्ती नामक भेदों का आधार प्रस्तुत कर दिया है। दीपक में एक अर्थ के द्वारा अनेक अर्थों का प्रकाशन दीपक की भाँति होता है। भरत ने इन दोनों अलंकारों के भेदों का कथन नहीं किया है। संभव है 'उपमा' के बाद इनका उद्भव हुआ हो।[1]

यमक अलंकार के विस्तृत विवेचन द्वारा शब्दालंकार का मानो शिलान्यास ही भरत ने किया। पादान्तयमक, कांचीयमक, समुदगयमक, विक्रान्तयमक, चक्रवाल यमक, संदष्टयमक, पदादियमक, आम्रेडितयमक, चतुर्व्यवसितयमक और मालायमक, ये दस भेद सोदाहरण परिगणित हैं। काव्य या नाट्य के वाक्य-विन्यास में नाद-सौन्दर्य के लिए कभी पाद का आरम्भ, कभी अन्त और कभी चारों पादों की आवृत्ति होने पर यमक होता है।[2] भामह ने इनका परस्पर अन्तर्भाव कर केवल पाँच 'यमक' ही स्वीकार किये हैं। भरत-प्रतिपादित भेदों ने दण्डी, अग्निपुराण, भामह, भट्टि आदि आचार्यों द्वारा कल्पित भेदों के लिए आधार प्रस्तुत किया।[3] प्राचीन आलंकारिकों में केवल उद्भट्ट ने ही यमक को स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः यमक अलंकार प्राचीन काल से काव्य में बहुत लोकप्रिय रहा है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड के पाँचवें सर्ग में 'यमक' का कुशल प्रयोग किया गया है।[4] द्वितीय शताब्दी में लिखित रुद्रदामन के शिलालेख पर उसका पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।[5] कालिदास ने रघुवंश के नवम् सर्ग में अपनी यमक-प्रियता का परिचय दिया है। उनका पदानुसरण करते हुए भारवि और माघ ने यमक-प्रयोग में अपनी विदग्धता का परिचय दिया। रीतिकालीन हिन्दी कवियों के लिए नाद-सौन्दर्य और चमत्कारप्रियता की दृष्टि से यमक अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार बना रहा। इस अलंकार का विकास नाद-सौन्दर्य सर्जक काव्यतत्त्व के रूप में अनेक रूपों में हुआ। लाटानुप्रास और अन्त्यानुप्रास का विकास इसी से हुआ।[6] नाद-सौन्दर्य द्वारा काव्य के अलंकरण की यह प्रवृत्ति कालिदासोत्तर भारतीय कविता में विशेष रूप से पल्लवित हुई। इस प्रवृत्ति के विरोध में आचार्य आनन्दवर्द्धन इस वहिरंग सौन्दर्य प्रवृत्ति को रसानुवर्ती नहीं मानते तथा आचार्य मम्मट यमक को इक्षुदण्ड की ग्रंथि की तरह रसानुभूति का विच्छेदक मानते हैं।[7] काव्य के सौन्दर्यबोधक उपादानों की समीक्षा ज्यों-ज्यों तात्त्विक होती गयी शब्दालंकार का महत्त्व क्षीण होता गया।

---

१. नाट्यशास्त्र १६।५३-५८ (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० १६।५९-८६ (गा० ओ० सी०)।
३. का० अ० २।१०, भामह; भट्टिकाव्य १०।२-३, काव्यादर्श ३.१-७८, दण्डी; अग्निपुराण ३४३, १२-१७।
४. वा० रा० सुन्दरकाण्ड ५।५६।
५. पारण धारण विभाग... रुद्रदामन् का शिलालेख, पृ० ३।
६. अ० भा० भाग २, पृ० ३२६।
७. ध्वन्यालोक २।१५, काव्यप्रकाश, पृ० ५०४; तथा हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, एस०के०दे, पृ० ७।

उपसंहार

परवर्ती काल में शब्दालंकार और अर्थालंकार की दो भिन्न परम्पराएँ विकसित हुईं। नाट्यशास्त्र में वह परम्परा स्पष्ट नहीं है। भरत द्वारा यमक के व्याख्यान के प्रसंग में 'शब्दाभ्यास' के प्रयोग द्वारा इन दो भिन्न परम्पराओं का बीजवपन कर दिया था। शब्द और अर्थ के आधार पर अलंकारों के विभाजन की परम्परा का आरम्भ भामह के बाद दण्डी ने किया। निःसन्देह इन चार अलंकारों के विवेचन में परवर्ती अनेकानेक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की सम्भावनाएँ वर्तमान थीं। भरत ने इन चार अलंकारों का विवेचन नाट्यलक्षणों तथा नाट्यालंकारों से पृथक् किया था। नाट्यशास्त्र की परम्परा के नाटक लक्षण रत्नकोष, दशरूपक, नाट्यदर्पण, रसार्णव सुधाकर और भावप्रकाशन आदि ग्रन्थों में काव्यशोभाविधायक इन अलंकारों का उल्लेख तक नहीं है। सागरनन्दी ने तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि काव्यशोभाविधायक अलंकार और नाट्यालंकार एक-दूसरे से पृथक् हैं। उपमा आदि अलंकार काव्यशोभा और नाट्यालंकार नाट्यशोभा के अनुबंधी हैं।[1] नाट्यशास्त्र नाट्यविधा का ग्रंथ होकर भी अलंकारशास्त्र का महान् उपजीव्य ग्रंथ है। अलंकारशास्त्र के उद्भव और विकास में इन प्रमुख चार अलंकारों के अतिरिक्त छत्तीस लक्षणों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। भरत ने मूल रूप से चार अलंकारों के विवेचन द्वारा जिस काव्यमार्ग का शिलान्यास किया, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अपनी प्रतिभा के योग से उसे पूर्णतया विकसित किया।

दोष-विधान

दोषों की परम्परा

आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत दस काव्य-दोषों का विवेचन शास्त्रीय पद्धति में किया। इससे यह सिद्ध होता है कि भरत के पूर्व से ही दोषों की प्राचीन परम्परा वर्तमान थी। इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान गौतम के न्यायसूत्र, अर्थशास्त्र, महाभारत और जैनागम आदि की ओर जाता है। इनमें जिन सामान्य दोषों का विवेचन है, उन्हीं के आधार पर काव्य-दोषों का निर्धारण हुआ। काव्य-दोषों के उद्भव और विकास के इतिहास में भरत ही काव्य-दोष के प्रथम प्रवर्तक हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसके बहुविध स्वरूपों का विस्तार किया।

गौतम का न्यायसूत्र

गौतम के न्यायसूत्र में शब्द प्रमाण के प्रसंग में अनृत, व्याघात और पुनरुक्त तथा निग्रह स्थान के सन्दर्भ में अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञानार्थ, अपार्थक और पुनरुक्त नामक दोषों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'व्याघात' भामह और दण्डी तथा 'एकार्थ' तो इन दोनों तथा भरत द्वारा भी स्वीकृत है। निग्रह स्थान के पाँचों दोष भरत द्वारा स्वीकृत हैं, तथा भामह दण्डी ने भी कुछ परिवर्तन कर प्रतिपादन किया है। न्यायसूत्र में 'पुनरुक्त' और 'व्याघात' नामक दोषों की

---

१. उपमादय एव काव्यशोभानुबंधिनोऽलंकाराः कथिताः। नाटक लक्षण रत्नकोष, पृ० १७३६ तथा अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६५, वी० राघवन्।

अनित्यता का कथन कर परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रतिपादित दोषों की अनित्यता के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का बीजवपन किया।[1]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द और संप्लव ये पाँच दोष लेख और रचना के सन्दर्भ में उल्लिखित हैं। कान्ति और संप्लव का सम्बन्ध लेखन-कला से है। शेष दोषों का उल्लेख किंचित् नाम एवं स्वरूप-परिवर्तन के साथ भरत एवं परवर्ती काव्यशास्त्र में मिलता है।[2]

महाभारत और जैनागम

महाभारत के शान्तिपर्व में सुतभाजनक संवाद में अपेतार्थ, भिन्नार्थ, न्यायविरुद्ध, अश्लक्षण, संदिग्ध, अनृत, न्यून अहेतुक, कष्टशब्द, सशेष और निराकरण आदि अनेक दोषों का उल्लेख है। भरत के न्यायादपेत, गूढार्थ और भिन्नार्थ आदि दोष न्यायविरुद्ध और संदिग्ध आदि के निकटवर्ती हैं।[3] अनुयोगद्वार नामक जैनागम में बत्तीस दोषरहित जैन वाक्य को 'सूत्र' माना है। उन बत्तीस दोषों में कुछ आचार सम्बन्धी, कुछ तर्क सम्बन्धी और कुछ साहित्य सम्बन्धी हैं। जैनागम के प्रधान साहित्यिक दोष निम्नलिखित हैं—अनृत, निरर्थक, पुनरुक्त, व्याहत, क्रमभिन्न, वचनविहीन, विभक्तिभिन्न[4], लिंगभिन्न, यतिदोष, उपमारूपक दोष, छविदोष और पदार्थ दोष। इन सभी दोषों का भरत एवं अन्य काव्यशास्त्रियों ने उल्लेख किया है। छविदोष और उपमारूपक आदि दोषों का उल्लेख जैनाचार्यों की समीक्षात्मक साहित्यिक दृष्टि का स्पष्ट संकेत करते हैं।

भरतनिरूपित दोषों का स्वरूप

भरत ने निम्नलिखित दस दोषों का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में किया है—

गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसंधि, पदच्युत।

'गूढ़ार्थ' पर्याप्त स्पष्ट है, भरत ने 'पर्याय' शब्द द्वारा इसकी व्याख्या की है। संभव है इसी आधार पर पर्यायोक्ति अलंकार का विकास हुआ हो, जिसमें शब्दों का अर्थ अत्यन्त गूढ होता है। भरत की दृष्टि से नाट्य-प्रयोग में गूढार्थता बाधक होती है। यही कारण है भरत ने 'गूढशब्दार्थहीनता' का स्पष्ट विधान किया है। भामह ने भी 'गूढशब्दाभिधान' नामक दोष का उल्लेख किया है। **अर्थान्तर** दोष का सम्बन्ध रचनान्तर्गत प्रतिपाद्य विषय और रस से है। वर्ण्य-वस्तु का औचित्य इन दोनों के सन्दर्भ में ही निर्धारित होता है। अवर्ण्य का वर्णन ही अर्थान्तर होता है। महिमभट्ट ने इस व्यापक दोष को दृष्टि में रखकर अवाच्यवचन और वाच्यअवचन

१. गौतम का न्यायसूत्र २।१।५७-५८, ५।२।
२. अर्थशास्त्र ५।१।१०।
३. महाभारत शान्तिपर्व अ० ३०८।८७-९०।
४. अनुयोगद्वार सूत्र, पृ० २४२।

आदि दोषों का उल्लेख किया है। **अर्थहीन** का सम्बन्ध अथ की असम्बद्धता या बहुलता से है। भामह और दण्डी ने इसे ही अपार्थ दोष माना है। **भिन्नार्थ** में या तो अविवक्षित अर्थ का कथन होता है या ग्राम्य शब्द का प्रयोग होता है। भोज ने पददोष के अन्तर्गत 'विरुद्ध अभिहित' के रूप में इसका उल्लेख किया है। **एकार्थ** दोष पुनरुक्त का पर्याय मात्र है, भामह और दण्डी ने भी इसका उल्लेख किया है। **अभिप्लुतार्थ** दोष स्पष्ट नहीं है। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्येक पाद में अर्थ समाप्त होने पर यह दोष होता है। वी० राघवन् के अनुसार 'संशय' की परम्परा का यह दोष है।

न्याया(द)पेत दोष लोक-परम्परा का विरोध होने पर होता है। भामह ने इसके मूल भाव के आधार पर देश, काल, कला, न्याय आगम विरोधी तथा प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीन दोष की कल्पना की है। वामन ने 'विद्याविरुद्ध' और 'लोकविरुद्ध' तथा भोज ने 'विरुद्ध' नामक दोष का विधान किया है। **विषम** नामक दोष का सम्बन्ध वृत्तों के अनुचित प्रयोग से है और **विसंधि** का दोष-पूर्ण सन्धियों से। **शब्दच्युत** दोष बहुत व्यापक है। उचित शब्दों के प्रयोग न होने से विवक्षित भावों के प्रकाशन न होने पर यह दोष होता है। इसके अन्तर्गत अनुचित शब्दों तथा व्याकरण सम्बन्धी दूषित प्रयोगों का अन्तर्भाव होता है। ऐसे प्रयोग रस और अर्थ की दृष्टि से अपशब्द ही होते हैं।[1] कुन्तक की दृष्टि से अन्य अर्थों के रहने पर भी विवक्षित अर्थ का वाचक होने पर ही वह शब्द होता है और अर्थ तो सहृदय के हृदय में आह्लाद के स्पन्दन से ही सुन्दर होता है। शब्द में समस्त उचित काव्य-सामग्री का अभिधान होता है। तदनुरूप शब्द का प्रयोग न होने पर अशब्द योजना होती है और शब्दच्युत दोष होता है। यद्यपि भामह और दण्डी इसे व्याकरण सम्बन्धी दोष मानते हैं, पर परवर्ती काल में इसका विस्तार अर्थदोष की दृष्टि से बहुत व्यापक हो गया है।[2]

कुछ अन्य दोष

नाट्य-सिद्धि के प्रसङ्ग में भरत ने कुछ स्थूल दोषों का पुनः उल्लेख किया है। वे निम्न-लिखित हैं—पुनरुक्त, असमास, विभक्ति, विसंधि, अपार्थ, त्रिलिंगज, प्रत्यक्ष परोक्ष संमोह, छन्दोवृत्त त्याग, गुरुलघुसंकर और यति-भेद। पुनरुक्त और अपर्थ तो एकार्थ और अर्थान्तर के पर्याय हैं। विसंधि की परिगणना पुनः की गई है। शेष सभी दोषों को व्याकरण और छन्द-संबंधी दोषों में पृथक्-पृथक् परिगणित कर सकते हैं। असमास, विभक्ति, विसंधि, त्रिलिंगज, प्रत्यक्ष-परोक्ष संमोह (काल) व्याकरण सम्बन्धी दोष हैं। छन्दोवृत्तत्याग, गुरुलघुसंकर और यतिभेद ये तीनों ही दोष छन्द-सम्बन्धी सभी दोषों का अन्तर्भाव कर लेते हैं।[3]

भरत के दोष-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का साधु प्रयोग, अर्थ की रसोचित योजना और छन्द का रसानुवर्ती विधान होने पर ही काव्य-रचना निर्दोष हो सकती है। निर्दोष काव्य में ही गुणाधान और अलंकार का प्रयोग संभव है। भरतकाल में दोषों का शब्द और अर्थ

---

१. ना० शा० १६।८८-६४, भामह काव्यालंकार १।४५, सरस्वती कंठाभरण १।११।

२. वक्रोक्तिजीवितम्।

३. ना० शा० २७।३०-३२ का० सं०।

में विभाजन तो नहीं हुआ था पर दोषों की परिगणना से इस विभाजन की अस्पष्ट संभावना परिलक्षित होती है।[1]

दोष का उत्तरोत्तर विकास और स्वरूप

भरत ने गुणों के व्याख्यान के प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण विचार का प्रतिपादन किया है कि 'दोष विपर्यस्त होने पर गुण होते हैं।' पर गुणों का पृथक् प्रतिपादन करते हुए यह निर्धारित नहीं किया कि कौन गुण किस दोष का विपर्यय है ? दण्डी, भामह, वामन और भोज ने[2] दोष-गुण विपर्यय के सिद्धान्त का उपबृंहण कर यह निर्धारित किया कि कौन दोष किस गुण का विपर्यय है। दण्डी के अनुसार गुणों की समृद्धि तो वैदर्भी में परिलक्षित होती है उनके विपर्यय तो गौड़ी में प्राप्त होते हैं।

दण्डी के अनुसार		भोज के अनुसार		
गुण	तद्विपर्यय	गुण	विपर्यय	
श्लेष	शैथिल्य	श्लेष	शैथिल्य	शब्दप्रधान विपर्यय
प्रसाद	अनतिरूढ	समता	विषमता	
माधुर्य	ग्राम्यता (शाब्द, आर्थ)	सौकुमार्य	कठोरता	
सुकुमारता-	निष्ठुरता, दीप्तत्व, कृच्छोदषत्व।	प्रसाद	अप्रसाद	अर्थप्रधान विपर्यय
अर्थव्यक्ति	नेयार्थ	कान्ति	ग्राम्यत्व	
कान्ति	अत्युक्ति	ओज	असमासत्व	
		माधुर्य—	अनिव्यूढत्व	उभयप्रधान विपर्यय
		औदार्य—	अलंकार	

दोष और आचार्यों की सूक्ष्म चिन्तन-पद्धति

इस विपर्ययवाद के मूल में 'निर्दोषता ही सौन्दर्य है', 'दोषाभाव ही गुण है' जैसे विचार-विन्दुओं की प्रेरणा काम करती है। क्योंकि दोष तो तुरत ही लक्षित होता है और गुण प्रयास द्वारा। दण्डी का यह कथन नितान्त उचित है कि काव्य में किंचित् भी दोष की अवहेलना न करनी चाहिये। सुन्दर तन भी कुष्ठ के ज़रा-से दाग से अशोभन मालूम होता है। 'दोषहान' और विपर्ययवाद[3] की मूल विचारधारा से ही दोषों की अनित्यता का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचना का महत्त्वपूर्ण विषय बना रहा।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने दोषों का व्याख्यान करते हुए इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया कि 'परिवेश-विशेष में दुरुक्त भी शोभन होता है', जैसे माला में नीलपलाश सुन्दर मालूम पड़ता है। सुन्दर आधार रहने पर असाधु भी मनोहर लगता है। कामिनी के विशाल चंचल नयनों में मलिन अंजन भी प्रीतिकर मालूम पड़ता है। 'आपाण्डु गण्ड' में 'आपाण्डु' शब्द

१. एत एव विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। ना० शा० १७।९५ का० सं०।

२. का० आ० १।४१-४५, ३।७३३, का० अ० सू० २।२, भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २३७।

३. दोषहानं गुणादानं अलंकार योग रसावियोगश्च भवति। भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २७८। का० अ० सू० १।१-३, का० प्र० २।२।, तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन। का० आ०।

के बल से 'गण्ड' जैसा शब्द भी सुन्दर प्रतीत होता है।[१] दण्डी ने इसका विस्तार करते हुए प्रतिपादित किया कि अवस्था-भेद से 'विरुद्धार्था भारती' भी अभिमत होती है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धनाचार्य ने विवक्षित अर्थ की अप्रतीति को ही दोष का आधार मानकर, श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट और कल्पनादुष्ट आदि दोषों को केवल ध्वन्यात्मक शृंगार के लिए हेय प्रतिपादित किया। अन्यत्र रौद्र और वीर आदि में वे गुण होते हैं। ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित 'दोषों की अनित्यता' का आचार्य मम्मट ने और भी विस्तार किया[२]। उनकी दृष्टि से वक्ता, प्रतिपाद्य, विषय, प्रकरण, वाच्य और व्यंग्य आदि की महिमा से दोष भी गुण होता है, कहीं वह न गुण होता है न दोष ही। आचार्यों में केवल अग्निपुराणकार ने ही दोष-विपर्यय के सिद्धान्त का स्पष्ट विरोध किया कि 'दोषाभाव ही गुण होता है'। उनकी दृष्टि से गूढार्थ आदि दस दोष श्लेष आदि दस गुणों से परस्पर संबद्ध नहीं हैं। अन्यथा भामह, दण्डी, भोज, आनन्दवर्द्धन, मम्मट और महिमभट्ट प्रभृति आचार्यों ने 'दोषहान' दोषराहित्य, दोष विपर्ययवाद तथा दोषों की अनित्यता के सिद्धान्त का उपबृंहण किया। इन आचार्यों की दृष्टि से परिस्थितिवश दोष भी गुण हो जाते हैं। भरत द्वारा प्रतिपादित दोषविपर्यय के सिद्धान्त को महिमभट्ट ने विशेष रूप से परिपल्लवित किया और अनौचित्य को ही प्रधान दोष माना। महिमभट्ट दोष-निरूपण के महान् प्रवर्तकों में थे। उनके अनौचित्य का आधार भरत के न्यायापेत जैसे व्यापक दोषों में उपलब्ध होता है।

उपसंहार

भरत-निरूपित दोषों के वर्गीकरण और निरूपण ने परवर्ती आचार्यों को 'दोषहान', 'गुण-विपर्यय' तथा दोषों की अनित्यता तथा अनौचित्य जैसे विचारों के उपबृंहण की प्रेरणा दी। भरत ने अलंकार-दोष की परिकल्पना नहीं की क्योंकि उनके काल में अलंकारों की संख्या सीमित थी। अन्यथा दोष-सम्बन्धी सभी विचारतत्त्व मूल रूप में उपलब्ध हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'अदोषत्व' का निषेध कर कोई मौलिक चिन्तन नहीं प्रस्तुत किया था, क्योंकि भरत ने स्पष्ट रूप से सर्वथा निर्दोषिता का निषेध कर दिया था।[३]

गुण-विधान

गुण की परम्परा

काव्यगुणों का शास्त्रीय रीति से विवेचन भरत ने ही संभवतः सर्वप्रथम आरम्भ किया था। पर भरत के पूर्व भी प्राचीन भारतीय ग्रंथों में अनेक साहित्यिक गुणों का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र और जैनागम जैसे उपजीव्य ग्रन्थ विशेष रूप से उपादेय हैं। रामायण के आरम्भ में रामकथा-वर्णन के संदर्भ में 'उदार' और 'मधुर' तथा किष्किंधा काण्ड में राम द्वारा हनुमान की वाणी की प्रशंसा में 'असंदिग्ध', 'अविस्तर', 'संस्कार-

---

१. का० अ० (भामह) सन्निवेश विशेषान्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराल स्रजामिव।

२. वक्तृ प्रतिपाद्य व्यंग्य वाच्य प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः। का० प्र० ७।५६।

३. सर्वथा निर्दोषस्य एकान्त सभवात् सा० द० ७।३२. नाट्य प्रकृतौ दोषानात्य(व्य)र्यंतो ग्राह्याः। ना० शा० २७।४७।

क्रम संपन्न' तथा 'हृदयहारी' गुणों का विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। 'विस्तार' और 'संदेहत्व' दोष के रूप में अलंकार शास्त्र में परिगणित हैं। 'संस्कार-क्रम संपन्नता' का अभाव ही भरत का शब्दच्युत दोष है। 'उदार' और 'मधुर' गुणों का उल्लेख भरत एवं अन्य आचार्यों ने किया है।[१] महाभारत में 'विचित्रपदत्व', 'श्रुतिसुख', 'मधुर' और 'अर्थवत्' आदि गुणों का उल्लेख है।[२] अर्थशास्त्र में 'अर्थक्रम', 'संबंध', 'परिपूर्णता', 'माधुरी', 'उदारता' और 'स्पष्टत्व' आदि लेख संपत्-रूप गुणों का वर्णन मिलता है।[३] औदार्य और मधुर गुणों की परिभाषाएँ भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा में हैं। प्रसिद्ध जैनागम अनुयोग द्वार सूत्र में 'निर्दोष', 'सारवत्', 'हेतुमत्', 'अलंकृत', 'उपनीत', 'सोपचार', 'मित' और 'मधुर' ये आठ गुण परिगणित हैं।[४] एक अन्य जैनागम राजप्रश्नीय में सत्य वचन के पैंतीस अतिशेषों में 'संस्कारवत्व' (शब्दशुद्धि), 'उदात्तत्व' (उदात्त गुण), 'उपचारोपेतत्व' आदि शब्दगुण तथा 'महार्थ' (उच्च विचारयुक्त), 'अव्याहत', 'पौर्वापर्य', 'असंदिग्ध', 'देशकाल युत' (देशकालाविरोधी), 'अतिस्निग्ध मधुर', 'उदार' (अत्युच्चार्थ प्रतिपादक) तथा 'ओजस्वी' आदि आर्थ गुण प्रधान हैं। भरत-निरूपित काव्य-गुणों से इनकी भावना का साम्य है।[५]

संस्कृत के प्राचीन कवियों—अश्वघोष, कालिदास, भारवि, यशोवर्मा, भट्टि और माघ की महान् काव्य-कृतियों तथा गिरिनार जैसे प्राचीन अभिलेखों में स्फुट, लघु, चित्र, मधुर, कान्त और उदार आदि गुणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जो भरत-निरूपित गुणों की परंपरा में हैं।[६] परन्तु काव्य गुणों के शास्त्रीय विवेचन की परम्परा में विकास के चरण गतिमान् होते मालूम पड़ते हैं। वामन, आनंदवर्द्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की प्रतिभा की प्रेरणा से। वामन द्वारा 'शब्दार्थ' में गुणविभाजन की परंपरा का एक ओर प्रवर्तन हुआ तो दूसरी ओर आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा रसाश्रित गुण-सिद्धान्त की कल्पना मूर्तिमान् हुई। दोनों परम्पराओं के विचार-तत्त्व भरत-निरूपित काव्य-गुणों में वर्तमान थे। नाट्यप्रयोग (वाचिक अभिनय) की दृष्टि में रखकर प्रवृत्त यह गुणसिद्धान्त काव्यशास्त्र की दो प्रधान परंपराओं (रीतिवादी और रसवादी) को प्रभावित करने में समर्थ हुआ।

दोषाभाव और गुण

भरत ने दस गुणों का व्याख्यान करते हुए गुणों को दोषों के विपर्यय के रूप में प्रतिपादित

---

१. वा० रा० १।२।४२-४३, ४।३।३२-३३. (अहो गीतस्य माधुर्यम्, अविस्तरमसंदिग्धम्)

२. महाभारत आदिपर्व—तत्राख्यान विशिष्ट विचित्रपद पर्वणः; २४।१, वचनं मधुरं मधुसूदनः, ६२।५२. २००।५६।

३. अर्थक्रमः संबंधः परिपूर्णता माधुर्यं औदार्यं स्पष्टत्वमिति लेख संपत्, अर्थशास्त्र १०।८०-८१।

४. अनुयोगद्वार सूत्र : हेमचन्द्र सूरि विरचित वृत्ति, पृ० २४३।

५. श्री राजप्रश्नीय सूत्र : मलयगिरीया वृत्ति, पृ० सं० १२।

६. (क) महाक्षत्रप रुद्रदामन का प्रस्तराभिलेख।
   (ख) बुद्धचरित १।५६, ५।७४, ७।५०।
   (ग) किरातार्जुनीयम् २।२७, १४।४३।
   (घ) शिशुपाल वधम् १२।३५।
   (ङ) रामाभ्युदय (यशोवर्मा) भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २६१. वी० राघवन्।

किया है।[1] भरत की इस मान्यता का समर्थन दण्डी, भोज, वानन, महिमभट्ट, आनन्दवर्द्धन, मम्मट और आचार्य विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने किया। इस मान्यता का विकास 'विपर्ययवाद' तथा 'दोषों की अनित्यता' के रूप में हुआ।[2] यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'दोषाभाव रूप गुण' की मान्यता का स्पष्ट विरोध किया, क्योंकि माधुर्य और औदार्य गुणों के अभाव-रूप दोष भरत-निरूपित दोषों में उपलब्ध नहीं होते।[3] सम्भवतः भरत का आशय यह है कि नितान्त दोषाभाव होने पर ही निर्दोष सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। निर्दोषता तो स्वयं सौन्दर्य है। 'दोषाभाव' या 'दोषहान' पर बल देने का आशय जैकोवि के शब्दों में यही है कि दोष तो अनायास प्रकट होता है और गुण-दर्शन तो प्रयास साध्य है।[4] भोज, मम्मट और हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों ने 'दोषहान' और 'अदोषता' का उल्लेख कर इस मान्यता का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है, अन्यथा दस दोष, दस गुणों के ही विपर्यय कदापि नहीं हैं।

भरत-निरूपित गुण

भरत ने निम्नलिखित दस गुणों की परिगणना एवं विवेचना की है—श्लेष, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।

(१) **श्लेष**—अभिलषित अर्थपरम्पराओं से जहाँ पद सम्बद्ध हो या गहन अर्थधाराएँ जहाँ पद में आश्लिष्ट हों वहाँ श्लेष होता है। अभिनवगुप्त ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष अलंकारों का उद्भव-स्रोत इसे माना है, जिस पर वामन-निरूपित 'शब्दार्थ गुण' की प्रतिपादन शैली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[5]

(२) **प्रसाद** गुण में शब्दार्थ का संयोग सुखदायक होता है, अर्थ स्फटिक की तरह स्वयं प्रतिभासित होता है। वामन और अभिनवगुप्त ने अर्थगुण को 'अर्थ-विमलता' के रूप में परिभाषित किया। कुवलयानन्द ने सम्भवतः इसी प्रसाद गुण सम्पन्नता के आधार पर 'मुद्रा' अलंकार की परिकल्पना की। प्रसाद गुण रसवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रधान तीन गुणों में एक है।[6] **समता** नामक गुण में न तो अधिक असमस्त पद, न व्यर्थाभिधायी पद और न दुर्बोध पद ही होते हैं। काशी संस्करण के अनुसार यह गुण तो गुण और अलंकारों के समुचित योग होने पर होता है, क्योंकि हेमचन्द्र की दृष्टि से भी भिन्नाधिकरण गुण और अलंकार एक-दूसरे को विभूषित नहीं करते। वामन ने तो समता को 'वृत्ति' में अन्तर्भाव किया है।[7] **समाधि** गुण इष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए उपमालंकार का प्रयोग अथवा कवि की प्रतिभा के योग से प्रयुक्त पद या वाक्य से विशिष्ट अर्थान्तर का भी बोध होने पर होता है। वामन के प्रभाव में ही अभिनवगुप्त

---

१. गुणविपर्ययादेषां माधुर्योदार्यलक्षणाः। ना० शा० १६।९५ (गा० ओ० सी०)।
२. काव्यानुशासन १।११, काव्यप्रकाशन १।१, भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २६४।
३. न च वाच्यं गुणो दोषाभाव एव। अग्निपुराण ३४६।२।
४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १२, पी० वी० काणे।
५. ना० शा० १६।१७२, (गा० ओ० सी०), का० सं० १७।९७-९८, अ० भा० भाग २, पृ० ३३४-५ का० अ० सू० ३।१-१०।
६. ना० शा० १६।९९, का० अ०, पृ० २७६, कुवलयानन्द ७३।, का० अ० सू० ३।२-३।
७. ना० शा० १६।१०० (गा० ओ० सी०), का० अ०, पृ० २७८, का० आ० १।४७, का० अ० सू० ३।५।

ने इसे शब्द-गुण के रूप में स्वीकार किया है।[1] **माधुर्य** में वाक्य की पुनः-पुनः आवृत्ति होने पर भी मधुरता पूर्ववत् बनी रहती है। माधुर्य-गुण अत्यन्त लोकप्रिय गुणों में है। मम्मट एवं आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में एक है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से यह अर्थगुण है।[2]

ओज-समासबहुल, विचित्र एवं उदार अर्थयुक्त तथा परस्पर अपेक्षित अर्थों से अनुगत रचना ओज-गुण-सम्पन्न होती है। काशी संस्करण के अनुसार हीन वस्तु होने पर शब्दार्थ की समृद्धता से उदात्त अर्थ प्रतिभासित होने पर ओजगुण होता है। आचार्य हेमचन्द्र इसी परिभाषा के समर्थक हैं पर वे ओज को गुण नहीं प्रकृत कविकर्म मानते हैं। वी० राघवन् के मतानुसार काशी संस्करण में 'सानु' के स्थान पर 'काकु' शब्द का पाठ स्वीकार करने पर 'काकु' स्वर का बोधक होता है जिसका नाट्य-प्रयोग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अभिनवगुप्त के मत से यह अर्थगुण है।[3] **'सौकुमार्य'** सुखपूर्वक उच्चारण योग्य सुश्लिष्ट संधियुक्त तथा कोमलता से अनुप्राणित होने पर कोई रचना सुकुमार होती है। अतएव जड़ के लिए 'देवानां प्रिय' और मृत के लिए 'यशः शेष' सुकुमार भावव्यंजक शब्दों का प्रयोग उचित माना जाता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से सुकुमारता शब्द और अर्थ दोनों की होती है जिस पर वामन की गुण-दृष्टि का प्रभाव है। दण्डी और हेमचन्द्र के मतानुसार सौकुमार्य शब्दगुण ही है।[4] **अर्थव्यक्ति** में अर्थ स्पष्ट होता है। नाट्य या काव्य-व्यापार में सुप्रसिद्ध तथा लोकधर्म-व्यवस्थित अभिधान का प्रयोग होने से सद्यः अर्थव्यक्ति होती है। दूसरी परिभाषा के अनुसार भाव और वस्तु का अभिनय ही अर्थव्यक्ति है। पात्र द्वारा वास्तविक प्रयोग के पूर्व ही मनोबल के योग से प्रेक्षक के हृदय में अभिनीत होने वाली वस्तु का आभास हो जाता है। यह प्रसाद गुण का निकटवर्ती है। प्रसाद में सद्यः अर्थ प्रकट हो जाता है और अर्थव्यक्ति में मन समस्त नाट्य-व्यापार में अनुप्रविष्ट कर जाता है। वामन के अनुसार इस गुण में 'वस्तु का ज्ञान' शब्द-प्रयोग के पूर्व ही हो जाता है। यह अर्थगुण है क्योंकि अभिव्यक्ति तो वस्तु या अर्थ की ही होती है। दण्डी एवं अन्य आचार्य जाति या स्वभावोक्ति अलंकार का निकटवर्ती मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने प्रसाद गुण में इसका अन्तर्भाव कर लिया है।[5] **उदार (या उदात्त)** दिव्य एवं विविध भावों से विभूषित तथा श्रृंगार एवं अद्भुत रसों से समाविष्ट होने पर रचना 'उदार' गुण-सम्पन्न होती है अथवा अनेक विशिष्ट अर्थों, सौष्ठवों से उपेत रचना 'उदात्त' गुणयुक्त होती है (काशी संस्करण)। प्रथम परिभाषा का उदात्तालंकार से साम्य है तथा दूसरी का रूपक के प्रथम भेद नाटक से। दण्डी के अनुसार जिस उक्ति के प्रयोग होने पर उत्कर्षशाली गुण प्रतीत हो, तो उदात्त गुण होता है। यह गुण काव्य का प्राण है। भोज, हेमचन्द्र, अग्निपुराणकार और वामन आदि आचार्य काशी संस्करण के 'उदात्त' की परिभाषा के

---

१. ना० शा० १६।१०२, अ० भा० भाग-२, पृ० ३३५, का० आ० ६३-६४, का० अ० सूत्र० ३।१।
२. ना० शा० १६।१०३, का० आ० १।५१, काव्यप्रकाश ८।६८, ध्वन्यालोक २।७८।
३. ना० शा० १६।१०५, (गा० ओ० सी०), (सातु स्वरैः का० सं० १७।१०३), का० अ०, पृ० २७४, भोजाज श्रृंगार प्रकाश, पृ० २६८, अ० भा० भाग २, पृ० २४०।
४. ना० शा० १६।१०७ (गा० ओ० सी०), का० अ० सू० ३।३।११, का० अ०, पृ० २८३।
५. ना० शा० १६।१०८, (गा० ओ० सी०), का० सं० १७।१०५, का० अ० सू० ३।२।१३, का० आ० १।७३, २-८, का० प्र०, पृ० ४८२, सा० द० १०८।१३।

समर्थक हैं। वामन ने इसे शब्द-गुण मानकर ओज में अन्तर्भाव कर लिया है। उनकी दृष्टि से अग्राम्यत्व ही 'उदारता' है। अग्राम्यत्वदोष का अभाव रूप है न कि स्वतंत्र गुण।[1] 'कान्ति' में शब्द-बंध का ऐसा प्रयोग होता है कि मन और श्रोत्र दोनों ही आह्लादित हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण 'लीला' आदि चेष्टालंकार से सुन्दर होती है। इसमें शब्द एवं अर्थगुण दोनों का समन्वय होता है। दण्डी की दृष्टि से लोकसीमा का अनतिक्रमण ही कान्ति गुण है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से यही वामन का 'दीप्तरसत्व' है।[2]

भरत-निरूपित गुणों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गुणों के व्याख्यान के सन्दर्भ में उनकी चिन्तनधारा समान रूप से काव्य एवं नाट्य-प्रयोगोन्मुखी रही है तथा शब्दगुण और अर्थगुण की विभाजक रेखा का अस्पष्ट संकेत भी इन परिभाषाओं में प्राप्त होता है। सौकुमार्य और अर्थव्यक्ति नामक गुणों की परिभाषाओं में 'प्रयोज्य' और 'प्रयोग' का उल्लेख उनकी नाट्योन्मुखी चिन्तनधारा का संकेत करता है तो समता, श्लेष और उदारता आदि गुण काव्योन्मुखी प्रवृत्ति का। श्लेष में शब्द और अर्थ की श्लिष्टता, समता में अलंकार और गुणों की परस्पर उपकारकता और उदार में नाटक का परिभाषा का विचार सूत्र-रूप में अनुस्यूत है। दस गुणों में कुछ तो अर्थगुण, कुछ शब्दगुण और कुछ उभयात्मक हैं तथा कुछ नितान्त काव्य-गुण। भरत ने शब्द एवं अर्थगुण की विभाजक रेखा निर्धारित नहीं की है, उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा के आधार पर यह वर्गीकरण सम्भव है। आचार्य अभिनवगुप्त ने वामन के आधार पर यह प्रयास किया है।[3]

गुण-सिद्धान्त की दो विकसित परम्पराएँ

भरत के परवर्ती काल में गुण-सिद्धान्त की दो विकसित परम्पराओं से हमारा परिचय होता है। एक के मौलिक प्रवर्तक वामन हैं, दूसरे के आनन्दवर्द्धन। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारते हुए गुण को उसके अंग के रूप में प्रतिपादित किया और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने रस को काव्य और नाट्य की आत्मा मानकर रसाश्रित गुण-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भरत गुण-विवेचन की इस विकसित परम्परा से परिचित नहीं जान पड़ते।

वामन के गुण-सम्बन्धी सिद्धान्त

वामन से पूर्व ही भामह ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों का उल्लेख कर चुके थे। दण्डी से वामन के पूर्व तक की आचार्य-परम्परा में न तो गुण और अलंकार का स्पष्ट पृथक्-करण ही हुआ था और न शब्दगुण और अर्थगुण की विभाजक रेखा ही निर्धारित हो सकी थी। दण्डी काव्य-शोभाकर सब धर्मों को अलंकार के रूप में परिगणित करते थे। यद्यपि उन्होंने गुणों को वदर्भी का प्राण तथा उपमा आदि को साधारण अलंकारजात के रूप में कथन किया है।[4]

---

१. ना० शा० १६।११० (गा० ओ० सी०), १७।१०६, का० सं०, का० आ० १।७६, का० अ०, पृ० २८३-८४, अग्निपुराण ३४६।१५, का० अ० सू० अधि ३।१।१२।२२, अ० भा० भाग २।३४२।

२. ना० शा० १६।१११, का० अ०, पृ० २८६, का० अ० सू० अधि ३।१।२५, २।१४।

३. भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० २७२, वी० राघवन्।

४. भामह-काव्यालंकार २।१-२, एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशकुणाः स्मृताः का० आ०। २।४१, २।१-३।

आचार्य रुद्रट ने गुणों को कोई विशिष्ट महत्त्व प्रदान नहीं किया और आचार्य उद्‌भट तो गुण को पृथक् काव्यांग के (रूप में स्वीकार करने के) प्रबल विरोधी हैं। उनकी दृष्टि से काव्य और अलंकार को पृथक् प्रतिपादित करना गड्डुलिका प्रवाह (भेड़िया धँसान) मात्र है, अतएव स्वीकार्य नहीं है।[1] भरत ने अलंकार, लक्षण और गुण का पृथक् रसाश्रित प्रतिपादन अवश्य किया, परन्तु उनमें से प्रत्येक काव्य के किन अंगों का उपकारक और शोभाधायक है, यह चित्र स्पष्ट नहीं धूमिल ही था। अतः भरत से रुद्रट तक गुण-अलंकार और गुण के 'शब्दार्थ' में पृथक्करण की विचारधारा सर्वथा अस्पष्ट थी। वामन द्वारा दोनों क्षेत्रों में नूतन विचारों की स्थापना उनकी महत्त्वपूर्ण देन है।

वामन की मौलिक देन

आचार्य वामन की दृष्टि से गुण और अलंकार दोनों काव्यशोभाकर धर्म हैं, परन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। गुण तो शब्दार्थमय काव्य-शरीर के अविनाभूत अंग हैं। उसके बिना काव्य-शोभा की कल्पना नहीं की जा सकती। गुण स्वतन्त्र रूप से काव्य-सौंदर्य का प्रसार करते हैं। अलंकार बिना गुण के काव्यशोभा का सृजन करने में असमर्थ हैं। गुण के वर्तमान रहने पर ही वे शोभा की अतिशयता के हेतु होते हैं। अतएव गुण नित्य होते हैं और अलंकार अनित्य। अतः वामन की दृष्टि से काव्यरचना के लिए गुणसर्वस्व तुल्य है। वामन ने भरत-निरूपित दस गुणों के स्थान पर बीस गुणों का निरूपण किया। दस शब्दगुण और दस अर्थगुण हुए।[2] भोज ने वामन का अनुसरण करते हुए चौबीस गुणों का प्रतिपादन किया। उनकी दृष्टि से काव्य में 'रसावियोग' की भाँति 'गुण-योग' नित्य होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण में उन्होंने यह उल्लेख किया है कि अलंकृत होने पर भी गुणरहित काव्य प्रीतिकर नहीं होता। काव्य में 'गुण का आदान' नियम है और 'अलंकार का प्रयोग' कामचार है।[3] उद्‌भट्ट के टीकाकार प्रतिहारेन्दु राज की दृष्टि में भी गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार व्यभिचारी और अनित्य।[4] यद्यपि वे भामह और आनन्दवर्द्धनाचार्य की परम्परा में तीन गुण ही मानते हैं। अग्निपुराणकार, केशव मिश्र और जयदेव प्रभृति आचार्यों ने वामन-प्रवर्तित गुण-सिद्धान्त का अनुसरण किया।[5]

आनन्दवर्द्धन के गुण-संबंधी सिद्धान्त

गुण-सिद्धान्त की दूसरी परम्परा अधिक तर्कसम्मत एवं वैज्ञानिक है। इसका प्रवर्तन आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा तथा संवर्द्धन एवं परिपल्लवन आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों द्वारा हुआ। इस गुण-सिद्धान्त के पाँच अंग हैं—(क) रस शब्दार्थमय काव्य

१. काव्यालंकार (रुद्रट) पृ० १५०, ओजप्रभृतीनां अनुप्रासप्रभीतानां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थिति-रिति गड्डुलिका प्रवाहेणैषां भेद इत्यभिधानमसत्। काव्यप्रकाश ८।
२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३।१-२. विशिष्ट पदरचना रीतिः विशेषो गुणात्मा। काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।
३. सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ६२०, ६२७।
४. अलंकाराणां गुणोपजनित शोभे काव्ये शोभातिशय विधायित्वात्। उद्‌भट : काव्यालंकार संग्रह की टीका, पृ० ४८१-८२।
५. अ० पु० ३४६।१, प्रतापरुद्रीय पृ० २४२, अलंकारशेखर, पृ० २१-२८, चन्द्रालोक ४।१०।

शरीर की आत्मा है, (ख) काव्य शब्दार्थमय शरीर है, (ग) रसरूप काव्यात्मा के ओज प्रसादादि गुण नित्य धर्म हैं, (घ) शब्दार्थमय काव्य-शरीर के उपमादि अलंकार अनित्य धर्म हैं और (ङ) गुण दस या बीस नहीं, तीन हैं। उन्हीं तीनों में कुछ का अन्तर्भाव होता है और कुछ दोषाभाव रूप भी हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य की इस नई समीक्षा-दृष्टि ने साहित्य-मीमांसा के क्षेत्र में मौलिक क्रान्ति उपस्थित कर दी। भरत की दृष्टि से कोई काव्यार्थ-रस के बिना प्रवृत्त नहीं होता। परन्तु भरत की यह रस-दृष्टि उत्तरोत्तर अलंकारवादियों और रीतिवादियों के मानदण्डों के मध्य धूमिल होती गई। भामह ने तो 'रस' को 'रसवत्' अलंकार के रूप में परिगणित कर लिया। पर ध्वनिकार ने रस को काव्य और नाट्य के प्राण रस के रूप में उसे साहित्य के उपादानों में शीर्षस्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी दृष्टि से आत्मा की शूरता आदि नित्यधर्मों की भाँति ओज आदि गुण भी रस-रूप काव्य-आत्मा के नित्य धर्म हैं और अलंकार कटक-केयूर के[1] समान अंगों के माध्यम से आत्मा-रूप रस के उपकारक होते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य की इसी नूतन चिन्तनधारा से प्रभावित हो मम्मट और हेमचन्द्र ने काव्य की परिभाषा में 'अनलंकृत' काव्य को कविता के रूप में स्वीकार करने का साहस किया।[2]

उपसंहार

आनन्दवर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि आचार्यों की इस नूतन विचारधारा का स्रोत भरत के विचारों में सूत्ररूप में ही मिलता है। उन्होंने गुण, लक्षण और अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन रस के सन्दर्भ में ही किया, वे रसानुगामी हैं। परन्तु परवर्ती आचार्यों की विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों ने भरत की रसवादी दृष्टि को आत्मसात् कर लिया था। आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम भरत के रस-सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया। इसमें सन्देह नहीं कि भरत ने रस और गुण का नित्य-सम्बन्ध, गुण-रस का उत्कर्षक, दोष-रस का अपकर्षक तथा रस और अलंकार के अनित्य सम्बन्ध जैसे गम्भीर समीक्षा-सिद्धान्तों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया था। आनन्दवर्द्धनाचार्य की ये मान्यताएँ अवश्य ही मौलिक थीं। तीन गुणों में सब गुणों का अन्तर्भाव करने की प्रवृत्ति भामह में थी, पर उनके स्रोत का संकेत नहीं मिल पाता। पर भरत ने 'दोषाभाव-रूप गुण' का कथन कर गुणों की संख्या को न्यून करने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। यह भी स्पष्ट है कि 'गुण दोषाभाव-रूप होते हैं' और हैं भी, पर इन तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों के द्वारा कवि की विविध कल्पना और भावों के मनोहारी रूप-रंग की अभिव्यक्ति की सम्भावना की क्या कोई सीमा है! इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि गुण-सम्बन्धी समीक्षा-पद्धति में एक नव्य विचारधारा का अवतरण हुआ। वेदांतियों के अनुसार आत्मा के निर्गुण होने के समान ही रस भी निर्गुण होता है। अतः गुण रस का नित्य धर्म नहीं है।

---

१. तमर्थमवलम्बनो येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मंतव्या कटकादिवत्॥ ध्वन्यालोक २।६।

२. का० अ० १।१२, भोजाज शृङ्गार प्रकाश, पृ० ३५१, का० प्र०
ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः। का० प्र० ८।६६।
तत् अदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती'। का० प्र० १।१।

नाटकों की भाषा, संबोधन : पाठ्य-गुण

नाटकों में भाषा की बहुविधता

भरत-निरूपित भाषाविधान वाचिक अभिनय का सर्वस्व है। छन्द, लक्षण, अलंकार और गुण आदि तो काव्य-शरीर के शोभाकर धर्म हैं पर भाषा तो काव्य एवं नाट्य का साक्षात् शरीर है। भाषा के अन्तर्गत भरत ने नाट्य में प्रयुक्त विविध भाषाओं, संबोधन, पात्रों के नाम-करण तथा नाट्य की पाठ्य-शैली आदि नाट्योपयोगी विषयों का तात्त्विक निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से चार भाषाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यन्तरी भाषा। अतिभाषा वैदिक शब्दबहुल होती है। आर्यभाषा श्रेष्ठ जनों की भाषा होती है। वह वैदिक भाषा है अथवा संस्कृत, यह भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। योन्यन्तरी भाषा पशु-पक्षियों की बोली की अनुकरणात्मक नाट्यभाषा होती है।[१]

पात्रों की विभिन्न भाषाएँ

जातिभाषा का प्रयोग प्रधानतया रूपकों में होता है। इसके दो रूप होते हैं—संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृत। संस्कृत संस्कार-गुण-संपन्न भाषा होती है, देश-भेद होने पर भी उसमें भाषा का अन्तर नहीं आता। उच्चारण-भेद अवश्य आ जाता है। परन्तु प्राकृत-जन की भाषा हाने के कारण प्राकृत भाषा में स्थानभेद से भाषा की प्रकृति में व्यापक भिन्नता आ जाती है। दोनों भाषाओं का प्रयोग चातुर्वर्ण्य समाश्रित होता है। उच्च वर्ग के पात्र प्रायः संस्कृत भाषा और निम्न वर्ग तथा सभी नारी पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। पर इसके अपवादों का भी विधान किया गया है और नाटकों में तदनुरूप प्रयोग भी प्रचुरता से मिलते हैं। दरिद्रता अविधा तथा ऐश्वर्य से प्रमत्त धीरोदात्त, धीरललित आदि उच्च श्रेणी की विविध जातियों के पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। अर्जुन ने वृहन्नला के रूप में प्राकृत का ही प्रयोग किया है। पर नारी पात्रों में नृपपत्नी, वेश्या और शिल्पकारिणी स्त्रियाँ कभी-कभी प्राकृत भाषा का प्रयोग करती हैं। अप्सराएँ सामान्य रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग करती हैं, पर नृपपत्नी होने पर प्राकृत भाषा का प्रयोग करती हैं।[२]

विविध प्राकृत भाषाएँ

भाषाविधान के प्रसंग में भरत ने निम्नलिखित सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है--मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षि-णात्या। उस युग में प्रचलित विभिन्न जनपदों की ये जनभाषाएँ थीं। इनके अतिरिक्त विभाषा के अन्तर्गत शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल (ड़) और बनेचरों की भाषा का भी विधान है। महाराष्ट्री प्राकृत का उल्लेख संभवतः इसलिए नहीं हुआ कि उसका प्रयोग नाट्य में नहीं होता। देश, जाति और अवस्था-भेद से विभिन्न भाषाओं के विधान का आशय यही है कि नाटकों की भाषा देश, जाति और अवस्था के अधिकाधिक अनुरूप हो।[३]

१. ना० शा० १८।२५-३६, का० सं०।
२. ना० शा० १७।२६-४५ (गा० ओ० सी०), अ० भा० भाग-२, पृ० ३७२-३।
३. ना० शा० १७।४७-५७ (गा० ओ० सी०)।

भाषाविधान : परवर्ती नाटक और नाट्यशास्त्र

भरत के भाषाविधान का प्रभाव परवर्ती नाटककारों और नाट्यशास्त्रों पर समान रूप से पड़ा। शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी का व्यवहार नाटकों में लोकप्रिय रहा है। पृथ्वीधर के मत से मृच्छकटिक में न केवल प्राच्या और अवन्ती का ही अपितु चाण्डाली, शकारी और ढक्की तक का प्रयोग मिलता है।[१] 'मुद्राराक्षस' का चंदनदास अर्धमागधी का प्रयोग नहीं करता पर 'कर्णभरण' का ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है। आधुनिक नाट्यकारों में स्व० जयशंकर प्रसाद, स्व० रामवृक्ष बेनीपुरी, रामकुमार वर्मा और जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटकों में पात्र के देश-भाषा और अवस्था के अनुरूप विभिन्न स्तरों की भाषा का प्रयोग किया है।[२]

परवर्ती नाट्यशास्त्रकारों ने भरतानुसार भाषा का विधान किया है, पर उसकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। शारदातनय ने संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत के पैशाची, मागधी और शौरसेनी आदि भेदों, अपभ्रंश आदि प्रत्येक के ग्राम्य, नागरक और उपनागरक आदि भेदों के विवेचन के क्रम में अठारह प्रकार की भाषाओं का उल्लेख किया है।[३] आचार्य विश्वनाथ ने तेरह प्रकार की प्राकृत भाषाओं का तथा शिंगभूपाल ने विभिन्न प्राकृतों के लिए 'प्राकृती' यह नव्य नाम प्रस्तुत किया। निम्न श्रेणी के पात्रों एवं महिलाओं की भाषा प्रायः प्राकृत या कभी-कभी अपभ्रंश भी होती है।[४] विक्रमोर्वशी में उर्वशी गीत के प्रसंग में अपभ्रंश का प्रयोग करती है, क्योंकि 'गीत' देशीभाषा समाश्रित होना चाहिए।[५] ऐसा भरत का स्पष्ट मत है। नाटकों और परवर्ती नाट्यशास्त्रों की भाषा-पद्धति का विश्लेषण करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि भरत के भाषाविधान का दोनों ही धाराओं पर स्पष्ट प्रभाव है।

संबोधन-विधान : परवर्ती परंपराएँ

नाटकों में पात्र परस्पर विभिन्न अवस्थाओं में एक-दूसरे को संबोधित करते हैं, उनके संबंध में स्पष्ट निर्देश प्रस्तुत किया है।[६] इन असंख्य संबोधनों का आधार है—सामाजिक प्रतिष्ठा और हीनता, पारिवारिक आदर-प्रेम, विभिन्न व्यवसाय और सेवाकार्य तथा लोक प्रचलित व्यवहार। इन सब संबोधनों को भरत ने शास्त्र का व्यवस्थित रूप दिया है। इसका प्रभाव भास से लेकर स्व० जयशंकर प्रसाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट और जगदीशचन्द्र माथुर तक के नाटकों में परिलक्षित होता है।[७] पुरुष पात्रों में महर्षि, देव, ब्राह्मण, मंत्री और सम्राट् मुख्य होते हैं। राजा के लिए महाराज, देव और आर्य एवं आर्यपुत्र (पत्नी द्वारा) आदि संबोधन विहित हैं। संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषा के आधुनिक नाटकों में प्रचुर प्रयोग

---

१. मृच्छकटिकम् : पृथ्वीधर की टीका, पृ० १२।

२. सत्य हरिश्चन्द्र, प्रसाद के नाटक, कादम्ब या विष (रामकुमार वर्मा), कोणार्क (माथुर)।

३. शारदातनय : भावप्रकाशन, पृ० ३१०-११।

४. सा० द० ६।१६८, रसार्णव सुधाकर, पृ० २६०-३२२।

५. नाना देशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके। ना० शा० १७। ४८।

६. ना० शा० १७। ६७-७४ (गा० ओ० सी०)।

७. स्कंदगुप्त, पृ० ११-१२।

उपलब्ध हैं। अन्य ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के पात्रों के लिए 'भगवत्' संबोधन का विधान है। राम ने कपटवेषधारी रावण तथा दुष्यंत ने महर्षि मारीच को 'भगवत्' शब्द से ही संबोधित किया है। वृद्ध जनों के लिए 'तात' संबोधन विहित है। प्रसाद-विरचित स्कन्दगुप्त में कुमारगुप्त और चक्रपालित वृद्ध पर्णदत्त को 'तात' शब्द से संबोधित करते हैं।[1] व्यवसाय और शिल्प के आधार पर भी संबोधन का विधान है, 'चारुदत्त' में रदनिका, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में हंसक और निर्मुण्डक इसी परंपरा के नाम हैं। विदूषक संस्कृत नाटकों में हँसोड़ पात्र है और नायकों का अभिन्न सखा। वह 'वयस्य' शब्द से संबोधित होता है। 'आयुष्मान्' शब्द अपने से छोटे के लिए विहित है। अ० शा० में सूत दुष्यन्त को और स्कन्दगुप्त में वृद्ध पर्णस्त चक्रपालित को इसी मंगलवाचक शब्द से संबोधित करते हैं। कुमार को भर्तृदारक और युवराज को 'स्वामी' शब्द से संबोधन का विधान है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए 'श्रमणक' संबोधन का विधान है।[2] नाना संबंधों के आधार पर संबोधन की परंपरा का विकास नाटकों में हुआ है। पुरुषों के साथ महिलाएँ भी भारतीय नाट्य में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही हैं। इसीलिए भरत ने उन संबंधों के आधार पर संबोधनों का विधान किया है।[3] तपस्विनी, दिव्यनारी, व्रतधारिणी, लिंगिनी और ब्राह्मणी आदि पूज्य नारी पात्रों के लिए 'भगवती' तथा 'आर्या' शब्द का विधान है। मा० अ० में राजा और वि० उ० में कंचुकी आदि पात्र परिव्राजिका तथा तापसी को 'भगवती' शब्द से संबोधित करते हैं। स्व० वा० में वासवदत्ता तापसी को तथा अजातशत्रु में प्रसेनजित् मल्लिका को 'आर्या' शब्द से संबोधित करते हैं। राजपत्नियों के लिए राजा द्वारा 'देवी', 'प्रिये', निम्नस्तर के पात्रों द्वारा भट्टिनी या स्वामिनी संबोधन का विधान है। अविवाहित राजकुमारियों के लिए, 'भर्तृदारिका' शब्द का प्रयोग विहित है। स्व० वा०, अविमारक एवं अन्य नाटकों में प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। वेश्याएँ, सूत्रधार की नटी तथा नर्तकी आदि मनोरंजनप्रिय कला-व्यवसायी महिला पात्रों के लिए आर्या, अज्जुका तथा अत्ता आदि संबोधनों का विधान है। चारुदत्त, मृच्छकटिक के विभिन्न प्रसंगों तथा अन्य नाटकों की प्रस्तावना में इन पात्रों के लिए यथावसर उन आदरसूचक संबोधनों का प्रयोग मिलता है।[4] पारिवारिक संबंध सूत्रों में वर्तमान बहन, माता और सखी आदि नारी पात्रों के लिए पृथक्-पृथक् संबोधनों का विधान है। ये सारे संबोधन पुरुष एवं नारी पात्रों को उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार-व्यवहार, कला एवं व्यवसाय के आधार पर एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

पात्रों के नाम

भरत ने विभिन्न जातियों और सामाजिक स्तरों के पात्रों के लिए तदनुरूप नाम का भी विधान प्रस्तुत किया है। यह विधान मुख्य रूप से कल्पित पात्रों के लिए है, ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों के प्रसिद्ध पात्रों के लिए नहीं। ब्राह्मण पात्र के लिए 'शर्मा' और क्षत्रिय पात्र के

१. स्कन्दगुप्त, पृ० ११-१२।

२. चारुदत्त, अ० शा० प्रतिज्ञा यौग० और मृच्छकटिक के विभिन्न प्रसंग।

३. ना० शा० १७।७८-८०३।

४. मृच्छकटिक अंक-८; स्कंदगुप्त पृ० ७५-७७, ८०, १३३; विक्रमोर्वशी अंक-५; स्वप्नवासवदत्ता-१; अजातशत्रु पृ० १२०-२२।

लिए 'वर्मा' का विधान है। पर प्रसिद्ध संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों में यह परंपरा परिलक्षित नहीं होती। प्रसाद के नाटकों में ग्रहवर्मा, बंधुवर्मा और भीमवर्मा आदि नाम मिलते हैं। वैश्य के लिए 'दत्त' उपाधि का विधान है पर 'चारुदत्त' व्यवसाय से वैश्य है जाति से ब्राह्मण ही। शूरपात्रों के लिए कर्मानुरूप नाम का विधान है। मृच्छकटिक का 'वीरक' तदनुरूप ही है। राजपत्नियों के लिए 'विजयवाचक' नाम का विधान है। पर संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों में वासवदत्ता, पद्मावती और शकुन्तला आदि नाम तदनुरूप नहीं हैं। वेश्याओं के नाम आगे 'दत्ता, सेना और मित्रा' उपाधि का विधान है। मृच्छकटिक की वसन्तसेना का नाम तदनुरूप है। पात्रों के नामकरण के संबंध में भरत का विधान व्यापक और विस्तृत है। नाटककार उनसे कहीं-कहीं तो प्रभावित मालूम पड़ते हैं अन्यथा स्वतन्त्र वृत्ति से ही नामों का प्रयोग उन्होंने किया है।[1]

नाट्य-प्रयोग : पाठ्य-गुण

पाठ्य वाचिक अभिनय का प्राण है। वाचिक अभिनय का प्रस्तुतीकरण 'पाठ्य' द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसीलिए भरत ने 'पाठ्य-गुण' का विस्तृत विवेचन किया है। गुण शब्द 'धर्म' वाचक नहीं उपकरणवाचक है।[2] इसके अन्तर्गत पाठ्य के उपकारक तत्त्वों या उपकरणों का व्यापक विश्लेषण भरत ने प्रस्तुत किया है। यह पाठ्यरूप वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है, अन्य अभिनय इसी आधार पर परिपल्लवित होते हैं। पाठ्य के उपकारक उपकरण निम्नलिखित हैं—सप्तस्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो काकु, छः अलंकार तथा छः अंग।

'सप्तस्वर' के अन्तर्गत भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि षड्ज, ऋषभ, गांधार सात स्वरों का विनियोग रसों के संदर्भ में हो। हास्य और श्रृंगार रसों के योग में मध्यम तथा पंचम स्वरों में तथा करुण रस में गांधार और निषाद तथा भयानक और बीभत्स में धैतवत स्वर गायन का विधान है। **स्थान** के अन्तर्गत शिर, कण्ठ और उरस् परिगणित हैं। इन **स्थानों** से स्वरों का उत्थान होता है तथा काकु का प्रयोग भी। दूरस्थ पात्रों में शिर, किंचित् दूरी में कण्ठ और निकटस्थ पात्रों के साथ संवाद-योजना में उरस् का प्रयोग पाठ्य के प्रसङ्ग में होता है। **वर्ण** का उपयोग हास्य आदि के रसों के योग में होता है। ये चार हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कंपित। हास्य और श्रृंगार में उदात्त, वीर, रौद्र और अद्भुत में उदात्त और कंपित तथा करुण, बीभत्स, भयानक रसों में स्वरित और कंपित वर्णों का विधान है। **काकु** तो पाठ्य-गुण का मानों प्राण है। काकु के द्वारा स्वर-वैचित्र्य होने पर अर्थ की नवीन भूमि का विस्तार होता है। साकांक्ष और निराकांक्ष दो भेद काकु के होते हैं। साकांक्ष प्रकरणादि की अपेक्षा करता है। इसमें तार से मन्द्र तक स्वर, अर्थ अनियत, उदात्त आदि वर्ण तथा उच्च आदि अलंकार अपरिसमाप्त रहते हैं। पर निराकांक्ष में अर्थ नियत, वर्णालंकार परिसमाप्त, स्थान शिर और मन्द्र से तार तक स्वरों की योजना होती है। इस काकु का संपादन जिह्वा द्वारा होता है। उच्च दीप्त आदि तथा पाठ्य के संधि-विच्छेद आदि के द्वारा काकु को ही प्रधानता दी जाती है।[3]

---

१. ना० शा० १७ ६५-६८, अजातशत्रु, पृ० ४१-४३, ६१-६३, राज्यश्री, मृच्छकटिक अंक-४।

२. अ० भा० भाग-२. पृ० ३२२।

३. ना० शा० १७।३८५-३६१, (गा० ओ० सी०), सर्वत्र काकुः प्रधानमिति स्थितम्। अ० भा० भाग-२, पृ० ३८५।

अलंकार के छः भेद होते हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलंबित। 'अलंकार' भूषण वाचक नहीं पर्याप्ति बोधक है। इनके द्वारा 'काकु' को पूर्णता प्राप्त होती है। दूरस्थित पात्रों के संवाद, विस्मय, बाधा और त्रासन आदि में उच्च स्वर में पाठ होता है पर पारस्परिक आक्षेप, कलह, क्रोध, आघर्षण, शौर्य और दर्प-प्रदर्शन के प्रसंग में दीप्त स्वर तथा निर्वेदग्लानि, चिन्ता उत्सुकता, दीनता, व्याधि और गाढ शास्त्र-प्रहार आदि में मन्द्र स्वर में पाठ होता है। इसी प्रकार विभिन्न भावदशाओं के संदर्भ में तदनुरूप स्वरों में पाठ का उपयुक्त विधान किया गया है। प्रयोक्ता पात्र का पाठ प्रकार सर्वथा भावदशा के अनुरूप हो।[1]

'अंग' के भी छः भेद हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबंध, दीपन और प्रशमन।[2]

पाठ्य में विच्छेद विराम के कारण होता है। विराम अर्थदर्शक होता है। वह नाट्यार्थ के अनुरोध से होता है, वृत्त के कारण नहीं। विभिन्न दशाओं के अभिनय-प्रसंग में प्रयोक्ता पात्र के हस्तादि अङ्गोपांग व्यस्त रहते हैं, अर्थानुरोध से विराम का प्रयोग करने पर नाट्यार्थ पूर्णतया अनुभवगम्य होता है। अर्थदर्शक विरामों से युक्त और दृष्टि-समन्वित वाचिक अभिनय नाट्य को समृद्ध करता है।[3] अर्पण में प्रयोक्ता पात्र ऐसे मधुर गंभीर स्वर में पाठ करता है कि सारी रंग-भूमि उसके द्वारा अभिनीत भावों में समाहित हो जाती है। पात्र अपनी पाठ्यशैली द्वारा कवि-कल्पित समस्त सहानुभूति और संवेदना को अर्पित कर देता है। वाक्य की परिसमाप्ति में विसर्ग और पाठ्य की शृंखला न टूटने पर अनुबंध होता है। दीपन में विभिन्न स्थानों से उत्थित स्वर उत्तरोत्तर दीप्त होता जाता है और प्रशमन में तारस्वर में उच्चरित स्वर क्रमशः मंद होता जाता है। इन अंगों के रसाश्रित प्रयोग का विधान भरत ने किया है। हास्य और शृंगार रसों में अर्पण, विच्छेद, दीपन और प्रशमन, करुणा में दीपन और प्रशमन, वीर, रौद्र और अद्भुत में विच्छेद, प्रशमन, दीपन और अनुबंध तथा बीभत्स तथा भयानक रसों में विसर्ग और विच्छेद विहित हैं। इन रसाश्रित विभिन्न अंगों का प्रयोग भी तार, मध्य और मन्द्र नामक अलंकारों के आधार पर कण्ठ, शिर और उरस् आदि तीन स्थानों से होता है। मन्द्र स्वर से तार स्वर या तार स्वर से मन्द्र स्वर में सहसा पाठ नाट्यार्थ प्रतिरोधी होता है। पाठ्य के क्रम में द्रुत, मध्य और विलंबित आदि का रसाश्रित प्रयोग नाट्यार्थ को समृद्ध करता है।

भरत ने भाषा-विभेदों, संबोधन प्रणाली, पात्रों के नामकरण तथा वाचिक अभिनय की पाठ्यशैली का तात्त्विक निरूपण किया है। प्रयोक्ता पात्र कवि-रचित गद्य या पद्यबंध को देश, जाति और मनोदशा के संदर्भ में तदनुरूप भाषा, लय, ध्वनि, विराम, स्वरों के आरोह-अवरोह, काकु और अर्पण आदि के सहारे नितांत उपयुक्त रूप में पाठ करने पर वह एक विशिष्टत्व प्राप्त करता है और उसकी वाणी को भी सजीव अर्थवत्ता प्राप्त होती है जो अनुभूति के स्तर पर निर्वैयक्तिकता तथा परम आनन्द तथा महारस एवं महायोग्यता से आविष्ट होते हैं।

भाषा, संबोधन तथा पाठ्य-गुणों का गठन विश्लेषण करने पर भरत की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। उस युग में ही 'पाठ्यशैली' के क्रम में इतनी निपुणता प्राप्त की जा चुकी थी।

१. ना० शा० भाग-२, पृ० ३९२-९४।
२. ना० शा० भाग-२, पृ० ३९७-४०३।
३. विरामेषु प्रयत्नो हि नित्यं कार्यः प्रयोक्तृभिः।
कस्मादभिनयो ह्यस्मिन् ह्यर्थापेक्षी यतः स्मृतः॥ ना० शा० १७।१३३-४।

सप्तम अध्याय

नाट्य का प्रस्तुतीकरण

१. पूर्वरंग

२. पात्रों की विभिन्न भूमिकाएँ

३. नाट्याचार्य और रंगशिल्पी

४. सिद्धि-विधान

न तथाऽग्निः प्रदहति प्रभंजनसमीरितः ।
यथा ह्ययप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ।।

—ना० शा० ५।१७२

यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम् ।
वयोवषविधानेन कर्तव्यं प्रयुयुक्षुणा ।।
वर्णकेश्छादितस्तत्र भूषणैश्चाप्यलंकृतः ।
गांभीर्यौदार्यसम्पन्नो राजवतु भवेन्नरः ।।

—ना० शा० २४

समागतासु नारीसु वयोरूपवतीसु च ।
न दृश्यते गुणैर्युक्ता सहस्रेष्वपि नर्तकी ।।

—ना० शा० २४।११३

न शब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम् ।
संपूर्णता च रंगस्य सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता ।।

८

पूर्वरंग

पूर्वरंग का स्वरूप

भरत-प्रतिपादित पूर्वरंग में नाट्य-प्रयोग के शुभारम्भ पूर्व अनेक मांगलिक और प्रायोगिक अनुष्ठानों का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्यतः गीत, वाद्य, नृत्य और पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के भीतर और बाहर होता है। उद्देश्य है, उपस्थित सामाजिकों का अनुरंजन, मंगलाशंसा, प्रयोगपरीक्षण तथा कवि, काव्य एवं कथावस्तु का उपक्षेपण। भरत ने इन सब विधियों का 'पूर्वरंग' नाम इसीलिए रखा कि ये सब प्रयोगविधियाँ वास्तविक नाट्य-प्रयोग के पूर्व ही सम्पन्न हो जाती हैं।[1] उनकी दृष्टि से पूर्वरंग की विधियों का महत्त्व केवल अनुरंजनात्मक ही नहीं अपितु प्रयोग के अभ्यासार्थ एवं परिचयात्मक भी है।

पूर्वरंग और आचार्यों की मान्यताएँ

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत-निरूपित पूर्वरंग के व्याख्यान के समर्थन में हर्ष और वार्तिककार के मतों को उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रंग (शाला) पर पूर्व-प्रयोग के कारण ही यह 'पूर्वरंग' होता है।[2] दशरूपक के टीकाकार **धनिक** ने सामाजिकों की पूर्व-परितुष्टि के कारण ही इसे पूर्वरंग माना है।[3] इसी परम्परा में **भावप्रकाशनकार शारदातनय** ने भी पूर्वरंग का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि पूर्वरंग की क्रियाओं के द्वारा नट-नटी आदि परस्पर अनुरंजन करते हैं। सामाजिकों के लिए उसका प्रयोग अंशतः ही होता

---

१. यस्माद्रंगे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरंग······ना० शा० ५।७ (गा० ओ० सी०)।

२. तेन पूर्वे रंगों पूर्वरंगः। अ० भा० भाग-१, पृष्ठ २०६।

३. पूर्वं उच्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरंगो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरंगता। द० रू० अवलोक प्रकाश ३।२।

है, क्योंकि उनकी बहुत-सी क्रियाओं का प्रयोग अन्तर्यवनिका में होता है।[1] **साहित्यदर्पणकार** विश्वनाथ की दृष्टि में पूर्वरंग का प्रयोग विघ्नोपशमन के लिए होता है।[2] परन्तु **नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र** की दृष्टि से 'पूर्वरंग' के प्रयोग में रंजना ही हेतु है। वास्तव में विघ्नोपशांति के लिए स्तुतिपाठ और मंगलाशंसा आदि तो श्रद्धालुओं की प्रतारणा के लिए ही हैं, इसीलिए उपेक्ष्य भी हैं।[3] पूर्वरंग के धार्मिक पक्ष की यदि उपेक्षा भी की जाय तो भी 'अन्तर्यवनिका' में प्रयोज्य प्रत्याहार, अवतरण और परिघट्टन आदि नौ क्रियाओं तथा काव्योपक्षेपण आदि विधियों का सम्बन्ध तो विशुद्ध नाट्य-प्रयोग से है, उनकी उपेक्षा किस प्रकार की जा सकती है ! अतः भरतनिरूपित 'पूर्वरंग' प्रयोग की दृष्टि से कदापि उपेक्ष्य नहीं है। इस संदर्भ में हमें अभिनवगुप्त की विचारधारा महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। उन्होंने पूर्वरंग की विधियों की तन्तुपट से तुलना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि एक-एक सूत्र के संयोग से जिस प्रकार पट की रचना होती है, उस पट से सभ्यजन अपनी नग्नता पर आवरण देते हैं; उसी प्रकार गीत, वाद्य, नृत्य, पाठ्य-रूप एक-एक सूत्र को संयुक्त कर प्रयोक्ता नाट्य को समग्र रूप दे पाता है।[4] सफल नाट्यप्रयोग की अन्तिम परीक्षा इसी पूर्वरंग में होती है कि विद्वान् उस प्रयोग से परितुष्ट हो सकें। महाकवि कालिदास के अनुसार बिना सामाजिक परितोष के नाट्य का प्रयोग-विज्ञान साधु नहीं हो पाता, क्योंकि अतिशिक्षित प्रयोक्ताओं को भी अपनी सफलता पर संदेह बना ही रहता है।[5] पूर्वरंग नाट्य-प्रयोग के पूर्व की अन्तिम परीक्षाभूमि है, अतएव उपादेय भी है।

पूर्वरंग के विभिन्न अंग

भरत ने पूर्वरंग के उन्नीस अंगों का विवेचन करते हुए उन्हें दो भागों में विभाजित किया है। प्रत्याहार से आसारित तक नौ पूर्वरंग-विधियों का प्रयोग यवनिका के अन्तर्गत होता है। शेष दस पूर्वरंग-विधियों का प्रयोग यवनिका का उद्घाटन कर रंगपीठ पर होता है।[6] यवनिकान्तर्गत पूर्वरंग के नौ अंग निम्नलिखित हैं :

(१) प्रत्याहार (वाद्ययंत्रों का विन्यास),
(२) अवतरण (गायक-गायिकाओं का निदेशन),
(३) आरम्भ (सामूहिक परिगीत क्रिया का आरम्भ),
(४) आश्रवणा (वाद्य-यंत्रों का सन्तुलन निर्धारण),
(५) वक्त्रपाणि (वाद्य-यंत्रों का स्वर संधान),
(६) परिघट्टना (तंत्री वाद्यों का स्वरसाधन),
(७) संघोटना (कला-निर्धारण का अभ्यास),
(८) मार्गासारित (विभिन्न वाद्य-यंत्रों का स्वर-समन्वय),

---

१. भा० प्र०, पृ० १९५, पं० १४-१६।
२. साहित्यदर्पण ६।१०।
३. नाट्यदर्पण, पृ० १३८ (गा० ओ० सी०)।
४. प्रत्याहारादिकेन ह्यंगेन बिना गायनादि सामाग्रयसंपत्तेः कथं नाट्यप्रयोगः।
नह्यहोतन्तु तुरीवेमादेः विना शक्यः पटः कर्तुम्। अ० भा० भाग १, पृ० २०९।
५. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक १-४।
६. ना० शा० ५।११-१३ (गा० ओ० सी०)।

(६) आसारित (नर्तकियों के पादविन्यास की कला और लय का निर्धारण)।
इन नौ प्रकार की पूर्वरंग-विधियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से प्रयोक्ताओं से है। सामाजिकों के परितोष के लिए प्रयोक्ता सब वाद्य-यंत्रों का विधिवत् परीक्षण और संतुलन अंतिम रूप से कर लेते हैं। इसमें प्रयोग पक्ष की प्रधानता है।[1]

यवनिका के बाहर पूर्वरंग की प्रयोज्य विधियाँ

यवनिका को हटाकर पूर्वरंग की निम्नलिखित दस विधियों का प्रयोग होता है :—

(१) गीतक (देवताओं का कीर्तन तथा तांडव-प्रधान),
(२) उत्थापन (नांदी-पाठकों द्वारा मंगलोत्सव का शुभारंभ),
(३) परिवर्तन (सूत्रधार द्वारा चार बार परिक्रमा, इन्द्र की वंदना तथा जर्जर की स्तुति),
(४) नांदी (सूत्रधार द्वारा स्तुति वाचन, आशीर्वचन और मंगलाशंसा का पाठ),
(५) शुष्कावकृष्ट (सूत्रधार द्वारा जर्जर श्लोक का पाठ),
(६) रंगद्वार (आंगिक एवं वाचिक अभिनयों का सर्वप्रथम प्रयोग),
(७) चारी (शृंगार रस का प्रसार),
(८) महाचारी (रौद्ररस की अभिव्यंजना),
(९) त्रिगत (सूत्रधार, परिपार्श्विक और विदूषक द्वारा कथावस्तु के सम्बन्ध में कौतूहलपूर्ण कथोपकथन),
(१०) प्ररोचना (काव्य का उपक्षेप, काव्यवस्तु का निरूपण तथा कविकीर्तन द्वारा सामाजिकों में अभिरुचि का जागरण)।[2]

इन दसों विधियों द्वारा मंगलाशंसा तथा काव्यार्थ-सूचन मुख्य रूप से होता है।

पूर्वरंग की उपयोगिता

पूर्वरंग के इन दो प्रकारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विधियाँ धार्मिक क्रियाओं की अपेक्षा नाट्य-प्रयोगपरक अधिक हैं। आरंभिक नौ विधियाँ मूलतः प्रयोक्ताओं को लक्ष्य करती हैं और यवनिका के बाहर की दसों विधियों में स्तुति, आशीर्वचन तथा मंगलाशंसा रहती है। उसमें भी नाट्य-प्रयोग, उसकी कथावस्तु एवं कविनाम-गुणकीर्तन की प्रधानता रहती है। अतः पूर्वरंग नितांत धार्मिक एवं मांगलिक अनुष्ठान मात्र नहीं, रंग के पूर्व प्रयोज्य नाट्य-वस्तु की प्रमुख भूमिका है वह। पूर्वरंग के विभिन्न अंगों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में ऐकमत्य नहीं है। अभिनवगुप्त, शारदातनय और सागरनंदी ने अन्य अतिरिक्त अंगों का विवरण प्रस्तुत करते हुए 'नांदी' की प्रधानता का उल्लेख किया है।[3] बहुत से आचार्य तो नांदी के अतिरिक्त

---

१. ना० शा० ५।८-१५ (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० ५।२१-३० (गा० ओ० सी०)।
३. अ० भा० भाग-१, पृ० २१०,
यद्यप्यंगानि भूयांसि पूर्वरंगस्य नाटके तत्राप्यवश्यं कर्त्तव्या नांदीविघ्नोपशान्तये। भा० प्र०, पृ० १६६,
नांदी पूर्वरंगस्यांगं मुख्यतमम्। ना० ल० को० पं० ११२५।

अन्य अंगों को अनावश्यक मानते हैं। नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भी ब्रह्मा ने पूर्वरंग के अंगों में केवल नांदी का ही उल्लेख किया है।[1] नाट्यशास्त्र में नांदी के नित्य प्रयोग का भी बहुत स्पष्ट विधान है। दोनों प्रकार की पूर्वरंग-विधियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि मुख्यत: प्रथम नौ विधियों का गीत-वाद्य एवं नृत्य-प्रयोग से सम्बन्ध है। शेष दस में कुछ तो आशीर्वचनात्मक हैं तथा अन्य कवि, प्रयोग, कथावस्तु एवं कविकीर्तन आदि से संबंधित हैं। अत: प्रयोग की दृष्टि से पूर्वरंग का महत्त्व है।

नांदी का भरत-निरूपित स्वरूप

भरत के अनुसार 'नांदी' आशीर्वचन-युक्त पूर्वरंगकालीन मांगलिक अनुष्ठान है। इसमें देव, राजा और ब्राह्मण आदि की स्तुति तथा दर्शक, कवि और प्रयोक्ता आदि के लिए मंगलकामना का विधान होता है। दर्शक और प्रयोक्तादि के लिए यह मांगलिक अनुष्ठान नित्य रूप से अपेक्षित है। भरत ने पूर्वरंग का प्रयोग प्रस्तुत करते हुए नांदी का भी पाठ प्रस्तुत किया है। उस पाठ से नांदी की मांगलिक भाव-भूमि का बड़ा ही सुन्दर परिचय मिलता है। देव, ब्राह्मण, द्विजाति आदि की वंदना के उपरान्त, 'राजा के सुशासन, राष्ट्र का प्रवर्धन, रंग की आशा-वृद्धि, काव्य-रचयिता का धर्म और यश तथा देवताओं के प्रीति-वर्द्धन की' मंगलकारी और मनोहारी कल्पना की गई है।[2] भरत की दृष्टि से नांदी के द्वारा देव, नृप, प्रजा, कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक आदि उस मांगलिक सूत्र में माला-पुष्प की तरह अनुस्यूत हो जाते हैं। इसीलिए भरत ने इसकी सर्वाधिक उपयोगिता और नित्यता का अनुशासन किया है।

नांदी के देवता चन्द्र और नाट्य-रस

नांदी के अधिष्ठातृ देवता चन्द्र हैं, वे उसके अनुष्ठान से आनंदित होते हैं।[3] सोम-जय की आशंसा भी इसमें रहती है, परन्तु चन्द्रवंदना के मूल में नाट्य-रस के आनन्द की प्रतीकात्मकता का सहज बोध होता है। चन्द्र रसेश्वर हैं, रसाधार हैं, और नाट्य का प्रतिपाद्य 'रस' है, रस ही नाट्य है और आनन्दरूप भी है। इस तरह नांदी, चन्द्र की रसायन्तता और नाट्य की रसमयता इन तीनों का नांदी द्वारा ही एक विन्दु पर समन्वय होता है। शारदातनय तथा सागरनंदी ने नांदी के साथ 'रसेश्वर चन्द्र' के सम्बन्ध की परिकल्पना को आनन्द का प्रतीक स्वरूप प्रतिपादित किया है।[4] उपनिषदों में भी रस को आनन्दरूप प्रतिपादित किया गया है। उसी रसायतता से जीवात्मा जब अधिष्ठित हो जाता है तब वह आनन्दरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है।[5] इस व्यापक परिवेश में भरत द्वारा प्रतिपादित और प्रयुक्त 'नांदी' का मांगलिक अनुष्ठान आनन्दमूलक है, नाट्य भी आनन्दमूलक है। उससे प्रीत देवता चन्द्र भी रसेश्वर हैं।

---

१. पूर्वं कृतामया नांदी ह्याशीर्वचनसंयुता। ना० शा० १।५६, (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० ५।१०५-१०६ (गा० ओ० सी०)

३. ना० शा० ५।४६ (गा० ओ० सी०)।

४. चन्द्रायत्ततया नाट्ये प्रवृत्ते रससंपदाम्। भा० प्र०, पृ० १६७, पं० ६।
किं फलं स्याद् साधारत्वाच्चन्द्रमसस्तत् प्रीतिसुलभाः रससंपतय इति। ना० ल० को, पृ० ४८।

५. रसो वैः सः यं ह्यु पलबध्वा आनंदी भवति। उपनिषद।

'यह आनन्द का रस देव, नृप, राष्ट्र, कवि, प्रेक्षापति, प्रयोक्ता और प्रजामात्र को आप्लावित कर दे'; नांदी में यह मंगलकामना अधिष्ठित रहती है।[1] मूलतः विश्वदेवता का यह अमर विश्व-काव्य आनन्दमूलक है, कवि की मानसी सृष्टि यह नाट्य या काव्य भी आनन्दमूलक है। उस आनन्दमूलक नाट्य-प्रयोग का शुभारंभ आनन्दशीलता के प्रतीक नांदी के मांगलिक अनुष्ठान से होता है।

नांदी और आचार्यों की मान्यताएँ

भरत के नांदी-संबंधी इसी मूल विचार का उपबृंहण परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। आदिभरत, अग्निपुराण, भावप्रकाशन, नाट्यप्रदीप, रसार्णवसुधाकर और साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में नांदी का विवेचन भरतानुप्राणित है।

राघवभट्ट की टीका में उद्धृत आदिभरत के मत भरत के विचारों के बहुत ही निकट-वर्ती हैं। यद्यपि नांदी के द्वारा ही काव्यार्थ का सूचन भी होता है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। पदों की संख्या आठ या दस होती है।[2]

अग्निपुराण में प्राप्त नांदी की परिभाषा प्रायः हर दृष्टि से भरतानुसारी है। परन्तु भरत के अनुसार नांदी का पाठ सूत्रधार करता है और अग्निपुराण के अनुसार नांदी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है।[3] भास के नाटक इसी परंपरा के हैं। नांदी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है।[4] **भावप्रकाशन** और **नाट्यप्रदीप** में नांदी की ऐतिहासिक व्याख्या की गई है। जगत-पति वृषांक शिव के नृत्यकाल में उपस्थित वृषनंदी की पूजा के साथ इस नांदी के सम्बन्ध का अनुमान किया गया है। 'नांदी' सभ्यों को आनंदित करती है या नाट्यारंभ में नांदी के द्वारा 'नंदन' होता है इस प्रकार की व्युत्पत्ति की कल्पना की गई है।[5] नाट्यप्रदीप की 'नांदी-संबंधी' व्युत्पत्ति में काव्योपम सौन्दर्य है। सज्जनरूपी समुद्र की हंसिनी-सी नांदी कविगण, कुशीलव एवं सभ्यों का 'नंदन' करती है अतएव वह नांदी' है।[6] **रसार्णवसुधाकर** और **नाटक लक्षण रत्नकोष** में नांदी का विवेचन नितान्त भरतानुसारी है। रसार्णवसुधाकर में 'दसपदी' नांदी का उल्लेख अग्निपुराण की परंपरा में है। **नाटक लक्षण कोष** में नांदी का पाठ सूत्रधार द्वारा ही होता है। वादरायण और शातकर्णी जैसे प्राचीन आचार्यों के नाम से भरतानुरूप मतों के उद्धरण प्रस्तुत हैं।[7] **प्रतापरुद्रीय** में नांदी का विवेचन राघवभट्ट की टीका में उद्धृत आदिभरत की परंपरा में है। नांदी के द्वारा काव्यार्थसूचन भी होता है। भरत से इनकी विलक्षणता यह है कि ये नांदी को

---

१. राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रंगस्याशा समृद्ध्यतु।
प्रेक्षाकर्तुः महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः। ना० शा० ५।१०४-१०८ (गा० ओ० सी०)।

२. आशीः नमस्क्रिया रूपः श्लोकः काव्यार्थ सूचकः।
नांदीति कथ्यते……… अभिज्ञानशाकुन्तलः राघवभट्ट की टीका, पृ० ५ (निर्णयसागर)।

३. अग्निपुराण ३३८।६-१०।

४. नांद्यन्ते प्रविशति सूत्रधारः। स्वप्नवा०, चारुदत्त की आरंभिक पंक्ति।

५. भा० प्र०, पृ० १९६-१९७।

६. नदंति काव्यानि कवीन्द्र वर्गाः कुशीलवाः पारिषदश्च संतः।
यस्मादलं सज्जनसिंधुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नांदी॥ —नाट्यप्रदीप।

७. रसार्णवसुधाकर, पृ० २६६ तथा नाटक लक्षण रत्नकोष, पृ० ४६-४८।

बाईस पदों तक का मानते हैं। बाईस पदों की नांदी का उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नांदी श्लोक के द्वारा प्रतापरुद्र की राज्यलक्ष्मी की मंगलकामना तथा प्रतापरुद्र द्वारा लक्ष्मी प्राप्ति रूप नाटक के प्रयोजन की सूचना भी दी गई है।[१] आचार्य विश्वनाथ ने नांदी की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए भी रंगद्वार नामक 'पूर्वरंग' के अंग को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि से नांदी तो कवि-कर्तव्य नहीं, प्रयोक्ता का प्रतिपाद्य है। विक्रमोर्वशी में 'देवाना-मिदम्'···यह श्लोक नांदी नहीं 'रंगद्वार' है, क्योंकि रंगद्वार से ही कवि-निर्मित नाट्य का आरंभ होता है। अपने तर्क के समर्थन में किसी प्राचीन आचार्य का मत भी उद्धृत किया है।[२]

भास के नाटक और नांदी

आचार्य विश्वनाथ के मत के संदर्भ में भास की नाट्यशैली विशेष रूप से विचारणीय है। भास के नाटकों में नांदी का प्रयोग नहीं है। सूत्रधार ही नाटक का आरंभ करता है नांदी के अन्त में।[३] यद्यपि भास-प्रयुक्त 'नांद्यंते' शब्द के अर्थ की यह भी परिकल्पना की गई है कि मंगल-सूचक नगाड़ों के बजने के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है। पर यह निर्विवाद नहीं है। इस दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्तम्' में दो आरंभिक पंक्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उसमें बलराम की वंदना की गई है और मुद्रालंकार की सहायता से नाटक के उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती और विदूषक जैसे प्रधान पात्रों का भी उल्लेख किया है।[४] नांदी के देवता चन्द्र हैं और उक्त श्लोक में नवोदित चन्द्र का भी उल्लेख है। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'विक्रमो-र्वशीयम्' के प्रथम श्लोक भी नांदी ही हैं क्योंकि इन दोनों में भी आशीर्वचन और मंगलकामना का विधान है। भास के प्रायः कई नाटकों में नारायण के अनेक रूपों का स्मरण किया गया है।[५] नांदी का स्पष्ट प्रयोग न होने पर भी आशीर्वचनात्मिका नांदी की सत्ता भास के कुछ नाटकों में भी वर्तमान है। अतः विश्वनाथ के मत से सहमत होना संभव नहीं है।

भरत एवं अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नांदी-संबंधी मान्यताओं में स्पष्ट अन्तर यह है कि भरत नांदी को मुख्यतः मंगलविधायिनी विधि मानते हैं, जबकि उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्यार्थ-सूचन का भी दायित्व उस पर डाल दिया है। भरत ने काव्यार्थसूचन के लिए 'त्रिगत' और 'प्ररोचना' नामक पूर्वरंग के अंगों का विधान किया है। आचार्यों की इस मान्यता के मूल में ऐतिहासिक कारण है। परवर्ती काल में नाट्य-प्रयोग की जटिल विधियाँ शिथिल हुईं और पूर्वरंग के एकाध अंग का ही प्रयोक्ता प्रयोग करने लगे।

नांदी का पाठ और भव्य वातावरण

नांदी की पृष्ठभूमि के रूप में चारों 'परिवर्त' का जो भव्य रूप भरत ने प्रस्तुत किया है उससे नाट्य-प्रयोग के शुभारंभ काल में अत्यन्त मनोहर वातावरण का सृजन होता है। रक्षामंगल-

---

१. प्रताप रुद्रीय, पृ० १३१-१३२।

२. साहित्यदर्पण ६।११ तथा उसका गद्य भाग।

३. भास के स्वप्न०, चारुदत्त आदि नाटक की स्थापना द्रष्टव्य।

४. उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्तावलौ बलस्यत्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसंतकम्रौ भुजौ पाताम्॥ स्वप्नवा०, अंक १।१

५. श्रीमान् नारायणस्ते प्रदिशतु वसुधामुच्छ्रितैकातपत्राम्। अविमारक, अंक १।१

संस्कृत, शुद्ध-वस्त्र-शोभित, सुन्दर मन और अद्भुत दृष्टि के साथ सूत्रधार का प्रवेश मध्यलय में रंगशाला पर होता है। मंगल-कलश और जर्जर-धारण किए हुए सौष्ठव अंग से पुरस्कृत परिपार्श्विक साथ रहते हैं। उन दोनों के मध्य सूत्रधार मध्यलय में ही पाँच बार चरण-विन्यास करता हुआ रंगपीठ के मध्य में पुष्पांजलि का विसर्जन करता है। इसी शैली में अन्य तीनों परिवर्तनों में भी शुद्धि, वंदना, जर्जरपूजा एवं पुष्पविसर्जन के अनेक भव्य नाटकीय आयोजन होते हैं। इसी शोभा, शृंगार, शुद्धि और पवित्रता के चित्ताकर्षक वातावरण में नांदी का प्रयोग होता है।[1]

नांदी का उत्तरवर्ती अनुष्ठान

नांदी के मांगलिक अनुष्ठान के उपरान्त शुष्कावकृष्ट, रंगद्वार, शृंगाररसयुक्त 'चारी', रौद्ररस-युक्त 'महाचारी', 'त्रिगत' एवं 'प्ररोचना' का प्रयोग होता है। अन्तिम दो अंगों का सम्बन्ध प्रयोज्य नाट्यवस्तु से है। त्रिगत में सूत्रधार, परिपार्श्विक और विदूषक द्वारा कथावस्तु से संबंधित पर असंबद्ध प्रायः परिहासपूर्ण कथोपकथन की ऐसी योजना होती है कि सूत्रधार जैसे सुसंस्कृत पात्र के ओंठों पर भी मृदुल हास्य थिरक उठता है।[2] 'प्ररोचना' का नाम अन्वर्थ है। नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के लिए प्ररोचना में काव्योपक्षेपण होता है।[3] यह प्ररोचना 'भारती' वृत्ति के भेदों में से एक है। अभिनवगुप्त ने भारती-वृत्ति के भेद प्ररोचना को भी नांदी के रूप में ही स्वीकार किया है।[4] नांदी तथा भारती का भेद प्ररोचना दोनों ही मंगलविजयाशंसिनी है। परन्तु भरत ने प्ररोचना द्वारा काव्योपक्षेपण का विधान किया है। यह नांदी के उपरान्त प्रयुक्त होती है पर उस पर उसका प्रभाव वर्तमान रहता है। वस्तुतः प्ररोचना तो नांदी और आमुख या प्रस्तावना के मध्य की सुनहली शृंखला है।

स्थापना या प्रस्तावना

प्रस्तावना नाट्य-प्रयोग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। नांदी यदि नाट्य-प्रयोग का मांगलिक अनुष्ठान है तो प्रस्तावना कवि, काव्य, नाट्य-प्रयोग और प्रयोक्ता के परिचय का प्रवेश-द्वार है, जहाँ प्रस्तावक या स्थापक नाट्य-सृष्टि के हेतु-भूत प्रधान अंगों का संकेतात्मक या प्रत्यक्ष परिचय प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस स्थापना के नाम के सम्बन्ध में शास्त्रीय ग्रन्थों में बड़ा भ्रम फैला हुआ मालूम पड़ता है। तीन नाम सामान्यतया इस संबंध में अधिक प्रचलित हैं—स्थापना, प्रस्तावना और आमुख। भरत ने स्वयं भी इन तीनों नामों का उल्लेख किया है।[5] पंचम अध्याय में प्रस्तावना या स्थापना की पृथक् कार्य-विधि का उल्लेख बहुत स्पष्ट नहीं है, परन्तु उपर्युक्त स्थल के गहन विश्लेषण से ऐसा मालूम पड़ता है कि स्थापना के अन्तर्गत कवि-नाम-कीर्तन होता था तथा प्रस्तावना के अन्तर्गत काव्यवस्तु का उपक्षेपण।[6] भरत ने स्थापक प्रवेश का उल्लेख

---

१. ना० शा० ५।६३-१०४ (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० ५।१३३-१३४ (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० ५।१३५ (गा० ओ० सी०)।
४. एषैव च नांदी मांगल्यनिरूपणे प्ररोचनेति निर्देदयते। अ० भा० भाग १, पृ० २४३।
५. ना० शा० ५।१६१, १६२, १६६, १६६ तथा २०।३१ (गा० ओ० सी०)
६. स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः। प्रविश्य रंगं तैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत्।

किया है तथा प्रस्तावक के निष्क्रमण का। स्थापना शब्द का स्पष्ट प्रयोग इस संदर्भ में नहीं किया है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि स्थापना और प्रस्तावना संभवतः यदि पर्यायवाची न भी हों तो एक-दूसरे के पूरक अवश्य हैं। अन्यत्र २०वें अध्याय में भारती वृत्ति के भेदों का विवेचन करते हुए आमुख और प्रस्तावना इन दोनों का समानार्थक शब्द के रूप में उल्लेख किया गया है।[1] अतः स्थापना, प्रस्तावना और आमुख ये तीनों शब्द नांदी के उत्तरवर्ती कवि-नामगुण-कीर्तन एवं काव्यवस्तु के उपक्षेपण आदि के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इन तीनों द्वारा पूर्वरंग की तीन भिन्न विधियों का प्रयोग नहीं होता है तथा स्थापना या प्रस्तावना का प्रयोक्ता सूत्रधार के गुण और आकृति के तुल्य 'स्थापक' होता है पर वह 'स्थापक' सूत्रधार से भिन्न होता है, यह स्पष्ट रूप से उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। अभिनवगुप्त ने भरत के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि स्थापना का 'स्थापक' या प्रस्तावक 'सूत्रधार' ही पूर्वरंग (नांदी) का प्रयोग करके स्थापक के रूप में प्रवेश करता है। स्थापक और सूत्रधार दोनों की भिन्न-कर्तृता को वे स्वीकार नहीं करते।[2]

प्रस्तावना की विधि

भरत के अनुसार स्थापक सूत्रधार के गुण और आकृति के तुल्य होता है, वह उसी के समान सौष्ठवांग से पुरस्कृत हो वैष्णव स्थान तथा मध्यलय में रंगपीठ पर प्रवेश करता है। उसके प्रवेश करते ही रंगमंडप के प्रसादन के लिए देव, ब्राह्मण आदि की प्रशंसायुक्त, शृंगार या वीररस प्रधान नाना-भाव संपन्न श्लोक का पाठ होता है। तदनंतर स्थापक कवि-नाम-गुणकीर्तन करता है। पुनश्च भारती वृत्ति की उद्घातमक या अवगलित आदि विभिन्न शैलियों में काव्योपक्षेपण होता है।[3] इस रूप में काव्य का उपक्षेपण कर काव्य का प्रस्तावक रंगभूमि से बाहर चला जाता है।

सम्भव है, भरत के काल में पूर्वरंग-विधियों के विस्तृत प्रयोग के कारण सूत्रधार और स्थापक भिन्न व्यक्तित्व रहे हों। इसीलिए दोनों के लिए पृथक् कार्य-विधियाँ निर्धारित हैं। परन्तु नांद्यन्त पूर्वरंग, आमुख एवं प्रस्तावना आदि के पृथक् प्रयोग की शैली प्राचीन नाट्य-परम्परा में रही होगी। कालांतर में वह विलुप्त हो गयी। अभिनवगुप्त की विचारधारा में हमें उसी का प्रतिफलन परिलक्षित होता है।

भारतेन्दु और प्रसाद के नाटक तथा पूर्वरंग

पूर्वरंग की विधियों में नांदी और प्रस्तावना की प्रधानता रही है। संस्कृत के भासोत्तर प्रायः सब नाटकों में नांदी के उपरान्त प्रस्तावना का प्रयोग अवश्यमेव हुआ है। यहाँ तक कि

सुवाक्यमधुरैः श्लोकैः नाना भाव रसान्वितैः।
प्रसाध रंगं विधिवत् कवेर्नाम च कीर्तयेत।
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्।
उद्घात्यकादिकर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयाम्॥ ना० शा० ५।१६१-१६६ (गा० ओ० सी०)।

१. आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपिसा। ना० शा० २०।३१ (गा० ओ० सी०)।
२. सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधारः पूर्वरंग प्रयुज्य स्थापकः सत् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृता। आ० भा० भाग १, पृ० २४८।
३. ना० शा० ५।१६५-१६६।

भारतेन्दु और प्रसाद के आरंभिक नाटकों में भी नांदी और प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है। प्रसादजी के उत्तरवर्ती नाटकों में यह प्राचीन नाट्य-परंपरा लुप्त हो गई। 'कल्याणी-परिणय' नामक एकांकी में भी नांदी-पाठ का स्पष्ट विधान है। यही एकांकी नाटक 'चन्द्रगुप्त' नाटक के विकास का आधार बना। हमारा आशय यही है कि पूर्वरंग प्राचीन भारतीय नाटकों के लिए तो उपयोगी माना जाता ही था, उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में यूरोपीय नाट्यकला से प्रभावित हिन्दी के ये प्राचीन नाटक इस परंपरा से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे।[1]

पूर्वरंग के भेद

आशीर्वचनात्मिका नांदी तथा कवि, काव्य एवं नाट्य-प्रयोग की भूमिका-रूप प्रस्तावना ये दोनों ही पूर्वरंग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधियाँ हैं। प्रथम के द्वारा मंगल-विजय की आशंसा होती है और दूसरे के द्वारा प्रेक्षक प्रयोग के समीपवर्ती होता है। दोनों के दो उपयोग हैं। परन्तु इन दो के अतिरिक्त रंगद्वार, चारी और महाचारी आदि का भी बहुत महत्त्व है। उन्हीं के द्वारा तो गीत-वाद्य और नृत्य की मधुरता का सृजन होता है। इसीलिए भरत ने इस पूर्वरंग के चार भेदों की परिकल्पना की है।

पूर्वरंग के ताल-लयाश्रित भेद

भरत ने पूर्वरंग के विविध अंगों का विवेचन करते हुए ताल और लयाश्रित दो भेदों की भी परिकल्पना की है—चतुरस्र और त्र्यस्र। चतुरस्र पूर्वरंग में हस्त और पाद को कला, ताल और लयाश्रित १६ पात होते हैं और त्र्यस्र पूर्वरंग में इसकी संख्या १२ हो जाती है।[2] अन्यथा दोनों ही पूर्व रंगों में कोई अन्तर नहीं होता। पाद्य, गति-प्रचार, ध्रुवा और ताल आदि का प्रयोग त्र्यस्र में संक्षिप्त होता है और चतुरस्र में किंचिद्विस्तृत। वस्तुतः पूर्वरंग की सारी योजना को शुद्ध पूर्वरंग की संज्ञा दी गई है। शुद्ध पूर्वरंग में भारती वृत्ति उपाश्रित रहती है, इसमें गीत और नृत्य का प्रयोग बहुत न्यून रहता है।[3] पूर्वरंग के तीन रूपों का हमें परिचय प्राप्त होता है, त्र्यस्र, चतुरस्र और शुद्ध। तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं, शुद्ध पूर्वरंग होने से भारती वृत्ति का ही प्रयोग होता है। अतः भाषा की दृष्टि से पूर्वरंग में संस्कृत भाषा की प्रधानता और प्राकृत भाषा के प्रयोग की सम्भावना कम रहती है। त्र्यस्र और चतुरस्र भेद मुख्यतः हस्त-प्रचार और गति-प्रचार पर ही आधारित हैं।

गीत-वाद्याश्रित चित्र पूर्वरंग

इन तीन भेदों के अतिरिक्त पूर्वरंग के एक और भी भेद की परिकल्पना भरत ने की है, वह है चित्रपूर्वरंग। चित्रपूर्वरंग में गीत और नृत्य की योजना विशेष रूप से रहती है। नांदी-पदों के प्रयोग के क्रम में रंगपीठ पर एक ओर शुभ्र पुष्पों की वर्षा होती रहती है और दूसरी ओर

---

१. सत्य हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), प्रस्तावना भाग, सज्जन (जयशंकर प्रसाद), प्रस्तावना भाग, हिन्दी नाटक उद्भव विकास, पृ० २१४-२५ तथा पृ० २०२। डॉ० दशरथ ओझा।

२. ना० शा० ५।१४४-१४५ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० ५।१४८।

नर्तकियाँ ताल-लयाश्रित गीत और नृत्य की मधुर गूंज से दर्शकों को मन्त्रमुग्ध करती हैं। देवियाँ अपने अंगों को समलंकृत कर नृत्य की रसमयी मुद्राओं का प्रदर्शन करती हैं। इन्हीं गान और नृत्य की विधियों के योग से वही शुद्ध पूर्वरंग चित्रपूर्वरंग के रूप में परिणत होता है।

चित्रपूर्वरंग और शिव के तांडव नृत्य

चित्रपूर्वरंग की सर्जना में नृत्य के प्रवर्तक शिव का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि मूलतः भरत ने शुद्ध पूर्वरंग की ही योजना की थी।[1] उस शुद्ध पूर्वरंग का प्रयोग शिव ने देखा और इसमें अधिक रसमयता के सृजन के लिए नृत्त के प्रयोग का विधान किया। तण्डु को आदेश देकर भरत को नृत्य की शिक्षा दिलवायी। यह पूर्वरंग-विधि नाना 'करण' और 'अंगहारों' से विभूषित होने के कारण ही 'चित्रपूर्वरंग' के रूप में विख्यात है।[2] अभिनवगुप्त ने चित्रपूर्वरंग के उद्भव के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है कि भरत ने मूलतः पूर्वरंग में नृत्य की योजना नहीं की थी, परन्तु शिव-निर्दिष्ट नृत्य की योजना के कारण उसे वैचित्र्यकारक कहा गया और वह चित्रपूर्वरंग के रूप में स्वीकृत हुआ।[3] पूर्वरंग में वैचित्र्य-सृजन के लिए 'ताण्डव' अथवा 'लास्य' नृत्यों का प्रयोग होता है।

गीत-वाद्य-नृत्त का संतुलित प्रयोग

भरत ने यह अनुमान किया कि यदि नाट्य-प्रयोग से पूर्व गीत और नृत्त का प्रयोग आवश्यकता से अधिक किया जाय तो प्रेक्षक खिन्न हो जायेंगे और शेष प्रयोग में उनकी रुचि नहीं रह जायेगी। अतः चित्रपूर्वरंग के विवेचन के क्रम में यह भी स्पष्ट निर्देश दिया है कि गीत, वाद्य और नृत्त के अतिशय प्रयोग से अभिप्रेत भावों और रसों का उद्बोधन न हो सकेगा। गीत-वाद्य एवं नृत्त का पूर्व-रंग में प्रयोग उतना ही हो कि वह रागजनक ही हो, खेदजनक नहीं।[4] अतः पूर्वरंग को 'चित्र' रूप देते हुए 'गीतावाद्यनृत्त' का संतुलन अपेक्षित है। गान, वाद्य और नृत्त का संतुलित प्रयोग होने पर ही प्रधान नाट्य-प्रयोग के प्रति उत्तरोत्तर अभिरुचि जाग्रत होती है और उसमें रागजनकता भी रहती है।

वस्तुतः आरम्भ के नौ यवनिकान्तर्गत पूर्वरंग के अंगों का उपयोग तो नाट्य-प्रयोग को पूर्ण सफल बनाने का महान् समारम्भ ही है। आधुनिक नाट्य-गृहों में भी पहले से गानवाद्य का समारम्भ होता रहता है। उन सबके विवरण का महत्त्व प्रयोक्ताओं की दृष्टि से है। वाद्य-यन्त्र, पात्रों का निवेशन, हस्तपाद-प्रचार आदि सब पूर्णतया अन्तिम रूप से परीक्षित हो जायँ। इस विषय के विश्लेषण से भरत की सूक्ष्म प्रयोग-दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। पूर्वरंग के शेष दस अंग तो दर्शकों से सम्बन्धित हैं। नांदी से ही नाट्य-प्रयोग का आरम्भ हो जाता है। प्रस्तावना तो

---

१. ना० शा० ४।१२-१८।

२. ना० शा० ४।१५।

३. अ० भा० भाग १, पृ० ८७।

४. कार्योनाति प्रसंगोऽत्र नृत्तगीत विधिं प्रति। गीतेवाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः।
खेदोभवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणां तथैव च। खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते।
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत। ना० शा० ५।१५१-६०।

नाट्य-प्रयोग का मानो प्रथम चरण है। नांदी और प्रस्तावना के सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर मतभेद भी कम नहीं है।

भरत की विचार-दृष्टि नितान्त स्पष्ट है। नांदी का प्रयोग सूत्रधार करता है, प्रस्तावना का स्थापक। परन्तु परवर्ती आचार्यों में जो भ्रम और सन्देह की लहरें उठती हुई मालूम पड़ती हैं, उसके कारण हैं—नाट्य-प्रयोग का उत्तरोत्तर ह्रास तथा भरतकालीन अनेक आडम्बरपूर्ण विधियों के संक्षेपण का प्रयास। आचार्य विश्वनाथ ने तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि उनके काल में पूर्वरंग की विधियों का इतना विस्तृत प्रयोग न होने के कारण सूत्रधार ही 'स्थापन' भी करता है। भास प्राचीन नाटककार होते हुए भी नांदी का तो प्रयोग करते ही नहीं, सूत्रधार द्वारा नाटक का आरम्भ करते हैं, कवि-कीर्तन या काव्योपक्षेपण नहीं।

वस्तुतः प्राचीन नाट्यशास्त्र और नाट्य-साहित्य का एतत्सम्बन्धी प्राप्त रूप जितना रोचक है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। इसमें सन्देह नहीं कि भरत ने जितनी स्पष्टता और विशदता से इस विषय का विवरण प्रस्तुत किया है उतना अन्य आचार्यों ने नहीं। हाँ, आमुख के सन्दर्भ में नाट्य-ग्रन्थों के आधार पर अनेक नवीन भेदों की परिकल्पना की गई है। निःसन्देह प्रस्तावना की समृद्ध शैली का परिचय प्राप्त होता है। परन्तु वह उन आचार्यों का मौलिक चिन्तन नहीं है, उसका स्रोत तो नाट्यशास्त्र था और गौण रूप से भरतोत्तर रूपक साहित्य भी।

अतः पूर्वरंग की प्रकल्पना नितान्त मौलिक और विचारोत्तेजक तथा नाट्य-प्रयोग को समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने की अत्यन्त भावभरी रंगीन रंगभूमि भी है वह।

१

पात्रों की विभिन्न भूमिकाएँ

पात्रों की भूमिका के मूल में विचारदर्शन

नाट्य-प्रयोग के सिद्धान्तों के विवेचन के क्रम में भरत ने पात्रों की विभिन्न भूमिकाओं के सम्बन्ध में तात्त्विक विचारों का आकलन किया है। नाट्य के लोक-वृत्तानुकरण होने से प्रयोज्य एवं प्रयोक्ता दोनों ही प्रकार के पात्रों की आकृति, प्रकृति, आचार-व्यवहार एवं वेशभूषा आदि में विभिन्नता एवं विविधता स्वाभाविक होती हैं। प्रयोग-काल में प्रयोक्ता पात्र जब रंगमंडप में प्रवेश करता है तो वह 'स्व' का 'त्याग' और 'पर'-प्रभाव को ग्रहण कर प्रस्तुत होता है। प्राण की यात्रा एक देह से दूसरी में होती है और वह दूसरी देह में प्रवेश करते हुए प्रथम देह के स्वभाव को त्यागकर दूसरी देह के अनुरूप हो जाता है। नाट्य-प्रयोग में पात्रों की भूमिका के मूल में भारतीय दर्शन की इस चिन्तनधारा का प्रभाव स्पष्ट है। पात्र अपने रूप को उपयुक्त वर्ण, बसन एवं आभूषण आदि से आच्छादित कर मन से भी प्रयोग-काल तक के लिए वह राममय या दुष्यन्तमय हो जाता है। उसकी वाणी, अंगों की चेष्टा और लीलाएँ सब तदनुरूप हो जाती हैं। तब वह पात्र प्रयोज्य पात्र की भूमिका में अवतरित होता है।[1] अतएव लौकिक दृष्टि से सामान्य स्तर का भी पात्र प्रयोग-काल में राज-प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। राजा का राज-प्रभाव तो सह-जात है और पात्र का राज-प्रभाव आचार्य-बुद्धि और पात्र की प्रतिभा एवं परिश्रम का सृजन।

१. आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकैः भूषणैरपि।
यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम्।
वयो वेशानुरूपेण प्रकृते नाट्यकर्मणि,
यथाजन्तुस्वभावं हि परित्यज्यान्यदेहिकम्,
परभावः प्रकुरुते परदेहं समाश्रितः,
एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसास्मरन्,
वागगगति लीलाभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत्। ना० शा० २६।२-८।

वस्तुतः भरत के प्रयोग-सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों का यह प्राणसूत्र है। इसी के प्रयोग द्वारा नाट्य-प्रयोग को रूप प्राप्त होता है और इसीलिए वह 'रूपक' या 'नाटक' होता है। लोक-जीवन के अनुरूप ही नाट्य में प्रयोज्य पात्रों के नितांत अनुरूप प्रयोक्ता पात्रों की कल्पना भरत ने प्रस्तुत की है। पात्रों की आकृति, प्रकृति व आंगिक चेष्टा तथा अन्य भाव-भंगिमाओं की परीक्षा करके तब उन्हें तदनुरूप किसी विशिष्ट पात्र की भूमिका देने का विधान है। यदि प्रयोज्य एवं प्रयोक्ता पात्रों की इन विशेषताओं की अनुरूपता को दृष्टि में रखे बिना ही पात्रों का चयन होता है, तो प्रयोगकाल में नाट्याचार्य को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। पाश्चात्य नाट्य-प्रयोग के इतिहास में प्रयोक्ता पात्र (ऐक्टर) को कभी सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। क्योंकि वे अपनी शारीरिक भाव-भंगिमा, वाणी एवं अन्य चेष्टाओं द्वारा उपयुक्त प्रभाव उत्पन्न करते थे। अपनी आकृति और प्रकृति एवं चेष्टा आदि के द्वारा स्वभावतः 'खलनायक' प्रतीत होता था और अपनी उदात्त वृत्ति, सुरूपता, वीरता और सौम्य-प्रभाव के द्वारा वह 'नायक' जान पड़ता था।[1] भारत और पाश्चात्य नाट्यकला के समीक्षकों के विचारों में बहुत समता है। उनका भाव यही है कि दानव, राक्षस, राजा, सेनापति, मंत्री एवं दुर्जन आदि की भूमिका के लिए पात्र में सहजात गुण भी अपेक्षित हैं, वह केवल नाट्याचार्य की बुद्धि का ही परिणाम नहीं होता।

प्रयोज्य पात्रों के उपयुक्त पात्रों की आकृति और प्रकृति

भरत ने दिव्य मनुष्य एवं राक्षसादि विभिन्न श्रेणी के पात्रों की आकृति, व प्रकृति, देश एवं वेश आदि का सुनिश्चित रूप प्रस्तुत किया है।

दिव्यपात्रों की भूमिका : प्रयोज्य पात्र के दिव्य होने पर उसके अनुरूप प्रयोक्ता पात्र के लिए अहीनांग, वयोन्वित, न स्थूल न कृश, न दीर्घ न मंथर, सुगठित अंग-युक्त, तेजस्वी, सुस्वरयुक्त तथा प्रियदर्शी होना नितान्त उचित है।[2]

दानव आदि पात्रों की भूमिका : स्थूल, लम्बा और विशाल शरीर, मेघों-सा गम्भीर स्वर, रौद्रभाव प्रकट करने वाले नेत्र, और तनी हुई भौंहों के साथ राक्षस और दानव आदि की भूमिका में पात्र प्रवेश करते हैं।[3]

मानुषोचित पात्रों की भूमिका : मनुष्य की भूमिका में अभिनय करने वाले पात्रों के नयन, भौंह, ललाट, नासिका, ओष्ठ, कपोल, मुख, कण्ठ, शिर, ग्रीवा तथा अंग, सब सुन्दर होते हैं। इनके अंग-प्रत्यंग सुश्लिष्ट, दीर्घ एवं मद से मंथर होते हैं। इनका शरीर न तो स्थूल होता है, न

---

१. Heroes had to be heroic, in the grand manner, and when villainy was afoot, then it was villainy indeed...The actor carried the burden and consequently voices that could roar like thunder or whisper like a trickling brook because sine qua non while gestures and body movements had to take on the similitude of gods.

Production : Theatre and Stage, p. 816, Vol. II.

२. ना० शा० ३५।५-६ का० मा०।

३. वही ३५।७-८ का० मा०।

कृश ही। अपितु स्वभावतः संतुलित होता है। ये सुशील, ज्ञानी तथा प्रियदर्शी होते हैं। राजा और राजकुमारों की भूमिका में ऐसे ही पात्रों का प्रयोग करना उचित होता है।[1]

अन्य पात्रों के लिए उपयुक्त आकृति और प्रकृति

प्रयोग-काल में अन्य प्रयोज्य पात्रों के लिए भी भरत ने आकृति और प्रकृति आदि की कल्पना की है। जिन पात्रों के अंग न विकल, न स्थूल और न कृश हों, जो तर्क-वितर्क में चतुर हों, प्रगल्भ तथा जीवन में उन्नतिशाली हों, उन्हें मंत्री और सेनापति की भूमिका में प्रस्तुत करना चाहिये। परन्तु जिन पात्रों के नयन पिंगल-वर्ण, नाक लम्बी, कद मध्यम या नाटा हो वे कांचुकीय और ब्राह्मण की भूमिका के लिए उपयुक्त होते हैं। परन्तु जिन पात्रों की चाल धीमी हो, बौने, कुबड़े, काने, मोटे और चिपटी नाक वाले हों उन्हें दुर्जन या दास की भूमिका में प्रस्तुत करना चाहिये। जिनका शरीर स्वभावतः क्षीण एवं दुर्बल हो वे तपः-श्रान्त व्यक्ति की भूमिका के लिए उपयुक्त होते हैं।[2]

विकृत आकृति और पशुओं की भूमिका

प्राचीन भारतीय (प्राकृत-संस्कृत) नाटकों और रामलीलाओं में बहुत से पात्रों के लिए कई मुख, कई हाथ आदि वाले विकृत पात्र, वानर और सिंह आदि का भी प्रयोग होता आया है। उनके लिए आचार्य-बुद्धि के अनुसार मिट्टी लाह, काठ, चमड़ा आदि के द्वारा उनकी आकृति-रचना अपेक्षित है।[3] शाकुन्तल तथा प्रसादकृत चन्द्रगुप्त में वन्य पशुओं की भी परिकल्पना की गई है।[4]

आकृति और प्रकृति की अनुरूपता

प्रयोक्ता पात्र अपनी शारीरिक और मानसिक विशेषताओं के अतिरिक्त आहार्य विधियों से समन्वित हो प्रयोज्य पात्र की भूमिका में नितान्त तदनुरूप हो प्रस्तुत और इसकी परिकल्पना की गई है। भरत ने वय, वेश, अंगरचना, भाषा और अन्तःप्रकृति सबकी अनुरूपता का बहुत स्पष्ट विधान किया है। भरत की व्यापक व्यावहारिक नाट्य-दृष्टि का इससे पता चलता है। न केवल बाह्य अनुरूपता का ही अपितु आन्तरिक अनुरूपता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रश्रय दिया है। दोनों के समन्वय से ही इस अनुरूपता का सृजन होता है। यद्यपि इसमें लोकधर्मी विधि से अनुरूपता प्रदान की जाती है। परन्तु प्रयोक्ता पात्र में किसी प्रयोज्य पात्र की भूमिका में प्रस्तुत होने के लिए आकृति एवं अन्तःप्रकृति की दृष्टि से स्वाभाविक अनुरूपता अपेक्षित है। आचार्य-बुद्धि तो उसमें परिष्कार और संस्कार मात्र करती है।[5] प्रयोक्ता अपने अभिनय द्वारा एक मर्मस्पर्शी

---

१. ना० शा० ३५।६-११ का० भा०।

२. ना० शा० ३५।१२-१८ का० भा०।

३. ना० शा० ३५।१६-१८, का० सं० का० भा० पादटिप्पणी, पृ० ६५२।

४. अभिज्ञान शाकुन्तल सप्तम अंक, चन्द्रगुप्त अंक १, पृ० ८०।

५. एवमन्येष्वपि नाट्यधर्मी प्रशस्यते।
देशवेषानुरूपेण पात्रं योज्यं हि भूमिषु। ना० शा० ३५। पृ० ६५२ पादटिप्पणी तथा अ० शा० अंक ५, चन्द्रगुप्त अंक ३।

अनुभूति के माध्यम से जीवन की संपूर्णता का सृजन करता है। दृश्य-विधान आदि उसमें सहायक मात्र है। अतः प्रयोक्ता पात्र की सहजात मनोवृत्ति और आकृति का विचार और तदनुरूपता का निर्धारण बहुत आवश्यक है। अनुरूपता के सिद्धान्त में यही मूल विचारतत्त्व है। डोरान के शब्दों में अभिनेता अपनी संपूर्ण चेतना द्वारा प्रयोज्य पात्र को प्रस्तुत करता है, उसमें उसका शरीर, रक्त और संवेदना मूर्तिमान् होते हैं।[1]

प्रकृतियाँ

भरत ने विभिन्न भूमिकाओं में पात्रों के अभिनय की प्रवृत्तियों और परंपराओं का तीन प्रकृतियों में समाहार किया है। उन्हीं तीन प्रकृतियों में भूमिका के सब रूपों का समावेश हो जाता है। वे तीन प्रकृतियाँ निम्नलिखित हैं :

अनुरूपा, विरूपा और रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी।

अनुरूपा प्रकृति

प्रयोज्य पात्र की कवि-कल्पित प्रकृति के अनुरूप प्रयोक्ता पात्रों की प्रकृति आदि होने पर अनुरूपा होती है। पुरुष पात्र पुरुष की तथा स्त्री पात्र स्त्री की भूमिका में देश, वय, वेश एवं भाषा के अनुरूप प्रयोग के लिए प्रस्तुत होते हैं।[2]

विरूपा प्रकृति

जब प्रयोज्य पात्र को प्रस्तुत करने के लिए प्रयोक्ता पात्र अपनी प्रकृति के विपरीत भूमिका में प्रस्तुत होता है तो 'विरूपा' प्रकृति होती है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब वृद्ध बालक की और बालक वृद्ध की भूमिका में प्रस्तुत होते हैं। भरत ने 'विरूपा' भूमिका का सर्वथा निषेध किया है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से 'स्थविर-वालिश' शब्द उपलाक्षणिक है। इसलिए बालक वृद्ध की और वृद्ध बालक की भूमिका के लिए तो सर्वथा अनुपयुक्त होते ही हैं, परन्तु युवा वृद्ध की और वृद्ध युवा की भूमिका के लिए भी उपयुक्त नहीं होते। आहार्यविधि द्वारा रूप आदि की समानता होने पर भी जाति एवं अन्य आंगिक चेष्टाओं में परस्पर बहुत वैषम्य होता है।[3]

रूपानुरूपा प्रकृति

जब पुरुष पात्र स्त्री की और स्त्री पात्र पुरुष की भूमिका में अवतरित होते हैं तो

---

1. A player must callforth a response from his audience by their interest in his humanity, his flesh & blood, heart, mind and soul, without this his gestures may be exact, but they will be those of automation. Stage & Theatre, p. 848.

२. ना० शा० २६।१।

३. संबंधि शब्दाः संबंध्यन्तर माक्षिपन्तीति। स्थविरो युवाभूमिकायां युवा च स्थविर भूमिकायां न योज्यः। वालिशोऽत्र विरूपः स विरूपभूमावायोज्यः। एतच्चोपलक्षणम्। यत्र यत्प्रयोजनो न श्लिष्यति न स तत्र योज्य इत्यर्थः। अ० भा० भाग ३, पृ० २६७।

रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी प्रकृति होती है।[1] ऐसी भूमिकाओं को अभिनवगुप्त ने वैसादृश्य के नाम से अभिहित किया है। स्त्री द्वारा पुरुष का और पुरुष द्वारा स्त्री का अभिनय वैसादृश्य ही है। इसी प्रकार नरसिंह या दशवदन रावण की भूमिका में प्रयोक्ता पात्र का अवतरण वैसादृश्य ही है। प्रयोक्ता पात्र की न तो वैसी आकृति होती है और न वैसी प्रकृति ही। अतः भरत एवं अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयोक्ता पात्र दूसरे के रूप के अनुसार अपने रूप की रचना करता है। अतः यह भी रूपानुरूपता होती है।[2]

अनुरूपता की सीमा

भरत-प्रतिपादित पात्रों की अनुरूपता के सन्दर्भ में न केवल स्त्री द्वारा पुरुष की और पुरुष द्वारा स्त्री की भूमिका में प्रस्तुत होने की स्वच्छन्दता है, अपितु जतु (लाह), काष्ठ और चर्म आदि के योग से पशु, श्वापदमुख और बहु-बाहुमुख आदि प्रयोज्य पात्रों के भी प्रयोग में उन्हें संकोच नहीं है।[3] परन्तु विरूपा प्रकृति के वे पक्ष में नहीं हैं। वृद्ध द्वारा बालक या युवा की तथा बालक या युवा द्वारा वृद्ध की भूमिका में पात्रों का अवतरण उनकी दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि वृद्ध और बालक या युवा की आकृति और प्रकृति एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होती है। एक जीवनवृंत पर झाँकता नये स्वर्णविहान का नवपल्लव-सा है तो दूसरा जीवन-सन्ध्या का जराजीर्ण पांडु पत्र। दोनों में अनुरूपता की संभावना नहीं की जा सकती।

अनुरूपता से भरत का भाव यही है कि प्रयोगकाल में प्रयोक्ता प्रयोज्य की आत्मा से अपने-आपको आविष्ट कर अपने अहंभाव का त्यागकर आहार्य-विधि की सहायता से आकृति को तदनुरूप बनाकर वाणी, अंगलीला और चेष्टा आदि का भी तदनुरूप ही विधान करे। प्रयोक्ता पात्र प्रयोज्य के अनुरूप वय, अवस्था, आकृति और प्रकृति आदि की दृष्टि से होने पर ही सच्चे अर्थों में नाट्य-प्रयोग कर सकते हैं।[4]

भूमिकाओं की विभिन्न प्रकृतियों के उपलब्ध साक्ष्य

नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित इन तीन प्रकृतियों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य (विशेषतः नाट्य) में रोचक और महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध हैं।

पुरुष पात्र पुरुष की तथा स्त्री पात्र स्त्री की भूमिका में देश, वय और वेशादि की अनुरूपता से प्रस्तुत हों यह तो नितान्त स्वाभाविक स्थिति है। संस्कृत एवं प्राकृत के प्राचीन नाटकों की प्रस्तावना में यत्र-तत्र इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। हर्षवर्द्धनकृत 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नाटकों में स्वयं सूत्रधार ही वत्सराज की भूमिका में प्रस्तुत हुआ है, उसका छोटा भाई रत्नावली में यौगन्धरायण तथा प्रियदर्शिका में दृढ़वर्मा की भूमिका में

१. ना० शा० ३६।१५ (गा० ओ० सी०)।
   का० सं० ३५।१६, का० भा० ३५, पृ० ६५२।
२. पुरुषस्य प्रयोक्तुः पुरुषेण प्रयोज्येण, योषितः योषिता तत्र सदृश व्यवहारः। स्त्रियाः पुरुषस्य वैसादृश्यम्। सा हि सिंहवदनदशवदनादिभिः यस्तु प्रयोज्यैरन्यसादृश्यमेव। अ० भा० भाग ३, पृ० २६३।
३. ना० शा० २६।२-६ (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० २६।७-८ (गा० ओ० सी०)।

अवतरित होता है।[1] कुट्टनीमत में रत्नावली के प्रथम अंक का प्रयोग प्रस्तुत किया गया है। उसमें राजकुमारी रत्नावली की भूमिका में मंजरी नाम की परम रूपवती वेश्या प्रस्तुत हुई है, उसने अपने अनुपम रूप-सौन्दर्य और अनूठी विलास-लीलाओं और भाव-भंगिमाओं से काश्मीर सम्राट् समरभट्ट का हृदय ही नहीं वश में कर लिया था, उसे नितान्त निर्धन भी बना दिया था।[2] नटी प्रायः स्त्री-पात्रों की भूमिका में प्रस्तुत हुआ करती है। अतः यह अनुरूपा प्रकृति तो भारतीय नाटकों की सामान्य विशेषता है।

विपरीत भूमिका

पुरुष पात्र द्वारा स्त्री-पात्र एवं स्त्री-पात्र द्वारा पुरुष पात्र की भूमिका में प्रस्तुत होने के विवरण नाटकों एवं अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। यह रूपानुरूपा प्रकृति की परंपरा अपने देश में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। भरत ने तो इस अभिनय-परंपरा के लिए निश्चित सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भरत के पूर्व नाट्य-प्रयोग में ऐसी परंपरा प्रचलित थी। कात्यायन के एक वार्तिक पर टिप्पणी करते हुए पतंजलि ने 'भ्रूकुंस' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द स्त्री-वेषधारी नर्तक के अर्थ में प्रसिद्ध है। भट्टोजी ने उक्त वार्तिक पर टिप्पणी करते हुए विचारपूर्ण अर्थ की परिकल्पना की है। भौंहों द्वारा भाषण या शोभा (कुंस) होने के कारण ही वह स्त्री-वेशधारी नर्तक (पुरुष) 'भ्रूकुंस' होता है।[3] पतंजलि ने इसका उल्लेख किया है कि भौंहों और हाथ की विविध मुद्राओं द्वारा शब्द-प्रयोग के बिना ही अनेक अर्थों की प्रतीति होती है।[4]

भारतीय नाटकों में ऐसे अनेक प्रसंगों में पुरुषों द्वारों स्त्री के अभिनय का उल्लेख किया गया है। मालतीमाधव प्रकरण में सूत्रधार और परिपार्श्विक (नट) क्रमशः कामंदकी और उसकी शिष्या अवलोकिता की भूमिका में[5] हैं। कर्पूर-मंजरी के सूत्रधार का बड़ा भाई महाराजा की देवी की भूमिका में प्रस्तुत हुआ है।[6] प्रियदर्शिका में वत्सराज-वासवदत्ता की प्रेमकथा पर आधारित नाट्य-प्रयोग का आयोजन हुआ है। उसमें नायिका वासवदत्ता की भूमिका में आरण्यिका (प्रियदर्शिका) और नायक वत्सराज की भूमिका में मनोरमा प्रस्तुत होने वाली है।

---

१. सूत्रधारः (आकर्ण्य। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य। सहर्षम्) आर्ये! एष मम कनीयान् भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव। रत्नावली प्रस्तावना।

२. अनुकुर्वत्या कन्यां तथा-तथा नायकस्तया दृष्टः। येन जरतस्वप्यटनी धनुषः स्पृष्टा दशार्धबाणेन। कुट्टनीमत ६६६।

३. अभ्रकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रूकुसं भ्रकुसं। अष्टाध्यायी ६।३।६१ परभाष्य। तथा—भ्रूकुंसः। भ्रूवो कुंसः भाषणं शोभा वा यस्य स स्त्री-वेषधारी नर्तकः। सिद्धान्तकौमुदी। समासाश्रयः विधि प्रकरण।

४. अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्थाः गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। पातंजल महाभाष्य २।१, १ पाणिनीय सूत्र पर।

५. नट—सौगत जगत्परिव्राजिकायाः तु कामदंक्याः प्रथमां भूमिकां भाव एवाधीते तदन्तेवासिन्यास्तु अहम् अवलोकितायाः। मालतीमाधव प्रस्तावना।

६. महराअस्स देईए भूमिअं धेत् तूण अज्जा अज्जमारिआ अजवणि अन्तेर चिट्ठदि। कर्पूरमंजरी, प्रस्तावना।

परन्तु विदूषक और मनोहर की कुशल योजना से स्वयं उदयन ही नायक की भूमिका में (मनोरमा के स्थान पर) प्रस्तुत होता है। प्रियदर्शिका के इस नाट्य-प्रयोग से पुरुष की भूमिका में स्त्री और स्त्री की भूमिका में पुरुष—दोनों प्रकार की प्रयोग-परंपराओं का समर्थन होता है।[1]

पुरुष द्वारा स्त्री एवं स्त्री द्वारा पुरुष की भूमिका में अभिनय नाट्य-प्रयोग की सामान्य स्थिति नहीं है। वह कभी कथावस्तु के आग्रह, कभी पात्रों की न्यूनता और कभी कौतुहलवश सुनियोजित होती है। अर्जुन का वृहन्नला की भूमिका में प्रस्तुत होना नाटकीय घटना की अनिवार्यता ही है। प्रसाद-रचित ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ध्रुवस्वामिनी की सखी की भूमिका में प्रस्तुत हो शकराज का वध करते हैं। चन्द्रगुप्त का कामिनी-वेशधारण कोरी नाट्य-कल्पना नहीं अपितु वह ऐतिहासिक तथ्य है। गुप्तकुल की गौरव-लक्ष्मी की मर्यादा की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने यह साहसिक कार्य किया था। बाणभट्ट ने चन्द्रगुप्त के इस साहस का उल्लेख किया है।[2] प्रसादकृत 'चन्द्रगुप्त' में युवती कल्याणी (नंद की पुत्री) एक युवक सैनिक के रूप में पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए प्रस्तुत हुई है।[3] निःसंदेह इस प्रकार के विलक्षण प्रयोगों से नाट्य-प्रयोग में असाधारण चमत्कार भी उत्पन्न होता है।

रूपानुरूपा नाट्य-प्रयोग की प्रवृत्ति

आधुनिक एमेच्योर (अव्यवसायी) नाट्य-मंडलियों में रूपानुरूपा पद्धति प्रचलित है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की सांस्कृतिक परिषदों द्वारा आयोजित नाट्य-प्रयोगों में पुरुष एवं स्त्री-पात्रों के विपर्यय के उदाहरण कभी-कभी मिलते हैं। ऐसा अभाववश होता है। कुछ वर्षों पूर्व मैंने भासरचित वासवदत्ता का स्वानूदित रूपान्तर और श्रीबेनीपुरी-रचित अम्बपाली को अपने निर्देशन में प्रस्तुत किया था। नारी-पात्रों के अभाववश पुरुष पात्रों को ही नारी-पात्रों की भूमिका में प्रस्तुत किया और प्रेक्षकों के प्रशंसक-भाजन भी बने। प्रसादरचित ध्रुवस्वामिनी का प्रयोग कुछ वर्षों पूर्व मैंने एक महिला कॉलेज में देखा था। पुरुष पात्रों की भूमिका में छात्राएँ ही थीं और चन्द्रगुप्त एवं अन्य पुरुष पात्रों की सफल भूमिकाएँ भी कभी-कभी कुछ उपहासास्पद-सी मालूम पड़ती थीं।[4] यूरोप में शेक्सपियर के काल में भी ऐसी प्रथा थी और अब भी ऐसे प्रयोगों का अभाव नहीं है। वहाँ के सामाजिक जीवन में संगठित अनेक प्रकार की महिला समितियाँ ऐसे नाट्यों का आयोजन करती हैं जिनमें महिलाएँ पुरुषों की भूमिका में अभिनय करती हैं। परन्तु यह तथ्य है कि शिक्षा और अभ्यास द्वारा भी नारी पौरुष का कितना भी प्रदर्शन करे परन्तु पुरुषोचित वीरत्व और परुषता का वह भाव नहीं आ पाता।[5] भरत ने इस विपरीत

---

१. प्रियदर्शिका, तृतीय अंक।

२. ध्रुवस्वामिनी अंक २, पृ० ४७ तथा अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशः चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयद्। बाणभट्ट।

३. चन्द्रगुप्त, अंक २, पृ० ६४।

४. स्वप्नवासवदत्ता (१९५०) अम्बपाली (१९५१)
भरत नाट्य-परिषद् (रामदयालुसिंह कालेज के तत्वावधान में आयोजित)।

५. In Shakespeare's time the women's part were taken by men. No body minds a little girl dressing up as a boy and in any case, there is a wide field of fantasy that they can enter.

नाट्य-प्रयोग को अलंकार ही माना, सहजात गुण नहीं।[1] लोकनाट्यों में तो प्रायः ऐसे प्रयोग होते ही हैं। मिथिला के लोकनाट्य में पुरुष और नारी दोनों ही भूमिकाओं का निर्वाह बाल नतर्क द्वारा ही सम्पन्न होता है।

रूपानुरूपा प्रकृति के अनुसार तो स्त्री स्वच्छन्दतापूर्वक पुरुष की और पुरुष स्त्री की भूमिका में होते हैं। यह अस्वाभाविक अवस्था है। सामान्यतया यही उचित है कि संस्कृत पाठ्य का प्रयोग पुरुष पात्र करें और जीत का प्रयोग नारी। क्योंकि नारी-कंठ मधुवर्षी होता है और पुरुष कंठ परुष एवं कठोर। यद्यपि पुरुष भी शास्त्रीय गीत का अभ्यास तो कर लेते हैं परन्तु स्वर में स्वाभाविक माधुर्य न होने से गीत में वह मोहकता नहीं आ पाती। यदि स्त्री के पाठ (संस्कृत) में पुरुषजनोचित स्पष्टता और उदात्तता हो तथा पुरुष के स्वर में नारी-कण्ठ-सा माधुर्य हो तो दोनों की प्रकृति के विपरीत होने से उनके लिए अलंकार ही होता है।[2] मृच्छकटिक में नायक चारुदत्त को गीत से विशेष अनुराग है और रोमिल (पुरुष पात्र) का स्वभाव मधुर गीत सुनकर उसकी चेतना आनन्द-मग्न हो जाती है। यद्यपि विदूषक की दृष्टि में स्त्री का संस्कृत-पाठ तथा पुरुष द्वारा गायन, ये दोनों ही उसे उपहासास्पद मालूम पड़ते हैं।[3] स्वभाव के विपरीत नारी एवं पुरुष पात्रों द्वारा रूपानुरूपा भूमिका में प्रयोग के अनेक उदाहरण नाटकों में मिलते हैं, यह हम उल्लेख कर चुके हैं।

भरत ने प्रकृति के विपरीत रूपानुरूपा की भूमिका के लिए प्रयत्न की आवश्यकता मानी है। अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल सुकुमार या परुष प्रयोग की भूमिका का निर्वाह तो संभव है परन्तु विपरीत स्वभाव का शास्त्रानुसार प्रयोग आचार्य-बुद्धि की प्रेरणा और प्रयोक्ता के प्रयत्न से ही संभव है।[4] स्त्रियों के अंगों में स्वाभाविक माधुर्य और गति में विलास भाव वर्तमान रहता है; पुरुषों के अंगों में सुश्लिष्टता और प्रभावशाली तेजस्विता स्वयं वर्तमान रहती है। सहज रूप-सौन्दर्य और विलास-लीलाओं से उद्दीप्त नारी नाट्य-शिक्षा पाकर तो नाट्य में वैसी ही मन-भावन और प्रियदर्शिनी मालूम पड़ती है जैसे फूलों के सौरभ-मद में झूमती लता। नारियाँ कामो-पचार में निपुण होती हैं। योग्य एवं रूपवती नारियों के भाव, रस, अंगों के भाव समृद्ध लालित्य द्वारा नाट्य में प्राणोन्मादक रस का उन्मेष होता है।[5]

No women when acting the part of a man is completely convincing. Gestures may be studied, the voice may be turned to a lower key, make up may be perfect but a women's general appearance and mere often than not the attitudes she adopts, remain famine.—Women in Dramas. —Stage and Theatre, p. 1167-8.

१. प्रकृतिविपर्यय जनितौ विज्ञेयौ तावलंकारौ। ना० शा० २६।१६।

२. माधुर्यं गुणविहीनं शोभा जनयेन्त तद्गीतम्।
यत्र स्त्रीणां पाठपाद् गुणैः नराणां च कंठमाधुर्यम्। ना० शा० २६।१७-१६।

३. मृच्छकटिक अंक ४।३-५, मम तावद्द्वाभ्यां हास्यं जायते। स्त्रियाः संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकलीं गायता।

४. स्त्रीषु प्रयोज्यः प्रयत्नेन प्रयोगः पुरुषाश्रयः। यस्मात् स्वभावोपगतो विलासः स्त्रीषु विद्यते। ना० शा० २६।२०-२३।

५. प्रमदाः नाट्य विलासैः (लभते) लतेव कुसुमैः विचित्रलावण्या। कामोपचार कुशलाः भवन्ति च काम्या विशेषेण॥ २६।३४ (गा० ओ० सी०)।

सुकुमार और आबिद्ध प्रयोग

स्त्री और पुरुष की भिन्न प्रकृति को दृष्टि में रखकर ही भरत ने दो प्रकार के नाट्य-प्रयोग की कल्पना की है—सुकुमार और आबिद्ध। सुकुमार प्रयोग में नारी-पात्रों की प्रधानता रहती है और आबिद्ध प्रयोग में पुरुष की। सुकुमार प्रयोग में युद्ध, मार-काट, हत्या और इसी प्रकार के अन्य भयावह दृश्यों का प्रयोग नहीं होता क्योंकि उसका प्रयोग नारी द्वारा संभव नहीं है। नाटक, प्रकरण, भाण और वीथी आदि श्रृंगार-प्रधान सुकुमार रूपक स्त्रियों के लिए उपयुक्त होते हैं। इनमें सुकुमार प्रकृति की नारियाँ भूमिका में रहती हैं। इन रूपक-भेदों में श्रृंगार की प्रधानता होने के कारण स्त्री की सुकुमार प्रवृत्ति और लालित्य के प्रसार का पर्याप्त अवकाश रहता है। परन्तु आबिद्ध प्रयोग में कठोर प्रकृति के पुरुषों की बहुलता रहती है। उद्दण्ड प्रकृति के देव, दानव और राक्षसों के जीवन के अनुरूप ही युद्ध, हत्या, विनाश, विभीषिका, आघात और प्रत्याघात के दारुण दृश्यों का प्रयोग होता है। उद्धतप्राय डिम, समवकार इहामृग और व्यायोग (रूपक भेद) इनके लिए उपयुक्त होते हैं। अतः वृत्ति के रूप में इन प्रयोगों के सात्वती और आरभटी का प्रयोग होता है।[1]

---

१. ना० शा० २४।२५-३२ (गा० ओ० सी०)।

१०

नाट्याचार्य और रंगशिल्पी

नाट्य-प्रयोग में समस्त ज्ञान-विज्ञान, शिल्प और कला तथा लोक एवं शास्त्र की परंपराओं का समन्वय होता है।[१] इस समन्वय के द्वारा ही नाट्य-प्रयोग को पूर्णता प्राप्त होती है। इसी पूर्णता को लक्ष्य कर भरत ने नाट्य-प्रयोग के समस्त साधक अंगों का आकलन और तात्त्विक निरूपण तो किया ही है, परन्तु उनकी शास्त्रीय दृष्टि का प्रसार उस महत्तर मानवीय शक्ति की ओर भी हुआ जिसकी प्रखर प्रतिभा, कल्पना और परिश्रम के योग से ही नाट्यामृत-रस का रंगभूमि में अभिवर्षण होता है। नाट्य-प्रयोग के लिए विविध विषयों के आचार्य, कला-मर्मज्ञ और शिल्पियों की विद्या-बुद्धि का उपयोग होता है। ये रंगाचार्य, नाट्याचार्य, वृतज्ञ, छन्द-विधानज्ञ, शिल्पी और लयतालज्ञ आदि होते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यवसाय और कला के जानकार शिल्पियों की प्रतिभा और परिश्रम का भी उपयोग नाट्य-प्रयोग के लिए किया जाता है, जिनमें आभरणकृत, भाल्वकार, चित्रकार, वेषकार, नाट्यकार, स्तौतिक, रजक, कारूक और कुशीलव आदि अनगिनत शिल्पी-जन अपना योग प्रदान करते हैं। रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के अतिरिक्त ये नाट्य-प्रयोक्ता नाट्य-मंडप की रचना, उसकी साज-सज्जा, पात्रों के वेश-विन्यास आदि का विधान, आभरण-रचना, चित्र-कल्पना, गायन और वादन, आदि नाना प्रकार के प्रयोगों के समन्वय द्वारा नाट्य-प्रयोग को सिद्धि प्रदान करते हैं।

सूत्रधार : स्थापक और पारिपार्श्विक

पात्रों तथा अन्य नाट्य-शिल्पियों में सूत्रधार प्रधान होता है, क्योंकि समस्त नाट्य-प्रयोग का सूत्र उसी के द्वारा संचालित होता है। वह नाट्य-प्रयोग का प्राण सूत्र-सा बनकर सब पात्रों और प्रयोक्ताओं को जीवन और गति देता रहता है। आवश्यकतानुसार स्वयं भी रंगमंच

१. न तज्ज्ञानं त तच्छिल्पं न साविधान साकला। न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
ना॰ शा॰ १।११३ख-११४, का॰ सं॰।

पर पात्र के रूप में प्रस्तुत होता है, तथा स्थापना या प्रस्तावना के माध्यम से नाट्य का आरम्भ भी करता ही है। नाट्य-प्रयोग उसकी प्रेरणा और कल्पना पर परिपल्लवित होता है। इसी महत्ता को दृष्टि में रखकर भरत ने सूत्रधार के स्वाभाविक एवं उपार्जित गुणों का आख्यान करते हुए उसमें महत्तर आदर्शपूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना की है। सूत्रधार शास्त्र कर्मों में सुशिक्षित, वाद्य-वादन में प्रवीण, रसभाव में विशारद, नाट्य-प्रयोग में कुशल, वेश्याओं के उपचार में निपुण, नाना प्रकार के गीतों, छन्द-विधान और ग्रहनक्षत्र के तत्त्वों का ज्ञाता, देह-व्यापार में पंडित, पृथ्वी, द्विप, देश और जनपदों के चरित का ज्ञाता, राजवंश में जन्म ग्रहण करने वाला, शास्त्रार्थों का निर्णायक, प्रवक्ता तथा नाना पाखण्ड कार्यों का ज्ञाता होता है। इन शास्त्रोपार्जित गुणों के अतिरिक्त वह स्वाभाविक गुणों से भी समृद्ध होता है। वह स्मृतिमान्, बुद्धिमान्, स्मित-भाषी, पवित्र, नीरोग, मधुर, क्षमाशील, प्रियवादी, अनुकूल, सत्यवादी और क्रोधरहित होता है। इन शास्त्रोपार्जित एवं स्वाभाविक गुणों के द्वारा वह समस्त नाट्य-प्रयोग का संचालन करता है।[1] उसी के माध्यम से कवि और प्रेक्षक का संगम संभव हो पाता है।

नाट्य-प्रयोग सम्बन्धी अन्य अनेक कार्यों का संपादन करते हुए यह सूत्रधार स्थापना एवं प्रस्तावना द्वारा नाट्य का मंगलारंभ करता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र एवं अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्थापक द्वारा काव्य की स्थापना के प्रयोग का विधान है, परन्तु प्राप्त संस्कृत नाटकों में स्थापक द्वारा स्थापना के प्रयोग का कोई उदाहरण नहीं उपलब्ध है।[2] भास के नाटकों में स्थापना तो है पर उसका प्रयोक्ता भी सूत्रधार ही है। इनमें सूत्रधार तो कभी अत्यन्त संक्षेप में और कभी गीत आदि की योजना करके ही नाट्य-प्रयोग का आरंभ कर देता है।[3] परन्तु मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली और उत्तररामचरित आदि भास के परवर्ती नाटकों में सूत्रधार प्रायः अतिरिक्त नाट्य-कार्य करते हुए पाये जाते हैं। वे कवि-परिचय देते हैं और नाट्यकथा के नितान्त नवीन होने पर उसका भी संक्षिप्त संकेत कर देते हैं। उत्तररामचरित में सूत्रधार (वैदेशिक) और नट के संवाद से कथा का परिचय मिल जाता है।[4] मृच्छकटिक और मालतीमाधव नामक प्रकरणों की कथा सर्वविदित न होने के कारण चारुदत्त-वसन्तसेना और मालती-माधव की प्रणय-कथा का संकेतात्मक वर्णन प्रस्तावना में सूत्रधार ने प्रस्तुत किया है।[5] महावीरचरित की प्रस्तावना में तो सूत्रधार का सहायक उससे निवेदन करता है कि कथा की अपूर्वता के कारण उसके सम्बन्ध में प्रेक्षकों से निवेदन करे।[6]

१. नाट्यप्रयोग कुशलः नानाशिल्पसमन्वितः।
पादच्छंदविधानज्ञः सर्वशास्त्र विचक्षणः।
स्मृतिमान् मतिमान् धीर उदारः स्थितवाक् कवि।
अरोगो मधुरः क्षान्तो दान्ताश्चैव प्रियंवदः॥ आदि। ना० शा० ३५।४५-५२ का सं०, का० मा० ३५। पृ० ६५५।

२. ना० शा० ५।१६२ (गा० ओ० सी०)।

३. भास के नाटकों की प्रस्तावना।

४. अ० शा०, उत्तररामचरित और मालविकाग्निमित्र प्रस्तावना।

५. अवंतिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवादरिद्रः किल चारुदत्तः।
गुणानुरक्ता गणिका चयस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना॥ मृ० सं० १।५-६, मा० मा० की प्रस्तावना।

६. म० च० की प्रस्तावना।

सूत्रधार-अभिनेता भी

यह सूत्रधार प्रस्तावना के उपरान्त आवश्यकतानुसार पात्र के रूप में भी रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ है। मालतीमाधव की कामंदकी सूत्रधार ही है।[1] प्रियदर्शिका और रत्नावली में भी वह वत्सराज तथा उत्तररामचरित में वह रामकाल के वैदेशिक की भूमिका में अवतरित हुआ है। उत्तररामचरित में भरत का उल्लेख तौर्यत्रिक सूत्रधार के रूप में किया गया है, क्योंकि वह गीत, वाद्य और नृत्यों के भी ज्ञाता हैं।[2] यही कारण है कि प्रस्तावना के क्रम में वह नटी या कुशीलव या परिपार्श्विक आदि की सहायता से नाट्यारंभ में गीत के सहयोग से प्रयोग करता है। अतः पात्रों तथा अन्य नाट्य-प्रयोक्ताओं में सूत्रधार का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्त्वशाली है। वह नाट्य-प्रयोग की विधियों का उपदेष्टा ही नहीं स्वयं रंगमंच पर प्रस्तुत हो कवि एवं काव्य-परिचय, गीत तथा अभिनय का भी प्रयोक्ता है। वह भास के पूर्व से ही नाट्य-प्रयोग का इतना महत्त्वशाली व्यक्तित्व बना हुआ था कि भारतेन्दु काल तक के नाटक सूत्रधार के प्रभाव से बच नहीं सके।[3]

पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली में सूत्रधार

नाट्य-प्रयोग के लिए सूत्रधार की महत्ता के सम्बन्ध में भरत की कल्पना के समानांतर आधुनिक पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने भी प्रायः उसी रूप में विचार किया है। उनकी दृष्टि से सूत्रधार (प्रोड्यूसर) नाट्य-प्रयोग का नियंत्रक होता है। वह नाट्यकार की रचना को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त पात्रों का चयन करता है, रंगमंडप-रचना, वेशभूषा-विन्यास, प्रकाश-व्यवस्था एवं अन्य अनेक प्रकार की प्रयोग-संबंधी समस्याओं का सूत्र वही संचालित करता है। प्रयोक्ता पात्र एवं अन्य सहायक उसके अंग के रूप में रहते हैं। वह समस्त नाट्य-प्रयोग का मूल स्रोत है, जो कवि के नाट्य, उसके विचार और कल्पना को अभिनय एवं अन्य विधियों द्वारा रूप देता है, समग्रता देता है, प्राण देता है।[4] इन आचार्यों ने नाट्य-प्रयोग में प्रयोक्ता, कवि और सामाजिक के महत्त्व का शतशः आख्यान किया है और इस 'त्रिक' का समन्वय यह सूत्रधार अथवा प्रोड्यूसर ही करता है।[5] भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार तो इन तीनों द्वारा व्यक्ति-विशेष की भावना परिस्थिति-विशेष की कल्पना से साधारणीकृत होने पर ही नाट्य-रस आस्वाद्य होता

---

१. मा० मा० की प्रस्तावना।

२. व्यसृजद् भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिक सूत्रधारस्यः। उ० रा० च० अंक ४।

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र —सत्य हरिश्चन्द्र की प्रस्तावना।

४. The status of producer is essentially one of the control. He is, indeed, the autocrat of the theatre, into whom all things must be subservient.—Theatre and Stage. p. 781. (Production and Principles.)

५. There will be something of beauty added to the world, because the producer has unified his elements used his tools wisely, brought the three A's to-gether, the author, the actor and the audience into the common understanding and to one mind or way of thinking.

F. E. Doran : Production and Principles,
Theatre and Stage, p. 771-80.

है।[1] नाट्यसिद्धि के प्रसंग में भरत ने एक और भी त्रिक की कल्पना की है, वह है पात्र, प्रयोग और समृद्धि। पात्रगत विधि का सम्बन्ध बुद्धिमत्ता, सुरूपता, लयतालज्ञता, रसभावज्ञता और वयोऽनुरूपता आदि से है। सुन्दर वाद्य-वादन, मधुर गान, स्पष्ट और प्रभावशाली पाठ्य तथा शास्त्र-कर्मों के समायोग का सम्बन्ध प्रयोग से है और भूषण-धारण, वस्त्र-परिधान, तथा अन्य नाट्य-प्रसंगों के समाकलन का सम्बन्ध समृद्धि से है। ये तीनों ही नाट्य-प्रयोग से संबंधित हैं और इनका प्रयोग अथवा सामंजस्य सूत्रधार ही करता है। अभिनेता, अन्य नाट्य-शिल्पी एक-एक अंश को पूर्णता देते हैं और सूत्रधार उन सब अंशों का यथोचित समाकलन करता है।[2] पूर्व और पश्चिम में सूत्रधार के महत्त्व, कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक के समन्वय के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें परस्पर बहुत साम्य है।

स्थापक और परिपार्श्विक

सूत्रधार के दो सहायक पुरुष प्रयोक्ताओं में स्थापक और परिपार्श्विक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पूर्वरंग के उपरान्त सूत्रधार के निष्क्रान्त होने पर काव्य की स्थापना के लिए स्थापक के प्रवेश का विधान है। वह नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार के ही तुल्य-गुण और आकृति वाला होता है। नाट्य-प्रयोग की स्थापना का कार्य इसीका है।[3] परन्तु स्थापक का प्रयोग कहीं भी नाटकों में नहीं दिखाई देता। यहाँ तक कि भास के नाटकों में भी नहीं, जहाँ प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना ही है। अतः या तो स्थापक और सूत्रधार एक व्यक्तित्व है अथवा कालान्तर में स्थापक का भी स्थान सूत्रधार ने ही ग्रहण कर लिया। साहित्यदर्पण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कालान्तर में पूर्वरंग का सम्यक् प्रयोग नहीं होता था। अतः सूत्रधार ही स्थापक का भी कार्य संपन्न करता था।[4]

परिपार्श्विक नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार की अपेक्षा गुणों में किंचित् ही न्यून होता है। वह मध्यम प्रकृति का प्रयोक्ता पात्र होता है। वह उज्ज्वल, रूपवान, मेधावी, नाट्य-विधान का ज्ञाता और अपने कार्य में अत्यन्त निपुण होता है। सूत्रधार का वह सहानुग (सहचर) होता है। भास के अभिषेक और कालिदास के मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय में सूत्रधार का वह सहचर है।[5]

नाट्यकार : नाट्य-प्रयोग के लिए नाट्यकार का असाधारण महत्त्व है। अपने हृदय में वर्तमान प्रतिभा के योग से सत्त्वयुक्त भावों को पात्रों के प्रयोग योग्य बनाता है। कवि-बुद्धि से ही प्रेक्षक के हृदय में रस का उदय होता है।[6]

---

१. लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानः चर्व्यमानोऽर्थोनाप्यम्। स च सुखदुःखरूपेण विचित्रेण समेनुगतः। न तु तदेकात्मा। अ० भा० भाग १, पृ० ४३।

२. तथा समुदिताश्चैव विज्ञेयाः नाट्यमाश्रिताः।
पात्रं प्रयोगमृद्धिश्च विज्ञेयास्तु त्रयो गुणाः। ना० शा० २७।९८-१०३ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० ५।१६२-१६६, का० सं०, का० मा० ५।१४९-१५४।

४. इदानींपूर्वरंगस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति। सा० द० ६।१२।

५. ना० शा० ३५। पृ० ६५५ का० भा०।
तथा—अभिषेक (भास), विक्रमोर्वशीयम् भा० अ० की प्रस्तावना।

६. ना० शा० ३५।३१ का० भा०।

नट

रस, भाव और सत्वयुक्त लोक-वृत्तान्त का नाट्य (अनुकरण) करने के कारण प्रयोक्ता पात्र के लिए 'नट' शब्द का प्रयोग होता है। यह नानाविध वर्णों से आच्छादित, भूषणों से अलंकृत, गांभीर्य और औदार्य आदि गुणों से संपन्न हो प्रयोगकाल में राजा की तरह प्रतीत होता है। यह सूत्रधार की बुद्धि से प्रेरित सौष्ठव अंगों से समृद्ध हो रंगमंच की शोभा बढ़ाता है। राजा और नट (भरत, पात्र), दोनों ही शोभादायक हैं। नट की उज्ज्वलता प्रयोगकाल के लिए कल्पना द्वारा उपजीव्य है। राजा की उज्ज्वलता स्वाभाविक है।[1] नट नाट्य-प्रयोग-काल में स्वभाव का त्यागकर 'पर-प्रभाव' में समाविष्ट हो, तन्मय हो रंगमंच पर प्रस्तुत होता है। नट शब्द नृत्य और अभिनय दोनों अर्थ-परंपराओं का संकेत करता है। यह 'नट' बहुभाषाविद् तथा चारों प्रकार के अभिनयों का ज्ञाता और प्रयोक्ता होता है।[2] इन्हीं नटों में जो कुशल नाट्य-प्रयोक्ता तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला और विद्याओं में पारंगत होता था वही महानट, रंगाचार्य या सूत्रधार होता था।[3] बाद में नाट्य-प्रयोग करने वालों की एक जाति बन गई।

नटी, नाटकीया और नर्तकी

पारिपार्श्विक के अतिरिक्त प्रस्तावना में सूत्रधार के साथ नटी भी प्रायः वर्तमान रहती है। भास के नाटकों (चारुदत्त) में वह सूत्रधार की पत्नी के रूप में है। नटी के प्रति प्रयुक्त संबोधन 'आर्ये' है। 'आर्ये' सम्बोधन पत्नियों के लिए भी प्रयुक्त होता है।[4] उत्तरवर्ती मृच्छकटिक, रत्नावली और मुद्राराक्षस नाटकों की नटी सूत्रधार की पत्नी के रूप में वहाँ प्रस्तुत होती है। वहाँ सूत्रधार ने नटी को 'प्रिये' शब्द से सम्बोधित किया है।[5] इससे अनुमान किया जा सकता है कि सूत्रधार और नटी (एक ही जाति की) नाट्य व्यवसाय करने वाली विशिष्ट जाति के लोग थे, क्योंकि नाट्य-व्यवसाय उनका वंश-परम्परागत गुण हो गया था। पति और पत्नी दोनों ही नाट्य-प्रयोग में एक-दूसरे के सहायक होते थे। हमारी इस कल्पना की पुष्टि स्वयं नाट्यशास्त्र से भी होती है। इसमें सूत्रधार, विदूषक, तौरिक, नट, वेषकर, चित्रकर और रजक आदि विभिन्न

---

१. (क) नाट्यति धात्वर्थोऽयं भूयो नट्यति च लोकवृत्तानाम्।
रसभाव सत्वयुक्तं यस्मात् तस्मात् नटो भवति।
ना० शा० ३५।७३ का० सं० का० भा० ३५।२६।

(ख) वर्णकैः छादिस्तत्र भूषणेश्चाप्यलंकृतः।
गांभीयौदार्य संपन्नः राजवत्तु भवेन्नटः
ना० शा० २४।७३-७६ का० भा० आदि।

(ग) स्वात्मानं तन्मयं कुर्वन्ति ततः कुतपविन्यासाद्रगंप्रणये पेशलम्। कुंम० भरतकोष, पृ० ८६२।

२. दशरूपक १।६ तथा ३।१-५।
लासको नर्तकः प्रोक्तः नटः शैलूष एव च।
स्त्रीजीवी भरत सुतो रंगाचार्यों महानटः॥
हम्मीर-भरतकोष, पृ० ८६२।

३. ना० ल० को० पं० २१८०।

४. चारुदत्त में सूत्रधार और नटी का संवाद, अभिरूप पतिव्रत के सम्बन्ध में।

५. मृच्छकटिक, रत्नावली और मुद्राराक्षस का प्रस्तावना भाग।

शिल्पियों की परिगणना 'भरत' शब्द के अन्तर्गत की गई है।[१] रत्नावली की प्रस्तावना में सूत्रधार अपनी पत्नी से निवेदन करता है कि उसका छोटा भाई ही यौगन्धरायण की भूमिका में प्रस्तुत हो रहा है।[२] अतः सूत्रधार, नटी एवं अन्य विशिष्ट पात्र एक ही जाति के थे और नाट्य-प्रयोग करना उनका वंश-परम्परागत गुण (व्यवसाय) था। नटी सूत्रधार की पत्नी होती थी। फलतः गीत, नृत्य तथा अभिनय-कला में निपुण होती थी। अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना में ही नहीं, चारुदत्त के नाटकों में भी गीत की योजना उसी ने की है। शाकुन्तल में प्रयुक्त उसका गीतराग, अत्यन्त मनोहर है।[३] मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में सूत्रधार ने अपनी पत्नी नटी के सम्बन्ध में उत्तम विचार प्रस्तुत किये हैं।[४] इन प्रमाणों के आधार पर यह तो प्रमाणित हो जाता है कि नटी सूत्रधार की सहानुगा है और उपलब्ध भारतीय नाट्य-साहित्य में भास से भारतेन्दु तक के नाटकों में वह सूत्रधार के साथ वर्तमान रही है। प्रस्तावना के क्रम में प्रयुक्त इन तीन प्रधान पात्रों के अतिरिक्त इसी अध्याय में संभव है नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नाटकीया ही नटी हो। यह वस्त्र, आभूषण और वर्णक आदि से आच्छादित हो भावरस-समन्वित सत्व का (मनोदशा का) अभिनय करती है। नटी, नाटकीया और नर्तकी ये तीनों ही नाट्य-प्रयोग में नाना शिल्पों के ज्ञान, आतोद्य के वादन तथा रूप और यौवन से संपन्न होती हैं। नाटकों की प्रस्तावना में नटी ही प्रस्तुत होती है।[५]

नर्तकी, नाटकीया

रस-भाव-विभाविका, दूसरे का संकेत जानने वाली, चतुरा, अभिनयज्ञा, भाण्डवाद्य लय तालज्ञा, रसानुविद्ध और सर्वांग सुन्दरी नटी नाटकीया होती है।[६] संभव है भरत ने नटी के स्थान पर ही नाटकीया का उल्लेख किया हो। चारुदत्त नाटक में गणिका वसन्तसेना के लिये खलनायक शकार ने, नाटक-स्त्री शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि इसी अध्याय में भरत ने गणिका की पृथक् परिभाषा एवं परिगणना की है।[७] संभव है अभिनय एवं नृत्य में चतुर यह वेश्या भी होती हो अथवा यह भी सम्भव हो कि यह नर्तकी के निकट का शब्द हो। नर्तकी की परिभाषा और व्याख्या करते हुए उसकी मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता—आकर्षक भाव-भंगिमा और शिल्पज्ञान की न जाने

---

१. अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम्। ना० शा० ३५।६६ का० सं०। (गा० ओ० सी०) ३५।२१-४१।

२. ननु अयं मम कवीयान् भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव। रत्नावली की प्रस्तावना।

३. तवास्मि गीतरागेन हारिणा प्रसभं हृतः। अ० शा० प्रस्तावना।

४. गुणवती उपाय निलेयं स्थिति साधिके त्रिवर्गस्य। मुद्रा० रा० प्रस्तावना भाग।

५. ना० शा० ३४।४२-४७ का० सं०।

६. स्वरतालयतिज्ञाश्च तथाऽऽचार्योपसेविकाः।
चतुराः नाट्य कुशलाश्चोहापोह विचक्षणाः।
रूपयौवनसंपन्ना नाटकीयाश्च नर्तकी।
माधुर्येण च संपन्ना ध्यानोघ कुशलास्तथा।
अंगप्रत्यंग संपन्नाः चतुः षष्टि कलान्विताः॥ आदि। ना० शा० ३५।७७ का० सं०।

७. नाटकस्त्री वसन्तसेना नाम गणिका दारिका। चारुदत्त अंक-१।
तथा—अस्यैव कीर्त्यते भार्या लासिका नर्तकी नटी।
सैव रंगमुपारूढा बकाधा रंगनायिका। ना० ल० को० पं० २१८१-८२।

कितनी प्रशंसा की गई है। दशरूपक में उद्धृत नाट्य-शास्त्र के पाठ के अनुसार तो गुण, वय और रूपवती सहस्रों नारियों में नर्तकी-सी कोई भी स्त्री सुन्दर और निपुण नहीं होती।[1]

स्तौतिक (तौरिक)—परिभाषा में तौरिक और परिगणना में स्तौतिक शब्दों का प्रयोग है। सम्भव है स्तौतिक शब्द का विकास स्तुति-मंगलवाचक 'स्तु' धातु से हुआ हो, क्योंकि आरम्भ-कालीन नांदी में मंगलारम्भ के पूर्व में गीत या नृत्य का प्रयोग नितान्त अल्पमात्रा में होता था, केवल स्तुति-वाचन मात्र होता था। इस स्तुति का वाचक ही स्तौतिक रहा होगा। परन्तु तौरिक शब्द की परिभाषा भरत ने 'तूर्य परिग्रहयुक्त' की है। वह तो वाद्यवादन तथा युद्धकला में भी निपुण होता था। वह शूरपति और तूर्यपति भी होता था जिसमें मंगलारम्भ में गायन, वादन और नृत्य की प्रचुरता हो गयी थी।[2] यद्यपि भरत ने नाट्य-प्रयोग में अतिशय गीत-वाद्य एवं नृत्य का प्रयोग निषिद्ध माना है।[3] अतः ये दोनों प्रचलित शब्द नाट्य-प्रयोग की विकासशील विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं। एक में स्तुतिवाचन की ही प्रधानता है तो दूसरे में न केवल तूर्य आदि वाद्यों की ही, अपितु परिग्रहों (शस्त्रों) के प्रयोग की भी प्रधानता है।

नाट्य-प्रयोग के कुछ अन्य शिल्पी

मुकुट-कर प्रयोक्ता पात्रों के लिए मुकुट की रचना करता है। मुकुट-रचना के लिए भी आहार्याभिनय के अन्तर्गत निश्चित विधानों का उल्लेख है। मुकुट का प्रयोग राजा, रानी एवं अन्य राजवंशीय पात्रों के लिए होता है, क्योंकि शिरोवेण के लिए अनेक वेश-भूषा और अलंकारों का विधान किया गया है। उन सबकी रचना यह मुकुटकर ही किया करता था। **आभरण-कृत** द्वारा विभिन्न पात्रों के अंग-प्रत्यंगों की छवि को और भी आकर्षक एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए विविध प्रकार के मनोहारी आभरणों का विधान बहुत विस्तृत रूप में किया गया है। अतः आभरणों का प्रयोक्ता (विशेषज्ञ) आभरण-कृत ही होता था। **माल्य-कृत** फूलों की सुरभित रंग-बिरंगी मालाओं की रचना कर पुरुष एवं नारी पात्रों की शृंगार-सज्जा प्रस्तुत करता था। **वेषकर** पात्रों की वेष रचना करता था।[4] वेश का बड़ा महत्त्व है। कवि-कल्पित पात्र की मनोदशा, वय एवं अवस्था के अनुरूप वेश की रचना होने पर नाट्य-प्रभाव की वृद्धि होती है। अतः **वेषकर** भी नियुक्त रहता था। **चित्रकार** मुख्य रूप से रंगपीठ एवं रंगमंडप की भीतरी भित्तियों पर चित्ररचना करता था। प्रेक्षागृह के विभिन्न भागों के वर्णन के प्रसंग में नाट्यमंडप की सुन्दरता और भव्यता के लिए मनोहारी चित्ररचना का स्पष्ट विधान किया गया है। **रजक** वस्त्रों को रँगता था, क्योंकि विभिन्न रसों के संदर्भ में पात्रों के वेश का भी रंग तदनुरूप परिवर्तित होता रहता था।[5] कारुक रंगमंच के लिए ऐसी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता था, जिसमें

---

१. समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु।
न दृश्यन्ते गुणैस्तुल्या नर्तकी सा प्रकीर्तिता। ना० शा० ३४।४७ का० सं०।
तथा—दशरूपक के परिशिष्ट में उद्धृत नाट्यशास्त्र के पाठानुसार २४।११३ (निर्णयसागर)।

२. शूरपतिस्तूर्यपतिः सर्वातोद्य प्रवादन कुशलः।
तूर्यपरिग्रहयुक्तो विज्ञेयः तौरिको नाम। ना० शा० ३५।७२ का० सं०।

३. कार्यो नातिप्रसंगोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति। ना० शा० ५।१५८ (गा० ओ० सी०) (द्वि० सं०)।

४. ना० शा० ३५ ३३-३५ का० भा०।

५. ना० शा० ३५।८२, का० सं०, का० भा० ३५।३६क।

लाख, लोहा, पत्थर और लकड़ी का प्रयोग होता था। मुख्य रंगमंच की रचना में कारुक का संभवतः सर्वाधिक योग लिया जाता हो। क्योंकि रंगमंडप की रचना में इन वस्तुओं का प्रयोग होता ही है, साथ ही अस्त्र-शस्त्र एवं इसी प्रकार की अन्य अनेक प्रकार की नाट्योपयोगी कृत्रिम सामग्री तैयार की जाती है। कथावस्तु के आग्रह से पात्र उसका प्रयोग करते हैं। इस शब्द का प्रयोग शिल्पकार और कर्मकार के लिए भी प्राचीन भारतीय साहित्य में हुआ है। याज्ञवल्क्य, मनुस्मृति, विद्धशालमंजिका और नैषधीयचरित में इसका उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार कारुक शब्द बहुत व्यापक है, इसके अन्तर्गत काष्ठकर्मी, तन्तुवाय, नापित, रजक और चर्मकार आदि सब परिगणित होते हैं।[1]

कुशीलव वाद्ययन्त्रों की समुचित व्यवस्था तथा उनके वादन में निपुण होता है। आतोद्य विधान और उसके वादन की कुशलता के कारण ही वह कुशीलव के रूप में विख्यात हुआ।[2] कुशीलवों का संबंध राम के युग्मपुत्र वाल्मीकि रामायण के गायक कुशलव से भी है, क्योंकि वे दोनों भी रामायण के परम प्रसिद्ध गायक थे। परन्तु नाट्यकला और प्रयोग के ह्रास के साथ ही इन नटों और गायकों का भी सामाजिक दृष्टि से घोर पतन हुआ और उनका नाम 'कुशीलव' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] प्राचीन भारतीय नाटकों में कुशीलव का उल्लेख सदा प्रस्तावनाओं में किया गया है और वहाँ हीन भावना का कोई संकेत नहीं मालूम पड़ता है। मालतीमाधव और वेणीसंहार में कुशीलव शब्द का उल्लेख है। निःसंदेह गायन और वादन में कुशल होने के कारण नाट्य-प्रयोग में इनका बड़ा महत्त्व था।[4]

इस विवेचना से भरत की शास्त्रीय दृष्टि का ही नहीं अपितु उनकी सूक्ष्म प्रयोगात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। नाट्यशास्त्र में इन प्रयोक्ताओं के लिए एक सामान्य नाम 'भरत' शब्द का प्रयोग किया गया है।[5] इसके अन्तर्गत सूत्रधार से लेकर रजक तक लगभग अठारह प्रकार के विभिन्न शिल्पियों की परिगणना एवं उनके कार्य-व्यापार का उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रत्येक अपने-आप में स्वतंत्र है तथा जिसकी कला के योग के बिना नाट्य-प्रयोग के सफल होने की संभावना नहीं की जा सकती। वेषकर नहीं हो तो पात्र के वय, सामाजिक और मानसिक अवस्था के अनुरूप प्रभावोत्पादक वेश-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। कारुक यदि नहीं तो नाट्य-प्रयोग में प्रयुक्त प्रभूत सामग्री का उचित उपयोग ही नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र में परिगणित प्रत्येक शिल्पकार नाट्य-प्रयोग को जीवन, रस और शक्ति प्रदान करता है। अतएव भरत ने उन प्रधान प्रयोक्ता शिल्पियों की परिगणना की है, अन्यथा रंगमंडप की रचना तथा

---

१. ना० शा० ३५।८३ का० सं०।
   (क) कारुभिः कारितं तेन कृत्रिमं स्वप्नहेतवे। विद्धशालमंजिका १,१३।
   (ख) नैषधीय चरित १,३८।
   (ग) याज्ञवल्क्यस्मृति २।२४६।
   (घ) मनुस्मृति ५।१२६, १०।१२।
२. ना० शा० ३५।८४, का० सं०, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, विलियम, पृ० २६७।
३. मनुस्मृति ८, ६५, १०२, अमरकोष पं० १६५२-५३।
४. तत्सर्वे कुशीलवाः संगीतप्रयोगेन मत्समीहित संपादनाय प्रवर्तताम् मा० मा० प्रस्तावना।
   तत्किमिति नारंभयसि कुशीलवैः सहसंगीतकम्। वेणीसंहार प्रस्तावना।
५. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम्। ना० शा० ३५।२० का० भा०।

आहार्याभिनय के प्रसंग में जितना विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे नाट्य-मण्डप में नाट्य-प्रयोग के लिए जितनी विविध सामग्री और विभिन्न शिल्पियों के योग की आवश्यकता पड़ती है, उसकी परिगणना अत्यन्त श्रमसाध्य है। परन्तु नाट्य-मण्डप, आहार्य-विधि तथा प्रयोक्ता पात्रों की परिगणना के द्वारा भरत ने नाट्य के प्रयोग-पक्ष को प्रयोक्ताओं के लिए बड़ा ही सुगम बना दिया है। इनके अतिरिक्त भरत ने गणिका, शिल्पकारिका, शकार, विट और विदूषक आदि लोक-प्रिय पात्रों की भी परिगणना की है, जिनके संबंध में हमने अन्यत्र विचार किया है।[1]

परवर्ती आचार्यों की विचार-धारा

नाट्य-प्रयोग की ऐसी व्यापक दृष्टि का परिचय भरत के परवर्ती आचार्यों ने नहीं दिया। यह तो स्पष्ट ही है कि इन आचार्यों और भरत की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भरत शास्त्र-कार और प्रयोक्ता दोनों ही थे और ये आचार्य मात्र शास्त्रकार थे। अत: इनकी दृष्टि प्रयोग की ओर नहीं गई है। धनंजय, शारदातनय, सागरनंदी, आचार्य विश्वनाथ और शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने परंपरागत पात्रों के संबंध में विचार किया है, प्रयोक्ता पात्रों के संबंध में नहीं, या किंचित् ही। इन प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, परिपार्श्विक और स्थापक आदि परंपरागत प्रयोक्ता पात्रों का उल्लेख इन सब ग्रन्थों में है, परन्तु नेपथ्यभूमि में रहकर नाट्य-प्रयोग को प्राण-रस से पुष्ट करने वाले उन विभिन्न पात्रों का कोई विवरण नहीं है। दशरूपककार धनंजय की परंपरा में ही आचार्य विश्वनाथ ने रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले परंपरागत पात्रों के क्रम में सूत्रधार, परिपार्श्विक, संस्थापक और कुशीलव आदि का विवेचन किया है। प्रयोगात्मक दृष्टि न होने के कारण भरत की व्यापक पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है। अतएव अन्य नाट्य-प्रयोक्ताओं की परिगणना इन दोनों नाट्य-ग्रन्थों में नहीं है।[2] इस दृष्टि से सागरनंदी के नाटक लक्षण रत्नकोष में किंचित् उपयोगी सामग्री इस संबंध में प्रस्तुत की गई है। उनका प्रेरणा-स्रोत भी भरत का नाट्यशास्त्र ही है। उन्होंने नाट्य-प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, परिपार्श्विक के अतिरिक्त काव्य-प्रस्थापक (संस्थापक), नर्तक, नट (शैलूष), भरतसुत (स्त्रीजीवी) और रंगाचार्य (महानट) तथा इन्हीं की पत्नी क्रमश: लासिका, नर्तकी और नटी का उल्लेख किया है। रंगाचार्य की पत्नी ही अथवा इनमें से कोई नायिका की भूमिका में अवतरित होने पर रंगनायिका होती है।[3] परन्तु नाम-परिगणना की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो नाटक लक्षण रत्नकोष में परिगणित नामों में कुछ ऐसे ही पात्रों की परिगणना की गई है, जो प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत होते हैं।

अत: भरत की-सी व्यापकता इसमें भी नहीं है। शिंगभूपाल ने भी परंपरागत नायकों के सहायक पीठमर्द, चेट, विट और विदूषक तथा स्त्री पात्रों में, नायिकाओं की सहायिकाओं या दूती के रूप में चेटी, लिंगिनी, प्रतिवेशिनी, धात्रेयी, शिल्पकारी, कुमारी, कथिनी, कारु और विप्रशिनका का उल्लेख किया है। कारु शिंगभूपाल की दृष्टि में रजकी होती है और शिल्पकारी

---

१. ना० शा० ३५; पादटिप्पणी, पृ० ६५५, का० मा० सं०।

२. द० रू० ३।२१; सा० द० ३।४०-६०।

३. लासको नर्तकः प्रोक्तः नटः शैलूष एवच ।
स्त्रीजीवी भरतसुतो रंगाचार्यो महानटः ॥ ना० ल० को० २१६०-२१८५।

वीणावादिनी। परन्तु इनका उल्लेख नायिकाओं की सहायिका के रूप में यहाँ है।[1] भावप्रकाशन में शारदातनय ने प्रयोक्ताओं के संबंध में अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ विचार किया है। परन्तु शारदातनय ने नाट्य के प्रयोक्ता के स्थान पर संगीतशास्त्र के प्रयोक्ताओं के नामों की परिगणना की है। इन प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, नट, नटी, परिपार्श्विक, कुशीलव, विदूषक के सहित अन्य नाट्य-प्रयोक्ता, शैलूष और भरत आदि हैं। इस नामावली से यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें ऐसा एक भी नाम नहीं है जो मात्र प्रयोक्ता हो, पर रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाला पात्र नहीं हो।[2]

अतः हमारा मन्तव्य इस संबंध में यही है कि भरत की-सी व्यापक प्रयोग-दृष्टि परवर्ती किसी आचार्य ने नहीं अपनायी और इसीलिए रंगमंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत होने वाले पात्रों के अतिरिक्त अन्य प्रयोक्ताओं के संबंध में कोई विवरण नहीं प्रस्तुत किया।

नाट्य-प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थिति

नाट्य-प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थिति के संबंध में प्राचीन भारतीय साहित्य में पर्याप्त परस्पर-विरोधी विवरण प्राप्त होते हैं। रामायण, पुराण, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं उपलब्ध प्राचीन भारतीय नाटकों में इस संबंध की प्राप्त सामग्री में नाट्य-प्रयोक्ताओं के सामाजिक उत्थान और पतन का जीता-जागता इतिहास ही मानो चित्रित है। वस्तुतः इन प्राप्त विवरणों के विश्लेषण से नाट्य-प्रयोक्ताओं के सामाजिक ह्रास और उन्नति दोनों का परिचय मिलता है।

नाट्यशास्त्र में प्राप्त पौराणिक आख्यान इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। उक्त आख्यान के अनुसार भरत (नाट्य-प्रयोक्ता) नाट्य-प्रयोग के क्रम में विनोद-सृजन के लिए ऋषि-मुनियों का भी उपहास करने लगे और उन्होंने क्रोध में उन्हें अभिशापित किया कि वे शूद्राचार तथा निर्ब्राह्मण हो अपना हीन जीवन बिताएँगे, वंश अपवित्र हो जाएगा तथा वे नर्तकों का हीन व्यवसाय करेंगे।[3] इन्हीं अभिशापित भरत-पुत्रों ने ही नहुष का अनुरोध स्वीकार कर पृथ्वी पर नाट्य-प्रयोग का समारंभ किया। काणे महोदय की, इस संदर्भ में, यह कल्पना है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम से पाँचवें अध्याय तक का अंश भरतों (नटों, नाट्य-प्रयोक्ताओं) को निकृष्ट जीवन से उत्कृष्ट जीवन की ओर उत्थान का एक विराट् प्रयास है। इन अध्यायों में 'नाट्य' यज्ञ के रूप में परिणत हो जाता है और 'ब्रह्मोद्भव' तथा वेद-प्रसूत पंचम वेद के रूप में प्रस्तुत होता है।[4]

पातञ्जल महाभाष्य में नाट्य-प्रयोक्ताओं की हीन सामाजिक दशा का बहुत स्पष्ट विवरण हमें मिलता है। पतंजलि ने यह कल्पना की है कि 'आख्याता' शब्द का प्रयोग वेदादि शास्त्रों के अध्यापक के लिए हो सकता है, न कि नाट्य-विद्या की शिक्षा देने वाले ग्रन्थिक या नट के लिए, जो रंगमंडप में विभिन्न भूमिकाओं के लिए पात्रों से अभ्यास करवाते हैं, क्योंकि

१. शिंगभूपाल, र० सु० १।८६-६३।
२. भा० प्र० १०; श्र० पृ० २८८, पं० १-२, ३-४, १८-२०।
३. निर्ब्राह्मणो निराभूतः शूद्राचारो भविष्यति।
यश्च वा भवतां वंशः स चांशौचोभविष्यति॥ ना० शा० ३६।३४-३५ (का० मा०)।
४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० २२ (पी० वी० काणे)।

यह प्रकृष्टतर उपयोग नहीं है। प्रकृष्टतर उपयोग तो ग्रंथ और अर्थ का हो सकता है।[1] संभव है पतंजलि के काल में नाट्य-विद्या का पूर्णतया परिणत शास्त्र नहीं तैयार हुआ हो या नटों के आचरण संबंधी दुर्बलताओं के कारण नाट्य-विद्या का वह ऊँचा स्थान विद्वानों के बीच नहीं बना रह सका।

महाभाष्य के एक अन्य संदर्भ के अनुसार नटों की पत्नियों (नटियों) का चरित्र निर्दोष नहीं होता है, वे पर-पुरुषों के साथ भी स्वर और व्यंजन की तरह हिल-मिल जाती हैं।[2]

वस्तुतः भारत का प्राचीन साहित्य (धार्मिक) नाट्य-प्रयोक्ताओं और उनकी पत्नियों के चरित्र को संदेह की दृष्टि से देखता रहा है। निर्वासन काल में राम सीता को साथ नहीं ले जाना चाहते थे, अतः सीता ने कठोर शब्दों में राम की भर्त्सना की है कि वे अपनी चिर-संगिनी युवती पत्नी को शैलूष (नट) की तरह दूसरे को सौंपकर बन जाना चाहते हैं।[3]

अर्थशास्त्र में नाट्य-मंडलियों के चरित्र को ही दृष्टि में रखकर ग्राम में विनोद-स्थान, प्रेक्षणशाला और सैर-सपाटे के बाग-बगीचों के निर्माण का निषेध किया है, क्योंकि ग्रामवासियों के सीधे-सादे जीवन में नट, नर्तक, गायक और कुशीलव आदि विघ्न उपस्थित करते थे।[4]

मनु और याज्ञवल्क्य नटों के प्रति समाज के आकर्षण से संभवतः परिचित थे। मनु ने नट-व्यापार को अनुचित मानते हुए ब्राह्मणों द्वारा नट-प्रदर्शन का निषेध किया है। नटों की पत्नियों की सामजिक मर्यादा उनकी दृष्टि में नितान्त नगण्य थी। समाज के अन्य पुरुषों का उन नटी स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध होने पर भी उसके लिए बहुत ही हल्का दण्ड देने का विधान है। क्योंकि वे नट अपनी पत्नियों के रूप और सौन्दर्य को बेचकर धनोपार्जन करते थे और अपनी पत्नियों को अन्य पुरुषों से संपर्क रखने के लिए उत्साहित करते थे, इसलिए नट, कुशीलव और भल्ल आदि के साथ संपर्क का सर्वथा निषेध किया है। नाट्य-प्रयोग और दारू कर्म (बढ़ईगिरी) करने वाले ब्राह्मणों की परिगणना उन्होंने शूद्रों की श्रेणी में की है। नटों को किसी भी वस्तु की प्रामाणिकता के लिए साक्षी के रूप में स्वीकार नहीं करते। इन पात्रों द्वारा प्रस्तुत आतिथ्य

---

१. पातंजल महाभाष्य, आख्यातोपयोगे पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्र पर।
यदारम्भका रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रंथिकस्य श्रोष्यामः।
एवं तर्हि उपयोग इत्युच्यते। सर्वश्चोपयोगः तत्र प्रकर्षमितिविज्ञास्यते,
यश्च साधीय उपयोगः। कश्च साधीयः? यो ग्रंथार्थयोः।
अर्थोपयोगः को भवितुमर्हति। यो नियमपूर्वकः तद्यथा उपयुवता
भाणवका इत्युच्यते य एतं नियमपूर्वकमधीतवन्तां भवन्ति। १।४२६।
तथा—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३६, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।
पतंजलिकालीन भारत, पृ० ५००, डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री।

२. व्यंजनानि पुनः नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रिय रंगंगना योयः पृच्छंति कस्य यूयम् कस्ययूयम् इति तंतंतव तवेत्याहुः। पातंजल महाभाष्य ६, १, १३ सूत्र पर भाष्य।

३. स्वयं तु भार्यां कौमारी चिरमध्युषितां सतीम्।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि। वा० रा० २।३०-८।

४. अर्थशास्त्र—अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, पृ० ५३।

ब्राह्मणों के लिए स्वीकार योग्य नहीं होता।[1] मनु के इस विधान का समर्थन चारुदत्त और मृच्छकटिक की प्रस्तावनाओं से होता है। सूत्रधार द्वारा अनुरोध करने पर भी विदूषक (ब्राह्मण) उसका निमंत्रण अस्वीकार कर देता है।[2] विष्णुस्मृति में नाट्य-प्रयोक्ता नटों को 'आयोगव' शब्द से संबोधित किया गया है क्योंकि वे वर्णसंकर होते थे। ये शूद्र और वैश्य स्त्रियों के संपर्क से उत्पन्न हुए थे।[3] रूपाजीव' और 'जयाजीव' ये दो शब्द इन नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए प्रचलित थे। इससे एक ओर उन प्रयोक्ताओं की हीन सामाजिक स्थिति का संकेत होता है, दूसरी ओर यह भी कल्पना की जा सकती है कि स्त्री पात्रों की भूमिका में प्रायः रूपजीवा वेश्यायें अवतरित होती थीं। चारुदत्त नाटक की वसन्तसेना नाटक-स्त्री है।[4] नाटक लक्षण रत्नकोष में भरत-सुत के लिए 'रंगजीवी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[5]

शान्तिपर्व में शूद्र को यह स्वतंत्रता दा गई है कि रंगमंडप के अन्य कार्यों के अतिरिक्त वह स्त्री का भी तदनुरूप अभिनय संपादित कर सकता है।[6] नट निम्नश्रेणी का होता था और उसकी परिगणना समाज के सबसे निकृष्ट अन्यजों की श्रेणी में की गई है।[7] संभवतः इसी सामाजिक हीनता को दृष्टि में रखकर आपस्तम्ब सूत्र में नाट्य, सभा एवं समाज आदि के प्रदर्शन में पात्रों के लिए भाग लेना सर्वथा निषिद्ध माना गया है।

नटों की खोई हुई सामाजिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के आरंभिक पाँच अध्यायों की रचना हुई। इन अध्यायों में नाट्य-विद्या और उसके प्रयोग कोपवित्र धार्मिक अनुष्ठान और 'चाक्षुष-यज्ञ' की मर्यादा देकर बहुत ही ऊँचे सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित किया।[8]

भरतों और नटों का पतन धार्मिक और नैतिक कठोरता के कारण ही नहीं हुआ। भारत के राजनीतिक पतन के उपरान्त नाट्य-प्रयोक्ता निराश्रित हो भटकने लगे, फलतः नाट्यकला और उसके प्रयोक्ता उत्तरोत्तर बिखरते गये। अभी भी उत्तर भारत के गाँवों में नट शारीरिक कलाबाजी और आल्हा-ऊदल के जोशभरे गीत गाकर अपना जीवन-यापन करते हैं और उनकी पत्नियाँ (नटिनियाँ) द्वार-द्वार गीत गाकर अपना पेट पालती हैं और फसल के दिनों में यौवन और प्रेम के रंगभरे गीत गाकर अन्न उपार्जन करती हैं। इनकी बोली पछाँही होती है। दूसरी ओर पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तर बिहार के बहुत-से गाँवों में भाटों की बहुत बड़ी आबादी अभी भी स्तुति और वंदना के गीत गाकर अपना जीवन-यापन करती है। इनमें बहुतों ने दो-एक सदी पूर्व इस्लाम मत स्वीकार कर लिया था। बाद में बहुत-से भाट पुनः हिन्दू हो गए। इन नटों और भाटों का संबंध भरतों और नटों से रहा हो, यह कहना कठिन है। परन्तु नाट्य-शास्त्र के अनुसार भरतों का पतन हुआ था यह निश्चित है। यह अनुसंधान का महत्त्वपूर्ण विषय है कि ये नट और भाट भरतों की उस परंपरा को, विकृत रूप में ही सही, जीवित रखे हुए हैं। मुजफ्फरपुर में

१. मनुस्मृति ८।१०२, ३६२, ६५, १०-२२, १२।४५, याज्ञवल्क्य, २।५, ७० ७१।
२. चारुदत्त और मृच्छकटिक का प्रस्तावना-भाग।
३. विष्णुस्मृति १६।३, ८।
४. अमरकोष पं० ११११ तथा चारुदत्त अंक १।
५. ना० ल० को स्त्रीजीवी भरतसुतः पं० २१८५।
६. रंगावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्। महाभारत शान्तिपर्व २६५।४-५।
७. हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ७०, ८४ तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र १, १, ३, ११-१२।
८. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३२, पी० बी० काणे।

भरथुआ[1] ग्राम अभी भी है और वे प्राचीन बंदी-जनों की तरह स्तवन एवं गायन का पेशा करते हैं। ये भाट भट्टों के उत्तराधिकारी मालूम पड़ते हैं, भरतों के नहीं। भरत का पर्यायवाची शब्द नट है, भाट नहीं। 'भर' शब्द भट्ट एवं 'थुआ' शब्द प्राचीन भारोपीय 'स्तूप' शब्द से विकसित हुआ हो। ऐसे गाँवों के इतिहासों में प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति के बहुत से महत्त्वपूर्ण सूत्र खोए हुए हैं जिनके अनुसंधान की आवश्यकता है।

भारतीय साहित्य में नाट्य-विद्या और नाट्य-प्रयोक्ताओं के सम्मान और मर्यादा के भी विवरण उपलब्ध हैं। आरंभिक बौद्ध-साहित्य में समाजों का निषेध किया गया है। परन्तु विरोध का यह स्वर उत्तरोत्तर मंद ही नहीं पड़ता गया अपितु नाट्य-विद्या और प्रयोग को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने लगता है। 'ललित विस्तर' और 'अवदान शतक' में इस सम्बन्ध की रोचक कथाएँ मिलती हैं। भगवान् बुद्ध का जीवन अंकित करने के लिए नाट्याचार्य स्वयं बुद्ध बनता है और अन्य नट भिक्षु-वेष में अवतरित होते हैं।[2] यही नहीं, स्वयं तथागत भी अन्य अनेक कलाओं के साथ नाट्य-नृत्य और संगीत आदि कलाओं में भी निपुण हैं।[3] बौद्धधर्म आरंभ में इन रागमूलक कलाप्रवृत्तियों का विरोधी था परन्तु बाद में उस धर्म के प्रवर्तक को ही उस नाट्यकला में निपुण रूप में चित्रित किया गया है। स्मृति एवं धर्म-ग्रन्थों में जो विरोध है, वह उनकी नीतिवादिता और आचरण की शुद्धता के कठोर आदर्श के कारण ही। अतः धर्म एवं नीतिमूलक साहित्य में तो विरोध है, परन्तु जातीय जीवन का जो विशाल साहित्य विकसित हो रहा था उसमें नाट्य-कला और प्रयोक्ताओं को सम्मान का पद प्राप्त था। नाट्यशास्त्र-प्रणेता 'भरत' मुनि के रूप में समादृत हैं। नाट्य-विद्या से संबंधित सब विषयों के प्रवर्तक भरत ही माने जाते हैं। 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाट्य के प्रवर्तक वही माने जाते हैं। दिव्य अप्सरा उसमें लक्ष्मी का अभिनय रूपायित करती है। इस प्रकार नाट्य-विद्या का सम्बन्ध वेदों, ब्रह्मा और भरतमुनि से और प्रयोग का संबंध विष्णु, शिव-पार्वती, इन्द्र एवं दिव्य अप्सराओं तथा भरतमुनि के सम्मानित पुत्रों से है।[4] नाट्य-प्रयोक्ता पात्र राजाओं और श्रेष्ठ कवियों के रूप में भी चित्रित हुए हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में वर्णित अपने मित्रों में नटों और नटियों के नामों की परिगणना की है। भर्तृहरि ने

---

१. भरथुआ शब्द का पूर्वार्द्ध तो भाट शब्द का रूपान्तर है। भट्ट-भट-भड़-भर। भांटों के कई गाँव में भर शब्द मिलता है। जैसे भरौली (भट्टपल्ली), भरौरा (भट्टपुरा), परन्तु थुआ शब्द का मूलरूप अटकल का विषय है। बहुत पुरा 'स्तुप' धातु सारी भारोपीय भाषाओं में मिलता है। स्तूप उसी से बना है। पुराना अर्थ टीला रहा होगा। उसे ही इसका पूर्वरूप मानने को मैं नहीं कहता, क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन कभी-कभी भ्रामक व्युत्पत्ति की ओर ले जाता है।...बहरहाल भरथुआ का तात्पर्य भाटों के गाँव से है। भरताः से इसका संबंध नहीं जान पड़ता। भरतपुत्र नट होते हैं, भाट नहीं।
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी से पत्राचार के आधार पर : चंडीगढ़, २।११।६४

Tribes and Castes in North Oudh—W. Crooke, p. 20.

२. अवदानशतकम्, पृ० १८७।

३. काव्यकरणे—वीणायां वाद्ये नृत्ये गीते पठिते आख्याने, हास्ये, लास्ये, नाट्ये विडम्बिते—सर्वत्र बोधिसत्व एवं विशिष्यतेस्म। ललितविस्तर पृ० १०८।

४. (क) ना० शा० प्रथम अध्याय
(ख) मुनिना भरतेन यः प्रयोगः, अंक २।१७
लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमाना उर्वशी—विक्रमोर्वशी, अंक ३।

वैराग्यशतक में इन नाट्य-प्रयोक्ताओं और राजाओं की मित्रता का उल्लेख किया है।[1]

मालविकाग्निमित्र के प्रथम एवं द्वितीय अंकों में प्रयोक्ता पात्रों और नाट्याचार्यों की महत्ता का प्रतिपादन है। रानी धारिणी की बहन मालविका संभ्रान्त राजपरिवार की कन्या होने पर भी नृत्य और अभिनय की शिक्षा पाती है। नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास को राजा द्वारा उचित सम्मान प्राप्त है। प्राश्निक पद पर अधिष्ठित परिव्राजिका के लिए राजा और रानी दोनों के हृदयों में सम्मान का भाव है। यही नहीं, गणदास के शब्दों में नाट्यविद्या 'चाक्षुष क्रतु' (नयनों का यज्ञ) है, स्वांग या नकल मात्र नहीं। शिव और पार्वती की प्रेरणा से इस महनीय कला का उद्भव हुआ है।[2]

रत्नावली में सम्राट् श्रीहर्ष के पादपद्मोपजीवी नानादिग्—देशागत, राजसमूह ने सूत्रधार के लिए 'सबहुमान' जैसे आदरसूचक शब्द का प्रयोग किया है।[3] भवभूति ने महावीरचरित तथा मालती-माधव में नाट्य-प्रयोक्ताओं के साथ अपनी मित्रता का उल्लेख किया है।[4] भवभूति जैसे शिष्ट और सुसंस्कृत नाटककार की मैत्री जिन नाट्य-प्रयोक्ताओं से रही होगी, निश्चय ही धर्म-सूत्र, स्मृति-ग्रंथ एवं अर्थशास्त्रों में निषिद्ध सामान्य नटों की अपेक्षा, वे शिक्षा और संस्कार में कहीं अधिक संभ्रान्त होंगे। हरिवंशपुराण में 'रामायण नाटक' और कौवेररमाभिसार' का प्रद्युम्न यदुवंशियों द्वारा प्रयोग नाट्यकला और उसके प्रयोक्ताओं की मर्यादापूर्ण सामाजिक अवस्था का परिचायक है।[5] कालिदास एवं अन्य नाटककारों की प्रस्तावनाओं में 'नाट्य-प्रयोग-विज्ञान' की शिक्षा और अभ्यास पर जैसा बल दिया गया है[6], उससे भी यह प्रमाणित होता है कि पतंजलि के बाद लौकिक विद्या और कला के रूप में इसका सम्मान उत्तरोत्तर बढ़ा और अन्य विधाओं की भाँति इसके अध्ययन-अध्यापन की शास्त्रीय परंपराओं की स्थापना और समृद्धि हुई। यों पाणिनि के पूर्व भी इन नट-सूत्रों की परिगणना वैदिक चरणों के अन्तर्गत हो रही थी।[7]

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्य-विद्या (वेद) और प्रयोग की इसी महत्ता को दृष्टि में रखकर (नाट्य-) कवि द्वारा नाट्य की रचना, प्रयोक्ता द्वारा नाट्य-प्रयोग और सामाजिक द्वारा प्रयोग का प्रेक्षण तीनों को ही वर्जनीय नहीं माना है, क्योंकि नाट्यविद्या तो नट के लिए वेद स्वरूप है, उसका धर्म है, अतः उपादेय है। कवि तो अपने हृदय-मन्दिर में उदित प्रतिभा-रूप वाग्देवी के अनुग्रह से ही अपूर्व एवं विलक्षण नाट्य की रचना प्रजापति की तरह

---

१. पुस्तकृत् (लेपरचना) कुमारदत्तः, लासकयुवाताण्डविकः, शैलालियुवा शिखण्डकः नर्तकी हरिणिका। हर्षचरित उच्छ्वास १, पृ० ४२, वैराग्यशतक ५६।

२. मालविकाग्निमित्र अंक, १।४।...शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। रुद्रेणेदमुमाकृत व्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।

३. अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय—रत्नावली प्रस्तावना-भाग।

४. भवभूतिनामा जातुकर्णीपुत्रः कविः निसर्ग सौहृदेन भरतेषु स्वकृतिमेवं प्रायगुण भूयसीमस्माकमर्पितवान्। मालतीमाधव प्रस्तावना-भाग। महावीरचरित प्रस्तावना-भाग।

५. हरिवंश, विष्णुपर्व ९३। रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्य नाटकं कृतम्। रमाभिसारं कौवेरं नाटकं ननृतु ततः। ९३।६-६२।

६. आपरितोषाद् साधु न मन्ये प्रयोगविज्ञानम्। अ० शा० प्रस्तावना-भाग।

७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३०। वासुदेवशरण अग्रवाल।

करता है। सामाजिक को गाने-नाचने का उपदेश नहीं दिया जाता है। अपितु स्वभावतः सुन्दर विषयों के रसास्वादन में प्रवृत्त वेदादि (नीरस) शास्त्रों से भयभीत सामाजिक के लिए मनोमुग्धकारी नाट्य-प्रयोग की परिकल्पना की गई है। इस मनोविनोद के साथ ही सहज रूप से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों साधनों का भी वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[1]

भरत ने तो नाट्य को वेद का सम्मान देकर यह प्रतिपादित किया है कि नाट्य-वेद का जो अध्ययन एवं प्रयोग करता है, उसे वही पुण्य प्राप्त होता है जो वेद-ज्ञाता, यज्ञानुष्ठाता और दानशील को प्राप्त होता है।[2]

नाट्य प्रयोक्ताओं की परिगणना एवं परिभाषा में विभिन्न व्यवसायियों और शिल्पियों की परिभाषाएँ दी गई हैं। उनके लिए कहीं भी निन्दात्मक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है अपितु उनकी गुण-गरिमा का अत्यन्त भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। सूत्रधार तो सब गुण आगर होता ही है, पर वह राजवंश प्रसूतिमान् भी होता है।[3]

अतः नाट्यशिल्पियों के सामाजिक जीवन का इतिहास उत्थान-पतन के संघर्षों से भरा है। वे अपने सामाजिक जीवन में उठे भी हैं और गिरे भी हैं। पर नाट्यकला के पुनरुत्थान के लिए ही सदा जीते-जागते रहे हैं। हीन सामाजिक जीवन के सदियों से शिकार रहे हैं और अन्ततः वह जाति भी प्राचीन भारत के रंगमंचीय गौरव के साथ विस्मृति में विलीन हो गई। भरतों की वह परंपरा लुप्तप्राय है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि नाट्यशास्त्र की मूल पांडु-लिपियाँ प्रायः दक्षिण भारत में मिलीं, उत्तर भारत में नहीं।

न तथा गन्धमाल्येन देवाः तुष्यंति पूजिताः।
यथा नाट्य प्रयोगस्यैः नित्यं तुष्यंति मंगलैः॥

१. एतेन 'कामजो दशको गुणः' (मनुस्मृति—७·४७) इति जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपदेयतेति केचिदाशशंकिरे तदयुक्तीकृतम्। याज्ञवल्क्यस्मृति पुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात्। तथा हि नटानां तावेदतत्स्व धर्माम्नाय रूपतयाऽनुष्ठेयमेव। अ० भा० भाग १, पृ० ३-४ (द्वि० सं०)।

२. य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं महात्मना।
कुर्यात् प्रयोगं यश्चैवं तथाऽधीयीत वानरः।
या गतिः वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम्।
या अतिदानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तुसः। ना० शा० अ० ३६।७४-७५ का० सं०।

३. प्रमाणचरितश्च राजवंश प्रसूतिमान्— ना० शा०, पृ० ६५५ का० भा०।

११

सिद्धि-विधान

सिद्धि-विधान की परम्परा

नाट्य-प्रयोग का प्रधान लक्ष्य है प्रेक्षक के हृदय में आनन्द-रस का उद्बोधन। वह तभी हो पाता है जब वह प्रयोगसिद्ध हो।[1] उसकी इस सिद्धि के निर्धारण के लिए भरत ने निश्चित मान-दण्डों की स्थापना सिद्धि-विधान में की है। इसके अन्तर्गत सिद्धि के भेद और आधार, उसका संकेत करने वाली सात्त्विक और आंगिक प्रक्रियाएँ, सिद्धि के लिए नाट्य-मंडलियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा, पारितोषिक प्रदान की प्रणाली, सिद्धि के मार्ग में नाना-विध बाधाएँ, सिद्धि के निर्णायक सहानुभूतिशील प्रेक्षक एवं गुण-दोष-विवेचक प्राश्निक आदि की क्षमता के सम्बन्ध में तात्त्विक विचारों का आकलन किया है। वस्तुतः भरत का सिद्धि-विधान नाट्य-प्रयोग का चरम उत्कर्ष है, उनकी प्रयोगात्मक नाट्य-दृष्टि की चरम परिणति इसमें होती है।

नाट्य-प्रयोग में सफलता की उपलब्धि के लिए नाट्य-मंडलियों में परस्पर संघर्ष होता था। वे प्रेक्षकों के परितोष और अपने नाट्य-प्रयोग के लिए पुरस्कार-प्राप्ति की दिशा में सचेष्ट रहते थे। इसका विवरण प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम एवं द्वितीय अंक इस दृष्टि से विशेष रूप से उपादेय हैं। भरत-निरूपित सिद्धि-विधान का वह प्रयोगात्मक स्थल ही है। नाट्य-प्रयोगगत सिद्धि की समस्याओं का नाट्यशास्त्र में जितने विस्तार से विचार किया है, वे सब समग्रता के साथ प्रयोग रूप में यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तररामचरित, मालतीमाधव और वेणीसंहार आदि नाटकों की प्रस्तावनाएँ भी इस दृष्टि से विबेचन के लिए आधार प्रस्तुत करती हैं। इनमें सूत्रधार अपने नाट्य-प्रयोग द्वारा प्रेक्षक को परितुष्ट करने की अपनी लालसा स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है। इन नाटकों में ही

---

१. यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थं संप्रदर्शितः, ना० शा० २७।१ख।

नहीं अपितु हरिवंश पुराण जैसे पौराणिक तथा अवदानशतक जैसे बौद्ध ग्रन्थ में भी नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के लिए पारितोषिक-प्रदान का विवरण मिलता है।[1]

सिद्धि का स्वरूप और प्रकार

नाट्य-प्रयोग की सिद्धियाँ भरत के मत से दो प्रकार की होती हैं—दैवी और मानुषी। ये दोनों सिद्धियाँ आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के लोक एवं शास्त्र की परंपराओं पर आश्रित होती हैं। नाट्य-प्रयोग के सफल होने पर प्रेक्षकों और प्राश्निकों के हृदय में प्रसन्नता का उदय होता है, उसका प्रकाशन अनेक रूपों में होता है। आनन्द-प्रदर्शन की विविध प्रक्रियाओं का वर्गीकरण भरत ने किया है।[2]

मानुषी सिद्धि के रूप

मानुषी सिद्धि मुख्यतः प्रसन्नताबोधक स्थूल संकेतों पर आधारित होती है। प्रेक्षक अपनी वाणी एवं शरीर से प्रसन्नता का प्रकाशन करते हैं। इसीलिए इसके दो भेद हैं—वाङ्मयी और शारीरी।

वाङ्मयी सिद्धि

वाङ्मयी सिद्धि के निम्नलिखित छः भेद हैं—

स्मित, अर्द्धहास, अतिहास, साधु, अहो, कष्टम् तथा प्रवृद्ध नाद।

पात्र द्वारा शिष्ट रसमय हास्य का प्रयोग होने पर प्रेक्षक के मुख पर मन्दहास्य की रेखा अंकित होने पर **स्मित** होता है। अस्पष्ट हास्य या अस्पष्ट वचनों के प्रयोग होने पर प्रेक्षक का अस्पष्ट रूप से हँसना **अर्द्धहास्य** होता है। विदूषक की विकृत आंगिक चेष्टा या उपहासास्पद नेपथ्यज विधियों के कारण **अतिहास** होता है। धर्मयुक्त कार्यों का अभिनय अत्यन्त उत्तम रीति से होने पर प्रेक्षक परितोष व्यक्त करने के लिए **साधु** शब्द का उच्चारण करते हैं। स्वभाव-सिद्ध शृंगार, वीर या अद्भुत आदि रसों का अभिनय उत्तम रीति से होने पर प्रेक्षक आत्मपरितोष को **अहो-अहो** आदि भावावेशपूर्ण शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं। करुणरस के प्रयोगकाल में प्रेक्षक सास्र-नयन हो **कष्टम्** शब्द के द्वारा प्रयोग के प्रति परितोष प्रकट करता है। प्रयोग में विस्मय भाव का प्रकाशन होने पर प्रेक्षक द्वारा गम्भीर उच्चस्वर में प्रशंसा प्रकट करने पर **प्रवृद्धनाद** होता है।[3]

शारीरी सिद्धि

पात्रों के उत्तम अभिनय के प्रति शारीरिक प्रतिक्रियायों द्वारा भी प्रेक्षक आत्म-परितोष प्रकट करते हैं। उनके भी तीन प्रकार हैं—सरोमांचपुलक, अभ्युत्थान और चेलांगुलीदान। नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में जब पात्र परस्पर अपमानजनक संवाद द्वारा एक-दूसरे को आर्कषित करते हैं तो आश्चर्य-बोधक भावों के प्रति प्रशंसा और परितोषसूचक शरीर पर रोमांच और पुलक का

१. मालविकाग्निमित्र, अंक १-२।
२. ना० शा० २७।१-२ (गा० ओ० सी०), हरिवंश।
३. ना० शा० २७।३-४, ६-१२, (गा० ओ० सी०)।

प्रदर्शन होता है। परन्तु अंगों के छेदन, भेदन, युद्ध और आक्रमण-प्रत्याक्रमण के उत्तेजनात्मक दृश्यों के प्रति आसन से उठकर प्रेक्षक द्वारा परितोष प्रकट करने पर 'अभ्युत्थान' होता है। भावावेश में प्रेक्षकों के नयन अश्रुसिक्त हो जाते हैं और कंधे काँपने लगते हैं। प्रयोग से पूर्णतया परिपुष्ट होने पर प्रेक्षक कभी-कभी भावावेश में पात्रों को बहुमूल्य वस्त्र देकर एवं अँगुली उठाकर अपना संतोष प्रकट करते हैं।[१] इस प्रकार की परम्परा भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है। दर्शकों में समृद्ध व्यक्ति प्रयोग से परितुष्ट हो भावावेश में अपने बहुमूल्य वस्त्र पात्रों को अर्पित कर दिया करते थे।[२] हरिवंश में दानवों ने पात्र वेषधारी यदुवंशियों को बहुमूल्य वस्त्राभरण, आकाशचारी विमान और हाथी आदि देकर परितुष्ट किया।[३]

दैवी सिद्धि

भाव की अतिशयता तथा सात्त्विक भावों की समृद्धि होने पर दैवी सिद्धि का आविर्भाव रंगमंडप में होता है। नाट्य-प्रयोग की उत्तमता के कारण रंगमण्डप पूर्ण शान्त, निःशब्द, प्रेक्षकों से परिपूर्ण तथा उत्थानरहित होने पर दैवी सिद्धि होती है।[४]

दोनों सिद्धियों का अन्तर

दैवी सिद्धि और मानुषी सिद्धि में यह स्पष्ट अन्तर है कि मानुषी सिद्धि तब होती है जब नाट्य-प्रयोग में शारीरिक और वाक्चेष्टा की प्रधानता रहती है और तदनुरूप प्रेक्षक भी युद्ध, परस्पर आघात-प्रतिघात और उत्पात आदि के दृश्यों के संदर्भ में उसी प्रकार अपना परितोष वाणी और आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट करते हैं। आजकल भी निम्नस्तर के प्रेक्षकों को ऐसे रोमांचक दृश्यों के प्रति विशेष अभिरुचि होती है। परन्तु नाट्य-प्रयोग में ऐसे भी अवसर होते हैं जब आंगिक अभिनय और आधर्षणपूर्ण वाक्यों के स्थान पर सात्विक भावों तथा जीवन की घोर-गंभीर भावधारा का अभिनय कहीं अधिक मर्मस्पर्शी होता है। भाव-संपदापूर्ण अभिनय से रंग-मंडप नितान्त शान्त और गम्भीर वातावरण के दैवी प्रभाव में डूबा रहता है। ऐसे ही उत्तम प्रयोगों को दृष्टि में रखकर भरत ने दैवी सिद्धि की कल्पना की है। नाट्य-प्रयोग की दो प्रकार की सिद्धियों के विधान से भरत ने प्रयोक्ता और प्रेक्षकों की भी दो भिन्न परंपराओं का संकेत किया है। सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत प्रेक्षक प्रायः ऐसे नाट्य-प्रयोगों में ही रुचि लेते हैं।[५]

---

१. ना० शा० २७।१३-१६ (गा० ओ० सी०)।

२. ते ददुः वस्त्रमूल्यानि रत्नान्याभरणानि च। हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, ९३ अध्याय।

३. ना० शा० अ० अ० पृ० ५११, पादटिप्पणी २७।५ श्लोक पर। ना० ल० को० पं० २२८९-९०।

४. या भावातिशयोपेता सत्त्वयुक्ता तथैव च।
नःशब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम्।
संपूर्णता च रंगस्य दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता॥

५. Thedevine success seems to relate to cultured spectators who generally take interest in deeper and more subtle aspects of dramatic performance and as such are above ordinary human beings and may be called 'Divine'.
—N. S. English Trans. p. 513 (M. M. Ghosh).

बाधाएँ (दोष)

भरत ने नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के अतिरिक्त चार प्रकार की बाधाओं का भी विवेचन किया है। वे ये हैं—दैवी, आत्मसमुत्था, परसमुत्था तथा औत्पातिका।[1] नाट्य-प्रयोग की बाधाओं के विश्लेषण से भरत की प्रयोग-दृष्टि की कुशलता का ज्ञान होता है। छोटी और बड़ी सब बाधाओं (दोषों) के प्रति वे पूर्ण सजग हैं कि नाट्य-प्रयोग नितान्त सफल हो।

दैवी बाधाओं पर यद्यपि मनुष्य का अधिकार नहीं है, परन्तु दैवी बाधाओं को दृष्टि में रखकर ही दृढ़ स्तंभ वाले नाट्य-मंडपों का उन्होंने विधान किया है।[2] दैवी बाधा के अन्तर्गत वायु, अग्नि मण्डप का गिरना और वर्षा का प्रकोप, कुंजर (हाथी), भुजंग, कीड़े, सर्प और चिटी आदि के प्रवेश का उल्लेख है।[3] यदि नाट्य-मण्डप शास्त्रानुसार दृढ़ता से बना हो तो इन दैवी विपत्तियों से बचने की संभावना रहती है और प्रयोग में बाधा नहीं उपस्थित होती।

परसमुत्था बाधा

भरत के काल में विभिन्न नाटच-मंडलियाँ नाटच का प्रयोग पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के साथ करती थीं। धन-प्राप्ति या पारितोषिक के लिए उनमें परस्पर प्रतियोगिता होती थी। प्रेक्षकों और रंग-प्राश्निकों की दृष्टि में वे नाटच-मंडलियाँ एक-दूसरे के प्रयोग को हीन तथा असफल सिद्ध करने का भी अनुचित प्रयास करने में संकोच नहीं करती थीं। भरत ने 'परसमुत्था बाधा' के अन्तर्गत ऐसी ही अनेक बाधाओं का उल्लेख किया है। नाटच-प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए विरोधी दल का ज़ोरों से हँसना, रोना, धीमे-धीमे निरन्तर बातचीत करते रहने आदि का प्रयोग होता था। भरत के अनुसार विरोधी प्रेक्षक नाटच-प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए अभिनय-काल में गोपठा, घास-फूस ही नहीं पत्थर के टुकड़े और चिटियों के छत्ते तक रंगमंच पर फेंक दिया करते थे[4] जिससे विशेषकर नारी पात्र उद्विग्न हो जाएँ।[5] भरत ने इस प्रसंग में ईर्ष्या-द्वेष, शत्रु-पक्ष में मिलने तथा अर्थ-भेद के कारण भी प्रयोग में बाधा होने का उल्लेख किया है। अर्थभेद से भरत का आशय संभवतः यह है कि शत्रु-पक्ष के लोग प्रेक्षकों को उत्कोच देकर भी नाटच-प्रयोग में बाधा उपस्थित किया करते थे। अर्थभेद प्रेक्षकों का होता था या प्रयोक्ताओं का, यह अस्पष्ट है। इसमें संदेह नहीं कि नाटच-प्रयोग इतना अधिक विकसित था और आपस में ऐसी प्रतिस्पर्द्धा होती थी कि घूस देकर या किसी अन्य विधि से प्रेक्षक या प्रयोक्ता आदि को शत्रु-पक्ष के प्रयोक्ता अपने अनुकूल बनाकर सिद्धि में बाधा उपस्थित करते थे।[6] सभा-समितियों और

---

१. ना० शा० २७।१६ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० २।६८ का० भा०।

३. ना० शा० २७।२० (गा० ओ० सी०)।

४. अतिहसित रुदित विस्फोटितान्यथोत्क्रुष्टनालिका पाताः।
गोमयलोष्टपिपीलिका विक्षेपाश्चारिसंभूताः। ना० शा० २७।२४।

५. सुकुमार प्रकृतेः स्त्रीपात्र प्रायस्य त्रासनोत्पादितेन सिद्धिविघाताय।
पशोः सिंहादेः वेषं कृत्वा सुकुमार प्रयोक्तारं भीषयति सामाजिकं वा।
अ० भा० भाग ३, पृ० ३११, ३१३।

६. मात्सर्यद्वेषाद्वा तत्पक्षत्वात्तथार्थभेदात्।
एते तु परसमुत्था ज्ञेया घाताबुधैर्नित्यम्॥ ना० शा० २७।२३।

नाट्य-मंडलियों में प्रतिस्पर्धा का यह भाव भरतकाल की तरह वर्तमान है। मनुष्य की मनोवृत्ति इतनी सदियों बाद भी वहीं पर है।[१]

आत्मसमुत्था बाधा

नाट्य-प्रयोग की सिद्धि में परकृत बाधा की अपेक्षा पात्रकृत त्रुटियां और भी बाधा उपस्थित करती हैं। उनके अनेक रूपों की परिगणना भरत ने की है। अभिनय की अस्वाभाविकता से 'वैलक्षण्य', अनुचित आंगिक चेष्टा से अचेष्टा, दूसरे पात्र की भूमिका में दूसरे पात्र के अवतरण से अविभूमिकत्व, पाठ्यांश के विस्मरण से स्मृति-प्रमोष, ज़ोर से चिल्लाने से आर्तनाद, यान-विमान आदि पर आरोहण और अवतरण के क्रम में हाथों के त्रुटिपूर्ण संचालन से विहस्तत्व, अपने पाठ्य के स्थान पर अन्य पात्र के पाठ्य का वाचन होने पर अन्य-वचन आदि पात्रगत बाधायें होती हैं।[२] 'लक्ष्मी-स्वयंवर' के प्रयोग काल में लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय करती हुई उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर पुरुरवा का उच्चारण किया। इस 'अवाच्य वचन' दोष के कारण वह मुनि के अभिशाप का पात्र बनी।[3]

अभिनय के क्रम में पात्र का अत्यधिक हँसना या रोना, स्वरों की त्रुटि, आभूषण का यथोचित प्रयोग न करना, मुकुट का पतन, रंगमंच पर यथासमय अप्रवेश, और मृदंग आदि वाद्य का असंतुलित प्रयोग होने पर नाट्य-प्रयोग की त्रुटियाँ होती हैं।[४] इसी प्रसंग में भरत ने पुनरुक्त, असमास, विभक्तिभेद, विसंधि, अपार्थ, त्रिलिंगज दोष, प्रत्यक्ष-परोक्ष-सम्मोह, छन्दोवृत्त-त्याग, गुरु-लघुसंकर तथा यति-भेद—इन दस स्थूल काव्य-दोषों का भी उल्लेख किया है। इनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने दोषों की परिगणना का विस्तार किया।[५] भरत के काल में सम्भवतः ये पात्र प्राकृत भाषा-भाषी थे और संस्कृत वाक्यों के विधिवत् उच्चारण में उनसे त्रुटियाँ हो जाती थीं। एक प्रचलित उक्ति के अनुसार वैयाकरण-रूपी किरात से भयभीत अपशब्द-रूपी मृग, ज्योतिषी, नट, विट, गायक आदि के आनन-रूपी गुफा में जा छिपते हैं।[६]

औत्पातिक बाधा

औत्पातिक बाधा के अन्तर्गत भूकम्प, आँधी, वर्षा और अन्य प्राकृतिक प्रकोपों का उल्लेख किया गया है जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं है।[७]

नालिका द्वारा नाट्य-प्रयोग का कालनिर्धारण

किसी अंक, गीत, या नृत्य आदि का प्रयोग कितनी अवधि में समाप्त हो, यह भी

१. ना० शा० अं० अ० पृ० ५१४ पादटिप्पणी।
२. ना० शा० २७।२६, ३५।३७।
३. विक्रमोर्वशीयम् अंक-३।
४. ना० शा० २७।२७-३१।
५. ना० शा० २७।३२-३३ (गा० ओ० सी०)।
६. वैयाकरण किराताद् अपशब्दमृगाः क्व यान्ति संत्रस्ताः।
ज्योतिर्नट विटगायक आनन गह्वराणि यदि न स्युः॥ इल्दर : इतिहास, पृ० १४३।
७. ना० शा० २७।२५ (गा० ओ० सी०)।

नालिका द्वारा निर्धारित किया जाता था। निर्धारित अवधि में प्रयोग के समाप्त न होने पर नालिका-दोष भी होता था। अर्थशास्त्र में नालिका की अवधि निर्धारित की गई है।[1]

भरत ने प्रकृत व्यसन और काल-जनित दोषों के प्रति विशेष सावधानता का विधान किया है। अभिनवगुप्त ने भरत-प्रयुक्त 'प्रकृत-व्यसन समुत्थ' तथा 'शेषोदक नालिकत्व' इन दोनों दोषों को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रकृत-कृत से भरत का आशय है अनौचित्य दोष और 'शेषोदक नालिका' से काल-दोष। अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का और कोई कारण नहीं है। निर्धारित काल में प्रयोग की परिसमाप्ति न होने से 'शेषोदक नालिकत्व' दोष होता है। जिस काल में जो नाट्य का प्रयोग अनुचित हो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। वस्तुतः देश, काल और स्वभाव-कृत जो भी अनौचित्य हैं वे सब सिद्धि के विघातक ही होते हैं।[2]

बाधाओं के तीन रूप

नाट्य-प्रयोग की ये बाधाएँ तीन रूपों में दृष्टिगोचर होती हैं: मिश्र, सर्वगत और एक-देशज। **मिश्र** में नाट्य की सिद्धियाँ और बाधाएँ दोनों ही मिली रहती हैं, **सर्वगत** में नाट्य-प्रयोग सर्वथा दूषित होता है और **एकदेशज** में नाट्य-प्रयोग अंशतः दूषित होता है। भरत का यह स्पष्ट निर्देश है कि प्रयोग-काल में बाधा और सिद्धि का स्पष्ट उल्लेख करना उचित है। जहाँ पर सर्वगत सिद्धि या बाधा है वह तो प्रेक्षकों की दृष्टि में आपसे-आप दिखाई देती है। परन्तु यदि कोई बाधा या दोष आंशिक हो तो उसके उल्लेख की नितान्त आवश्यकता नहीं है।[3] क्योंकि शास्त्र और लोक-व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से नितान्त निर्दोषता की कल्पना नहीं की जा सकती।

आलेख्य का प्रयोग

नाट्य-प्रयोग-काल में भरत की दृष्टि से आलेख्य का प्रयोग आवश्यक है। पूर्वरंग के प्रयोग के क्रम में कभी-कभी पात्र अनपेक्षित देवता की स्तुति करने लगते हैं, कभी वास्तविक नाटककार के स्थान पर अन्य किसी नाटककार का स्मरण कर बैठते हैं, कभी सूत्रधार प्रयोज्य नाटक में किसी अन्य नाटक का कुछ अंश मिला दिया करते हैं। इन सब त्रुटियों का उल्लेख नाट्य-सिद्धि की बाधा के रूप में होना उचित होता है। पात्र कभी-कभी शास्त्रविहित भाषा

---

१. ना० शा० २७।३४ तथा अर्थशास्त्र २।२०।
कुम्भच्छिद्रभारकंमंभसो वा नालिका। द्विनालिको मुहूर्तः। अर्थशास्त्र के अनुसार एक निमेष का चार भाग तुट, दो तुट का एक लव, दो लव का एक निमेष, पाँच निमेष का एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला और चालीस कला की एक नाडिका होती है। घड़े में जल भरकर उसमें एक पतली नाली के माध्यम से बूँदें गिरती रहती हैं, उसके माध्यम से काल-नियमन होता है।

२. प्रकृत कृतमनोचित्यम् इति यावत्।
तदुक्तम्—अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
शेषोदक नालिकया काल उपलक्ष्यते। तस्य शेषत्वमन्यकालयोग्यता तेन यत्र काले यदनुचितं तत्र तन्निबन्धनम्। —तेन देश-काल स्वभाव कृतं यदनौचित्यं कार्यं तत्सर्वमेव सिद्धि विघातकम्।
अ० भा० भाग ३, पृ० ३१६-१७।

३. ना० शा० २७।३६-४०।

वेश एवं देश-संबंधी नियमों की अवहेलना कर स्वबुद्धि-कल्पित प्रयोग करते हैं, ऐसी त्रुटियाँ उपेक्षणीय नहीं, आलेख्य हैं।[१]

लोक और शास्त्र की परम्पराओं का अनुसरण

भरत ने नाट्य-प्रयोग-काल में सिद्धि और बाधा के आलेख्य का विधान तो किया है, परन्तु प्रयोगशील आचार्य होने के कारण ये शास्त्रविहित प्रयोग की सीमा से भी अपरिचित नहीं थे। अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि शास्त्र में नियमों की ऐसी विशाल और सुदृढ़ परम्परा है कि उन सबका यथावत् प्रयोग संभव नहीं है। लोकपरंपरा तथा वेदों एवं शास्त्रों की मर्यादा के अनुरूप गम्भीर-भाव-भूषित, सर्वजन-ग्राह्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। इस त्रिगुणात्मक संसार में न तो कुछ गुणहीन ही है न नितांत दोषहीन ही। अतः नाट्य-प्रयोग-काल में किंचित् दोष उपेक्ष्य होता है। गुण-संभार में दोष-लेश अदृश्य हो जाता है।[२] भरत ने इतनी स्वतंत्रता देकर भी प्रयोक्ताओं को पूर्ण अनुशासित किया है कि वाचिक, आंगिक सात्विक और नेपथ्यज विधियों का रस-भाव, गीत, आतोद्य और लोक-व्यवहार के प्रयोग के प्रति पूर्ण सतर्क रहना चाहिए।[3]

प्रेक्षक और प्राश्निक

भरत ने नाट्य-प्रयोग की सिद्धि और बाधाओं के विविध अंगों तथा भेदों का विवेचन करते हुए सिद्धियों और बाधाओं, निर्णायकों—प्रेक्षक और प्राश्निक की भी विशेषताओं का उल्लेख किया है। नाट्य-प्रयोक्ताओं में सूत्रधार तथा नाट्य-प्रयोग की सिद्धि और बाधाओं के निर्णय में प्राश्निक का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। एक सफल नाट्य-प्रयोग के लिए नाट्यकार की प्रतिभा, नाट्य-प्रयोक्ता की कुशल प्रयोग-दृष्टि और रंगमंच का उपयुक्त वातावरण अत्यावश्यक है। नाट्य-प्रयोग की सफलता के निर्णायक प्रेक्षक और प्राश्निक के लिए नाट्यकला, लोक और शास्त्र की सब परंपराओं का ज्ञान अत्यावश्यक है।

उज्ज्वल चरित्र, कुलीन, शान्त, विद्वान्, यशस्वी, धर्मरत, निष्पक्ष, प्रौढ़, नाटक के छहों अंगों का कुशल मर्मज्ञ, प्रबुद्ध, वासनावृत्ति से अप्रभावित, चारों प्रकार के वाद्ययंत्रों के बजाने में कुशल, वृत्तज्ञ, तत्त्वदर्शी, देशभाषा-संबंधी विधानों का ज्ञाता, कलाशिल्प का प्रयोजक, चारों प्रकार के अभिनयों का ज्ञाता, रस और भाव का सूक्ष्म ज्ञाता, व्याकरण और छन्दशास्त्र में पारंगत तथा नाना शास्त्रों में कुशल होने पर वह प्राश्निक की पदवी प्राप्त करता है।[४]

१. ना० शा० २७।४३-४४ (गा० ओ० सी०)।

२. कः शक्तो नाट्यविधौ यथावदुपपादनं प्रयोगस्य।
कर्तुं व्यग्रमना वा यथावदुक्तं परिज्ञातम्।
तस्माद्गंभीरार्थाः शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः।
सर्वजनेन ग्राह्यास्ते योज्या नाटके विधिवत्।
न च किंचिद् गुणहीनंदोषैः परिवर्जितं न चाकिंचित्। तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नाट्यार्थतो (नात्यर्थतो) ग्राह्याः। ना० शा० २७।४५-४७ (गा० ओ० सी०)।

३. न च नादरस्तु कार्यो नटेन वागंगसत्व नेपथ्ये।
रसभावयोश्च गीतेषु आतोद्ये लोकयुक्त्यां च। ना० शा० २७।४८ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २७।५०-५३ (गा० ओ० सी०)।

संयमी, शुद्ध आचरण, ऊहापोह-विशारद, दोष-दर्शक और अनुरागी होने पर ही प्रेक्षक होता है। पात्र के तुष्ट होने पर संतुष्ट, शोकार्त्त होने पर शोक-विगलित, क्रोध में क्रुद्ध और भय की दशा में भयभीत होता है। पात्रों के अभिनय के अनुरूप ही जिस दर्शक या सामाजिक के हृदय में भावानुक्रमण होता है, वही प्रेक्षक होता है।[1]

प्राश्निकों और प्रेक्षकों की भरत-निरूपित विशेषताओं का प्रभाव संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना पर बहुत स्पष्ट है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशी की दर्शक-मंडली 'अभिरूप भूयिष्ठा' और रस-समृद्ध प्रबंधों का प्रयोग देख चुकी है। इसीलिए सूत्रधार विद्वानों के पूर्ण परितोष के बिना प्रयोग को साधु नहीं मानते। मालविकाग्निमित्र और मालतीमाधव का प्रयोग विद्वत्-परिषद् के अनुरोध से हुआ है। यह दर्शकमंडली अभिनय की बारीकियों को समझती थी।[2]

यूरोपीय नाट्य-पद्धति में प्रेक्षकों की महत्ता स्वीकार की गयी है। वे मानसिक दृष्टि से सदा निष्क्रिय ही नहीं होते, वे प्रबुद्ध चेतना के होते हैं और रंगमंडप पर प्रयुक्त नाट्य के प्रति उनकी निश्चित बौद्धिक प्रतिक्रिया भी होती है। इसलिए नाट्य का प्रयोग उनको परितुष्ट करने के लिए होता है।[3]

प्रेक्षकों की अनेक श्रेणियाँ

भरत ने प्राश्निक और प्रेक्षक की इतनी गुण-संपदा का उल्लेख करके भी यह स्वीकार किया है कि इतने सारे गुण एक व्यक्ति में नहीं होते, क्योंकि ज्ञेय वस्तु की सीमा नहीं है और मनुष्य की आयु तो सीमित है। परन्तु जिसका जो शिल्प और कर्म है, तदनुरूप नाट्य-प्रयोग की सहानुभूतिपूर्वक समीक्षा करे, तो, उसकी सिद्धि और बाधा का रूप अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। उत्तम, मध्यम, अधम, वृद्ध, बालिश और स्त्रियों की रुचि और प्रवृत्ति एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती है। तरुण व्यक्ति काम-भाव से प्रसन्न होते हैं, अर्थ-लोभी धनधान्य की वृद्धि से, विरागी मोक्षगत कथावस्तु से, शूर व्यक्ति युद्ध और मार काट से तथा वृद्धजन धर्माख्यान और पुराणों की कथा से प्रसन्न होते हैं। अतः प्रेक्षकों की तो अनेक श्रेणियाँ होती हैं।[4]

उत्तम पात्रों के अभिनय को अधम प्रेक्षक हृदयंगम नहीं कर पाते। विद्वान् प्रेक्षक तात्त्विक वृत्तों से परितुष्ट होते हैं। परन्तु बालक, मूर्ख और स्त्रीजन हास्य रस तथा नेपथ्यज दृश्यों के आनन्द में रस ग्रहण करते हैं।

---

१. ना० शा० २७।६२-६३ (गा० ओ० सी०)।

२. (क) अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अ० शा०
(ख) परिषदेवा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबंधा। विक्रमोर्वशी।
(ग) अभिहितोऽस्मि विद्वत् परिषदा—माल० अ०।
(घ) आदिष्टाश्चास्मि विद्वज्जन परिषदा—मालतीमाधव (प्रस्तावना-भाग)।

३. It must be remembered that while the audience may be a passive element, it is also a critical element, in so far it has instinct for critical and comprehensive reaction which at once responds to the work seen on the stage.

Production : Theatre and Stage, p. 778.

४. ना० शा० २७।५६-६१ (गा० ओ० सी०)।

प्राश्निकों की विविध विषयज्ञता

नाट्य का विषय विविध होता है और प्रेक्षक भी विविध रुचि के होते हैं। भरत ने नाट्य-प्रयोग के विविध लौकिक एवं शास्त्रीय परम्पराओं के ज्ञाता प्राश्निकों की नियुक्ति का विधान किया है। कथावस्तु में यज्ञ की योजना होने पर यज्ञवित्, नृत्य की योजना होने पर नर्तक, छन्दों के योग होने पर छन्दशास्त्र ज्ञाता, पाठ्यांश के विस्तार के लिए व्याकरण, रंगमंच पर अस्त्र-शस्त्र के संचालन आदि के लिए अस्त्र-ज्ञाता, नेपथ्य के सौन्दर्य की समीक्षा के लिए चित्रकार, कामोपचार के लिए वेश्या, स्वर-योजना में गन्धर्व गायक, व्यक्तिगत ऐश्वर्य-प्रदर्शन में राजा और शिष्टाचार के प्रदर्शन में सेवक तक प्राश्निक पद को सम्मानित करते थे। भरत की इस विस्तृत सूची से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वे नाट्य-प्रयोग को शतांश में पूर्णता देना चाहते थे। नाट्य-प्रयोग के संदर्भ में समस्त कलाओं, लोक-व्यवहारों और शास्त्र की परंपराओं की तुला पर तौलकर उसे पूर्ण और अति सुन्दर बनाने का उनका बड़ा प्रबल आग्रह था।[१] प्राश्निकों के विवरण से भरतकालीन नाट्य-प्रयोग की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

नाट्य-प्रयोग में प्रतिद्वन्द्विता और पुरस्कार का विधान

नाट्यशास्त्र के अनुशीलन से उस युग की विकसित नाट्य-परंपरा का परिचय हमें प्राप्त होता है। नाट्य-मंडलियाँ स्वामी की प्रेरणा, अर्थोपार्जन, पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा पुरस्कार-प्राप्ति की भावना से अनुप्राणित हो एक दूसरे को अपने प्रयोग की कुशलता से पराजित करती थीं और पुरस्कार भी प्राप्त करती थीं।[२] पुरस्कार-प्रदान के निर्णायकों के सम्बन्ध में भरत ने बहुत ही स्पष्ट एवं सुनिश्चित नियमों का विधान किया है। प्राश्निक निष्पक्ष हो, रंगभूमि के निकट शान्तिभाव से बैठकर प्रयोग का परीक्षण करे तथा उसके पार्श्व में लेखक बाधा और सिद्धि का उल्लेख करता रहे। इस सम्बन्ध में भरत का स्पष्ट निर्देश है कि दैवी और परसमुत्था बाधाओं की उपेक्षा करके केवल नाटकान्तर्गत एवं पात्रगत दोषों की न्यूनता और गुणों की अतिशयता होने पर पात्र को पुरस्कृत करना चाहिए। यदि दो पात्र समान रूप से पुरस्कार के अधिकारी हों तो दोनों को ही स्वामी से आदेश लेकर पुरस्कृत करना चाहिए।[३] पुरस्कार में सम्राट् द्वारा पताका प्रदान करने का विधान है।

परवर्ती ग्रन्थों में सिद्धि-विधान

मालविकाग्निमित्र में नाटकान्तर्गत नाट्य-प्रयोग में हरदत्त और गणदास के मध्य राजा और रानी की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए होड़ है। मालविका ने दुष्प्रयोज्य 'छलिक' का प्रयोग किया है। इस प्रयोग-सिद्धि की प्राश्निक है परिव्राजिका। मालविका का निर्दोष नाट्य-प्रयोग देखकर परिव्राजिका उसी के पक्ष में निर्णय देती है, क्योंकि उसमें पात्रगत, प्रयोगगत और समृद्धिगत तीनों त्रिकों का समन्वय हुआ है।[४] वस्तुतः मालविकाग्निमित्र के दोनों अंकों में भरत

१. ना० शा० २७।६४-६७।

२. स्वामि नियोगादन्योन्य विग्रहस्यथेया च भरतानाम्।
अर्थपताका हेतोः संघर्षो नाम संभवति॥ ना० शा० का० सं० २७।७०-७१।

३. ना० शा० २७।६८-८० (गा० ओ० सी०), का० सं०, वही।

४. मालविकाग्निमित्र, अंक १-२।

के सिद्धि-विधान के प्रयोगात्मक रूप का परिचय मिलता है। हर्षचरित की भूमिका में भास द्वारा 'यश' और 'पताका' की उपलब्धि का संकेत किया गया है।[१] उत्तररामचरित में भवभूति ने नाटकान्तर्गत नाटक (सीता प्रत्याख्यान) के प्रयोग-काल में रंगप्राश्निक भी उपस्थित थे।[२]

हरिवंशपुराण और अवदानशतक में सफल नाट्य-प्रयोग के लिए पारितोषिक-प्रदान का बड़ा रोचक विवरण मिलता है। केशव पुत्र अनिरुद्ध एवं अन्य यदुवंशियों ने रामायण का नाटकीय रूपान्तर तथा 'कौवेर-रंभाभिसार' का प्रयोग किया। इनका प्रयोग इतना सफल था कि रामकाल में वर्तमान दानव उन पात्रों को रामानुरूप देखकर विस्मित हो गये। उन पात्रों का संस्कार (वेष-धारण), अभिनय, प्रस्तावों (क्रिया-व्यापारों का धारण) तथा प्रवेश (प्रथम दर्शन) असाधारण रूप से राम-रावण और कुवेर एवं रंभा आदि के अनुरूप थे। अतः प्रसन्न होकर इन दानवों ने इन प्रयोक्ताओं को उठ-उठकर प्रोत्साहित किया, वस्त्र और इतने महामूल्य, रत्नजटित आभरण दिये कि वे सब रत्न-रहित हो गये।[३] अवदानशतक में भी बुद्धवेषधारी नाट्याचार्य और भिक्षु-वेष-धारी नटों को राजा द्वारा पुरस्कृत करने का विवरण मिलता है।[४] कुट्टनीमत के अनुसार नाटकस्त्री मंजरी नाम की वेश्या ने काश्मीर के तत्कालीन सम्राट् समरभट्ट से इतना पुरस्कार लिया कि वे नितांत निर्धन हो गये।

प्रस्तुत विषय का किंचित् प्रतिपादन 'भावप्रकाशन' तथा 'अभिनयदर्पण' में किया गया है। 'भावप्रकाशन' की प्रतिपादन-प्रणाली तथा विवेच्य विषय भरतानुसारी है। भरत की तरह ही यज्ञवित् एवं नर्तक आदि प्राश्निकों का उल्लेख है।[५] अभिनयदर्पणकार ने नाट्य एवं नृत्य की उत्तमता के निर्णय के लिए विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि से प्रेक्षक तो कल्पवृक्ष के समान है, वेद उसकी शाखाएँ हैं, शास्त्र पुष्प है तथा विद्वान् मधुप हैं। नाट्य-प्रयोग की सफलता का निर्णायक यहाँ प्राश्निक नहीं, सभापति होता है। सभापति प्रेक्षकों में प्रमुख होता है। वह समृद्ध, बुद्धिमान्, विवेकशील, संगीतज्ञ, गुणशाली, आंगिक अभिनयों का ज्ञाता, निष्पक्ष, शुद्धाचरण, दयालु, संयमी तथा कला एवं अभिनयों का ज्ञाता होता है। यह सभापति ही पुरस्कार आदि वितरण करता है। 'सभापति' भरत के 'प्राश्निक' का प्रतिस्पर्धी है।[६] अभिनयदर्पण के अनुसार ही संगीत-रत्नाकर में सभापति का उल्लेख किया गया है।[७] प्राश्निक के आलेख्य की तरह ही सभापति के भी परामर्शदाता होते हैं।

---

१. सपताकैः यशो लेभे भासो देवकुलैरिव। हर्षचरित भूमिका—१५।

२. रामः—वत्स लक्ष्मण। अपि उपस्थिताः रंग प्राश्निकाः। उत्तररामचरित—अंक ७।

३. ते रक्ताः विस्मयं नेदुः असुरा परयामुदा।
उत्थाय-उत्थाय नाट्यस्य विषयेषु पुनः पुनः।
प्रेक्षासु तासु बह्वीषु वदन्तो दानवास्तथा।
धनरत्नैः विरहिताः कृताः पुरुषसतम। हरिवंश विष्णुपर्व ९३।६२।

४. ततो राज्ञा हृष्टतुष्टप्रमुदितेन नट्याचार्यप्रमुखो,
नटगणो महतो धनस्कंधेनाच्छादितः। अवदानशतक पृ० ८७।

५. भा० प्र०, पृ० २२६।

६. अ० द०, पृ० १७-१६।

७. सं० र० ७।१३४५-५०।

सफल नाट्य-प्रयोग के लिए 'त्रिक' का समन्वय

नाट्य-प्रयोग की सिद्धि और बाधा तथा उसके निर्णायक प्राश्निकों की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए और भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आकलन भरत ने किया है। उनकी दृष्टि से सफल नाट्य-प्रयोग के लिए पात्र, प्रयोग और समृद्धि इन तीनों का समन्वय होना अत्यावश्यक है।[1]

पात्रगत

बुद्धिमत्ता, सुरूपता, लयतालज्ञता, रसभावज्ञता, उचित वयस, कौतूहल, नाट्यकृत गान आदि कलाओं का ग्रहण, गात्र की अविकलता, भय और उत्साह पर विजय पाने की क्षमता—ये पात्रगत विशेषताएँ हैं जिनसे विभूषित होने पर प्रयोक्ता पात्र प्रयोग को सफल बना पाता है।

प्रयोग

सुवाद्यता, सुगान, सुन्दर पाठ तथा नाट्यशास्त्र में विहित सब विधियों का प्रयोग होने पर आदर्श प्रयोग होता है।

समृद्धि

सुन्दर आभूषण, माला तथा वस्त्र-धारण तथा अन्य नेपथ्यज विधियों का कुशल प्रयोग होने पर प्रयोग में समृद्धि का प्रसार होता है।

वस्तुतः जिन नाट्य-प्रयोगों में पात्रगत, प्रयोगगत तथा आहार्यज विधियों का विधिवत् प्रयोग होता है वे नाट्य-प्रयोग उत्तम होते हैं। इन तीनों में से किसी एक की भी उपेक्षा होने पर प्रयोग की सफलता में सन्देह हो जाता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र की रचना करते हुए नाट्य-प्रयोग की परिपूर्णता के लिए जहाँ अनेक शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया, वहाँ प्रयोग की सफलता के निर्धारण तथा निर्णय के लिए भी प्रयोग का निश्चित मानदंड प्रस्तुत किया है। उसके आधार पर किसी भी नाट्य-प्रयोग का मूल्यांकन उचित रूप से किया जा सकता है। इस सिद्धि-अध्याय की रचना में भरत का प्रयोगात्मक नाट्य-दृष्टि का परिचय मिलता है। वे नाट्य-प्रयोग के किसी भी पक्ष को अधूर छोड़ना नहीं चाहते थे। कवि और प्रयोक्ता के लिए नियमों का निर्धारण करते हुए अन्त में सामान्य प्रेक्षकों तथा विशेषज्ञ प्राश्निकों के लिए भी नियमों का निर्धारण किया है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र में 'दशरूपविकल्पन' कवियों के लिए, चारों प्रकार के अभिनय एवं अन्य नाट्य-शिक्षाएँ नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए तथा सिद्धि अध्याय मुख्यतः प्रेक्षक और प्राश्निक के लिए है। इस प्रकार पाश्चात्य नाट्य-पद्धति की तरह कवि, पात्र और प्रेक्षक का यहाँ समन्वय किया गया है।

---

१. ना० शा० २७।९८-१०३।

अष्टम् अध्याय

नाट्य-प्रयोग विज्ञान

१. आंगिक अभिनय
२. आहार्य अभिनय
३. सामान्य अभिनय
४. चित्राभिनय

१२

आंगिक अभिनय

अभिनय-विधान : सामान्य पर्यवेक्षण

भरत ने नाटच-कला के सिद्धान्त और प्रयोग दोनों ही पक्षों का तात्त्विक निरूपण नाटचशास्त्र में किया है। सिद्धान्त के अन्तर्गत नाटचोत्पत्ति का इतिहास, दशरूपकों का विकल्पन, नाटच के इतिवृत्त, पात्र और रस एवं भाव आदि का विधान किया है। नाटच-प्रयोग के अन्तर्गत आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भरत केवल शास्त्र-प्रणेता ही नहीं, नाटच-प्रयोक्ता भी थे।[1] नाटच-प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्तों का आकलन और विवरण नाटच-शास्त्र में जितना ही विस्तृत है उतना ही सूक्ष्म भी। नाटच-प्रयोग अभिनय द्वारा सम्पन्न होता है। अत प्रयोग-सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों और लोक-परम्परागत मान्यताओं का आकलन और विवेचन अभिनय के अन्तर्गत किया है। नाटच एवं नृत्त-शास्त्रीय परवर्ती ग्रन्थों में[2] एतद्विषयक विवेचन नितान्त परम्परानुसारी है। उनमें भरत की-सी मौलिक तत्वान्वेषिणी व्यापक नाटच-दृष्टि का परिचय नहीं मिल पाता।

अभिनय और नाट्य

'नाटच' या अभिनय प्रयोग के लिए ही होता है और अभिनय में नाटच के प्राण-रस का उन्मेष होता है। भरत ने नाटच के इस प्रयोगात्मक नाटच-विज्ञान को अभिनय यह शास्त्रीय नाम दिया है। अभिनय में पात्र अनुकार्य राम आदि की अवस्था आदि का साजात्य अनुकरण करता है। अपनी आंगिक चेष्टाओं, वाणी के सन्तुलित उपक्रम, मनोवेगों की

---

१. त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ। ना० शा० १।२४ ख (गा० ओ० सी०)।

२. अभिनय दर्पण—नंदिकेश्वर, भरतार्णव—नंदिकेश्वर, नाट्यशास्त्र संग्रह आदि।

प्राञ्जल अभिव्यंजना, उचित वेश-विन्यास तथा अवस्था और प्रकृति के अनुसार वह कवि-निबद्ध पात्रों, उनके विचारों, भावों तथा कथावस्तु आदि को रूपायित करता है और इन माध्यमों के द्वारा प्रेक्षक को रसाभिमुख करता है। अतएव वह 'अभिनयन' करने वाला पात्र 'अभिनेता' भी होता है।[१] नाटच-प्रयोग अभिनय द्वारा ही सिद्ध होता है। समस्त नाटच-कर्म अभिनय में ही सन्निविष्ट है। अभिनय होने पर काव्य नाटच होता है और नाटच ही रस होता है। वस्तुतः अभिनय-नाटच और रस ये क्रमशः नाटच की रसाभिमुखी विकासशील प्रक्रियाएँ हैं। नाटच अभिनीत होने पर रस्य होता है, और रस्यता में ही नाटच की प्राण-रूप आस्वाद्यता रहती है। अतः अभिनय, नाटच और रस तीनों अर्थप्रवाह ही नहीं प्रयोग की दृष्टि से भी माला के एक ही सूत्र में पिरोये हुए सुरभित पुष्प हैं।

अभिनय के चार प्रकार

नाटच तो लोकवृत्तानुकरण या तीनों लोकों का भावानुकीर्तन है। जीवन की सुख-दुःखात्मक परिस्थितियों के परिवेश में मनुष्य के मन, अंगों एवं वाणी की जैसी क्रिया और प्रतिक्रिया होती है और परम्परा से होती आ रही है तदनुरूप ही मन, अंग और वाणी आदि के द्वारा हाव, भाव एवं ललित या उद्धत चेष्टा आदि का पात्र द्वारा कलात्मक भावपूर्ण प्रदर्शन प्रेक्षक को अपने साथ रसदेश में ले जाता है, इसीलिए यह अभिनय होता है।[२] अभिनय के द्वारा नट या पात्र प्रेक्षक के हृदय में सौन्दर्यानुभूति का उद्बोधन करता है। रसानुभूति की सौन्दर्य-चेतना के तट पर वह उसे ले जाता है।[३] भरत ने अभिनय का वर्गीकरण प्रधान रूप से चार वर्गों में किया है[४]—आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। अंग, उपांग और प्रत्यंगों की चेष्टा आदि के द्वारा आंगिक अभिनय सम्पन्न होता है। भरत ने इस अभिनय का बहुत ही विस्तृत एवं सूक्ष्म विधान किया है। वाचिक अभिनय के द्वारा कवि-निबद्ध पात्र, काव्य एवं जीवन-सौन्दर्य की व्यंजना करता है। नाटच के पाठच-अंश का प्रयोग वाचिक अभिनय द्वारा सम्पन्न होता है। मनुष्य के सुख-दुःखात्मक मनोवेगों की अभिव्यक्ति सात्त्विक अभिनय के द्वारा सम्पन्न होती है। सब अभिनयों के सम्पन्न होने पर भी सात्त्विक अभिनय के योग से ही अनुकार्य पात्र के साधारणीकृत मनोभावों का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच और अश्रु आदि सात्त्विक चिह्नों के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है। आहार्य विधि मुख्यतः वेश-भूषा आदि नेपथ्य-विधियों से सम्बन्धित अभिनय का एक प्रकार है। अन्य अभिनयों की अपेक्षा यह इस अर्थ में भिन्न है कि आहार्य अभिनय-विधियों का प्रयोग नेपथ्य में ही सिद्ध कर लिया जाता है। परन्तु अन्य अभिनयों

१. विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः।
शाखांगोपांगसंयुक्तः तस्मादभिनयः स्मृतः। ना० शा० ८।६ तथा ८।७ (गा० ओ० सी०)।

२. अभिनय इति कस्मात् ? उच्यते अभीत्युपसर्गो णीञ् प्रापणार्थो धातुः।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः। (आनुवंश्य श्लोक भरत ना० शा० ८।६ ख (का० मा०)।

३. The actor educates the spectator by stimulating in him the latent possibility of aesthetic experience Rasaswadans the tasting of the flavour. Mirror of Gesture, p. 36 (footnotes).

४. ना० शा० ८।१० (गा० ओ० सी०)।

का प्रयोग तो रंगमंच पर होता है। भरत द्वारा प्रधान रूप से प्रतिपादित ये चार प्रकार के अभिनय परवर्ती आचार्यों में बहुत लोकप्रिय हुए और सबने इन्हीं चार प्रकार के प्रधान अभिनयों का उल्लेख किया।[1]

अभिनय के अन्य दो भेद

उपर्युक्त चार प्रकार के अभिनयों के अतिरिक्त भरत ने सामान्य एवं चित्र अभिनयों का प्रतिपादन दो भिन्न अध्यायों में किया है। 'सामान्य अभिनय' वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का समाहित रूप है।[2] चित्राभिनय में संध्या, सूर्य, चन्द्र, नदी, वन और पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थों और परिस्थितियों का आंगिक अभिनय की विभिन्न मुद्राओं के द्वारा प्रतीक रूप में अभिनय सम्पन्न होता है।[3] परवर्ती आचार्यों ने तो इन दोनों अभिनयों को मान्यता नहीं दी।[4] परन्तु नाटच-प्रयोग के प्रति व्यावहारिक दृष्टि होने के कारण भरत ने इन दोनों अभिनयों का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन करते हुए ऐसे कतिपय विषयों की अभिनय-प्रणालियों का उल्लेख किया है जो नाटच-प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः भोज ने भी इन दोनों अभिनयों को भरत की भांति पूर्वोक्त अभिनयों का समाहित रूप ही माना है।[5] सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। भरत-प्रतिपादित आंगिक अभिनय का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

आंगिक अभिनय के प्रकार

मनुष्य के विविध अंग-उपांग और प्रत्यंग आदि की विविध चेष्टाओं और भाव-मुद्राओं द्वारा रमणीय अर्थ का जो सृजन होता है, वही आंगिक अभिनय होता है। अंगों द्वारा निष्पन्न होने वाले विशिष्ट अभिनय का प्रयोग आंगिक अभिनय होता है। भरत ने आंगिक अभिनय के तीन प्रकारों का विधान किया है। शारीर, मुखज तथा शाखा और अंगोपांगयुक्त चेष्टाकृत अभिनय। अंग एवं उपांगों की संख्या छः-छः है। वे निम्नलिखित हैं—

अंग—शिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटी और पाद।
उपांग—नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल और चिबुक।[6]

आंगिक अभिनय और भाव-प्रदर्शन

भरत ने अंगोपांगों की विभिन्न मुद्राओं को दृष्टि में रखकर उनके अनेक भेदों, उनकी

---

१. अभिनयदर्पण पृ० ३५, द० रू० १।७ (धनिक की टीका), ना० द० ३।५०-५१, सा० द० ६।३, शृं० प्र०, पृ० ६०४।
२. सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागंगसत्त्वजः। २२।१ (गा० ओ० सी०)।
३. अंगाभिनयस्येह यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते यस्मात् स चित्राभिनयः स्मृतः। ना० शा० २५।७ (का० मा०)।
४. सरस्वती कंठाभरण, २।१५७, ना० द०, पृ० १७०।
५. सरस्वती कंठाभरण, पृ० २६५।
६. ना० शा० ८।१३। (का० मा०), गा० ओ० सी० ८।१४।

परिभाषाओं तथा विनियोग का विधान किया है। वे नाट्य और नृत्य की दृष्टि से बड़े ही उपयोगी हैं। आरंभ में मुखज तथा अंगों में प्रधान शिर के भेदों का ही पूर्ण विवरण दिया है। इनमें से प्रत्येक भेद एक विशेष भाव और विचार-परंपरा का प्रतीक है। प्रत्येक अंग और उपांग एवं प्रत्यंग आदि एक-दूसरे से अभिनय-(प्रयोग) की दृष्टि से नितान्त संबंधित होते हैं। सबका संचालन विशिष्ट विधियों के अनुसार विशेष भाव-दशा की अभिव्यक्ति के लिए होता है।[1] वस्तुतः प्रत्येक अंग-उपांग के किंचित् संचालन में न जाने कितनी सुकुमार या उद्धत भाव-लहरियाँ रूपायित होती हैं। उन सबकी संयत और अपेक्षित अभिव्यंजना के लिए भरत ने एक-एक मुद्रा, एक-एक चेष्टा, अंगों की मोड़ और झुकाव आदि का जैसा विधिवत् वर्गीकरण किया है वह अत्यन्त विस्मयावह है। काम, क्रोध, करुण और उत्साह आदि की विभिन्न मनःस्थितियों में अंगों-उपांगों की मनुष्य मात्र में सामान्य रूप से कैसी प्रतिक्रिया होती है, शिर का कंपन कैसा होता है, आँखों में कैसी रस-दृष्टि उमड़ने लगती है, कपोलों पर कैसी लालिमा छा जाती है, ओठ कैसे फड़क उठते हैं, चरणों में कैसी चंचलता या श्रान्तता आ जाती है, ये सारी शारीरिक प्रतिक्रियाएँ मनुष्य की जटिल मनोग्रंथियों की ही प्रतिछवियाँ है। भरत ने मनुष्य के स्वभाव, प्रकृति और अवस्था तथा चेष्टाओं का विलक्षण आकलन उस काल में किया था जब विश्व के बहुत बड़े भू-भाग में इन कलाओं का इतना समीचीन और वैज्ञानिक विश्लेषण तो क्या कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों के बहुत मान्य और स्वीकृत तथ्यों पर भी बहुत हलके ढंग से भी चर्चा नहीं हो रही थी। नाट्य-प्रयोग के क्षेत्र में भरत की यह देन अत्यन्त महान् है और उसके पुनर्मूल्यांकन की नितान्त आवश्यकता है।

हम यहाँ पर उनके आंगिक अभिनय सम्बन्धी विश्लेषणों को सूत्ररूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे कि उनकी सर्जनात्मक और विवेचनात्मक प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट हो।

शिर के अभिनय

आंगिक अभिनयों के मुखज भेद में शिर से होने वाले भेदों की संख्या तेरह है—इनके नाम उनकी क्रिया के अनुरूप ही निम्नलिखित हैं—आकंपित, कंपित, धूत, विधूत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अंचित, निहंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित।[2] भरतार्णव तथा नाट्यशास्त्र-संग्रह में अन्य छः भेदों का उल्लेख कर उन्नीस भेदों की परिगणना की गई है। अभिनयदर्पण के अनुसार उनकी संख्या कुल नौ ही है। नंदिकेश्वर ने इन नौ के अतिरिक्त भरताचार्य के नाम पर अन्य चौबीस भेदों का भी उल्लेख किया है। इनमें से बहुत से भेद एक-दूसरे के अत्यन्त निकटवर्ती-से प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके अर्थ की छायाएँ रंगविरंगी विविध और भिन्न भी हैं। धूत में शिर शिथिल-सा हो जाता है और उसके द्वारा अनिच्छा, विस्मय, विश्वास, पार्श्वविलोकन, शून्यता और निषेध आदि का संकेत होता है। परन्तु विधूत में शिर की गति का कंपन तीव्रतर होता है और उसके द्वारा शीतग्रस्तता, भयार्तता, ज्वरदुःख तथा मद्यपान आदि विभिन्न स्थितियों का संकेत होता है। मनुष्य का भाव-लोक अनन्त है और शिर द्वारा

---

१. ना० शा० ८।१६ (गा० ओ० सी०)। अ० द०, पृ० ६-७।
२. ना० शा० ८।१८-१९ (गा० ओ० सी०), भरतार्णव, पृ० ६३-१०६ (नंदिकेश्वर), नाटयशास्त्र संग्रह, पृ० ४३-६६, मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ३६-३७।

होने वाली प्रतिक्रियाओं का कोई ओर-छोर नहीं है।[1] इसलिए भरत का स्पष्ट निर्देश है कि लोक-प्रचलित सामान्य व्यवहारों को दृष्टि में रखकर शिर के द्वारा होने वाले अन्य अभिनय-भेदों की परिकल्पना की जा सकती है।[2]

दृष्टियों द्वारा होने वाले अभिनयों की रूपरेखा

भरत की दृष्टि से मनुष्य के नयनों की भाषा और भाव-भंगिमा में ही नाट्य प्रतिष्ठित रहता है।[3] दृष्टि तो मानो मनुष्य के आत्मदर्शन का दर्पण है। स्वभावतः दृष्टि के विभिन्न रूपों, उनकी भाव-भंगिमाओं और अर्थ-परंपराओं के विनियोग का बड़ा ही विस्तृत पर्यालोचन भरत ने प्रस्तुत किया है। अंगोपांगों में अभिनय की दृष्टि से 'दृष्टि' का महत्व असाधारण है। भरत ने कान्ता, हास्या, भयानका, करुणा, अद्भुता, रौद्रा, वीरा, बीभत्सा आदि आठ रस-दृष्टि, स्निग्धा, दृष्टा, दीप्ता, क्रुद्धा और भयान्विता आदि आठ स्थायी दृष्टि तथा शून्या, मलिना, श्रान्ता, ग्लाना, मुकुला, अभितप्ता, शंकिता और विषण्णा आदि बीस संचारी दृष्टियों को मिलाकर कुल छत्तीस दृष्टि-भेदों का विधान किया है, जिनके द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है।[4] कुमार स्वामी महोदय ने अन्य आठ दृष्टियों का उल्लेख कर चौवालीस दृष्टियाँ मानी हैं और अभिनयदर्पणकार तो केवल आठ दृष्टियाँ ही मानते हैं। दृष्टि के अन्तर्गत भौंह, तारा और पुट आदि का भी पृथक् रूप से विवेचन भरत ने किया है। तारा के नौ भेद,[5] पुटकर्म के नौ[6] और भौंहों के भी सात[7] भेदों तथा रस भावानुसार उनके विनियोग का विधान भरत ने किया है। प्रत्येक भेद न जाने कितनी अर्थ-परंपराओं से समाविष्ट रहता है।

अभिनय ही अंगों को भाषा देते हैं, इस भाषा की मुखरता, नयनों में अधिक सशक्त होकर प्रकट होती है। यही कारण है कि भरत ने दृष्टि-भेद का विवेचन बहुत व्यापकता और विस्तार से किया है। दृष्टि की प्रत्येक भाव-भंगिमा के द्वारा मनुष्य के सुख-दुःखात्मक जीवन का भावलोक मुखर होता है। उसमें मनुष्य के आत्मराग को, अनुभूति को अभिव्यक्त करने की अपार क्षमता रहती है। भरत की महत्ता इस बात में है कि लोक-जीवन, उसकी परंपरा, सुख-दुःख के परिवेश में उपांगों की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रिया का यथावत् अध्ययन कर उसे शास्त्र-सम्मत रूप दिया है और उसका स्तरीकरण किया है।[8] उनके द्वारा निर्धारित दृष्टि-सम्बन्धी-भाव-भंगिमाओं और मुद्राओं के स्वरूप सदियों बाद आज भी उसी प्रकार के हैं। क्रोध में हमारी भौंहें आज भी तन जाती हैं, नेत्र-पुट फैल जाते हैं, नयनों के तारे नाचने लगते हैं, और संयुक्त रूप में

---

१. ना० शा० ८।२०-३८ (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ३७-३६।

२. एभ्योऽन्ये बहवोभेदाः लोकाभिनयसंश्रयाः।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः। ना० शा० ८।३६।

३. षटत्रिंशत् दृष्ट्योह्येताः तासुनाट्यं प्रतिष्ठितम्। ना० शा० ८।४५ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० ८ ४०-६५ (गा० ओ० सी०)। भरतार्णव, पृ० १०६-३२, नाट्यशास्त्र संग्रह, पृ० ५३६-५८६, भा० प्र०, पृ० १२४, मिरर ऑफ़ गेस्चर, कुमार स्वामी, पृ० ४०।

५. ना० शा० ८।६७-१०४ (गा० ओ० सी०)। भ्रमण, वलन, चलन, संप्रवेयन।

६. ना० शा० ८।११०-१७, उन्मेष, निमेष, प्रसृत आदि।

७. ना० शा० ८।११८-१२७, उत्क्षेप, पातन, भृकुटी, कुंचित और रेचित आदि।

८. स्वभाव सिद्धमेवैतत् कर्मलोक क्रियाश्रयम्। ना० शा० ८।१०४।

नयनों में रौद्ररस उमड़ने-सा लगता है। परन्तु शोक-दशा में हमारे उर्ध्वपुट नीचे की ओर खिसक जाते हैं। नयनों में आँसू छलकने लगते हैं, तारे शिथिल हो जाते हैं और दृष्टि नासाग्र पर टिक जाती है, शून्यता और उदासी के भावों में दृष्टि खोयी-सी रहती है।[1] अतः भरत द्वारा निर्धारित दृष्टियों के ये भेद उनके स्वरूप और विनियोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका महत्व केवल शास्त्रीय ही नहीं, व्यावहारिक भी है। नाट्य-प्रयोग के संदर्भ में उनकी योजना नितान्त अपेक्षित है कि वे भावगम्य हो सकें। अब भी उनका प्रयोग होने पर वे रंगमंच पर अधिक भाव-ग्राही सिद्ध हो सकेंगे।

नासिका, कपोल, अधर और चिबुक, ग्रीवा द्वारा अभिनय

मनुष्य के अंगों में नासिका, कपोल, अधर और चिबुक उसके आन्तरिक भावों के प्रकाशन के बड़े प्रशस्त माध्यम हैं। मनुष्य के हृदय-केन्द्र में उठती हुई भाव-लहरी की हलकी-सी हिलोर भी इन अंगों के तटों पर एक लहर की रेखा अंकित कर जाती है। उन्हीं रेखाओं से प्रेक्षक मनुष्य के अन्तर की अनुभूति करता है। इसीलिए इनके महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही इनके भी भेदों, स्वरूपों और विशेष भाव-भंगिमाओं के प्रदर्शन में उनका विनियोग प्रस्तुत किया है। इनकी प्रत्येक मुद्रा किसी विशिष्ट भाव और रस की भाषा बनकर रूपायित होती है। नासिका,[2] कपोल[3] और अधर[4] के छः तथा चिबुक[5] के सात और ग्रीवा के नौ[6] कर्मों का भरत ने उल्लेख किया है। इनके कर्मों का विनियोग शृंगार, वीर, करुण और रौद्र आदि रसों और विविध भावों के योग में होता है। सोच्छ्वास नामक नासाकर्म के द्वारा भीतर की ओर साँस ली जाती है। परन्तु इसका विनियोग दो भिन्न अवस्थाओं में होता है, प्रियवस्तु की सुगंधि लेने तथा दुःखावस्था में गहराई से श्वास लेने में। क्षाम-कपोल दुःख-दशा में और फुल्ल-कपोल का प्रयोग आनन्दावस्था में होता है। अधर का कंपन वेदना, शीत, भय, ज्वर, और स्त्रियों के विलास एवं विव्वोक में होता है। भय, शीत, ज्वर और क्रोध-ग्रस्तता में चिबुक का कुट्टन होता है। कुट्टन में दोनों का संघर्षण होता है।

अभिनय में मुखराग की महत्ता

आंगिक अभिनय के विवेचन के प्रसंग में मुखराग का महत्त्व रस-दृष्टियों की भाँति

---

१. व्याकोशमध्या मधुरा स्मेरताराभिलाषिणी।
सानंदाश्रुकृता दृष्टिः स्निग्धैषा रतिभावजा। ना० शा० ८।५३। का० भा०।
अर्धस्रस्तोत्तरप्रय रुद्धतारा जलाविला।
मंद संचारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते। ना० शा० ८।५५ (का० भा०)।

२. नासिका—नता, मंदा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता, स्वाभाविका, ना० शा० ८।१३०-१३५ (गा० ओ० सी०)।

३. कपोल—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुंचित और सम, ना० शा० ८।१३६-१४० (गा० ओ० सी०)।

४. अधर—विवर्तन, कंपन, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक और समुद्ग। ना० शा० ८।१४१-१४६ (गा० ओ० सी०)।

५. चिबुक—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चिकिन, लेहन और सम। ना० शा० ८।१४७-१५३ (गा० ओ० सी०।

६. समा, नता, उन्नता, त्र्यस्ता, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता और विवृता। ना० शा० ८।१७०-१७५ (गा० ओ० सी०)।

अत्यन्त असाधारण है। भरत की दृष्टि से मनुष्य के अन्तर में चित्तवृत्तियों के आवेग के क्रम में कपोलों और नयनों में एक विशेष प्रकार का राग प्रतिबिम्बित होने लगता है। उसी राग के प्रदर्शन से प्रेक्षक अन्य के हृदय के भावों को अनुभव कर पाते हैं। अतः अभिनेता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भाव और रस के संदर्भ में मुखराग का तदनुरूप प्रदर्शन करे। भरत की दृष्टि से शाखा और अंगोपांगों से अन्वित अभिनय भी यदि मुखरागविहीन होता है तो वह नाट्य-शोभा का प्रसार नहीं कर पाता। पर अत्यल्प आंगिक अभिनय भी यदि मुखराग-समन्वित हो, तो अभिनय का अर्थ वैसे ही प्रकाशित हो उठता है जैसे रात्रि के अंधकार में चन्द्र-किरणें प्रकाशित हो रात्रि की शोभा बढ़ा देती हैं।[1] अंगों के अभिनय को दृष्टि के अतिरिक्त भाषा देने वाला मुखराग भी है। मुखराग के चार प्रकार हैं—स्वाभाविक (प्रकृत और तटस्थ दशा में), प्रसन्न (अद्भुत, हास्य और शृंगार में), रक्त (वीर, रौद्र, ममता तथा रुग्णावस्था में) और श्याम (भयानक तथा बीभत्स में)।[2] निःसंदेह रसात्मिका चित्तवृत्ति के प्रकाशन में मुखराग का महत्त्व वेम, ज्यायान्, अशोक और सोमेश्वर आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। परन्तु वेम ने भरत द्वारा निर्दिष्ट चार मुखराग के अतिरिक्त विकस्वर, अरुण, मलिन तथा पांडु की भी परिगणना की है।[3] भरत ने नाना भाव-रस के प्रकाशक नयनाभिनय तथा मुखराग इन दोनों के समन्वय-विधान का बड़ा ही तात्त्विक निदेश दिया है। मुख, भ्रू, दृष्टि-युक्त नेत्र का प्रसार जिस रूप में हो, उसी के अनुरूप भाव-रसोपेत मुखराग की भी योजना अपेक्षित है। भरत की प्रयोगात्मक दृष्टि की यह बहुत बड़ी देन है। नाट्य की सिद्धि के मूल में नयनाभिनय और मुखराग दोनों में समन्वय-विधान होने पर ही नाट्य हो पाता है।[4]

भरत ने उपांगों के द्वारा होने वाले विविध अभिनयों के नाम, स्वरूप और विनियोग को शास्त्र-सम्मत रूप दिया है। परन्तु अभिनय भी मनुष्य-जीवन की आंगिक क्रियाओं का ही शास्त्रीय रूप है और इस अभिनय शास्त्र का द्वार भरत ने उन्मुक्त कर रखा है कि लोक में जन्म लेने वाले और प्रचलित होने वाले नये रूपों का समावेश इस शास्त्र में होता चले। अतः भरत ने इस बात पर सदा बल दिया है कि अभिनयों के क्रम में लोकानुसारिता का त्याग नहीं होना चाहिए। आंगिक अभिनय का लोकजीवन की आन्तरिक चेतना, अनुभूति की आंगिक अभिव्यक्ति और उसकी लोक-स्वीकृत पद्धति से साक्षात् सम्बन्ध है। मनुष्य-मन की गहराई में न जाने कितने भाव-मुक्ता छिपे हैं उनकी हलकी-हलकी रश्मियों का प्रकाशन तो इन्हीं उपांगों के अभिनय द्वारा

---

१. शाखांगोपांगसंयुक्तः कृतो ह्यभिनयः शुभः।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत्।
शारीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वितः।
द्विगुणां लभते शोभां रात्रदिव निशाकरः। ना० शा० ८।१६५ ख-१६७ क (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० ८।१६१-१६४।

३. भरत कोष, पृ० ४६६।

४. नयनाभिनयोऽपि स्यात् नानाभाव रसस्फुटः।
मुखरागान्वितो यस्मात् नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
यथानेत्रं प्रसर्पेत् मुखभ्रू दृष्टिसंयुतम्।
तथा भाव-रसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत्। ना० शा० ८।१६७-१६९ (गा० ओ० सी०)।

संपन्न होता है। इनका प्रकाशन लोकजीवन की परम्पराओं से होता है। भरत ने उन सबका अध्ययन कर अपने सिद्धान्तों का निर्धारण किया है।

हस्ताभिनय

मनुष्य के अंग-प्रत्यंग की भाषा, उसकी मुद्रा और उसकी चेष्टाएँ ही हैं। उपांगों की मुद्राओं तथा क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से मनुष्य के भावों का लोक रूपायित होता है। परन्तु उसमें प्रधान अंगों के भी सहयोग की नितान्त आवश्यकता होती है। भरत ने अभिनय के संदर्भ में शिर के अतिरिक्त हाथ, पाँव, जाँघ, वक्षस्थल, पार्श्व और कटि के द्वारा अभिनेय भाव-जगत् का रस-भावानुसार उन अंगों की मुद्रा तथा उनके विविध भेदों और स्वरूपों के विनियोग आदि का विस्तार से विश्लेषण किया है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक है कि भरत की दृष्टि से एक भी अभिनय-योग्य सामग्री और अर्थ-परम्परा बच नहीं पाती। उन्होंने अंगों के अभिनय के सम्बन्ध में इतना अधिक कह दिया है कि परवर्ती आचार्यों के प्रतिपादन के लिए कोई नवीन तथ्य शेष नहीं रह गया।

प्रधान आंगिक अभिनय-भेदों में हस्ताभिनय का महत्त्व सर्वोपरि है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई नाट्यार्थ नहीं है, जिसको रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो।[1] हमारी दृष्टि के विविध रूप और मुखराग रागात्मिका चित्तवृत्तियों के प्रकाशन में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। हस्ताभिनय के द्वारा मानवीय हृदय की आशा-निराशा, सुख-दुःख, हर्ष-शोक एवं सशक्तता और दीनता आदि की अभिव्यंजना होती है। लोक में मनुष्य मात्र विविध भावों और रसों के परिवेश में हाथ की विभिन्न भाव-भंगिमाओं का संचालन करते हैं और अभिव्यज्यमान भावों को सौन्दर्य और बोधगम्यता प्रदान करते हैं। भरत ने लोक-प्रचलित हस्त की उन मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं की भूमि पर ही नाट्य-धर्म के परिप्रेक्ष्य में उनमें कुछ और चमत्काराधायक गुणों की प्रतिष्ठा कर शास्त्र-सम्मत रूप दिया है। भरत की दृष्टि में अभिनयशास्त्र का तो प्रवर्तक लोक-व्यवहार ही है।[2] परन्तु हाथ की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव और रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है।

हस्ताभिनय के आधार

हस्ताभिनय में उसकी मुद्रा और भाव-भंगिमाओं की जो रचना होती है, उसके कई महत्त्वपूर्ण आधार हैं। भरत ने उन सबका विस्तार से विचार और वर्गीकरण भी किया है। इनकी रचना में देश, काल, प्रयोग, अर्थयुक्ति के अतिरिक्त करण कर्म, स्थान और प्रचार का बड़ा महत्त्व है।[3] देश-विशेष के अनुसार विविध भावों के प्रकाशन के लिए हाथ की जिन मुद्राओं का प्रचलन है उनका ही प्रयोग करना चाहिये। नाटच-प्रयोग हस्ताभिनय का विशिष्ट आधार है। प्रयोग की सुकुमारता और उद्धतता के सन्दर्भ में हाथ की मुद्राओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। अर्थयुक्ति का महत्त्व इस सृष्टि से बहुत अधिक है कि वाचिक अभिनय के प्रसंग में पात्र हाथ

---

१. नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाटयेऽर्थोऽभिनयं प्रति। ना० शा० ६।१६१ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० ६।१६३ (गा० ओ० सी)०।

३. ना० शा० ६।१७१ (गा० ओ० सी०)।

की मुद्राओं के द्वारा न जाने कितने व्यंग्य अर्थों का प्रकाशन करता है, अतः हस्ताभिनय के प्रसंग में अर्थ-युक्ति का अवेक्षण अत्यावश्यक होता है । उसके द्वारा न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण अर्थ-परम्पराओं का सृजन होता है ।[1]

स्थान

हस्ताभिनय में स्थान की योजना पात्र की श्रेणी के अनुसार होती है। उत्तम श्रेणी के पात्र हस्ताभिनय करते हुए अपने हाथ, ललाट आदि उत्तम स्थानों पर ले जाते हैं। मध्यम पात्र वक्षस्थल पर और अधम पात्र कटि आदि निम्न अंगों को स्पर्श कर भाव प्रकट करते हैं। भट्टतौत ने पात्रों की श्रेणी के अनुसार स्थान-विभाजन की प्रणाली का समर्थन किया है।[2] अन्यथा हस्ताभिनय की विविध मुद्राओं के वर्गीकरण का आधार ही नहीं मिलता। यही नहीं उत्तम अर्थ की अभिव्यंजना में भी हाथों के द्वारा उत्तमांगों का ही स्पर्श होता है, हीन विचारों के सन्दर्भ में निम्न अंगों का स्पर्श होता है।

हस्ताभिनय के प्रचार की बहुलता और अल्पता का आधार

पात्रों की उत्तमता, मध्यमता और अधमता के आधार पर ही हस्त-प्रचार की स्वल्पता और बहुलता आधारित होती है। उत्तम श्रेणी के पात्रों की भाव-विभूति का प्रकाशन तो सात्त्विक अभिनयों के द्वारा सम्पन्न होता है न कि आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा ही। अतएव भरत ने 'सत्त्वातिरिक्त' अभिनय को ज्येष्ठ माना है।[3] उत्तम श्रेणी के पात्रों के सन्दर्भ में तथा नाटकादि उत्कृष्ट रूपकों में हस्त-प्रचार अत्यन्त स्वल्प होता है (ज्येष्ठे स्वल्प प्रचाराः)। नाटकादि में धर्म, अर्थ और काम आदि पुरुषार्थ साधनों की योजना प्रत्यक्ष साध्य होती है। अतः हस्त-प्रचार का प्रयोग अत्यल्प होता है। परन्तु मध्यम श्रेणी के पात्र या उनसे व्याप्त भाणक आदि रूपक-भेदों में रंजनाफल की प्रधानता तथा आकाशभाषित आदि परोक्षविधियों की बहुलता के कारण हस्त-प्रचार मध्यम होता है (मध्ये कुर्वीत मध्यमैः)। परन्तु अधम कोटि के नृत्त-काव्य में तो हस्त-प्रचार की अधिकता रहती है, क्योंकि भाव-प्रदर्शन का साधन एकमात्र हस्तादि का प्रचार ही होता है (अधमेषु प्रकीर्णाश्च हस्ताः)। अभिनय में हस्त का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हस्त-प्रचार की अधिकता से अभिनय उत्तम नहीं होता। उत्तम अभिनय का आधार तो उसकी सात्त्विक विभूतियों के प्रकाशन में ही है, क्योंकि उसी के द्वारा चित्तवृत्ति का साक्षात्कार-सदृश सम्पादन होता है (न हस्ताभिनयः कार्यः, कार्यः सत्त्वसमाश्रयः)। परन्तु जहाँ पर अभिनय प्रत्यक्ष, वर्तमान, आत्मस्थ न हो; परोक्ष भावी और परस्थ हो तो वहाँ सात्त्विक भाव नितान्त स्वल्प रहता है। वहाँ पर भावावेश हृदय के अन्तर से नहीं फूटता। अतः बाह्य शोभा और आकर्षण के लिए हस्त-प्रचार का प्रयोग किया जाता है। ऐसे अधम कोटि के अभिनयों में विप्रकीर्ण हस्त-मुद्राओं का प्रयोग होता है। अतः हस्त-प्रचार का आधार पात्रों एवं

---

१. देशकालं प्रयोगं चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य तु ।
हस्ताद्यं ते प्रयोक्तव्याः नृणां स्त्रीणां विशेषतः । ना० शा० ९।१६४ (गा० ओ० सी०) ।

२. अ० भा० भाग २, पृ० ६७ ।

३. सत्वातिरिक्तोऽभिनयः ज्येष्ठ इत्यभिधीयते । ना० शा० २६।२ ।

रूपकों की उत्तमता, मध्यमता एवं अधमता भी है।[1]

शास्त्रानुमोदित तथा लोकानुसारी हस्तमुद्राओं का प्रयोग

भरत ने हस्ताभिनय के प्रयोग के सम्बन्ध में अपने मन्तव्यों को व्यापक विचारभूमि के परिवेश में स्पष्ट किया है। उत्तम तथा मध्यम पात्रों के लिए यह तो आवश्यक है कि वे शास्त्रानुमोदित हस्त-मुद्राओं का प्रयोग करें। परन्तु जो नीच पात्र शास्त्रीय विधियों से अपरिचित हैं उन्हें इस बात की छूट दी है कि वे शास्त्र की मर्यादा का पालन भले ही न करें, परन्तु नाटचार्थ, लोक-व्यवहार और स्वभाव को ध्यान में रखकर हस्त-मुद्राओं का प्रयोग करें। भरत द्वारा प्रयुक्त लक्षण शब्द के लिए नवीन अर्थ की परिकल्पना करते हुए उन्होंने 'लक्षणव्यंजित' हस्तों का वह अभिप्राय प्रकट किया है कि हस्त द्वारा सम्पन्न होने वाले नव अभिनय सौष्ठव-सम्पन्न होने चाहिये। सौष्ठव के द्वारा अंगों में सौन्दर्य का प्रसार होता है। अतः हस्ताभिनय सौष्ठव-विहीन कदापि नहीं होना चाहिये।[2]

प्रयोग और काल के अनुसार हस्ताभिनय का प्रयोग

नाटच-प्रयोग और काल को दृष्टि में रखकर भरत ने हस्ताभिनय के प्रसंग में दो महत्त्वपूर्ण विधानों का उल्लेख किया है। प्रयोग को दृष्टि में रखकर कभी 'विहस्त' का प्रयोग करना चाहिये और कभी 'हस्तमुद्राओं' का प्रयोग नितान्त नहीं करना चाहिये। वस्तुतः ये दोनों विधान सौष्ठव के लिए ही होते हैं।

मद्यप, प्रमत्त, शीत, भय और ज्वर-पीड़ित मनुष्य तो 'विकलहस्त' का ही प्रयोग करता है। मन और शरीर की असामान्य स्थितियों में हस्ताभिनय में विकलता के प्रयोग द्वारा ही सौन्दर्य का प्रसार होते देखा जाता है। पुनश्च जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जब हस्ताभिनय या तो अत्यल्प होता है या नहीं ही होता है तथा सत्त्वसमाश्रित अभिनय की ही प्रचुरता रहती है। विषाद, मूर्च्छा, लज्जा, जुगुप्सा, शोक, ज्वर-ग्रस्तता हिमातप की प्रबल पीड़ा और संभ्रान्तता की उद्वेगजनक परिस्थितियों में हस्ताभिनय के स्थान पर सत्त्वसमाश्रित अभिनय होता है। प्रभाव-वृद्धि के लिए नाना अर्थ और रस का भावक काकुस्वर की योजना भी होती है।[3] ऐसे प्रसंग में हस्ताभिनय का प्रयोग न करने में ही सौष्ठव की योजना हो जाती है। भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि आन्तरिक उद्वेगों की तीव्रता तथा बाह्य प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण हृदय पर आघात गहरा हो, घनीभूत पीड़ाओं की अत्यन्त मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति होती हो तो हस्ताभिनय भाव-प्रकाशन में सक्षम नहीं हो पाता। सात्त्विक अभिनय के द्वारा वहाँ अभिनय-सौष्ठव की व्यंजना हो पाती है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने महत्त्वपूर्ण विचार किया है। जो हस्ताभिनय मानव की आन्तरिक चित्तवृत्ति के प्रकाशन में समर्थ हो उसका ही प्रयोग करना चाहिए। 'कपोतक' भयदशा, 'कर्कटक' काम की तन्द्रालसता, 'दोल' शोक-संतप्तता और 'शुकतुण्डी' आदि हस्तमुद्रायें ईर्ष्या आदि भावों का अनुभावन सात्त्विक अभिनय की तरह ही करती हैं। अतः इस प्रकार के

---

१. अ० भा० भाग २, पृ० ६७-६८।

२. लक्षणव्यंजिताः हस्ताः कार्यास्तूतम मध्यमैः। ना० शा० ६।१७४ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० ६।१७६-१७६७ (गा० ओ० सी०)।

हस्ताभिनय का प्रयोग उचित है। परन्तु जो हस्ताभिनय केवल बाह्य द्रव्य और गुणादि के प्रकाशक होते हैं उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।[1] हाथों की व्यस्तता और व्यग्रता में भी हस्ताभिनय का प्रयोग उचित नहीं होता। अपितु ऐसी जटिल परिस्थितियों में तो भावों के विविध परिवेश के अनुसार मुखराग एवं अर्थ-प्रकाशक विराम आदि के द्वारा भाव का प्रकाशन उचित होता है। यदि सारथि रथारूढ़ हो और घोड़े की बाग उसके दोनों हाथों में हो तो उसके द्वारा हस्ताभिनय का प्रयोग कदापि संभव नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में तो वाचिक अभिनय और मुखराग ही भाव-प्रकाशन के माध्यम होते हैं।

हस्ताभिनय, उपांगों का अभिनय और मुखराग की परस्पर अनुगतता

हस्ताभिनय के द्वारा भावों का प्रकाशन तो होता है परन्तु मुख, भ्रू, नेत्र और कपोल आदि का यथोचित संचालन और मुखराग की व्यंजना न हो, तो केवल हस्त-प्रचार मात्र से अपेक्षित नाट्यार्थ की व्यंजना नहीं हो पाती। वह तो इन उपांगों, मुखराग एवं हस्त की परस्पर अनुगतता से ही संभव है। मुखराग को अन्यत्र भी भरत ने नाट्य या अभिनय के प्राण के रूप में प्रतिपादित किया है, क्योंकि मुखराग के प्रयोग के द्वारा ही आन्तरिक चित्त-वृत्तियों और रागात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन हो पाता है।[2] अतः भरत का स्पष्ट मत है कि हस्त प्रचारों की अभिव्यंजना नेत्र, भ्रू और मुखराग आदि के द्वारा ही होनी चाहिये।

हस्ताभिनय : लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परम्पराओं का समन्वय

हस्ताभिनय आंगिक अभिनयों में प्रधान है। भरत ने उसका विवेचन अन्य आंगिक अभिनय-भेदों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया है। हस्ताभिनय के प्रयोग के अन्य आधारों के अतिरिक्त लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में भी विचार करना चाहिए। लोकधर्मी नाट्य-परंपरा दो प्रकार की होती है। एक के द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्ति का प्रकाशन होता है और दूसरी के द्वारा बाह्य अवयव रूपों का प्रतीक-विधान। यदि गर्व या अभिमान का सूचन प्रयोजन हो तो 'पताका' हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है और यदि कमल-सदृश सुन्दर पदार्थ की व्यंजना अभिप्रेत होती है तो 'पद्मकोश' हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है। यह सारी अभिव्यंजना-परंपरा लोक-व्यवहार के क्रम में होती है। परन्तु शास्त्र की विधियाँ और परंपराएँ उनसे किंचित् भिन्न, अधिक कल्पनात्मक और चमत्काराधायक होती हैं। लोक-व्यवहार में उनका प्रयोग नहीं होता। परन्तु नाट्य में ऐसे चमत्कारपूर्ण प्रयोगों का बड़ा महत्त्व है। 'जनांतिक' ऐसी ही नाट्यधर्मी विधि है, जिसका प्रयोग त्रिपताका मुद्रा द्वारा होता है। बहुत-सी हस्तमुद्राओं द्वारा भावों का वहन भी होता है और कुछ के द्वारा नाट्य का शृंगार भी। इनका एकमात्र लक्ष्य रहता है नाट्य के प्रभाव और सौन्दर्य की समृद्धि। हस्ताभिनय के सन्दर्भ में चारों 'करणों' का प्रयोग

---

१. ये हस्ता आन्तरीं चित्तवृत्तिं सूचयन्ति कपोतक इव भयं, कर्कटक इव मदन विजृम्भां दोल इव शोकं शुकतुण्डव ईर्ष्या ते कार्या एव इत्यावृत्या ये तु बाह्यद्रव्य गुणादिगमकास्ते न कर्त्तव्या। अ० भा० भाग २, पृ० ६८-६९।

२. सर्वे हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधि।
नेत्रभ्रू मुखरागाद्यैः कर्त्तव्या व्यंजिताबुधैः॥ ना० शा० ९।१७०-१७९-१८०।

इसी नाट्यधर्मी परंपरा द्वारा संभव हो पाता है। भरत ने हाथ के द्वारा संपन्न होने वाले नाना-भाव रसाश्रित अभिनयों, मुद्राओं और चेष्टाओं का नामकरण, रूप-रचना और विनियोग आदि का जो विस्तृत विधान किया है उसमें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का पूर्ण समन्वय हुआ है।

हस्ताभिनय के प्रयोग के सम्बन्ध में दो-तीन तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। अभिनय मात्र का प्रयोग आन्तरिक चित्तवृत्तियों के प्रकाशन के लिए ही होता है, अतः हाथ की जिन विभिन्न मुद्राओं और चेष्टाओं के द्वारा आन्तरिक रागात्मक चित्तवृत्तियों की अभिव्यंजना होती है, उनका प्रयोग तो होना ही चाहिए। परन्तु जिनसे नाट्यार्थ में शोभा और सौष्ठव मात्र का ही प्रसार होता है उन हस्त-मुद्राओं के प्रयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। निस्सन्देह इन हस्तमुद्राओं का प्रभूत प्रयोग तो नृत्त और नृत्य में विशेष रूप से होता है। हस्ताभिनय का प्रयोग वहाँ पर मंद तथा अत्यल्प होता है जहाँ उत्तम पात्रों की भावविभूति का प्रकाशन सात्त्विक अभिनय के माध्यम से होता है।[1]

हस्ताभिनय के भेद

हस्ताभिनय के प्रसंग में भरत ने उनकी विविध मुद्राओं के आधार पर सड़सठ भेदों की परिगणना की है। हस्ताभिनय के प्रधान तीन भेद हैं—संयुत, असंयुत और नृत्त। संयुत हस्त द्वारा तेरह, असंयुत द्वारा चौबीस तथा नृत्त हस्त द्वारा तीस प्रकार की विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग होता है। भरत ने इन मुद्राओं का जो नामकरण किया है और उनकी रूप-रचना का जो विधान किया है, वे शास्त्रीय तो हैं, परन्तु लोक-जीवन के व्यवहार का भी उन पर बड़ा प्रभाव है। उनके नामकरण के अनेक आधार हैं। मनुष्य की आंगिक चेष्टाओं के विविध रूप, पशु-पक्षियों की आकृति और चेष्टा, फूलों और लताओं के सुन्दर रूप तथा प्रकृति की विराट् विभूतियों के आधार पर हस्त-भेद के विभिन्न नामकरण प्रस्तुत किये गए हैं। मुष्टि, पताका, पद्मकोश, शुकतुण्ड, हंसवक्त्र, अर्धचन्द्र और भ्रमर आदि हस्त-भेद इसी प्रकार के हैं। ये नाम प्रायः उन वस्तुओं के आकार तथा उनके गुण-साम्य पर परिपल्लवित हुए हैं। पताका, पद्मकोश और मुष्टि आदि के नामों के मूल में लोक और शास्त्र की परम्पराओं को प्रतीकात्मक पद्धति पर भरत ने जीवित रखा है।[2] समस्त मानव और मानवेतर विराट् प्रकृति के विविध रूप-रंगों तथा उनकी चेष्टाओं का अध्ययन और विश्लेषण कर प्रतीकात्मक पद्धति पर मनुष्य की भाव-संपदा सुख-दुःख, हर्ष-शोक और रोष एवं चिन्ता आदि नाना भावों की अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनाया गया। इनके द्वारा नाट्य विशेषकर नृत्य में शोभा का तो प्रसार होता ही है, परन्तु जीवन की गहरी अर्थ-परम्परा की भी व्यंजना होती है।

हस्त-भेदों का नाम और क्रिया में साम्य

विविध हस्त-भेदों में नाम और क्रिया का भी साम्य बहुत अधिक मिलता है। बहुत से

---

१. ना० शा० ६।१८०-१८३।

२. पताकाकारत्वात् पताकः। अतएव पताकाप्यनेनैव अभिनेया। एवमन्येष्वपि हस्तेषु नामनिर्वचनानुसारेण विनियोगः प्रदर्शनीयः। अ० भा० भाग २, पृ० ६ तथा ना० शा० ६।१८-२७।

हस्ताभिनय की मुद्रायें अन्य हस्तभेदों के आधार हैं। फलतः उनमें नाम-साम्य ही नहीं उनकी रूप-रचना और विनियोग में भी कुछ-न-कुछ साम्य रहता है। अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड और संदंश ऐसे ही हस्तभेद हैं, जिनमें परस्पर बहुत साम्य है। 'अर्द्धचन्द्र' हस्त में अंगुष्ठ एवं अन्य अँगुलियाँ धनुषाकार हो जाती हैं और इस प्रकार अर्द्धचन्द्र का आकार बन जाता है। उसके द्वारा शशिलेखा, बाल-तरु, कम्बु, कलश, वलय, नारियों की रशना, जघन, कटी, आनन और कुण्डल आदि वृत्ताकार पदार्थों का अभिनय होता है।[1] 'अराल' हस्त की मुद्रा में अंगुष्ठ कुंचित, प्रथम अंगुली धनुष-सी टेढ़ी तथा शेष तीन अँगुलियाँ भी ऊपर की ओर मुड़ी हुई होती हैं। अराल और अर्द्धचन्द्र में रूप-साम्य है और भाव-साम्य भी है। इसके द्वारा सत्त्व, शौण्डीर्य, वीर्य, औदार्य, कांति और धैर्य आदि उदात्त भावों की अभिव्यंजना होती है। परन्तु इसी 'अराल' हस्त के द्वारा स्त्रियों द्वारा केशों का संयमन और ऊपर उठाना, अपने सुघड़ अंगों को स्वयं देखना, विवाह के अवसर पर पत्नी द्वारा पति की परिक्रमा, आह्वान, निवारण और मधुर गंध का आघ्राण-जैसे सुकुमार भावों का स्त्रियों द्वारा अभिनय होता है।[2] 'संदंश' हस्त 'अराल' के समान ही होता है परन्तु तर्जनी और अंगुष्ठ दोनों ही एक-दूसरे के सम्मुख रहते हैं तथा हस्ततल का मध्य गहरा होता है। आकार की दृष्टि से 'संदंश' तीन प्रकार का होता है—अग्रज, मुखज और पार्श्वगत। 'अग्रज संदंश' के द्वारा पुष्पावचयन, माला ग्रंथन, केश, सूत्र और कटक का ग्रहण और कर्षण आदि अभिनेय व्यापार संपन्न होते हैं। 'मुख संदंश' के द्वारा पेड़ की डाल को झुकाकर फूल तोड़ना, शलाका द्वारा नेत्रों में अंजन-लेप, चित्रांकन, बाहु या कपोल पर पत्र-भंग की रचना, अलक्तक का निष्पीडन आदि सुकुमार अभिनेय कार्यों का प्रयोग होता है। 'पार्श्व-संदंश' द्वारा भी कोमल, कुत्सा, ईर्ष्या और असूया आदि का अभिनय बायें हाथ द्वारा संपन्न होता है।[3] 'शुकतुण्ड' मुद्रा अराल की अनामिका अँगुली के वक्र होने पर होती है। इसके द्वारा केवल निषेधात्मक अभिनय-व्यापार ही नहीं संपन्न होता अपितु ईर्ष्या, मान, प्रणय और कलह आदि नारी-जनोचित भावों की अभिव्यंजना होती है।[4] इस मुद्रा का विकास शिव-पार्वती के प्रेम-कलह से हुआ, ऐसी कल्पना की गई है।

असंयुत हस्त

पताका, त्रिपताका और कर्तरी मुख एक-दूसरे के निकट है, रूप-रचना और भाव-साम्य की दृष्टि से भी। पताका का उद्भव ब्रह्मा से हुआ। इसका वर्ण श्वेत है, ऋषि शिव और संरक्षक देवता परब्रह्म हैं। पताका में सब अँगुलियाँ सम और प्रसृत होती हैं, अंगुष्ठ कुंचित होता है। पताका का अभिनय-क्षेत्र स्थान-परिवर्तन के अनुसार तो अनन्त है। इसके द्वारा विराट् प्रकृति के

---

१. रशनाजघनकटीनामाननतलपत्र कुंडलादीनाम्।
कर्तव्यो नारीणामभिनय योगोऽर्द्धं चन्द्रेण। ना० शा० ६।४३-४५।

२. ना० शा० ६।४६-५२।

३. ना० शा० ६।११०-११६ (गा० ओ० सी०)।
ना० शा० ६।५३-५४ (वही), मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ४६।

४. न च सर्वथा निषेधेऽयमभिनयः अपितु अर्थे अर्थनायां सत्यामीर्ष्या प्रणयाकलहादावितियावत्।
अ० भा० भाग २, पृ० ३६। मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ४७।

सुन्दर, भव्य और भयानक रूपों का संकेत मुद्रा में किंचित् परिवर्तन से सम्पन्न हो पाता है। वायु, अग्नि और वर्षा का वेग, लहरों का तट पर टकराना आदि अनेक प्राकृतिक परिस्थितियों का बोध होता है।[1] त्रिपताका (संयुत हस्त) पताका की तरह ही है, केवल इसकी अनामिका अँगुली वक्र होती है। इन्द्र के वज्र-धारण की शैली से इसका उद्भव हुआ है। वर्ण श्वेत, जाति क्षत्रिय, ऋषि गुह, संरक्षक शिव हैं। हाथ की मुद्रा द्वारा आवाहन, अवतरण, वारण, मांगल्य द्रव्यों का स्पर्श और उष्णीष (पगड़ी) या मुकुट आदि का धारण अभिनीत होता है। त्रिपताका को ही अधोमुख और ऊर्ध्वमुख करने में न जाने कितने भावों का संकेत होता है।[2] दशरूपक के अनुसार 'जनांतिक' आदि में इसी का प्रयोग होता है। कर्तरी-मुख भी त्रिपताका की तरह है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी रहती है। इसकी विभिन्न मुद्राओं द्वारा चरण-रचना, शृंग, लेख, पतन, मरण व्यतिक्रम और परिवर्तन आदि भावों का संकेत होता है। शिव और जलन्धर की युद्ध-कथा से इसका उद्भव हुआ। पर्जन्य ऋषि, संरक्षक विष्णु और वर्ण ताम्र है।[3]

असंयुत हस्तों में 'चतुर' हस्त का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य-जीवन के जितने भी सुकुमार और सुन्दर भाव हैं, उनका अभिनय 'चतुर' के द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें तीनों अँगुलियाँ प्रसारित होती हैं। कनिष्ठ अँगुली ऊर्ध्वगामी होती है और अंगुष्ठ मध्यस्थित होता है। लीला, रति, रुचि, स्मृति, बुद्धि, विभावना, क्षमा, पुष्टि, प्रणय, पवित्रता, चतुरता, माधुर्य, दाक्षिण्य, मृदुता, यौवन और सुरत आदि के न जाने कितने भावों का अभिनय इसके द्वारा सम्पन्न होता है। प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार तो श्वेत, श्याम और रक्त आदि वर्णों का भी संकेत होता ही है।[4] इसका उद्भव कश्यप से हुआ। अमृत चुराने के समय गरुड़ को कश्यप ने उसी मुद्रा की शिक्षा दी। इसका ऋषि वालखिल्य-वर्ण विचित्र, संरक्षक देवता विष्णु हैं।

हंस-वक्त्र, हंस-पक्ष और मुकुलकर ये तीनों हस्त-मुद्रायें भी एक-दूसरे की बहुत निकटवर्ती हैं। इनके द्वारा नारी-जनोचित शृंगार-योग्य भावों का प्रदर्शन होता है। आलिंगन, रोमहर्षण, कोमल स्पर्श, अनुलेपन तथा नारियों के दोनों उरोजों के मध्य हृदयग्राही रसानुकूल विलास-भाव आदि के अभिनय-व्यापार सम्पन्न होते हैं। मुकुलकर मुद्रा के द्वारा विट प्रमदा के निकट अपनी प्रेमविह्वलता के प्रदर्शन के लिए अपने हस्त-तलका चुम्बन या प्रमदा के मर्मस्थान के स्पर्श के सुकुमारभाव का विन्यास करता है।[5] असंयुत हस्ताभिनयों में पताका, सूचीमुख, भ्रमर, चतुर, संदंश वक्त्रमुख और पद्मकोश आदि प्रधान हैं। इनके द्वारा नयी-नयी मुद्राओं का आविर्भाव

---

१. ना० शा० ९।१८-२७ (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ४५-४६।

२. It may be pointed out here once for all that the different meanings of a given hand are differentiated by the position in which it is held and by the way in which it is moved.

—*Mirror of Gesture*, p. 46, footnote.

तथा ना० शा ९।२८ ३६ वही, द० रू० १।२२६।

३. वही ९।४०-४२ (गा० ओ० सी०)। वही पृ० ४७ तथा पादटिप्पणी-२०।

४. सितमूर्ध्वेण कुर्याद्रक्तं मंडलकृतेनैव च। ना० शा० ९-९३-१०० (गा० ओ० सी०)। मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ५४-५५।

५. पुनरेव च नारीणां स्तनान्तस्थेन विभ्रम विशेषाः। कार्यो यथारसं स्युः दुःखे ह्यनुधारणे चैव। ना० शा० ९।१०९, मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ५५-५६।

होता है। अर्थ-व्यापार के बोधन तथा आकृति-साम्य की दृष्टि से इनका कई और प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ हस्तमुद्राओं द्वारा जीवन के सुकुमार भावों, नर-नारी के शृंगार भाव की ललित चेष्टाओं का अभिनय होता है और कुछ के द्वारा पुरुष के परुष भावों, प्रकृति के विराट् भव्य, सुन्दर और भयानक रूपों का संकेत होता है। असंयुत हस्त की सारी अभिनय-क्रिया एक ही हाथ से सम्पन्न होती है। यह असंयुत हस्त ही संयुत और नृत्त हस्तों के विविध विस्तार का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

संयुत हस्त

संयुत हस्त में दोनों हाथ परस्पर संश्लिष्ट होते हैं। इस 'संयुत' हस्त के तेरह भेद हैं। तेरहों भेद असंयुत हस्त के ही विकसित, परिवर्तित एवं विभिन्न रूप हैं। अंजलि, स्वस्तिक, पुष्प-पुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ, कपोतक, कर्कट, निषध और वर्धमान आदि हैं। भरत ने इन तेरह भेदों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि असंयुत हाथ की विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से संयुत हस्त की मुद्राओं की रूप-रचना होती है।[1] अंजलि प्रसिद्ध संयुत हस्तमुद्रा है, इसकी रचना दोनों हाथों की पताका मुद्रा द्वारा होती है। इसका विनियोग गुरुओं की वन्दना, मित्रों के अभिनन्दन आदि में होता है। कपोतक हस्तमुद्रा की रूप-रचना दोनों हाथों के पार्श्वों के योग से होती है। शीत और भय की अवस्था में प्रमदायें कपोत-हस्त का विन्यास वक्षःस्थल पर करती हैं।[2] इसी प्रकार कर्कट असंयुत हस्त में दोनों हाथों की अँगुलियाँ परस्पर एक-दूसरे से कर्कट की दाढ़ के समान उलझी रहती हैं। इस मुद्रा का प्रयोग मदनांगमर्दन, शयनोपरान्त आलस्य-त्याग आदि के रूप में किया जाता है।[3]

संयुत हस्त और असंयुत हस्तमुद्राओं के विश्लेषण के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने यह संकेत किया है कि वास्तव में नाट्यशास्त्र में परिगणित भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों की परिकल्पना की जा सकती है, क्योंकि कोहल आदि आचार्यों ने अन्य भेदों का उल्लेख किया है।[4] इन मुद्राओं द्वारा जिन भावों के अभिनयों का विनियोग प्रतिपादित किया गया है उनके अतिरिक्त अन्य भावों का भी अभिनय सम्भव है, यदि वे लोक-प्रचलित तथा भावगम्य हों। वस्तुतः नाट्य-व्यापार में हस्ताभिनयों और उनकी मुद्राओं का बड़ा महत्त्व है। उनके द्वारा न जाने कितने विभिन्न भावों का अभिनय प्रतीक रूप में होता है। केशाकर्षण तो एक ही व्यापार है, परन्तु विदूषक का केशा-कर्षण 'खटकामुख' द्वारा प्रिया का कचाकर्षण 'अराल' द्वारा और रति-क्रीड़ा के प्रसंग में कचा-कर्षण 'मुष्टि' द्वारा सम्पन्न होता है।[5] कचाकर्षण की प्रत्येक मुद्रा मनोभावों की विभिन्नता के अनुरूप भिन्न रूप और आकृति की रचना करती है। हाथ द्वारा होने वाले कर्मव्यापारों का समाहार भी भरत ने किया है। उनकी दृष्टि से हाथ के द्वारा उत्कर्षण, विकर्षण, व्याकर्षण, परिग्रह,

---

१. ना० शा० ९।१२८, मिरर ऑफ़ गेस्चर, पृ० ५८।

२. कंपत इति कपोतो भीरुः पक्षी तत् प्रकृतिरन्योऽपि कपोतस्तस्य यतोऽयं भवतीति अतोनामेव भीत-विषयत्वात्। अ० भा० भाग २, पृ० ५६।

३. अ० भा० भाग २, पृ० ५७।

४. वही, भाग २, पृ० ५५।

५. अ० भा०, भाग २, पृ० ६५।

निग्रह, आह्वान, ताडन, छेदन, भेदन, संश्लेष, वियोग, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप, धूतन, तर्जन, स्फोटन, संकोचन और सादर त्याग आदि अनन्त कर्म होते हैं। ये सारे हस्त कर्म भी नेत्र-भ्रू मुखराग आदि द्वारा व्यंजित होने चाहिये।[1]

निःसन्देह हस्ताभिनय का भरत ने जिस वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण और वर्गीकरण किया है, वह विस्मयावह है। अपनी भाव-सम्पदा के प्रकाशन में न जाने कितने प्रकार से कितनी मुद्राओं के साथ मनुष्य अपने भावों को रूप देता है, उन सबका अध्ययन और तुलना करके प्रतीक रूप में उनको शास्त्रीय रूप देना कम साहस की बात नहीं है। प्रत्येक परिवर्तित हस्त की मुद्रा के द्वारा भावों की नयी आभा फूटती है।

नृत्त हस्त

इसी प्रसंग में भरत ने तीस नृत्त हस्तों का भी पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। इन नृत्त हस्तों की भी रूप-रचना हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होती है। चतुरस्र नामक नृत्त हस्त के प्रयोग में प्रांमुख, खटकामुख तथा कर्पूरांस (कन्धा) सन्तुलित रहते हैं। उद्धत में दोनों हाथ हंसपक्ष की मुद्रा में रहते हैं, 'अराल खटकामुख' में मणिवंध के अन्त में दोनों हाथ अराल की मुद्रा में परस्पर विच्युत होते हैं।[2] सब नृत्त हस्तों की रूप-रचना संयुत या असंयुत हस्त के संश्लेषण और विश्लेषण द्वारा होती है। पताका आदि अभिनय हस्तों के योग के साथ अभिनय और नृत्त की संकरता भी होती है। नाट्य की प्रधानता होने पर वह 'अभिनयकर' होता है और नृत्त की प्रधानता होने पर नृत्तकर[3]। विशुद्ध नाट्य की हस्तमुद्रायें हों या नृत्यहस्त की मुद्राओं का अभिनय सम्पादन करना हो, तो करणों का ज्ञान नितान्त आवश्यक होता है। करण के चार प्रकार होते हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्तित और परावर्तित। इन चारों करणों के द्वारा हाथ की प्रधान मुद्रायें रूप लेती हैं। इन करणों का प्रयोग भी मुख, भ्रू, नेत्र और मुखराग आदि के सन्दर्भ में करना चाहिये तथा करणों का प्रयोग विशुद्ध नाट्य और और नृत्त दोनों में ही होता है। अभिनय का कोई भी रूप तब तक पूर्ण नहीं हो पाता जब तक नेत्र, भ्रू तथा मुखराग आदि की भी साथ ही व्यंजना न होती हो। वह नृत्तहस्त का प्रयोग हो या नाट्य के हस्त की मुद्राओं का, परन्तु इन उपर्युक्त उपांगों का भी तदनुरूप भाव-रसाश्रित संचालन नितान्त अपेक्षित है।[4]

अन्य प्रधान अंगों द्वारा अभिनय

अभिनय-विधान के प्रसंग में भरत ने हृदय (वक्षस्थल), उदर, पार्श्व, उरु, जंघा और पाद द्वारा होने वाले अभिनयों का विवेचन और वर्गीकरण किया है। इन प्रधान अंगों का भाव और रस की भिन्नता के परिवेश में जो भिन्न रूप-रचना होती है उनके आधार पर उनकी मुद्रायें, आकृति की रचना और विनियोग का बहुत ही विस्तृत विधान किया है। हम यहाँ उन्हें सूत्र-रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

---

१. ना० शा० ६।१६८-१६६ (गा० ओ० सी०)।

२. वही ६।१७०-२०६ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० ६।२१२-२१६ (गा० ओ० सी०)।

४. नेत्रभ्रू मुखरागाद्यैर्व्यंजिताः इति त्वभिनयेषु पूरणार्था प्रक्रिया। अ० भा० भाग २, पृ० ८१।

इनके भेद और विनियोग

हृदय के आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकंपित, उद्वाहित और सम के द्वारा लज्जा, हृदय की पीड़ा, सत्यवचन, विस्मय-दृष्टि, गर्व-प्रदर्शन, मानग्रहण, हँसने, रोने, श्रम, भय, श्वास, कफ, हिचकी तथा दुःख, उच्छ्वास, ऊँचाई की ओर देखने और जंभाई लेने आदि असंख्य भावों का प्रदर्शन होता है।[1] **पार्श्व** के नत, समुन्नत, प्रसारित, विर्वातित और प्रसृत पाँचों पार्श्व-रूपों के द्वारा उपसर्पण, अपसर्पण, आनन्द दशा, चक्राकार तथा हटने आदि भावों को रूप दिया जाता है।[2] **उदर** के तीन रूपों का उल्लेख है। हास्य-रुदन के आदि के प्रसंग में क्षीणोदर 'क्षाम' होता है, व्याधि, तपस्या, क्षुधा तथा थकावट की स्थिति में उदर 'नत' हो जाता है और स्थूलता, व्याधि और अतिभोजन की अवस्था में उदर 'पूर्ण' रहता है।[3] **कटि** पाँच प्रकार की होती है। व्यायाम, शीघ्रता और चारों ओर देखते हुए कटि **छिन्न** होती है और उसका मध्य भाग एक ओर हो जाता है। निवृत्त, रेचित, प्रकंपित और उद्वाहित आदि कटि के विभिन्न रूपों द्वारा अनेक प्रकार की गतियों का योग होता है।[4]

अंगों का समन्वित प्रयोग

उरु, जंघा और पाद के भी पाँच-पाँच रूप हैं। उनका विभिन्न भावों के प्रकाशन में प्रयोग होता है।[5] पाद, जंघा और उरु द्वारा होने वाले अभिनय-व्यापार भी परस्पर सम्बन्धित होते हैं। भाव और रस को दृष्टि में रखकर इनका समान रूप से एक साथ संचालन होता है। इन तीनों के कर्म-व्यापारों के समन्वय के द्वारा ही अभिनय में पूर्णता आती है। इन तीनों में भी पाद द्वारा होने वाले अभिनयों का बड़ा महत्त्व है, उरु और जंघा तो उसी पर आधारित हैं। जिस प्रकार पाद का प्रवर्तन होता है उसी प्रकार उरु और जंघा का भी। इन्हीं तीनों के समीकरण से 'चारी' की रचना होती है। इनका अभिनय और नृत्य दोनों ही के लिए समान रूप से महत्त्व है। पाद के पाँच रूप ये हैं—उद्घटित, सम, अग्रतलसंचर, अंचित और कुंचित।[6]

चारी

नाट्य और नृत्य दोनों ही कलाओं के लिए चारी के महत्त्व का प्रतिपादन भरत ने किया है। कटि, पार्श्व, उरु, जाँघ तथा पाद द्वारा होने वाले अभिनयों का समानीकरण ही चारी है।[7] अतः चेष्टायें चारी द्वारा व्याप्त रहती हैं। चारी के द्वारा ही नृत्त तथा अंगहार की रचना होती है। चारियों के द्वारा ही शस्त्र मोक्ष होता है। इसीलिए भरत ने चारी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि नाट्य की स्थिति तो चारी में ही होती है, बिना चारी के शिर एवं हस्तादि

---

१. ना० शा० ६।२२३-२३२।
२. ना० शा० ६।२३३-४० (गा० ओ० सी०)।
३. वही ६।२४१-२४३ " " "
४. वही ६।२४४-२५० " " "
५. वही ६।२५०-२६६ " " "
६. तयोः समानकरणात् पादचारी प्रयोजयेत्। ना० शा० ६।२८२ (गा० ओ० सी०)।
७. ना० शा० १०।१-४ (गा० ओ० सी०)।

का भी संचालन नहीं होता है। कुछ का संचालन चारी के साथ होता है, कुछ का पूर्वापर भाव से। अतः अभिनय के क्षेत्र में 'चारी' का महत्त्व तो असाधारण है।[1]

भौमी और आकाशिकी

चारी द्वारा आंगिक अभिनय तो सम्पन्न होता ही है, वह नृत्य के 'करण', 'खण्ड' तथा 'मण्डल' का भी आधार है। जब एक पाद-प्रचार द्वारा कोई कार्य सम्पन्न होता है तो चारी, जब दो बार पाद-प्रचार होता है तो करण, करणों के समायोग द्वारा खण्ड तथा तीन-चार खण्डों के योग द्वारा मण्डल की परिकल्पना की जाती है।[2] इनका विशेष रूप से प्रयोग 'नृत्त' में होता है। परन्तु नाट्य में युद्ध और शस्त्र-प्रहार के प्रसंग में चारी का प्रयोग होता है। आचार्य भरत ने चारी के अभिनय-व्यापारों को दो भागों में विभाजित किया है—भौमी और आकाशिकी। भौमी और आकाशिकी के सोलह भेद हैं। इस प्रकार चारी के भेद कुल बत्तीस हैं—भरत की दृष्टि से। परन्तु अभिनयदर्पण में केवल आठ ही प्रकार की चारियों का उल्लेख मिलता है तथा भौमी और आकाशिकी इन दो पृथक् भेदों की परिकल्पना नहीं है। नाट्य-शास्त्र में बीस प्रकार के मण्डलों का भी उल्लेख है। वे चारी की तरह भौमी और आकाशिकी इन दो वर्गों में विभाजित हैं।[3]

भौमीचारी—भौमीचारी के सोलह भेदों का प्रयोग मुख्यतः भूमि पर होता है। इसीलिए भौमी यह उनकी संज्ञा है। इन सबके नाम अन्वर्थ हैं। समपादा चारी में दोनों चरणों की गति-भूमि पर ही होती है. एक-दूसरे के निकटवर्ती, एक ही स्थान पर आश्रित होते हैं, यहाँ तक कि उनके नख भी सम होते हैं।

आकाशिकी—आकाशिकी चारी के अन्तर्गत आकाश की ओर होने वाले अभिनय-व्यापारों का परिगणन किया गया है। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में स्पष्ट रूप से इसका समर्थन किया है कि 'चारी' की दोनों संज्ञाएँ अन्वर्थ ही हैं। परन्तु दोनों चारियों में मौलिक अन्तर यह है कि 'भौमी' का प्रयोग मुख्यतः द्वन्द्व-युद्ध और करणाश्रित नृत्य के प्रसंग में परम्परा से होता आया है और प्रसंगवश नाट्य में भी होता है। परन्तु 'आकाशिकी' का प्रयोग मुख्यतः ललित अंगों की क्रिया के प्रसंग में तथा धनुष, वज्र और असि के मोक्ष में होता है।[4]

पाद और हस्त-प्रचार की परस्पर अनुगतता

नाट्य एवं नृत्य में पाद-प्रचार (चारी) और हस्त-प्रचार दोनों का ही प्रयोग होता है। भरत ने दोनों के समन्वय और परस्परानुगतता के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन किया है। नाट्य और नृत्य (नृत्त) में कभी तो हस्त-प्रचार की प्रधानता रहती है, कभी पाद-प्रचार की और कभी दोनों ही समान रूप से प्रधान होते हैं। ऐसी परिस्थिति में भरत ने यह

---

१. यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेवसंस्थितम्।
   नहि चार्या विना किंचित् नाट्येऽगं संप्रवर्तते। ना० शा० १०।६ (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० १०।१-३-३६, तथा अ० द०, पृ० ३४-३६।
३. अ० द०, पृ० ४०-४१, ना० शा० १०।१४ (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० १०।२६,४६, अभिनव भारती भाग २, पृ० ६६,१०७

सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जिस ओर पाद-प्रचार हो उसी ओर हस्त-प्रचार भी होना उचित है। हस्त-प्रचार के अनुसार समस्त शरीर की गति का निर्धारण होता है। पाद-प्रचार जिस रूप में होता है भ्रू, नेत्र, मुखराग आदि की भी योजना तदनुरूप ही होती है। परन्तु पारस्परिक प्रधानता का नियम इन अभिनय-व्यापारों का सदा अनुशासन करता है। हस्त-प्रचार की प्रधानता में पाद-प्रचार उसीके अनुसार होता है और पाद-प्रचार की प्रधानता में हस्त-प्रचार पाद-प्रचार के अनुसार होते हैं। यदि दोनों प्रधान होते हैं तो दोनों का विनियोग एक ही काल में होता है।[1]

स्थान

'चारी' के विवेचन के प्रसंग में भरत ने कई महत्त्वपूर्ण नाटच-प्रयोग-सम्बन्धी सिद्धान्तों का आकलन किया है। उनके विचार से पाद-प्रचार-काल में मनुष्य के छः स्थान होते हैं। अभिनवगुप्त ने इन स्थानों को 'कायसन्निवेश' और मनमोहन घोष महोदय ने 'खड़े होने की मुद्रा' (स्टैंडिंग पोस्चर : प्रास्थानक) के रूप में विवेचन किया है।[2] वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ और प्रत्यालीढ ये छः स्थान हैं। प्रत्येक स्थान रूपरेखा और विनियोग की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न है। वैष्णव स्थान में दोनों चरणों में दो तालों का अन्तर, एक भाव स्वाभाविक मुद्रा में, दूसरा किंचित् वक्र, अँगुलियाँ पार्श्वाभिमुखी और अंग सौष्ठव-युक्त होते हैं। देवता विष्णु हैं। इस स्थानक का विनियोग उत्तम-मध्यम पात्रों के स्वाभाविक वार्तालाप, चक्रमोक्षण, धनुषधारण, धैर्य, उदात्त अंगलीला, शंका, असूया, उग्रता, चिंता, मति, स्मृति, दीनता, श्रृंगार और अद्भुत आदि रसों में होता है। इसी प्रकार अन्य आलीढ और प्रत्यालीढ स्थानों में रौद्र रस, आवेगपूर्ण वार्तालाप तथा शस्त्र-मोक्ष आदि का प्रयोग होता है।[3] शस्त्रमोक्ष की भी चार विधियाँ हैं, भारत, सात्वत, वार्षगण्य और कैशिक[4]। भारत के अनुसार कटि पर, सात्वत के अनुसार पाँव पर, वार्षगण्य के अनुसार वक्षस्थल पर और कैशिक के अनुसार शिर पर अस्त्र-प्रहार का विधान है। इनका शास्त्रीय नाम 'न्याय' भी है, क्योंकि न्यायाश्रित अंगहार और न्याय से समुपस्थित युद्ध का रंगमंच पर 'नयन' होता है। भारत-न्याय के अनुसार प्रवेश करता हुआ पात्र बायें हाथ में खेटक और दायें हाथ में उपयुक्त अस्त्र लेकर रंगमंच पर परिक्रमा करता है। इसी प्रकार अन्य न्यायों में भी किंचित् परिवर्तन के साथ शस्त्रों का प्रयोग नाटच में होता है। वस्तुतः नाटच के संदर्भ में प्रयोग की दृष्टि से वृत्तियों में 'भारती' वृत्ति की तरह न्यायों में 'भारत-न्याय' ही सर्वप्रधान है।

चारी का नाटच में प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नाटच एक सुकुमार कला है, जीवन की अनुरूपता के कारण उसमें उद्धत और परुष भावों और घटनाओं की भी योजना होती ही है। अतः सुकुमार नाटचकला में युद्ध और नियुद्ध आदि दृश्यों के प्रसंग में उसका प्रयोग किस रीति से होना चाहिये, इसका विधिवत् और विस्तृत विवेचन भरत ने किया है। लोक में अस्त्र-

---

१. यतः पादस्ततो हस्तः यतो हस्तः ततः त्रिकम्। ना० शा० १०।४८ (गा० ओ० सी०)।

२. स्थानानि—कायसन्निवेशाश्च उच्यंते। अ० भा० भाग २, पृ० १०७, ना० शा० अ० अं० ११।५०, पृ० २०१।

३. ना० शा० १०।५२-७२ (गा० ओ० सी०)।

४. वही १०।७४-८३।

धारण, शस्त्र-मोक्षण, प्रहार आदि के जो प्रयोग होते हैं, उन सबका यथावत् पर्यालोचन कर भरत ने उसको सैद्धान्तिक रूप दिया है।

निषेध

प्रयोग-विधान के अतिरिक्त भरत ने रंगमंच पर प्रयोक्ता पात्रों द्वारा अस्त्र-प्रयोग और अस्त्र-मोक्ष आदि के सम्बन्ध में निषेधों का भी विधान किया है। भरत का स्पष्ट विचार है कि धनुष या वज्र आदि का प्रयोग हो, प्रहार भी हो, पर वह संज्ञा-मात्र हो, न कि रुधिर-स्राव करने वाला वास्तविक प्रयोग[1]। अतएव घातन, भेदन और छेदन आदि का अत्यन्त स्पष्ट निषेध है। यदि ये अत्यावश्यक हों, तो आहार्य विधि द्वारा उनका प्रयोग करना चाहिये। इस निषेध के मूल में भरत की सुरुचि का हम अनुमान कर सकते हैं। नाट्य सुकुमार कला है, ऐसे दृश्यों से कुरुचि जागती है। नाट्य सुरुचि का प्रतीक है, इसमें कुरुचि के लिए स्थान कहाँ? दूसरी ओर 'चारी' के प्रसंग में 'अंग-सौष्ठव-विधान' नितान्त अनिवार्य माना है, क्योंकि अंगसौष्ठव से ही नाट्य और नृत्य में शोभा का प्रसार होता है।[2] सौष्ठव-अंग में गात्र अचल, शान्त, न बहुत तना, न झुका होता है। कटी, कर्ण, स्कंध और शिर 'सम' और वक्षस्थल 'उन्नत' होता है। मध्यम और उत्तम पात्र अंग-सौष्ठव से ही अपना प्रभाव समृद्ध करते हैं।

चारी-विधान भरत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय उपलब्धियों में है। परन्तु इसके मूल में भी लौकिकता की प्रच्छन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। शस्त्र-मोक्ष, हस्त-प्रचार और पाद-प्रचार की पारस्परिक अनुगतता, रंगमंच पर छेदन-भेदन और रुधिर-स्राव का निषेध तथा अंगों के संतुलित सौष्ठव का विधान, ये सब-कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण नाट्योपयोगी प्रयोग की शृंखलाएँ हैं, जिनसे भरत की प्रयोगशील दृष्टि का हम अनुमान कर सकते हैं। नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में भरत ने सब प्रयोज्य नाट्य एवं अभिनयों का निश्चित रूप से निर्धारण किया है कि यह नाट्य-प्रयोग शतांश में मनुष्य के जीवन के अनुरूप हो और अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो सके।

गति-विधान

गति-विधान—एक महत्त्वपूर्ण नाट्यचिन्तन

आंगिक अभिनय के विवेचन के क्रम में भरत ने पात्र द्वारा प्रयोज्य स्थान, पाद-प्रचार, आसन और शयन आदि विभिन्न नाट्योपयोगी विधियों के सम्बन्ध में तात्विक विचार प्रस्तुत किया है। आंगिक अभिनय की ये चारों स्थितियाँ आपस में रूप-रचना की दृष्टि से तो भिन्न हैं ही, इनका प्रयोग भी भावों की भिन्न भूमिका में होता है। इन विधियों का पारिभाषिक नाम

---

१. संज्ञामात्रेण कर्त्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः।
न भेद्यं न चापिच्छेद्यं न चापिरुधिरस्र‍ुतिः।
रंगे प्रहरणं कार्यो न चापिव्यक्तघातनम्।
अथवाऽभिनयोपेतं कुर्याच्छेद्यं विधानतः। ना० शा० १०।८५-८७। (गा० ओ० सी०)।

२. नाट्यं नृत्तं च सर्वं हि सौष्ठवे संप्रतिष्ठितम्। ना० शा० १०।८८-९३।

भरत ने 'गति' रखा है। 'गति' के अन्तर्गत ही भाव, रस, अवस्था, देश और काल की विविधता और विभिन्नता के संदर्भ में प्रयोज्य पात्र के स्थान, पाद-प्रचार, आसन और शयन आदि का निर्धारण होता है। क्योंकि एक व्यक्ति दूसरे से केवल अवयव-संस्थान और स्नायुगत प्रतिक्रिया आदि की दृष्टि से ही भिन्न नहीं होता अपितु अपनी आन्तरिक चित्तवृत्ति, देशकाल की सीमा और जीवन के विविध परिवेश के कारण भी उसकी मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न होती है और उसका प्रभाव समस्त अंग-उपांगों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ता है। पाद-प्रचार उनसे प्रभावित होता है।

गति-विधान नाटच-प्रयोग की समृद्धि और सफलता की दृष्टि से भरत की महत्त्वपूर्ण देन है। इसके अन्तर्गत रंगमंच पर पात्र के प्रवेश-काल से निष्क्रमण-काल तक की प्रत्येक शारीरिक चेष्टा का शास्त्रीय रीति से निर्धारण हुआ है। पात्र का स्थानक (खड़े होने की मुद्रा) उसके दोनों चरणों का स्थान-व्यवधान, चरणविन्यास में काल का क्रम, लय, भाव और रस की भिन्नता के अनुसार गति में भिन्नता; रथारोहण, जल-संतरण, नौका-यात्रा, आकाश में संचरण, पुरुष द्वारा स्त्री की भूमिका तथा स्त्री द्वारा पुरुष की भूमिका में अवतरण आदि अनेक नाटच-प्रयोग सम्बन्धी तात्त्विक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। गतिविधान यद्यपि आंगिक अभिनय का अंग है, परन्तु अभिनय के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण रूपों और तथ्यों का भी इसमें आकलन किया गया है। इसमें भरत ने लोक-प्रचलित धारणाओं और अंग-प्रत्यंग की भाव-भंगिमाओं की विवेचना पात्र की प्रकृति और अवस्था-भेद के संदर्भ में की है।

पात्र का प्रवेश-काल

पात्र का रंगमंच पर प्रवेश एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाट्य-प्रक्रिया है। पात्र-प्रवेश के द्वारा ही प्रेक्षक के हृदय में सुखदुःखात्मक संवेदना का सृजन होता है। अतः प्रवेश-काल में पात्र का प्रवेश इस प्रभावशाली रूप में होना चाहिए कि प्रतिपाद्य मुख्य रस का उदय प्रेक्षक के हृदय में आरम्भ से ही होने लगे। अतएव भरत ने भाण्डवाद्य-पुरस्कृत 'मार्ग' और रसोपेत 'ध्रुवागान' का विधान पात्र-प्रवेश-काल में किया है।[1] प्रविष्ट पात्र ही तो 'नानार्थ-रस' का स्रष्टा होता है और उसका रंगमंच पर प्रवेश-काल नाट्य-प्रयोग की प्रभातकालीन मंगल-वेला है, जिसमें जीवन की संवेदनात्मक रश्मि की रंगविरंगी आभा प्रेक्षक के हृदय को प्रतिभासित करने लगती है। कोहल और आचार्य अभिनव गुप्त ने पात्र-प्रवेश-काल को बड़ा महत्त्व दिया है। प्रवेश-काल का बाह्य वातावरण और पात्र की आंगिक चेष्टायें, स्थानक और मुखराग आदि सब रसोन्मुखी हों।[2]

पात्र के गतिनिर्धारण में प्रकृति का योग

पात्र का प्रवेश-काल केवल मनोहर गान-वाद्य और रमणीय दृश्य-विधान से ही समृद्ध नहीं

---

१. तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम्।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः। ना० शा० १२-२-३ (गा० ओ० सी०)।

२. कोहलेन प्रयोगवलाद् व्यपदिष्टं शुष्काक्षरगानंकृत्वा प्रवेश एव समुचित स्थानक दृष्टिमुखरागादि-युक्तो कर्तव्यः। यथा सामाजिकानां झडित्येवान्विताभिधान न्यायेन मुख्यरसव्याप्तिरुदयते। अ० भा० भाग २, पृ० १३०।

होता अपितु पात्र की प्रत्येक चेष्टा—ताल, कला और लयाश्रित हो सम्पूर्ण वातावरण में एक जीवन-संगीत की लय का सृजन करती है। यह लयात्मकता मनुष्य की चित्तवृत्ति से अनुप्राणित होती है। प्रविष्ट पात्र के चरण प्रकृति और मनोदशा-भेद से निश्चित दूरी पर और नियत काल-क्रम से पड़ते हैं। उत्तम प्रकृति के पात्र के चरणों का स्थान काल-क्रम और उसका गतिक्रम (लय) तीनों ही अधिक दूरी, अधिक काल और लय पर आश्रित होते हैं। क्योंकि उत्तम पात्रों की प्रकृति और चित्तवृत्ति गम्भीर और स्थिर होती है और अधम पात्रों की प्रकृति चंचल और असंयत। अधम प्रकृति के पात्रों के चरणों की दूरी, चरण-विन्यास का कालक्रम तथा गतिक्रम सब थोड़ी दूरी, कम काल पर आश्रित होते हैं। देवताओं और राजाओं के पादोत्क्षेप का अन्तर चार ताल, मध्यम पात्रों का दो ताल तथा स्त्री-पात्र एवं नीच पात्रों के चरणों का अन्तर केवल एक ताल होता है। पादोत्क्षेप का काल-मान भी चरण-ताल के अनुसार ही होता है। उत्तम पात्र के चरण-विन्यास में चार कला, मध्यम में दो और अधम में एक कला का समय लगता है।[1] मनुष्य की उत्तमाधम प्रकृति के मेल में ही उसकी गति का क्रम या लय भी निर्धारित होता है। लय तीन हैं—स्थित लय, मध्य लय और द्रुत लय। प्रकृति और मानसिक अवस्था से प्रभावित होने के कारण ही धीर-गम्भीर स्वभाव के पात्रों का गति-क्रम स्थित लय, मध्यम स्वभाव के पात्रों का मध्य लय और अधम स्वभाव के चंचल निकृष्ट पात्रों के गतिक्रम के लिए द्रुत लय का विधान किया है।

गति-निर्धारण में सत्त्व का योग

भरत के विचार इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट हैं कि ताल, काल और लयाश्रित गति का निर्धारण सत्ववश या मनोदशा के सन्दर्भ में होना चाहिए।[2] भरत की यह स्थापना उनकी लोक-परम्परानुसारी नाट्यप्रयोग की दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने सामान्य रूप से प्रकृति-भेद से ताल, काल और लय भेद का निर्धारण किया है। परन्तु असाधारण मानसिक दशा में इन नियमों का कैसे अनुकरण किया जा सकता है। संग्राम, प्रच्छन्नकामिता, भयत्रस्तता और हर्ष आदि के सन्दर्भ में उत्तम प्रकृति के पात्रों का भी पाद-प्रचार द्रुत होता है और शोक, ज्वर-ग्रस्तता, क्षुधा, तपस्या और श्रान्ति की दशा में तो अधम पात्रों का पाद-प्रचार भी स्थित होता है, द्रुत नहीं।[3] भरत की दृष्टि से गति-विधान में प्रकृति की अपेक्षा सत्त्व या चित्तवृत्ति का महत्त्व कहीं अधिक है। चरणों के अन्तर, काल-क्रम और गति-क्रम में प्रकृति की अपेक्षा चित्तवृत्ति की प्रधानता है। परन्तु भरत ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ताल, कला और लय इन तीनों में ही एकलयात्मकता का सूक्ष्म सूत्र अनुस्यूत रहता है। उत्तम पात्र शोकातुर होने पर भी अधम पात्र की अपेक्षा स्थिर और दृढ़ होता है। उसकी गति भी स्थिर और दृढ़ होती है, उसमें उसकी अन्तः-प्रकृति का प्रभाव रहता ही है। अतः असाधारण अवस्था में भी विभिन्न प्रकृति के पात्रों की गति में मन और शरीर की लयात्मकता का बोध होता है। इसी लय पर तो यह नाट्य-सृष्टि होती है। विराट्-सृष्टि की स्थिति में भी लय है, सूर्य, चन्द्र सब लय में बँधे हैं, और उस प्रलय में भी

१. ना० शा० १२।८-१० (गा० ओ० सी०)।
२. लयत्रयं सत्ववशेन योज्यम्। ना० शा० १२।१३ (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० १३।३०-४० (गा० ओ० सी०)। अ० भा० भाग २, पृ० १३४।

लय है। इसी प्रकार नाट्य के पात्रों में उनकी प्रकृति आदि चित्तवृत्ति के प्रकाश में उसकी गति में एक निश्चित लयात्मक सामंजस्य की अपेक्षा होती है।[1]

गति में प्रकृति और सत्त्व का समन्वय

आन्तरिक चित्तवृत्ति के अनुरूप ही आंगिक चेष्टाओं का भी प्रदर्शन होता है। भरत का यह स्पष्ट मत है। परन्तु असाधारण अवस्थाओं में भी उत्तम पात्र की आन्तरी प्रकृति का प्रभाव रहता है। अतः गति-विधान के प्रसंग में उत्तम पात्र के लिए विहित विधियों का प्रयोग सदा उत्तम पात्र के लिए ही करना चाहिए, मध्यम एवं अधम पात्रों के लिए प्रयोज्य गति का उन्हीं में प्रयोग करना चाहिए।[2] उनमें परस्पर विपर्यय नहीं होता। इस नियम-निर्धारण पर भरत की लोकानुसारी प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। लोक में उत्तम पात्र की गति में गम्भीरता, लय की स्थिरता तथा चरण-विन्यास के कालक्रम में कला (कलामान) की अधिकता दिखाई देती है। अतः रंगमंच पर भी उसकी गति में भी वही गम्भीरता, शान्ति और शालीनता का गौरव-भाव प्रदर्शित होना चाहिए। अधम पात्र प्रकृति और प्रवृत्ति से भी चंचल और व्यग्र होते हैं। उनके पाद-प्रचार में द्रुतलयता तथा न्यून कला का प्रयोग अपेक्षित होता है। उनकी प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति न केवल वाणी ही अपितु अंग-प्रत्यंग की नानाविध चेष्टाओं द्वारा सम्पन्न होती है।[3]

लयात्मकता : नाट्य का प्राण-रस

आचार्य अभिनवगुप्त का यह विचार नितान्त उचित ही है कि असामान्य मानसिक दशाओं में गति-निर्धारण में जो अनियम दिखलाई देता है, वास्तव में सत्वानुरूपता के कारण उसमें भी एक नियम की धारा वर्तमान रहती है।[4] धीर गम्भीर व्यक्ति यदि कारणवश मानसिक व्यग्रता में होता है, तब भी उसकी गति और चरणविन्यास में स्थिरता और गम्भीरता, मध्यम और अधम पात्र की अपेक्षा अधिक ही रहती है। उसका जो स्वभाव-सिद्ध गौरव चरण-विन्यास में रहता है, वह असामान्य सुख-दुःख की अवस्थाओं में किंचित् वर्तमान रहता ही है। यह लयात्मकता गति-विधान का प्राण है। सत्वानुरूप गति की लयात्मकता, लोक-व्यवहार के अनुरूप गति की परिकल्पना नाट्य-प्रयोग का प्राण है। इसी प्राण-रस को भरत ने यहाँ उच्छ्वसित किया है। यह केवल शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं, जीवन-रस में पगा हुआ नाट्य का प्रयोगात्मक रस है जिसके योग से नाट्य-प्रयोग को प्राण-शक्ति मिलती है।

गति-निर्धारण में रस का योग

प्रकृति और मनोदशा (सत्त्व) की भिन्नता के परिवेश में पात्र की गति में भी पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। चित्तवृत्ति का गतिनिर्धारण में बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः आंगिक चेष्टायें तो हमारे आन्तरिक मनोभावों के ही प्रतिरूप हैं। अतः रसरूप चित्तवृत्तियों की भिन्नता

१. सत्वं चित्तवृत्तिः तेन संग्रामादौ उत्तमस्यापि द्रुतं शोकादौ अधमस्यापि विलंबितम्। ना० शा० १३।३९ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० १३।३९ख-४०क (गा० ओ० सी०)।

३. अ० भा० भाग २, पृ० ४०-४१।

४. ना० शा० १२।३० (गा० ओ० सी०)।

के अनुरूप ही गति में भेद का प्रयोग नाट्य में होना ही चाहिए। यह लोक-जीवन की प्रवृत्ति के अनुरूप ही है। शृंगार-रस से उल्लसित स्वस्थ कामी व्यक्ति के चरण-विन्यास में जो उल्लास का लालित्य रहता है, वह शोकाविष्ट वियोग-व्यथित व्यक्ति के चरण-विन्यास में नहीं। भरत ने प्रत्येक रस के अनुरूप गति का अत्यन्त सूक्ष्म एवं विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है।

रसों में प्रधान शृंगार रस है। **शृंगारी** पात्र की वेशभूषा में लालित्य तो होता ही है, उसके चरण भी ताललयाश्रित हो मन्द-मन्द स्वच्छन्द भाव से रंगमंच पर संचरण करते हैं।[1] परन्तु ठीक इसके विपरीत प्रच्छन्न-कामी तो चन्द्र-ज्योत्स्ना में श्वेत कर्पूरवासित वेला-सदृश वस्त्र धारण किये शब्द-श्रवण मात्र से भीत-शंकित दृष्टि हो लड़खड़ाते चरण-विक्षेप करता हुआ संकेत स्थान पर जाता है। उसमें आन्तरिक आत्मिक निर्भीकता का वह भाव नहीं रहता है।[2] **रौद्ररस** के प्रयोग में रसाविष्ट पात्रों के अंग रुधिर-स्नात होते हैं, कभी बहु-बाहु-मुख होते हैं, तो कभी वे स्वभाव-रौद्र हो रक्ताभ नयन, रुक्षस्वर, कृष्णवर्ण आदि के द्वारा रौद्र रूप का प्रदर्शन करते हुए विषमरूप में अपने पाद-प्रचार का प्रयोग करते हैं।[3] **बीभत्स** रस के प्रयोग में भूमि श्मशान, कुरुचिपूर्ण दृश्यों और रक्त से सनी होती है। पात्र के चरण-विन्यास में कोई नियम नहीं रहता, कभी दूर पड़ते हैं और कभी निकट ही।[4] **वीररस** के प्रयोग में गति का क्रम द्रुत रहता है। अतः चरण-विन्यास भी न्यूनकलायुक्त होता है।[5] **करुणरस** की अवस्था में पाद-प्रचार स्थित लय में होता है। उमड़ते अश्रु-प्रवाह से नयन अवरुद्ध हो जाते हैं। गात्र निस्पंद रहता है, हाथ कभी ऊपर और कभी नीचे की ओर जाते हैं। करुणरस की दशा में उत्तम पात्रों की गति भिन्न होती है। वे रोते हैं पर सशब्द नहीं, उनकी आँखों में केवल आँसू छलक पड़ते हैं। गहरे निःश्वास लेते हैं, कभी आकाश की ओर शून्यभाव से देखा करते हैं। वस्तुतः गति का न कोई प्रमाण रहता है न सौष्ठव का विधान ही। दुःखावेग के कारण अनियंत्रित पाद-पात ही प्रमाण हो जाता है। इष्ट-बन्धु के मरण में शोकग्रस्त पात्र का वक्षस्थल 'नत' होता है, गाढ प्रहार के कारण उसका शिथिल अंग भुजा पर टिका रहता है।[6] **भयानक रस** में भयग्रस्त स्त्री, कापुरुष तथा बलहीन व्यक्तियों की दृष्टि चंचल, शिर कम्पित, उभय पार्श्वों में भयातुर दृष्टि रहती है, स्खलितगति हो वे चूर्ण पदों से संचरण करते हैं।[7] **शान्तरस** में गम्भीर धीर प्रकृति के पात्रों की गति भी धीर-गम्भीर होती है। वे समपाद में स्थित होते हैं। परन्तु जो आचरण से शान्त नहीं पर वेशभूषा से निकृष्ट कोटि के यति आदि होते हैं, उनकी गति में वह संयम और शान्ति कहाँ? अतः उनके नयनों में निश्चलता, गति में स्थिरता और गम्भीरता नहीं रहती।[8] परन्तु वणिक् अमात्य प्रभृति लोक-

---

१. ना० शा० १२।४०-४४ (गा० ओ० सी०)।
२. वही, १२।४५-४८, वही।
३. वही, १२।४८ख-५३, वही।
तथा अ० भा० भाग २, पृ० १४६।
४. ना० शा० १२।५५-५६ (गा० ओ० सी०)।
५. ना० शा० १२।५६-६० (गा० ओ० सी०)।
६. वही, १२।६१ ६६, वही।
७. वही, १२।७१-७६, वही।
८. वही, १२।७७-८४, वही।

प्रकृति के अनुसार अन्तःप्रकृति से शान्त स्वभाव के ही होते हैं।[1] पाद-प्रचार रसानुसार होता है यह हमने सूत्र-रूप में प्रस्तुत किया है। भरत ने जिस सूक्ष्मता और विस्तार के साथ रस-भेद से गति-भेद का विचार किया है, वह उनकी मौलिक नाट्यचिन्तन प्रवृत्ति का संकेतक है। क्योंकि विविध रसों के सन्दर्भ में पात्रों का पाद-प्रचार ही नहीं, हस्त-प्रचार, नेत्र-भ्रू और मुखराग आदि का भी विधिवत् विधान किया है और वह नितान्त लोकानुसारी है। अतएव वह नाट्य-प्रयोग हृदयग्राही भी है।

गति-विधान में देश का योग

भारतीय नाटकों में कथावस्तु के आग्रह से अनेक असामान्य दृश्यों की परिकल्पना की जाती है, जिनका सामान्य रूप से नाट्य-प्रयोग संभव नहीं है। शकुन्तला नाटक के प्रथम अंक में रथारूढ़ दुष्यन्त मृग का अनुसरण करते हुए प्रवेश करते हैं, सप्तम अंक में विमानारूढ़ हो दुष्यन्त मातलि के साथ स्वर्ग से धरती पर उतरते हैं। ऐसे ही रथारोहण, पर्वतारोहण, सागर-नदी संतरण और अन्धकार में यात्रा आदि के प्रभावोत्पादक दृश्यों की परिकल्पना भारतीय नाटकों में की गई है। भरत ने नाट्यशास्त्र में इन दृश्यों, लौकिक पदार्थों, उनकी क्रियाओं और परिस्थितियों को नाट्य में प्रकृत रूप देने की दृष्टि से अनेक नाट्योपयोगी प्रतीकात्मक अभिनयों की परिकल्पना की है। इन सब महत्त्वपूर्ण विषयों का विचार देश-भेद से गति-भेद के अन्तर्गत किया गया है। भरत की विप्रतित्ति यह है कि देश-भेद के अनुसार पात्र का पाद-प्रचार और हस्त-प्रचार दोनों में ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं, यह सारा परिवर्तन लोकानुसारी होता है। रथ पर चढ़ते हुए या जल में तैरते हुए या आकाश से उतरते हुए देश-विभिन्नता के परिवेश में पात्र की गति भिन्न होती चलती है। वस्तुतः दृश्य को प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसे रमणीय दृश्य प्रसंगों में पात्रों द्वारा नाट्यधर्मी प्रतीकात्मक अभिनय के अतिरिक्त तदनुरूप काव्य-पाठ तो होता ही है, परन्तु चित्रपट पर अंकित प्रतिकृतियों का भी प्रयोग रंगमंच पर होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में जो विचित्र वाहनों के प्रयोग का उल्लेख किया है, उनको इसी प्रकार रूपायित किया जाता है।[2] इस देश-भेद से गति-भेद के अन्तर्गत भरत ने प्रतीकात्मक अभिनय तथा अंकित दृश्यानुकृति के अनुरूप काव्यांश के पाठ द्वारा प्रभावशाली दृश्यों को रूपायित करने का विधान प्रस्तुत किया है। निर्जीव या सजीव पदार्थों की अवतारण की इस पद्धति का विचार विस्तारपूर्वक आचार्य अभिनवगुप्त ने भी किया है। उनका स्पष्ट मत है कि अनुकृत प्रतिकृतियों का प्रयोग होना चाहिये।[3] पातंजल महाभाष्य में ऐसे शोभाधायक चित्रपटों के धारण करने वाले शौमिकों का उल्लेख पतंजलि ने किया है।[4]

देश-भेद से गति-भेद की विचित्रताएँ : रथारूढ़ पात्र समपादस्थानक में रथ-यात्रा का अभिनय करता है। एक हाथ में धनुष और दूसरे हाथ से रथ का कूबर पकड़े रहता है। घोड़ों के लगाम सूत के हाथ में रहते हैं। कालिदास के रथारूढ़ दुष्यन्त का प्रवेश इसी रूप में होता है।[5]

१. अ० भा० भाग २, पृ० १४८।

२. वाहनानि विचित्राणि कर्तव्याणि विभागशः। ना० शा० १२।९० (गा० ओ० सी०)।

३. अ० भा० भाग २, पृ० १५१।

४. पातंजल महाभाष्यः ३।१।२६।

५. ना० शा० १२।८८-८९ (गा० ओ० सी०)।

प्रासाद, पर्वत आदि पर आरोहण करते हुए पात्र के गात्र ऊपर उठ जाते हैं, चरणों का न्यास ऊपर उठाकर करता है। परन्तु अवतरण में उसके विपरीत गात्र निम्नाभिमुख हो जाता है। पर्वतारोहण और प्रासादारोहण में समानता होने पर भी स्वाभाविक अन्तर यह है कि पर्वतों पर सोपान की सुविधा न होने से समस्त गात्र को ऊपर की ओर उठा-सा लिया जाता है। वृक्षों पर आरोहण के प्रसंग में तो अतिक्रान्त, पार्श्वक्रान्त और अपक्रान्त चारियों का प्रयोग गति-विधान में होता है, क्योंकि वृक्षारोहण में पार्श्व तथा अंग के अन्य भागों को ऊपर की ओर उछाला-सा जाता है।[१] जल-संतरण में गति-विधान कई रूपों में होता है। अल्पमात्रा के जल-प्रदर्शन के लिए अपने अधोवस्त्र को ऊपर की ओर खींच लेता है और जल गहरा होने पर पात्र अपने हाथों को फैलाकर, अग्र-भाग को किंचित् झुकाकर 'प्रतार' का अभिनय करता है।[२] अन्धकार के अभिनय में पात्र के चरण धरती पर सरकते हैं और उसके हाथ ही उसके मार्ग का संकेत करते हैं।[३]

भरत ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के समन्वित विधान का निर्देश प्रस्तुत किया है। लौकिक पदार्थों—रथ या विमान और प्रासाद या पर्वत आदि चित्रलिखित हों, पर उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का प्रयोग हस्त-प्रचार और पाद-प्रचार आदि की संज्ञाओं से करना चाहिये। अतः चित्रपटों पर अंकित अनुकृतियों और प्रतीकात्मक अभिनयों—दोनों का ही प्रयोग होता है। यद्यपि मनमोहन घोष महोदय के विचार के अनुसार प्राचीन नाट्य-प्रयोग में चित्रित दृश्य-विधान की परंपरा नहीं थी,[४] क्योंकि तत्संबंधित क्रियाओं का संकेत अभिनय द्वारा संपन्न हो ही जाता है। परन्तु अभिनवगुप्त का यह स्पष्ट मत है कि दोनों का ही योग होना चाहिये। प्रतीकात्मक अभिनयों के साथ अनुकृत प्रतिछवियों के योग से अभिनेय दृश्य की अनुभूतिशीलता में मांसलता तथा साक्षात्कार का-सा आनन्दानुभव होता है।[५]

रंगमंच पर प्रयुक्त नाट्यधर्मी प्रतीक बड़े ही उपयोगी होते हैं और अभिनय-काल में उनसे नाट्यार्थ-ग्रहण में बड़ी सहायता मिलती है। ये संकेत प्रयोगकाल में तो सत्य ही माने जाते हैं। घटना और परिस्थिति के अनुरोध से किसी पात्र को यदि मृत कहा जाता है तो प्रयोगकाल में वह मरा ही हुआ माना जाता है, वास्तव में तो वह पात्र मरता नहीं।[६] इसी संदर्भ में प्रतीक पद्धति द्वारा अंकुशग्रहण से हाथी, खलीब (लगाम) ग्रहण से घोड़ा और प्रगृह-ग्रहण से यान आदि का प्रतीकात्मक संकेत होता है। यद्यपि वे वहाँ या तो प्रस्तुत नहीं होते या प्रतिछवियों के माध्यम से ही वर्तमान रहते हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं और जीवों का संकेत उन वस्तुओं से सम्बन्धित किन्हीं वस्तुओं के ग्रहण से हो जाता है।[७]

---

१. ना० शा० १२।९०-९४ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० १२।९९-१०१ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १२।८७ (गा० ओ० सी०)।

४. This passage shows that the use of painted scenery was not indispensible in the ancient Indian stage. Natya Sastra, English Translation M. M. Ghosh. Footnote, page 223.

५. अ० भा० भाग २, पृ० १५४।

६. ना० शा० १२।१०६ (गा० ओ० सी०)।

७. वही, १२।१०७, वही।

चित्रलिखित-प्रतिछवियों का प्रयोग

प्रतीक-विधान से भरत के काल में प्रयुक्त समृद्ध नाट्य-सामग्री का अच्छा परिचय मिलता है। नाट्य-प्रयोक्ता नाट्य को अधिकाधिक प्रकृत रूप देने के लिए ही इन प्रतीकों और अनुकृतियों का रंगमंच पर प्रयोग करते थे और संभव है बाद में चित्रपट पर अंकित अनुकृति की परंपरा ने यवनिकाओं पर भी अपना अधिकार कर लिया और शौमिक की परंपरा ही नष्ट हो गई। इसमें संदेह नहीं कि चित्रलेखन की यह प्राचीन परंपरा रंगमंच की रूप-सज्जा को मनोहारी, विचित्र और नयनाभिराम रूप में प्रस्तुत करने वाली एक अतीत की सुनहली श्रृंखला थी। वस्तुतः अभिनय द्वारा भरत ने न केवल आन्तरिक चित्तवृत्ति की ही अपितु बाह्य जगत् की सौन्दर्य-व्यंजना का भी विधान किया है।

गतिनिर्धारण में अवस्था का योग

प्रयोज्य पात्रों के सामाजिक स्तर और वयस्-भेद से भी उनकी गति एक-दूसरे से भिन्न होती है। लोक में सामाजिक दृष्टि से उच्च स्तर के संभ्रान्तजनों की गति मध्यम और अधम जनों की अपेक्षा शालीन, धीर और गम्भीर होती है।[१] वयस् के संदर्भ में भी गति में स्पष्ट अन्तर आ जाता है। युवती नारी के संचरण में जो लास्य और लालित्य होता है वह वृद्धा या बालिका की गति में कहाँ ?[२] नाट्य-प्रयोग के क्रम में अवस्था के अनुरूप गति का प्रदर्शन होने पर ही उसमें प्रकृत नाट्य-रस की आस्वाद्यता का उदय होता है, क्योंकि गति तो मनुष्य की आन्तरिक मनोदशा और उसकी प्रकृति की रूपायित प्रतिक्रिया ही है। भरत ने सामाजिक स्तर और वयस् आदि की भिन्नता के आधार पर नाट्य में प्रयुक्त अनेक मध्यम एवं अधम पात्रों की गति का स्पष्ट विधान किया है।[३] कांचुकीय, विदूषक, विट, शकार, चेट, पंगु, वामन, कुब्ज और खंज आदि एक-दूसरे से अपनी गति से भिन्न होते हैं। वृद्ध कांचुकीय का तो शिर काँपता रहता है, पराक्रम मंद, श्वासों का आवेग प्रबल और यष्टि उसके प्राणों का आधार बनी रहती है।[४] परन्तु अवृद्ध कांचुकीय के चरण अभिमान से इठलाते हुए आधे ताल की ऊँचाई पर पड़ते हैं। अवस्था-भेद से दोनों की गति में भिन्नता आ जाती है। विदूषक अपनी विकृत आंगिक चेष्टाओं के द्वारा हास्य का सृजन करता है। स्वाभाविक स्थिति में रहने पर वह बायें हाथ में टेढ़ी लकुटी लिये रहता है। दायाँ हाथ 'चतुरा' की मुद्रा में होता है। पर अस्वाभाविक अवस्था में उसकी गति भिन्न होती है। अलभ्य भोजन या वस्त्र प्राप्त करने का प्रदर्शन आदि उसकी स्वाभाविक गति नहीं है। विट और अन्य पात्रों का भी व्यक्तित्व उनकी अवस्था के अनुरूप उचित गति-प्रदर्शन से ही संपन्न हो पाता है।[५] भरत ने इन पात्रों का गतिविधान नितान्त मौलिक रूप से किया है।

---

१. प्रकट हास अब गोपित मेल।
उरज प्रकट अवतन्हिकर लेल।
चरन चपल गति लोचब पाव, लोचन धैरब पदतल जाव। विद्यापति पदावली, पृ० ११।

२. ना० शा० १२।११२-१५० (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १२।११२-११४ (गा० ओ० सी०)।

४. वही, १२।१४३-१४५ (गा० ओ० सी०), का० सं० १३।१४२-१४४।

५. ना० शा० १२।१५२-१५३।

इनके अतिरिक्त भरत ने नाट्य में प्रयोज्य म्लेच्छ आदि नीच जातियों एवं विभिन्न पशुओं की गति का विधान करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि इन जातियों की गति उनके देश के अनुसार और श्वापदों की गति उनके स्वभावानुसार होनी चाहिये, क्योंकि नाट्य के इतिवृत्त के अनुरोध से इनका प्रयोग होता है।[1] भरत ने इस बात की स्वतंत्रता प्रयोक्ताओं को दी है कि जिन जातियों का विधान नहीं हुआ हो, उनका प्रयोग लोक-व्यवहार के अनुसार वे कर सकते हैं।

स्त्री-पात्रों का गति-विधान

पुरुषों के गति-विधान के समान ही स्त्री-पात्रों की गति पर भी भरत ने विस्तार से विचार किया है। इस प्रसंग में स्त्रियों के वय के अनुरूप स्थानक का निर्धारण तथा पुरुष एवं स्त्री पात्रों की भूमिका में विपर्यय आदि अनेक तात्त्विक विषयों का उन्होंने उपबृंहण किया है। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुषों की गति में रस, प्रकृति, देश और अवस्था आदि की दृष्टि से भिन्नता परिलक्षित होती है, स्त्री-पात्रों की गति के सम्बन्ध में भी वे नियम सामान्य रूप से प्रचलित हैं।[2]

भाषण और संचरण के क्रम में स्त्रियों के तीन प्रकार के स्थानकों का उल्लेख मिलता है। **आयत स्थानक** के अनुसार नारी का मुख प्रसन्न, वक्षस्थल सम और उन्नत तथा दोनों हाथ नितम्ब पर रहते हैं। नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से यह स्थानक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा आवाहन, विसर्जन, चिन्ता, हर्ष, लज्जा का गोपन, रंगावतरण के आरम्भ में पुष्पांजलि का विसर्जन, काम और ईर्ष्या से उत्पन्न कोप, गर्व, मान और मौन आदि नारीजनोचित भावों का अभिनय होता है।[3] **अवहित्थ** में वामपाद सम, दक्षिणपाद त्र्यस्र तथा बायीं कटि समुन्नत रहती है। इसका प्रयोग स्वाभाविक बातचीत, विलासलीला, बिब्बोक, शृंगार, अपना रूप देखना और पति की प्रतीक्षा जैसे नारी-सुलभ सुकुमार भावों के संकेत-विधान में होता है।[4] **अश्वक्रान्त स्थानक** में नारी का एक चरण समस्थित, दूसरा अग्रतल पर झुका होता है। इसका प्रयोग लालित्य के साथ तरु-शिखा का अवलम्बन, पुष्पस्तवकों के चयन तथा सुकुमार अंगों पर से वस्त्र के खिसकने जैसे लालित्यपूर्ण नाट्यार्थों के संकेत के रूप में होता है।[5]

पुरुष पात्रों के समान ही नारी का गति-विधान उसकी प्रकृति, चित्तवृत्ति, देश और अवस्था पर ही आधारित है। परन्तु अन्तर यह है कि नारी की गति सदा सुकुमार और विलासानुविद्ध होती है। अवस्था-भेद से युवती, मध्यवयसा और वृद्धा की गति में अन्तर होता है। युवती नारी के गति-विधान की अत्यन्त श्रमसाध्य क्लिष्ट कल्पना भरत ने की है। वह सम्भवतः इसीलिए कि उसके द्वारा अधिकाधिक सौन्दर्य और विलास-भाव का उद्‌बोधन हो। स्त्रियों की सुकुमार प्रकृति के कारण पुरुष पात्रों की गति के अन्तर्गत काल, ताल आदि युवती नारी के तो आधे हो जाते हैं। बालाओं की गति स्वच्छन्द होती है और सौष्ठव का वहाँ प्रयोग

---

१. नोक्ता या मया ह्यत्र ग्राह्यास्तास्ताश्च लोकतः। ना० शा० १२।१५६ क।

२. ना० शा० १२।१८३।

३. ना० शा० १२।१६२-१६६ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० १२।१६८-१७१ क (गा० ओ० सी०)।

५. ना० शा० १२।१७३-७४ (गा० ओ० सी०)।

नहीं होता। प्रत्येक चरणविन्यास से लालित्य और विलास का भाव प्रस्फुटित होना चाहिये। सामाजिक दृष्टि से पुरुषों की तरह ही उत्तम प्रकृति की नारी की गति में प्रेष्या की अपेक्षा अधिक गम्भीरता और शालीनता का भाव प्रकट होता है।[1]

स्त्री-पुरुष पात्रों की भूमिका में विपर्यय

स्त्री-पात्र अनुकार्य सीता तथा पुरुष पात्र अनुकार्य राम का अभिनय करे यह स्वाभाविक नाट्य-स्थिति है। परन्तु स्त्री-पात्र अनुकार्य पुरुष और पुरुष पात्र अनुकार्य स्त्री का अभिनय करे यह एक विलक्षण नाट्य-कल्पना है। भरत ने स्त्री एवं पुरुष दोनों की भूमिका-विपर्यय की चमत्कारपूर्ण कल्पना की है। नाट्य की दृष्टि से भूमिका विपर्यय का यह सिद्धांत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत ने बहुत संक्षेप में इस सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। जिस प्रकार रस की आस्वाद्यता में साधारणीकरण (आत्म-विलयन) का सिद्धान्त वर्तमान है, उसी प्रकार भूमिका-विपर्यय में भी पुरुष एवं स्त्री-पात्र स्वभाव को त्यागकर ही अपेक्षित रसोदय का वातावरण प्रस्तुत करते हैं। पुरुष अपनी परुषता को त्यागकर स्त्री के सुकुमार भाव से समाहित हो जाता है और स्त्री अपनी कोमल मनोवृत्ति का परित्याग कर पुरुष वृत्ति से अनुप्राणित होती है। अतः भूमिका-विपर्यय का प्रयोग दो ही स्थितियों में होता है—(क) आत्म-स्वभाव का परित्याग और (ख) तद्भावगमन। धीरता, उदारता, सत्त्व और बुद्धि एवं तदनुरूप कर्म, वेश, वाक्य और चेष्टा आदि के द्वारा स्त्री पुरुष का अभिनय करती है। पुरुष स्त्री की वेशभूषा, वाक्य, चेष्टा और मृदु-मंद गति के कारण स्त्री का अभिनय करता है।[2] इस प्रकार का विपर्यय-प्रयोग मुख्यतः तीन कारणों से होता है। किसी कार्य का साधन, मनोरंजन या वंचना। कथावस्तु के व्याज से विदूषक संकेत-स्थान पर चेटी की वेषभूषा धारण कर लेता है, क्रीड़ावश नायिका अपने प्रियतम पुरुष पात्र का रूप धारण कर लेती है। संस्कृत के श्रृंगार-प्रधान नाटकों तथा हिन्दी काव्य में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। विदूषक की वंचना के लिए चेट स्त्री का वेश धारण कर लेता है।[3]

---

१. ना० शा० १२।१६३ (गा० ओ० सी०)।

२. धैर्योदार्येण सत्त्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणा।
स्त्री पुमांसं त्वभिनयेत् वेषवाक्य विचेष्टितैः।
स्त्रीवेषभाषितैः युक्तः प्रेक्षिताप्रेक्षितैस्तथा।
मृदुमंदगतिश्चैव पुमान् स्त्रीभावमाचरेत। (ना० शा० १२।१६५-१६६ क (गा० ओ० सी०)।

३. (क) मालती माधव में सूत्रधार और परिपार्श्विक कामन्दकी और अवलोकिता की भूमिका में अवतरित होते हैं। मालती माधव—प्रस्तावना।

(ख) कामिनि कएल कतहु परकार। पुरुषक वेसें कथल अभिसार।
धम्मिल लोल झोट कएबंध। पहिरल वसन आनकरि छंद।
—विद्यापति पदावली (बेनीपुरी), पृ० १५७।

(ग) चारुचन्द्रलेख में मैना मैनसिंह के रूप में (हजारीप्रसाद द्विवेदी—१९६३)।
अ० भा० भाग २, पृ० १६८ का तथा ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त का स्त्री-रूप में अभिनय। —देवी चन्द्रगुप्तम्।

ना० शा० १२।२०१ (गा० ओ० सी०)

भूमिका-विपर्यय का यह सिद्धान्त कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रयोग की दृष्टि से तो यह नाट्य-प्रयोग विलक्षण और चमत्कारपूर्ण होता है, तथा इसमें अधिक नाट्य-कौशल और क्षमता प्रदर्शित करनी होती है, क्योंकि स्त्री और पुरुष के अवयव संस्थान, वाणी-विलास और वेश-रचना आदि सब भिन्न हैं। विपर्यय में तदनुरूप अभिनय का प्रयोग अत्यन्त श्रम-साध्य है। नाट्य-प्रयोग के इतिहास की दृष्टि से भी यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि भरत के काल में भारतीय नाट्य-प्रयोग इतना विकसित हो चुका था कि नाट्य-प्रयोग मनोविनोद और चमत्कारपूर्ण व्यंजना के लिए भूमिका-विपर्यय की आयोजना होती थी। पातंजल महाभाष्य में भ्रूकुंस नामक पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका में अवतरित होता था।[१]

भारतीय जीवन में व्रत-धारिणी, तपस्विनी, लिंगिनी और आकाशचारिणी स्त्रियाँ राजप्रासादों से तपोवन तक अपना प्रभाव बनाये रहती थीं। संस्कृत नाटकों को गति और सौन्दर्य देने में इनका भी कम दायित्व नहीं रहा है।[२] अतः भरत ने इन नारियों के लिए 'समपाद' का विधान किया है और पुलिन्द एवं शबर जाति की नारियों के लिए उनकी जाति के अनुरूप ही गति का विधान अपेक्षित होता है। परन्तु नारी के गति-विधान में यह तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि किसी भी अवस्था में नारियों की गति में उद्धत अंगहार, चारी या मण्डल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके हृदय में सुकुमार वृत्ति और अंगों में लालित्य का ही प्रदर्शन उचित होता है।[३]

आसन-विधान और उसके आधार

आन्तरिक वृत्ति

नाट्य-प्रयोग में हस्त-प्रचार और पाद-प्रचार के विभिन्न रूप पात्र की प्रकृति, चित्तवृत्ति, देश और अवस्था आदि से प्रभावित हो निर्धारित होते हैं। आसन और शयन आदि की विधियाँ और उनकी रूप-रचना भी बहुत भिन्न हैं। चिंता, शोक, मूर्च्छा, मद, ग्लानि और प्रिया के प्रसादन के आसन एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। शोक-भाव के अभिनय-काल में पात्र के दोनों हाथ चिबुक को सहारा देते हैं, शिर ग्रीवा पर झुक जाता है, इन्द्रिय और मन नितान्त निष्क्रिय हो उठते हैं। परन्तु जब पुरुष पात्र प्रिया का प्रसादन करता है तो वह अपने दोनों जानुओं को पृथ्वी पर रख अधोमुख हो जाता है। इस आसन का प्रयोग प्रसंगवश देवता की वंदना, रुष्ट व्यक्तियों के प्रसादन और नीच व्यक्तियों के आक्रंदन में भी होता है। अतः आसन के विविध रूप मनुष्य की आन्तरिक मनोदशा के प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।[४]

---

१. पातंजल महाभाष्य—लिंगात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने सति भ्रूकुंसे टाप् प्राप्नोति। यदि लोके दृष्टवैतदवसीयते इयं स्त्रीत्यस्ति तद् भ्रूकुंसे। ४।१।३।

२. स्वप्नवासवदत्तम्, अंक १-२, मालविकाग्निमित्र अंक १-२, अ० शाकुन्तल अंक १, ३, ४, ५, ७।

३. ना० शा० १२।२००-२०२ (गा० ओ० सी०)।
उद्धतायेङ्गहाराः स्युः चार्यो मंडलानि च।
तानि नाट्यप्रयोगज्ञैर्न कर्त्तव्यानि योषिताम्॥

४. मेघदूत (उत्तर) ४७, शाकुन्तला ७।२४।

सामाजिक स्तर

भरत ने सामाजिक उच्चता और अधमता तथा प्रकृतिगत उत्तमता और अधमता आदि के आधार पर कई प्रकार के आसनों का विधान किया है। ये आसन-विधान मुख्यतः राजसभाओं में प्रचलित व्यवहारों के आधार पर निर्धारित किये गए हैं। राजा और राजपत्नी के लिए **सिंहासन**, पुरोहित, मंत्री और उनकी पत्नी के लिए **वेत्रासन**, सेनानी और युवराज के लिए **मुंडासन**, ब्राह्मणों के लिए **काष्ठासन**, वेश्या के लिए **मयूरासन**, और शेष प्रमदाओं के लिए **भूमि का आसन** निर्दिष्ट किया गया है।[1] इनके अतिरिक्त नाट्य में अन्य प्रयोज्य पात्रों के लिए भरत का यह स्पष्ट निर्देश है कि पात्रों के जीवन में प्रयुक्त आसनों के अनुरूप ही आसन का विधान होना चाहिए। एक काल में जब अनेक पात्र रंगमंच पर हों, तो उनकी सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही आसन का विधान अपेक्षित है। अध्यापक, गुरु और राजा के निकट अन्य जनों का 'समासन' सर्वथा निषिद्ध है। परन्तु राजा, गुरु और उपाध्याय के साथ अन्य पात्रों के 'सहासन' में दोष नहीं होता, यदि वे नौका, विमान या रथ आदि पर यात्रा कर रहे हों।[2] समस्तरीय पात्र को सम, मध्यम को मध्य और उत्तम को उत्तमासन तथा हीन के लिए भूमि का आसन उपयुक्त होता है।[3] भरत का आसन-विधान कितना विस्तृत और स्पष्ट है यह उनके आसन-सम्बन्धी विश्लेषण से प्रकट हो जाता है। उनके काल में नाट्य-प्रयोग में जितने प्रकार के पात्रों का प्रयोग होता था, उन सबके लिए उपयुक्त आसन का विधान उनकी मनोदशा, सामाजिक स्तर और प्रकृति आदि की दृष्टि से किया है।

शयन-विधान

भरत का शयन-विधान अत्यन्त संक्षिप्त है। यह उचित भी है, क्योंकि पाद-प्रचार, हस्त-प्रचार और आसन आदि आंगिक क्रियाओं की अपेक्षा नाट्य-प्रयोग में शयन क्रिया का प्रयोग नितान्त न्यून होता है। परन्तु भरत की दृष्टि से शयन-क्रिया भी भाव-समन्वित होती है। शयन का हर प्रकार मनुष्य की विशिष्ट मनोदशा का ही प्रतिरूप है। शयन-काल की आंगिक निश्चेष्टता भी विविध भावों और मनोदशा का सूचन करती रहती है। संस्कृत नाटकों में शयन की परिकल्पना कहीं-कहीं की गई है और स्वप्नवासवदत्तम् में तो वह जितनी रसपूर्ण है उतनी ही चमत्कारपूर्ण भी।[4]

शयन-काल में मनुष्य या पात्र के शरीर की भाव-भंगिमा के सामान्यीकरण के आधार पर छः प्रकार के शयन की परिकल्पना की गई है। '**आकुंचित**' में समस्त अंग संकुचित, दोनों ठेहुने शय्या से सटे रहते हैं। इसका प्रयोग शीतार्त मात्र के लिए होता है। **सम** में मुख ऊपर की ओर तथा दोनों हाथ शिथिल होते हैं, और निद्रा में सोये व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। **प्रसारित** में पात्र एक भुजा को उपधान (तकिया) बनाकर सोता है, और जानु फैले होते हैं। सुख नींद में पात्र इसी प्रकार सोता है। **विवर्तित** में पात्र अधोमुख सोया रहता है। इसका प्रयोग

---

१. ना० शा० १२-२०८-२१२।
२. ना० शा० १२।२१५-२२०।
३. वही, १२।१२२-२३२।
४. स्वप्नवासवदत्तम्—पंचम अंक।

शस्त्रप्रहार, मृत, उत्क्षिप्त और उन्मत्तों के लिए होता है। **उद्वाहित** में पात्र अपना सिर अपने हाथ में रख लेट जाता है। इसका प्रयोग मुख्यतः लीला या स्वामी के प्रवेश होने पर होता है। **नत**—पात्र शय्या पर लेटा हुआ पाँव फैला देता है, हाथ शिथिलता से झुके रहते हैं। इसका प्रयोग आलस्य, श्रान्ति और दुःख में होता है। उदयन की शयन-मुद्रा यही थी।[1]

भरत ने गति-विधान के अन्तर्गत हस्त-प्रचार, पाद-प्रचार, आसन, शयन की विधियों के निर्धारण में मनुष्य की आन्तरिक चित्तवृत्ति, प्रकृति, देश, काल और अवस्था आदि के संदर्भ में किया है। उनकी दृष्टि से समस्त आंगिक चेष्टाएँ मनुष्य के अन्तर के प्रतिरूप हैं। इतना विस्तृत और सूक्ष्म प्रयोगात्मक विधान प्रस्तुत करने के उपरान्त भी नाट्यार्थ को दृष्टि में रखकर अन्य विधानों की परिकल्पना की पूरी स्वतंत्रता आचार्यों को दी है। परन्तु आश्चर्य है कि अभिनय-दर्पणकार को छोड़ अन्य आचार्यों ने इस पर विचार नहीं किया। भरत का गति-विधान अत्यन्त व्यापक और नाट्योपयोगी है। भरत ने नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से सब उपादेय तत्त्वों का यहाँ संकलन कर दिया है।

१. ना० शा० १३।२२८-२३४।

१३

आहार्याभिनय

आहार्य : नाट्य-प्रयोग की आधार-भूमि

आहार्य अभिनय महत्त्वपूर्ण नेपथ्यज विधि है। पात्रों का वयोऽनुरूप तथा प्रकृतिगत वेश-विन्यास, अलंकार-परिधान, अंग-रचना तथा रंगमंच पर निर्जीव लौकिक पदार्थों और सजीव जन्तुओं के नाट्य-धर्मी प्रयोग को भरत ने 'आहार्य अभिनय' ही माना है। आहार्य यह नाम स्वयं ही बड़ा सार्थक है। पात्र की (अनुरूप) वेशभूषा तथा अंगों के वर्ण-विन्यास आदि के द्वारा ही प्रेक्षक के समक्ष पात्र राम या सीता के रूप में आहृत होते हैं। भरत का यह विचार नितान्त उचित है कि पात्र की नाना प्रकृतियों (धीरोदात्त, उत्तम, मध्यम आदि) तथा रति शोकादि नानावस्थाओं को नेपथ्य ही में तदनुरूप वर्ण-रचना और वेश-रचना द्वारा आहृत किया जाता है। शोक में मलिन वेश और शृंगार में उज्ज्वल वेश से विभूषित हो पात्र रंगभूमि पर अवतरित होते हैं, तब आंगिक और वाचिक अभिनयों के योग से रसोदय होता है।[1] अतः आहार्य अभिनय का नाट्य-प्रयोग में महत्त्व असाधारण है। जिस तरह चित्र-रचना का आधार भित्ति है उसी प्रकार समस्त अभिनय-प्रयोग-रूप चित्र के लिए आहार्य अभिनय भी आधार-तुल्य भित्ति ही है। अभिनव-गुप्त की दृष्टि से समस्त अभिनय-व्यापारों के उपशमन के उपरान्त भी नेपथ्य विधि द्वारा प्रस्तुत पात्र के रूप-रंग का आलोक विशेष रूप से प्रेक्षक के हृदयाकाश में प्रतिभासित होता ही रहता है।[2] भट्टि, कालिदास और भारवि भरत की आहार्य-कल्पना से पूर्णतया परिचित हैं। निसर्ग सुन्दरता रहने पर आहार्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। परिव्राजिका, 'छलिक' में सब

---

१. नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वं नैपथ्य साधिताः।
अंगादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छंत्यत्नतः ॥ ना० शा० २१।२ (गा० ओ० सी०)।

२. तेन समस्ताभिनय प्रयोग चित्रस्यभित्ति स्थानीयमाहार्यम्। तथा च समस्ताभिनयव्युपरमेऽपि नेपथ्य-विशेषदर्शनाद् विशेषोऽवसी यतएव। अ० भा० भाग २, पृ० १०६

अंगों की सुन्दरता की अभिव्यक्ति के लिए नेपथ्य-विधि अनावश्यक मानती है।[1] इस आहार्य-विधि के द्वारा ही उपमेय में उपमान की भी परिकल्पना की जाती है। नाट्य में भी प्रयोक्ता पात्र में प्रयोज्य पात्र का आहरण होता है।[2]

आहार्य अभिनय का विचार-दर्शन

वस्तुतः आहार्य अभिनय की विधि नाट्यप्रयोग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है। भूमिका-विपर्यय के प्रसंग में हमने यह विचार प्रतिपादित किया है कि पात्र 'स्व-भाव' का त्याग तथा 'तद्भावानुमन' करके ही प्रयोज्य राम और सीता आदि का अभिनय करता है। भरत-निरूपित आहार्य अभिनय के इस तात्त्विक विचार-दर्शन का भाव यही है कि पात्र जिस अनुकार्य पात्र राम आदि की वेशभूषा धारण करता है वह प्रयोग-काल तक के लिए उसी के व्यक्तित्व से आच्छादित हो जाता है। उसका अपनत्व (प्रयोग-काल तक के लिए) अन्तर्हित हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर उसकी रूपरेखा यों निर्धारित होती है। परमात्मा अपने चैतन्य प्रकाश का त्याग न करते हुए भी देहकंचुकोचित चित्तवृत्ति-रूपित स्वरूप को ही प्रतिभासित करता है। उसी प्रकार प्रयोक्ता पात्र 'आत्मावष्टंभ' को न त्यागते हुए भी अनुकार्य पात्र के वय और प्रकृति के अनुरूप वेश एवं वर्ण-रचना आदि से आच्छादित हो, तदनुरूप स्वभाव से आलिंगित-सा अपनी आत्मा का सामाजिक के समक्ष प्रदर्शन करता है। जैसे आत्मा एक देह को त्यागकर दूसरी देह में प्रवेश करते हुए प्रथम देह के सुख-दुःखात्मक स्वभाव को त्यागकर दूसरी देह के सुख-दुःखात्मक प्रभाव को ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रयोक्ता पात्र नाट्य-प्रयोग काल में 'स्वभाव' को त्याग 'परभाव' को ग्रहण कर सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत होता है। यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य है, परन्तु आहार्य-विधि की वेश एवं वर्ण आदि की रचना के योग से पात्र और प्रेक्षक दोनों के लिए ही सरलता से संपन्न हो जाता है।[3]

आहार्य अभिनय के चार प्रकार

भरत ने आहार्य अभिनय के अन्तर्गत अपेक्षित बहुत-सी नेपथ्यज विधियों का समीकरण कर उन्हें निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है—

पुस्त (संयोजन अथवा मॉडेल), अलंकार (प्रसाधन), अंगरचना (आकृति आदि का परिवर्तन) तथा संजीव (जीव-जंतुओं का नाट्य में प्रयोग)।[4]

---

१. (क) आहार्यं शोभारहितैरयार्यैः, भट्टिकाव्य। २।१४।
(ख) नरम्यमाहार्यमपेक्षते गुणः, किरातार्जुनीय ४।२३।
(ग) निसर्गसुभगस्य किमाहार्याकाडम्बरेण—(मल्लिनाथ की टीका, कुमारसंभव ७।२० पर)।
(घ) विगत नेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु, मालविकाग्निमित्र, अंक १।

२. अयं चन्द्रोमुखमित्यादौ चन्द्रभिन्ने मुखे चन्द्राभेदज्ञानं तच्चाहार्यमेव। वाचस्पत्य ७ (तारानाथ)।

३. स्ववर्णमात्मनश्छायं वर्णकैः वेषसंश्रयैः। आकृतिस्तस्य कर्त्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता।
यथा जन्तुः स्वभावं एवं परित्यज्यात्य दैहिकम्। तत्स्वभाव हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः।
वेषेण वर्णकैश्चैव छादितः पुरुषस्तथा। परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः।
ना० शा० २१।८८ ख—६१ क (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २१।५ (गा० ओ० सी०)।

पुस्त

आहार्य अभिनय की विधियों के द्वारा नाट्य-प्रयोग को अधिकाधिक यथार्थता मिल पाती है। पुस्त जैसी विधि के द्वारा ही रंगमंडप का दृश्य-विधान पूरा हो पाता है। इसके योग से ही शैल, यान, विमान, रथ, हाथी, ध्वजा एवं दण्ड आदि अनेकानेक लौकिक पदार्थों के सांकेतिक पुस्तों (मॉडेल) के माध्यम से रंगभूमि पर सारूप्य का सृजन होता है। सारूप्य सृजन के द्वारा नाट्य में कलात्मकता और यथार्थता का उचित प्रयोग होता है। पुस्त का भाव होता है संयोजन अथवा सांकेतिक मॉडेल की रचना।[1]

इस पुस्तविधि के तीन रूप हैं—

संधिम, व्याजिम और वेष्टिम या चेष्टिम।

संधिम

संधिम का भाव ही होता है जोड़ना या बाँधना आदि। संधिम विधि के द्वारा विभिन्न वस्तुओं को परस्पर बाँध या जोड़ कर रंगोपयोगी वस्तु की रचना की जाती है। बाँस, भूर्ज-पत्र, चमड़ा, वस्त्र, लाह तथा बाँस की पत्तियों आदि से अपेक्षित वस्तुओं की रचना की जाती है। प्रस्तर-शिलाएँ, प्रासाद, दुर्ग, वाहन, विमान, रथ, घोड़ों और हाथियों को भी संधिम के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है।[2]

व्याजिम—यांत्रिक साधनों से जिन भौतिक पदार्थों का रंगमंच पर प्रयोग होता है, वे व्याजिम होते हैं। इसी व्याजिम विधि से रथ यान और विमान आदि को रंगमंच पर कृत्रिम गति प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार इन भौतिक पदार्थों को सूत्र के माध्यम से आगे-पीछे आर्कषित कर उनमें कृत्रिम गति उत्पन्न की जाती थी।[3]

वेष्टिम—वेष्टिम (त) या चेष्टिम वह पुस्तविधि है जिसमें वस्त्र आदि को आवेष्टित या लपेटकर प्रयोग होता है। किसी-किसी संस्करण में वेष्टिम (त) या वेष्टित के स्थान पर चेष्टित (म) शब्द का भी प्रयोग होता है। उसके अनुसार भौतिक पदार्थों का ज्ञान तद्वत् चेष्टा के प्रदर्शन से भी होता है।[4]

नाट्य में इसी पुस्तविधि के प्रयोग द्वारा शैल यान, विमान, वाहन और नाग आदि का प्रयोग होता था। वत्सराज उदयन की कथाओं में यन्त्र-निर्मित हाथी का उल्लेख मिलता है। **दशरूपक** टीकाकार धनिक ने ऐसे हाथी के प्रयोग का संकेत किया है तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण द्वारा ऐसे हाथी की रचना का संकेत दिया गया है।[5] मृच्छकटिक और शाकुन्तल

---

१. शैलयान विमानानि चर्म कर्मध्वजा नगाः।
यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः। ना० शा० २१।६।

२. किलिंज चर्म वस्त्राद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
संधिमो नाम विज्ञेयः पुस्तोनाटक संश्रयः। ना० शा० २१।७।

३. ना० शा० २१।७ क, अ० भा० भाग ३, पृ० १०६।

४. ना० शा० २१।८ (गा० ओ० सी०)।

५. द० रू० ५।५८ पर धनिक की टीका, प्रतिज्ञायौगंधरायणः, अंक १, पृ० ५८, कथासरितसागर—२।४-५, १८-२०।

में रथ और वाहनों का प्रयोग रंगमंच पर ही किया गया है।[1] बालरामायण में राजशेखर ने पुतली सीता की परिकल्पना इसी शैली में की है। संभव है इसी पुस्तविधि के प्रयोग द्वारा इन भौतिक पदार्थों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता हो। यद्यपि गति-विधान के प्रसंग में नाट्य-शास्त्र में शैलयान और विमान आदि को चित्रपट पर अंकित करके रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने का भी विधान अन्यत्र किया गया है।[2] संभव है बहुत प्राचीन काल में पुस्तक की यह विधि प्रयोग में नहीं लाई जाती होगी। उसके स्थान पर चित्र-रचना द्वारा ही इन वस्तुओं को प्रस्तुत कर दृश्यविधान को पूर्णता प्रदान की जाती हो। बाद में इस विधि का विकास हुआ है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में छत्र, मुकुट, इन्द्रध्वज, भृंगार, ध्वजा और व्यंजन आदि नाना प्रकार के शुभसंकेतक एवं नाट्योपयोगी पदार्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। ये सब पुस्तविधि द्वारा ही संपादित होती हैं।[3] इसी प्रकार गति-विधान से प्रसंग में शैल, यान और विमान आदि के अतिरिक्त राजा, मंत्री, नृपपत्नी तथा समाज के विभिन्न स्तरों के पात्रों के लिए सिंहासन, देवासन, मुण्डासन, कुशासन, काष्ठासन और मयूरासन आदि का जो विधान किया गया है,[4] उन सबकी रचना पुस्तविधि द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

अस्त्र-शस्त्रों का नाट्य में प्रयोग

नाट्य-कथा के आग्रह से प्रयोज्य युद्ध और नियुद्ध आदि के रोमांचक नाट्य-दृश्यों में विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की रचना तथा प्रयोग का विधान भी भरत ने प्रस्तुत किया है। कंत (माला), शतघ्नी, शूल, तोमर, शक्ति, धनुष, गदा, शर, वज्र और चक्र आदि अस्त्र तथा उत्तम शस्त्रों की परिगणना की गई है। भरत का यह स्पष्ट मत है कि नाट्य के ये उपकरण लौकिक पदार्थों के अनुकृत रूप हों न कि यथार्थ रूप। रंगमंच पर लोक-प्रचलित पत्थर या लोहे से बने भारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग न करके जतु (लाह), बाँस, उसके पत्तों और मधु आदि के योग से हलके दिखावटी अस्त्र-शस्त्रों की रचना नाट्य-प्रयोग के लिए होनी चाहिये; अन्यथा भारी अस्त्र-शस्त्रों के उठाने से श्रान्त और शिथिल पात्र अन्य आंगिक अभिनय-विधियों का संपादन सफलतापूर्वक नहीं कर सकते।[5] प्रयोग-विधि के सम्बन्ध में तो कई महत्त्वपूर्ण विधि-निषेधों का उल्लेख किया है। शस्त्र का प्रहार न हो, उसका संकेत से अंग-स्पर्श मात्र ही हो, अन्यथा प्रहार होने से पात्र क्षत-विक्षत हो सकता है। छेदन-भेदन, ताडन-मारण आदि द्वारा रुधिरस्राव का भी निषेध है। यदि प्रभावोत्पादकता के लिए रुधिर-स्राव आवश्यक भी हो, तो उसका प्रयोग आहार्य-विधि द्वारा सम्पन्न हो। अतः नाट्य-प्रयोग में शस्त्र-प्रयोग सीमित है।

---

१. मृच्छकटिकम्, अंक ६, अ० शा० अंक १६, ६, बालरामायण अंक ५, पृ० २४२-२५१।
२. ना० शा० १२।८७-१०६ तथा अ० भा० भाग २, पृ० १५१, १५४।
३. ना० शा० १।६०-६२ (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० १२।२१४ २१६।
५. या काष्ठयंत्र भूयिष्ठा कृता सृष्टिर्महात्मना।
नसाऽस्माकं नाट्ययोगे कस्मात् खेदावहा हि सा।
यद्द्रव्यं जीवलोकेतु नानालक्षण लक्षितम्।
तस्यानुकृति संस्थानं नाट्योपकरणं भवेत्। ना० शा० २१।२००-२०१ (गा० ओ० सी०)।

प्रयोग का लक्ष्य सारूप्य सृजन है न कि वास्तविक छेदन या भेदन।

आहार्य की पुस्तविधि द्वारा नाट्य-प्रयोग को प्रकृत रूप देने में बहुत सहायता मिलती है। प्रासाद, मंदिर, मूर्ति, ध्वजा, प्रतिशीर्ष और मुकुट आदि का भी नाट्यधर्मी प्रयोग इस विधि द्वारा ही सम्पन्न हो पाता है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण की घोषवती वीणा, प्रतिमा नाटक में दिवंगत राजाओं की मूर्तियाँ और बालचरित के मनुष्य-रूप-धारी शंख-चक्र आदि सब पुस्त विधि द्वारा सम्पन्न हो पाते हैं।[१] भरत इस बात से परिचित थे कि बहुमूल्य सुवर्ण एवं अन्य धातु सामान्यतया उपलब्ध नहीं होते। अतः वेणुदल, लाक्षा, घासफूस, अभ्रक और मधु आदि के लेप से रंगमंच पर इन लौकिक पदार्थों को साक्षात्कार-सदृश प्रस्तुत किया जा सकता है। पुस्तविधि भरत की प्रतिभापूर्ण नाट्य-दृष्टि का संकेत करती है। विस्तृत विधान देकर भी उन्होंने यह स्वतन्त्रता दी है कि इनके सम्बन्ध में नाट्याचार्य की बुद्धि पर निर्भर करना चाहिये।[२]

अलंकार

रंगमंच पर प्रस्तुत पात्रों का माल्य, आभरण और वस्त्र आदि के द्वारा जो मनोहारी प्रसाधन होता है उसे ही भरत ने अलंकार की अन्वर्थ संज्ञा दी है। अतएव पात्र का अलंकार मुख्य रूप से तीन प्रकार से होता है। माला-धारण, आभूषण-परिधान तथा वेशविन्यास।[३]

माल्य द्वारा अंग-शोभा

माला द्वारा शरीर का प्रसाधन भी पाँच प्रकार से होता है—वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रंथित और प्रलंबित। भरत ने इन पाँच प्रकार की माला-विधियों की परिगणना मात्र की है। उनका विवरण नहीं दिया है। आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार **वेष्टित** माला में हरी पत्तियों और रंग-विरंगे फूलों को एकत्र आवेष्टित कर दिया जाता है। **वितत** में फूलों की माला प्रसृत रहती है, **संघात्य** में फूलों के डंठल सूत्र में अदृश्य भाव से संगृहीत रहते हैं, **ग्रथित** में फूलों को गूँथ दिया जाता है तथा **प्रलंबित** में माला फूलों के गुँथी बहुत लम्बी और लटकी रहती है।[४]

आभरण द्वारा शरीर का अलंकार

शरीर पर आभरण के प्रयोग की विविध शैलियों के अनुसार आभरण चार प्रकार के होते हैं—आवेध्य, बंधनीय, क्षेप्य और आरोप्य।[५]

आवेध्य के अन्तर्गत उन आभरणों की परिगणना होती है जो अंगों को बेधकर पहने

१. न भेद्यं नैव च छेद्यं न प्रहर्तव्यमेव तत्।
रंगे प्रहरणैः कार्यं संज्ञामात्रं तु कारयेत्। ना० शा० २१।२१८-२२६ (गा० ओ० सी०)।

२. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अंक १, पृ० ६३-६४, प्रतिमा नाटक, अंक ३, पृ० २७७-८। ना० शा० २१। २११-२२३ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० २१।१० (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २१।११ वही तथा अ० भा० भाग ३, पृ० ११०-११।

५. ना० शा० २१।१२ (गा० ओ० सी०)।

जाते हैं। कान के कुण्डल आदि एवं नाक के विविध आभूषण प्रायः आवेध्य होते हैं।

आरोप्य के अन्तर्गत हेम-सूत्र, मणिमाला एवं अन्य प्रकार के नानाविध मनोहारी आभूषणों की परिगणना की गई है जिनका अंगों में आरोप मात्र कर लिया जाता है। बंधनीय के अन्तर्गत अंगद, केयूर, करधनी आदि आभरणों की परिगणना हुई है, जो अंगों में बाँधे जाते हैं और प्रक्षेप्य के अन्तर्गत नुपूर जैसे आभरण और ऊपर से प्रक्षेप्य वस्त्राभरण की भी परिगणना की है।[1]

भरत ने उपर्युक्त चार प्रकार के आभूषण-भेदों की परिगणना के उपरान्त पुरुष एवं महिलाओं द्वारा विभिन्न अंगोपांगों में प्रयोज्य विविध आभरणों का उल्लेख किया है। नाट्य-प्रयोग में सौन्दर्य-वृद्धि की दृष्टि से तो उसका महत्त्व है ही, पर इतने प्रकार के प्रयोज्य मनोहर आभूषणों की परिगणना से भरतकालीन भारत के समृद्ध जीवन का बड़ा सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

पुरुषों के आभूषण

पुरुषों द्वारा प्रयोज्य आभूषणों की नामावली बहुत बड़ी है—शिर पर चूड़ामणि, कानों में कुण्डल, कंठ में मुक्तावली, हर्षक और सूत्रक, अंगुली में अंगुलीमुद्रा और वर्तिका, बाहुनाली में हस्तली और वलय, बाजू में रूचक और चूलिका, बाजू से ऊपर के भाग में केयूर और अंगद, त्रिसर और हार; मोतियों की माला वक्षस्थल पर और सूत्रक कटि में धारण करने से पुरुषों के अंगों का अलंकार होता है। इन आभूषणों से देवों और मनुष्यों का शृंगार होता है।[2]

महिलाओं के आभूषण

महिलाएँ तो आभूषण-प्रिय होती हैं। भरत द्वारा महिलाओं के लिए प्रस्तुत की गई आभूषणों की नामावली बहुत ही विस्तृत है। प्रत्येक अंग-उपांग के लिए अनेक आभूषणों का विधान है। शिर पर शिखापाश, शिखाव्याल, पिंडीपत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक और शीर्षजाल। आचार्य अभिनवगुप्त ने शिर के इन आभूषणों की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'शिखाव्याल' नाग की तरह ग्रंथियों से उपनिबद्ध होता है। 'चूड़ामणि' शिर के मध्य में, तथा 'मुक्ताजाल'—ललाट के अन्त में मोतियों की सूक्ष्म चमत्कारपूर्ण जालियों से बना होता है। इनसे आभूषणों की रूप-रचना और सौन्दर्य का संकेत होता है।[3]

ललाट पर शिखिपत्र, वेणीपुच्छ और कुसुम-सदृश ललाट तिलक की रचना नाना शिल्प-प्रयोजित होनी चाहिये।[4] 'शिखिपत्र' तो मयूरपिच्छ के आकार का विचित्र वर्ण की मणियों द्वारा रचा जाता है और वह कर्णावतंस होता है।[5] **कानों के आभूषण** कर्णिका, कर्णवलय

---

१. ना० शा० २१।१३-१५ क (गा० ओ० सी०)।

२. वही, २१।१५ ख-२१, वही।

३. ना० शा० २१।२२-२४ (गा० ओ० सी०), का० भा० २०-२२।

४. ललाटतिलकश्च नाना शिल्प प्रयोजितः।
भ्रूकद्योपरि गुच्छश्च कुसुमानुकृतिर्भवेत। ना० शा० २१-२४ का० भा०।

५. शिखिपत्रं मर-पिच्छाकारो विचित्र वर्णमणि रचितः कर्णावतंसकः। अ० भा०, भाग ३, पृ० ११३।

(गोलाकार, पत्रकर्णिका, कुण्डल, कर्ण-मुद्रा, कर्णोत्कीलक और कर्णपूर आदि होते हैं। इन आभूषणों की रचना नाना वर्णों के रत्नों तथा दन्त पत्रों से की जानी चाहिए। कपोल के आभूषण तो तिलक और पत्र-लेखा हैं। नेत्रों का 'अंजन' और ओठों का 'रंजन' द्वारा अलंकार होता है।[1] भरत के अनुसार दाँतों का अलंकार भी विविध रागों से रंगकर ही होता है। सम्मुख के चार दाँत शुभ्र भी रह सकते हैं। रंजित लाल अधर-पल्लवों के मध्य शुभ्रदंत-पंक्तियों से नारी का हास्य अत्यन्त मधुरता से स्फुरित होता है। रक्त कमलाभ रंग से दाँतों के रंग का भी विधान है। अधर पल्लवों की प्रभा नव-पल्लव-सी ताम्र होनी चाहिए।[2] **कण्ठ के आभूषण** मुक्तावली, व्याल-पंक्ति, मंजरी, रत्नमालिका, रत्नावली और सूत्रक हैं। इन आभूषणों में एक से लेकर चार लड़ियाँ हो सकती हैं। **बाहुमूल** के आभूषण अंगद और बलय हैं। नाना शिल्पों से रचित हार और त्रिवेणी तथा 'मणिजाल निर्मित' आभूषण से नारी के वक्षस्थल का शृंगार होता है। **अंगुली** के आभूषण कलापी, कटक, हस्तपत्र, सपूरक और मुद्रा हैं। **श्रोणी** के आभूषण कई प्रकार के होते हैं, मेखला, कांचिका, रशना और कलाप। कांची में एक लड़ी होती है और मेखला में आठ लड़ी, रशना में सोलह और कलाप (समूह) में पच्चीस लड़ियाँ होती हैं। नूपुर, किंकिनी, घटिका, रत्नजालक और सघोष कटक (कड़ा) ये पाँच प्रकार के आभूषण होते हैं। सघोष कटक आभूषण का प्रयोग अभी भी ग्रामीण महिलाओं में प्रचलित है। यह भीतर से खोखला होता है और उसके भीतर कंकड़ होते हैं, और गति के अनुरूप गूँजते रहते हैं। जाँघों में पाद पत्र, पैरों की अँगुलियों में अंगुलीयक, तथा दोनों पाँवों में अंगुष्ठ-तिलक का भी विधान है।[3] अशोक के पल्लवों की आभा के सदृश रक्त वर्ण अलक्तक राग का प्रयोग पाँवों में होना चाहिए जिसमें नाना प्रकार की कलात्मक रेखाएँ अंकित हों।[4]

आभूषणों के प्रयोग की स्थितियाँ

इस प्रसंग में भरत ने प्रयोग-संबंधी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है कि इन आभूषणों का प्रयोग भाव और रस के संदर्भ में होना चाहिए। आगम, प्रमाण, पात्र, रूपशोभा तथा लोक-प्रचलित व्यवहारों की पृष्ठभूमि में ही आभूषणों का प्रयोग उचित होता है। शोक की दशा में चमत्कारपूर्ण आभूषणों का प्रयोग नारी के लिए शोभा नहीं देता।[5]

भूषणों का अतिशय प्रयोग

भरत ने भूषणों का इतना विस्तृत विधान शास्त्रीय दृष्टि से तो किया परन्तु प्रयोग की दृष्टि से मूल्यवान रत्ननिर्मित आभूषणों तथा अधिक आभूषणों का प्रयोग उचित नहीं माना है। अधिक बोझिल अलंकारों का प्रयोग पुरुष एवं नारी पात्रों में श्रम और खेद भी उत्पन्न करते हैं। उस अवस्था में नाट्य-प्रयोग में बाधा उपस्थित होती है। अतः लाह आदि से निर्मित

१. ना० शा० २०।२८ क।
२. ना० शा० २०।२९-३०, गा० ओ० सी।
३. ना० शा० २१।३१-३४, अ० गु०।
४. ना० शा० २१।४१क (का० मा०)।
५. एतद्विभूषणं नार्या आकेशनखादपि।
यथाभावरसावस्थं विज्ञायैव प्रयोजयेत्॥ ना० शा० २१।४२-४३।

चमत्कारक पर हलके अलंकारों का प्रयोग उचित है। भरत के आभूषण-विधान से उनकी प्रयोग-दृष्टि का सही अनुमान कर सकते हैं। वे इन कृत्रिम आभूषणों द्वारा अलंकार ही करना चाहते थे, जिससे पात्र के रूप की आभा आकर्षक हो, पर यह अलंकार बोझ न बन जाए कि प्रयोग में बाधा और दोष उत्पन्न हो।[1]

भरत के भूषण-विधान से हमें कई बातों का पता चलता है। भरतकालीन भारतीय समाज के समृद्ध जीवन में नारियाँ अलंकार का प्रयोग करती थीं। भरत की आभूषण-विधि नारी सौन्दर्यानुसारिणी है। इन आभूषणों का प्रयोग रंगभूमि पर सौन्दर्य का प्रसार करना ही था परन्तु वह प्रयोग भी नाटच में प्रवहमान भाव और रस का अनुसारी होना चाहिए।

वेश, आभरण और केश-विन्यास की विलक्षणताएँ

नारियों के विविध अंगोपांगों के लिए नाना वर्ण और आकार के कलात्मक आभूषणों का विधान भरत ने उनके सौन्दर्य और प्रयोगानुकूल भाव-रस की समृद्धि के लिए किया है। परन्तु नारी के शरीर के वेश, आभरण और केशविन्यास के द्वारा विशिष्ट जाति और विशिष्ट देश-वासिनी महिला का ज्ञान रंगमंच पर होता है। अतः जातिभेद तथा देशभेद के संदर्भ में उनके विलक्षण वेष, आभरण और केश-रचना का विधान किया गया है। निश्चय ही इस विधान के मूल में भिन्न-भिन्न जाति और देश की वेश-प्रकृति, आभरण-परिधान का कौशल एवं केश-रचना के सौन्दर्य का पूर्ण विवरण है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त तीनों शब्दों की बड़ी अर्थपूर्ण व्युत्पत्ति की है। जो हृदय को व्याप्त कर ले, आविष्ट कर ले, वह वेश होता है। केश की मनोहारी रचनाविधि वेश ही है। आभरण द्वारा चारों ओर से कान्ति का आभरण या पोषण होता है। अतएव शिर या व्याल आदि आभूषण या आभरण होते हैं। क्षुर-कर्म के द्वारा ललाट पर अलक या घुँघराले केशों की रचना होती है और परिच्छद शरीर को चारों ओर से आच्छादित करने वाले विचित्र वस्त्रों के योग से सम्पन्न होता है। नारियों के शरीर की साज-सज्जा की रचना इन्हीं विधियों से प्रधान रूप से सम्पन्न होती है।[2]

दिव्यांगनाओं के वेष-विन्यास

विद्याधरी, यक्षिणी, अप्सरा, नागपत्नी, ऋषि-कन्या और देवांगनाएं देष आदि के द्वारा एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं। सिद्ध, गन्धर्व, राक्षस और असुर पत्नियों तथा दिव्य-नारियों के मस्तक पर केशाग्र बँधे रहते हैं और उनमें मोती प्रचुरता से पिरोये होते हैं। विद्याधरियों का वेश और परिच्छद शुद्ध होता है। यक्षिणी और अप्सराओं के आभरणों में रत्न जड़े रहते हैं। केश-विन्यास इनका 'सम' होता है, परन्तु यक्षिणी अपने केशों में शिखा की योजना करती है। दिव्य और नाग-स्त्रियों की केशविन्यास-विधि बड़ी आकर्षक होती है। वे मुक्तामणि-मंडित

---

१. न तु नाट्य प्रयोगे कर्तव्य भूषणं गुरुः।
रत्नवत् जतुबद्धं वा न खेदजननं भवेत्॥ ना० शा० २१।४७-४६।

२. हृदयं व्याप्नोति, हृद्यत एव इति वेशकेशरचनादि:। आसमन्तात् भियते पोष्यते कान्तिर्येन तदाभरणं शिखाव्यालादिः। क्षुरकर्म अलकादि योजना, परिच्छदः विचित्र वस्त्रयोगः। अ० भा० भाग ३, पृ० १२० तथा ना० शा० २१।७२।

फणाकार केश-गुच्छ की रचना करती हैं। मुनि-कन्याओं के केश-विन्यास एवं आभरण आदि की विधि सरल और वन-प्रकृति के अनुरूप होती है। शिर में एक वेणी-मात्र, शरीर पर आभरण नहीं, और वेश वनोचित होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल की तापस बालाएँ वल्कल ही धारण कर बहुत ही मन-भावन लगती हैं।[1] सिद्धों की स्त्रियों का मण्डन मुक्तामरकतप्राय आभरणों से होता है। वे पीत वस्त्र धारण करती हैं। गन्धर्व कन्यायें पद्मराग-मणिनिर्मित आभूषण पहनती हैं। कुसुंभी रंग का वसन पहनती हैं और हाथ में जीवन-संगिनी वीणा सुशोभित रहती है। राक्षसियों का मण्डन इन्द्रनीलमणि से होता है, दाँत शुभ्र और परिच्छद कृष्ण वर्ण का होता है।[2] देवांगनाएँ वैदूर्यमणि और मुक्ता के बने आभरणों से अपना शृंगार करती हैं। उनका परिच्छद शुक के कोमल पंखों-सा हरिद्वर्ण का होता है। कभी-कभी-दिव्य और वानर-नारियों का परिच्छद नील वर्ण का भी होता है। ये सारी विधियाँ शृंगार के लिए उपयुक्त होती हैं। परन्तु भाव और अवस्था के अनुरूप उनकी वेशविधि, परिच्छद तथा आभरण-शैली में परिवर्तन भी हो जाता है।[3]

पार्थिव नारियों का देशानुरूप वेष-विन्यास

मानुषी स्त्रियों के वेश, आभरण और परिच्छद आदि में देश की भिन्नता के संदर्भ में देश की विलक्षणता का विधान है। इसी विलक्षणता के कारण रंगमंच पर उनकी पहचान होती है। अवन्ती देश की युवतियों के शिर पर कुन्तल अलक होते हैं। गौड़ देश की स्त्रियों की वेणी में शिखापाश की रचना होती है। आभीर (अहीर) युवतियाँ दो वेणियों द्वारा केश-रचना करती हैं। उनका परिच्छद नील होता है तथा वे शिर को ढँके रहती हैं। पूर्वोत्तर देश की स्त्रियों का 'शिखंडक' मस्तक पर उठा रहता है। वे सिर से लेकर पाँव तक परिच्छद से अपने शरीर को ढँके रहती हैं। दक्षिण देश की स्त्रियाँ 'उल्लेख्य'[4] नामक आभरण पहनती हैं और ललाट पर गोलाकार तिलक की रचना करती हैं। गणिकाओं का मण्डन तो इच्छानुरूप होता है।[5]

वियोगिनी स्त्री का वेष

नारियों के वर्णित वेश-विधान के क्रम में देश और अवस्था आदि का भरत ने सदा ध्यान रखा है। देशानुसार वेश आभरण और परिच्छद आदि की संयोजना होने पर ही शोभा का प्रसार होता है अन्यथा मेखला यदि वक्षस्थल पर धारण कर ली जाय तो अशोभन ही मालूम पड़ेगा।[6] इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रोषित कान्ता के लिए मलिन वेश की परिकल्पना की गई है। विप्रलंभ शृंगार के क्रम में वेश शुद्ध होता है विचित्र नहीं। न तो अधिक आभरणों का

१. इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी। अ० शा० अंक १।१६।
२. ना० शा० २१।५३-६३ (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० २१।६३-६५।
४. म० मो० घोष—ना० शा०, अ० अ० पृ० ४२० पादटिप्पणी, बंगाल में प्रचलित 'उल्की' का-सा कोई आभूषण।
५. ना० शा० २१।६६-७० (गा० ओ० सी०)।
६. ना० शा० २१।७१, का० मा०।

प्रयोग उचित है और न अधिक मलिनता से (न मृदा युतः) ही युक्त रहना चाहिए।[1] घोष महोदय ने प्रोषित कान्ता के लिए स्नान का जो नितान्त निषेध किया है, वह कल्पना नितान्त अरुचिकर होने के कारण ग्राह्य नहीं है।[2] कालिदास ने मेघदूत में विरहिणी यक्षिणी के शुद्ध स्नान का उल्लेख किया है।[3] निःसंदेह वह मलिन-वसन, सन्यस्ताभरण तथा एक वेणीधरा तो है ही। कालिदास-रचित ऋतुसंहार की नागरिकाओं, अलका की वधुओं, हिमालय की पुत्री पार्वती, अज की पत्नी इन्दुमती और अलका की उन्मुक्त युवतियों के नाना आकार-प्रकार के मनोहर आभूषण, अंग-रचना की शैलियाँ और केश एवं वेश आदि का हृदयहारी वर्णन मिलता है। भरत-निरूपित-आभूषण अंग-रचना और वेष-विन्यास का प्रभाव कालिदास पर अत्यन्त स्पष्ट है। निःसंदेह कालिदास ने अपने काव्य और नाटक की वनिताओं का श्रृंगार पुष्पों से अधिक किया है।[4]

पुरुषों का भी वेश-विन्यास आदि देश, जाति और अवस्था के आधार पर निर्धारित होता है। भरत ने वेश-विधान के पूर्व अंग-रचना और वर्तना के सिद्धान्त का विवेचन कर तब वेश-विधान प्रस्तुत किया है, क्योंकि वर्ण-रचना होने के बाद ही वस्त्र-धारण किया जाता है। हम उसी क्रम में यहाँ उन्हें यथा-स्थान प्रस्तुत करेंगे।

अंग-रचना

अंग-रचना आहार्य अभिनय का तीसरा प्रकार है। इसके अन्तर्गत अंगों की रचना तथा केश-विन्यास आदि की विभिन्न शैलियों का प्रतिपादन किया गया है। अंग-रचना देश, जाति और वय के अनुरूप होती है। ऐसा होने पर ही पात्र का रूप-परिवर्तन होता है और वह स्वरूप, स्वभाव आदि का त्यागकर अनुकार्य राम और सीता के स्वरूप और भाव को धारण कर प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। इस प्रसंग में भरत ने मूल रूप से चार प्रकार के स्वाभाविक वर्णों का उल्लेख किया है—सित (उज्ज्वल), पीत, नील और रक्त। परन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण में नील के स्थान पर कृष्ण तथा हरित नामक नये वर्णों का उल्लेख मिलता है। भरत ने प्रधान वर्णों के योग से अनेक उपवर्णों की भी कल्पना की है, उन उपवर्णों के भी परस्पर योग से तो हजारों प्रकार के वर्णों की योजना होती है। विष्णुधर्मोत्तर की दृष्टि से उनकी संख्या की परिगणना नहीं की जा सकती।[5] भरत ने वर्णों के संयोग के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आकलन किया है। नील वर्ण सब वर्णों में बलवान् होता है और वर्णों के मेल में उसकी मात्रा सर्वाधिक या न्यून होनी चाहिए। इस प्रकार वर्णों और अन्य अनेक उपवर्णों के योग से रंगों की नानाविध मनोहारी छायाएँ प्रकट होती हैं। उन्हीं से रँगकर पात्रों को जाति और देशानुरूप रीति से प्रस्तुत किया जाता है। सित और नील से कपोत वर्ण (भूरा), सित-पीत के योग से पांडु वर्ण, सित और रक्त से

---

१. ना० शा० २१।७३-७६ (गा० ओ० सी०)।
२. ···एण्ड नोट टू क्लीन्स देयर बोडी—ना० शा० अं० अनु० २३।७७ (एम० एम० घोष)।
३. शुद्धस्नानात् परूषमलकम् नूममागण्डलम्बम्। उत्संगे वा मलिन वसने, एक वेणीकरेण, सासन्यस्ताभरणमवला पेशलंवारयंती। उत्तरमेघ ३३, ३४, ३५।
४. उत्तरमेघ—२, ११, २६, ३४, ३५; रघुवंश—७।६-१०, १६।४५; कुमारसंभव—७।२६-३०; ऋतु० सं० १।४-८, २।१८-२२, ४।३-६, ५।८-१२ तथा कालिदासकालीन भारत—पृ० १३२-१३५—भगवतशरण उपाध्याय।
५. विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३,२७।७-१५।

पद्मवर्ण, पीत-नील से हरिद्वर्ण, नील-रक्त से काषाय और रक्त-पीत से गौर वर्ण का आविर्भाव होता है।[1]

वर्ण-रचना और वर्तनाविधि इतनी महत्त्वपूर्ण है कि नाट्य-प्रयोग में न केवल सीता-राम आदि अतीत के मनुष्यों के अनुरूप वर्ण-रचना द्वारा, अवतरण की कल्पना की जाती है अपितु प्रासाद, यान, विमान, पर्वत, दुर्ग और शास्त्र भी प्राणी के रूप में रंगमंच पर अवतरित होते हैं। उत्तररामचरित में गंगा, तमसा, मुरला और पृथ्वी देवी का अवतरण इसी रूप में होता है। यौगन्धरायण उदयन के उद्धार और वासवदत्ता के हरण के लिए इसी शैली में रूप-परिवर्तन कर उज्जैनी में प्रवेश करता है।[2] इस प्रकार अंगवर्तना और अंग-रचना की इस विशिष्ट शैली में नाट्य-धर्मी विधि द्वारा भौतिक निर्जीव पदार्थों को भी प्रयोग-काल में गति-संचार और मानवीय रूप-सज्जा देकर प्रस्तुत किया जाता है। पर रूप-रंग की आभा ऐसी होती है कि वे हिमालय और गंगा की तरह प्रतीत होते हैं।

विभिन्न जातियों और देशवासियों के वर्ण

राजाओं, देवों, दानवों और अन्य देशवासियों तथा विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न वर्णों का विधान किया गया है। राजाओं के लिए पद्म और श्यामवर्ण ऋषियों के लिए बदरी (बैर) का-सा काषायवर्ण; सुखीजन गौर; किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, काशी और कोशल पुलिंद, एवं दक्षिणवासियों का कृष्ण; शक, यवन, पल्लव, बाह्लीक और उत्तरवासी गौर; पांचाल, शौरसेन, मागध, उद्र, अंग, बंग और कलिंगवासी श्याम, वैश्य और शूद्र भी सामान्यतः श्याम, ब्राह्मण, क्षत्रिय रक्त; देवता, यक्ष और अप्सरा गौर, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, ब्रह्मा और कार्तिकेय स्वर्ण वर्ण; चन्द्र, वृहस्पति, शुक्र, वरुण, तारागण, समुद्र, हिमालय और गंगा आदि श्वेत और रक्तवर्णों के माध्यम से प्रस्तुत होते हैं। बुद्ध और अग्नि पीतवर्ण के होते हैं। नर, नारायण, वासुकि दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, पिशाच, जल और आकाश आदि श्यामवर्ण के होते हैं। रोगी, कुकर्मी, ग्रह-गृहीत, तपस्यारत और क्लेशाविष्टों का वर्ण कृष्ण होता है। विविध वर्णों और उपवर्णों के संयोग से पात्रों की विभिन्न अवस्था के अनुसार सुख-दुःखात्मक भूमिका भी प्रस्तुत की जाती है।[3]

रसानुरूप शरीर का वर्ण

पात्र की मनोदशा (रस-दशा) के अनुरूप ही उसकी अंग-रचना का वर्ण भी विहित है। प्रत्येक रस के लिए पृथक् वर्ण का निर्धारण किया गया है। शृङ्गार रस श्याम, हास्य शुभ्र (सित), करुण धूसर, रौद्र रक्त, वीर गौर, भयानक कृष्ण, अद्भुत पीत और बीभत्स रस नील वर्ण होता है।[4]

---

१. ना० शा० २१।७८-८६ (गा० ओ० सी०)।

२. उत्तररामचरित अंक—३।७, कथासरितसागर—द्वितीय लंबक ४।५०-५२।

३. ना० शा० २१।९२-११४। वि० ध० पु० ३।२७।१६-२६ (गा० ओ० सी०)।

४. वही, ६।४७-४८।

वर्ण-रचना की मौलिकता

भरत द्वारा विभिन्न देशवासियों और जातियों के लिए जो पृथक्-पृथक् वर्ण-विधान किया गया है उसके मूल में तदनुरूप ही उन जनपदवासियों के रूप-रंग की वर्तमानता भी है। यद्यपि पिछले हजारों वर्षों में संस्कृतियों और विभिन्न जातियों के अन्तरावलंबन से जातियों तथा विभिन्न अंचलवासियों का शरीर-वर्ण भी परिवर्तित हुआ है। परन्तु अभी भी भरत की कल्पना बहुत अंश में ठीक ही है। हिमाचल-वासियों की अंग-रचना गौर, और किरात, बर्बर, आंध्र आदि की कृष्ण है। भारतीय जातियों में भी वर्णों का जो विधान किया गया है वह बहुत अंश में उपयुक्त और यथार्थ है। उत्तर देश के ब्राह्मण प्रायः गौर वर्ण होते हैं और शूद्र श्याम वर्ण। घोष महोदय के अनुसार उच्चवर्णों में इण्डो-यूरोपीय वर्ण अब भी अंशतः सुरक्षित-सा है।[1]

पुरुषों का केश-विन्यास

अंग-रचना के अन्तर्गत ही पुरुषों के श्मश्रु कर्म की भी विवेचना की गई है। इसके चार प्रकार हैं—शुद्ध, विचित्र, श्याम और रोमश। हम चारों का प्रयोग देश, वय तथा अवस्था आदि के क्रम में होता है। शुद्ध श्मश्रु कर्म में केश नितान्त नहीं रहते। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, मंत्री, पुरोहित, इन्द्रियसुखनिवृत और दीक्षित पुरुष के लिए शुद्ध, श्मश्रु का विधान है। अशौच और व्रत आदि धारण के प्रसंग में अभी भी सम्पूर्ण केश कटा लेने की प्रथा है।[2] विचित्र श्मश्रु में केश-विन्यास क्षुर शिल्प द्वारा आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। राजा, राजकुमार, राजपुरुष, श्रृंगारी और यौवनोन्मादी पुरुषों के अभिनय-प्रसंग में विचित्र श्मश्रु कर्म का प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार पुरोहित और मंत्री आदि भी विचित्र शैली में केश-विन्यास की रचना करते हैं। जो पुरुष व्रती, प्रतिज्ञा-परायण, दुखी, तपस्वी या विपत्ति-ग्रस्त होते हैं उनके लिए श्याम श्मश्रु का प्रयोग किया जाता है। ऋषि, तपस्वी और दीर्घ-व्रती के लिए रोमश श्मश्रु का प्रयोग होता है। श्मश्रु-विधान के तीनों प्रकारों में नाना प्रकार की सामाजिक, धार्मिक और मानसिक परिस्थितियाँ आधार के रूप में वर्तमान रहती हैं।[3]

पुरुषों का वेश-विन्यास

अंग-रचना के उपरान्त भरत ने पुरुषों की वेश-भूषा का विधान किया है। वेश-विन्यास की विशिष्ट शैली द्वारा ही देश-भिन्नता तथा मानसिक सुख-दुःख का अन्तर ज्ञात होता है।

---

१. मनुस्मृति १०।४४।
Red (Rakta) or reddish yellow colour (Gaur K. M.) assigned to Brahmins and Kshatriyas probably show that at one time when the various theatrical conventions cystalised., these two sections of society still retained their original Indo-Iranian physical features one of which was certainly the colour of their skin. The Dark colour of Vaisyas and Sudras similarly shows in all likelihood that those were not Aryans of the pure type (M. M. Ghosh) N. S. (Eng. Trans.), p. 426 footnote.

२. ना० शा० २१।१०६-१११, का० मा०।

३. ना० शा० २१।११६-१२०; वि० ध० पु० ३।२७-३२ (गा० ओ० सी०)।

सामान्यत: देशावस्था आदि के सन्दर्भ में प्रकृत जन तथा संभ्रान्त राजा अमात्य आदि की जो वेश-भूषा भरत-काल में होती थी उसी का समानीकरण करके भरत ने शास्त्रीय रूप दिया है। भरत ने तीन प्रकार के वेश शुद्ध, विचित्र और मलिन का उल्लेख किया है।

देव-मन्दिर की यात्रा, मंगल व्रत, विवाह और तिथि-नक्षत्र के शुभयोग में यदि नर या नारी प्रवृत्त हों तो उनका वेश 'शुद्ध' होना चाहिये। देव, दानव, यक्ष, राक्षस तथा कामुक राजा का वेश चित्र होता है। वृद्ध, ब्राह्मण, सेठ, अमात्य, पुरोहित, वणिक्, कांचुकीय, तपस्वी, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्थानीय जनों के लिए नाटकाश्रित शुद्ध वेश का प्रयोग होता है। उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक, विपत्तिग्रस्त पात्र का वेश मलिन होता है। लोक की स्वाभाविक वेश-भूषा के उपयुक्त वेश-भूषा का विधान है। मुनि, यति और शाक्य का वेष काषाय वर्ण, तपस्वी का वेष चीर (वृक्ष की मोटी त्वचा), वल्कल और चर्म (बघछाल और मृगचर्म), पाशुपत के लिए नाना वर्णों से बना विचित्र वेष विहित है। अन्त:पुर में जो परिजन आदि नियुक्त रहते हैं, तथा जो अर्हत हैं, उनका वेष काषाय वस्त्र या कंचुक-पट होता है। अवस्था के अन्तर से वेष परिवर्तित भी होता है। यों राजा का वेष तो प्राय: नाना वर्णों से रचित विचित्र होता है। परन्तु जब वह संग्राम में प्रवृत्त होता है तो विचित्र शस्त्र, तरकस और धनुष धारण किये रहता है। केवल व्रतादि अनुष्ठान के प्रसंग में ही उसका वेष शुद्ध होता है। वस्त्र या वेष-विधि जाति, देश, वय और विभिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में होना चाहिए यह भारत का स्पष्ट निर्देश है।[1]

शिर का वेष

शरीर के वेष के समान प्रमुख अंग शिर का भी नाटक में प्रसाधन किया जाता है, तथा इसकी भी रचना शुभाशुभकृत नाना अवस्था को देखकर ही होती है। शिर के वेष-विन्यास तीन प्रकार के होते हैं—पार्श्वगत (पार्श्वमौलि), मस्तकी और किरीटी। इन तीनों ही शिरोवेष में किरीट सर्वश्रेष्ठ होता है और बहुमूल्य रत्नों से उसकी रचना होती है, वह शिर पर उठा रहता है। 'मस्तकी' किरीट का-सा उतना ऊपर नहीं उठा रहता परन्तु शिर को ढँके रहता है। इसकी भी रचना स्वर्ण आदि रत्नों से होती है। 'पार्श्वमौलि' की ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है, संभवत: शिर के पार्श्व में पहनी जाती है, समस्त शिर को नहीं ढँक पाती। इसीलिए इसे अर्ध मुकुट भी कहते हैं। इसकी भी रचना स्वर्ण रत्नों से ही होती है। मुकुट शैली के तीनों प्रकार के शिरोवेष का प्रयोग मुख्यत: दिव्य पात्रों और पार्थिवों द्वारा ही होता है। दिव्य पात्रों में जो उत्तम हैं वे किरीट ही धारण करते हैं, मध्यम दिव्य पात्र पार्श्वमौलि और कनिष्ठ शीर्षमौलि धारण करते हैं। राजाओं के शिर पर मस्तकी मुकुट सुशोभित रहता है। युवराज और सेनापतियों के शिरोवेष के रूप में अर्ध मुकुट या पार्श्वमौलि होती है। विद्याधर, सिद्ध और चारण आदि पात्रों के शिरोवेश की रचना केशों की ग्रन्थियों द्वारा होती है। राजाओं के अन्त:पुर के अमात्य, कंचुकी, श्रेष्ठी और पुरोहितों के शिरोवेष के लिए शिर को चारों ओर से वस्त्र-पट्टियों से बाँधने वाली पगड़ी (प्रतिशिर) होती है। पिशाच, उन्मत्त, साधक और तपस्वियों के शिरोवेष तो उनके शिर के लम्बे केश ही होते हैं। शाक्य, श्रोत्रिय, संन्यासी तथा यज्ञ आदि के लिए दीक्षित पुरुषों का शिरोवेष केशमुण्डन द्वारा ही होता है। वस्तुतः बिना मुकुट धारण किये भी व्रतानुकूल तीन प्रकार के

१. ना० शा० २१।१२२-३८।

शिरोवेष होते हैं—मुण्ड, कुंचित और लम्बे केश। धूर्त चोर तथा शृंगारोचित पुरुषों का शिरोवेष कुंचित होता है। बालकों के शिर पर तीन शिखाएँ होती हैं। मुनियों का शिरोवेष तो जटा से बनता है, वह मुकुट की तरह ही ऊँचा बना रहता है। विदूषक या तो खल्वाट (गंजा) होता है या शिर के केश काकपक्ष की तरह विच्छिन्न होते हैं। चेटों का शिर मुण्ड या त्रिशिख होता है।[1]

वेष-रचना का आधार

वस्तुतः वेष की रचना तो भूषण, वर्णक, वस्त्र और माल्य आदि के द्वारा संपन्न हो पाती है। भरत की दृष्टि से किसी पात्र की वेष-रचना से पूर्व नाट्य-प्रयोग के योग्य स्त्री-पुरुष पात्रों की प्रकृति और अवस्था का निर्धारण आवश्यक है। इनका निर्धारण हो जाने पर देश, जाति और वय का भी ध्यान रखते हुए नाना प्रकार के वेष की रचना होती है। प्रयोगवश दिव्य पात्र भी रंगमंच पर अवतरित होते हैं। परन्तु उनके लिए सब मानुषाश्रित भावों और रसों का ही नहीं आंगिक चेष्टाओं और अन्य विकृतियों का भी प्रयोग मनुष्यवत् होना चाहिए। देवों के नयन तो निर्निमेष होते हैं परन्तु नाट्य-प्रयोग में निर्निमेष नयन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि भाव और रसों की प्रतिष्ठा दृष्टि के माध्यम से ही होती है, तदनन्तर अंगों से विभावन होता है।[2]

संजीव

संजीव आहार्याभिनय का चौथा प्रकार है। इसके अन्तर्गत भरत ने अपद, द्विपद और चतुष्पद जीवों के रंगमंच पर प्रस्तुत करने की विधि पर विचार किया है। रंगमंच पर तीन प्रकार के प्राणियों का सामान्यतया प्रवेश होता है। सर्प आदि अपद (बिना पाँव के), मनुष्य और पक्षी द्विपद तथा ग्राम्य या अरण्य हिरण, गौ और घोड़ा आदि प्राणी चतुष्पद होते हैं। छोटे एवं सरल पशुओं के प्रकृत रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत करने की कल्पना तो की जा सकती है, परन्तु भयदायक सिंह और व्याघ्र आदि चतुष्पदों और अपद सर्पों के प्रवेश से रंगमंचीय व्यवस्था में बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, अतएव भरत ने उनकी कृत्रिम रूप-रचना का विधान किया है। संस्कृत एवं हिन्दी नाटकों में भी ऐसे चतुष्पद पशुओं के पात्र के रूप में प्रवेश की कल्पना की गई है। और उनके द्वारा नाट्य-सौन्दर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुई है। कण्व के तपोवन से विदा होती हुई शकुन्तला की साड़ी से उसका कृतक पुत्र मृग अनायास प्रेमवश लिपट जाता है, सप्तम अंक में शकुन्तला का पुत्र भरत सिंह-शावकों के दाँत गिनता है। मृच्छकटिक, रत्नावली और प्रतिज्ञायौगन्धरायण में हाथी, वानर और वाहनों का प्रवेश रंगमंच पर होता ही है। अतएव भरत ने रूपकों के प्रयोग योग्य इस महत्त्वपूर्ण अंश का भी बड़ा विस्तृत विधान किया है। इस विधान के मूल में भरत की भावना यही है कि इन अपद, द्विपद और चतुष्पदों की कृत्रिम अवतारणा से प्रयोग में सारूप्य का सृजन होगा। लौकिक पदार्थों और जीवों का अनुकृति-संस्थान रूप सारूप्य नाट्य-प्रयोग का प्राण है। इस दृष्टि से संजीव पद्धति का बड़ा महत्त्व है।[3]

---

१. ना० शा० २१।१३६-१५५ (गा० ओ० सी०); वि० ध० पु० २७।३३-३७ क।

२. ना० शा० २१।१५७-१६० (गा० ओ० सी०)।

३. (क) ना० शा० २१।१६२-१६३ (गा० ओ० सी०)।
(ख) शकुन्तला अंक ४—कोऽयं नुखल्वेष में निवसते सज्जते तथा अंक ७।
(ग) मृच्छकटिक अंक ६, रत्नावली अंक २, प्रतिज्ञायौगन्धरायण अंक १।

पटी या घटी (साँचा) की रचना

संजीव शैली के प्रयोग के लिए भरत ने पटी या घटी (साँचा) की परिकल्पना की है। यह एक प्रकार का आच्छादन या आवरण-सा होता है जिसे आवश्यकतानुसार विविध प्राणियों की रूप-रचना के लिए पात्र अपने शिर से पाँव तक ढँककर अपने प्रकृत रूप को अन्तर्हित कर देते हैं और पटी या घटी में अंकित रूप ही प्रेक्षकों के समक्ष रहता है। उस पटी में आकार के अनुरूप ही पात्र की चेष्टा भी होती है। पटी की रचना के लिए अत्यावश्यक सामग्रियों का विवरण, उसका माप, आँख, नाक, कान, मुंह आदि के पास छिद्र-रचना का आवश्यक विधान भी दिया गया है, क्योंकि इन छिद्रों के माध्यम से पात्र देखता, सुनता और साँस लेता है और बोलता है। घटी की रचना बेल का गुद्दा, लस्सा, धान का भूसा, भस्म, वस्त्र और छाल आदि के माध्यम से होती है। इसकी रचना अत्यन्त संतुलित होती है। यह न मोटी, न झुकी और न बहुत पतली या लम्बी ही होनी चाहिये। जब इसमें प्रयुक्त द्रव्य सूख जाय तब सुतीक्ष्ण अस्त्र के द्वारा आधा-आधा भाग में काटकर ललाट, कर्ण, नयन और मुखादि की योजना की जाती है। इस पर मुकुट का भी प्रयोग हो सकता है और अबरक आदि चमकदार द्रव्यों के द्वारा उसमें सौन्दर्य का सृजन भी किया जा सकता है। भरत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रयोगात्मक नाट्य के उपकरणों की कोई सीमा नहीं है, जो भी उपयुक्त द्रव्य सरलता से प्राप्त हो जाएँ उन्हीं के द्वारा उनकी रचना होनी चाहिए।[1]

आहार्याभिनय और सारूप्य सृजन

आहार्याभिनय नाट्य के प्रयोग एवं सारूप्य सृजन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कलात्मक प्रयास है। इसी के द्वारा लोक-धर्मी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रंगमंच पर नाट्य-धर्मी रूप में विभावन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। नाट्य-प्रयोग का दृश्य-विधान अधिकाधिक प्रकृत जीवन और वातावरण के अनुरूप हो, इसके लिए इन विधियों की कल्पना की गई है। काव्य-रूप में जिन वस्तुओं और जीव-जंतुओं का वर्णन नाट्य में आता है, उन सबका प्रस्तुतीकरण न संभव है और न उपादेय ही। अतएव भरत ने आहार्याभिनय के अन्त में कुछ महत्त्वपूर्ण विधानों और निषेधों पर बहुत बल दिया है।

सामग्री का प्रयोग

आहार्याभिनय के प्रसंग में जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाय वे सब हल्की हों, काष्ठ, यंत्र और लोहा जैसे बोझिल, खेद-प्रद उपकरणों का प्रयोग कदापि नहीं होना चाहिये। प्रासाद, गृह, यान और प्रहरणों का अनुकृति-संस्थान ही यहाँ प्रस्तुत करना चाहिए। अतएव हलका काष्ठ (बाँस), वस्त्र, चमड़ा, लाह और बाँस के पत्तों से इन सबका ढाँचा बनाकर रंग-बिरंगे वस्त्रों से आच्छादित कर सारूप्य की रचना करनी चाहिये। यदि वस्त्रों का अभाव हो, तो ताल-पत्र और किलिजों के द्वारा भी कार्य संपन्न करना संभव है। शरीर के प्रत्येक अंग हाथ-पाँव, शिर और त्वचा के लिए संपूर्ण ढाँचे को मिट्टी का रूप देकर मधु, लाक्षा, अबरक और वस्त्र

१. नास्त्यन्तः पुरुषाणां हि नाट्योपकरणाश्रये। ना० शा० २१।१८६-१६६।

आदि के द्वारा सृष्टि के सब रूपों की रचना हो सकती है। नाना प्रकार के पेड़-पौधे और फूलों का सौन्दर्य भी रंगमंच पर इसी रूप में विकसित हो जाता है। यहाँ तक कि मुकुटों में प्रयोज्य नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषणों में और रंगबिरंगे रत्नों के स्थान पर अबरक, ताम्रपत्र और मधु आदि की बड़ी मनोहर योजना होती है। युद्ध, द्वन्द्व-युद्ध और नृत्त के प्रसंगों में इनके प्रयोग से सुविधा भी होती है। पात्र क्लान्त न हो, पूरी तत्परता से अपना अभिनय-व्यापार सम्पन्न कर पाते हैं।[1] बोझिल सामग्रियों और शस्त्र आदि के प्रयोग से कभी-कभी प्राणों का संदेह हो जाता है, अतएव शस्त्रों का प्रयोग आदि भी संज्ञा-मात्र से ही विहित है।

कृत्रिम विधि से रचित सामग्रियों का ही प्रयोग रंगमंच पर उचित होता है। भरत का यह उद्देश्य है कि अंग-रचना, वेश-विन्यास, अलंकार और केश-विन्यास एवं रमणीय तथा नाट्योपयोगी प्रभावशाली दृश्यविधान द्वारा नाट्य-प्रयोग को प्रकृत रूप प्राप्त हो।[2]

अन्य आचार्य

आहार्याभिनय में नाट्य-प्रयोग का अवस्थान है (यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः। ना० शा० २१।१)। नाट्य-प्रयोग के सिद्ध आचार्य भरत ने जिस रूप में इसका प्रतिपादन किया अन्य आचार्यों ने नहीं। अग्निपुराण की दृष्टि में आहार्याभिनय तो बुद्धि-प्रेरित अभिनय है, सारी प्रयोग-प्रक्रिया, बुद्धि और कल्पना पर आश्रित है।[3] धनंजय, भोज और विश्वनाथ आदि ने तो इसके उल्लेख मात्र से संतोष किया है।[4] नाट्यदर्पणकार ने अन्य अभिनयों को शारीर निमित्तक माना है और इसे बाह्यनिमित्तक। परन्तु उसकी महत्ता किंचित् भी न्यून नहीं होती।[5] अतएव भरत ने उचित महत्त्व देकर विवेचन किया है। अन्य आचार्यों की दृष्टि प्रयोगात्मक न होने के कारण इसकी विवेचना की ओर प्रवृत्त नहीं हुई।

समाहार

भरत के आहार्य अभिनय के विश्लेषण से भरत की नाट्य-दृष्टि का हम अनुमान कर सकते हैं। वे इस विधान के द्वारा नाट्य-प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत और कलात्मक रूप देने का प्रयास कर रहे थे। एक ओर अनुकर्ता पात्र अनुकार्य पात्र की प्रकृति, अवस्था, देश, जाति और वय की अनुरूपता के साथ अवतरित हो प्रेक्षकों के हृदय में अनुभूति का, रस का, संचार करता है, दूसरी ओर आहार्य अभिनय की अन्य विधियों के सहयोग से दृश्यविधान के वातावरण तथा नाट्य-प्रयोग को और भी रमणीय और कलात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। अतः भरत-प्रतिपादित आहार्य अभिनय विधि के द्वारा यथार्थता की अनुभूति एवं कलात्मकता के सौन्दर्य-बोध का सामंजस्य होता है। वस्तुतः ये विधियाँ आधुनिक नाट्य-प्रयोग के लिए आज भी कम उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि मूलतः सारा आहार्य अभिनय तो मनोदशा की, रस की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

१. ना० शा० २१।१६५-२२७।

२. इण्डियन थियेटर, पृ० ८६ (चन्द्रभानु गुप्त)।

३. अग्निपुराण १६।३४२।२—शरीरांभ आहार्यो बुद्धयारंभ प्रवृत्तयः।

४. ना० द० ३।५१ वर्णाद्यनु क्रियाऽहार्यो बाह्य वस्तु निमित्तकः

५. सरस्वतीकंठाभरण २।१५७।

होता है।[1] अतः भरत की प्रयोगात्मक चिंतन-प्रवृत्ति, मौलिकता और नाट्योपयोगिता की दृष्टि से बहुत बड़ी संभावनाओं का संकेत करती है। यह आहार्य अभिनय भरत की विवेचना का लक्ष्य इसीलिए है कि समस्त नाट्य-प्रयोग इसी में प्रतिष्ठित रहता है।

यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः।

—ना० शा० २१।१ (गा० ओ० सी०)।

१. आज आधुनिक दृष्टि से रंगमंच की सम्भावना को जिस प्रकार देखा जा रहा है, भारतीय दृष्टि अपनी मौलिक प्रवत्ति में उसके समान थी, यह कहा जा सकता है।

—नाट्यकला, पृ० २१० (रघुवंश—१९६४)।

१४

सामान्याभिनय

सामान्याभिनय की परम्परा

भरत ने परम्परागत आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के अतिरिक्त सामान्याभिनय विवेचन नाट्यशास्त्र के बाइसवें अध्याय में स्वतन्त्र रूप से किया है। यह अभिनय परम्परागत चार प्रकार के अभिनयों से स्वतन्त्र और भिन्न नहीं है। परन्तु आंगिक आदि अभिनयों का समानीकृत रूप होने से सामान्याभिनय महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

भरत के परवर्ती आचार्य सामान्य अभिनय की महत्ता एवं स्वतन्त्र उपयोगिता के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने सामान्याभिनय की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है और तत्सम्बन्धी भरत की मान्यता के समर्थन में कोहलमतानुसारी किसी आचार्य का मत उद्धृत किया है। उसके अनुसार सामान्याभिनय के निम्नलिखित छः भेद होते हैं—

शिष्ट, मिश्र, काम, वक्र, संभूत और एकत्व युक्त।[1]

इस उद्धरण से सामान्याभिनय की प्राचीन परम्परा का समर्थन होता है। आचार्य भोज ने भी परम्परागत चार प्रकार के अभिनयों के अतिरिक्त सामान्य और चित्र अभिनयों का उल्लेख किया है।[2]

जैन आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में सामान्य और चित्राभिनयों का उल्लेख कर खंडन किया है। उनके मत से सामान्याभिनय तो वाचिक, आंगिक और सात्त्विकादि अभिनयों का सन्निपात रूप है, उसका अन्तर्भाव इन अभिनयों में हो जाता है। फलतः इन आचार्यों की दृष्टि से सामान्याभिनय को अतिरिक्त अभिनय के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता।[3]

१. कोहलमतानुसारिभिः वृद्धैः सामान्याभिनयस्तु षोढा भण्यते। अ० भा० भाग ३, पृ० १४६।

२. अंगवाक् सत्वजाहार्यः सामान्यश्चित्रइत्यमी।
षट्चित्र इत्यभिनयाः तद्वत् अभिनयं वचो विदुः ॥ स० कं० आ० २।१५७, शृं० प्र० भाग २, पृ० २८३।

३. अभिनयद्वयत्रय चतुष्टय सन्निपात रूपः सामान्याभिनयः पुनः वाचिकादि लक्षणेनैव चरितार्थ इति। ना० द०, पृ० १२०।

आचार्य धनंजय और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने परम्परागत चार प्रकार के अभिनयों के अतिरिक्त सामान्याभिनय का उल्लेख भी नहीं किया है। ऐसा इन आचार्यों के लिए स्वाभाविक भी है। इनकी दृष्टि नाट्य के प्रति शास्त्रीय है, प्रयोगात्मक नहीं। वी० राघवन महोदय ने भी परम्परागत पद्धति के अनुसार इन सामान्य अभिनय को मान्यता नहीं प्रदान की है।[१] परन्तु अभिनवगुप्त का यह स्पष्ट मत है कि भरत ने प्रयोगों को समानीकृत रूप इस अभिनय-विधि के माध्यम से कवि एवं नाट्य-प्रयोक्ताओं की शिक्षा के लिए प्रस्तुत किया है।[२] अतः नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इसका महत्त्व स्वीकार करने योग्य है। भरत ने इसी दृष्टि से पृथक् उल्लेख एवं प्रतिपादन भी किया है।

सामान्याभिनय का स्वरूप

भरत की दृष्टि से सामान्याभिनय वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का समन्वित रूप है। आंगिकादिगत जितने भी अशेष अभिनय विशेष हैं, उन सबका सूचन सामान्य अभिनय की विशिष्ट पद्धति द्वारा ही होता है। शिर, हाथ और दृष्टि आदि के द्वारा संपाद्य अभिनय का एक समानीकृत प्रयोग होने पर सामान्याभिनय सम्पन्न होता है।[3] अभिनवगुप्त के अनुसार किराना (किराट) की दूकान से, गांधिक गंध-द्रव्यों को लाकर उनका सन्तुलित पूर्वापर प्रयोग करता है। तब सुगंधित पदार्थ (इत्र आदि) बन पाता है। उसी प्रकार सामान्य अभिनय के अन्तर्गत विभिन्न अभिनयों का प्रयोग किस प्रकार किया जाय, यही सामान्याभिनय के अन्तर्गत विचार किया जाता है।[४]

सामान्याभिनय की सीमा

सामान्याभिनय की सीमा बहुत व्यापक है। वह 'वागंगसत्वज' होने के कारण स्वभावतः नर-नारीगत कामोपचार का तो प्रतिपादन करता ही है[५], पर आहार्याभिनय भी उसकी प्रतिपाद्य परिधि के अन्तर्गत ही है। क्योंकि मनुष्य का मनः-प्रसूत सत्त्व और उसकी बाध्य वेशभूषा दोनों की अनुरूपता नाट्य-प्रयोग को शक्ति और गति देती है। यद्यपि आहार्य अभिनय बाह्य है

---

१. There remarks make it unnecessary to accept two additional Abhinayas called Sāmanyas and Chitra : Bhoja's Sringar Prakash, p. 694. (V. Raghavan).

२. तेन सर्वेषु अभिनयेषु यद्रूपमवशिष्टं पूर्वेनोक्तम् अवश्यं च वक्तव्यं च कविनटशिक्षार्थं तद्येनाध्यायेनाभिधीयते स सामान्याभिनयः। अ० भा० भाग ३, पृ० १४६।

३. सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागंग सत्वजः।
शिरोहस्तकटीवक्षोजंघोरूकरणेषु यत्।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः। ना० शा० २२।७३ (गा० ओ० सी०)।

४. यथाहि किराट गृहाद् गंध द्रव्याण्यानीय गांधिकेन समानीक्रियते अस्य इयान् भाग इदं पूर्वमिति, एवमत्र अध्याये अभिनयाः। तत्र शृंगारस्य प्राधान्यात् तत्रैवाभिनेयानां भागयोगेन पौर्वापर्ययुक्त्या समीकरणं सत्वातिरिक्त इति। अ० भा० भाग ३, पृ० १४८।

५. तथा चेह तु सामान्याभिनयः कामोपचारः। अ० भा० भाग ३, पृ० १४७।

पर भरत की दृष्टि से आहार्य के संकेतात्मक होने के कारण समस्त नाट्य-प्रयोग इसी में अवस्थित रहता है।[1] निःसन्देह आहार्य अभिनय नेपथ्य में सिद्ध होता है और अन्य अभिनय रंगमंच पर साध्य एवं प्रयोज्य होते हैं। भरत एवं अभिनवगुप्त की व्यापक दृष्टि से मनुष्य की मनोदशा और उसकी बाह्य वेषभूषा परस्पर जिस रूप में एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, नाट्य-प्रयोग में भी उसी लोकानुवर्तिता का प्रयोग होना चाहिये। आन्तरिक मनोदशा के अनुरूप वाग्-विलास, अंगोपांग का संचालन स्तम्भ और स्वेद आदि का प्रदर्शन तथा तदनुरूप वेष-विन्यास होने पर अभिनय पूर्ण एवं समृद्ध होता है। उज्ज्वल या मलिन वेष धारण करना नितांत यांत्रिक क्रिया नहीं है जिसका मनुष्य के अन्तर्मन से कोई लगाव नहीं हो। लोकाचार की दृष्टि से रति में उज्ज्वल और शोक में मलिन वेष धारण करना औचित्य होता है।[2] नाट्य-प्रयोग तो लोकानुसारी औचित्य और अनुरूपता का ज्वलंत प्रतीक है। अतः सामान्याभिनय में आहार्याभिनय का भी समीकरण होता है।[3]

सामान्याभिनय और चित्राभिनय

भरत के अनुसार सामान्याभिनय तो 'वागंगसत्वज' होता है। प्रभात, सन्ध्या, नदी, समुद्र, पर्वत एवं अन्य प्राकृतिक पदार्थों का अंगोपांग आदि के द्वारा रूपात्मक और प्रतीकात्मक अभिनय ही विलक्षणता के कारण चित्राभिनय होता है।[4] इसमें वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का व्यामिश्रण होता है और सामान्याभिनय में उपर्युक्त अभिनयों का समानीकरण होता है। मनःसंभूत सत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण सामान्याभिनय में कामोपचार की भी प्रधानता रहती है। विभिन्न रसों और भावों के सन्दर्भ में उन अभिनयों का प्रयोगात्मक रूप यहाँ व्यवस्थित होता है। परन्तु चित्राभिनय में अंगादि अभिनयों द्वारा रूपायित होने वाले अनेक प्राकृतिक पदार्थों और भावनाओं को रूप दिया जाता है। यही उसकी चित्रात्मकता है। चित्र में प्रतीकात्मता की और सामान्य में मनोवेग की प्रधानता रहती है। उसी मनोवेग में नाट्य प्रतिष्ठित रहता है।[5]

घोष महोदय की मान्यता

मनमोहन घोष महोदय आचार्य अभिनवगुप्त के इस विचार से सहमत नहीं हैं, उनके विचार से सामान्याभिनय और चित्राभिनय के अन्तर का आधार बहुत अस्पष्ट है। सामान्याभिनय के द्वारा चारों प्रकार के अभिनयों का सन्निपात और चित्राभिनय के द्वारा प्रतीक शैली में

---

१. यस्मान् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः। ना० शा० २१।१।

२. अ० भा० भाग ३, पृ० १४६।

३. वागंग सत्वाभिनया अन्योन्य सहचर्यमाना नत्वेवं तेषु आहार्य इत्यस्य अनुपादानक्रिया। एतच्च न मुनेर्मतमित्यावेदितमस्माभिः। अ० भा० भाग ३, पृष्ठ १४६।

४. ना० शा० २५।१ (गा० ओ० सी०)।

५. चित्राभिनयात् कोऽस्य (सामान्याभिनयस्य) विशेषः। उच्यते—तत्र वागंगसत्वव्यामिश्रत्वेन चित्रता। इह त प्रत्येकनियतस्पानुक्तस्य विशेषान्तरस्याभिधानम्।

अ० भा० भाग ३, पृ० १४७।

अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीक की महत्ता दोनों अभिनयों में है।[1] वस्तुत: दोनों प्रकार की अभिनय-विधियों द्वारा भिन्न कार्यों का सम्पादन होता है। सामान्याभिनय में सत्त्व (अन्तर्मन) के आवेगों को शारीरिक प्रतिक्रियाओं द्वारा रूप देने का प्रयत्न बहुत प्रबल होता है। सब प्रकार के अभिनयों को समानीकृत कर अन्तर्मन की दशा के अनुरूप उनकी अभिव्यंजना अंग-प्रत्यंग से की जाती है। चित्राभिनय में प्राय: प्रभात, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थों एवं भावों को उनकी अनुपस्थिति में आंगिक अभिनयों की प्रतीक-पद्धति द्वारा उनकी उपस्थिति का बोध रंग-मंच पर प्रस्तुत होता है। अत: यह चित्रात्मक होता है। हमारी दृष्टि से अभिनवगुप्त के ये विचार पर्याप्त स्पष्ट हैं। विचारों के विस्तार में कुछ पाठगत त्रुटियाँ अवश्य प्रतीत होती हैं। परन्तु सामान्यत: सामान्याभिनय और चित्राभिनय के भिन्न कार्यों और उपयोग का निर्धारण भरत के अनुरूप एवं पर्याप्त स्पष्ट है।

सामान्याभिनय और सत्त्व (मनोवेग)

सामान्याभिनय में वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का समीकरण होता है। इन तीनों अभिनयों में सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता रहती है। क्योंकि सत्त्व अथवा अन्तर्मन की दशा का ही प्रदर्शन तो वाणी और अंगों की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा होता है। सात्त्विक या मानसिक भावों का प्रकाशन देह के माध्यम से भी होता है। क्योंकि वे तो अव्यक्त रहते हैं, रोमांच, और अश्रु आदि के द्वारा यथास्थान रसानुरूप प्रयोग के होने पर वे अभिव्यक्ति पाते हैं।[2] इन्हीं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा नाट्य रसमय होता है। रस का प्राण तो सात्विक भाव ही हैं। अत: अन्य अभिनयों की अपेक्षा सत्त्व या मनुष्य की आन्तरी चित्तवृत्ति के उपयुक्त प्रदर्शन में अधिक प्रयत्न की अपेक्षा होती है।

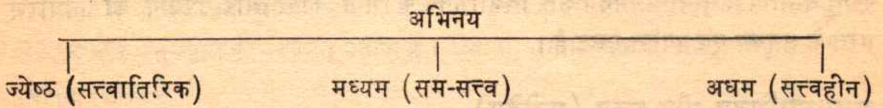
अभिनय की उत्तमता का आधार सत्त्वातिरिक्तता

वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों में अनुपात से अन्य दोनों की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की मात्रा अधिक होने पर भरत के मत से उत्तमोत्तम अभिनय होता है। परन्तु जहाँ अन्य दोनों अभिनयों के सम अनुपात में सत्त्व अभिनय होता है वह मध्यम कोटि का अभिनय होता है। जहाँ पर केवल वाचिक और आंगिक अथवा दोनों में से एक ही अभिनय-क्रिया की प्रधानता हो परन्तु आन्तरी चित्तवृत्ति (सात्त्विक भावों) का प्रकाशन न हो तो वह अधम कोटि

१. Abhinavagupta seems to have not very convincing explanations as to why Sāmānyābhinaya was so called...it appears that expression Sāmānyābhinaya means a totality of form of kinds of Abhinaya (N. S. XXVI) and as such he distinguished from the Chitrābhinaya which applies only to the pictorial representation for particular objects and ideals—N. S. Trans. M. M. Ghosh, Footnote page 440.

२. तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
अव्यक्त रूपं सत्त्वं हि विज्ञेयं भावसंश्रयम्।
यथास्थान रसोपेतं रोमांचाश्रादिभिः गुणैः। ना० शा० २२।१-३ (गा० ओ० सी०)।

का अभिनय होता है।[1] अभिनय का प्रधान उद्देश्य आन्तरी चित्तवृत्ति का (सात्त्विक भावों का) अन्य अभिनयों द्वारा साक्षात्कार-सदृश प्रस्तुत करना है। यदि अन्य अभिनय विधियों के द्वारा आन्तरिक वृत्ति का प्रकाशन न हो अथवा नितान्त न्यून हो तो अभिनय का उद्देश्य ही बाधित हो जाता है। भरत एवं अभिनवगुप्त की दृष्टि से अभिनय की उत्तमता का आधार है अन्य अभिनयों की तुलना में सात्त्विक अभिनयों का अधिकाधिक प्रयोग। आंगिक और वाचिक अभिनय उस स्थिति में गौण हो जाते हैं, सात्त्विक भावों एवं आन्तरिक मनोदशाओं के प्रदर्शन के वे माध्यम मात्र होते हैं, प्रधानता सात्त्विक अभिनय की ही होती है। यह स्तम्भ, स्वेद, कंप और अश्रुपात आदि का भाव एवं रसानुरूप प्रयोग होने पर संभव हो पाता है।



सत्त्वातिरिक्तता और अरस्तू की मान्यता

भरत और अभिनवगुप्त की दृष्टि इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट है कि नाट्य-प्रयोग की उत्तमत्ता सात्त्विक अभिनय (स्तम्भन, स्वेद, रोमांच और अश्रु आदि का प्रदर्शन) की अतिरिक्तता पर निर्भर है। बिना सात्त्विक अभिनय के अन्य अभिनय-व्यापारों का भी उन्मीलन संभव नहीं है। भरत के विचारों के विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे इन सात्त्विक चिह्नों के माध्यम से मनुष्य के मनोबेगों को अनुभवगम्य रूप प्रदान करना चाहते थे। अन्ततः नाट्य मनोवेगों, मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियों के संघर्षों का ही तो प्रतिफलन है।

इस संदर्भ में पाश्चात्य साहित्य-मनीषियों की नाट्य-सम्बन्धी विचारधारा पर विचार करने से भरत की इस मान्यता का महत्त्व हमें मालूम पड़ता है। पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तकों में दो दल बहुत स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। अरस्तू और क्रोचे आदि की दृष्टि से दृश्यविधान, रंगशाला की साज-सज्जा तथा उसमें सम्पन्न होने वाले गीत-नृत्य एवं अभिनय तो गौण हैं। दुःखान्त नाटकों का विशिष्ट प्रभाव काव्यात्मक उपकरणों से उत्पन्न होता है, रंगमंडप की साज-सज्जा और अभिनय से नहीं। तो नाटक की अभिव्यक्ति मन में होती है और उसके लिऐ रंगशाला आदि के स्थूल उपकरण नितान्त अनावश्यक हैं।[2] दूसरी ओर उत्तरोत्तर विकसित नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार बीसवीं सदी तक यह समन्वयात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि नाटक में कवि, प्रयोक्ता, सूत्रधार, प्रेक्षक और रंगशाला के निर्माण से सम्बन्धित अन्य सब नाट्य-शिल्पी मिलकर नाट्य-प्रयोग को रूप देते हैं। इन सबके मध्य निर्देशक का महत्त्व सर्वाधिक होता

---

१. सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः। ना० शा० २२।२ (गा० ओ० सी०)।

२. Terror and pity may be raised by decoration—the mere spectacle, but they may also arise from the circumstances of the actions itself, which is far preferable and shows a superior poet.

Aristotle Poetics p. 27 (Every Man's Library).

है क्योंकि वही इन सबका सुनियोजन करता है।[१] भरत का विचार समन्वयवादी है। उन्होंने नाट्य के काव्यपक्ष को महत्त्व देकर भी उसके प्रयोग को असाधारण महत्त्व दिया है। यही कारण है कि रंगशाला, अभिनय की उत्कृष्टता, नाट्याचार्य और नटों के कर्तव्य आदि का विशेष रूप से विधान किया है। भरत की दृष्टि से 'काव्य' प्रयुक्त होने पर नाट्य होता है, रसास्वाद का स्रोत होता है। भट्टतौत के अनुसार बिना प्रयोग के काव्य में आस्वाद की संभावना ही नहीं हो सकती।[२] अतः भरत की दृष्टि अरस्तू के विपरीत अभिनय एवं दृश्य-विधान को महत्त्व देती है।

सत्त्वातिरिक्तता और अन्तर्द्वन्द्व

नाट्य में अन्तर्द्वन्द्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार्यों में ऐकमत्य है। विचारों के विस्तार में जाने पर उन आचार्यों के प्रतिपादित सिद्धान्तों में सूक्ष्म अन्तर ज्ञात होता है। परन्तु मूलतः नाट्य के लिए द्वन्द्व की परिकल्पना को सब आचार्य स्वीकार करते हैं।[3] अरस्तू ने नाट्य में जिस संघर्ष की कल्पना की है वह बहुत स्पष्ट नहीं है, पर अनुमानतः उनके विचार से काव्य के समान ही नाट्य के लिए भय और करुणा आदि का संघर्ष एक नितान्त आवश्यकता है।[४] अरस्तू द्वारा परिभाषित दुःखात्मकता नाट्य के लिए नितान्त अनिवार्य ही हो ऐसा न तो उनकी परिभाषा और न ग्रीक नाट्य-परम्परा से ही निश्चय हो पाता है। परन्तु 'ट्रेजेडी' के जीवनानुरूप होने से अरस्तू की दृष्टि से वह श्रेष्ठ होता है। यह संघर्ष मनुष्य के मनोराज्य में भी हो सकता है और बाहरी दैवी और प्राकृतिक विरोधी शक्तियों से भी। इसी आन्तरिक और बाह्य विरोध से नाट्य में गति और प्राण का संचार होता है। गति ही नाट्य का प्राण है। घटनाओं के विस्तार और मनोवेगों के उत्थान-पतन दोनों ही नाट्य में सक्रियता और गति देते हैं। भरत ने दुःखान्त नाटकों का विधान तो नहीं किया है परन्तु नाटकों में सुख-दुःख की समान रूप से परिकल्पना की है। यह सुख-दुःख मनुष्य-जीवन की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। भरत ने नाट्य को जीवन का प्रतिफलन मानकर उसे सुख-दुःखात्मक माना है। उसी स्थिति में नानावस्थान्तरात्मक 'नाट्य' लोक का भावानुकीर्तन होता है।[५] परन्तु वे अरस्तू की तरह

---

१. For more than thirty years the orientation of working in the theatre has been changing. Once the author, then the actor was but nowadays the producer is the dominant,
—Theatre and Stage, Vol. II, p. 7/1.

२. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वाद संभवः। अ० भा० भाग १, पृ० २६५ (द्वि० सं०)।

३. साहित्य सिद्धान्त, पृ० २६५ (डॉ० रामअवध द्विवेदी)।

४. (a) Tragedy is the dramatic representation of some serious action, arising pity and fear, Poetics, p. 17.
(b) Drama is a term applied loosely to any situation charged with sufficient emotional conflict. The conflict may or may not be resolved but conflict must exist.
—Cassell's Encyclopaedia of Literature, p. 155-6.

५. Aristotle regards tragedy as the noblest form of Literature. Cassell's Encyclopaedia of Literature, p. 156; Aristole's Art of Poetry, p. 16- 17.

सुखात्मक की अपेक्षा दु:खान्त को ही श्रेष्ठ नहीं मानते। अरस्तू ने ट्रेजेडी (दुखान्त) को निश्चित रूप से श्रेष्ठतर माना है, क्योंकि जीवन दु:ख और प्रतारणाओं से प्राय: उत्पीड़ित रहता है। इस उत्पीड़न को नाट्य-रूप में पाकर प्रेक्षक के मन का विनोदन होता है, इस विनोदन या रेचन की क्षमता के कारण दु:खमूलक नाटक श्रेष्ठ होते हैं।[1] भरत का दु:खार्त्त और श्रमार्त्त का नाट्य-प्रयोग के दर्शन द्वारा 'विश्रान्ति जनन' और अरस्तू का दु:ख 'विनोदन' एक-दूसरे के निकट हैं।[2] (विश्रान्ति जननं नाट्यम्)। हेगेल और उनके अन्य समर्थक चिन्तकों ने आत्म-संघर्ष के साथ समन्वय (कनफ्लिक्ट और रिकोन्सिलियेशन) की भी कल्पना की है। उनकी दृष्टि से नाट्य का सारा द्वन्द्व मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों पर आधारित होवा है। गाल्सवर्दी के लॉयल्टीज़' नामक नाटक में कर्तव्य की ऐसी प्रतिस्पर्द्धा का भाव बड़ी सुन्दरता से अंकित किया गया है। कालिदास का दुष्यन्त ऐसी कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर ही न तो शकुन्तला-सी परम रूपवती को पत्नी के रूप में पाकर भी स्वीकार ही कर पाता है और न उसका त्याग ही। संघर्ष और समन्वय की यह भावना भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों में भी समान रूप से परिलक्षित होती है। शेक्सपियर के सुख-पर्यवसायी नाटकों में से संघर्ष के उपरान्त समन्वय का सुखदायक रूप प्रतिभासित होता है। भारतीय नाटककार अपने सुख-पर्यवसायी नाटकों में संघर्ष के उपरान्त ही नायक-नायिका मिलन की मंगलकारी कल्पना करते हैं। यद्यपि भास के कुछ नाटक इसके अपवाद भी हैं जिनमें दु:खात्मक पर्यवसान है।[3]

नाट्य और इच्छा-शक्ति का संघर्ष

शोपेनहॉवर ने मनुष्य की प्रबल इच्छा-शक्ति के आधार पर दु:खात्मकता के सिद्धान्त की कल्पना की है। इच्छा-शक्ति के समक्ष दैवी और प्राकृतिक शक्तियों का विनाशकारी रूप प्रस्तुत होता है और उसकी प्रतिक्रिया दु:खात्मक नाट्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति का यह संघर्ष जीवन का चरम सत्य है। नाट्य में इसके प्रतिफलन होने के कारण सौन्दर्यबोध और जीवन की अनुरूपता की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ महत्तर होती हैं। ट्रेजेडी के लिए इच्छा-शक्ति की इस महत्ता के सिद्धान्त को फरडीनेन्ड ब्रुनेटियर ने और भी विकसित किया और उसे नाट्य (ट्रेजेडी) के लिए नितान्त आवश्यक माना। उनके मतानुसार नाटक नायक की सबल और सजीव इच्छाशक्ति तथा उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं के पारस्परिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है। नायक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है, साधनों का संचय करता है, विरोधी परिस्थितियों से जूझता है, उन पर विजय पाता है या पराजित भी होता है। अत: विपरीत परिस्थितियों के साथ इच्छा-शक्ति के दृढ़ संघर्ष में ही नाटक के मूल तत्त्व निहित

---

१. नाना भावोप संपन्नं नानावस्थान्तरान्तकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम् एतन्मया कृतम्। ना० शा० १।११२।

२. He is definite in his view that the aim of tragedy is to give pleasure, a peculiar kind of pleasure which accompanies the release of feeling effected by the stage performance of a tragedy.
—Introduction to Aristotle's Art of Poetry, p. xviii.

३. (क) मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस : शेक्सपियर।
(ख) अभिज्ञान शाकुन्तल (कालिदास), उत्तररामचारित (भवभूति), कर्णभार, उरुभंग (भास)।

रहते हैं।[१] इस रूप में पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों के मूलभूत अन्तर्द्वन्द्व की भावना की आधुनिक काल में प्रधानता है।

भरत की सत्त्वातिरिक्तता आन्तरिक मनोवेगों को रूप देने की कलात्मक और प्रभावशाली नाट्यविधि है। ये सात्विक चिह्न दुःख और सुख दोनों ही के हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यकथा की पाँच अवस्थाओं और नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य की व्यापक पृष्ठभूमि के विवेचन से भरत एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्री एक-दूसरे के बहुत निकटवर्ती मालूम पड़ते हैं, क्योंकि भरत की दृष्टि में सुख-दुःख-समन्वित लोक का स्वभाव अंगादि अभिनयों से उपेत होने पर नाट्य होता है।[२] और अरस्तू की दृष्टि में दुःखमूलकता नाट्य के लिए श्रेष्ठ तत्त्व है। यद्यपि उत्तरोत्तर विकसित नाट्यसिद्धान्त समन्वय (सुखात्मकता) का भी स्पष्ट संकेत करते हैं।[3]

सामान्याभिनय और नर-नारी के सत्वज अलंकार

भरत ने सामान्याभिनय के सिद्धान्त का तात्त्विक आकलन करते हुए नारी एवं पुरुष के अलंकारों की परिगणना एवं विवेचना की है। उनकी दृष्टि से भाव, हाव, हेला तथा अन्य अयत्नज एवं स्वाभाविक चेष्टालंकारों द्वारा भावों का प्रेषण होता है। ये अलंकार भाव और रस के आधार हैं। सात्विक भाव तो मनुष्य के हृदय में संवेदन-रूप में व्याप्त हैं, परन्तु दूसरा सात्त्विक भाव तो देह-धर्म के रूप में मनुष्यों में वर्तमान है।[४] ये देहात्मक सात्विक विभूतियाँ शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार हैं। इन सात्विक विभूतियों के दर्शन प्रायः उत्तम स्त्री-पुरुषों में होते हैं। स्त्रियों की उत्तमता श्रृंगार रस में और पुरुषों की उत्तमता वीर रस में होती है। श्रृंगाररस स्त्रीगत होता है, वीररस पुरुषगत, यह तो लोक-प्रसिद्ध बात है। ये सत्वज देहाश्रित अलंकार उत्तम स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त अन्यत्र भी परिलक्षित होते हैं। सात्विक भाव तामस और राजस शरीरों में भी असंभव नहीं है। समाज के निचले स्तर की स्त्रियों में भी रूप-लावण्य की संपदा यदाकदा होती ही है और उनके अंगों पर चेष्टालंकार की शोभा होने पर उनकी भी उत्तमता का सूचन होता है। उनके समाज की अन्य स्त्रियों की अपेक्षा इनमें सौन्दर्य की गुणशाली समृद्धि के होने से उनका सौन्दर्य अन्यों की अपेक्षा अधिक उत्तमता का आधान करता है।

आचार्य भट्टतौत और शंकुक ने भी सात्त्विक भावों के प्रकाशन में इन चेष्टालंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनके विचार से पुरुष के उत्साह को सूचित करती हुई सात्विक विभूतियाँ तथा अंगनाओं के श्रृंगार के अनुरूप उनकी विविध देहज-चेष्टाएँ सामान्याभिनय की कोटि में ही आती हैं। ये चेष्टालंकार रूप-लावण्य आदि की तरह नितान्त अनभिनेय नहीं हैं।

---

1. In a drama of farce what we ask of the theatre is the spectacle of a will striving towards a goal and conscious of the means which it employs : Law of the Drama, Ferdinand Brunetiere.

२. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यम् ...ना० शा० १।११६ (गा० ओ० सी०)।

३. Aristotle finds unhappy ending aesthetically superior to the other. Cassells Encyclopaedia of Literature, p. 550.

४. इह चित्तवृत्तिरेव संवेदन भूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्वमित्युच्यते। अ० भा० भाग ३, पृ० १५२।

ये तो अनुभाव हैं, शरीर के विकार हैं। शरीर के विकार सामान्य अभिनय की कोटि में ही हैं। वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य अभिनयों के क्रम में समन्वित रूप में उनके प्रस्तुत होने पर सामान्याभिनय होता है।[1]

आंगिक विकार

नारियों एवं पुरुषों के आंगिक विकारों द्वारा सात्विक विभूति का प्रदर्शन होता है। नारियों के आंगिक विकार यौवन-काल में अधिक बढ़ जाते हैं।[2] भरत के अनुसार ये आंगिक विकार तीन प्रकार के हैं—अंगज, स्वाभाविक और अयत्नज। अंगज विकार के तीन भेद होते है—भाव, हाव और हेला। सत्त्व तो आन्तरिक वृत्ति है, उसका प्रकाशन देह के माध्यम से होता है। सत्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला, उत्तरोत्तर विकास की यही गति रहती है। ये एक-दूसरे से विकसित होते रहते हैं और शरीर की प्रकृति में स्थित सत्त्व के ही विविध रूप हैं।[3] भरत ने भाव शब्द का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वाणी, अंग, मुखराग और सत्व के अभिनय द्वारा कवि-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों (अर्थ) का जिससे भावन होता है, वही भाव होता है।[4] यह भाव वासना-रूप में मनुष्यमात्र के हृदय में वर्तमान रहता ही है। अतएव कवि-कल्पित भावों को ही अपने विविध आंगिक विकारों द्वारा पात्र प्रस्तुत करता है और सहृदय प्रेक्षक उस भाव का अनुभव करता है। हाव चित्त (सत्त्व) से उत्पन्न होता है। नयन, भ्रू और चिबुक आदि आंगिक विकारों से युक्त ग्रीवा के रेचक आदि द्वारा शृंगार को अनुभूतिशीलता प्राप्त होती है। वही भाव शृंगार रस से उत्पन्न होने पर ललित अभिनय से परिपूर्ण हो 'हेला' के नाम से अभिहित होता है। 'हिल' शब्द का अभिप्राय है भावकरण। हेला की स्थिति में मन शृंगार रस से वेगवान् हो उठता है और भाव का प्रसार अत्यन्त तीव्रता से होता है। सत्त्व के इन तीनों आंगिक विकारों द्वारा भावान्तर्गत रति का उद्बोधन होता है। उसके उपरान्त मनुष्यमात्र के मन में उठने वाली भाव-लहरियाँ परम आनन्द का विषय होती हैं। नारियों के लिए वे ही लोकोत्तर अलंकार हैं। अतिशय आनन्द के लक्ष्य और परम पवित्र भी हैं।

नारियों के स्वाभाविक और अयत्नज अलंकार

स्त्रियों के स्वाभाविक और अयत्नज अलंकारों द्वारा उनके मनोभावों का प्रदर्शन होता है। लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत ये दस तो स्वाभाविक अलंकार हैं। इन स्वाभाविक अलंकारों द्वारा नारियाँ, प्रेम, मिलन, विछोह, मान, ईर्ष्या आदि की विविध परिस्थितियों में अपने हृदय की सुकुमार मनोदशाओं को सहज रूप में सूचन करती हैं।[5] इनके अतिरिक्त शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और

---

१. अ० भा० भाग-३, पृ० १५३।
२. ना० शा० २२।४ क (गा० ओ० सी०)।
३. ना० शा० २२।७ (गा० ओ० सी०), द० रू० २।३, भा० प्र० पृ० ८, ना० द० पृ० २०४।
४. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
वागंगमुखरागैश्च सत्वेन अभिनयेन च॥ ना० शा० २२।८ (गा० ओ० सी०)।
५. ना० शा० २२।१२-२५ (गा० ओ० सी०)।

उदारता ये सात अयत्नज अलंकार हैं। नारी के सौन्दर्य के ये प्रतीक हैं। शोभा, कांति और दीप्ति नारी के सहज-सौन्दर्य, काम-भावना और उपभोग की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई वृत्तियों की अवस्थाएँ हैं। क्रोध आदि की विपरीत परिस्थिति में भी चेष्टा में सुकुमारता होने पर माधुर्य होता है। उद्धतता और अभिमान से रहित स्वाभाविक चित्तवृत्ति धैर्य की होती है। काम-कलाओं का निर्भीक प्रयोग ही 'प्रागल्भ्य' होता है। ईर्ष्या आदि की उत्तेजनापूर्ण दशा में भी उदार वचनों का प्रयोग औदार्य होता है।[1] अयत्नज अलंकारों की संख्या सात ही हो यह आवश्यक नहीं है। शाक्याचार्य राहुल, सागरनंदी और मातृगुप्त आदि ने मौग्ध्या, मद, परितपन और विक्षेप आदि को भी अयत्नज के रूप में स्वीकार किया है।[2]

पुरुषों के सत्त्व-भेद

नारियों के सत्त्व-भेद के समान ही पुरुषों के भी सत्त्व-भेद होते हैं। ये निम्नलिखित हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित औदार्य और तेज।

उपर्युक्त सत्त्व-भेद नारियों के अयत्नज अलंकारों की परम्परा में है। शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य और गांभीर्य आदि नाम दोनों में समान हैं। परन्तु नाम-साम्य होने पर भी पुरुष एवं स्त्री के इन अलंकारों में निहित विचार-तत्त्व सुतरां पृथक् हैं। नारी के अयत्नज अलंकारों में शारीरिक सुकुमारता आदि का सूचन होता है और पुरुषों के सत्त्व-भेद से उनकी मानसिक विभूति के दर्शन होते हैं। नारी में भावों की सुकुमारता, लालित्य और विलासपूर्ण चेष्टाओं द्वारा सौन्दर्य का मोहक प्रसार होता है। पुरुष में वीरता, तेज, उत्साह और स्थिरता एवं गम्भीरता आदि के द्वारा उसके पौरुष का प्रभाव समृद्ध होता है।[3]

शारीर अभिनय

भरत ने सत्वज अभिनय के अतिरिक्त सामान्याभिनय अध्याय में शारीर अभिनयों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। भरत की दृष्टि से समानीकृत शारीर अभिनय छः प्रकार का होता है—वाक्य, सूचा, अंकुर, शाखा, नाट्यायित और निवृत्यंकुर।[4]

वाक्य : वाक्य शारीर या दूसरे शब्दों में वाचिक अभिनय है। विविध रस एवं अर्थ से युक्त गद्यमय अथवा पद्यमय एवं संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा युक्त वाक्य (काव्य) का अभिनय वाक्य अभिनय होता है। यह वाक्याभिनय गद्य-पद्य एवं संस्कृत-प्राकृत भेद से चार प्रकार का हो जाता है। सात्त्विक अंगों द्वारा वाक्य अथवा वाक्यार्थ का सूचन पहले हो जाता है तब वाक्याभिनय का प्रयोग होने पर **सूचा** शारीर अभिनय होता है। इस प्रकार का अभिनय गीत और नृत्य में प्रयुक्त होता है। सूचा की पद्धति में हृदयस्थ भावों का आंगिक अभिनय द्वारा प्रदर्शन होने पर **अंकुराभिनय** होता है। यह अभिनय-प्रक्रिया नृत्य के लिए उपयुक्त होती है। अंकुर को निपुण प्रयोक्ता कार्यान्वित कर सकते हैं। उपजीव्य तो कवि-वाक्य ही है, प्रयोक्ता कल्पना से उसे प्रभाव-

१. ना० शा० २२।१६-३२ (गा० ओ० सी०)।
२. अ० भा० भाग ३, पृ० १६३।
३. ना० शा० २२।३२-४१।
४. ना० शा० २२।४३ (गा० ओ० सी०)।

शाली बनाता है। शिर, मुख, जंघा, उरु, पाणि और पाद के द्वारा यथाक्रम अभिनय होने पर शाखा अभिनय होता है। भरत ने इन अंगोपांगों के अभिनय-विधान के क्रम में इनके एक-दूसरे के अनुसारी होने का विधान किया है, अन्यथा नाट्यार्थ के बोध की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। ऐसे अभिनयों के साथ पाठ्य का भी प्रयोग हुआ करता है। प्रयोक्ता अभिनेताओं के प्रवेश से पूर्व समय-यापन के लिए नाट्य के आरम्भ में नृत्य और गीत का प्रयोग किया जाता है। भाव और रस से प्रेरित हर्ष, रोष और शोक आदि के सन्दर्भ में ध्रुवा-गान में जो अभिनय सम्पादित होता है वह भी **नाट्यायित** होता है। जब दूसरे के द्वारा उच्चरित वाक्यों को दूसरा (पात्र) 'सूचा' अभिनय द्वारा प्रस्तुत करता है तो **निवृत्यंकुर** होता है।[1]

वाचिक अभिनय के बारह रूप

इन अभिनय-क्रियाओं का सम्बन्ध भावों और रसों से है जो नाटकों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय के रूप में वर्तमान रहते हैं। वाचिक का अभिनय निम्नलिखित बारह प्रकार से हो सकता है : आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संवाद, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश और अपदेश। इन बारह प्रकार के वाचिक अभिनय के रूपों द्वारा वाक्याभिनय अथवा छहों शारीर अभिनयों की योजना होती है। ये सामान्याभिनय रूप होने के कारण सबमें समान रूप से वर्तमान रहते हैं।[2]

वाचिक अभिनय के अनगिनत भेद

वाचिक अभिनय का विवेचन भरत ने अन्य प्रकार से भी किया है। उसके अनुसार उसके प्रत्यक्ष, परोक्ष, आत्मस्थ, परस्थ तथा भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल-कृत भेद सात होते हैं।[3] सामान्याभिनय का शारीर भेद मुख्यतः इन सात प्रकार के भेदों में विभाजित हो सकता है। अभिनवगुप्त ने शारीर अभिनय ('वाक्याभिनय') के एक सौ चवालीस भेदों की परिकल्पना की है। आलाप आदि बारह तथा प्रत्यक्ष, परोक्ष, आत्मस्थ और परस्थ नामक चार भेदों को कालकृत 'भूत' आदि से गुणन करने पर ये भेद भी बारह हो जाते हैं। इन बारहों को परस्पर गुणन करने से वाक्याभिनय के एक सौ चवालीस भेद होते हैं। संस्कृत-प्राकृत आदि भेदों के गुणन करने से तो वाक्याभिनय के ९५२ भेद होते हैं और इनका भी यदि सूचा के दो भेद वाक्य और वाक्यार्थ से गुणन किया जाय तो कुल १९०४ भेद होते हैं। इस प्रकार शारीर के अन्य चार भेदों में अंकुर के भेद वाक्याभिनय के समान ही होते हैं। शाखा, नाट्यायित और निवृत्यंकुर के भेदों के परस्पर गुणन से अभिनवगुप्त के मत से तो **शतकोटि** भेद होते हैं। उन्होंने शंकुक के इस मत का खण्डन किया है कि सामान्याभिनय के शारीर भेद के कुल चालीस हजार ही भेद होते हैं। इन्हीं के द्वारा रसाश्रित अभिनयों को पूर्णता प्राप्त होती है।[4] पर यह सब शास्त्रीय महत्त्व का ही है।

---

१. ना० शा० २२।४४-५०।

२. ना० शा० २२।५१-५९ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० २२ ६०-७० (गा० ओ० सी०)।

४. कोटिशतान्यनेकानि भवन्ति। ननु यथा श्रीशंकुकेनोक्तं चत्वारिंशत् सहस्राणीत्यादि। अ० भा० भाग ३, पृ० १८०।

नाट्य के दो रूप आभ्यन्तर और बाह्य

शिर, हाथ, कटि, जंघा, उरु और पाद के अभिनय-व्यापारों का समीकरण होने पर सामान्याभिनय होता है। रस-भाव-समन्वित, ललित हस्त-संचार एवं मृदुल आंगिक चेष्टाओं से युक्त अभिनय का प्रयोग उचित होता है। अनुद्धत, असंभ्रान्त, अनाबिद्ध अंगचेष्टाओं से युक्त, लय, ताल और कला के प्रमाणों से नियत, पदालाप का सुविभाजन, अनिष्ठुर और अनाकुल अभिनय होने पर 'आभ्यन्तर' नाट्य होता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के लिए निर्धारित लक्षणों का अनुसारी होने से यह नाट्य-आभ्यन्तर या शास्त्रानुसारी होता है। परन्तु अभिनय में स्वच्छन्दता से गति और चेष्टा का प्रयोग होता हो, गीत और वाद्य अनुबद्ध न हों तथा अन्य अभिनय की प्रक्रियायें भी विपर्यस्त हों, तो वह नाट्य-प्रयोग **'शास्त्र-बाह्य'** होने से बाह्य होता है।[1] आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों की अपेक्षा किये बिना ही इन बाह्य नाट्य-प्रयोगों में शास्त्र-बहिष्कृत परम्पराओं का अनुसरण होता है। भरत के काल में प्रयोग की ये दो परम्परायें वर्तमान थीं। एक में शास्त्रानुमोदित नाट्य-नियमों का प्रयोग होता था तथा दूसरी में शास्त्र-बहिष्कृत नियमों का अनुसरण किया जाता था।[2] इन सब विभिन्न विषयों के आकलन का यही अभिप्राय है कि सामान्य अभिनय में विभिन्न प्रकार की अभिनय-विधियों का समानीकरण और एकीकरण होता है। सामान्य अभिनय 'आलात चक्रमंडल' की तरह अपने-आप में सब अभिनयों को समाहित कर प्रयोग के लिए भूमि प्रस्तुत करता है। इस अभिनय में शास्त्रानुमोदित, आचार्यों द्वारा निर्धारित अभिनय की परम्पराओं का प्रयोग होता है। शास्त्र-बहिष्कृत स्वच्छन्द अभिनय के लिए कोई स्थान नहीं है।[3]

विषयों का प्रत्यक्षीकरण और नाट्य

नाट्य सुखदुःखात्मक लोक-जीवन का कलात्मक प्रतिरूप है। स्वभावतः लौकिक विषयों का पंचेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण, उसकी अभिनय-विधि, मन का इन्द्रियों द्वारा सम्बन्ध, इन्द्रियों के आकर्षण और विकर्षण आदि के द्वारा हृदय-स्थित सत्त्व का प्रकाशन आदि मनोवैज्ञानिक विषयों का भरत ने नाट्य-प्रयोग के क्रम में विवेचन और स्पष्ट सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। विभिन्न लौकिक विषयों का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण होने पर नाट्य की सारी प्रक्रिया गतिशील होती है। अतः नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इन सिद्धान्तों के विवेचन द्वारा भरत ने नाट्य-प्रयोग के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन दी है।

इन्द्रियों के संकेतों द्वारा भावों का अभिनय

इन्द्रियों द्वारा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति कैसी प्रतिक्रिया अभिनीत होनी चाहिये इसका सुस्पष्ट निर्धारण भरत ने लोकाचार के आधार पर किया है। दृष्टि को पार्श्व में

१. ना० शा० २२।७३-८० (गा० ओ० सी०)।

२. This shows that the ancient India's artists did not follow the Sāstra slavishly. N. S. Eng. Trans. : M. M. Ghosh, p. 452, footnote.

३. अ० भा० भाग ३, पृ० १८०।

करके, शिर को पार्श्वगत और तर्जनी अँगुली को कान के पास ले जाने से **शब्द-श्रवण** का अभिनय होता है। आँखों को किंचित् संकुचित भौंहों पर बाँकापन, कंधे और कपोल के स्पर्श से **स्पर्श** का अभिनय होता है। हाथ को पताका मुद्रा में मूर्धस्थ कर अँगुलि को किंचित् गतिशील कर और किसी लक्ष्य को निर्निमेष भाव से नयनों से देखने पर **रूप-दर्शन** का अभिनय होता है। दोनों नेत्रों को आकुंचित और नासिका को उत्फुल्ल कर एक उच्छ्वास से **रस और गंध** के प्रत्यक्षीकरण का संकेत होता है। अंगोपांगों पर प्रकट ये अनुभाव पाँचों इन्द्रियों के विषयों का संकेत करते हैं। वस्तुतः इन विषयों का ज्ञान तो मन को ही होता है परन्तु माध्यम इन्द्रियाँ ही हैं। इन्द्रियों के माध्यम से मन ही इनका प्रत्यक्षीकरण करता है। और मनोदशा के अनुरूप ही इन्द्रियों द्वारा विभिन्न इष्ट-अनिष्ट प्रतिक्रियायें प्रतिफलित होती हैं।[1]

इन्द्रियाँ और मन

भरत ने इन्द्रियों, इनके विषयों और मन के परस्पर सम्बन्धों पर भी सूत्र-रूप में विचार किया है। उन्होंने सामान्याभिनय के विवेचन के प्रसंग में आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि सब अभिनयों के माध्यम से मनुष्य के 'सत्त्व' (हृदयस्थ भाव) का ही प्रकाशन होता है। यहाँ इसी महत्त्वपूर्ण विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। भरत की दृष्टि से इन्द्रियों द्वारा जिन अनुभावों की व्यंजना होती है वे अनुभाव मात्र इन्द्रियों के ही नहीं हैं, वे इन्द्रियसहित मन के हैं। इन्द्रियाँ तो मन की सुख-दुखात्मक प्रतिक्रियाओं के प्रतिफलन के साधन हैं। इन्द्रियों के माध्यम से मन इष्ट-अनिष्ट भावों का अनुभव करता है और उन्हीं के द्वारा वह अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है। मन से विच्छिन्न होने पर स्वतंत्र रूप इन्द्रियों को कोई अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि मन यदि किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहता है तो सम्मुख स्थित विषयों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता।[2] वस्तुतः मन के माध्यम से ही निर्विकारात्मक आत्मा से भी इन विषयों के प्रत्यक्षीकरण का सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। भारतीय दर्शन एवं उपनिषदों में इन्द्रियों, मन एवं आत्मा के परस्पर सम्बन्धों एवं उत्तरोत्तर विकासशील अवस्थाओं पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। कठोपनिषद् के चिन्तक ऋषि के अनुसार इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे आत्मा का स्थान है।[3] यद्यपि स्वयं इन्द्रियाँ भी बड़ी प्रबल होती हैं, मन को विषयों की ओर प्रवृत्त करती हैं। मन लौकिक विषयों का प्रत्यक्षीकरण या अनुभव इन्हीं पाँच इन्द्रियों द्वारा करता है। इन्द्रियाँ तो मन तक विषय-गत अनुभूति (रस) के प्रवेश के मार्ग-द्वार हैं। भावों के स्पन्दन और कम्पन तो वस्तुतः उस मानस-सागर में ही होते हैं। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों के अनुसार भी मन और इंद्रियों का यही सम्बन्ध है। इंद्रियाँ प्रत्यक्षीकरण का माध्यम हैं और वास्तव में मन ही तो इन विषय-रसों का अनुभव करता है। अतः नाट्य में पंचेन्द्रियों द्वारा जो विविध

---

१. शब्दं, स्पर्शं, रूपं च रसं गंधं तथैव च।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च भावैरभिनयेत् बुधः। ना० शा० २२।८१-८५ (गा० ओ० सी०)।

२. इन्द्रियार्थाः सुमनसो भवन्ति ह्यनुभाविनः।
व वेत्ति ह्यमनाः किंचिद् विषयं पंचधागतम्॥ ना० शा० २२।८७ (गा० ओ० सी)०।

३. इन्द्रियाणी पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ गीता ३।४२, क० उप० ३।४।

इष्ट-अनिष्ट या तटस्थ भावों का अनुभाव दिखाई देता है, वस्तुतः उसमें मन के भाव ही प्रकट होते हैं न कि इन्द्रियों के।[१]

अभिनय की दृष्टि से मन के भाव तीन प्रकार के होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ। इष्ट भाव का प्रकाशन गात्रों के प्रह्लादन, रोमांच और मुख की प्रसन्नता से होता है। यदि शब्द, रूप, रस और गन्ध आदि विषय इष्ट होते हैं तो उसके प्रति सौख्य (सामुख्य) भाव का प्रदर्शन होता है। शिर को प्रत्यावृत्त (घुमाकर), नेत्र और नाक को पीछे की ओर आकर्षित करने, उधर न देखने से अनिष्ट भाव का अभिनय होता है। न तो अत्यन्त इष्ट हो न अत्यन्त जुगुप्सा का भाव हो तो मध्यस्थ भाव का प्रदर्शन होता है।[२]

सब भावों के मूल में काम भाव

भरत ने भावों के अभिनय सम्बन्धी सिद्धान्तों का आकलन करते हुए इन्द्रियार्थ, इन्द्रियाँ और मन के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय का निरूपण किया है जिसका सम्बन्ध नाट्यशास्त्र एवं मानसशास्त्र दोनों ही से समान रूप से है। भरत ने इस विषय का समारंभ करते हुए प्रतिज्ञा प्रस्तुत की है कि 'सब भावों की निष्पत्ति काम से होती है।' भाव इच्छा गुण-संपन्न होने पर अगणित रूपों में परिकल्पित किया जाता है।[3] अतएव धर्मकाम, अर्थकाम, शृंगारकाम और मोक्षकाम आदि अनेक रूपों के हमें भाव के दर्शन होते हैं। यों तो मनुष्य की इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है और तदनुरूप भावों का संसार भी विशाल है। मनुष्य की प्रवृत्ति काम के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और मोक्ष की ओर भी होती है परन्तु स्त्री-पुरुष के भावों के योग से काम की प्रधानता रहती है। वस्तुतः काम की प्रधानता नाट्य में ही नहीं समस्त लोक में है। यह कामभाव तो समस्त ज्ञानलोक को आच्छन्न किये रहता है।

भारतीय चिंतकों ने स्त्रियों में पुरुषों का और पुरुषों में स्त्रियों का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसको काम कहा है। स्त्री और पुरुष के इस स्वाभाविक आकर्षण और पारस्परिक स्नेह से प्रजनन आरम्भ होता है।[४] भरत की दृष्टि से स्त्री और पुरुष का यह योग ही काम होता है।[५] सुख-दुःखात्मक लोक के जीवन में काम की प्रबलता रहती है, क्योंकि व्यसन (विपत्ति या दुःख) में भी काम सुखदायक ही होता है। स्त्री और पुरुष का संयोग रति-सुख देने वाला है। उपचार-कृत होने पर वही शृंगार रस के रूप में परिणत होता है तथा अमंद आनन्द का सृजन करता है। अतः लौकिक जीवन में काम की प्रधानता है। नाट्य के लोक-जीवन का प्रतिरूप होने से उसमें भी काम की प्रधानता रहती ही है।

---

१. अ० भा० भाग ३, पृ० १८४।

२. ना० शा० २।८८-९२ (गा० ओ० सी०)।

३. प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। ना० शा० २२।९५।

४. स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्पर कृतः स्नेहः स काम इत्यभिधीयते। शार्ङ्गधर १।६।

५. स्त्रीपुंसयोस्तु यः योगः स काम इत्यभिधीयते। ना० शा० २२।९६।

काम-भाव की सुखमूलकता

कामरूप इच्छा तो समान रूप से सुखसाधन या सुख के लिए होती है। धर्म और अर्थ तो स्वयं सुख रूप नहीं, बल्कि सुख के साधन हैं। साक्षात् धर्म के द्वारा अप्सरा आदि अनन्त सुख-साधनों का उपार्जन होता है। मोक्ष का सम्बन्ध लौकिक विषयों से विरक्तिरूप आत्मिक साधनों से है। लोक-हृदय उस पर मुग्ध नहीं हो सकता। नर-नारी का मिलन सुख का साधन ही नहीं स्वयं सुख-रूप है। मनुष्य के मन-प्राण में उस सुख-प्राप्ति की सहज कामना रहती है। इसी अर्थ में भरत ने 'काम' शब्द का प्रयोग किया है। इस काम-भाव से सारा लोक अनुरंजित रहता है। कामंदक का यह कथन नितान्त उचित ही है कि 'नारी' यह नाम ही आह्लादक है।[1] अतएव भरत ने स्त्रियों को सुख का मूल माना है। नर-नारी के काम-भाव के अभिनय में लोक-हृदय की सहज संवेदना उच्छ्वसित होती रहती है। अतएव काम-भाव सद्यः तथा सहृदय-संवेद्य भी होता है। स्त्री-पुरुष की मिलन-कामना शृंगार के रूप में परिणत होती है। समस्त लोक का जीवन सुख-दुःखात्मक है। परन्तु उसमें दुःख और व्यसन में भी काम-भाव की महिमा से जीवन आनंदानुरंजित रहता है।[2] इच्छा मात्र होने पर यह काम भाव मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होता है। काम भाव के परिपल्लवित होने पर स्त्री और पुरुष का हृदय परस्पर आत्मार्पण की बेसुधी में तल्लीन हो अहंभाव खोकर प्रेम की एकता में निमग्न हो जाते हैं।[3] आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में राज्य का सार पृथ्वी है, पृथ्वी का सार नगर है, नगर का सार महल है, महल का सार शय्या (तल्प) और तल्प का सर्वस्व वारांगना के अंग हैं।[4]

काम-भाव की सुखमूलकता और प्रधानता के भरत-प्रतिपादित तात्त्विक विचार का समर्थन वाल्मीकि-रामायण से भी होता है। स्वयं राम ने अपने वनवास के आरंभ काल में दशरथ-कैकेयी के सम्बन्धों की याद कर अपना यह क्षोभपूर्ण मत प्रकट किया है कि मनुष्य-जीवन में अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा काम ही प्रधान है।[5]

फ्रायड की मान्यता

मनोविश्लेषणवाद के महान् प्रवर्तक फ्रायड ने काम-भाव की प्रधानता का प्रतिपादन किया है। साधारण अर्थ में काम का भाव होता है विलिंग (हेट्रोसेक्सुअल) व्यवहार, जिससे संतान उत्पन्न होती है। पर यह तो कामवृत्ति की अन्तिम तथा परिपक्व अवस्था है न कि प्रारंभिक अवस्था। वैज्ञानिक दृष्टि से काम का अर्थ है शारीरिक अंगों का सुख तथा कोई भी व्यवहार जिसका सम्बन्ध लैंगिक प्रक्रिया से हो अथवा वह व्यवहार जिसे प्रेम के अन्तर्गत लाया जा सके, इस प्रकार चुम्बन एवं अन्य लिंग-व्यापार भी उसी प्रकार कामात्मक होते हैं जैसे युवक-युवती

---

१. सर्वस्यैव हि लोकस्य सुखदःखनिवर्हणः।
भूयिष्ठं दृश्यते कामः ससुखं व्यसनेस्वपि। ना० शा० २२।९६-९७।

२. तेन च सर्वोऽर्योऽनुरंज्यते। स्त्रीतिनामापि संह्लादीति। कामंदक ४।५२।

३. यः स्त्री पुरुष संयोगो रति संभोगकारकः।
स शृंगार इतिज्ञेयः उपचारकृतः शुभः। ना० शा० २२।९८।

४. सा० द०।

५. काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः। वा० रा० अ० ५३-९।

का प्रेम-भाव काम-व्यवहार कहा जाता है। वाममार्गियों की रति-क्रीड़ा, सामान्यों का प्रेम-व्यवहार तथा शैशवकालीन प्रेम-व्यवहार काम की व्यापक परिभाषा में समाविष्ट होते हैं। फ्रायड के व्यापक अर्थ में देश-प्रेम, साहित्य-प्रेम, रामभक्ति, पितृस्नेह, चुम्बन और गुदात्मक आदि सब कामवृत्ति के विभिन्न रूप हैं। कामवृत्ति स्वदेह काम (ओटोइरोटिज़्म), अपर काम (एलोइरोटिज़्म), मौखिक काम, गुदाकाम, लैंगिक काम, आत्मरति, अपोषक अनात्म रति के रूप में मनुष्य जीवन में व्याप्त रहता है। वस्तुतः यह काम अदम्य और अजेय शक्ति है जिससे अत्यन्त पुनीत और कुत्सित कर्म भी संभव होता है।[१]

समाहार

भरत ने इस संपूर्ण प्रश्न पर लोकजीवन की व्यावहारिकता की दृष्टि से विचार किया है। नाट्य और लोक-जीवन एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। अतः लोक-जीवन को नाट्य में प्रस्तुत करते हुए काम की प्रधानता स्वीकार करना यथार्थता की स्वीकृति है। लोक-जीवन में धर्म, अर्थ और मोक्ष का भी महत्त्व है, परन्तु नर-नारी के जीवन में काम-भावना सहज भाव से वर्तमान रहती है। उसी भावना से प्रेरित हो इस चराचर सृष्टि का विकास हो रहा है। नाट्य में नर-नारी के सहज सम्बन्धों, उनकी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को यथावत् प्रस्तुत करना ही भरत का लक्ष्य है।

भरत ने सामान्य अभिनय के अन्तर्गत अभिनयों का समानीकरण, सात्त्विक भावों का प्रकाशन, सत्त्व और मन का सम्बन्ध, इन्द्रियों, इन्द्रियार्थों और मन एवं आत्मा की क्रिया और प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन तदनुरूप अभिनय आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया है।

---

१. In Psychoanalysis the term 'sexuality' comprises far more, it goes lower and also higher than the popular sense of the word. This extension is justified genetically, we reckon as belonging to sexual all expressions of tender feeling, which spring from the source of primitive sexual feelings, even when these feelings have become inhibited in regard to their original sexual aim or have exchanged this aim for another which is no longer sexual.

—Freud. Collected papers Vol. II, p. 299.

'कामस्तग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेनः प्रथमं यदासीत।' सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेति।—वेद

१५

चित्राभिनय

स्वरूप, सीमा और परम्परा

स्वरूप—भरत ने चित्राभिनय का स्वतन्त्र रूप से पच्चीसवें अध्याय में विवेचन किया है। सामान्याभिनय की अपेक्षा यह भिन्न है। यह दोनों की परिभाषाओं से भी स्पष्ट है। सामान्याभिनय का सम्बन्ध चारों प्रधान अभिनयों से है, चित्राभिनय का मुख्य रूप से आंगिक अभिनय से।[1] यद्यपि इस भिन्नता के आधार को मनोमोहन घोष महोदय सर्वथा अस्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि से चित्राभिनय में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मुद्राओं द्वारा चित्रात्मक प्रभाव का सृजन होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से विभिन्न अभिनयों का इसमें व्यामिश्रण होता है।[2] वस्तुतः नाट्य-प्रयोग को कल्पना-समृद्ध एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए आंगिक एवं विभाव आदि अभिनयों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विधियों, प्रतीकों और कल्पनाओं का विधान भरत ने किया है। इनके समुचित प्रयोग से अभिनय में वैचित्र्य और सौन्दर्य का सृजन होता है, इसीलिए इस नयी अभिनय-विधि का विधान किया गया है।

सीमा—यद्यपि आंगिक अभिनय के माध्यम से ही चित्र अभिनय को रूप दिया जाता है परन्तु इसकी सीमा बहुत व्यापक है। इसके द्वारा प्रभात, संध्या, रात्रि, सूर्य और चन्द्र का

---

१. (क) सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागंग सत्वजः। ना० शा० २२।१ (गा० ओ० सी०)।
(ख) अंगाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित।
अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः। ना० शा० २५।१ (गा० ओ० सी०)।

२. Abhinava Gupta makes scholastic discussion on the justification of the Chitrabhinaya. But this does not appear to be convining. The term seems to hint at the pictorial effect of the direct or indirect use of gestures and may be explained as Chitratwatam Abhinayasa.
—M. M. Ghosh, N. S. (Eng. Trans.), p. 493 footnotes.

उदयास्त, नदी, समुद्र, पर्वत और जल-प्रलय आदि प्राकृतिक विभूतियों की भव्यता और विराटता, हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं की मनोहारिता और मनुष्य की विभिन्न मनोदशाओं को रूप दिया जाता है। प्रकृति के नाना रूपों और मन की विभिन्न अन्तर्दशाएँ इस चित्राभिनय की पद्धति से प्रत्यक्षवत् वहाँ प्रस्तुत होती हैं। भरत की दृष्टि से जनांतिक, अपवारित, स्वगत और आकाशवचन की नाट्यधर्मी विधियाँ इसी चित्राभिनय पद्धति के द्वारा नाट्य में प्रयुक्त होती हैं। अतः प्राकृतिक पदार्थों, ऋतुओं की सुन्दरता और भव्यता तथा मनुष्य की मनोदशा आदि सबके प्रदर्शन करने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

परंपरा—चित्राभिनय की परंपरा भरत ने आरम्भ की, अभिनवगुप्त ने उसकी स्वतंत्र सत्ता और उपयोगिता का समथन किया है। भोज ने भी किंचित् दुर्बल स्वर में षोढा अभिनय में चित्र अभिनय को मान्यता दी है। परन्तु वे आंगिक अभिनय से इसे भिन्न नहीं मानते।[1] यही कारण है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसका खण्डन किया है।[2] धनंजय, विश्वनाथ और शिंगभूपाल आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है। यद्यपि धनंजय ने चित्राभिनय के अन्तर्गत प्रतिपादित जनान्तिक, स्वगत आदि का विवेचन कथावस्तु के तीन अंगों के अन्तर्गत किया है।[3] इन्हीं आचार्यों के स्वर में राघवन् भी इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है।[4] परन्तु इस अभिनय-विधि में कल्पना और प्रतीक का जैसा समुचित विधान किया गया है तथा उसके प्रयोग के अभिनय में सौन्दर्य और चमत्कार का जैसा समावेश होता है उसको दृष्टि में रखकर इसकी स्वतंत्र उपयोगिता तो अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

चित्राभिनय की लोकात्मकता

प्रकृति एवं लोक-जीवन पर आश्रित चित्राभिनय में कल्पना और अनुभूतिशीलता का मर्मस्पर्शी सामंजस्य रहता है। लोक-जीवन का सुख-दुःखात्मक रूप ही तो नाट्य में प्रतिफलित होता है। प्रयोगकाल में लोक-परंपरा और प्रकृति-जीवन के विविध रूपों से अनुप्राणित रहने पर ही कवि या प्रयोक्ता की समृद्ध कल्पना प्रेक्षक के लिए ग्राह्य और संवेद्य होती है। वस्तुतः समृद्ध कल्पना और अनुभूतिशीलता दोनों अनुबद्ध हो नाट्य में गति और प्राण देते हैं। इस प्राण का स्रोत सुख-दुःखात्मक लोक-जीवन ही है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, विविध भावों तथा शीलवैचित्र्य की भूमिका में मनुष्य की जैसी आंगिक प्रतिक्रिया प्रकृति और शेष-जगत् के पदार्थों के प्रति होती है उसी को कलात्मक और नाट्य-रूप दिया जाता है। रंगमंडप पर उसे प्रस्तुत करते हुए उसमें चित्र के समान साक्षात्कार-सा आनन्द आता है। यद्यपि वे वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं भी होतीं। अतः चित्राभिनय में कल्पना और अनुभूतिशीलता दोनों का योग रहता है और यह लोकानुप्राणित रहता है,[5] लोकविच्छिन्न नहीं।

---

१. सरस्वती कंठाभरण २।१५०।

२. यस्तु पंचमः चित्राभिनयः प्रोक्तः सोऽप्यंगोपांगकर्म विशेष रूपत्वात् आंगिक एवान्तर्भवति। ना० द०, पृ० १६१।

३. द० रू० १-६३-७, सा० द० ६।१६१।

४. वी० राघवन् : भोजाज़ शृंगार प्रकाश, पृ० ६०४।

५. लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा। ना० शा० २५।१२१ (गा० ओ० सी०)।

चित्राभिनय में प्रतीकविधान

कथावस्तु के आग्रह से नाट्य-प्रयोग के क्रम में वर्षा, जल-प्रलय, हाथियों और मृगा का आखेट, सिंहशावकों के साथ खेल-कूद, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर रथों की तीव्रगति, चाँदनी और खिलती धूप आदि का रंगमंच पर प्रयोग एक जटिल समस्या बनी रहती है। प्राचीन भारतीय नाटकों में लौकिक और प्राकृतिक पदार्थों एवं प्राणियों को स्थान दिया गया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में नायक रथारूढ़ हो मृग का आखेट करता है। हाथी लताप्रतानों में उलझता है और हरिणों के झुंड शान्त उपवनों में चौकड़ी भरते फिरते हैं।[1] नदी और उपवनों की रमणीय दृश्यावली आती है। प्रसाद के नाटक चित्राभिनय की प्रयोग-पद्धति के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। केवल चन्द्रगुप्त में ही प्रासाद, दुर्ग शिविका, नदी-तट, नाव और सिंह आदि के अनेक प्रत्यक्ष दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। निश्चय ही इनके प्रयोग की जो कठिनाई हो पर दृश्य-विधान तथा कथावस्तु में प्रभावशालिता अवश्य ही आ जाती है। स्कन्दगुप्त के अनेक दृश्य नदी-तटों, वन-पथों, दुर्गों या अन्तःपुर में ही अभिनीत होते हैं।[2] ये सब मन-भावन दृश्य किस प्रकार नाट्य-रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं ? आधुनिक रंगमंचों पर वर्षा, धूप, चाँदनी और रात्रि आदि के प्राकृतिक दृश्य प्रकाश और छाया की नयी वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। प्राचीन काल के भारतीय रंगमंचों की एक सीमा थी, उनमें सब प्रकार के प्राकृतिक दृश्य एवं भौतिक पदार्थों के प्रयोग की संभावना ही नहीं की जा सकती है। आहार्याभिनय के अन्तर्गत प्रतिपादित पुस्त एवं संजीव विधियों द्वारा निर्जीव एवं सजीव प्राणियों को भी प्रस्तुत किया जा सकता था। निर्जीव या सजीव पदार्थों को कृत्रिम रूप में प्रस्तुत करने की प्रणालियाँ 'आहार्यज' होने के कारण नितान्त सिद्ध होती हैं। पर चित्राभिनय के अन्तर्गत अभिनेय संकेतात्मक सारा व्यापार पात्र द्वारा रंगमंच पर 'साध्य' होता है। पात्र के लिए कौशल-प्रदर्शन का पूर्ण अवसर होता है। अतएव भरत ने लौकिक एवं प्राकृतिक पदार्थों एवं विविध भाव-दशाओं के सूचन के लिए प्रतीकों का भी विधान किया है। ये प्रतीक भी लोक-परंपरा एवं व्यवहारों पर आश्रित हैं। इन प्रतीकों के प्रयोग से रंगमंचीय योजना सरल हो जाती है और अनुभवगम्य भी। रथा-रोहण या जलसंतरण आदि के दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए कुछ ऐसे आंगिक अभिनयों का प्रयोग किया जाता है कि उन वस्तुओं के कृत्रिम रूप में भी प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रहती और प्रेक्षक उन प्रतीकों द्वारा उन अप्रस्तुत वस्तुओं या पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करने लगता है। चित्राभिनय इन्हीं प्रतीक-विधियों और कल्पना पर आश्रित है। यहाँ हम कुछ प्राकृतिक पदार्थों और तदनुरूप प्रतीकों का उल्लेख कर रहे हैं जिनके द्वारा अभिनय में चित्रा-त्मकता का सृजन होता है।

प्राकृतिक पदार्थों का चित्रात्मक अभिनय

प्रभात, गगन, रात्रि, संध्या, दिवस, ऋतुओं, मेघमालाओं, वन-प्रान्तर, विस्तृत जलाशय,

१. अ० शा०, प्रथम एवं द्वितीय अंक।
२. चन्द्रगुप्त, पृ० ६०,६२,६६,६७,६९,७१,११३,११७, भारती भंडार, १२वाँ संस्करण २०१७ वि०।
(क) एक नाव तेजी से आती है, उस पर से अलका उतर पड़ती है—चन्द्रगुप्त, पृ० २४२।
(ख) स्कन्दगुप्त, पृ० १६,४२,४७,७४,६३,६७,८१,१२३।
(ग) वही १,३,४,६,७, २।४,५,६, ३।१,४,५,६।

दिशाएँ और ग्रह-नक्षत्र आदि का अभिनय पार्श्व संस्थित 'स्वस्तिक' हाथों को उत्तान कर शिर को ऊपर उठाकर देखने से होता है। अभिनय के क्रम में प्राकृतिक वस्तुओं के अनुरूप दृष्टि का भी भाव परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि जिस वस्तु को प्रयोक्ता देखता है, उसके प्रति मन की प्रतिक्रिया तो नयनों में बहुत स्पष्टता से प्रतिफलित होती है। परन्तु भूमिस्थ वस्तुओं का संकेत नीचे की ओर देखने से होता है। अंगोपांग की शेष मुद्राएँ पूर्ववत् रहती हैं। स्पर्श ग्रहण तथा रोमांच के प्रदर्शन द्वारा चन्द्रमा की धवल ज्योत्स्ना, सुखद वायु, मधुर रस और गंध का; वस्त्राव-गुंठन द्वारा सूर्य, धूल, धूम का; अग्नि की छाया की अभिलाषा द्वारा भूमि के ताप और उष्णता का; ऊपर की ओर देखने से मध्याह्न के सूर्य का; विस्मयपूर्ण विचारों द्वारा उदय और अस्त का; गात्र के स्पर्श और पुलक द्वारा सौम्य एवं सुखयुक्त भावों का; असंस्पर्श, मुख के अवगुंठन एवं उद्वग द्वारा तीक्ष्ण रूप का तथा साहस, गर्व और सौष्ठवयुक्त गात्रों के द्वारा गंभीर और उदात्त भावों का (अभिनय) होता है। विद्युत्, उल्का, मेघगर्जन, विस्फुलिंग और प्रकाश आदि का अभिनय त्रस्त अंग और आँखों के निमेष द्वारा होता है।[1]

उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थों एवं परिस्थितियों का भारतीय नाट्य में निर्बाध रूप से प्रयोग होता आया है। शूद्रक के मृच्छकटिक में वर्षा और मेघगर्जन के दृश्य,[2] भास के चारुदत्त में उदीयमान चन्द्रमा,[3] अभिज्ञानशाकुंतल में उदयास्त होते सूर्य-चन्द्रमा का[4] तथा प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में उल्कापात द्वारा 'शकराज'[5] एवं स्कंदगुप्त में कुमारगुप्त की मृत्यु का संकेत हुआ है।[6] प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के नाटकों में भौतिक पदार्थों की योजना प्रभाव-वृद्धि आदि के लिए हुई है। भरत ने उनके लिए विशिष्ट प्रतीकों के प्रयोग का विधान किया है जिनका प्रभाव भारतीय नाटकों की निर्देशविधि पर भी परिलक्षित होता है। अभिज्ञान-शाकुंतल के प्रथम अंक और स्वप्नवासवदत्तम् के चतुर्थ अंक में भ्रमरों का संकेत घबराहट और संभ्रम द्वारा तथा शरत्कालीन सूर्य के तेज का अभिनय छाया की अभिलाषा द्वारा हुआ है। मृच्छ-कटिक की वसन्तसेना और प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी का मिहिरदेव ऊपर की ओर देखकर—मेघ, सूर्य और चन्द्र तथा उल्का का अभिनय करते हैं। शिष्य तो चन्द्रास्त और सूर्योदय का प्रभावक दृश्य देख लोक-प्रचलित व्यसनोदय की उदात्त कल्पना करते हैं।[7]

---

१. ना० शा० २५।३-११ (गा० ओ० सी०)।

२. चारुदत्त, अंक १। उदयति हि शशांकः क्लिन्नखर्जुर पाण्डुः।

३. यात्येकतोऽस्त शिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतोऽरुण पुरस्सरएकतोऽर्कः। अ० शा० अंक ४।१

४. (मिहिरदेव—उठकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती, वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है। ध्रुवस्वामिनी, अंक २, पृ० ४४।

५. स्कन्दगुप्त, अंक १, पृ० ३२।

६. अ० शा०, अंक १।

७. (क) विदूषक—(ऊर्ध्वमवलोक्य) ही ही शरत्काल निर्मले अन्तरिक्षे सारसपंक्तिं यावत् समाहितं गच्छंती प्रेक्षतां तावद्भवान्। स्व० वा० अं० ४।
(ख) स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—वही।

पशुओं के अभिनय के लिए प्रतीक

सिंह, व्याघ्र, बानर तथा अन्य श्वापदों को रंगमंच पर प्रतीक-विधि द्वारा प्रस्तुत करने का विधान भरत ने किया है। दोनों हाथ स्वस्तिक-स्थित हो 'पद्मकोश' की मुद्रा में अधोमुख हो इन वन्य पशुओं का संकेत विहित है। पद्मकोश में हाथों की अँगुलियाँ कुंचित हो जाती हैं। ऐसा भयवश होता है। आकुंचित हस्तांगुलियों द्वारा उक्त श्वापदों के प्रति भय का अनुभव प्रकट होने के कारण उनकी उपस्थिति का संकेत किया जाता है।[1] इन श्वापदों का प्रयोग भारतीय नाटकों में दृश्य-रूप में भी हुआ है। हर्ष की रत्नावली में एक दुष्ट वानर के खुल जाने पर सारे प्रमद-वन में संभ्रम पैदा हो जाता है। वह दुष्ट बानर पिंजरे को खोलकर सारिका को उड़ा देता है और सुकुमार प्रमदाओं की ओर बढ़ता है।[2] अभिज्ञान शाकुंतल में शकुन्तला का पुत्र सिंह-शावकों के साथ खेलता है और चन्द्रगुप्त में सिंह का प्रयोग कल्याणी—चन्द्रगुप्त के प्रेमभाव तथा सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त को कृतज्ञता के बंधन में बाँधने का साधन बना है।[3]

ध्वज, छत्र और अस्त्र-शस्त्र के द्वारा राज-प्रभाव की समृद्धि

नाटकों का तो नायक राजा होता है, सेनापति, मंत्री आदि समाज के प्रमुख व्यक्ति भी उसमें पात्र होते हैं। ध्वजा, छत्र तथा अस्त्र-शस्त्रादि के प्रयोग द्वारा भी नाट्य-प्रयोग में राजसी प्रभाव का सृजन किया जाता है। भरत ने आहार्य विधियों द्वारा इन राजसी प्रभावों के उत्पन्न करने का विस्तृत विधान प्रस्तुत किया है। परन्तु बोझिल वस्तुओं का धारण करना नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से अनुपयुक्त माना है, क्योंकि उनको धारण करने से पात्र श्रान्त हो जाते हैं। श्रान्त होने पर उपयुक्त अभिनय संपन्न नहीं हो सकता। नाट्य-प्रयोग के लिए उतनी सामग्री भी जुटाना सरल नहीं है। राज-भवनों से बाहर भी नाट्य-प्रयोग होते रहे हैं। सामान्यजन के प्रयोग के लिए राज-प्रभाव की ऐसी बहुमूल्य सामग्रियाँ नहीं पाई जातीं। अतएव भरत ने इन व्यावहारिक कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर इनके लिए भी प्रतीकों का विधान किया है जिससे बिना किसी जटिलता के ये पदार्थ भी प्रतीकात्मक रूप में अभिनेय हो सकें। केवल दण्डधारण मात्र से इन राज-प्रभाव संबंधी वस्तुओं का संकेत हो जाता है।[4]

ऋतुओं का अभिनय

प्राचीन भारतीय जीवन में ऋतु-शोभा को बड़ा महत्त्व दिया है। नाट्य में ऋतु-शोभा का प्रयोग अपवाद नहीं है। शाकुन्तल में ग्रीष्म, स्वप्नवासवदत्तम् में शरत्, चारुदत्त और मृच्छकटिक में वर्षा का नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत हुआ है।[5] भरत ने नाट्य-प्रयोग में ऋतुओं को प्रतीकात्मक अभिनय का विस्तृत विधान किया है। दिशाओं की प्रसन्नता, नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों के प्रदर्शन और इन्द्रियों की स्वस्थता द्वारा स्वस्थता द्वारा शरत् ऋतु का, सूर्य, अग्नि

---

१. ना० शा० २५।१८ (गा० ओ० सी०)।
२. एष खलु दुष्टवानर इत एवागच्छति। रत्नावली अंक २।
३. अ० शा० अंक ७ तथा चन्द्रगुप्त अंक १ एवं ३।
४. ना० शा० २५।२३ (गा० ओ० सी०)।
५. अ० शा० अंक १,३, स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ४।२, मृच्छकटिक, अंक ५।

और ऊनी वस्त्रों की अभिलाषा तथा गात्र के संकोच द्वारा हेमन्त का अभिनय होता है। शिर, दांत और ओष्ठ के कंपन और गात्र-संकोचन आदि के द्वारा अधम पात्र शिशिर ऋतु का अभिनय करते हैं। परन्तु दैवयोग से यदि उत्तम पात्र विपत्तिग्रस्त हों, तो वे भी शिशिर ऋतु का अभिनय इन विधियों से करते हैं। इसमें ऋतुज पुष्पों की सुगंध लेने से इस ऋतु का संकेत होता है। नाना प्रकार के प्रमोद, उपभोग और सुखदायक कृत्यों का प्रदर्शन, एवं पुष्प-प्रदर्शन द्वारा वसन्त ऋतु का, स्वेद प्रमार्जन, भूमि के ताप, पंखा के प्रयोग तथा उष्ण वायु के स्पर्श द्वारा ग्रीष्म ऋतु का; कदम्ब, निम्ब, कुटज, हरी-हरी घास, वीर बहूटियों और मूर्धा के गम्भीर नाद द्वारा वर्षाकाल का और धारासार वर्षा, बिजलियों की कौंध और तड़तड़ाहट से वर्षा की घनी अँधेरी रात का संकेत होता है।[1]

ऋतुओं का रसानुग प्रदर्शन

इन प्रतीकों का प्रयोग भारतीय नाटककारों ने यथावसर किया है। जिस ऋतु का जो चिह्न, वेश, कर्म और रूप हो, उसका प्रदर्शन इष्ट और अनिष्ट के दर्शन के अनुरूप उन्हीं प्रतीकों के द्वारा होना चाहिये। ऋतुओं की सत्ता तो मनुष्य के मन से स्वतंत्र है, परन्तु उनके प्रति मनुष्य के मन की प्रतिक्रिया तो उसकी सुख-दु:खात्मक स्थितियों के अनुरूप ही होती है। अतः ऋतुओं का प्रदर्शन रसानुग होना चाहिए। चित्त के क्लेश-युक्त होने पर सुखदायक प्रकृति का रूप भी दाहक, दु:खद मालूम पड़ता है। शकुन्तला की विरह-पीड़ा में संतप्त दुष्यन्त को चन्द्रमा की शीतल-स्निग्ध किरणें अग्नि वर्षा करती मालूम पड़ती हैं और काम के पुष्प-बाण वज्र से कठोर और तीखे लगते हैं।[2] इसी वस्तुस्थिति को दृटि में रखकर भरत ने यह स्पष्ट विधान किया है कि मनुष्य जिस सुख या दु:ख के भाव से आविष्ट रहता है, उसी के अनुरूप उन प्राकृतिक पदार्थों और रूपों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी तदनुरूप ही होती है। अतः नाट्य-प्रयोग-काल में ऋतुओं का अभिनय करते हुए मनोभावों के अनुरूप ही उन प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन होना चाहिए।[3]

मनोभावों के प्रदर्शन की प्रतीकात्मक विधियाँ

नाट्य-प्रयोग में मनोभावों के प्रदर्शन की प्रधानता रहती है। भरत ने भावाध्याय, सामान्याभिनय और चित्राभिनय में मनोभावों के प्रदर्शन के सम्बन्ध में नाट्योपयोगी प्रयोग-विधियों का विधान किया है। इनकी विशेषता यह है कि अंगोपांगों के संचालन तथा आकृति पर सहज रूप से प्रकट मुखराग आदि के द्वारा विविध भावों का प्रदर्शन होता है। मनोभावों का प्रदर्शन विभावों और अनुभावों दोनों द्वारा ही होता है। विभाव से संबंधित कार्यों का प्रदर्शन अनुभव के माध्यम से होता है। भाव का संबंध आत्मानुभव से है और अनुभाव का सम्बन्ध दूसरे

---

१. ना० शा० २५।२८-३६।

२. अ० शा० ३।३।

३. एतानृतूनर्थवशात् दर्शयेद्धि रसानुगान्।
सुखिनस्तु सुखोपेतान् दुःखार्थान् दुःखसंयुतान्।
योयेन भावेनाविष्टः सुखदेनेतरण वा।
स तदाहितसंस्कारः सर्वं पश्यति तन्मयम्॥—ना० शा० २५।३८-३६

के प्रति उठते हुए आत्म-भावों के प्रदर्शन से है। अतः मनुष्य के सुख-दुःख का ज्ञान-रूप ही भाव है। भाव संवेदनात्मक होता है। उदाहरण के रूप में गुरु, मित्र, प्रेमी, सम्बन्धी और बन्धु के आगमन का आवेदन तो विभाव होता है और आसन से उठकर अर्घ्य, पाद्य और आसनदान आदि द्वारा स्वागत-सत्कार और आदरपूर्वक आसन आदि से उठने की सारी प्रक्रिया अनुभाव है। इसी प्रकार दूत के संदेश का प्रतिसंदेश भी अनुभाव ही होता है। इन्हीं पद्धतियों द्वारा नाट्य-प्रयोग में भाव, विभाव और अनुभाव का संकेत यथोचित रीति से पुरुष एवं स्त्री-पात्रों द्वारा भरत ने प्रस्तुत करने का विधान किया है।[1]

पुरुष एवं स्त्री की प्रकृति के अनुरूप भावों का प्रदर्शन

भरत ने भावों के प्रदर्शन का विधान करते हुए इस तथ्य का भी विचार किया है कि पुरुष एवं स्त्री के शरीर एवं मन की प्रकृति एक-दूसरे से कई दृष्टियों से भिन्न होती है। अतएव भावों और वस्तुओं का उनके मनों पर प्रतिफलन भिन्न रूप में होता है। शकुन्तला भ्रमरों को देखकर अपनी सुकुमार वृत्ति के कारण भय का अनुभाव प्रदर्शित करती है। परन्तु शासक दुष्यन्त तो तपोवन में आखेट के लिए ही आये हैं। सेनापति के शब्दों में हिंस्र पशुओं के आखेट से शरीर में तेज और मन में विनोद उत्पन्न होता है।[2] अतः स्त्री और पुरुष के प्रकृतिगत मौलिक अन्तर को दृष्टि में रखकर भरत ने दोनों के लिए भिन्न गति एवं अनुभाव आदि का विधान किया है। स्वाभाव का अभिनय करते हुए पुरुष का स्थान वैष्णव होता है। उनके हाथ, पाँव आदि का संचरण धीर एवं उद्धत होता है। परन्तु स्त्रियों का स्थान (खड़े होने की मुद्रा) 'आयत' या 'अवहित्थ', अंगों की चेष्टाएँ मृदु और ललित होती हैं। प्रयोग के प्रयोजन से अन्य रूपों में भी स्त्री-पुरुषों के भावों का अभिनय संभव है। स्त्री एवं पुरुष-पात्रों के भाव-प्रदर्शन रस और भाव के संदर्भ में होने पर नाट्य में अपेक्षित प्रभाव का सृजन करते हैं।[3]

भाव-प्रदर्शन की प्रयोग-विधियाँ

सुख-दुःखात्मक मनोभावों का प्रदर्शन शरीर की किन चेष्टाओं और अनुभाव आदि द्वारा प्रस्तुत किया जाय, भरत ने इसके सम्बन्ध में निश्चित प्रयोगों का विधान किया है। इनसे भरत की सूक्ष्म प्रयोग-दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। गात्रों के आलिंगन, संस्मित नयन और पुलक प्रदर्शन द्वारा हर्ष का अभिनय सामान्य रूप से होता है। परन्तु हर्ष का अभिनय करती हुई नर्तकी के अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठते हैं। नेत्रों में आनन्दाश्रु उमड़ते रहते हैं और वाणी में मधुर हास्य फूटता रहता है। मालविकाग्निमित्र में नृत्य करती हुई मालविका के नयन उत्फुल्ल हैं और वदन शरत्कालीन चन्द्रमा की कान्ति-सा शुभ्र और स्निग्ध है। क्रोध-भाव के प्रकाशन में पात्र की आँखें फैली हुई लाल रहती हैं, और वह अधरों को दाँत से बार-बार काटता है, वेगातुर निःश्वास लेने से अंग निरन्तर काँपता रहता है। क्रोध में स्त्री का शिर काँपता है, भौंहें तन जाती हैं, माल्य-आभरण त्याग देती है, मौन हो अंगुलि-भंग करती रहती है और 'आयत' स्थान में स्थित रहती

---

१. ना० शा० २५।४०-४५ (गा० ओ० सी०)।

२. हला परित्रायेथां मामेतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्। अ० शा० अंक-१ तथा २।५।

३. यथारसं यथाभावं स्त्रीणां भाव-प्रदर्शनम्।
नराणां प्रमदानां च भावाभिनयनं पृथक्॥ ना० शा० २५।५१, (गा० ओ० सी०)।

है। पुरुष दुःख-प्रदर्शन लम्बी श्वासें लेते हुए, नीचे की ओर मुख कर चिन्तामग्न हो करता है या आकाश की ओर देखकर दैव को दोष देता है। परन्तु स्त्री तो रोते, लम्बी साँसें लेते, शिरोभि-हनन, भूमिपात और शरीरताडन द्वारा अपना दुःख प्रकट करती है। आनन्दज या दुखज रुदन का प्रयोग स्त्री-पात्रों में ही उचित है पुरुषों में नहीं। पुरुष के भय का अभिनय संभ्रम (घबराहट) शीघ्रता की चेष्टाओं, शस्त्र-संपात तदनुरूप धैर्य आवेग और बल-प्रदर्शन द्वारा होता है। परन्तु स्त्री के भय-भाव का प्रदर्शन तो संत्रस्त हृदय के कारण दोनों पार्श्वों में अवलोकन, पति का अन्वेषण, ज़ोरों से आक्रन्दन तथा प्रिय के आलिंगन द्वारा सम्पन्न होता है।[1] विट और शकार द्वारा पीछा करने पर वसन्त-सेना पलत्यवक और परभृत्तिका को पुकारती हुई उद्विग्न, चंचल, कटाक्ष से दोनों पार्श्वों में देखती हुई व्याधानुसृत चकित हरिणी-सी अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए पलायन करती है।[2] परन्तु स्कन्दगुप्त की देवसेना की हत्या का षड्यन्त्र प्रपंचबुद्धि कार्यान्वित करता है और वह अकस्मात् स्कन्दगुप्त के प्रस्तुत होने पर उसका आलिंगन कर बैठती है।[3] स्त्री एवं पुरुषों के विभिन्न भावों का अभिनय उनकी सुकुमार एवं पुरुष प्रकृति को दृष्टि में रखकर करना उचित होता है। ललित सुकुमार भावों का प्रयोग स्त्रियों द्वारा एवं धैर्य-माधुर्य-सम्पन्न भावों का प्रयोग पुरुषों द्वारा होना चाहिये।[4]

लौकिक प्राणियों और पदार्थों का अभिनय

भावों के प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त प्रतीकों का विधान करते हुए शुक, सारिका, सारस, और मयूर, हिंस्र जन्तु, भूत-पिशाच, देव, पर्वत और गुहा आदि के लिए भावगम्य संकेतों का विधान किया है। शुक, सारिका जैसे सूक्ष्म एवं मयूर, सारस और हंसों का रेचक अंगहारों से, उष्ट्र, सिंह और व्याघ्र आदि का उन्हीं के अनुसार गति-प्रचार और अंग-रचना से अभिनय सम्पन्न होता है। भूत, पिशाच, यक्ष, दानव और राक्षस आदि का निर्देश या तो तदनुरूप अंगहारों द्वारा सम्भव है अथवा नामनिर्देश से भी उनका संकेत सम्भव है।[5] यदि ये नाट्य-कथा के प्रयोजनवश रंगमंच पर साक्षात् उपस्थित होने योग्य हों तो विस्मय-युक्त भय और उद्वेग के प्रदर्शन द्वारा उनकी उपस्थिति का अभिनय उचित होता है।[6] इसी शैली में देवों के अदृश्य रहने पर प्रणाम एवं भावानुरूप चेष्टा-प्रदर्शन द्वारा उनका अभिनय होता है। यदि मनुष्य भी अदृश्य हो तो उसका अभिनय दायीं ओर से 'अराल' मुद्रा में हाथ उठाकर ललाट का स्पर्श करना उचित होता है। परन्तु देव, गुरु, प्रमदा, रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत हों तो 'खटका', 'वर्धमानक' और 'कपोत' मुद्राओं के माध्यम से उनका अभिनन्दन करना उचित होता है। उनकी उपस्थिति के बोध में गम्भीर भाव एवं वातावरण के प्रभाव की योजना उचित होती है। पर्वतों का प्रांशुभाव,

---

१. ना० शा० २५।५२-६६, का० मा०।

२. मृच्छकटिक, अंक १, पृ० १५-२०।

३. स्कन्दगुप्त, अंक ३, पृ० ८८।

४. सर्वे सललिताः भावाः स्त्रीभिः कार्याः प्रयत्नतः।
धैर्यमाधुर्य सम्पन्नाः भावाः कार्यास्तु पौरुषाः॥ —ना० शा० २५।६६-६७ क (गा० ओ० सी०)।

५. ना० शा० २२।६८-७० (गा० ओ० सी०)।

६. ना० शा० २५।७१ क (गा० ओ० सी०)।

ऊँचे वृक्षों का प्रसारित बाहुओं द्वारा, विशाल समुद्र और सेना का उत्क्षिप्त पताका हाथों द्वारा अभिनय सम्पन्न हो पाता है।[1] काम-पीड़ित, शापग्रस्त और ज्वरोपहत व्यक्तियों का अभिनय तदनुकूल चेष्टाओं द्वारा होता है।[2] रंगमंच पर दोला का संकेत रज्जु आदि के ग्रहण मात्र से हो जाता है परन्तु दोला पर बैठकर झूलने का दृश्य हो और पुस्त विधि से उसकी रचना हुई हो तो पात्रों के उस पर बैठ जाने पर उसमें वेग देकर उचित गति देनी चाहिये।[3] श्री बेनीपुरी रचित 'अम्बपाली' के प्रथम दृश्य में वसन्तोत्सव के मादक वातावरण का प्रभावशाली सृजन दोला पर बैठकर वसन्त-गीत गाकर प्रस्तुत किया गया है।[4] गर्व, धैर्य, शूरता और उदारता आदि भावों का प्रदर्शन अरालमुद्रा में ललाट के स्पर्श से अभिनीत होता है। इन अभिनय-विधियों के प्रयोग से भरत की व्यापक नाट्य दृष्टि का संकेत मिलता है कि वे नाट्य में भौतिक, प्राकृतिक और आकाशीय पदार्थों का यथासम्भव प्रयोग करना चाहते थे जिससे नाट्य-कथा में गति यथार्थता और प्रभावशालिता का संचार हो। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित, पुस्तविधि तथा प्रतीक-विधान के द्वारा नाट्य को पूर्णता प्रदान का प्रयास कर रहे थे। वस्तुतः प्रतीक विधान भी केवल कल्पनाश्रित नहीं, वह लोक-व्यवहाराश्रित है। विभिन्न परिस्थितियों, वस्तुओं, ऋतुओं, जन्तुओं और आकाशीय पदार्थों के प्रति मनुष्य की जो आंगिक प्रतिक्रियायें होती हैं उनका समीकरण और वर्गीकरण कर भरत ने शास्त्रीय रूप दिया है।

अभिनय के कुछ विशिष्ट शिल्प

नाट्य-प्रयोग को शृंखलाबद्धता और गति देने के लिए भरत ने कुछ विशिष्ट अभिनय-शिल्पों का भी विधान किया है। उनका प्रयोग भारतीय नाटकों में प्रचुरता से किया गया है। ऐसी शैली के प्रयोग के द्वारा पात्र की अनुपस्थिति या अतीत की घटना तथा सीमित प्रेक्षकों या पात्रों के लिए नाटकोपयोगी श्रव्य कथांशों का भी संकेत हो जाता है। आकाशभाषित, आत्मगत, अपवारितक और जनांतिक आदि प्रयोग ऐसे ही कुछ विलक्षण हैं, जो वास्तव में जीवन-प्रकृति के नितांत अनुकूल तो नहीं होते हैं परन्तु नाट्यधर्मी प्रभाव से प्रयोग-काल में उनका ऐसा होना सम्भव मान लिया जाता है। धनंजय ने इन्हें कथावस्तु को विकसित करने की विभिन्न तीन शैलियों के रूप में माना है।

आकाश-वचन

रंगमंच पर अप्रविष्ट पात्र से संवाद की योजना तथा प्रविष्ट पात्र से अन्तर्हित हो वाक्य की योजना होने पर 'आकाश-वचन' होता है। यहाँ अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उत्तर-प्रत्युत्तर शैली में नाट्य-प्रयोग से सम्बन्धित संवाद की योजना होती है। भास के चारुदत्त में सूत्रधार और विदूषक का संवाद 'काव्य-भाव समुत्थित' ही है, उनके दूरस्थ आभाषण से नायक की हीन-दशा का परिचय हमें प्राप्त हो जाता है। नायक की दरिद्रता चारुदत्त की कथावस्तु का

---

१. ना० शा० २५ ७२-८४ (गा० ओ० सी०)।
२. वही २५।८२ख-८३ क (वही)।
३. वही २५।८३ख-८५क (वही)।
४. अम्बपाली, पृ० १ (श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी)।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।[1] आकाश-भाषित का प्रयोग अधिकतर भाण में होता है। इस अभि-नय-शिल्प के द्वारा एक ही पात्र दो पात्रों का काम पूरा कर देता है। भारतेन्दु के नाटकों में इस शिल्प का तो प्रयोग हुआ ही है, प्रसादजी ने परीक्षण के तौर पर इसका प्रयोग 'प्रायश्चित्त' नामक नाटक में किया है।[2]

आत्मगत

हृदय का भाव ही आत्मगत या स्वगत होता है। अत्यन्त हर्ष, मद, रागद्वेष, भय, विस्मय और दुःख-दग्ध होने पर पात्र जब अपने मनोभाव एकाकी प्रकट करना चाहता है तो आत्मगत या स्वगत नामक अभिनय शिल्प की योजना होती है।[3] इसकी कई विधियाँ हैं। कभी तो पात्र रंगमंच पर एकाकी होता है और अपने मनोभावों का प्रकाशन अन्य पात्रों की अनुपस्थिति में करता है। स्वप्नवासवदत्ता के तृतीय अंक में उदयन-पद्मावती के विवाह को देखकर वासव-दत्ता का अन्तर्मन अत्यन्त पीड़ित है। इस मर्मस्पर्शी पीड़ा को वह एकान्त में ही प्रकट करती है।[4] प्रसाद के स्कन्दगुप्त में देवसेना, विजया, मातृगुप्त और स्कन्दगुप्त आदि कई प्रधान पात्रों ने स्वोक्ति शैली में ही अपने गम्भीर दुःख और संवेदना प्रकट की है।[5] कभी-कभी ऐसी जटिल परिस्थितियों की भी भारतीय नाटककारों ने कल्पना की है कि दो पात्र आपस में संवाद करते हुए मनोगत भावों को एक-दूसरे पर प्रकट करने की स्थिति में नहीं होते। परस्पर प्रकट रूप में जैसी संवाद-योजना होती है उसके विपरीत हृदय के भाव होते हैं। स्वप्नवासवदत्ता के तृतीय अंक में स्वगत की बड़ी मर्मस्पर्शी कोमल व्यंजना हुई है। उदयन का विवाह पद्मावती से हो रहा है, वासवदत्ता रंगमंच पर चिन्तित भाव में अपने हृदय की निराशा और अवसाद प्रकट कर रही है कि चेटी कहीं से आ पहुँचती है और उदयन पद्मावती के शुभ विवाह के लिए कौतुक-माला गूँथने का आग्रह करती है। उस प्रसंग में वासवदत्ता के हृदय में भी संवेदना का स्रोत स्वगत शैली में फूट पड़ता है।[6] यह छोटा-सा प्रसंग अत्यन्त करुण एवं हृदय-द्रावक है। अतः ऐसी जटिल परिस्थितियों को रूप देने के लिए स्वगत की योजना होती है। ऐसी स्वगत-योजनायें मुखराग द्वारा या पात्र से एक ओर हट कर सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं। अतएव भरत ने भी यह निर्देश दिया है कि स्वगत की योजना विचारपूर्वक होनी चाहिये।[7]

अपवारितक

निगूढ भाव से संयुक्त वचन ही अपवारितक होता है। इसमें पात्र अपना वक्तव्य (रहस्य) इस रीति से प्रस्तुत करता है कि वही पात्र उस वक्तव्य को सुन पाता है, जिसके लिए

१. ना० शा० २५।८६-८७, का० मा० वही, का० सं० २६-८०-८१, द० रू० १।६७।
२. सत्यहरिश्चन्द्र अंक १, पृ० ७, ८, ९ आदि प्रायश्चित्त, (प्रसाद)।
३. ना० शा० २५।८८ख-८९क।
४. स्वप्नवासवदत्तम्, अंक-३।
५. स्कन्दगुप्त, अंक १, पृ० २३-ब। पृ० ८६, ४।१२३, चन्द्रगुप्त अंक १, पृ० ७१,३।१३७।
६. वासवदत्ता—(आत्मगत) क्या मुझे यह भी करना होगा? आह! विधाता कितने निर्दय हैं (चिन्ता में लीन)। स्वप्नवासवदत्तम्, अंक-३।
७. सवितर्कं च तथोऽयं प्रायशो नाटकादिषु। ना० शा० २५।८८-८९।

वह प्रयुक्त हुआ है अन्य नहीं। अन्यों से इस वक्तव्य को अपवारित कर कहा जाता है।[१]

जनांतिक

कार्यवश प्रयोक्ता पात्र अपने वक्तव्य को इतने ही पात्रों को कहता है जो उसके सुनने के अधिकारी हैं, अन्य पार्श्वगत भी उसे नहीं सुन पाते हैं, ऐसा समझा जाता है। अपवारितक और जनांतिक दोनों ही रंगमंच पर उपस्थित बहुत से पात्रों के लिए अश्राव्यता की दृष्टि से समान ही हैं, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, यह अभिनवभारती में स्पष्ट मालूम पड़ता है। परन्तु बहुत से आचार्यों ने इन दोनों की सीमाओं का भी निर्धारण किया है। उनकी दृष्टि से जो वृत्त एक के लिए ही गोप्य हो और बहुतों के लिए अगोप्य (प्रकाश्य) हो वह तो जनांतिक होता है। परन्तु जो वृत्त एक के लिए ही प्रकाश्य हो परन्तु अन्य सबके लिए गोप्य हो तो अपवारित होता है। वृत्त का कोई गूढ़ अंश जनांतिक शैली में पात्र के कर्ण-प्रदेश में अन्य पात्र द्वारा सूचित होता है। परन्तु पूर्ववृत्त का पुनः कथन इसी शैली में प्रयुक्त होता है कि पुनरुक्ति न होने पाए। आकाश-वचन, जनांतिक और आत्मगत पाठ्य का प्रयोग त्रुटिहीन रूप में होना उचित है। पाठ्यान्तर्गत वृत्त का सम्बन्ध प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपने-आप या किसी अन्य से भी सम्भव है। जनांतिक और अपवारितक का प्रयोग हाथ को व्यवहित कर त्रिपताका शैली में होता है।[२]

स्वप्न-वाक्यों का प्रयोग

नाटकों में कथावस्तु के आग्रह से स्वप्न और मद की भी योजनायें होती हैं। भरत ने स्वप्नावस्था के प्रकृत रूप के अनुरूप ही उसके लिए विधान भी प्रस्तुत किया है। स्वप्न में उच्चरित वाक्य के अनुरूप हस्त-संचार का प्रदर्शन नहीं होना चाहिये। सुप्तावस्था में उच्चरित वाक्यों के द्वारा ही उसका अभिनय होना उचित होता है। मंदस्वर के संचार, व्यक्त-अव्यक्त शब्दों में अतीत के वृत्त का पुनः कथन तथा पूर्व का अनुस्मरण ही स्वप्नावस्था में पाठ्य होता है।[3] भास के स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन के स्वप्न की परिकल्पना भरत के निर्धारित नियमों के अनुरूप तथा जितनी मर्मस्पर्शी है उतनी ही रागोत्तेजक भी।[४]

मूर्च्छा और मरण आदि की अभिनय-विधियाँ

भरत के अनुसार अत्यन्त शिथिल, करुण, घर्घर-युक्त गद्गद वाक्यों द्वारा मरण काल का, हिचकी और श्वास-प्रश्वास के आवेग द्वारा मूर्च्छा का अभिनय उचित होता है। ऐसी दारुण अवस्था में हाथ-पैर विक्षिप्त हो जाते हैं। व्याधिग्रस्त होकर मृत्यु होने पर शरीर अकड़ जाता है। विष-पान से मृत्यु होने पर शरीर और पाँव विक्षिप्त रहते हैं, अंग रह-रहकर फड़कते हैं। विष-पान से उत्तरोत्तर मृत्यु की ओर अग्रसर होने वाली सात दशाओं का रूप भरत ने प्रस्तुत किया

---

१. ना० शा० ८८ख-८६क।

२. ना० शा० २५।८६ ६४, सा० द० १६१, ना० द० (यद्वृत्तमेकस्यैव बहूनामगोप्यं तज्जनांतिकम्) पृ० ३१, अ० भा० भाग ३, पृ० २८१।

३. ना० शा० २५।६५-६६ (वही)।

४. स्वप्नवासवदत्तम्, पंचम अंक।

है। प्रथम वेग में दुर्बलता, दूसरे में कम्प, तीसरे में दाह, चतुर्थ में विलल्लिका (लार का टपकना), पाँचवें में मुँह में फेन आना, छठे में ग्रीवा-भंग, सातवें में नितान्त जड़ता और आठवें में मरण का अभिनय होना उचित होता है। अल्प भाषण से कृशता, सर्वांग में कम्पन से कम्प, हाथ और शरीर को इधर-उधर फेंकने से दाह, ऊपर की ओर एकटक देखने, वमन तथा अव्यक्त अक्षरों के उच्चारण से विलल्लिका, नि:संशता और निमेष द्वारा फेन, शिर के कंधों पर गिर जाने से ग्रीवा-भंग, सब इन्द्रियों के निष्क्रिय होने से जड़ता, नयनों के नितान्त मुँद जाने से मरण का अभिनय होता है। वह व्याधि या विष के कारण भी हो सकता है।[1] इन सबमें प्रतीकात्मक अभिनय का प्रयोग होता है।

वृद्ध और बालक का अभिनय

गद्गद लड़खड़ाते वचन-विन्यास से वृद्ध का तथा अधूरे तुतलाते मीठे शब्दों के द्वारा बालक का अभिनय सम्पन्न होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला का बालक ऐसे ही तुतलाते वचनों का प्रयोग करता है।[2]

पुनरुक्तता

नाट्य-प्रयोग के क्रम में पात्र यदि घबराहट, दोष, शोक और आवेशपूर्ण परिस्थितियों के अनुरोध से किन्हीं शब्दों का बार-बार प्रयोग करता है तो पुनरुक्ति दोष नहीं होता। प्रशंसा या दु:खपूर्ण परिस्थिति अथवा जिज्ञासा आदि के प्रसंग में उपयुक्त वचनों का भी दो-चार बार एक साथ प्रयोग उचित ही होता है। वहाँ भी पुनरुक्तता नहीं होती।[3] प्रतिज्ञायौगंधरायण में उदयन के पकड़े जाने पर महासेन का विस्मय, इस पुनरुक्त शैली में अत्यन्त प्रभावशाली तथा भरत के नियमों के अनुरूप है।[4]

शास्त्र और सत्त्व के अनुरूप अभिनय

भरत ने चित्राभिनय का उपसंहार करते हुए नाट्य-प्रयोग के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है। भरत की दृष्टि से जो काव्य या प्रयोग पद-पद पर विकृत तथा 'संधि' आदि अंगों से हीन हो वहाँ शास्त्रानुमोदित अभिनय का प्रयोग उचित नहीं होता। जिन उत्तम भावों का विधान उत्तम पात्रों के लिए शास्त्र में किया गया हो उनका प्रयोग नीच पात्रों द्वारा नहीं होना चाहिये और तदनुसार नीच पात्रों के लिए प्रयोज्य अधम भावों का अभिनय उत्तम पात्रों द्वारा कदापि नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर नाट्य-प्रयोग का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। पृथक्-पृथक् पात्रों के लिए निर्दिष्ट उत्तम, अधम भाव एवं रस का तदनुरूप प्रयोग होने पर ही नाट्य-प्रयोग में राग का सृजन होता है। इन सारी अभिनय-विधियों को सत्त्वातिरिक्तता से विभूषित करना उचित है। सत्त्व या मनोभाव की रागात्मक अभिव्यक्ति ही नाट्य-प्रयोग का

१. ना० शा० २५।९७-११० (गा० ओ० सी०)।

२. वही २५।९९, वही।

३. वही २५।१११-११२।

४. प्रतिज्ञायौगंधरायण, अंक २, पृ० ७७।

उद्देश्य है और वह अभिनयों के सत्वसंयुक्त होने पर ही सम्भव हो पाती है।[1]

नाट्य की लोकात्मकता

अन्य जो लौकिक अभिनय विधियाँ और व्यवहार हैं उनका प्रयोग लोक-परम्परा को दृष्टि में रखकर होना चाहिये। भरत की दृष्टि से नाट्य-प्रयोग के लिए लोक-परम्परा, वेद और अध्यात्म तीनों की ही प्रामाणिकता है। शब्द, छन्द, गीत आदि का प्रयोग तो शास्त्र से सिद्ध होता है, परन्तु नाट्य तो लोकात्मक होने से लोक-परम्परा का अनुवर्ती होने पर ही सिद्ध हो पाता है। यद्यपि लोक में आचार-व्यवहार, विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया की कोई सीमा नहीं है। शास्त्र तो यथावत् उसका निर्णय करने में असमर्थ है। अतः लोक-परम्परा को दृष्टि में रखकर सत्त्व और शील की उचित योजना करते हुए नाट्य का प्रयोग करना चाहिये।[2]

समाहार

भरत ने चित्राभिनय के प्रसंग में आंगिक अभिनयों द्वारा भौतिक जगत् के पदार्थों, प्राकृतिक विभूतियों, मनोहर ऋतुओं और नदी एवं समुद्र आदि विविध रूपधारी विश्व-प्रकृति के अभिनय के लिए प्रतीक-विधान तो किया ही है, मनुष्य की मनोदशाओं और विविध अवस्थाओं को चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करने के लिए अभिनय की विधियों का भी निर्धारण किया है। भरत के चिन्तन की मौलिकता यह है कि लोक-प्रचलित व्यवहारों तथा विविध परिस्थितियों में मनुष्य के अंगोपांगों की प्रतिक्रियाओं का ऐसा यथातथ्य समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत किया है जो आज के नाट्य-प्रयोग के लिए भी उपयोगी है। यह ध्यातव्य है कि प्रयोग की परिकल्पना में अनुभूतिशीलता को बहुत प्रश्रय दिया है और उसका संचार नाट्य में लोकानुवर्तिता से ही होता है। भरत की दृष्टि से नाट्य में वेद और अध्यात्म की अपेक्षा लोक ही प्रमाण है। अतः चित्राभिनय यद्यपि कल्पनाशील नाट्य-प्रयोग की विचित्र विधि है पर उसका आधार है लोक-जीवन में प्रचलित आंगिक प्रतिक्रिया ही।

---

१. ना० शा० २५।११३-१२४ (गा० ओ० सी०)।
यायस्य लीला नियता गतिश्च रंगप्रविष्टस्य विधानतस्तु।
तामेव कुर्यादविमुक्त सत्वो यावन्मरंगात् प्रतिनिवृत्तः स॥
ना० शा० २६।११० (का० सं०)।

२. लोकसिद्धंभवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
नाना शीलाप्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः॥
ना० शा० २५।१२१-१२३।

नवम् अध्याय

नाट्य की रूढ़ियाँ

१. नाट्य-वृत्ति
२. नाट्य-प्रवृत्ति
३. नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी

१६

नाट्य-वृत्ति

वृत्तियों का स्वरूप और परंपरा

नाट्य-प्रयोग में वृत्तियों का असाधारण महत्त्व है। भरत की दृष्टि से तो ये वृत्तियाँ नाट्य की माता हैं[1]। नायक, नायिका, प्रतिनायक एवं अन्य पात्रों का कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार (चेष्टा) वृत्ति हैं। उसी वृत्ति से नाट्य में रसोदय होता है। आचार्य अभिनव-गुप्त की दृष्टि से कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ (वृत्तियाँ) समस्त जीवलोक में व्याप्त हैं। प्रवाह-रूप में ये सबमें संचरण करती हैं। परन्तु विशिष्ट हृदयावेश से युक्त ये त्रिविध (काय वाङ्मनस्) वृत्तियाँ नाट्य की उपकारिणी होती हैं। यह आवेश भी दो प्रकार का होता है, लौकिक और अलौकिक। लौकिक आवेश तो सुख-दुःख-तारतम्य-कृत होने के कारण, आस्वाद्य नहीं होता। परन्तु अलौकिक आवेश तो हृदय के अनावेश की स्थिति में भी कवि या सामाजिक की तरह आवेशपूर्ण होता है। अतएव हृदय की संवेदना के अनुकूल होने के कारण चमत्कारकारी वह व्यापार विशेष रस का उपकरण हो जाता है।[2]

आनन्दवर्धनाचार्य ने 'व्यवहार', भोज, राजशेखर और सागरनंदी ने 'विलास-विन्यास-क्रम' के रूप में वृत्ति का व्याख्यान किया है।[3] 'विलास' नाट्यशास्त्र के अनुसार अयत्नज नामक चेष्टा अलंकारों में से एक है। विलास में गति धीर, दृष्टि चित्र और वचन मधुरहास्य-युक्त हो

---

१. वृत्तयो नाट्य मातरः।

२. यद्यपि कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सहवैचित्र्येण वृत्तयः ताश्च समस्तलोकव्यापिन्योऽनिदं प्रथमता-प्रवृत्ताः प्रवाहेन वहंति। तथापि विशिष्टेन हृदयावेशेन युक्तावृत्तयो नाट्योपकारिण्यः। अ० भा० भाग ३, पृ० ८२-८३।

३. चेष्टाविन्यासक्रमः वृत्तिः का० मी०, पृ० ६; भोज भाग २, पृ० ४५६।
व्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते। ध्वन्यालोक ३। ३३।

जाता है।[१] अतः इन आचार्यों की दृष्टि से भी काय, वाक् और मानसिक चेष्टाओं का विशिष्ट व्यापार ही वृत्ति है। विश्वनाथ की दृष्टि से आंगिकादि का व्यापार-विशेष ही वृत्ति है। उनके टीकाकार ने एक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का भी संकेत किया है। उनकी दृष्टि से 'जिसके कारण नाट्य में रस वर्तमान हो' या 'रस का संचरण हो' वह वृत्ति होती है।[२] इन आचार्यों के मतानुसार नाट्य में यथार्थता, सजीवता और रसमयता के संचार के लिए काय, वाक् एवं मनो-व्यापारों का पात्रों द्वारा जो प्रदर्शन होता है, वही वृत्ति है। यही वृत्ति विभिन्न आचार्यों द्वारा वृत्ति, व्यवहार, चेष्टा और विलास-विन्यास क्रम आदि के रूप में व्यवहृत हुई है। निश्चय ही इस रूप में वृत्ति रसोदय का स्रोत होने से नाट्य की माता है। नायक आदि के काय, वाक् और मन के विशिष्ट विलासपूर्ण व्यवहार रूप वृत्ति द्वारा ही तो रसोदय होता है।

वृत्ति : काव्य की व्यापक शक्ति

वृत्ति नाम से भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक काव्य-तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य और व्यंजना आदि शब्द-शक्तियाँ भारतीय काव्य-शास्त्र में वृत्ति के रूप में ही प्रचलित हैं।[3] अलंकारशास्त्र की प्राचीन परंपरा के अनुसार अनुप्रास के लाटीय, ग्राम्य और छेक आदि भेद भी वृत्तियाँ ही हैं। भामह ने भी अनुप्रासों की व्याख्या के प्रसंग में इसका संकेत किया है।[४] उद्भट ने भामह द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास के दो भेदों के स्थान पर तीन निम्नलिखित भेदों का वृत्ति के रूप में उल्लेख किया है—परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। इन तीनों वृत्तियों को वे निश्चित रूप से अलंकार मानते हैं, जिनका संबंध रसानुकूल शब्द-चयन से है।[५] रुद्रट ने भी इन वृत्तियों को अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया है। यद्यपि वे उद्भट की तीन वृत्तियों की तुलना में पाँच वृत्तियों को स्वीकार करते हैं—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा।[६] उद्भट और रुद्रट के विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि इन आचार्यों की दृष्टि से वृत्तियाँ मुख्यतः अनुप्रास अलंकार से संबंधित हैं। परन्तु किंचित् संबंध वामन की रीति और आनन्दवर्द्धन के तीन गुणों से भी माना जा सकता है, क्योंकि उनके द्वारा भी कोमलता और परुषता का अभिधान होता ही है। इसी आधार पर लोचनकार ने रीति का पर्यवसान गुणों में ही माना है।[७] पर दे महोदय की दृष्टि से वामन की रीति-कल्पना और आनंदवर्द्धन की गुण-कल्पना का जो व्यापक क्षेत्र है उसमें उद्भट की वृत्ति का प्रसार नहीं हो सकता,[८] क्योंकि वे तो शब्दालंकार मात्र हैं।

---

१. ना० शा० २२।१५ (गा० ओ० सी०)।

२. सा० द० तर्कवागीश की टीका, पृ० ३५४।
तत्र वर्तते रसोऽनयेत्ति व्युत्पत्तिः नायिकादि व्यापारविशेषो वृत्तिरिति वृत्ति लक्षणम्।

३. नैयायिकादयो यामेव वृत्तिमाहुस्तामेवालंकारिकाः शक्तिनाम्ना व्यपदिशंति। सा०द० की टीका, पृ० २६।

४. भामह : काव्यालंकार—२।५८।

५. उद्भट काव्यालंकार १, ५, ३७ ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतदृष्टयः।

६. रुद्रट का० अलंकार अ० २। का १९।

७. रीतेः गुणेष्वेव पर्यवसायिता। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २३१।

८. But even then it can not be said that Udbhata's vrittis cover the same ground, possesses the same functional value as the three ritis of

वृत्ति और रीति

वृत्तियों के विवेचन के क्रम में हमारा ध्यान काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रतिपादित वृत्तियों के व्यापक रूप पर जाता है। वहाँ रीतियों और वृत्तियों का समीकरण करते हुए परुषा, उपनागरिका और कोमला आदि वृत्तियों का उल्लेख किया गया है। मम्मट ने निश्चित रूप से इन वृत्तियों का प्रतिपादन वामन की तीन रीतियों के स्थान पर किया है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित वृत्तियाँ भी वामन की रीति-स्थानीय हैं, न कि अलंकार मात्र। उनकी दृष्टि से इन्हीं तीन परुषा, उपनागरिका और कोमला के स्थान पर वामन आदि आचार्यों ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली आदि रीतियों को स्वीकारा है।[1] दण्डी ने रीति का वैदर्भी और गौडी का मार्ग के रूप में उल्लेख किया है।[2] मम्मट के अनुप्रास में रसानुकूल वर्णों का विन्यास होता है। वृत्ति नियत वर्णगत रस-विषयक व्यापार है। मम्मट की दृष्टि से वृत्ति और रीति दोनों एक ही हैं और रस के अनुग्राहक हैं। परन्तु वामन की दृष्टि से तो रीति रस के साधन ही नहीं, वे तो काव्य की आत्मा हैं, सिद्धि हैं।[3] इनके अतिरिक्त वृत्ति की प्रसिद्धि समासयुक्त संघटना के लिए भी है। यह समास-वृत्ति भी दो प्रकार की होती है—समस्ता और असमस्ता। समस्ता के अधिक, न्यून तथा मध्य। समास की दृष्टि से क्रमशः गौडीया, पांचाली और लाटीया ये तीन भेद भी होते हैं। समास-वृत्ति के प्रवर्तक आचार्य रुद्रट के अनुसार वृत्ति-रीति का पर्याय ही है।[4] वृत्ति और रीति के सम्बन्ध में आचार्यों के विचारों में विचित्र तर्क रहा है। राजशेखर ने तो रीति को 'वचन-विन्यास-क्रम' तथा वृत्ति को 'चेष्टा-विन्यास-क्रम' के रूप में मानते हुए दोनों की पृथक्ता स्थापित की है।[5] और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने उद्भट द्वारा कल्पित परुषा और कोमला आदि वृत्तियों का शब्दाश्रित तथा भरत-निरूपित कैशिकी आदि वृत्तियों का अर्थाश्रित वृत्ति के अन्तर्गत विवेचन किया है। परन्तु वृत्तियों को रसानुगुण मानकर ध्वनि में ही अन्तर्भाव कर लिया है। आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त की दृष्टि से उपनागरिक आदि शब्दाश्रित वृत्ति और कैशिकी आदि अर्थाश्रित वृत्ति परस्पर सन्निविष्ट हो काव्य और नाट्य में अपूर्व शोभा का सृजन करती हैं।[6]

भरत-प्रतिपादित वृत्तियाँ

भरत ने नाट्यशास्त्र में जिस वृत्ति का विवेचन किया है, वह मुख्यतः नाट्य-प्रयोग के

Vamana or three Guna's of Anand Bardhan.

—S. K. De, Sanskrit Poetics; Vol. 2, p. 58.

१. काव्यप्रकाश, सूत्र १०८-१११।

२. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भी गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ। का० आ० १।४० (दण्डी)।

३. रसाद्यनुगतः प्रकृष्टोपन्यासः अनुप्रासः। वृत्तिः नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। का० प्र० ९, पृ० ४६५।

४. रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टपद रचना रीतिः। का० अ० सूत्र १, २, ६-७।

५. का० मी० ३ अ०, पृ० २१ (राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार)।

६. शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजो पराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे। ध्वन्यालोक ३।४८।

प्रसंग में। उपर्युक्त शब्दवृत्ति, समासवृत्ति तथा अनुप्रासवृत्ति से यह सर्वथा भिन्न है। इसका संबंध नाट्य-प्रयोग के लिए अपेक्षित वाचिक, शारीरिक और मानसिक व्यापारों से है। इस वृत्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यवहार' और अभिनवगुप्त ने 'पुरुषार्थ साधक व्यापार' माना है। पुरुष अथवा नारी पात्र रंगमंच पर प्रस्तुत हो कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार करते हैं। वे सब व्यापारवृत्ति हैं। इसी व्यापार द्वारा रसानुभव भी होता है, अतएव वह रसानुग्राहक भी होता है।

वृत्तियों का उद्भव

नाट्यशास्त्र में प्राप्त प्राचीन कथा के अनुसार विष्णु और मधु-कैटभ में द्वन्द्व-युद्ध हुआ और उसमें वाणी, अंग और मन के विभिन्न व्यापारों का जैसा प्रदर्शन हुआ, उनसे ही चारों वृत्तियों का उद्भव हुआ।

भगवान् विष्णु शेष-पर्यंक पर सोये थे। वीर्यबल से उन्मत्त मधु और कैटभ नामक असुरों ने भगवान् को युद्ध के लिए बार-बार ललकारा। दोनों अपने विशाल बाहुओं को मलते हुए, जानु और मुष्टियों से भगवान् विष्णु के साथ युद्ध करने लगे। युद्ध करते हुए वे कठोर और तिरस्कार-पूर्ण वचनों का उच्चारण इतने वेग से कर रहे थे कि समुद्र भी काँप उठे। ब्रह्मा इस शरीर और वाग्-युद्ध के साक्षी थे। उनकी परुष वाणी सुन उन्होंने नारायण से पूछा—भगवन्! भारती वृत्ति वाणी से ही प्रवृत्त होती है क्या? नारायण ने कहा—ब्रह्मन्, नाट्य-क्रिया के लिए ही मैंने भारती वृत्ति की रचना की है। युद्ध-विशारद दैत्यों से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए हरि ने पादन्यासों को धरती पर बार-बार बल देकर रखा। भूमि पर अधिक भार होने से (भारती) वाक्य भूमिष्ठा 'भारती' वृत्ति हुई। शार्ङ्गधर नामक धनुष के वीर-रसोचित रीति से बुद्धिपूर्वक संचालन करने से 'सात्वती' हुई। विष्णु के विचित्र अंगहारों तथा लीलापूर्ण चेष्टाओं के द्वारा केशपाश के संयमन से 'कैशिकी' तथा वेग, उत्साह, उद्धत चारियों के योग तथा विलक्षण द्वंद्व युद्धों से 'आरभटी' नामक वृत्ति का उद्भव हुआ।[1] इस पौराणिक कथा की परम्परा में ही रामायण और कूर्मपुराण में नारायण और मधुकैटभ के संघर्ष की कथा का उल्लेख लवणासुर-शत्रुघ्न युद्ध के प्रसंग में किया गया है। रामायण की कथा के अनुसार मधुकैटभ के नाश के लिए नारायण ने विशेष प्रकार के धनुष की रचना की थी।[2]

वृत्तियों के स्रोत वेद

नाट्य के उद्भव और विकास के विवेचन के सम्बन्ध में भरत एवं अन्य प्राच्य एवं

---

१. भूमि संयोगसंस्थानैः पादन्यासैः हरेस्तदा।
अतिभारोऽभवद्भूमेः भारती तत्र निर्मिता।
वल्गितैः शार्ङ्गधनुषै तीव्रैः दीप्ततरैरय।
सत्त्वाधिकैरसंभ्रान्तैः सात्वती तत्र निर्मिता।
विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितेः।
बबंध यच्छिखायाशं कैशिकी तत्र निर्मिता।
संरंभा वेगबहुलैः नानाचारी समुत्थितैः।
नियुद्ध करणैश्चित्रैरुत्पन्ना आरभटी ततः। ना० शा० २०।२-१५।

२. वा० रा० ७।६६-२७।

पाश्चात्य आचार्यों की समीक्षा के संदर्भ में हम यह स्थापित कर चुके हैं कि नाट्य के उद्भव में वेदों का दायित्व आंशिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ भरत ने वृत्तियों के उद्गम के क्रम में पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त वैदिक स्रोत की भी कल्पना की है। उनकी दृष्टि से भारती वृत्ति (संवाद-प्रधान) ऋग्वेद से, सात्वती वृत्ति (मनोव्यापार एवं अभिनय-प्रधान) यजुर्वेद से, कैशिकी वृत्ति (गीतवाद्य-प्रधान) सामवेद से और आरभटी अथर्ववेद से उत्पन्न हुई।[1]

वृत्तियों के प्रेरक शिव और पार्वती

वृत्तियों के उद्भव के रूप में वैदिक और पौराणिक परम्पराओं के अतिरिक्त एक और परम्परा का उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है।[2] उसके अनुसार नाट्यशास्त्र में प्राप्त वाक्-प्रधान, पुरुष-प्रयोज्य संस्कृत-पाठ्य-युक्त भरतों ने अपने नाम से ही भारती वृत्ति प्रचलित की। नाट्योत्पत्ति की कथा के प्रसंग में यह भी उल्लेख मिलता है कि भरत ने तीन वृत्तियों का प्रयोग तो स्वयं किया परन्तु कैशिकी के प्रयोग की प्रेरणा उन्हें शिव के नृत्त अंगहार-संपन्न, रसभाव क्रियात्मक, सुरुचिपूर्ण वेशभूषा से अलंकृत और शृंगार-रसात्मक नृत्य से मिली। कैशिकी में शृंगार रस की प्रधानता के कारण उसका प्रयोग बिना स्त्रियों के संभव ही नहीं था। अतएव भरत के अनुरोध पर ब्रह्मा ने नाट्य और चेष्टा अलंकारों में चतुर मंजुकेशी, सुकेशी और मिश्र-केशी आदि अप्सराओं को नाट्य में कैशिकी के प्रयोग के लिए भरत को दिया।[3] नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के उद्भव की ये चार परम्पराएँ उपलब्ध हैं। नारायण-मधुकैटभ-युद्ध, चारों वेदों से चार वृत्तियों का ग्रहण, भरतों के नाम से भारती का उद्भव, शिव द्वारा कैशिकी का प्रयोग और स्वयं भरत द्वारा शेष वृत्तियों का प्रयोग ये विभिन्न परम्पराएँ संगृहीत हैं। शारदातनय के भाव-प्रकाशन में नाट्यशास्त्र में उपलब्ध वृत्ति-संबन्धी परम्पराओं के अतिरिक्त एक और भी परम्परा का विवरण दिया गया है। वह भी किसी परम्परागत आचार्य के आधार पर ही है। उसमें शिव-पार्वती का नृत्य देखते हुए ब्रह्मा के चारों मुखों से चारों वृत्तियों के उद्भव की भी एक परि-कल्पना की गई है।[4]

वृत्तियाँ : नाट्य की मातृरूपा

नाट्योत्पत्ति में चारों वेदों और प्रधान देवों के योग की परिकल्पना की गई है, तो नाट्य-माता वृत्ति के लिए उसी प्रकार की परिकल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु इन परम्प-राओं के विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य-प्रयोग-काल में पात्रों का कायिक, वाचिक और सात्त्विक (मानसिक) व्यापार होता है, वही वृत्ति है। निःसन्देह उनके द्वारा ही रसोदय भी होता है। अतएव भरत ने उन्हें नाट्यमाता का सम्मानपूर्ण नाम देकर उचित ही

---

१. ऋग्वेदाद् भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि। ना० शा० २०।२५ (गा० ओ० सी०)।

२. स्वेनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेतु वृत्ति। ना० शा० २०।२६।

३. दृष्टा मया भगवतो नीलकंठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससंभवा। ना० शा० १।४५।

४. अपरे तु नाट्यदर्शनसमये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः।
शृङ्गारादि चतुष्टय सहिताः वृत्तीः समाचरन्युः। भा० प्र०, पृ० १२।

किया है। प्रयोग-काल में इन व्यापारों या व्यवहारों के बिना रसोदय की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः वृत्तियाँ नाट्य की माता सही अर्थों में हैं।

भरत-निरूपित वृत्तियाँ

भरत के अनुसार वृत्तियों के चार प्रकार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। ये चारों वृत्तियाँ यद्यपि प्रधान अंश की दृष्टि से एक-दूसरे से पृथक् होती हैं परन्तु ये एक-दूसरे से संवलित भी होती ही हैं। वाचिक, मानसिक और शारीरिक चेष्टाएँ परस्पर मिलकर ही एक-दूसरे को पूर्णता और प्रकाशन देती हैं। शारीरिक चेष्टा भी सूक्ष्म मानसिक चेष्टा और वाचिक चेष्टाओं से व्याप्त रहती है।[1] वाक्यपदीय के अनुसार मनुष्य की कोई ऐसी अनुभूति (प्रत्यय) नहीं है जिसका शब्द अनुगमन न करता हो। समस्त 'ज्ञान' शब्द से अनुबिद्ध रहता है।[2] अतः नाट्य-प्रयोग काल में कोई भी नाट्य-क्रिया रसोपयोगी लालित्य से शून्य नहीं होती। प्रत्येक वाचिक चेष्टा में मानसिक और शारीरिक चेष्टा का योग परस्पर उपकारक रूप में वर्तमान रहता ही है। परन्तु कहीं पर किसी चेष्टा-विशेष की प्रधानता होने के कारण ही उस वृत्ति-विशेष का नाम होता है। अभिनवगुप्त के इस मत से नाट्यदर्पणकार भी सहमत हैं। उन्होंने भी इस नाट्य-प्रयोग के तथ्य का समर्थन किया है कि चार वृत्तियाँ किसी एक वृत्ति के प्रधान होने के कारण ही होती हैं; नहीं तो अनेक व्यापारों से मिलता हुआ 'वृत्तितत्त्व' एक ही है, क्योंकि नाटक या प्रबन्धादि में कोई भी वृत्तितत्त्व दूसरी वृत्तियों के योग के बिना निष्पन्न हो ही नहीं सकता। यहाँ तक कि विदूषक भी यदि हास्यपूर्ण या असभ्य आचरण का प्रदर्शन करता है, तो वह भी बुद्धिपूर्वक ही करता है। अतः वृत्तियाँ परस्पर संवलित होने पर भी अंश-विशेष की प्रधानता होने पर चार प्रकार की होती हैं। नाट्यदर्पणकार अनभिनेय काव्य में वृत्तियों की स्थिति स्वीकार करते हैं, क्योंकि कोई भी वर्णनीय काव्य व्यापार-शून्य नहीं होता।[3]

भारती

यह पाठ-प्रधान वाग् वृत्ति, पुरुष-प्रयोज्य एवं संस्कृत-पाठ-युक्त होती है तथा स्त्री-पात्रों से रहित होती है। भरतों या नटों के वाग्-विन्यास तथा उसके नाम के कारण यह भारती वृत्ति हुई। भारती वृत्ति वाग्-व्यापारात्मक होने के कारण सर्वत्र वर्तमान रहती है। चारों वृत्तियों में भारती वृत्ति की प्रधानता मानी गई है। किसी भी भाव या परिस्थिति का आंगिक या मानसिक चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शन वाचिक चेष्टा से ही पूर्ण हो पाता है। भरत के इस मत से धनंजय, विश्वनाथ आदि प्रायः सब आचार्य सहमत हैं कि यह वृत्ति पुरुषप्राय और संस्कृत पाठ्ययुक्त हो। आचार्य

---

१. (वाङ् मनः कायचेष्टांशेषु) नह्येकोऽपि कश्चिच्चेष्टांशोऽस्ति। कायचेष्टा अपि हि मानसीभिः सूक्ष्माभिश्च वाचिकीभिश्चेष्टाभिर्व्याप्यन्तएव। अ० भा० भाग ३, पृ० ६१।

२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। वाक्यपदीय १।१२४।

३. मानसैः वाचिकैश्च व्यापारैः संभिधन्ते। शब्दोल्लिखितं मनः प्रत्ययं विना रंजकस्य कायव्यापार परिस्पंदस्याभावात्।
तेनाभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्ये किंचिद् वर्णनीय मस्ति। नाट्यदर्पण विवृत्ति। ३-१।

कुंभ के अनुसार भारती में सब वाचिक अभिनय वर्तमान रहते हैं और विप्रदास के अनुसार भारती में वाग्देवी भारती ही अन्तर्हित रहती है।[1]

भारती के अंग

सर्वत्रव्यापी वाग्-व्यापार रूपा भारती के चार अंग हैं—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन।

प्ररोचना—पूर्वरंग का अंग है। विजय, मंगल, अभ्युदय एवं पाप-प्रशमनयुक्त वाणी नाट्यारम्भ में प्रयुक्त होने पर प्ररोचना होती है। प्ररोचना द्वारा ही प्रस्तोता पात्र काव्य का उपक्षेपण हेतु और युक्तिपूर्वक करता है।[2] जब नटी विदूषक या परिपार्श्विक आदि प्रयोक्ता पात्र सूत्रधार के साथ श्लिष्ट, वक्रोक्ति और प्रत्युक्ति शैली अथवा स्पष्टोक्ति के माध्यम से संवाद की योजना करते हैं वही **आमुख** होता है। आमुख का नाम प्रस्तावना भी है[3] नाट्य-प्रयोग के सभारम्भ की विविध शैलियों की दृष्टि से आमुख या प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं :

उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवगलित।

उद्घात्यक द्वारा भावी काव्यार्थ का सूचन होता है। अप्रतीत अर्थ की प्रतीति के लिए अन्य पदों की योजना होती है वहाँ उद्घात्यक होता है। सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त 'चन्द्र' (ग्रहण) शब्द में चाणक्य 'गुप्त' को जोड़कर 'चन्द्रगुप्त' यह प्रतीतार्थता प्रदान करता है।[4] **कथोद्घात** वहाँ होता है जहाँ सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्यार्थ के सूत्र के सहारे किसी पात्र का प्रवेश होता है। चन्द्रगुप्त के प्रथम अंक में सिंहरण के 'विस्फोट' शब्द का सूत्र पकड़ आंभीक प्रवेश करता है।[5] एक ही प्रयोग के माध्यम से दूसरे प्रयोग का आरंभ हो जाता है वहाँ **प्रयोगातिशय** होता है। भास के चारुदत्त में सूत्रधार के प्रयोग के द्वारा विदूषक का रंगमंच पर प्रवेश होता है।[6] ऋतु आदि की वर्णना के माध्यम से ही जहाँ प्रयोग प्रवृत्त हो वहाँ **प्रवर्तक** होता है। वेणीसंहार नाटक में शरद्-वर्णन के माध्यम से प्रयोग का आरंभ होता है।[7] एकत्र समावेश होने पर सादृश्य आदि के आधार पर अन्य का प्रयोग हो जाता है तो **अवगलित** होता है। शाकुंतल में मनोहारी गीतराग की प्रशंसा के सादृश्य के द्वारा सूत्रधार ने मृगया-विहारी दुष्यन्त को रंगमंच

---

१. या वाक् प्रधाना पुरुषा प्रयोज्या।
स्त्रीवर्जिता संस्कृत पाठयुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता।
सा भारतीनाम भवेत्त वृतिः। ना० शा० २०।२६, द० रू० ३।५, सा० द० ६।१४, भ० को० पृ० ८६१।

२. ना० शा० २०।२८-२९ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० २०।३०-३१ (गा० ओ० सी०)।

४. मुद्राराक्षस, प्रथम अंक।

५. चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक, पृ०-१ (प्रसाद)।

६. चारुदत्त, अंक १।

७. चन्द्रगुप्त, अंक १, पृ० १।
सत् पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा महोद्धतारंभाः
निपतंति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनी पृष्ठे। वेणीसंहार १।६

पर प्रस्तुत किया है।[1]

आमुख या प्रस्तावना के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ-युक्ति-पूर्ण आमुख का प्रयोग अपेक्षित है। परन्तु भरत ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि आमुख या प्रस्तावना में पात्र अल्प हों। प्राप्त नाटकों में आमुख का प्रयोग भी प्रायः इसी रूप में देखा भी जाता है। नटी-सूत्रधार या सूत्रधार-परिपार्श्विक ये कुछ ही पात्र प्रस्तावना को प्रस्तुत करते हैं।[2]

सात्त्वती

सत्व-प्रधान मानसिक व्यापारों की प्रधानता होने पर सात्त्वती वृत्ति होती है। इस वृत्ति में आरभटी के छल, प्रपंच और माया आदि की प्रधानता के विपरीत न्याय-युक्त शूरता और त्याग आदि का योग होता है। एक ओर उत्कट हर्ष का प्रकाशन दूसरी ओर शोक का संहरण होता है। नाट्य-प्रयोग-काल में विविध वाक्यों के प्रसंग में वाचिक और आंगिक अभिनयों के साथ ही सत्त्व या मनोव्यापार की अधिकता होने पर सात्त्वती वृत्ति होती है। इसमें वीर, अद्भुत और रौद्र रसों की प्रचुरता रहती है। अतएव शृंगार, करुण और निर्वेद निरस्त हो जाते हैं। उद्धत प्रकृति के पुरुष पात्रों की अधिकता रहती है, अतएव एक-दूसरे को वे आघर्षित भी करते रहते हैं।[3] सात्त्वती के भी चार भेद निम्नलिखित हैं—

उत्थापक, परिवर्तक, संल्लापक और संघात्य।

मनोभावों का उत्थान जिस व्यापार के द्वारा होता है, वह **'उत्थापक'** होता है। उत्थान के द्वारा आरंभ किये हुए कार्यों को कार्यवश छोड़कर अन्य कार्यों को जब पात्र करता है तो वही **'परिवर्तक'** होता है, क्योंकि इसमें कार्य-व्यापार का परिवर्तन होता है। आघर्षण (तिरस्कारपूर्ण वचन) या विना आघर्षणा के ही जब तिरस्कार एवं अपमानपूर्ण वाक्यों की योजना होती है तो **'संल्लापक'** होता है। मंत्र-शक्ति, वाक्-शक्ति, दैववश अथवा आत्मदोष से शत्रु का संधान होने से **'संघात्य'** होता है।[4]

कैशिकी

मनोहर सुकुमार वेषविन्यास से विचित्र, स्त्री-पात्रों से युक्त, नृत्य-गीत से सरस और स्त्री एवं पुरुष के कामभाव से समृद्ध शृंगार रसात्मक व्यापार ही कैशिकी वृत्ति होती है।[5] कैशिकी शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी इस वृत्ति की मनोहारिता का संकेत करता है। स्त्रियों के शिर के केशों द्वारा किसी क्रिया का संपादन नहीं होता, परन्तु केशों के द्वारा उनका सहज सौन्दर्य और भी समृद्ध हो उठता है। आचार्य वेम के जिन नाट्य-व्यापारों द्वारा सौन्दर्य और

---

१. तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसमं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा। अ० शा० १।५
तथा—ना० शा० २०।२७-३७ (गा० ओ० सी०); द० रू० ३।५-११; सा० द० ६।१६-२२।

२. ना० शा० २०।३६ (गा० ओ० सी०)।

३. वही, २०।४१-४३।

४. ना० शा० २०।४४-५१ (गा० ओ० सी०)।

५. या श्लक्ष्ण नेपथ्य विशेष चित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोग प्रभवोपचारा तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति। ना० शा० २०।४६।

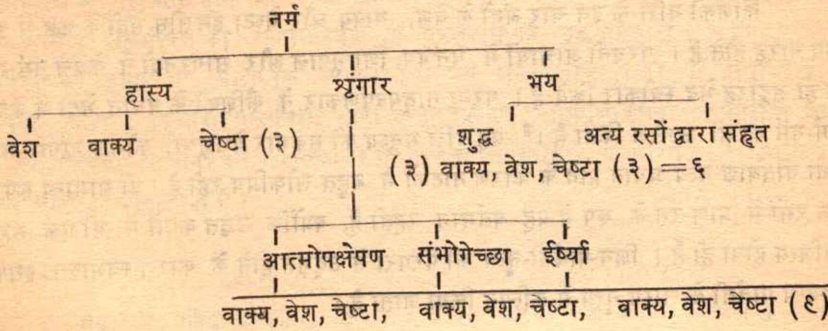
लालित्य का प्रसार होता है, वे 'कैशिकी' होती हैं।[1] **नाट्यदर्पणकार** ने भी उसी परंपरा में 'केशों वाली' इस अर्थ की परिकल्पना करते हुए स्त्रियों की ललित व्यवहार-युक्त वृत्ति को कैशिकी वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।[2]

कैशिकी वृत्ति की प्राणरूपता

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यह वृत्ति सौन्दर्य एवं वैचित्र्याधायक होने के कारण श्रृंगार के अतिरिक्त वीर आदि रसों में भी प्राण-रस के रूप में वर्तमान रहती है।[3] डॉ० वी० राघवन के अनुसार इस वृत्ति में प्रवृत्ति और रीति दोनों का योग होता है। भरत के अनुसार दाक्षिणात्य प्रवृत्ति सुकुमार वेष-प्रधान होती है। दाक्षिणात्यों में गीत, वाद्य और नृत्य की बहुलता रहती है। 'कैशिकी श्लक्ष्ण नेपथ्या' तथा 'गीत-वाद्य-नृत्त-प्रधान' रीति है ही। प्रवृत्ति तो बहुत ही व्यापक है। इसमें तो वेश, आचार और वार्ता का समाहार होता है। आचार और वार्ता तो इतने व्यापक हैं कि इसके अन्तर्गत तो सब लोकाचार और लोक-व्यवहारों का अन्तर्भाव होता है।[4]

कैशिकी के चार अंग

कैशिकी के निम्नलिखित चार अंग हैं—नर्म, नर्मस्फुंज, नर्मस्फोट और नर्म-गर्म। नर्म के तीन आआर हैं—श्रृंगार, विशुद्ध हास्य और वीररस को छोड़ कोई अन्य रस। इसमें ईर्ष्या और क्रोध की बहुलता, उपालंभ वचन, आत्मनिंदा तथा विप्रलंभ की योजना होती है।[5] नर्म के लिए तीसरा आधार भय को स्वीकार किया गया है तथा वेश, वाक्य और चेष्टा आदि के आधार पर नर्म के निम्नलिखित अट्ठारह भेदों की परिकल्पना की गई है।



---

१. सौन्दर्यजीविता या सा वृत्तिर्भवति कैशिकी। वेम (भ० को०)

२. ना० द० ३। सूत्र १६१ पर विवृत्ति।

३. रौद्रादि रसाभिव्यक्तावपि कर्त्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रास वलनावर्तनाद्यात्मक सुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्टएव वा न रसाभिव्यक्ति हेतुः भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः। श्रृंगाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया विना शक्यम्॥ अ० भा० भाग १, पृ० २२।

४. Therefore, it is that we find the inclusion of graceful dress—Slaksna Nepathys—which is Pravritti (Daksinatya) as a part of the definition of Kaishiki Vritti. —Bhoja's S. R. Pr. p. 26.

५. ना० शा० २०।५७-५८ (गा० ओ० सी)।

नर्म के द्वारा शिष्टजनों के हृदय का आवर्जन होता है। यह कहीं मान, कहीं हास्य, कहीं श्रृंगार-जनक हास्य, कहीं भयजनक हास्य और कहीं पूर्वनायिका के भय के कारण नर्म अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। सागरनंदी ने हास, ईच्छा और भय के अनुसार तीन भेदों की परिकल्पना की है। श्रृंगारोद्दीपक, विलासपूर्ण परिहास हास्याश्रित होता है। छिपी रहने पर भी नायिका कुसुमों से प्रहार करती हुई नायक के दर्शन के लिए आती है, तो ईच्छाश्रित नर्म होता है।

नर्म-स्फुर्ज (**स्फुंज**) कैशिकी का दूसरा अंग है। प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रथम मिलन की मधुवेला में वेश, वाक्य और चेष्टा आदि के द्वारा प्रेमभाव का उद्बोधन होता है। परन्तु अवसान में पूर्व-नायिका-कृत भय बना रहता है। रत्नावली में उदयन और सागरिका का मिलन वासवदत्ता के विघ्न से व्याप्त है।[1] स्फुर्ज विघ्नवाचक है।

नर्म-स्फोट––विविध भावों के किंचित्-किंचित् अंश से भूषित होने पर असमग्र (विशेष) रस का सृजन होता है तो नर्म स्फोट होता है। इसमें भय, हास, हर्ष, रोषादि के माध्यम से नर्म (श्रृंगार) का विलक्षण प्रस्फुटन होता है। परन्तु सागरनंदी एवं शिंगभूपाल के अनुसार तो अकाण्ड (अनवसर) ही प्रेमी-प्रेमिकाओं के संभोग-विच्छेद होने पर नर्म-स्फोट होता है। भरत की परिभाषा से इन आचार्यों द्वारा उद्धृत परिभाषाएँ पर्याप्त भिन्न हैं। 'असमग्राक्षिप्त रस' से अभिनवगुप्त ने कल्पना की है, अन्य रसों में श्रृंगार की प्रधानता के कारण उसका चमत्कार और उल्लास-कृत प्रस्फुटन होता है, परन्तु इन आचार्यों की दृष्टि में वह अनवसर ही संभोगविच्छेद होता है। अतः विघ्न रूप होने के कारण तो नर्म-स्फुर्ज के निकट का ही है।[2] **नर्म-गर्भ**—वन समागम के लिए श्रृंगारोपयोगी रूप शोभा समन्वित हो कार्यवश प्रच्छन्न रूप से नायक व्यवहार करता है वह नर्म-गर्भ होता है। ये सब प्रसाधन और साज-सज्जा आदि प्रच्छन्न रूप से संपन्न होते हैं, क्योंकि यह नर्म-श्रृंगार कार्य-गर्भ-स्थित ही रहता है।

कैशिकी वृत्ति के इन चार अंगों के वेश, वाक्य और चेष्टा इन तीन भेदों के क्रम में कुल भेद बारह होते हैं। परवर्ती आचार्यों में धनंजय, शिंगभूपाल और सागरनंदी ने केवल नर्म-गर्भ के ही अट्ठारह भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने कैशिकी के प्रधान भेदों में केवल नर्म-गर्भ का ही उल्लेख किया है।[3] यह वृत्ति मनुष्य की सुकुमार वेशभूषा, कोमल श्रृंगार-भाव तथा गीतवाद्य-नृत्य प्रधान होने के कारण नाटकों में बहुत लोकप्रिय रही है। यों सामान्य रूप से सब रसों में प्राण-रस के रूप में यह वर्तमान रहती है, क्योंकि उद्धत कार्यों में भी एक सहज लालित्य होता ही है। शिव-पार्वती-नृत्य की परंपरा से उद्भूत होने के कारण स्वभावतः इसका सम्बन्ध पार्वती के लास्य नृत्य से कल्पित किया जाता है।

आरभटी

आरभटी वृत्ति में वीरों के क्रोधावेग, कपट, प्रपंचना, छल, दंभ-प्रदर्शन, असत्य-भाषण,

---

१. ना० शा० २०।५६ (गा० ओ० सी०), सा० द० ६।१४७, द० रू० २।५१क, ना० ल० को० प० १३४२-४४।

२. ना० शा० २०।६० (गा० ओ० सी०); द० रू० २।५१ ख; र० सु० १।२७२-७७; सा० द० ६।१४८; ना० ल० को० १३३-४०, अ० भा० भाग ३, पृ० १०२।

३. ना० शा० २०।६१-६२; (गा० ओ० सी०), द० रू० २।५२; सा० द० ६।१४६; ना० ल० को० १३३८-१३४६; र० सु० १।२७८-२७६।

युद्ध का नियमोल्लंघन, उद्भ्रान्त चेष्टा, बंधन और वधादि की प्रधानता रहती है। आरभटी वृत्ति सौन्दर्य एवं लालित्य के विपरीत होने के कारण कैशिकी के विपरीत है, और 'न्यायवृत' के प्रतिकूल होने के कारण सात्वती वृत्ति के भी विपरीत ही है। आरभटी यह नाम भी नितान्त अन्वर्थ है। 'आरभट' अर्थात् उत्साहपूर्ण योद्धाओं के गुण जिस वृत्ति में वर्तमान हों वह वृत्ति 'आरभटी' होती है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दृष्टि से 'आर' का अर्थ होता है 'चाबुक', जो भट या योद्धा चाबुक के समान हों। जिस वृत्ति में ऐसे योद्धाओं या भटों की बहुलता होती है, वह आरभटी होती है।[१] कुंभ और विप्रदास ने इसी रूप में शत्रुओं के परस्पर युद्ध-संघर्ष की प्रबलता के कारण आरभटी वृत्ति की अन्वर्थता का प्रतिपादन किया है।[२] यह आरभटी वृत्ति कायिक, वाचिक और मानसिक सब प्रकार के अभिनयों से संपन्न होती है। यह भी नाट्य के लिए बहुत उपयोगी होती है क्योंकि इसमें अभिनय की सब विधियों का प्रयोग होता है। आरभटी वृत्ति के चार अंग हैं—संक्षिप्त, अवपात, वस्तूत्थापन और संफेट।

संक्षिप्त : आचार्यों की विभिन्न मान्यताएँ

'संक्षिप्त' में प्रयोजनवश पुस्तविधि की सहायता से कुशल शिल्पियों द्वारा विचित्र वस्तुओं का उत्थापन होता है। इसमें मिट्टी, बाँस के पत्ते और चमड़े आदि के संयोग से विचित्र नाट्योपयोगी वस्तु की रचना होती है। उदयन-चरित में बाँस का बना हाथी, बालरामायण की पुत्तलिका और रामाभ्युदय में राम के मायाशिर की रचना 'संक्षिप्त' के ही उदाहरण हैं।[3] धनंजय, विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने संक्षिप्त की एक दूसरी परिभाषा भी प्रस्तुत की है। उसके अनुसार नाट्य-प्रयोजनवश एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक का स्थान-ग्रहण अथवा नायक की मनोवृत्ति में परिवर्तन होना भी 'संक्षिप्तक' ही होता है। बालि के स्थान पर सुग्रीव या रावण के स्थान पर विभीषण का राज्याभिषेक एवं परशुराम की उद्धत प्रवृत्ति के स्थान पर शान्त प्रवृत्ति का होना भी 'संक्षिप्तक' ही है। भरत एवं अन्य आचार्यों की परिभाषाओं में यह स्पष्ट अन्तर है कि भरत पुस्तविधि द्वारा प्रस्तुत विचित्र मायापूर्ण रचना को 'संक्षिप्त' मानते हैं और परवर्ती आचार्यों की परिभाषाओं में नायकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन या स्थान-ग्रहण को 'संक्षिप्त' माना गया है।[४]

अवपात

भय, हर्ष, क्रोध, प्रलोभन, विनिपात, संभ्रम, आचरण के कारण क्षिप्रता से पात्रों के प्रवेश का और निष्क्रमण होने पर 'अवपात' होता है।[५] राम-परशुराम-युद्ध के अवसर पर घबराहट और चिन्ता के कारण दशरथ का बार-बार रंगमंच पर प्रवेश और निष्क्रमण 'अवपात' ही

---

१. ना० शा० २०।६४-६६ (गा० ओ० सी०), आरेण प्रतोपकेन तुल्या भटा उद्धता पुरुषा आरभटाः। ना० द० ३। सूत्र १६२ पर विवृत्ति।

२. म० को०, पृ० ७९९।

३. ना० शा० २०।६८।

४. पूर्वनेतृविवृत्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः। द० रू० २।५८, सा० द० ६।१३६, र० सु० १।२४३। पूर्वनायक नाशेना पर नायकसंभवः, संक्षिप्तकः। ना० ल० को० १३६५-६।

५. ना० शा० २०।६९ (गा० ओ० सी०)।

है। क्योंकि पात्र इसमें उतरते हैं, इसीलिए अवपात यह नाम भी अन्वर्थ है।[1] 'अवपात' और 'विद्रव' दोनों एक ही हैं। अवपात में कायिक, मानसिक और वाचिक अभिनयों का बड़ा ही प्रभावकारी समन्वय होता है। परवर्ती आचार्यों ने भी 'अवपात' की परिभाषा भरत के अनुसार ही प्रस्तुत की है।[2]

वस्तूत्थापन : सर्व रस का समासीकरण

'वस्तूत्थापन' में स्थायीभाव एवं व्यभिचारी भावों को समाहार रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अग्निकाण्ड आदि उपद्रव या उसके बिना भी इसका प्रयोग होता है।[3] धनंजय, शिंगभूपाल और विश्वनाथ ने किंचित् भिन्न परिभाषा की कल्पना की है। उनके अनुसार माया और इन्द्रजाल के प्रभाव से किसी नवीन वस्तु का उत्थापन होने से वस्तूत्थापन होता है।[4] सागरनंदी ने यद्यपि वस्तूत्थापन की परिभाषा तो नहीं दी है, परन्तु उनके उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भरत के 'सर्वरससमासकृत' को ही वे 'वस्तूत्थापन' मानते हैं। राम-परशुराम युद्ध-प्रसंग इसका उदाहरण है। राम-परशुराम का भयानक युद्ध आरंभ हुआ, तो जनक अक्रुद्ध थे, वशिष्ठ और दशरथ आदि चिन्तित थे, और घबराहट में मैथिली धरती पर गिर पड़ी। यहाँ अनेक प्रकार के रसों का समासीकरण हुआ है। भरत की दृष्टि रस और भाव की अनुवर्तिनी रही है और धनंजय आदि आचार्यों की दृष्टि वस्तु के उत्थापन की ओर रही है। हॉस ने भी 'वस्तु' का अनुवाद 'मैटर' ही किया है।[5] अन्य आचार्यों की दृष्टि में पुस्तविधि, माया या इन्द्रजाल आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन होता है। भरत की दृष्टि से 'वस्तु' शब्द रसों के समासीकरण का संकेतक है। यही भरत एवं अन्य आचार्यों में अन्तर है।

संफेट

नाना प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध, कपट, निर्भेद तथा शस्त्र-प्रहार की बहुलता होने पर 'संफेट' होता है। जटायु-रावण का युद्ध संफेट का ही उदाहरण है। इसकी परिभाषाएँ भरतानुसारी ही हैं।[6]

वृत्तियों की संख्या

हमने पिछले पृष्ठों में चारों वृत्तियों और उनके विभिन्न अंगों का तुलनात्मक विवेचन भरत एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों के संदर्भ में किया है। इस प्रसंग में उद्‌भट और भोज के विचारों का पृथक् रूप से विवेचन उचित होगा। इन दोनों ही आचार्यों के विचार भरत से भिन्न हैं और अन्य आचार्यों से भी। दशरूपककार धनंजय ने वृत्तियों के विवेचन का उपसंहार करते

१. अवपतन्त्यस्मिन् पात्राणीति। अ० भा० भाग ३, पृ० १०४।
२. द० रू० २।५६, सा० द० ६।१५६, ना० ल० को० १३६८-७२ पं०।
३. ना० शा० २०।७० (गा० ओ० सी०)।
४. द० रू० २।५६ क, सा० द० ६।१५६, ना० ल० को० पं० १२७५-८०, र० सु० १।२८५।
५. Production of matter is the name given to a matter produced by majic and the like. —D. R. Hass, p. 73.
६. ना० शा० २०।७१, (गा० ओ० सी०), द० रू० २।५८ ख।

हुए उद्भट द्वारा प्रतिपादित अर्थवृत्ति का खण्डन किया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी चारों वृत्तियों का दो भागों में वर्गीकरण किया है, जिसमें भारती तो शब्द वृत्ति है और शेष कैशिकी आदि तीन वृत्तियाँ अर्थवृत्तियाँ हैं। पर वृत्तियाँ उन्होंने चार ही स्वीकार की हैं।[1] भोज ने वृत्तियों का विवेचन अनुभावों, प्रबंध-अंगों, शब्दालंकारों और पुरुषार्थों के संदर्भ में विभिन्न रूप से किया है। भोज की दृष्टि से वृत्तियाँ अनुभाव के रूप में बुद्धि से उत्पन्न हुई हैं। यहाँ पर वृत्तियों की संख्या चार ही है। परन्तु प्रबंध-अंगों के विवेचन के क्रम में उन्होंने परंपरागत चार वृत्तियों के अतिरिक्त 'विमिश्रा' नाम की पाँचवीं वृत्ति भी स्वीकार की है। वस्तुत: यह कोई नितान्त नूतन वृत्ति नहीं है अपितु चारों का मिश्रित रूप ही है। संभवत: पाँच वृत्ति मानने का एकमात्र कारण यह है कि प्रबंध-अंगों के विवेचन में उन्होंने पांच अंगों में विवेच्य विषयों का वर्गीकरण किया है। अत: उसके मेल में 'विमिश्रा'-वृत्ति की कल्पना कर पाँच वृत्तियाँ स्वीकार कर ली हैं।[2] भोज की 'विमिश्रा' वृत्ति से शारदातनय और शिंगभूपाल ने अपना परिचय प्रकट किया है। परन्तु जब भोज ने शब्दालंकारों का विवेचन किया तो उस संदर्भ में वृत्तियों की परंपरागत चार संख्या में 'मध्यमा कैशिकी' और 'मध्यमा आरभटी' नाम की दो वृत्तियों का उल्लेख किया। वह इसी कारण कि शब्दालंकारों का विभाजन समान रूप से छ: प्रकारों में किया है। अत: उसके अनुक्रम में दो वृत्तियों की परिकल्पना कर छ: वृत्तियों का आविष्कार कर लिया। भोज ने तीन प्रसंगों में वृत्ति की संख्याएँ तीन रूप में स्वीकार की हैं। परन्तु सर्वत्र वृत्ति तो वही है। वृत्तियाँ मूल रूप से अनुभाव है, अनुभाव ही अलंकार है। वाचिक अभिनय के माध्यम से वागारंभानुभावों का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार अन्य अनुभावों से अन्य मनोदशाएँ भी प्रकट होती हैं।[3]

वृत्यंगों की संख्या

विभिन्न वृत्तियों के अंगों के सम्बन्ध में प्राय: आचार्यों की विचार-दृष्टि भरतानुसारी है। परन्तु भारती के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में भोज एवं धनंजय आदि आचार्यों की विचार-धारा किंचित् भिन्न है। भरत ने भारती के चार अंग माने हैं—'प्ररोचना', 'आमुख', 'वीथी' और 'प्रहसन'। 'प्ररोचना' और 'आमुख' तो प्रस्तावना एवं नाट्य के आरम्भिक अंग हैं। यहाँ वाग्-व्यापार की ही प्रधानता है। परन्तु वीथी और प्रहसन तो रूपकों के भेदों में हैं। वहाँ भी वाक्-प्रधान भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है। धनिक के अनुसार भारती तो शब्द वृत्ति है और नाटक के आमुख का अंग है। शेष तीनों अर्थवृत्तियाँ हैं। उनमें ही सब रसों का अनुगमन होता है।[4] धनंजय के अनुसार भारती का व्यापक क्षेत्र सीमित हो जाता है। वाग्-व्यापाररूपा होने से 'भारती' तो सर्वत्र ही वर्तमान रहती है। परन्तु इनकी दृष्टि से वह आमुख या प्रस्तावना का अंग मात्र है। भरत ने आमुख के पाँच अंगों की भी परिकल्पना की, धनंजय ने उन चार भेदों को

१. द० रू० २।६०-६१।
२. सोऽयं पंचप्रकारोऽपि चेष्टाविशेष विन्यास क्रमोवृत्तिरित्याख्यायते। मुखादि संधिषु व्याप्रियमाणानां नायकोपनायकादीनां मनोवाक्कार्यकर्मनिबंधना पंचवृत्तयो भवन्ति भारती, आरभटी, कैशिकी सात्वती, विमिश्रा चेति। शृं० प्र० भाग २, पृ० ४५६।
३. भोजाज श्रृङ्गार प्रकाश, पृ० १६५-१६७।
४. चतुर्थी भारती साऽपि वाच्या नाटक लक्षणे। द० रू० २।६०।
भारती तु शब्दवृत्तिरामुखांगत्वात् तत्रैव वाच्या। धनिक की टीका।

तो स्वीकार किया परन्तु आमुख के वे चार अंग ही मानते हैं। उद्घात्यक और वीथी को एक ही मान लिया। भोज के भी विचार इसी परंपरा में हैं। परन्तु वे तो भारती के चार प्रमुख अंगों के स्थान पर केवल आमुख को ही मानते हैं। वे 'प्रयोगातिशय' नामक भेद को नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार 'विमिश्रा' को छोड़ शेष चार वृत्तियों में से प्रत्येक के लिए चार-चार अंग स्वीकार कर सोलह वृत्यंगों को मानने के पक्ष में हैं। भरत तो निश्चित रूप से वीथी और 'प्रहसन' को रूपक-भेद के रूप में स्वीकारते हैं और भारती वृत्ति का क्षेत्र मात्र 'आमुख' या 'प्रस्तावना' न होकर इन रूपक-भेदों में विशेष रूप से है। परन्तु भोज एवं परवर्ती आचार्यों की दृष्टि भारती के प्रति बहुत संकीर्ण होती गई है और ये प्रहसन को प्रस्तावनान्तर्गत प्रहसनपूर्ण छोटा-सा संवाद मात्र मानते हैं। भारती के सम्बन्ध में भरत की दृष्टि नितान्त स्पष्ट एवं व्यापक है, वे वाक्-प्रधान वृत्ति को सर्वत्र ही स्वीकार करते हैं। सारा नाट्य-प्रयोग या काव्य तो वाग्-प्रधान ही है। वाणी के बिना नाट्य-प्रयोग को पूर्णता प्राप्त ही नहीं हो सकती।[1]

वृत्तियों का रसानुकूल प्रयोग

वृत्तियों का सम्बन्ध नायक-नायिका एवं अन्य पात्रों के वाचिक, कायिक और मानसिक व्यापारों से है। ये चेष्टाएँ ही रस का उद्बोधन करती हैं। अतः भरत ने वृत्तियों के संदर्भ में उनकी रसानुकूलता का भी विचार किया है। भरत की दृष्टि से कैशिकी सुकुमार वृत्ति होती है। इसमें हास्य और श्रृंगार की बहुलता होती है। सात्वती में वीर और अद्भुत रसों की प्रमुखता होती है। रौद्र और अद्भुत में आरभटी तथा बीभत्स करुण में भारती की प्रधानता होती है।[2] कोहल ने तो करुण रस में भी कैशिकी वृत्ति की प्रधानता मानी है।[3] यहाँ यह विचारणीय है कि किसी विशेष वृत्ति का रस-विशेष में नितान्त रूप से निर्धारण करना उचित होगा या नहीं। भरत ने प्रधानता को दृष्टि में रखकर ही ऐसा संकेत किया है। 'भारती' तो वाक्-प्रधान होने के कारण सब रसों और भावों में वर्तमान रहती ही है। इसी प्रकार कैशिकी भी सौन्दर्याधायक और लालित्य-प्रधान होने के कारण नाट्य के किस रस में नहीं वर्तमान रहती है? भारती वृत्ति भी केवल करुण और बीभत्स में ही कैसे नियंत्रित रहेगी, जबकि सर्व-रस प्रधान 'वीथी', 'श्रृंगार-वीर-प्रधान भाण' तथा हास्य-प्रधान प्रहसन आदि भारती के अंग हैं।[4] स्वयं भरत ने वृत्तियों के उपसंहार के रूप में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि कोई काव्य या नाट्य-प्रयोग के क्रम में एक-रसज नहीं होता। उसमें विभिन्न भावों रसों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों का योग होता ही है। सब भावों, वृत्तियों और रसों के समवेत होने पर उनमें प्रधान तो रस होता है शेष संचारी होते हैं। वृत्तियों की भी यही दशा है। उनका निर्धारण भी प्रधानता के अनुसार होता है।[5]

---

१. जर्नल ऑफ़ ओरिएन्टल रिसर्च—जिल्द ७, पृ० ४४-४५ (वी० राघवन)।

२. ना० शा० २०।७२-७४ (गा० ओ० सी०)।

३. भरतकोष, पृ० ६३४।

४. ये तु भारत्यां 'वीभत्सकरुणो' प्रपन्नाः ' तेः सर्वरस वीथी—प्रधानश्रृंगार वीर भाण प्रधानहास्य-प्रहसनानि स्वयमेव भारत्यां वृत्तौ नियंमितानि नावेक्षितानि। नाट्यदर्पण, पृ० १३६ (द्वि० सं०)

५. नाट्येकरस काव्यंजं किंचिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वाऽपि रसो वाऽपि प्रवृत्तिः वृत्तिरेव वा। ना० शा० २०।७४ (गा० ओ० सी०)।

१७

प्रवृत्ति

प्रवृत्ति का स्वरूप

भरत ने नाट्य-प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत और रसानुग्राहक रूप देने के लिए प्रवृत्ति का विधान किया है। 'प्रवृत्ति' शब्द भारतीय वाङ्मय में अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। मनुष्य की पाप-पुण्य वृत्ति, बुद्धि और कर्मेन्द्रियों की चेष्टाएँ, शरीर के लीला-विलास आदि व्यापार, मन के हाव और हेला आदि विकार तथा आलाप एवं विलाप आदि वाग्-व्यापार सब प्रवृत्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हैं।[1] भरत ने नाट्य-शास्त्र में 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग व्यापक और भिन्न अर्थ में किया है। उनकी दृष्टि से भारत के विभिन्न जनपदों में प्रचलित नाना वेश, भाषा, आचार और वार्ता का ख्यापन करने वाली वृत्ति ही प्रवृत्ति है।[2] वस्तुतः आचार और वार्ता के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार के अधीन किस बात का समावेश नहीं हो जाता ! अभिनवगुप्त ने भरत की इस 'प्रवृत्ति' शब्द की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि से 'प्रवृत्ति' शब्द सूचनार्थक है। समस्त लोक में प्रचलित मनुष्य-मात्र की जीवन-प्रवृत्ति का ज्ञान इस प्रवृत्ति के द्वारा होता है।[3] अतः यह प्रवृत्ति मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति-सभ्यता के जानने का महत्त्वपूर्ण साधन है।[4]

विभिन्न देशों और अवस्था आदि के अनुरूप भाषा और वेशभूषा आदि से पात्र को

१. शृंगारप्रकाश : १२। पृ० ४५९-६०।

२. अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मादिति। उच्यते, पृथिव्यां नाना देशवेषभाषाचाराः वार्ताः ख्यापयतीति वृत्तिः, प्रवृत्तिश्च निवेदने। ना० शा० १३। पृ० २०२, भाग २ (गा० ओ० सी०)।

३. तत्रैवं योजना—देशे देशे येऽवेव वेषादयो नैपथ्यं भाषा वा आचारो लोकशास्त्र व्यवहारः वार्ता कृषि पशुपाल्यादि जीविका इति तान् प्रख्यापयन्ति पृथिव्यादि सर्वलोकविधाप्रसिद्धिं करोति। प्रवृत्तिः बाह्यार्थे यस्मान् निवेदने निःशेषेण वेदने ज्ञाने प्रवृत्ति शब्दः। अ० भा० भाग ३, पृ० २०५-२०६।

४. In fact, it represents the civilization that differs with provinces. Laws of Sanskrit Drama, p. 288 (S. N. Sastri).

प्रसाधित कर तब अन्य अभिनय विधियों द्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा होती है। बिना प्रवृत्ति या प्रसाधन के विभिन्न पात्रों को प्रयोग-काल में विशिष्ट व्यक्तित्व प्राप्त नहीं हो सकता। प्रवृत्ति-विधान के द्वारा भरत ने भारत के विभिन्न जनपदों की बोलियाँ, भाषाएँ, आचार और व्यवहार का समीकरण रंगमंच के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमें एक साथ ही जनपदों की सभ्यताओं के एकीकरण और वैशिष्ट्य दोनों का विराट् प्रयास एक साथ किया गया है। नाट्य-कला के माध्यम से इन जनपदीय प्रवृत्तियों को समृद्ध करते हुए उनके समन्वय का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भरत के काल में नाट्य-प्रयोग के क्रम में विभिन्न पात्रों को प्रस्तुत करते हुए उनके बाह्य रूप-रंग, आचार-व्यवहार को प्रस्तुत करने में बड़ी सतर्कता बरती जाती थी।

प्रवृत्ति की परम्परा

भरत-निरूपित प्रवृत्ति पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। उसके विवेचन के क्रम में भरत ने यह स्वीकार किया है कि नाट्य-प्रयोक्ताओं ने चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। अपने विचारों के समर्थन में किसी प्रसिद्ध नाट्य-प्रयोक्ता के विचारों का संग्रह भी अपने नाट्य शास्त्र में किया है।[१] वह अंश निश्चय ही मूल नाट्यशास्त्र का अंश नहीं, किसी पूर्ववर्ती आचार्य का ही कथन है। अतः भरत से पूर्व प्रवृत्ति-विवेचन की परम्परा थी। भरतोत्तर राजशेखर और भोज आदि आचार्यों को छोड़ अन्य आचार्यों ने प्रवृत्ति की उपयोगिता स्वीकार नहीं की, अनावश्यक मान उसका विवेचन नहीं किया।[२] प्रवृत्तियाँ परवर्ती आचार्यों द्वारा नाट्य लक्षणों की तरह अपेक्षा का भाजन बनी रहीं।

प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार

राजशेखर ने वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति तीनों का अन्तर स्पष्ट किया है। वृत्ति में तो शरीर के 'विलास-विन्यासक्रम', प्रवृत्ति में 'वेष-विन्यासक्रम' है और रीति में पदविन्यासक्रम का समाहार होता है।[३] वस्तुतः भरत की वृत्ति में ही परवर्ती आचार्यों की रीति का भी अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि वृत्तियों में भारती, वाग्व्यापार-प्रधान होती है। प्रवृत्ति तो मुख्यतः बाह्य वेशभूषा, भाषा और आचार-व्यवहार से सम्बन्धित है। वृत्ति के अन्तर्गत तो रीति और प्रवृत्ति के सब तत्त्वों का समावेश हो जाता है। इन तीनों में वृत्ति अधिक व्यापक है। मनुष्य-जीवन की अन्तर और बाह्य समस्त प्रवृत्तियाँ वृत्ति के अन्तर्गत समाविष्ट होती हैं।[४] राजशेखर के विचार के क्रम में ही भोज ने भी प्रवृत्ति को 'वेश-विन्यासक्रम' के रूप में स्वीकार किया है।[५] धनंजय

---

१. ना० शा० १४।३७ क।

२. तासामनुपयोगित्वान्नात्र लक्षणमुच्यते। र० सु० १।२६८ क।

३. काव्यमीमांसा, पृ० ६ (राजशेखर)।

४. In a way, Vritti comprehends both the Pravritti and Riti, for it is the name of the whole field of human activity.

—Bhoja's Singar Prakash, p. 201 (V. Raghavan).

५. शृङ्गारप्रकाश जिल्द सं० २, पृ० ४५६।

और शारदातनय दोनों ही आचार्य देश, वेष, भाषा और अन्य व्यवहारों के रूप में प्रवृत्ति को मान्यता देते हैं। प्रवृत्ति-विवेचन के प्रसंग में भरत की नाट्य-दृष्टि जैसी व्यापक है वैसी इन परवर्ती आचार्यों की नहीं। यहाँ तक कि विश्वनाथ ने प्रवृत्ति का स्वतंत्र रूप से विवेचन न कर केवल भाषा-विधान से ही संतोष किया है।[1]

चार ही प्रवृत्तियों का औचित्य

भरत ने चार प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। प्रवृत्तियों के आधार हैं विभिन्न प्रदेशों और अंचलों में प्रचलित भाषा, वेश, आचार एवं व्यवहार। इनकी विभिन्नता के आधार पर प्रवृत्ति के भी भेद अनगिनत न होकर चार ही हैं। इसके पर्याप्त कारण हैं। विभिन्न देश और अंचलों की अनेकरूपता के साथ बाह्य जीवन के ये चिह्न भाषा और वेशभूषा आदि भी तो नानारूपधरा हैं। परन्तु इस अनेकता के बीच भी उनमें परस्पर साम्य का एक सूत्र भी गुँथा रहता है। वे परस्पर एक-दूसरे से किसी अंश में भिन्न होकर भी एक ही होते हैं। इसी पारस्परिक साम्य को दृष्टि में रखकर चार ही प्रवृत्तियों का विधान किया गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्तर्गत कुछ ऐसे देशों की भाषा और वेशभूषा आदि की परिगणना की गई है, जो एक-दूसरे के निकट तथा बहुत अंश में अनुरूप है। वस्तुतः जितनी भिन्नताएँ वर्तमान हैं उन सबकी परिगणना सम्भव भी नहीं है। मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ तो बहुविध होती हैं। उन सब चित्तवृत्तियों का समाहार समान-लक्षणता के आधार पर कुछ प्रधान चित्तवृत्तियों के अन्तर्गत होता है। उसी प्रकार लोकप्रचलित विभिन्न प्रवृत्तियों में से कुछ का एक साथ वर्गीकरण समान-लक्षणता के आधार पर किया गया है। नाट्य तो मनोवृत्ति-प्रधान है, उसमें मनुष्य की मनोदशा को नाट्य रूप देना प्रधान उद्देश्य है। प्रवृत्तियाँ, भाषा और वेशभूषा आदि के द्वारा उसमें सहायक होती हैं। परन्तु अनगिनत बाह्य प्रवृत्तियों के चित्रण और वर्गीकरण में शक्ति और कला का उपयोग किया जाय तो चित्त-वृत्तियों का उत्तम अभिनय नहीं हो सकता। इसीलिए विभिन्नता के मध्य एकता का सूत्र प्रस्तुत करते हुए केवल चार प्रवृत्तियों का विधान भरत ने किया है।[2]

भरत-निरूपित प्रवृत्तियाँ

यह ध्यातव्य है कि भरत का यह प्रवृत्ति सम्बन्धी विभाजन भरत-कालीन भारत के भौगोलिक विभाजन तथा वेशभूषा-सम्बन्धी लोक-व्यवहारों पर आधारित है। कई जनपदों को मिलाकर एक बड़े भूभाग के लिए एक प्रवृत्ति का प्रधान रूप से उपयोग होता है, उसके द्वारा उस प्रवृत्ति की प्रधानता का सूचन हो जाता है। देश के किसी बड़े भूभाग में शृंगार की प्रधानता

---

१. (क) देश भाषा क्रियावेश लक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।
लोकादेवागम्यैताः यथोचित्यं प्रयोजयेत्। द० रू० २।६३-७१।
(ख) भा० प्र० १२, तथा पृ० ३१०-१३।
(ग) सा० द० ६।१६२।
(घ) ना० द० ४।

२. ननु किमित्ययं संक्षेप आदृतः, आह यस्माल्लोको बहुविध भाषाचारादियुक्तः कस्तं प्रतिपदं वक्तुं शक्नुयात् शिक्षितुमभ्यसितुं वा प्रयोक्तुं, द्रष्टुं वा, चित्तवृत्ति प्रधानं चेदं नाट्यमिति तदेवं वक्तुंन्यायम्। अ० भा० भाग २, पृ० २०७।

है तो किसी भाग में धर्म की। इन सब विभिन्न विशेषताओं से पूर्णतया प्रसाधित हो पात्र रंगमंच पर प्रस्तुत होता है। उसकी वेशभूषा, भाषा और व्यवहार आदि उसे अन्य पात्रों से विशिष्ट बना देते हैं। वस्तुत: वेष और भाषा आदि तो अवान्तर रूप से न केवल मनुष्य के देशभेद की ही अपितु स्वभाव आदि की भिन्नता का भी संकेत करते हैं। भरत-निरूपित चार प्रवृत्तियाँ निम्न-लिखित हैं।

दाक्षिणात्या, आवन्तिका, औड्रमागधी और पांचालमध्यमा।[१]

दाक्षिणात्या

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति श्रृंगार-प्रधान होती है। दक्षिण देशवासी नृत्त, गीत और वाद्य-प्रिय होते हैं, उनके आंगिक अभिनय चतुर, मधुर और ललित होते हैं।[२] दाक्षिणात्य देश के अन्तर्गत दक्षिण के सब देशों का समावेश होता है। महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल और पालमंजर पर्वतों के मध्य स्थित सारे देश दाक्षिणात्य हैं। कोसल, तोसल, कलिंग, यवन, खस, द्रमिल (द्रविड़), आन्ध्र, महाराष्ट्र और कृष्णापिनाकी के तटवर्ती देश भी दाक्षिणात्य के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं तथा विंध्या और दक्षिण समुद्र के मध्यवर्ती सारे प्रदेश दाक्षिणात्य ही हैं। वेशभूषा, भाषा, आचार और व्यवहार में इन प्रदेशवासियों में परस्पर बहुत साम्य है। इसलिए इन सबके लिए एक दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का विधान किया गया है।[३] इस प्रवृत्ति की सुकुमार-प्रियता का भरत की तरह ही अन्यत्र आचार्यों और कवियों ने भी प्रयोग किया है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति और वैदर्भी रीति में परस्पर बहुत साम्य है। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की नांदी में वैदर्भी रीति के समानान्तर वत्स गुल्मी शैली का उल्लेख किया है। वत्स गुल्म संभवत: विदर्भ की कोई प्राचीन राजधानी थी। राजशेखर ने काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या-वधू के विवाह की कल्पना विदर्भ देश की राजधानी वत्सगुल्म में की है।[४] विदर्भ प्रान्त दाक्षिणात्य के रूप में भी प्रसिद्ध रहा है। इस दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का उल्लेख कालिदास के मालविकाग्निमित्र के पंचम अंक में भी मिलता है। वहाँ देवी धारिणी ने पंडित कौशिकी को चुनौती दी है कि यदि उन्हें प्रसाधन शैली का अभिमान हो तो मालविका का श्रृंगार वैदर्भी नेपथ्य-विधि से करें। 'वैदर्भी-विवाह-नेपथ्य' शब्द दाक्षिणात्य वेशभूषा का ही सूचक है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में दाक्षिणात्यों की संगीत-विषयक सुस्वरता और ध्वनि की सहज रमणीयता का उल्लेख किया है।[५]

---

१. ना० शा० १२।३७ (गा० ओ० सी०)।

२. तत्र दाक्षिणात्यास्तावद बहुवृत्तगीतवाद्याः कैशिकी प्रायाः चतुरमधुर ललितांगाभिनयाश्च।
ना० शा० भाग २, पृ० २०७।

३. ना० शा० १२।३९-४१।

४. वच्छोमी नह मागही फुरदुखो सा किंपि पंचालिआ। कर्पूरमंजरी—१।१ तथा—तत्रास्ति मनोजन्मनः देवस्य क्रीडावासः विदर्भेषु वत्सगुल्मनाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयः ताम् औमेयीं गंधर्ववत् परिणिनाय। काव्यमीमांसा, पृ० १०।

५. न च दाक्षिणात्य गीत विषय सुस्वरनादिध्वनि रामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविध काव्य करणं सर्वस्य स्यात्। वक्रोक्तिजीवितम् प्रथम उन्मेष, पृ० ६६ (दिल्ली विश्वविद्यालय संस्करण)।

आवंतिका प्रवृत्ति

अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, दशार्ण, त्रिपुरा तथा मृत्तिकापुर-वासी पात्रों की भाषा, वेशभूषा तथा अन्य आचार-व्यवहार आदि आवन्तिका होती है।[१] अतः इन देशों के पात्र जब नाट्य-प्रयोग के क्रम में प्रस्तुत होते हैं तो इनकी भाषा और वेशभूषा तदनुरूप होती है। भरत ने अन्यत्र इसका विस्तृत विधान दिया है कि विभिन्न प्रदेशवासी पुरुषों और स्त्रियों की वेशभूषा का क्या स्वरूप होना चाहिये। आवन्तिका स्त्री का केशविन्यास कुन्तल केशों (घुंघराले केश) से प्रसाधन होना चाहिये। क्योंकि नाट्य-प्रयोग में देशज वेश अत्यन्त आवश्यक है।[२] आवन्तिका के प्रयोग के क्रम में सात्विकी और कैशिकी वृत्तियों का भी प्रयोग होता है। आवन्ती के धर्म एवं शृंगार-प्रधान होने के कारण इन दिनों वृत्तियों का समन्वय उचित है।[3]

औड्मागधी प्रवृत्ति

अंग, बंग, कलिंग, वत्स, औड्मागध, पौण्ड्, नेपाल, पर्वतों के बीच और बाहर के देश मलय, ब्रह्मोत्तर, प्राग् ज्योतिष, पुलिंद, विदेह और ताम्रलिप्त प्रदेश-वासी पात्र औड्मागधी प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं। इस प्रवृत्ति का प्रयोग पूर्वदिशा के अन्य प्रदेशवासियों द्वारा भी होता है। इसमें आडम्बर-प्रधान घटाटोप वाक्यों का प्रयोग प्रचुरता से होता है। अतः भारती और आरभटी वृत्तियों का भी समन्वय होता है।[४] प्राच्य देश की सीमा दक्षिण में समुद्र तटवर्ती प्रदेशों तक चली जाती है और उत्तर में मगध तक। दोनों के मध्य होने से औड्मागधी होती है, यह प्रवृत्ति आन्ध्र और कलिंग दोनों के लिए उपजीव्य है। निकटता के कारण दो प्रवृत्तियों का एकीकरण किया गया है। इनके अन्तर्गत जिन प्रदेशों की नाम-परिगणना हुई है, उनका उल्लेख किंचित् परिवर्तन के साथ पुराणों में भी मिलता है।[५]

पांचालमध्यमा प्रवृत्ति

पांचाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, वाह्लिक, काकल, मद्र, कुशीनर, हिमालयवासी और गंगा की उत्तर दिशा में आश्रित जनपद-वासियों के लिए पांचाल मध्यमा प्रवृत्ति उपयोगी होती है। इस प्रवृत्ति में सात्वती और आरभटी वृत्तियाँ विशेष रूप से उपादेय हैं।[६] भरत की दृष्टि से इन देशवासियों में गीत-प्रयोग की अल्पता के कारण कैशिकी का प्रयोग नहीं होता।[७]

---

१. ना० शा० १२।४२-४३ (गा० ओ० सी०)।

२. आवन्तियुवतीनां तु शिरः साऽलक्कुन्तलम्। ना० शा० २३।६७-६७ (का० सं०)।

३. ना० शा० १३।४४ (गा० ओ० सी०)।

४. वही १३।४५-४८।

५. टेक्स्ट ऑफ़ पौराणिक लिस्ट्स ऑफ़ पिपल्स : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २१, १९४५ तथा विश्वभारती पत्रिका जिल्द १, पृ० २५०।

६. ना० शा० १३।४९-५०, का० भा० १३।४३-४५, का० सं० १४।४७-४९।

७. ना० शा० १२।५१ ख।

प्रवृत्ति और पात्र का रंगमंच पर प्रवेश

भरत ने प्रवृत्ति के अनुसार ही पात्र के रंगमंच पर प्रवेश का भी विधान किया है। इसकी दो विधियाँ हैं। द्वार के अभाव में आवन्ती और दाक्षिणात्य पात्र दक्षिण पार्श्व से और पांचाल-मध्यमा तथा औड्रमागधी प्रवृत्ति के पात्र वाम पार्श्व से रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं। संभवतः यह विधान भी उनकी प्रवृत्ति-भिन्नता का परिचायक है। द्वार रहने पर अवन्ती और दाक्षिणात्य प्रवृत्ति के पात्र उत्तर दिशा के द्वार से और पांचाल और औड्रमागधी के पात्र दक्षिण द्वार से रंग-मंच पर प्रवेश करते हैं।[1] प्रवृत्तियों की इन विभिन्नताओं का प्रयोग नाट्य में ही होता है, पर गीत आदि में नहीं। गीत में इनका समन्वित प्रयोग होता है।[2]

देशभिन्नता : स्वभाव-भिन्नता का भी परिचायक

भरत ने इन प्रवृत्तियों के विभाजन और वर्गीकरण के माध्यम से नाट्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का संकेत किया है। नाट्य-प्रयोग चितवृत्ति-प्रधान है। उस चितवृत्ति की प्रधानता में वेशभूषा आदि का प्रयोग सहायक है। वेश एवं भाषा-भेद से देश-भेद और देश-भेद से स्वभाव-भेद को नाट्यायित करना भरत का मूल उद्देश्य है। स्वभाव-भिन्नता के आधार पर ही उद्धत या मृदुललित वृत्तियों का भी निर्धारण होता है। देश और स्वभाव-भिन्नता के अनुसार किसी पात्र में सुकुमारता और लालित्य की प्रधानता होती है तो किसी में वागाडम्बर की, किसी में सात्त्विकता की और किसी में युद्ध-प्रियता की। बहुत अंशों में इस स्वभाव-भिन्नता का कारण देश-भिन्नता भी है। पंजाबी प्रायः युद्धप्रिय होते हैं और बंगवासी कलाप्रिय मृदुल स्वभाव के। भरत की व्यापक नाट्य-दृष्टि के अनुसार नाट्य में देशगत यह स्वभाव-भिन्नता सदा सुनियोजित होनी चाहिये। अभिनवगुप्त ने भी इस विचार-तत्त्व का समर्थन किया है।[3]

भोज के प्रवृत्ति-हेतु

अन्य परवर्ती आचार्यों में भोज ने प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने वृत्तियों के विवेचन के क्रम में एक स्थान पर तो चार ही प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है और पंच संधियों के क्रम में पाँच प्रवृत्तियों की परिगणना की है। उनके द्वारा परिगणित नवीन प्रवृत्ति है पौरस्त्या, जिसका नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता। यह पौरस्त्या प्रवृत्ति पूर्व देशों का संकेत करती है। परन्तु पूर्व देशों का संकेत करने वाली औड्रमागधी प्रवृत्ति का भी उल्लेख भोज ने किया है और वह प्रवृत्ति नाट्यशास्त्र में भी परिगणित है। भोज ने राजशेखर की काव्यमीमांसा से ही प्रवृत्ति का संकलन किया है और वहाँ पांचालमध्यमा का उल्लेख है। संभव है पांचाली या पांचालमध्यमा के स्थान पर यह त्रुटिपूर्ण उल्लेख भोज ने किया है। पांचाली के स्वीकार करने पर प्रवृत्तियाँ भोज के अनुसार पाँच होती हैं।[4]

---

१. ना० शा० १३।५२-५४ (गा० ओ० सी०)।

२. ना० शा० १३।५१क (का० मा०)।

३. अनादिरयं देशभेदेन चित्तवृत्ति क्रमः। दृष्टो हि वस्त्राभरणात्मना देशभेदोचितः स्वभावभेदः।
—अ० भा० भाग २, पृ० २०६।

४. वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। साऽपि चतुर्धा। पौरस्त्या, औड्रमागधी दाक्षिणात्या आवंत्या च।
—शृंगार प्रकाश १२, पृ० ४५६-६०।

भोज के प्रवृत्ति-विधान की एक मौलिकता है। उन्होंने वेशभूषा की भिन्नता की अवस्थाओं का विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया है कि लोक में वेशभूषा केवल पात्र (व्यक्ति) की भिन्नता से ही परिवर्तित नहीं होती, अपितु, एक ही व्यक्ति (पात्र) की वेशभूषा अनेकानेक कारणों और अवस्थाओं से परिवर्तित होती रहती है। इन कारणों और अवस्थाओं की परिगणना तो संभव नहीं है। पर भोज ने चौबीस प्रवृत्ति-हेतुओं की परिगणना की है। देश, काल, पात्र, वयस्, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्याघात, विपरिणाम निमित्त, विहार, उपहार, छल, छंद, आश्रय, जाति, व्यक्ति और विभव आदि के कारण मनुष्य (पात्र) की वेशभूषा में (लोक में) अन्तर आता है। तदनुसार नाट्च-प्रयोग में भी उस लोकाचार का प्रयोग पात्र के लिए, भोज के अनुसार, उचित होता है।[1] नाटचशास्त्र में आहार्याभिनय के प्रसंग में भरत ने इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है कि वेशभूषा, भाव, रस, देश, अवस्था और वयस् आदि के अनुसार कथा-परिवर्तन होता है।[2]

प्रवृत्तियों का समन्वय

इन विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय नाटच-प्रयोग में नाटच-सभा, देश, काल और अर्थ-युक्ति के आग्रह से होता है। इससे नाटच-प्रयोग में सौन्दर्य का ही सृजन होता है। परन्तु समन्वय होने पर भी देश-भेदानुसार कुछ प्रवृत्तियाँ तो प्रधान होती हैं और कुछ गौण। जिन प्रवृत्तियों का विधान जिन विशिष्ट देशों के लिए किया गया है, उनका प्रयोग तदनुरूप ही अपेक्षित है।[3] यदि नाटिका का प्रयोग होता हो और नायक कश्मीर देश का हो तो भरत के प्रवृत्ति-विधान के अनुसार इन दोनों नाटिका और कश्मीरी नायक का समन्वय संभव नहीं है। नाटिका के कैशिकी-प्रधान रूपक होने के कारण दाक्षिणात्य नायक उसके लिए अधिक उपयुक्त होता है। नाटच-प्रयोग के क्रम में देश, काल और अवस्था आदि के अनुरूप प्रवृत्ति-विधान होने पर ही रसास्वाद संभव है। अन्यथा यथावत् सामंजस्य न होने पर तो नाटच की सारी परिकल्पना नीरस और अनुभूतिशून्य हो जाती है।[4] अतः प्रवृत्ति की प्रधानता को दृष्टि में रखकर उसी देश के नायक की भी योजना होनी चाहिये और पात्र की भी। क्योंकि प्रयोग-काल में बाह्य परिवेश और प्रतिभा के योग से ही पात्र प्रेक्षक के हृदय में भावानुप्रदर्शन करता है।

प्रवृत्ति-विधान में भरत के विचारों की मौलिकता

भरत ने कक्ष्याविधान द्वारा तो नाट्य-प्रयोग के दृश्य-विधान को रूप दिया है। लोक-जीवन प्रासादों, पर्वतों, नदियों, तटों, सरोवरों, खेतों और खलिहानों में फूलता-फलता है। नाट्य-प्रयोग की तदनुरूपता के लिए कक्ष्याविधान प्रस्तुत किया गया है। उसी भव्य पृष्ठभूमि पर नाट्य के पात्र अवतरित होते हैं। अवतरण-काल में वे किसी प्रदेश-विशेष के होते हैं, अतः देश, काल और अवस्थानुरूप उनका वेष-विन्यास, भाषा और आचार-व्यवहार का भी निश्चित विधान

---

१. शृंगार प्रकाश — १२। पृ० ४५६-६०।
२. ना० शा० २३। का० सं०।
३. येषुदेशेषु या कार्या प्रवृत्तिः परिकीर्तिता।
तदवृत्तिकानिरूपाणि तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत्॥ ना० शा० १३।५५-५६ (गा० ओ० सी०)।
४. देशादौचित्ये तच्चेष्टित व्यावर्तनेन प्रतीतिविघाताद्रसमयत्वाभावः। रसाश्च नाटयस्य प्राणाः। असत्यता शंका च विहन्यादेव समूलघातं प्रयोगम्। अ० भा० भाग २, पृ० २११।

प्रस्तुत किया गया है। उस रूप में प्रयुक्त होने पर ही वे पात्र रसानुग्राहक होते हैं। भरत का यह प्रवृत्ति-विधान नितान्त मौलिक चिन्तन का प्रतीक है। इसके द्वारा विभिन्न जनपदों में प्रचलित प्रवृत्तियों को समान-लक्षणता के आधार पर उनका समन्वय किया गया है। इस प्रकार चार ही प्रवृत्तियों के समन्वय के आधार पर समन्वयमूलक सभ्यता का जन्म हुआ है। विभिन्न प्रदेशों और जनपदों के बाह्य-जीवन की प्रवृत्तियों में विविधता तो थी पर उनमें भी एकता का एक दृढ़ सूत्र पिरोया हुआ था। ज्ञान और प्रेम का संदेश देते हुए भारतीय ऋषियों और चिन्तकों ने जहाँ समस्त मानव के लिए एकता की, समता की और मित्रता की उदात्त कल्पना की[1] वहाँ कला के माध्यम से भरत ने भारतीय जनपदों की सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण की कल्पना की थी।

प्रवृत्ति-विधान का ऐतिहासिक मूल्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भरतकाल से पूर्व ही प्रवृत्तियों की परंपरा प्रचलित थी। भरत ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। उस युग का नाट्य-प्रयोग इस दृष्टि से इतना समृद्ध था कि उसमें देशानुसार न केवल भिन्न वेष और आचार-व्यवहार का ही प्रयोग होता था अपितु भिन्न भाषाओं का भी प्रयोग होता था। भरत ने सात प्रधान भाषाओं का उल्लेख किया है। अतः प्रयोक्ता शिक्षित कलाविद् और निश्चय ही बहुभाषा-भाषी होते होंगे। नाट्य-रस का आस्वादन करने के लिए प्रेक्षक नाट्य-शास्त्र के ज्ञाता तो होते ही होंगे वे बहुभाषाविद् भी होते थे। भरत ने प्रवृत्ति-विधान द्वारा जनपदों की सभ्यता और संस्कृति के संगम की महत्त्वशाली कल्पना की है और उसका माध्यम है नाट्य-जैसी सुकुमार ललित कला। प्रवृत्ति के माध्यम से समस्त भारतीय जनपदों की विशेषताओं का, उनके व्यक्तित्व के सौरभ का सृजन करना है और नाट्य-प्रयोग की अन्तर्धारा के माध्यम से मनुष्य मात्र के हृदय में यह कला विश्रान्ति और विनोद का सृजन करती है, भरत की ऐसी ही व्यापक विराट् कल्पना है।[2]

---

१. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। यजुर्वेद ३६।१२।

२. विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। ना० शा० १।१२०ख (का० मा०)।

१८

लोकधर्मी : नाट्यधर्मी

लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का स्वरूप

रस, भाव और अभिनय आदि ग्यारह नाट्य-तत्त्वों के साथ भरत ने नाट्य-शास्त्र में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों की परिगणना एवं विवेचना की है।[1] लोकधर्मी नाट्यों में लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण होता है। उसमें विभिन्न भावों का संकेत करने वाली वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य-विधियों का समावेश नहीं होता है। जीवन को प्रकृत रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु नाट्यधर्मी नाट्यपरंपरा में सांकेतिक वाक्य, लीलांगहार, नाट्य में प्रचलित जनांतिक, स्वगत, आकाशवचन आदि रूढियाँ, शैल, यान, विमान, प्रासाद, दुर्ग, नदी एवं समुद्र आदि को सूचित करने वाली पद्धतियाँ, रंगमंच पर प्रयोज्य अस्त्र-शस्त्रों तथा अमूर्त्त भावों का संकेत करने वाली अनगिनत विधियाँ नाट्यधर्मी ही हैं। लोक का जो सुख-दुःख क्रियात्मक आंगिक, अभिनय होता है, वह भी नाट्यधर्मी ही है।

भरत-परिगणित लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों के विश्लेषण से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि भरत के काल में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपराएँ स्वतंत्र रूप में विकसित हो रही थीं। नाट्य-परंपरा पर एक ओर लोक-जीवन की सहज वृत्तियों का प्रभाव था तो दूसरी ओर सुसंस्कृत जीवन का परिष्कार और सौन्दर्य की कलात्मक अभिरुचि की रंगीन छाया का भी। नाट्यधर्मी नाट्य के रूप में तो अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास और हर्ष आदि नाट्य-कारों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। लोकधर्मी परंपरा के नाट्य का सुनिश्चित उदाहरण संस्कृत नाट्य-परंपरा में उपलब्ध नहीं होता। परन्तु दशरूपक के भेदों और उनकी परंपराओं के विश्लेषण से प्राचीन लोकनाट्यों के इतिहास के बिखरे धुंधले पृष्ठ उन्हीं में खोये मालूम पड़ते

---

१. रसाः भावाः ह्यभिनयाः धर्मी वृत्ति प्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वराः तथाऽनोधं गानं रंगश्च संग्रहः॥ ना० शा० ६।१० (गा० ओ० सी०)
तथा ना० शा० ६।२४ एवं १३वाँ अध्याय।

हैं। भाण, प्रहसन और सट्टक आदि भेद संभवतः उन्हीं प्राचीन लोकधर्मी लोक-नाट्यों के परिष्कृत रूप हैं।[1] सस्ता मनोविनोद और व्यंग्य का सृजन करना ही इनका प्रधान लक्ष्य था। इन लघु-नाटकों में जिस स्तर के पात्र होते हैं उनका संबंध प्राचीन जन-जीवन से अधिक था। पर शनैः-शनैः ये नागर जीवन का परिष्कार और संस्कार पाकर रूपकों की श्रेणी में आ मिले। यह स्मरणीय है कि नाट्यधर्मी परंपरा के नाट्य तो राज्याश्रय और नागरिकता की सुकुमार स्निग्ध छाया में पनपे, परन्तु मुस्लिम शासनकाल में प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण इनका विकास अवरुद्ध हो गया। पर जो लोकधर्मी नाट्य थे, जिनकी प्रेरणा का स्रोत ग्राम-जीवन की ग्राम्यता, सहजता और अकृत्रिमता थी, वे राजनीतिक वात्याचक्र और झंझावात के थपेड़ों को झेलकर भी पनपते ही रहे। बंगाल की यात्रा, असम की अंकिया, बिहार की कीर्तनिया, उत्तर भारत की रामलीला और रासलीला आदि लोक-नाट्य ही हैं। यद्यपि नाट्यधर्मी नाट्य का प्रभाव उन पर निरन्तर पड़ता रहा है।[2]

नाट्यधर्मी का स्रोत लोकधर्मी

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ भिन्न परंपराओं का संकेत करती हैं। परन्तु नाट्यधर्मी रूढ़ियों का भी मूल-स्रोत तो लोकधर्मी रूढ़ियाँ ही हैं।[3] इसी लोक-धर्मी मिट्टी से नाट्यधर्मी नाट्य के मधुर सुरभित पुष्प विकसित हुए हैं।[4] अतएव भरत ने नाट्य-प्रयोग के लिए अध्यात्म और वेद की अपेक्षा लोक को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।[5] नाट्यशास्त्र में नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह तो है पर उसकी वास्तविक प्रेरणा-भूमि और उसकी कसौटी लोकानुभूति ही है। लोकधर्मी नाट्यशास्त्रीय पद्धति की अनभिज्ञता, रंगमंच-निर्माण की विस्तृत विधियों से अपरिचय तथा वस्तुगत वैचित्र्य के अभाव में भी प्राचीन काल में भारतीय जनपदों की छाया में स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा था। ऋतु-उत्सव, विवाह, जन्म, अभ्युदय एवं अन्य मांगलिक अनुष्ठानों के अवसरों पर ग्रामों और नगरों में लोकनाट्यों के आयोजन होते थे। नगरों में आयोजित नाट्य-प्रयोग शास्त्रानुमोदित और सुसंस्कृत होते थे, ग्रामों के आयोजन शुद्ध और प्रकृत रूप में। भरत ने ग्रामों एवं नगरों में प्रचलित नाट्य की इन दो धाराओं को ही लोक एवं नाट्यधर्मी के रूप में परिगणित किया है। धनंजय और शारदातनय ने इसी जनपदीय एवं नागरिक नाट्य-परंपरा को 'मार्ग' और 'देशी' के रूप में उल्लेख किया है।[6] भाव-रस-समृद्ध अभिनय ही 'मार्ग' है और काललयाश्रित गात्र-विक्षेप-पूर्ण नृत्य 'देशी' है। 'भरत नाट्यम्' शास्त्रानुमोदित नृत्य का उत्तम उदाहरण है। गरबा, डोमकछ आदिवासी नृत्य 'देशी' के

१. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० ३४८।
२. श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, पृ० ७।
३. हजारीप्रसाद द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, पृ० २५-२६।
४. It is the soil where all great art is rooted.—Early Poems & Stories W.B. Rutts, London, 1925.
५. लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।
६. दशरूपक १।६, भावप्रकाशन पृ० २६५-६६।

उदाहरण हैं। मार्ग शब्द का प्रयोग दण्डी ने रीति के अर्थ में किया है।[1] शास्त्रीय मार्ग (रीति) पर विकसित नाट्य-परंपराएँ नाट्यधर्मी हुईं और देशी अथवा जनपदों की प्रकृत भाव-भंगिमा के रंग-विरंगे रूप को लेकर विकसित होती नाट्य-परंपरा लोकधर्मी हुई।

लोकधर्मी

भरत ने लोकधर्मी नाट्य-परंपराओं का समीकरण कर उनका विवरण समीचीन रूप में प्रस्तुत किया है। लोकधर्मी नाट्य प्रकृत, स्थायी और व्यभिचारी भावों से युक्त रहता है। इसमें कल्पना द्वारा कोई परिवर्तन प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यह शुद्ध एवं प्रकृत रूप में रहता है। अंगहार आदि आंगिक विलास-लीलाओं का प्रयोग नहीं होता। स्त्री एवं पुरुष पात्रों का प्रयोग तो प्रचुरता से होता है। लोकनाट्य में पुरुष ही पुरुष पात्र का अभिनय करते हैं, स्त्री द्वारा पुरुष का अथवा पुरुष द्वारा स्त्री का अभिनय नहीं होता।[2] अभ्यास और चेष्टा द्वारा नाट्य में शिल्प और कल्पना का नाट्यधर्मी संस्कार प्रस्तुत नहीं किया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार इस लोकधर्मी रूढ़ि के अनुसार कवि तो यथावत् वस्तु मात्र का वर्णन करता है, नट प्रयोग करता है। वहाँ स्वबुद्धि-कृत अनुरंजनकारी वैचित्र्य की कल्पना नहीं होती।[3] इसी दृष्टि से वह काव्य-भाग और प्रयोग-भाग लोकधर्माश्रित होता है। वस्तुतः काव्य और नाट्य दोनों में ही दो भिन्न परंपराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक परंपरा के अनुसार दोनों में ही लोकानुसारी प्रवृत्ति की और दूसरी के अनुसार दोनों में वैचित्र्य और रंजनकारी प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है।

नाट्यधर्मी

नाट्यधर्मी रूढ़ि लोकधर्मी रूढ़ि की अपेक्षा अधिक कल्पना-समृद्ध, वैचित्र्यपूर्ण और अनुरंजक होती है। काव्य-भाग और प्रयोग-भाग दोनों में ही परिष्कृत कवि-बुद्धि और प्रयोक्ता की समृद्ध कल्पना के चमत्कार और सौन्दर्य का योग होता है। भरत ने लोकधर्मी रूढ़ि की भाँति नाट्यधर्मी रूढ़ि के लिए कुछ निश्चित आधार और सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। निःसन्देह इस आधार-निरूपण और सिद्धान्त-विधान में उन्होंने परंपरा से प्रचलित काव्य और नाट्य-प्रयोग की सुदीर्घ धारा का विश्लेषण उपस्थित किया है।

लोकवृत्त और स्वभाव में नवीन कल्पना

इतिहास-पुराण आदि के प्राचीन वृत्तों को यथावत् न प्रस्तुत कर, उनका अतिक्रमण करके उचित अनुरंजनकारी कल्पनात्मक क्रिया का प्रयोग होता है, पुरानी घटनाएं अधिक आकर्षक, रोचक और रमणीय रूप में प्रस्तुत होती हैं तो नाट्यधर्मी रूढ़ि होती है। कालिदास की

---

१. काव्यादर्श, दण्डी १।

२. स्वभाव भावोपगतं शुद्ध तु प्रकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम्।
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषात्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु स्मृता। ना० शा० १३।७१-२ (गा० ओ० सी०)।

३. यदा कविर्यथा वृत्तवस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुक्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रंजनावैचित्र्यं, तत्रानुप्रवेशयंस्तदा तावात् स काव्यभागः प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रयः तत्र धर्मी। अ० भा० द्वि० भाग, पृ० २१५।

शकुन्तला, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान की शकुन्तला की अपेक्षा कहीं अधिक सुकुमार, रमणीय और मन-भावन है। शकुन्तला की यह परम रमणीय मूर्ति कालिदास की कल्पना-प्राण सरस तूलिका की सृष्टि है। कहाँ महाभारत की धृष्ट तापस बाला और कहाँ कालिदास की मानस-हंसिनी-सी सुन्दर, सलज्जा, सुकुमार, मुग्धा वह मुनितनया !

पात्रों के स्वभाव और चित्तवृत्ति आदि जिस रूप में परंपरा से गृहीत होते आये हैं, उनका अतिक्रमण करके उसमें नवीन कल्पना-विन्यास द्वारा चित्तवृत्ति भिन्न रूप में प्रस्तुत होती है। तापसवत्सराज में विदूषक की चंचल मनोवृत्ति के प्रतिकूल वत्सराज ने उसमें मंत्रिजनोचित गांभीर्य और अवहित्था की योजना की है। इसी नाटक में वत्सराज की पत्नी स्त्री-स्वभावानुरूप प्राकृत भाषा के स्थान पर संस्कृत का प्रयोग करती है। इसमें कल्पना द्वारा सत्व या मनोवृत्ति का अतिक्रमण होता है।[1]

लक्षण-युक्तता और अभिनय में मनोहारिता

कल्पनाशील काव्य-भाग और प्रयोग-भाग दोनों में ही नाट्यधर्मी प्रभाव के कारण नाट्य के समस्त लक्षण वर्तमान रहते हैं, उन लक्षणों से सुशोभित आंगिक आदि अभिनयों को शोभा-प्रधान मनोहारी अंगहार आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यधर्मी रूढ़ि में शास्त्रीय विधियों से संपन्न अभिनय सुचारु और अधिक रोचक होता है। नाट्य का काव्य-भाग और प्रयोग-भाग यथावत् रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। आवश्यकतानुसार वाचिक अभिनय के प्रसंग में, उसमें स्वरों के हृदयग्राही रागयुक्त आरोह-अवरोह तथा अलंकारों की मधुर योजना होती है।[2]

पात्रों की भूमिका में विपर्यय

नाट्यधर्मी विद्या के अनुसार पात्रों की भूमिका में भी विपर्यय होता है, पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका में और स्त्री पात्र पुरुष की भूमिका में रंगमंच पर अवतरित होते हैं। इस विपर्यय-प्रणाली के अनुसार पुरुष पात्र और स्त्री पात्र न केवल अपनी वेषभूषा, भाषा, अंगों की उद्धत या सुकुमार लीला का ही परस्पर विपर्यय करते हैं अपितु प्रयोग-काल में परस्पर स्वभाव का भी त्याग कर दूसरे के स्वभाव में समाविष्ट हो रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं।[3]

लोक-प्रसिद्ध द्रव्य का प्रयोग

संसार में विविध सामग्रियाँ, आचार, व्यवहार और कर्म के दर्शन होते हैं। इन प्रसिद्ध द्रव्यों का प्रयोग इच्छा या मूर्तिमान प्रतीकों के रूप में होता है, वह नाट्यधर्मी रूढ़ि के अनुसार ही। 'माया पुष्पक' नाटक में ब्रह्मशाप के प्रवेश की मूर्त कल्पना की गई है।[4] परन्तु ब्रह्मशाप तो एक क्रिया है, जिसका प्रयोग कायवत् होता है। इसी प्रकार रंगमंच पर कथावस्तु के आग्रह से

१. अतिवाक्य क्रियोपेतमतिसत्वातिभावकम्। ना० शा० १३।७३क (गा० ओ० सी०)।

२. लीलांगहाराभिनयं नाट्य-लक्षण-लक्षितम्। ना० शा० १३।७३ख (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १३।७४क (गा० ओ० सी०)।

४. अ० भा० भाग २, पृ० २१६।

यदि एक पात्र के मार्ग में एक पर्वत आ जाता है और वह इस बाधा का वाक्य में यों प्रयोग करता है—'सामने यह पर्वत खड़ा है, कैसे आगे बढ़ूँ', तो सचमुच वहाँ पर्वत तो रंगमंच पर नहीं रहता परन्तु कक्ष्याविधान की पद्धति से इच्छा या काय-रूप में उसका आभास प्रेक्षकों को होता है और वह नाट्यधर्मिता से ही। अभिनवगुप्त के मतानुसार लोक में जो क्रियाएँ इच्छारूप में ही रहती हैं, वे कला, शिल्प आदि के आकलन से मूर्त रूप में रंगमंच पर प्रयुक्त होती हैं।[1]

आसन्न वचन का अश्रवण और अप्रयुक्त वचन का श्रवण

लोक-परंपरा और नाट्य-परंपरा में कभी-कभी विलक्षण विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। लोक में आसन्न व्यक्ति के उच्चरित वचन का लोग श्रवण करते हैं, अनुच्चरित वचन का श्रवण नहीं करते। परन्तु नाट्य-प्रयोग के संदर्भ में कथावस्तु के आग्रह से आसन्न पात्र के उच्चरित वचन को दूसरे पात्र श्रवण नहीं करते, इसके लिए 'जनांतिक' और 'अपवारित' जैसे विचित्र नाट्य-शिल्प का प्रयोग होता है। दूसरी ओर कथावस्तु के आग्रह से ही अप्रयुक्त वचन को पात्र सुन लेते हैं, आकाशभाषित की योजना इसी विधि के अनुसार होती है। इस प्रकार की नाट्य-रूढ़ियाँ कथावस्तु और मनोविनोद दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी होती हैं।[2]

शैल, यान, विमान और आयुध आदि का प्रयोग

कथावस्तु की विकास-भूमि तो यह नाना रूपधरा धरित्री है। उसी परिवेश में उसका पूर्ण विकास होता है। रंगमंच पर कथावस्तु अपने समस्त परिवेश के साथ प्रस्तुत हो, यह भरत की कल्पना है। परन्तु रंगमंच की तो अपनी परिसीमा है। उस पर पर्वत, यान-विमान और आयुध आदि का प्रकृत रूप में प्रयोग तो संभव नहीं है। इसलिए भरत ने इन लौकिक वस्तुओं के लिए प्रतीकात्मक प्रयोग का विधान भी प्रस्तुत किया है। कहीं पात्र की विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं द्वारा इन भौतिक पदार्थों का बोध होता है। कहीं इन भौतिक पदार्थों के मानवीकरण के माध्यम से प्रयोग होता है, प्रेक्षक को तद्वत आभास भी होता है। शैलयान आदि का मूर्तिमत् प्रयोग तो नाट्यधर्मी रूढ़ि द्वारा संपन्न होता है।[3]

एक पात्र का एक से अधिक भूमिका में प्रयोग

भरत के निर्देशानुसार एक पात्र एक से अधिक भूमिका में अभिनय का प्रयोग करता है। उसके दो कारण हैं, एक तो पात्र की अभिनय-कुशलता और दूसरे पात्रों की न्यूनता। इन दो कारणों से कुशल प्रयोक्ता पात्र एक से अधिक भूमिका में नाट्यधर्मी रूढ़ि के अनुसार ही अवतरित होते हैं। संभव है कि भरत के काल में यह परंपरा भारतीय नाट्य-प्रयोग में प्रचलित हो कि एक ही पात्र एकाधिक भूमिका में भाग लेता हो।[4]

---

१. ना० शा० १३।७५ (गा० ओ० सी०)।

२. आसन्नोक्तं च तद्वाक्यं न शृण्वंति परस्परम्।
अनुक्तं श्रूयते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ ना० शा० १३।७६ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० १३।७७ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० १३।७८ (गा० ओ० सी०)।

सामाजिक मान्यता और नाट्य-प्रयोग की भूमिका में स्त्री पात्र

नाट्य-प्रयोग के क्रम में ऐसी स्त्रियाँ भूमिका में अवतरित होती हैं, जिनका कथावस्तु में प्रयुक्त उच्च श्रेणी के पात्र के साथ विवाह-सम्बन्ध शास्त्रनियमानुसार तो निषिद्ध है। परन्तु वह शास्त्रानुमोदित स्त्री-पात्र का अभिनय करती है। इसी प्रकार विपरीत परिस्थिति में उच्च-श्रेणी की नारी (-पात्र) विवाह सम्बन्ध के लिए शास्त्रानुमोदित होने पर निषिद्ध नारी की भूमिका में अवतरित होती है। लोक एवं शास्त्रानुसार तो दोनों ही संभव नहीं हैं, पर नाट्य-प्रयोग के अनुरोध से दोनों बातें संभव हो जाती हैं।[1] इससे उस काल के सामाजिक इतिहास पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। धर्म-नियम और सामाजिक परंपराओं की कठोरता के विरोध में नाट्यकला का संघर्ष चल रहा था। इसके परिणाम भी बहुत स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। पतंजलि काल आते-आते नाट्याचार्यों और नाट्य-प्रयोक्ताओं को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था।[2]

अंगों का ललित विन्यास

सामान्य पाद-प्रचार के विपरीत नाट्य-प्रयोग में पात्र ललित अंगविन्यास और भाव-समृद्ध चरण-विन्यास करते हैं। अंगों के लालित्य से नृत्य संपन्न होता है और भावपूर्ण चरण-विन्यास द्वारा रंगमंच पर संचरण। पात्र का प्रत्येक चरण-विन्यास उसकी सुख-दुःखात्मक मनोदशा को मूर्तता प्रदान कर अनुभवगम्य बनाता है। यह तो नाट्यधर्मी रूढ़ि द्वारा ही संपन्न हो पाता है। अंगों के लालित्य के साथ नर्तन और भाव-समृद्ध चरण-विन्यास आदि तो नाट्य के प्राण हैं।[3]

लोकस्वभाव और आंगिक आदि अभिनय

मनुष्य मात्र का स्वभाव सुख-दुःखात्मक है, और तदनुरूप उसकी चेष्टा भी तो उभयात्मक ही होती है। मानव के उस प्रकृत सुख-दुःखात्मक स्वभाव को आंगिक अभिनय तथा विविध वाद्यों से समन्वित कर प्रस्तुत किया जाता है, वह भी नाट्यधर्मी रूढ़ि होती है, क्योंकि लोक-व्यवहार में शास्त्रीय नियमों के आधार पर अपना सुख-दुःख तो नहीं प्रकाशित करते, परन्तु नाट्य-प्रयोग-काल में उनका सुख-दुःख अभिनय और आतोद्य आदि के योग से निष्पन्न होता है।[4]

रंगपीठ पर कक्ष्याविभाग

रंगपीठ पर दृश्य-विधान (कक्ष्याविभाग) की सारी प्रक्रिया नाट्यधर्मी द्वारा ही संभव हो पाती है। वस्तुतः कक्ष्याविभाग के अन्तर्गत निर्दिष्ट सारी प्रक्रिया ही नहीं अपितु नाट्यधर्मी समस्त विधियों का सार है, क्योंकि कक्ष्याविभाग की विधियाँ और अन्य अभिनय-प्रकार तो बहुत बड़े अंश में कृत्रिम पर नाट्य-शिल्प के कौशल हैं। चित्राभिनय का समस्त संकेतात्मक अभिनय नाट्यधर्मी विधि द्वारा संपन्न हो जाता है।[5]

---

१. ना० शा० १३।७९ (गा० ओ० सी०)।
२. पातंजल महाभाष्य, आख्यातोपयोगे—सूत्र पर भाष्य। १।४।२९।
३. ललितैः अंगविन्यासैः तथोत्क्षिप्त पदक्रमैः।
नृत्यते गम्यते चाऽपि नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ ना० शा० १३।८० (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० १३।८१ (गा० ओ० सी०)।
५. ना० शा० १३।८३ (गा० ओ० सी०)।

नाट्यधर्मी रूढ़ि और राग का प्रवर्तन

प्रयोग-काल में प्रकृत रूप को त्यागकर नाट्यधर्मी-प्रवृत्त नाट्य का प्रयोग उचित होता है। इसी रूप में सामान्य स्थिति को भी अभिनय द्वारा पात्र रोचक, आकर्षक और मनभावन रूप देते हैं। इस अभिनय-प्रणाली द्वारा ही सामाजिकों के हृदय में राग की प्रतीति होती है।[1] अतः लोक के प्रकृत सुख-दुःख की अभिव्यक्ति नाट्य-प्रयोग द्वारा संपन्न होती है, वह नाट्य-प्रयोग तो अभिनय ही है और अभिनय में राग निहित रहता है।

वस्तुतः मनुष्य के सहज भावों को अभिप्राय विशेष से अभिनय का रूप दिया जाता है। आंगिक चेष्टा और अलंकारों के योग से इन सहज भावों में रागात्मकता-रसमयता का संचार होता है। अभिनय का एकमात्र प्रयोजन निश्चित रूप से सामाजिकों के हृदय में राग-रस का अभिश्रवण ही है। मनुष्य मात्र के सहज भाव तो लोकधर्मी हैं, परन्तु वे उपेक्ष्य नहीं हैं, वे नाट्यधर्मी रूढ़ियों के लिए उसी प्रकार आधार के रूप में काम करते हैं। जैसे चित्र के लिए भित्ति की आवश्यकता है उसी प्रकार नाट्यधर्मी का भी विकास लोकधर्मी के आधार पर होता है।[2]

लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का महत्त्व

इन दो प्रकार के धर्मियों की परिकल्पना करके लोक-नाट्य और कलात्मक नाट्य दोनों का समाहार हो जाता है। लोकजीवन की परम्परा, उसका सहज सुख-दुःख, हर्ष, शोक आदि को रागोत्तेजक रूप में प्रस्तुत करने के लिए उनमें आंगिक अभिनय, वाक्याभिनय, अलंकार और चेष्टा आदि में अधिक कौशल और परिष्कार की आवश्यकता होती है। नितान्त प्रकृत रूप में प्रस्तुत होने पर नाट्य-प्रयोग में न सौन्दर्य का विधान होगा और न जीवन का प्रभावशाली रूप ही चित्रित हो पायेगा। इसलिए भरत का यह निश्चित विचार है कि समस्त अभिनय विधाओं की योजना नाट्यार्थ को लक्ष्य कर होती है, उसका सहजभाव अभिनय-संपन्न होना चाहिए, तभी उनसे राग का उद्भव होता है। यह नाट्यधर्मिता अभिनय ही नहीं, रंगमंच की अन्य विधियों की भी प्राणमयी शक्ति है।[3] परन्तु अभिनय के प्रयोग में जो आपाततः कृत्रिमता और कुशलता का योग रहता है, उसमें भी प्रच्छन्न रूप से प्रयोग को अधिकाधिक लोकानुरूप और यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प वर्तमान रहता है। लोकधर्मी नाट्यविधियों का परिष्करण इतना ही हो कि सामाजिक के हृदय में राग की प्रतीति हो। लोकधर्म और उसकी सहज प्रवृत्तियां नाट्यधर्मी विधाओं के प्रयोग के लिए आधार प्रस्तुत करती हैं। इसी लोकधर्मिता की सहज भाव-भूमि पर परिष्कार संस्कार और सौन्दर्य-बोध को महत्तर संकल्प के साथ नाट्यधर्मी प्रवृत्ति का अभ्युदय होता है। और इस दृष्टि से सचमुच ही नाट्यधर्मी विधा की परिकल्पना भरत की नाट्य-प्रयोग

---

१. नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
नह्यंगाभिनयादृते किंचित् रागः प्रवर्तते ॥ ना० शा० १३।८४ (गा० ओ० सी०)।

२. तस्मात् सर्वस्य सम्बन्धी सहजो भावोः लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्या सहज-संवादिकर्मणः। अ० भा० भाग २, पृ० २१२।

३. यस्मात् कविगता नाट्यगता वागलंकार निष्ठा नाट्यधर्मी रूपा सर्वप्राणवती।
अ० भा० भाग २, पृ० २१८

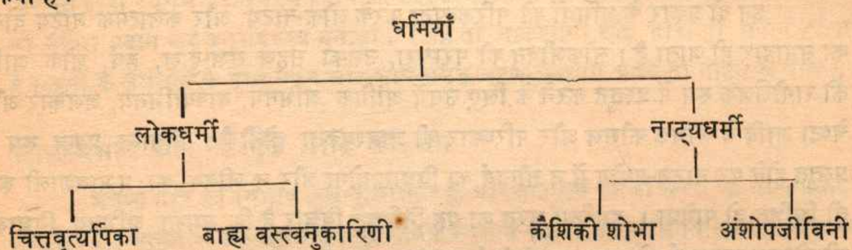
बुद्धि की वैभवशाली कल्पना है, जिसमें समस्त नाट्य-प्रयोग को रसमय-रागमय रूप देने का प्राणवान् संकल्प है।[१]

आचार्यों की मान्यताएँ

भरतोत्तर आचार्यों की दृष्टि प्रयोगात्मक न होने के कारण स्वभावतः धनंजय आदि आचार्यों ने नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियों का विचार नहीं किया है। रामकृष्ण कवि महोदय ने भरतकोष में वेमभूपाल, कुंभ और संगीतनारायण के मतों का आकलन किया है, परन्तु उनके विचारों में किसी प्रकार की नूतनता नहीं, भरत के विचारों की पुनरावृत्ति मात्र है।[२]

धर्मियों के नवीन भेद

'नाट्यशास्त्र संग्रह' में प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में संक्षेप में मौलिक रूप से विवेचन किया गया है। चार ही श्लोकों में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी विषय का क्रमबद्ध विवेचन है, परन्तु उसकी मराठी टीका में विषय का विवेचन विस्तार से किया गया है। लोकधर्मी और नाट्यधर्मी विधाओं की प्रधान विशेषताओं को दृष्टि में रखकर उनका निम्नांकित रूप में विभाजन किया है :



लोकधर्मा रूढ़ि के दो भेदों के अन्तर्गत जिन दो भेदों का कथन किया गया है उनमें से एक के अन्तर्गत मनुष्य के सुख-दुःखात्मक स्वभावों के प्रकृत अभिनय का विधान होता है। अन्तर की चित्तवृत्तियों का प्रस्फुटीकरण होता है। दूसरा भेद बाह्य वस्तुओं का संकेतक है। मनुष्य के जीवन के चारों ओर प्रकृति की सुन्दरता, सरोवरों की स्वच्छता और कमलों का रंगबिरंगा नयनाभिराम रूप सौन्दर्य का प्रसार करते हैं, उसकी ओर संकेत होता है।[३] मनुष्य की अन्तर्वृत्ति तथा उसके जीवन का बाह्य परिवेश दोनों ही लोकधर्मी नाट्य-प्रक्रियाओं द्वारा प्रयुक्त होते हैं। नाट्यधर्मी के प्रथम विभाजन 'कैशिकी शोभा' की प्रक्रिया द्वारा अंगों का विलास, हस्त एवं पाद-प्रचार, गीत एवं नृत्य आदि का प्रयोग होता है। अंशोपजीविनी नामक नाट्यधर्मी के दूसरे भेद

१. यानि शास्त्राणि ये धर्माः यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्म प्रवृत्तानि नाट्यमित्यभिधीयते ॥ कुंभ (भरतकोष), पृ० ७६१।

२. भरतकोष वेमभूपाल, पृ० ६२६, ८६६; तथा ना० शा० १३।७३-८५।
संगीतनारायण, पृ० ८६५ (भरत कोष)।

३. चित्तवृत्यार्पिका म्हणिजे मनाभाजि आहे त्या अर्थास प्रगट करवणारी जे ते चित्तवृत्त्यार्पिका म्हणबिते वाह्य वस्त्वनुकारिणी म्हणिजे बाहेर दिसुम् यायवाचे जे पदार्थ कमलादिक त्यासादिखें वे अभिनय दारवणें त्यास वाह्यवस्त्वनुकारिणी म्हनू नांवे।
—नाट्यशास्त्र संग्रह, मराठी टीका से उद्धृत, पृ० २७ (१९५९ तंजौर संस्करण)।

द्वारा ही कक्ष्याविभाग, प्रासाद, पर्वत, शैल यान, आदि की विविध मुद्राओं द्वारा इच्छानुरूप या कायवत् प्रयोग होता है। क्योंकि इनका प्रयोग रंगमंच की परिसीमा के कारण पूर्णतः कदापि संभव नहीं है, इसलिए इनका अंशतः ही प्रयोग होता है, पर उसी के द्वारा उनकी सूचना दृश्य-रूप में रंगमंच पर हो जाती है। अतः वह 'अंशोपजीविनी' नाट्यधर्मी रूढ़ि होती है। मराठी टीकाकार उटके गोविन्दाचार्य ने लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रूढ़ियों का अन्तर भी स्पष्ट किया है—वाचिक अभिनय में वाक्य-प्रयोग तो लोकधर्मी है, पर गान नाट्यधर्मी है। इसी प्रकार जनांतिक और अपवारित विधियाँ नाट्यधर्मी हैं। आहार्य के अभिनय के अतर्गत अलंकारों का परिधान तो लोकधर्मी है, परन्तु पाद-प्रचार मात्र द्वारा शैल-यान विमान आदि पर आरोहण नाट्यधर्मी है। सात्विक अभिनय में अश्रु का प्रदर्शन मात्र तो लोकधर्मी है पर भाव-भंगिमा और मुद्राओं द्वारा उसकी व्यंजना नाट्यधर्मी है।

यद्यपि यह विभाजन और विचार की शैली नितान्त नवीन नहीं है, क्योंकि भरत के द्वारा निर्दिष्ट दोनों धर्मियों के निहित विचार-तत्त्व में इनका समावेश हो जाता है। निस्संदेह मराठी टीका का उपवृंहण विषय की स्पष्टता की दृष्टि से अत्यन्त समीचीन और महत्त्वपूर्ण है।

लोकधर्मा और नाट्यधर्मी रूढ़ियों की स्वतंत्र उपयोगिता और महत्ता प्रतिपादित करने पर भी भरत का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट है कि लोकधर्मी रूढ़ियाँ ही नाट्यधर्मी रूढ़ियों के लिए आधार प्रस्तुत करती हैं। नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विकास लोकानुभूति और लोकाचार से ही होता है। वस्तुतः लोकधर्मी रूढ़ियाँ नाट्यधर्मी के लिए चित्राधारवत् हैं।

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः ।
लोकधर्मं प्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥

दशम् अध्याय

नाट्य की उपरंजक कलाएँ

१. गीत-वाद्य
२. नृत्य

१९

गीत-वाद्य

नाट्य में गीत-वाद्य का संतुलित प्रयोग और परम्परा

भरत की दृष्टि में नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत-वाद्य का महत्त्व है। वह इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि उक्त विषय का विस्तृत विवेचन भरत ने नाट्यशास्त्र के छः-सात अध्यायों (२८-३४) में किया है। नाट्य-प्रयोग के प्रथम चरण 'पूर्वरंग' का मंगलारंभ गीत एवं नृत्य से होता है। नाट्य-प्रयोग के मध्य गीत-प्रयोग का विधान तो है ही, प्राचीन भारतीय नाटकों में अंक के आरंभ और अन्त भी गीतों की मधुरलय से रससिक्त रहते हैं। भरत की दृष्टि गीत-प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यन्त संतुलित एवं स्पष्ट है। वे गीत-वाद्य को नाट्य-प्रयोग का अंग मानते हैं, उसकी सफलता का सहायक मात्र। गीत और वाद्य नाट्य-प्रयोग में अलातचक्र की तरह मिले रहते हैं।[1] वाद्य-भांडों एवं वीणा आदि का वादन इस संतुलन के साथ होता है कि उनकी स्वर-योजना में नाट्य-प्रयोग भाव-समृद्ध और रसानुग हो जाता है न कि उसमें ही नितान्त अन्तर्लीन हो जाता है। नाट्य-प्रयोग में 'गीत-वाद्य के महत्त्व' पर इस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि भरत मूलतः नाट्य-प्रणेता थे। गीत को नाट्य-प्रयोग का अंग मानकर ही उसका विधान नाट्य-प्रयोग के सहायक अंग के रूप में उन्होंने किया है। भरत की इस मान्यता का स्पष्ट परिचय पूर्वरंग-विधान के प्रसंग में हमें मिलता है। वहाँ पर गीत एवं नृत्य का विधान करते हुए यह उन्होंने प्रतिपादित किया है कि नाट्य की भावधारा में रागात्मकता के संचार के लिए इनका प्रयोग होता है। अतः जहाँ गीत और वाद्य नाट्य-प्रयोग को शक्ति और गति नहीं देते, वहाँ इनका प्रयोग अपेक्षित नहीं है। गीत-वाद्य-नृत्त का अतिशय प्रयोग होने पर प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों खेद अनुभव करते हैं और भाव एवं रस अस्पष्ट हो जाते हैं। गीतों का प्रयोग भाव-रस के प्रकाशन के लिए होता है।

१. एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम्।
अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्योक्तृभिः। ना० शा० २८। ७ का० भा०

पर गीतों के अतिशय प्रयोग होने पर तो वह नाट्य-प्रयोग 'रागजनक' न होकर 'खेदजनक' ही हो जाता है।[१] नाट्य में गीत-प्रयोग के सम्बन्ध में भरत का यह संतुलित सिद्धान्त है।

भारतीय नाट्य में गीत-वाद्य की परंपरा

भारतीय नाट्य-परंपरा भी नाट्य में गीत-वाद्य के प्रयोग का समर्थन करती है। नाट्य में राग का संचार करने के लिए गीत-वाद्य का प्रयोग न केवल आरंभ और अन्त में अपितु मध्य में भी होता रहा है। कालिदास के तीनों नाटकों में गीतों का प्रयोग किया गया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल की प्रस्तावना में ग्रीष्म ऋतु को लक्ष्य कर नटी गीत प्रस्तुत करती है। हंसपदिका कल-विशुद्ध गीत की स्वर-साधना करते हुए राजा को उलाहना देती है। विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक में गेय पदों की प्रचुरता है, मालविकाग्निमित्र में मालविका छलिक का प्रयोग गीत के माध्यम से ही करती है।[२] रत्नावली में द्विपदिका का गायन दो नारी-पात्रों द्वारा होता है।[3] मृच्छकटिक में रेभिल के रागयुक्त तार-मधुर, सम एवं स्फुट गीत की मनोहारिता में चारुदत्त का मन डूब जाता है।[४] संस्कृत एवं प्राकृत के नाटकों में गीत का प्रभाव स्पष्ट है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के प्रसिद्ध मैथिली नाटक 'पारिजातहरण' में उमापति ने अनेक मधुर गीतों की योजना की है।[५] नाटकों में गीतों द्वारा मनुष्य की रागवृत्ति के प्रसार की परंपरा, पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का पर्याप्त प्रभाव होने पर भी, हिन्दी नाटकों में अब भी वर्तमान है। हिन्दी के आधुनिक नाटककार प्रसाद, प्रेमी, रामकुमार वर्मा, बेनीपुरी एवं माथुर आदि के नाटकों में गीतों की कोमल ललित स्वर-लहरी, कभी इतिहास-रस, कभी देशभक्ति और कभी भाव एवं रस का समृद्ध वातावरण प्रस्तुत करती है।[६] नाट्य-प्रयोग में गीत-वाद्य एवं नृत्त की संतुलित योजना भारतीय नाट्य-परंपरा की एक अपनी विलक्षणता रही है, जो इब्सन और बर्नार्डशॉ के प्रभावों के बावजूद

---

१. कार्यो नातिप्रसंगोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः।
खेदो भवेत् प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकानां तथैव च।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते॥
ततः शेष प्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्। ना० शा० ५।१५८-६० (गा० ओ० सी०)।

२. अ० शा० अंक १।३।४, ४।१; विक्रमोर्वशी अंक ४।७; मालविकाग्निमित्र अंक २।४

३. रत्नावली अंक १।१३-१५

४. मृच्छकटिक अंक ३।१-४ (रक्तं च तारमधुरं च समं स्फुटं च)।

५. उमापति-पारिजातहरण (संपादक जॉर्ज ग्रियर्सन), पृ० १; गीतसंख्या १, ४, ५, ७, ८, ११, १२, १३ आदि।

६. चन्द्रगुप्त, पृ० ५४, ५५-५६; २।८६, १०६, १११; ४।१५३, १५६, १६१, १६२-६३।
स्कन्दगुप्त-अंक १, पृ० १६, २३, ३६, ४०, ४४, ५१, ६३, ८२, ८७, ६५, ४; पृ० १०६, १३० ५।१३१, १३६, १३६, १४३।
आन का मान (हरेकृष्ण प्रेमी—संवत् २०१८), पृ० २६, ४६, ६३।
अम्बपाली (श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी), पृ० १, ५१, १३६, १५२।
कौमुदी महोत्सव (रामकुमार वर्मा) पृ० ३६, (रंगसप्तक संग्रह के अनुसार), शैलशिखर।
भोर का तारा (जगदीशचन्द्र माथुर), तथा—प्रेमी—स्वप्नभंग; लक्ष्मीनारायण—मड़वे का भोर; पन्त—अप्सरा; दिनकर—उर्वशी; उदयशंकर भट्ट—कालिदास, मत्स्यगंधा आदि।

आधुनिक भारतीय नाट्य से सर्वथा मिट नहीं सकी है। स्वयं पाश्चात्य नाट्य-शैली के विचारकों ने नाट्य-प्रयोग में गीत के महत्त्व को स्वीकार किया है। ओपेरा तो गीति-प्रधान नाट्य का समान-धर्मा है। परन्तु अन्यत्र भी गीत का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके विचार से गीत की योजना इस कुशलता से हो कि प्रेक्षक यह अनुभव करे कि नाट्य के राग-प्रभाव सृजन में गीत भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।[1]

गीत-वाद्य के प्रवर्तक भरत के पूर्ववर्ती आचार्य

भरत का गीत-वाद्य-विधान पर्याप्त विस्तृत है। संभव है उनसे पूर्व भी संगीताचार्यों की परंपरा रही हो। भरत ने स्वाति, नारद और तुम्बरू आदि आचार्यों की परम्परा का उल्लेख किया है।[2] भरत ने उनका आकलन कर शास्त्रीय रूप दिया है और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। सप्त स्वर, रसानुसार स्वर-योजना, वर्ण और अलंकार, ताल-लय और यति की महत्ता, ध्रुवा का स्वरूप और भेद, वाद्य के प्रकार और उनका तालाश्रित प्रयोग आदि गीत-वाद्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों का भरत ने आकलन किया है। भरत की दृष्टि में गीतवाद्य नाट्य की शय्या है, इनके समुचित प्रयोग होने पर नाट्य-प्रयोग विपत्तिग्रस्त नहीं होता।[3]

गीत का स्वरूप और प्रकार

संगीत या गीत का स्वर नाद होता है। नाद पराशक्ति ब्रह्म का प्रतीक है। यही स्फोट का व्यंजक है। स्फोट और नाद में वही सम्बन्ध है जो नयनों और उसके प्रत्यक्षीकरण का विषय रूपात्मक जगत् में। रूप चक्षुग्राह्य है और चक्षु रूपग्राह्य है, गंध में घ्राण-ग्राह्यता है, घ्राण सुगंधि-ग्राह्य है। इसी तरह कंठाभिघात से उत्पन्न ध्वनि ही अकार आदि का व्यंजक है।[4] यह नाद प्राण-वायु और प्राणाग्नि से अभिव्यक्त होता है।[5] इस नाद के बिना न तो गीत होता है और न स्वर ही। वस्तुतः नाद से ही तो नृत्त भी प्रवृत्त होता है। समस्त जगत् ही नाट्यमय है।[6] नाद के भेद-रूप ही श्रुतियाँ हैं, क्योंकि उनका श्रवण होता है। वस्तुतः श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति होती है। दर्पण में जिस प्रकार मुख विवर्तित होता है वैसे ही स्वर भी श्रुतियों में विवर्तित होने पर प्रतिभासित होते हैं। मृत्पिण्ड और दण्ड आदि के द्वारा 'घट' कार्य उत्पन्न होता है अथवा अंधकार-स्थित घटादि की व्यंजना दीप के द्वारा होती है, उसी प्रकार, श्रुतियों के द्वारा सात स्वरों की व्यंजना होती है। श्रुतियों से उत्पन्न अनुरणनात्मक 'स्वन्' (स्वर) श्रोता

---

१. The audience is made to feel more deeply that the music is inevitable vehicle for the expression of dramas.

Producing opera : Clive Gray, Stage and Theatre, p. 689.

२. ना० शा० ३४।२ का० मा०।

३. गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतिम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेत्ति। ना० शा० ३२।४४१ का० मा०।

४. वाक्यपदीय—(ब्रह्मकाण्ड) ९७।

५. 'न' कारः प्राण इत्याहुः 'द' कारश्चानलो मतः। मतंग (भरतकोष)।

६. न नादेन विना गीतं ननादे न विना स्वरः।
न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्। भरतकोष, पृ० ३२४।

के मन का अनुरंजन करने के कारण ही 'स्वर' होता है।[१] ये विभिन्न श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं। इनकी संख्या सात है।[२]

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

नाद का पहले श्रवण होता है, वह श्रुति होती है। परन्तु तत्काल ही अव्यवहित रूप से अनुरणन स्वर (ध्वनि) होता है, श्रोता के मस्तिष्क पर 'स्व' को प्रतिभासित और अनुरंजन करता है। अभिघात से उत्पन्न यह श्रुति या नाद श्रोता की आत्मा के अनुरंजन करने से 'स्वर' होता है।[३]

स्वरों के चार प्रकार—भरत ने स्वरों का विभाजन श्रुतियों के आधार पर किया है। वे चार हैं : वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी।[४]

१. वादी

राग की अभिव्यंजना के लिए वादी सब स्वरों में प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण होता है। अन्य तीन प्रकार के स्वरों की अपेक्षा राग की अभिव्यंजना के लिए इसकी बार-बार आवृत्ति होती है। इसी के द्वारा राग एवं संगीत काल का अनुमान होता है। 'वादी' रागजनक होने के कारण स्वरों में राजा की तरह मुख्य होता है। यह अंश के समान ही सर्व-प्रधान होता है।[५]

२. संवादी

'संवादी' स्वर का प्रधान सहायक होता है। इसकी सहायता से राग का सृजन होता है। इसकी स्थिति स्वरों में मंत्री की तरह होती है। समश्रुति होने पर तेरह और नौ का अन्तर होता है। यह केवल वादी स्वर की अपेक्षा गौण होता है परन्तु अन्य स्वर इसकी अपेक्षा गौण होते हैं।[६]

३. अनुवादी

वादी, संवादी एवं विवादी स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वर प्रायः अनुवादी स्वर ही होते हैं। उपर्युक्त दो प्रधान स्वरों की तुलना में अनुवादी स्वरों की स्थिति सेवक की तरह होती है।

---

१. मतंग, भ० को०, पृ० ६५५।
२. ना० शा० २८।२२ का० मा०।
३. स्वयमात्मानं रंजयति निपातनात् इति स्वर निरूपितः। नान्यदेव (भरतकोष) ७५६
तथा—
श्रुत्यनंतर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
योगाद्वा रूढिनो वाऽपि स स्वरः श्रोतृरंजकः। संगीतराज भ० को० ७५५।
४. ना० शा० २८।२२, का० मा०।
५. तत्रयो यत्रांशः संवादी। ना० शा०, पृष्ठ ४३२ का० मा०।
तथा
वदनाद् वादी स्वाभिवत्। वदनं हि नामात्र प्रतिपादिकत्वं विवक्षितम्। न वचनमिति। किं तत्प्रतिपाद्यते। रागस्य रागत्वं जनयति। वाधंशवत् बोद्धव्यः। भरतकोष, पृष्ठ ५९७ (मतंग)।
६. ना० शा० पृष्ठ ४३२, का० मा०।

षड्ज स्वर के ऋषभ, गांधार, धैवत, निषाद, अनुवादी ही हैं। ऋषभ के मध्यम, पंचम और निषाद अनुवादी ही हैं।[1]

४. विवादी

रागानुकूल स्वरों का बाधक स्वर 'विवादी' होता है। यह स्वरों में आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है। इसके योग से प्रवर्तमान गीत के राग की हानि होती है। इसीलिए इसकी परिगणना वर्ज्य स्वरों में की जाती है।[2] अतः वचनीय (वदनात् वादी) होने से 'वादी', उसमें सहायक हो मिल जाने से 'संवादी' और राग के सौन्दर्य को समृद्ध करने के कारण 'अनुवादी', परन्तु राग के बाधक होने से स्वर 'विवादी' होते हैं। स्वरों की न्यूनता और अधिकता का निर्धारण तंत्री का आधारभूत दण्ड एवं इन्द्रियों की विगुणता से होता है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि से स्वरों में वादी स्वामी, उसके अनुसारी इतर संवादी स्वर अमान्य, विवादी स्वर शत्रु तथा वादी स्वर में योग देने वाले अन्य स्वर परिजन की तरह अनुवादी होते हैं।[3]

ग्राम

स्वरों का संयोग 'ग्राम' होता है। भरत ने दो ग्रामों का उल्लेख किया है—षड्ज और मध्यम। गांधार भी ग्राम ही है। परन्तु उसका प्रयोग लोक में नहीं होता। लोक में उपर्युक्त दो ही 'ग्राम' व्यवहृत होते हैं। वेदों में प्रचलित उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वर इन लौकिक ग्रामों से भिन्न हैं। इन दोनों ग्रामों में षड्ज ग्राम 'आदि-ग्राम' होने के कारण प्रधान होता है। वस्तुतः 'ग्राम' शब्द अन्वर्थ है। ग्रामों में कुटुम्बियों के 'ग्राम' (समूह) रहते हैं, इसीलिए उस समूह को 'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम में भी स्वर, श्रुति, मूर्च्छना, ताल, जाति और राग आदि का व्यवस्थापन होता है। राग के व्यवस्थापन में 'ग्राम' सहायक होता है।[4] षड्ज ग्राम में षड्ज और पंचम स्वरों का योग रहता है और मध्यम में पंचम और ऋषभ का संयोग रहता है।

ग्रामों की रागात्मकता

राग मुख्यतः इन षड्ज और मध्यम ग्रामों पर ही निर्भर करते हैं। राग के द्वारा श्रोता के मन का अनुरंजन होता है। संगीत-रचना का उद्देश्य है श्रोता के मन में राग का उद्बोधन। गीत के स्वर-वर्णों के माध्यम से भावों का संप्रेषण करते हैं, और ये भाव रागात्मक होकर श्रोता का अनुरंजन करते हैं। 'राग' स्वर-वर्णों के संतुलित व्यवस्थापन से उत्पन्न होता है। इनके द्वारा

---

१. वादिसंवादि विवादिषु स्थापितेषु शेषा ह्यनुवादिनः संज्ञकाः। ना० शा०, पृष्ठ ४३२, का० मा०।

२. ना० शा० २८, पृष्ठ ४३२।

३. वदनाद्वादी, संवदनात् संवादी, विवदनात् विवादी, अनुवदनात् अनुवादी ति। ऐतषां स्वराणां न्यूनाधिकत्वं तन्त्रीवादन दण्डेन्द्रियवैगुण्याढुपजायते। ना० शा० २८।४३३ का० मा० तथा अ० भा० भाग ३, पृ० १८।

४. ना० शा० २८।२४ का० मा० तथा मतंग : भरतकोष, पृष्ठ १८६।

राग साहित्य या काव्य की भाँति मनुष्य के मन को आनन्द-रस से आप्लावित करते हैं।[१]

अंश स्वर की महत्ता

राग के प्रधान तीन स्वर हैं—ग्रह, अंश और न्यास। संगीत का आरंभिक स्वर 'ग्रह' होता है, क्योंकि उसी से गीत के आलाप का उत्थान होता है।[२] 'अंश' 'वादी' की तरह ही स्वरों में प्रधान है। भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि 'अंश' में ही 'राग' वर्तमान रहता है और उसी से प्रवृत्त होता है। अभिनवगुप्त और मतंग की दृष्टि से भी स्वरों में 'अंश' वैसे ही प्रधान होते हैं जैसे पुरुष स्वरूप में 'मुख'। अंश स्वर के प्रयोग होने पर ही राग की अभिव्यक्ति होती है।[३] 'न्यास' गीत के परिसमाप्ति-काल का स्वर होता है।[४]

गान-क्रिया के वर्ण

भरत के अनुसार गान-क्रिया ही वर्ण होता है क्योंकि गेय पदों का उसमें वर्णन होता है। ये गान-क्रिया रूप वर्ण चार प्रकार के हैं :

आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी।

गेय पद के आलाप के क्रम में क्रमशः स्वरों का उत्थान होने पर आरोही, स्वरों के क्रमशः पतन होने पर अवरोही, स्वरों के सम और स्थिर (पुनरावृत्त) होने पर स्थायी तथा स्वरों के संचरण या आरोही और अवरोही के संयोग होने पर संचारी स्वर होता है। ये चारों वर्ण गीत-योजक होते हैं और इनकी निष्पत्ति से ही राग का उद्‌बोधन होता है। लक्षण-युक्त रीति से स्वरों के कर्षण होने पर गान में रसोदय होता है।[५]

अलंकार

स्वर-वर्णाश्रित गीति के प्रसन्नादि तेतीस अलंकार भी होते हैं। कटुक-केयूर आदि के द्वारा नारी एवं पुरुष का शरीर अलंकृत होता है। वे प्रेक्षक को मन-भावन लगते हैं। वर्णाश्रित गीति इन तेतीस अलंकारों में से विभूषित होने पर श्रोताओं के लिए सुखदायक होती हैं। अलंकारों के द्वारा गीत का राग और भी समृद्ध होता है। प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्न-मध्य, सम, स्थित, मृदु, मध्य, आयत, बिन्दु, कंपित, प्रेंखोलित, तार, मन्द्र, रेचित और कुहर आदि गीति के अलंकार हैं। क्रमशः स्वर के दीप्त होने पर प्रसन्नादि, व्यस्तता से उच्चारित होने पर प्रसन्नात आदि अन्त के स्वरों के क्रमशः दीप्त होने पर प्रसन्नाद्यन्त तथा मध्य के दीप्त होने

---

१. स्वरवर्ण विशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः।
रज्यन्ते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम्। संगीतरत्नाकर २।२।१-६क; रागविबोध १,१, पृष्ठ १-२; भावविवेक : भरतकोष, पृष्ठ ५४१।

२. ना० शा० २८।७१क, का० सं०।

३. रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। ना० शा० २८।७५-७८; भरतकोष, पृष्ठ ३ (मतंग), संगीतराज (कुम्भ) पृष्ठ १८८, तथा
यस्मिन् विद्यमाने च रागो रक्तिः जातिस्वरूपम् च भाति शिरसीव पुरुषस्वरूपम्। अ० भा०।

४. ना० शा०, पृष्ठ ४४३, का० मा०।

५. ना० शा० २६।१८-१६ का० मा०।

पर प्रसन्नमध्य अलंकार होते हैं। शेष अलंकारों द्वारा वर्णाश्रित गीति में रागात्मकता का अधिकाधिक संचार होता है।[1] भरत की दृष्टि से गीति के लिए अलंकार नितान्त आवश्यक हैं। बिना चन्द्रमा के रात्रि, बिना जल के नदी और बिना पुष्प के लता तथा बिना अलंकारों के नारी लक्षित नहीं होती। गीति भी अलंकारों से विभूषित न होने पर लक्षित नहीं होती, रागात्मक नहीं हो पाती।[2]

गीति के प्रकार

भरत के अनुसार चार प्रकार की गीतियाँ होती हैं—मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला। मागधी, द्रुत-मध्य और विलंबित लय, लघु गुरु और प्लुत अक्षर, तीनों यति तथा इक्कीस तालों से युक्त होती है। अर्धमागधी में द्रुत-मध्य लय, गुरु और लघु अक्षर तथा मागधी की अपेक्षा आधे तालों का प्रयोग होता है। संभाविता में गुरु अक्षरों की बहुलता रहती है और पृथुला में लघु अक्षरों की।[3]

गीत में ताल, लय और यति

भरत एवं अन्य आचार्यों ने गान की प्रक्रिया में ताल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों ही कलाओं के लिए 'ताल' का महत्त्व है। 'ताल' प्रतिष्ठाबोधक शब्द है। इसी में गीत, वाद्य और नृत्य वर्तमान रहते हैं और इसीसे प्रवृत्त होते हैं। एक अन्य आचार्य के अनुसार 'ता' शंकर-बोधक है और 'ल' शक्ति का बोधक। शिव और शक्ति के समायोग से 'ताल' की उत्पत्ति होती है। ताल के द्वारा गीत-क्रिया के काल का अवधारण होता है। काल (ब्रह्म) सृष्टि-स्थिति और प्रलय के मूल में है, उसी प्रकार गीत-क्रिया में काल का अवधारक होने के कारण 'ताल' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत की दृष्टि से 'ताल' का अवधारण न जानने वाला न तो वादक होता है और न गायक ही।[4] यति, पाणि और लय इस ताल के ही अंग हैं। द्रुत, मध्य और विलम्बित ये तीन लय हैं। छन्द, अक्षर और पदों के सम होने पर गीत में लय की उत्पत्ति होती है।[5] लयों का प्रवर्तन 'यति' द्वारा होता है। 'यति' नाट्यशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की होती है। समा, स्रोतोगता (वहा) और गोपुच्छा। आदि, मध्य और अवसान में कृशता और पुष्टता के आधार पर ही इसका यह त्रिविध रूप होता है। आदि, मध्य और अवसान में लय में समानता रहने पर 'समा' यति होती है। प्रारम्भ में अधिक और क्रमशः कृश होने

---

१ नाट्यशास्त्र २६।२३-४६ का० मा०, का० सं० २६।४६-७४।

२. शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अनलङ्कृते (अविभूषितेव) च नारी गीतिरलंकारहीना स्यात्। ना० शा० २६।४६, का० मा०।

३. ना० शा०; का० मा० २६।४७-५०।

४. (क) यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।
तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन कार्यम् तालावधारणम्।
(ख) शिवशक्ति समायोगात्ताल नामाभिधीयते। भरतकोष पृ० ८; ना० शा० ३१।३२५, का० मा०, संगीतरत्नाकर ५।२।

५. ना० शा० ३१।५३१ का० सं०।

रप 'स्रोतोवहा' और प्रारम्भ में कृश और उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर 'गोपुच्छा' यति होती है।[१] का० सं० के अनुसार वाद्यप्रधान भूयिष्ठा चित्रा 'समा', कभी द्रुत और विलंबित होने पर, वाद्य-श्रुतप्रधान होने पर स्रोतोवहा तथा गुरु-लघु अक्षरों से भावित होने पर लम्बिता गोपुच्छा होती है।

ध्रुवा गान

भरत ने गीत-विद्या के विविध पक्षों का विवेचन शास्त्रीय शैली में विस्तार से किया है। इन गीतों द्वारा नाट्य में रागात्मकता, भाव और रस में गति का संचार होता है। इसीलिए भारतीय नाट्य में यत्र-तत्र नाट्य-कथा के मध्य में भावदशा को तीव्रता और अधिकाधिक अनुभूतिगम्यता प्रदान करने के लिए गीतों की योजना होती रही है। इन गीतों के अतिरिक्त भरत ने ध्रुवा गीति का भी विधान पर्याप्त विस्तार के साथ किया है। स्वर-वर्णों का उपयुक्त चयन, अलंकारों का प्रयोग, शारीरिक भाव-भंगिमा और गीत के उत्कर्ष के द्वारा ध्रुवागान की रचना होती है, इसके प्रयोग से नाट्य के पात्रों की गति और चेष्टा आदि की पूर्ण अभिव्यंजना होती है। अतः अन्य गीतों की अपेक्षा ध्रुवा-गान नाट्य-प्रयोग के लिए अधिक उपयोगी है। भरत की यह मान्यता है कि इसमें गीतों के जो विविध अंग विनियुक्त रहते हैं, उनमें स्थायी सम्बन्ध है। इसीलिए ये गान 'ध्रुवा' के रूप में व्यवहृत होते हैं।[२]

ध्रुवा गान के प्रकार

ध्रुवागान भरत के अनुसार पाँच प्रकार के हैं—

प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आपेक्षिकी, प्रसादिकी और अन्तरा।

प्रावेशिकी

प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग पात्रों के प्रवेश-काल में होता है। नाट्यार्थ एवं प्रधान रस से सम्बन्धित गीत-वस्तु की योजना इसमें होती है। इसीलिए प्रावेशिकी यह नाम उपयुक्त भी है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार आगे प्रविष्ट होने वाले पात्र के रस, भाव, अवस्था आदि का प्रवेश शब्द से अभिधान होता है। प्रावेशिकी ध्रुवा में नाट्य की प्रधान रस-धारा और कथा का संकेत अत्यन्त रसमय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विशाखदत्त-रचित देवी चन्द्रगुप्तम् में चन्द्रगुप्त के भावी उत्थान की सूचना प्रावेशिकी ध्रुवा द्वारा ही दी गई है।[3]

नैष्क्रामिकी

अंक के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण-काल में इस गीत का प्रयोग होता है। इसका प्रयोग नाट्यार्थ की अपेक्षित सिद्धि या कथावस्तु के परिसमाप्ति-काल में होता है। रामचन्द्र के अनुसार

१. ना० शा० ३१।५३४-३७ का० सं०, तथा भरतकोष पृ० ५१२ (अच्युत)।

२. ना० शा० ३२।१ का० मा०।

३. नानार्थरसयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशेतु। प्रावेशिकी तु नाम्ना...। ना० शा० ३२।३१८, का० मा०।
एष सितकर विस्तर प्रणशिताशेष वैरितिमिरौघः।
निजविधिवशेन चन्द्रो गगनाङ्गणं लंघितुं विशति॥ (संस्कृत छाया)।
ना० द० ४।२, देवी चन्द्रगुप्त, अंक ५।

नैष्क्रामिकी ध्रुवा का प्रयोग अंक के मध्य में भी प्रयोजनवश पात्र के निष्क्रमण-काल में हो सकता है।[1]

आक्षेपिकी

नाट्य-प्रयोग में प्रवहमान प्रस्तुत रस का उल्लंघन करके अन्य रस का आक्षेप करने पर आक्षेपिकी ध्रुवा होती है। इसमें प्रायः द्रुतलय का प्रयोग होता है।[2]

प्रासादिकी

आक्षेपिकी ध्रुवा के प्रयोग से प्रवहमान लय में जो क्रम-भंग उत्पन्न हो जाता है, उसका यथास्थिति निर्धारण इस गीत-प्रयोग के द्वारा होता है। इसके द्वारा प्रेक्षकों का मनः-प्रसादन तथा राग का उद्बोधन होता है। यह 'ध्रुवा' प्रसाधन-परायण है। अतः नाट्य-कथा की अनुरूपता को दृष्टि में रखकर इसका प्रयोग कभी भी हो सकता है। रामचन्द्र की दृष्टि से विभावों के उन्मीलन द्वारा प्रस्तुत रस के निर्मलीकरण अथवा पात्र की चित्तवृत्ति का सामाजिकों के समक्ष प्रकाशन 'प्रसाद' माना जाता है। प्रावेशिकी और आक्षेपिकी के बाद इसका प्रयोग आवश्यक होता है।[3]

आन्तरी

नाट्य-प्रयोग काल में पात्र के मूर्च्छित मन, क्रुद्ध या वस्त्र एवं आभरण आदि के अव्यवस्थित हो जाने से जो त्रुटि परिलक्षित होती है उसको ढँकने के लिए गान की योजना हाती है। इस गीत के प्रयोग से प्रेक्षकों का ध्यान उस गान की ओर आकर्षित हो जाता है, प्रयोग की त्रुटि की ओर नहीं। यह गान पूर्ववर्ती या भावी रस का अनुगमन करता है। शारदातनय के अनुसार आन्तरी ध्रुवा का गायन नाट्य-प्रयोग-गत त्रुटि के आच्छादन के लिए नहीं अपितु अंक की परिसमाप्ति में इसका गायन होता है। उनकी दृष्टि से यह उपसंहारात्मक गीत होता है।[4] अभिनवगुप्त ने 'अन्तरे छिद्रे गीयते इति अन्तराध्रुवा' यह अन्वर्थ व्युत्पत्ति की है। इसके प्रयोग से छिद्र (दोष) का प्रच्छादन हो जाता है।

ये पाँचों ध्रुवागान नाट्य-प्रयोग में प्रवर्तमान रस, भाव, ऋतु, काल और देश आदि के संदर्भ में प्रयुक्त होते हैं। स्वभावतः नाट्य-कथा के अंग के रूप में इनका प्रयोग होता है। इसीलिए रामचन्द्र ने 'कवि-ध्रुवा' के नाम से इनका उल्लेख किया है। नाट्य-प्रयोग को भाव एवं रस-समृद्ध बनाने के लिए इनका प्रयोग होता है। अतएव नाट्यकार की प्रतिभा के ये गान संकेतक होते हैं। उपयुक्त समय और स्थान पर उनका प्रयोग होने पर प्रवर्तमान नाट्य-कथा एवं रस को उचित वेग और शक्ति देते हैं। रसाश्रित ध्रुवागान नाट्यार्थ का उसी प्रकार प्रकाशन करते हैं जैसे नक्षत्रगण आकाश को अपनी ज्योत्स्ना से प्रकाशित करते हैं।[5]

---

१. ना० शा० ३२।३१६, का० मा०, ना० द०, वही।

२. ना० शा० ३२।३२०, का० मा०।

३. प्रस्तुतस्यरसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं प्रसादः प्रविष्टपात्रस्य अन्तर्गत चित्तप्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा प्रसादः। ना० द० ४, पृष्ठ १७३ (गा० ओ० सी०)।

४. विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्राभरण संयमे।
दोषप्रच्छादना या च गीयते सान्तरा ध्रुवा। ना० शा० ३२।३२२, का० मा०।

५. तथा रसकृताः नित्यं ध्रुवा प्रकरणाश्रिताः (भवाः)।
नक्षत्राणीव गगनं नाट्यमुद्योतयन्ति ताः॥ ना० शा० ३२।४३६, का० मा०।

संगीत : मार्ग और देशी

संगीत और गीत सामान्यतः एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत होते हैं, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से दोनों में किंचित् भिन्नता है। संगीत में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश होता है, अतएव यह तौर्यत्रिक है। परन्तु गीत से मौखिक गीत का ही बोध होता है। इसमें स्वर, पद और ताल का समन्वय होता है। यह संगीत भी मार्ग और देशी-भेद से दो प्रकार का होता है। मार्ग-संगीत में दिव्य गीत और नृत्य का योग रहता है, इसका प्रयोग गंधर्वों द्वारा ही होता है। यह संगीत-प्रकार लोक-प्रचलित नहीं है। कभी भरत ने दिव्य अप्सराओं द्वारा इसका प्रयोग किया था। परम्परा के अनुसार चित्ररथ ने अर्जुन को मार्ग की शिक्षा दी थी। परन्तु देशी संगीत स्थानीय होता है और विभिन्न प्रदेशों की जनरुचि के आधार पर यह विभिन्न रूपों में प्रचलित है। मतंग के अनुसार देशी गीत लौकिक संगीत है। 'ध्वनि-रूप-गीत' समस्त संसार में व्याप्त है और गायक के कंठ से मधुर ध्वनि के रूप में उत्पन्न होने पर संगीत की लय का सृजन होता है। अपने-अपने देश की परम्पराओं का ध्यान रखकर विभिन्न रुचि के रंजनकारी गीत देशी होते हैं। इसमें देश-देश के राजाओं और प्रजाओं की रुचि का पूर्ण समावेश होता है।[1]

वाद्य

नाट्य-प्रयोग को पूर्ण व्यवस्थित रूप देने के लिए गान की शास्त्रीय विवेचना के अतिरिक्त गान-वाद्यों की भी परिगणना, उनकी निर्माण-विधि एवं उपयोगिता आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। भरतकाल में मुख्यतः चार प्रकार के वाद्य प्रचलित थे—तत (वीणा आदि), अबनद्ध (मृदंग, पटह आदि), सुशिर (वंशी और वेणु आदि) और घन (झाल आदि)।[2] ये भारतीय वाद्य विभिन्न शैलियों में बनाये और बजाये जाते थे। इन वाद्य-यंत्रों के प्रयोग से गीत-प्रयोग और भी अधिक रागात्मक हो जाता है। निःसंदेह 'गीत' जिस प्रकार ताल और लयाश्रित हो प्रस्तुत किये जाते हैं, वाद्य भी ताल और लय के अनुसारी होने पर राग का प्रसार करने में समर्थ होते हैं। अतः गान के समुचित प्रयोग के लिए वाद्य के प्रयोग की नितान्त आवश्यकता है। गीत-वाद्य का प्रयोग होने पर ही नाट्य का समुचित प्रयोग होता है। दशरूपकों में वाद्य का प्रयोग वर्जित नहीं है। परन्तु यह प्रयोग भी रस-भाव को दृष्टि में रखकर होता है। उत्सव, यात्रा, मंगलावसर, विवाह और संग्राम आदि के अवसरों पर वाद्य का प्रयोग होता है। घरेलू उत्सवों में वाद्य-यंत्रों की संख्या न्यून होती है। और नाट्य-प्रयोग में तो प्रायः सब वाद्यों का प्रयोग होता है।[3]

---

१. देशेषु देशेषु नरश्वेराणां रुच्या जनानामपि वर्तते वा।
गीतं च वाद्यं च तथा च नृत्तं देशीति नाम्ना परिकीर्तिता सा। भरतकोष, पृ० १६२, २२२, ६०२।

२. ना० शा० २८।१-१५, का० मा०, २९।१-३, ३१।१-४, का० सं० २८।१-१४, ३०।१-२, ३१।१-४।

तथा

पूर्वं गानं ततो वाद्यं ततो नृत्तं प्रयोजयेत्।
गीतवाद्यांग सयोगः प्रयोग इति संज्ञितः। ना० शा० ३४।३८५ का० मा०।

३. ना० शा० ३४।१८-२० का० मा०।

गायकों और वादकों की आसन-व्यवस्था

गान और वाद्य की शास्त्रीय विधियों का ही नहीं, गायकों और वादकों की आसन-विधि का भी समुचित निर्धारण भरत ने किया है। नेपथ्य-गृहाभिमुख दो द्वारों के मध्य सब वाद्यों के रखने का विधान है। मृदंगवादक रंगमंच की ओर, उसकी बायीं ओर पाणविक, गायक रंग-पीठ के दक्षिण-उत्तराभिमुख, गायिका उसके सम्मुख उत्तराभिमुख, गायन के वाम पार्श्व में वेणिक तथा उसके दक्षिण में वंशीवादकों के बैठने का विधान है। तीनों प्रकार के नाट्य-मण्डपों में गायक और वादक रंगशीर्ष और रंगपीठ के द्वारों के मध्य में रहते हैं।[1]

प्रयुक्त वाद्य

नाट्यशास्त्र में आतोद्य के विवेचन के प्रसंग में मृदंग, पणव, दर्दुर, दुन्दुभि, मुरज, झल्लरी, पटह, वंश, शंख और ढक्किनी आदि अनेक प्रकार के वाद्यों की परिगणना की गई है।[2] अभिनयदर्पण में पटह, वंशी, द्रोण, वीणा तथा प्रसिद्ध पुरुष गायक पात्र या पात्री बाह्य प्राण के रूप में परिगणित हुए हैं।[3] संगीत मकरंद में दस प्रकार की वीणा तथा अन्य वाद्यों की परिगणना की गई है।[4] संगीत-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में अन्य अनेक प्रकार के वाद्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

समाहार

भरत ने जिन चार प्रकार के प्रधान वाद्यों का उल्लेख किया है उनके माध्यम से वाद्य वृन्द का भी प्रयोग प्राचीन काल में होता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। भरत नाट्य एवं कत्थकली नृत्यों में भारतीय वाद्यों की सहायता से वाद्य-वृन्द की योजना अभी भी होती है। आकाशवाणी द्वारा प्रसारित संगीत के कार्यक्रम में आर्केस्ट्रा का सफल आयोजन होता है। आधुनिक गीतिनाट्यों के सफल प्रयोग के लिए भाव एवं रस के अनुवर्ती विविध वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। गीतिनाट्य में प्रवहमान राग को वाद्यों के योग से बल मिलता है। उसके अतिरिक्त वाद्य के यथोचित प्रयोग से नाट्य-प्रभाव की भी वृद्धि होती है। अतः प्रभाव-सृजन की दृष्टि से भी वाद्यों का प्रयोग नितान्त उचित होता है।

भरत ने गीत-वाद्य का योग नाट्य-प्रयोग की सफलता के लिए अत्यावश्यक मानकर ही उक्त दोनों विषयों का विस्तृत विधान नाट्यशास्त्र में किया है। गीत और वाद्य का स्वतंत्र महत्त्व भी होता है और इनका प्रतिपादन संगीतशास्त्र में स्वतंत्र रूप से भी हुआ है। नाट्य में उनका प्रयोग सहायक के रूप में ही होता है। नाट्य-प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भरत ने अनेक बार प्रशंसासूचक विचार प्रकट किए हैं। उनकी दृष्टि से जिस प्रकार चित्र की कल्पना विविध वर्णों के बिना नहीं हो सकती उसी प्रकार नाट्य में राग का

---

१. ना० शा० ३४। पृ० ६४० का० मा०।
२. वही ३४।९-१६, का० सं० ३४।२, १०-१७।
३. अभिनयदर्पण, पृ० ३५।
४. संगीतमकरंद ४।६-१३, पृ० २२।

उद्भव बिना गीत के नहीं हो पाता है।[1] अतएव वाद्य को उन्होंने नाट्य की शय्या माना है, उन दोनों कलाओं के सुप्रयुक्त होने पर नाट्य का प्रयोग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। नाट्य-प्रयोग के क्रम से गीत का यह महत्त्व प्रतिपादन करने पर भी भरत ने यह स्वीकार किया है कि नाट्य में गीत का प्रयोग नाट्य के अनुरोध से ही होता है, अतएव वह गौण होता है। अनावश्यक गीत-प्रयोग होने पर प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों के लिए ही वह खेद-जनक होता है। निःसंदेह गीत की योजना प्रायः स्त्री-पात्रों द्वारा ही करने के पक्ष में भरत रहे हैं। पुरुष द्वारा गायन और स्त्री द्वारा पाठ की परंपरा भी रही है। परन्तु स्त्री के गीत की बिस्वरता में भी जो माधुर्य होता है वह पुरुषों के प्रयत्न से भी संभव नहीं है।[2]

---

१. (क) यथा वर्णादृते चित्रं न शोभा जननं गवेत्।
एवमेव विना गीतं नाट्यं राग न गच्छति॥ ना० शा० ३२।४३१ का० मा०।
(ख) शय्याहि नाटयस्य वदन्ति गीतिम्। का० मा० ३२।४४१।

२. अवैस्वर्यं भवेत् स्त्रीणां गानवाद्य क्रियास्वथः।
न हि तत्कर्णमाधुर्यं पुरुषस्य भविष्यति॥ ना० शा०, पृ० ६०५ का० मा० पादटिप्पणी।

२०

नृत्य

भारतीय नृत्य की परंपरा

भारतीय नृत्य की परंपरा संभवत: उतनी ही प्राचीन है जितनी नाट्य की। नाट्योत्पत्ति के इतिहास के क्रम में भरत ने नृत्य के उद्‌भव का भी महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। उक्त विवरण के अनुसार तो 'नृत्य' का 'नाट्य' से स्वतंत्र विकास हो चुका था। परन्तु नाट्य में शोभा के प्रसार के लिए नृत्य का भी उसमें प्रयोग किया गया।[1] नाट्यशास्त्र में प्राप्त विवरण के अनुसार नाट्य में इसका प्रयोग शिव की प्रेरणा से हुआ। 'त्रिपुरदाह' डिम का प्रयोग भरत ने प्रस्तुत तो किया, पर उसका पूर्वरंग नृत्य-विहीन होने के कारण 'शुद्ध' था। शिव ने उसमें गीत-वाद्ययुक्त नृत्य का प्रयोग कर उसे 'चित्र' रूप में प्रस्तुत करने के लिए तण्डु को आदेश दिया कि वह भरत को नृत्य की शिक्षा दें। इसीलिए नृत्य का एक प्रधान (उद्धत) भेद ताण्डव नाम से प्रसिद्ध भी हुआ।[2] नाट्यशास्त्र में प्राप्त एक अन्य विवरण के अनुसार दक्ष के यज्ञध्वंस के उपरान्त शिव ने गीत के ताल पर अनेक मुद्राओं में नृत्य किया। उन्होंने विविध मुद्राओं में प्रत्येक देवता का अनुकरण नृत्य में प्रस्तुत किया।[3] ये पिंडीवध के रूप में प्रसिद्ध हुए। भरत ने इस प्रसंग में प्राय: सब देवताओं के पिण्डीवध का प्रतीकात्मक विवरण दिया है। नाट्यशास्त्र में नृत्य के उद्धत (ताण्डव) और सुकुमार (लास्य) भेदों का निरूपण हुआ है।

नृत्य में करण, अंगहार और रेचक

नृत्य में हाथ, कटि, पार्श्व, पाद, जंघा, उदर, वक्षस्थल और पृष्ठ आदि का स्थान और

---

१. किन्तु शोभा प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम्। ना० शा० ४।२६४ क (गा० ओ० सी०)।

२. मयाऽपीदं स्मृतंनृत्यं सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरण संयुक्तै रङ्गहारैर्विभूषितम्॥ ना० शा० ४।१०-१८ (गा० ओ० सी०)।

३. ना० शा० ४।२३३-२४२ का (का० मा०)

गति (चेष्टा आदि) बड़ा महत्त्व का है। कभी इनकी गति स्थित होती है और कभी द्रुत। ये चेष्टाएँ नृत्य में मातृका होती हैं।[१] तीन या चार मातृकाओं के योग से 'करण' का संगठन होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में एक सौ आठ करणों तथा उनकी विभिन्न मुद्राओं का विस्तृत विवरण दिया है।[२] इन विभिन्न करणों के संयोग से अंगहारों की निष्पत्ति होती है।[३] नाट्यशास्त्र में बत्तीस प्रकार के विभिन्न अंगहारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[४] नृत्य की परिसमधि जिस शालीनता और प्रभावशालिता से होती है उसके लिए पादरेचक, कटिरेचक, कररेचक, और कण्ठरेचक इन चार प्रकार के रेचकों की कल्पना की है।[५] करण, अंगहार और रेचक की रूप-रचना शिव ने की। शिव से तण्डु को प्रेरणा मिली। ताण्डु-निर्दिष्ट ये नृत्य ताण्डव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

चिदम्बरम् के नटराज मंदिर में अंकित मुद्राए

चिदम्बरम् के नटराज मंदिर की नृत्तसभा के चौदह स्तंभों पर नाट्यशास्त्र में वर्णित १०८ करण एवं चार अन्य मूर्तियाँ अंकित हैं। दोनों पार्श्वों में स्थित सात-सात स्तंभों पर आठ-आठ मूर्तियाँ और नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत उनकी परिभाषाएँ भी उसी क्रम में अंकित हैं। एक पार्श्व के सात स्तंभों पर १-५४ करण-मूर्तियों और उनकी मुद्राओं के लक्षण अंकित हैं। चौवन से एक सौ साठ तक के करण दूसरे पार्श्व के सातों स्तंभों पर अंकित हैं। शेष चार मूर्तियाँ संभवतः उस काल के राजा, रानी और मूर्ति-निर्माताओं के हैं। दोनों स्तंभों पर ये युगल-मूर्तियों के रूप में हैं।[६] यह मंदिर संभवतः चौदहवीं सदी का है। इसके अतिरिक्त एलोरा, एलिफेंटा और भुवनेश्वर के मंदिरों में भरत-कल्पित नृत्य की मुद्राएँ बड़ी भव्यता और मनोहारिता से अंकित हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि भरत-कल्पित नृत्यविधान का प्रभाव नाट्य और नृत्य पर ही नहीं प्राचीन भारत की वास्तुकला पर सदियों तक वर्तमान रहा है।

नृत्य का सुकुमार रूप लास्य

नाट्यशास्त्र में दो प्रकार के नृत्य का विवरण प्राप्त होता है। उद्धत नृत्य 'ताण्डव' और सुकुमार नृत्य 'लास्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ताण्डव का शिव से तथा लास्य नृत्य का सम्बन्ध पार्वती की सुकुमार भाव-भंगिमाओं से है। शिव और पार्वती दोनों ही ने क्रमशः ताण्डव और लास्य की उद्भावना में योग दिया, यह कालिदास ने भी स्वीकार किया है।[७] लास्य के दस अंगों की परिकल्पना भरत ने की है।

---

१. ना० शा० ४।५६-६० (गा० ओ० सी०)।
२. ना० शा० ४।३४-५५ (गा० ओ० सी०)।
३. सर्वेषामंगहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः। ना० शा० ४।२६ (गा० ओ० सी०)।
४. ना० शा० ४।१८-२७ (गा० ओ० सी०)।
५. ना० शा० ४।२४८ (वही)।
6. It is, therefore, easy to see that there figures have been placed strictly in accordance with the order of Natyasastra : K. S. Ram Swami Sastri, Introduction to N. S. (G. O. C. 2nd Edition, p. 34-39).
७. रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा। मालविकाग्निमित्र, अंक २।४।

(१) **'गेयपद'** में तंत्री और भाण्ड की सहायता से आसनस्थ हो शुष्क गायन होता है। (२) **'स्थित पाठ्य'** में कामपीड़ित विरहिणी स्त्री आसनस्थ ही प्राकृत भाषा में गायन करती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में शकुन्तला का गायन (अयि निर्घृण वरभीयः) इस लास्य का उत्तम उदाहरण है। साहित्य दर्पण में उद्धृत अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थित पाठ्य का प्रयोग केवल प्रेमाकुल नारी के विरह के लिए ही नहीं, क्रोध की मुद्रा में भी हो सकता है।[1]

(३) 'आसीन' में स्त्री चिन्ताशोक समन्वित हो अनलंकृत ही, प्रस्तुत होती है, वाद्य का प्रयोग नहीं होता। आश्रम की कुटी में 'अनन्य मानसा विचिन्तयंती' शकुन्तला इसी मुद्रा में बैठी रहती है।[2] (४) पुष्पगंधिका में स्त्री नर-वेश में सखियों के विनोद के लिए ललित संस्कृत का पाठ करती है। सागरनंदी के अनुसार इसका प्रयोग प्रेमी के हृदय को मोहने के लिए होता है।[3] (५) प्रच्छेदक में चन्द्रज्योत्स्ना-पीड़ित मानिनी स्त्रयाँ विप्रियकारी पति का भी आलिंगन करती हैं, उनके अपराधों को क्षमा करती हैं। परन्तु विश्वनाथ के मतानुसार विरहिणी नारी अपने प्रेमी को लक्ष्य कर एक तार पर विरह गीत गाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में हंसपदिका का गीत प्रच्छेदक ही है। नाटक लक्षण रत्नकोष में उद्धृत राहुल के मतानुसार यह प्रच्छेदक नाम अन्वर्थ है, क्योंकि सभ्रान्त कुलीन नारी के प्रेम का प्रच्छेद उसके पति द्वारा होता है।[4] (६) त्रिगूढक पुरुष-प्रयोज्य नृत्य है। इसके पद सुकुमार और वृत्त सम होते हैं। सागरनंदी ने इसे वैमूढक कहा है और विश्वनाथ के अनुसार पुरुष स्त्री की वेश-भूषा में नृत्य करते हैं। नृत्यकाल अत्यल्प, पर अत्यन्त सुखदायी होता है। मालती माधव में मकरन्द माधवी के रूप में प्रस्तुत होता है।[5]

(७) सैंधवक लास्य में पात्र विस्मृत-संकेत प्रिय (अथवा प्रिया) को न पाकर संकेत भ्रष्ट हो वीणा आदि की सहायता से प्राकृत भाषा में गायन करता है। सागरनंदी और शिंगभूपाल की दृष्टि से सैंधवक में पात्र अपनी देशी भाषा में गायन और नृत्य का प्रयोग करते हैं। विश्वनाथ की दृष्टि से सैंधवक यह नाम अन्वर्थ है, क्योंकि निराशा के कारण लवण-रस से मानो पात्र अविष्ट हो जाता है।[6] (८) द्विमूढ़क लास्य में चौरस पद, मंगलार्थक गीत और अभिनय तथा भाव एवं रस नितान्त स्पष्ट होते हैं। विश्वनाथ के अनुसार इस लास्य का प्रयोग मुख और प्रतिमुख संधियों के क्रम में रस एवं भावाभिव्यक्ति के लिए होता है। मालविका का गीत इसका उदाहरण है। शिंगभूपाल की दृष्टि से इसमें ललित एवं विलासपूर्ण गति का भी योग रहता है। सागरनंदी के अनुसार भी गायक पात्र ललित गति में संचरण करता है।[7] (९) उत्तमोत्तमक लास्य अनेक रस, हेला-भाव तथा विचित्र श्लोक बंधों से विभूषित होता है। विश्वनाथ के अनुसार इसमें

---

१. ना० शा० १५।१८२-१८४-८६ का० मा०, सा० द० ६।२१४, ना० ल० को० २८५३, र० सु० ३।१३८, नागानंद अंक १।१३।

२. ना० शा० १८।१८७ का० मा०, अ० शा० अंक ४।

३. ना० शा० १८।१८८, का० मा०, ना० ल० को० २६६८। कामिनि कएल कतहु परकार। पुरुषकबेस कयल अभिसार। विद्यापति पदावली ११६।

४. ना० शा० १८।१८९ का० मा०, सा द० ६।२१८, अ० शा० अंक ५।८, ना० ल० को० पं० २८७२-७५।

५. ना० शा० १८।१९० का० मा०, ना० ल० को० २८६५-६६, सा० द० ६।२१९, मालती माधव अंक ६।

६. ना० शा० १८।१९१ का० मा०, र० सु० ३।२४४, ना० ल० को० २८७८-८०।

७. ना० शा० १८।१९२ का० मा०, सा० द० ६।२११, मा० अ० अंक २।४, ना० ल० को० २८६७।

विरहिणी स्त्री द्वारा ईर्ष्या और आक्रोशपूर्ण भावों का प्रकाशन होता है।[१] (१०) उक्त प्रत्युक्त लास्य में कोप-प्रसादजनित अधिक्षेपपूर्ण उक्त भावों का प्रयोग उक्ति-प्रत्युक्त शैली में होता है। इसमें गीतार्थ की योजना होती है।[२] भरत ने इन दस लास्यांगों के अतिरिक्त भावित और विचित्रप्रदा दो और भी लास्यांगों का उल्लेख किया है। भावित में कामाग्नि-संतप्त स्त्री प्रिय को स्वप्न में देखकर विविध भावों का प्रकाशन करती है। विचित्र पद नामक लास्य में विरहिणी नारी प्रिय की प्रतिकृति को देखकर अपना मनोविनोद करती है।[३]

प्रायोगिक नृत्य की परम्परा

ताण्डव और लास्य नृत्यों के प्रयोग-रूपों का परिचय मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, कुट्टनीमत हरिवंश, चारुदत्त और मृच्छकटिक में मिलता है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम एवं द्वितीय अंक इस दृष्टि से विशेष रूप से उपादेय हैं। उसमें दुष्प्रयोज्य छलिक को प्रयोग रूप में प्रस्तुत किया गया है। हरिवंश में 'कौवेररंभाभिसार', तथा छलिक (हल्लीसक) अभिनय एवं नृत्य दोनों ही रूपों का परिचय प्राप्त होता है। रत्नावली में मदनिका वसन्ताभिनय को नृय रूप में प्रस्तुत करती है और राजा उसके अभिनय एवं अंगसौष्ठव को देख मुग्ध हैं। चारुदत्त और मृच्छकटिक में शकार और विट द्वारा अनुगम्यमान नाटक-स्त्री वसन्तसेना 'नृत्तोपदेशविशद' चरणों का विक्षेप करती है।[४] गीत-नृत्य की यह परंपरा संस्कृत नाटकों के ह्रास के उपरान्त भी मध्यकालीन उपरूपकों और रास नाटकों के माध्यम से निरंतर पल्लवित होती रही है। ये रास और लीला-नाटक भारतीय धर्मभावना तथा श्रृंगार की चेतना को जीवन और गति देते रहे हैं। गीत-नाट्य और नृत्य की यह त्रिवेणी उन्नीसवीं सदी तक किसी-न-किसी रूप में जीवित रही है।[५]

अंगसौष्ठव और अभिनय

ताण्डव नृत्य के भी दो रूप हैं—शास्त्रीय और प्रायोगिक। नृत्य के शास्त्रीय रूपों में उसके सैद्धान्तिक पक्ष का विश्लेषण और व्याख्यान किया जाता है। नाट्यशास्त्र, भरतार्णव और अभिनयदर्पण में सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन है। मालविकाग्निमित्र में नृत्य के प्रयोग-रूपों का बड़ा स्पष्ट परिचय दिया गया है। 'क्रिया' और 'संक्रान्ति' प्रयोग के दो रूप हैं। नर्तक जब स्वयं ही नृत्य प्रस्तुत करता है तो वह 'क्रिया' होती है और आचार्य शिष्य में नृत्य की शिक्षा का संक्रमण करता है तो वह 'संक्रान्ति' होती है।[६] नृत्य-प्रयोग के दो उद्देश्य होते हैं—अंगसौष्ठव और अभिनय। अभिनय की भावभंगिमाओं द्वारा भावों और रसों का उद्भावन होता है। अंगसौष्ठव

---

१. ना० शा० १८।१६३ का० मा०, सा० द० ६।२२१।
२. वही १८।१६४ का० मा०, ना० ल० को० २८८१, र० सु० ३।२४७।
३. वही १८।१६६ का० मा०।
४. मालविकाग्निमित्र अंक १-२। हरिवंश-विष्णुपर्व ८८।८६, ९०, अध्याय। रत्नावली अं० १।१६। चारुदत्त अंक १।
५. 'रास और रासान्वयी काव्य' तथा 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास,' पृ० ८०-१२० डॉ० दशरथ ओझा।
६. विवादे दर्शयिष्यन्ति क्रिया सक्रान्तिमात्मनः। मा० अ० अं० १।१६।

द्वारा अंगों की सुकुमारता और संतुलित अवयव-संस्थानों का हृदयग्राही प्रदर्शन होता है। मालविकाग्निमित्र में मालविका और रत्नावली में मदनिका ने नृत्य के प्रयोग के क्रम में अभिनय के साथ अंग-सौष्ठव का अत्यन्त हृदयस्पर्शी रूप प्रस्तुत किया है।

अंगसौष्ठव के प्रदर्शन के लिए चारी और विरल नेपथ्य-विधान अत्यन्त आवश्यक है। नृत्य-प्रयोग के प्रसंग में कालिदास ने 'भाव' और 'भाविक' इन दो महत्त्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है। नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास साक्षात् सशरीरी 'भाव' के रूप में उल्लिखित हैं और उनके द्वारा मालविका को दी गई शिक्षा 'भाविक' है। आंगिक चेष्टाओं द्वारा भावों का प्रदर्शन दुष्प्रयोज्य होने पर 'छलिक' होता है। मालविकाग्निमित्र में 'छलिक' का अभिनय एवं नृत्य करते हुए मालविका ने अन्तर्निहित वचन, रूप और अंगों द्वारा काव्यार्थ का सूचन किया है, पादन्यास लयानुसारी है और रसों की तन्मयता भी है। दूसरी ओर उसका अंग-सौष्ठव तो और भी रागोत्तेजक है। मालविका का अभिनय और अंग-सौष्ठव दोनों ही अनवद्य हैं।[1] यही अनवद्यता रत्नावली की मदनिका में भी है।[2] कुट्टनीमत में इस नृत्य का प्रयोग मंजरी नाम की परम रूपवती वेश्या ने अत्यन्त मनोहारी रूप में प्रस्तुत किया है।[3] कालिदास की दृष्टि से मालविका का अंग-सौष्ठव छन्दों के नृत्य की तरह मधुर है और अभिनय रागबद्ध है।[4] अतः नृत्य-प्रयोग के दोनों प्रयोजनों का अत्यन्त स्पष्ट निर्देश है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम एवं द्वितीय अंक नृत्य-प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हरिवंश के विष्णुपर्व में हल्लीसक आदि नृत्य का प्रयोगात्मक वर्णन भी बहुत ही विशद है। उसके प्रयोग में स्वयं विष्णु ने वंशी, नारद ने वीणा और अप्सराओं ने वाद्य लिये तथा रंभा ने अभिनय किया।[5]

नृत्य-प्रयोग के विधि-निषेध

नृत्य-प्रयोग के अवसरों के सम्बन्ध में भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाट्य के पूर्वरंग में शोभा और सौन्दर्य-प्रसार के लिए नृत्य का प्रयोग अपेक्षित है। परन्तु स्वतंत्र रूप से विवाह, जन्म, देवपूजा, ऋतुपर्व और विजयोत्सव आदि के अवसरों पर भी नृत्य का प्रयोग विहित था।[6] नृत्य लोक एवं सुसंस्कृत राज-परिवारों के मध्य बहुत लोकप्रिय थे। प्रायः राज-प्रासादों और विशाल मन्दिरों के साथ संगीतशालाएँ और चित्रशालायें भी होती थीं। कालिदास के शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी ऐसी नृत्यशालाओं के विवरण प्राप्य हैं।[7]

नृत्य के साथ गीत-वाद्य का प्रयोग तो अपेक्षित ही है। जब नर्तकी रंगमंच पर प्रवेश करती है तो गान, वाद्य तथा उसके लय के अनुरूप ही गति द्वारा चारी का भी प्रयोग वह करती

१. मालविकाग्निमित्र, अंक १ तथा २।
२. रत्नावली, अंक १।१६।
३. कुट्टनीमत ८८६-६१०।
४. छन्दो नर्तयितुं यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः। मा० अ० १।३।
५. हरिवंश : विष्णुपर्व—८६।६८-८३।
६. ना० शा० ४।२६४-६६ तथा ३०४-३०६।
७. चित्रशालां गता देवी (मा० अ० अंक-१)।
संगतिशालाऽभ्यन्तरेऽवधानं देहि। (अ० शा० अंक ५)।

है। नर्तकी गान-समन्वित नृत्य प्रस्तुत करती हुई रंगमंच पर कोमल विलास-लीला के साथ अपनी अँगुलियों से पुष्प-विसर्जन करती हुई प्रवेश करती है तो वहाँ अपूर्व शोभा का प्रसार होता है।[१] परन्तु जहाँ पर 'गेय' ही अभिनेय हो, वहाँ वाद्य का प्रयोग उचित नहीं होता, क्योंकि गेयपद अव्यक्त हो जाता है।[२] अभिनय या नृत्य के प्रसंग में वस्तु या भाव के अनुरोध से युवति 'खंडिता' या 'विप्रलब्धा' हो तो नृत्त का प्रयोग नहीं होता। प्रिय के सन्निहित न होने पर तथा प्रिय के विप्रोषित होने पर भी नृत्य का प्रयोग नहीं होता। वस्तु-वृत्त में जहाँ चिन्ता और उत्सुकता का प्रभाव अधिक हो वहाँ भी नृत्य का प्रयोग उचित नहीं होता। परन्तु वस्तु-वृत्त के जिस अंग से नायिका के हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगें वहाँ से नृत्य का प्रयोग उचित होता है। देवता आदि की स्तुति में शिव के उद्धृत अंगहारों द्वारा नृत्य का प्रयोग होना चाहिए और जहाँ शृंगार रस सम्बद्ध स्त्री पुरुषाश्रित गान आदि हो उसका प्रयोग देवी (पार्वती) कृत ललित अंगहारों का प्रयोग होता है।[3]

भरत ने नृत्य (नृत्त) की जो परिकल्पना की है उसका प्रभाव नृत्यकला के शास्त्रीय ग्रन्थों तथा प्रयोगों पर पड़ा। प्राचीन काल की नृत्यशालाओं, रंगशालाओं और चित्रशालाओं में तो उनका प्रयोग होता ही था, परन्तु प्राचीन काल के मन्दिरों, भित्तियों तथा प्रस्तर भित्तियों पर भी भरत-कल्पित मुद्राएँ अंकित हैं। अतः नृत्य के क्षेत्र में भरत मौलिक चिन्तक थे।[४]

---

१. पुष्पांजलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रंगमंडपम्। ना० शा० ४।२७२-७४।
२. यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत्। ना० शा० ४।२७६।
३. ना० शा० ४।३०८-३१२।
४. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ९७-१००।

एकादश अध्याय

आधुनिक भारतीय रंगमंच

क—उत्तर भारतीय रंगमंच

१. पारसी

२. गुजराती

३. मराठी

४. बंगाली

५. हिन्दी

ख—दक्षिण भारतीय रंगमंच

१. तमिल

२. तेलगु

३. कन्नड़

४. मलयालम

ग—राष्ट्रीय रंगमंच

२१

आधुनिक भारतीय रंगमंच

पूर्वपीठिका

भारत की स्वाधीनता के बाद नाट्य, नृत्य और संगीत कलाओं के पुनरुद्धार और पुनर्मूल्यांकन के लिए राष्ट्रीय महत्त्व के प्रयत्न हो रहे हैं। यद्यपि आधुनिक भारतीय नाट्यकला पाश्चात्य नाट्यकला की ऋणी है, पर प्राचीन भारत की नाट्यकला स्वयं इतनी समृद्ध है कि अपने प्रकृत विकास के लिए नितान्त परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं रही है। आधुनिक भारतीय रंगमंच के नवीन स्वरूप की कल्पना गौरवशाली प्राचीन भारतीय रंगमंच से प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। उनमें परंपरागत भारतीय जीवन के आदर्श, आकांक्षाएँ और भावनायें बोलती हैं। पाश्चात्य प्रभाव में पनपने पर भी हमारा आधुनिक रंगमंच उस परम्परा की उपेक्षा कैसे कर सकता है?[1]

भारतीय रंगमंच का स्वर्णयुग

वैदिक युग से वीर काव्य-काल तक के सहस्रों वर्ष के आयाम में प्राचीन भारतीय रंगमंच फूलता-फलता रहा है। उस प्राक् ऐतिहासिक काल के नाट्य तो विस्मृति के गर्भ में हैं, पर यजुर्वेद में नाट्य-प्रदर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियों और पात्रों के उल्लेख हैं।[2] रामायण में 'बधू नाटक-संघों', 'गीत-वादित्र-कुशल' और 'नृत्तशालिनी' स्त्रियों एवं विभिन्न वाद्यों के[3] विवरण से (ख्रिस्ताब्द से सदियों पहले हमारे रंगमंच का इतिहास चला जाता है। पर ख्रिस्ताब्द के

---

१. परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन रचनाओं को किनारे रख दें। जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है भारतीय आचार्यों का नाटय-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन अनेक अंशों में मान्य और प्रामाणिक है।—नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', पृ० २७०।

२. यजुर्वेद अ० ३०।६, ८, १०, १२, १४, १६-२१।

३. रामायण १।१२, १३-७, ५।३२, ३६।

आरम्भिक चरणों में तो अश्वघोष, भास, कालिदास और शूद्रक जैसे रस-सिद्ध कवियों के महान् नाटकों और उनके अभिनयों से हमारी रंगमंचीय परंपरा और भी समृद्ध और विकसित हो जाती है। भास की नाट्यशैली प्राचीन होने पर भी नये पथ का अनुसंधान करती चलती है। उसके दुःखान्त नाटकों के पात्र शेक्सपियर की ट्रेजेडी की परंपरा के हैं। उसके कर्ण और दुर्योधन अपनी दारुण विपत्तियों में भी महान् और स्पृहणीय लगते हैं। शूद्रक का सामाजिक नाटक मृच्छकटिक भारतीय जीवन-भूमि पर परिपल्लवित होने पर भी अपनी व्यापक मानवीय संवेदना के कारण विश्वविख्यात नाटक है। कालिदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में हैं। उनकी प्रतिभा का मधुर फल अभिज्ञानशाकुन्तल विश्व की महत्तर नाट्य-कृतियों में है। इन दोनों नाटककारों ने अपने नाटकों में नाट्यकला का परिनिष्ठित आदर्श प्रस्तुत किया। उत्तररामचरित के रचयिता भवभूति और मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त को छोड़कर शेष नाटककारों के लिए कालिदासोत्तर युग सर्जना का नहीं, अनुकरण और पुनरावृत्ति का (युग) था। ये दोनों नाटककार भारतीय नाट्य-परम्परा की अन्तिम प्रतिभा-ज्योति थे। हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका में काव्य-प्रतिभा का स्फुरण है और मधुर कल्पना भी, परन्तु उनमें कालिदास की-सी नानारसात्मक लोकचरित की महाप्राणता[1] का उद्भावन नहीं हो सका है। हर्ष की प्रतिभा शास्त्रीय नियमों के समक्ष नतमुख हो सामन्ती जीवन के वैभव और विलास-रस की वर्षा कर ही सन्तोष करती है। जीवन की महत्तर, उदात्त चेतना को आलोकित नहीं करती। राजशेखर, मुरारि और जयदेव तो हर्ष-काल के परम्परानुवर्ती नाट्यकार हैं, नवीन नाट्य शैली के प्रवर्तक नहीं।

प्राचीन भारत के रंगभवन

प्राचीन भारत के ये नाटक कला-समृद्ध ही नहीं थे, उनके प्रयोग के लिए उपयोगी और भव्य रंगभवन भी थे। नाट्य-शास्त्र में वर्णित नाट्यमण्डप की रूपरेखा से उसका अनुमान किया जा सकता है। भरत ने नाट्यमण्डप के लिए 'यवनिकापटी' द्वार और मतवारणी, दोमहले रंगमंडप, सीढ़ीनुमा आसन-शैली तथा रंग प्रसाधन का जैसा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है उससे रंगमंच की सुदीर्घ परंपरा का ज्ञान होता है।[2] दुर्भाग्य से उस काल का एक भी रंगभवन अब शेष नहीं है। रामगढ़ की गुफा में प्राप्त सीतावेंगा और जोगीमारा के रंगमंच बहुत दूर तक हमारी सहायता नहीं कर पाते हैं। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावनाएँ निश्चित रूप से सूचित करती हैं कि विभिन्न उत्सवों के अवसरों पर प्रयोग के लिए नाटकों की रचना होती थी। उसके दर्शक विद्वान् और रसज्ञ होते थे और प्रयोक्ता प्रयोग-विज्ञान के ज्ञाता भी।[3] कालिदास, हर्ष और भवभूति ने नाटकान्तर्गत नाटकों की भी परिकल्पना की है। उनमें रंगभवनों का स्पष्ट उल्लेख है। उत्तररामचरित में रामायणीय कथा का अभिनय मुक्ताकाश रंगमंच पर हुआ है। परन्तु मालविकाग्निमित्र के छलिक का प्रयोग संगीत-शाला के रंगमंच पर हुआ है, जिसमें ड्रॉपसीन की यवनिका पटी भी

१. त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यम्……मालविकाग्निमित्र, अंक १।४।
२. नाट्यशास्त्र, द्वितीय अध्याय।
३. आपरितोषाद्, साधु न मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्। अभिज्ञानशाकुन्तल—प्रस्तावना।

थी।[1] हरिवंश में शानदार प्रेक्षागृहों का उल्लेख है, जिनमें 'रामायण' का नाटकीय रूपान्तर और 'कौवेर रंभाभिसार' का अभिनय प्रस्तुत किया गया था।[2] अभिनयदर्पण और काव्यमीमांसा में राजसभाओं के वर्णन हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के काल में तो १८ प्रकार की रंगशालाओं का उल्लेख है। ये रंगभवन कहीं स्वतंत्र सार्वजनिक स्थानों, देवालयों के मण्डपों और राजमहलों की संगीत-सभाओं या चित्रशालाओं में होते थे, जहाँ पूरी तैयारी के साथ नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत करने की परम्परा थी। मत्स्यपुराण, शिल्परत्न और मानसार आदि ग्रंथों में भी राजसभा आदि की निर्माणविधि और शैलियों का विवरण मिलता है। उनसे प्राचीन भारतीय नाटक और रंग-भवनों की उन्नतिशीलता का संकेत मिलता है।[3]

रंगमंच का ह्रास

हर्ष के बाद संस्कृत नाटकों की भाषा समलंकृत और नाट्यशैली काव्यशैली से प्रति-स्पर्धा करने लगी। संवेदना की प्रांजल अभिव्यक्ति के स्थान पर कृत्रिमता और जटिलता छाने लगी। उस पर मध्ययुग में तुर्कों के आक्रमण ने ह्रासोन्मुख इन संस्कृत और प्राकृत नाटकों को असमय ही मृत्यु-मुख की ओर ढकेल दिया। इन क्रूर आततायियों ने हिन्दुओं के मंदिरों, मूर्तियों, राजमहलों और पुस्तकालयों का तो सर्वनाश किया ही, पर आर्यों की सुसंस्कृत जीवन-सभ्यता की गौरवलक्ष्मी, रसवन्ती नाट्यकला और उसकी प्यारी रंगभूमि को भी अपने क्रूर प्रहारों से ध्वस्त कर दिया। इस विरोध की आँधी में भी नाट्य-प्रतिभायें उदित तो हुईं पर उपयुक्त रंगभवनों के अभाव में उन संस्कृत-प्राकृत नाटकों का रंगमंच पर प्रयोग नहीं, विद्वानों के मध्य उनका पाठ होता था। इस तरह बारहवीं-चौदहवीं सदी के उपरान्त विरचित ये भारतीय नाटक काव्य और कभी उपरूपकों के रूप में या तो जीवित रहे या जनपदीय भाषाओं में लिखित रासकों तथा अंकिया नाटकों के रूप में सुगबुगाते रहे। सर्वथा निःशेष नहीं हुए।

मध्ययुग के संगीत-प्रधान (रासक मैथिली आदि) लोक-नाट्य

संस्कृत नाटकों के ह्रास के बाद पूर्वी भारत में लोक-नाट्य की एक और महत्त्वपूर्ण परंपरा मध्ययुग से होती हुई १९वीं सदी तक चली आई है। सदियों तक इसने जनमानस का अनुरंजन किया है। इन लोक-नाटकों में दोहरी भाषा का प्रयोग हुआ है। संवाद तो शिष्ट, सरल संस्कृत में है पर गीत देशी भाषा में। यह देशी भाषा या तो मैथिली है या उससे प्रभावित अन्य स्थानीय

---

१. संहतु मधीरनया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्। मालविकाग्निमित्र अंक २।१

२. हरिवंश : विष्णुपर्व—अ० ९३।६-३७।

३. मत्स्यपुराण अध्याय २५२-२५७, अग्निपुराण १००-१०६ (अध्याय)।

One thing may be taken as for granted that during the 4th century A. D. When Indian architecture entered upon a renewed course of creativity and development. Names of 18 teachers had become standardise as representing so many different branches of schools of architectural canons.

—Matsya Purana's Study, V. Agrawal—Introduction

भाषा। उत्कल के महाराज कपिलदेव के नांटकों में संस्कृत गद्य के साथ 'हिन्दी-गीत' अनुस्यूत हैं। देशी भाषा में गीत-रचना की भी परम्परा कालिदास के मालविकाग्निमित्र में मिलती है।[1] भरत का ऐसा स्पष्ट विधान भी है कि नाटकों में गीतों की भाषा देशी हो।[2] इस शैली की नाट्य-परंपरा के अनुसंधान की दृष्टि से नेपाल का साहित्यिक इतिहास अत्यन्त महत्त्व का है। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से भयभीत हो मिथिलेश महाराज हरिसिंहदेव ने नेपाल में राज्य की स्थापना की, और राजमहलों, साथ ही रंगभवनों की भी। उन्हीं में ऐसे गीत-प्रधान मैथिली नाटकों का अभिनय होता था। सोलहवीं सदी तक यह नाट्य-धारा पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। इसमें संस्कृत के संवाद, नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य और प्रवेश-निष्क्रमण की योजना संस्कृत नाटकों की परम्परा में पायी जाती है। परन्तु मैथिली गीतों के साथ उनकी राग-रागिनियों का भी उल्लेख है।[3] ऐसे नाटकों की संख्या लगभग सौ बताई जाती है।[4] उनमें उमापति-कृत पारिजातहरण उल्लेख्य है। इसमें संवाद तो संस्कृत में है पर गीत मैथिली में हैं। मिश्रित भाषा में रचित इन संगीत-प्रधान मैथिली नाटकों का प्रचार १५वीं सदी में सुदूर आसाम तक हो गया था। स्थानीय प्रभाव के कारण गीतों की भाषा कुछ भिन्न होती थी। महात्मा शंकरदेव ने वैष्णव धर्मानुयायियों के लिए ऐसे संगीत-प्रधान नाटकों की रचना की। संगीत-प्रधान नाटकों की परम्परा, संभव है, बहुत प्राचीन रही हो। जैन और वैष्णव-मन्दिरों में रास की परम्परा, पहले से रही है। इत्सिग ने इसका उल्लेख किया है कि 'जीमूतवाहन-चरित्र' को लयबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया था। देवमंदिरों के सहारे यह धार्मिक परम्परा जीवित थी। पर तुर्कों के आक्रमण ने इसे भी धूल में मिला दिया। आचार्य हितहरिवंश और हरिदास ने इसे पुनरुज्जीवित किया और परवर्ती वैष्णव संतों ने अपनी कल्पना द्वारा इस परम्परा को समृद्ध किया। बाद में सम्पूर्ण नाटक गीत में ही रचे जाते थे। इस परम्परा के निवाज कवि, बनारसीदास और व्रजवासी दास की कृतियों को डॉ॰ दशरथ ओझा ने नाटक ही माना है।[5]

मध्यकाल से १९वीं सदी तक यह लोक-नाट्य-शैली चलती रही। साथ में लोक-नाट्य के अन्य रूप भी चल रहे थे। ये संगीत-प्रधान धार्मिक नाटक हिन्दुओं के टूटे-फूटे मंदिरों की ओट में पनपते हुए लोक-चेतना को शक्ति और गति दे रहे थे।

भारतीय लोक-नाट्यों की परंपरा और स्वरूप

तुर्कों के आक्रमण से देश की राज्याश्रित रंगशालाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं और प्रयोज्य नाटकों की रचना भी अवरुद्ध हो गई। परन्तु लोकमानस की धर्म-पिपासा और मनोविनोद की प्रवृत्ति संगीत-प्रधान नाटकों के रूप में मध्ययुग में पनपने लगी। उधर दूसरी ओर रामायण महाभारत के साभिनय पाठ की परम्परा पहले से चली ही आ रही थी। वाचक जनमुक्ताकाश रंग-

१. मालविकाग्निमित्र, अंक २।४
२. नाट्ययोगे तु कर्तव्यं काव्यं भाषा समाश्रयम्।
अथवा छंदतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः। ना॰ शा॰ १७।४५क तथा १७।४६ख-४७क।
३. परिजातहरण : श्लोक संख्या ४ (नटराग), ५ (मालवराग) आदि।
४. डॉ॰ दशरथ ओझा, हिन्दी के आदिनाटक, हिन्दी अनुशीलन अगस्त ५५, पृ॰ २१।
५. वही, पृ॰ २२।

मंचों पर इसे प्रस्तुत करते थे। भास और भवभूति ने कभी अपनी परिष्कृत कला से वीरगाथाओं को और भी चमत्कृत तथा रसानुरंजित किया था। पर मध्यकाल में रामलीला, रासलीला, कृष्ण-लीला, यात्रा और भागवतम् आदि लोकनाटकों के माध्यम से ही लोकमानस की धार्मिक भावना और आदर्श का प्रतिफलन होने लगा। इस परम्परा की जड़ें इतनी गहरी थीं कि आज भी अपने विकसित रूप में सारे भारत में किसी न किसी रूप में व्याप्त हैं।

रामलीला

रामलीला की यह परम्परा सदियों से चली आ रही है। विजयादशमी के अवसर पर समस्त उत्तर भारत में साभिनय रामायण पाठ के साथ ही कथा-वस्तु के अनुरूप वेश-रचना और मुखौटों के द्वारा रामलीला मनायी जाती है। रामायण-महाभारत के पाठ की परम्परा सुदूर जावा में भी कई सदियों तक प्रचलित रही है। काशी के रामनगर में रामलीला का जैसा शानदार प्रदर्शन होता है वह अब अपने-आप में अद्वितीय है। वाल्मीकि रामायण के स्थान पर तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का पाठ और प्रदर्शन की परंपरा कई सदियों से चली आ रही है। इस अवसर पर उत्तर भारत में रावण-वध के रूप में उसके तथा मेघनाद आदि के विशाल भयावह पुतले को जलाने की परम्परा बहुत लोकप्रिय और आकर्षण का केन्द्र रही है। रामकथा के अभिनेता आकर्षक एवं भव्य वेशभूषा के साथ युद्धभूमि में प्रस्तुत हो सारा आयोजन नाटकीय शैली में प्रस्तुत करते हैं।[1]

कृष्णलीला या रासलीला

ब्रज-भूमि में रासलीला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सावन में रासधारी कम्प-नियाँ वृन्दावन आदि पवित्र स्थानों में कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित गीत-प्रधान नाट्यों का प्रदर्शन करती हैं। निःसंदेह इन रासलीलाओं का मूल-स्रोत श्रीमद्भागवत और हरिवंश में पाया जाता है। ये रासलीलाएँ अवध के नवाब के यहाँ भी लोकप्रिय हुईं और अभी उसकी परम्परा जीवित है।[2]

यात्रा

यात्राएँ बंगाल में बहुत लोकप्रिय रही हैं। कीथ के मतानुसार इनकी परम्परा प्राचीन धार्मिक लोक-नाट्यों में ढूंढ़ी जा सकती है। बंगाल के जन-जीवन की धर्म-भावना इन्हीं यात्राओं के माध्यम से सदियों से प्रतिफलित होती आयी है। यात्रा में विशेष उत्सवों के अनुरूप गायन और संवाद की योजना होती है। उसमें कृष्ण-जीवन की मधुर कथाओं का सन्निवेश बड़े प्रभाव-शाली रूप में प्रस्तुत किया जाता है। निःसंदेह यात्रा का विकास कृष्ण-कथा से ही संबंधित है। यद्यपि आधुनिक यात्राओं में अन्य लौकिक विषयों का भी प्रयोग होता है परन्तु उसकी धार्मिकता और रागात्मकता पूर्ववत् वर्तमान है। कृष्ण-यात्रा, चण्डी-यात्रा, रथ-यात्रा और चैतन्य-यात्रा के रूप में प्रसिद्ध थीं। उत्तरवर्ती काल में धर्म का प्रभाव क्षीण होने पर 'विद्या-सुन्दर' जैसा

---

१. ए० बी० कीथ : संस्कृत ड्रामा—इट्स ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ४२।

२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, पृ० ६०-११२।

श्रृंगार-प्रधान नाट्य भी यात्रा के रूप में जनमानस का अनुरंजन करता रहा है। लोक-नाट्य यात्रा के माध्यम से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पहुँच जाता है जब एक ओर पश्चिमी नाट्य-परम्परा पूर्वी भारत के क्षितिज पर अपना प्रकाश विकीर्ण करने लगती है। १८वीं सदी में 'श्रीदल' और 'सबुल' 'यात्रा-वाला' के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्नीसवीं सदी में मुकुन्ददास ने अपनी यात्राओं द्वारा जनमानस में देश-भक्ति की चेतना भी प्रज्वलित की।[1] यात्राओं की अपेक्षा 'गंभीरा' में दृश्यविधान अधिक आकर्षक होता है। 'गंभीरा' लोकोत्सव के विपरीत यात्राओं का प्रदर्शन बिना किसी आकर्षक दृश्यविधान के होता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यात्रा-नाटकों की परम्परा में 'वाल्मीकि-प्रतिभा' और 'मायार खेल' जैसे लोक-नाट्यों की रचना[2] की। इसी परम्परा में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नाट्यकार देवत के संगीत नाटक भी हैं।

ललित और भवाड़

महाराष्ट्र में ललित अत्यन्त लोकप्रिय नाट्य-परंपरा है। इसमें 'दशावतारम्' का अभिनय होता है। यह भी धर्म-प्रधान नाट्य है। नवरात्र के अवसर पर इसका प्रयोग होता है। मंदिरों और जननाट्य-गृहों में एक-दो पर्दे के सहारे इनका अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। 'कचदेवयानी' और 'दामाजित पन्त' आदि लोकनाट्यों के द्वारा लौकिक भावना, यथार्थवादिता, प्रहसन और व्यंग्य को भी मराठी नाट्य-परंपरा में स्थान मिला है। गुजराती का 'भवाड़' लोकनाट्य बहुत प्रसिद्ध है। मूलतः यह धार्मिक है और रंगमंच पर स्वयं 'गणपति' के प्रस्तुत होने की परंपरा चली आ रही है। इसका प्रदर्शन मुक्ताकाश रंगमंच, मन्दिरों और सार्वजनिक स्थानों में सदियों से होता आ रहा है। इसके अतिरिक्त राधा और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित संगीतात्मक नाट्य-संवादों के प्रयोग की परंपरा बहुत पुरानी रही है। कथावाचक हरिकथा में कृष्ण की सारी कथा नाटकीय शैली में प्रस्तुत करता है।

पंजाबी लोकनाट्य

पंजाब आर्यों की प्राचीन गौरव-भूमि है। यहीं वेदों और गीता की रचना हुई। यहीं पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना की। परन्तु विदेशी आक्रमणकारियों की लहर ने यहाँ की नाट्य-परंपरा को अक्षुण्ण न रहने दिया। आधुनिक नाटक तो मराठी या बँगला की तरह उभर न सके, परन्तु लोक-नाटक और ग्राम-नाच पंजाबी जीवन के अंग रहे हैं। इस दिशा में प्रो० आर० सी० नन्दा और नोरा रिचार्ड्स के कार्य चिरस्मरणीय रहेंगे। इन्होंने पंजाबी नाटक के पुनरुद्धार की दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया। पंजाब में गोपीचन्द, पूरन भगत और हकीकतराय जैसे लोक-नाट्य बहुत लोकप्रिय रहे हैं।

असमिया अंकिया नाट्य

असमिया अंकिया नाट (एकांकी) १५वीं सदी से १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आसाम

---

१. प्रबोध सी० सेन : बंगाली ड्रामा एण्ड स्टेज—इण्डियन ड्रामा, पृ० ५०; तथा
ए० बी० कीथ : संस्कृत ड्रामा—इट्स ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ४०।

२. प्रबोध सी० सेन : बंगाली ड्रामा एण्ड स्टेज—इण्डियन ड्रामा, पृ० ४३।

के सांस्कृतिक जीवन के आधार रहे हैं। शंकरदेव ने इसका प्रवतन किया और उनके शिष्यों ने उनको समृद्ध किया। उनकी संख्या सैकड़ों है। इनका अभिनय आसाम के गाँवों और महापुरुषों के सत्रों (मठों) में होता था। इनकी कथावस्तु वैष्णव धर्म के उपजीव्य श्रीमद्भागवत, हरिवंश, रामायण और महाभारत की अनेक धर्म-कथाओं पर आधारित है। श्लोकों में संस्कृत, सूत्रों में असमिया और गीतों में ब्रजवुलि (मैथिली और असम का मिश्रण) का प्रयोग है। पूर्वी भारत के लोकजीवन में ये पाँच सौ वर्षों तक लोकप्रिय बने रहे हैं। परन्तु बाद में अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रसार ने इन्हें शहर और गाँवों से प्रायः सदा के लिए विदा कर दिया है। पर ये अब भी गौरव-पूर्ण सांस्कृतिक थाती हैं।[1] पूर्वी भारत की इस लोक-नाट्य पद्धति के पुनरुद्धार द्वारा एक विस्मृत-प्राय लोक-कला का पुनः उन्मेष हो सकता है।

दक्षिण भारत के लोकनाट्य

दक्षिण भारत के 'भागवतम्' प्राचीन लोकनाट्य परंपरा के सजीव रूप हैं। इन लोक-नाट्यों में कृष्ण के जीवन की कथाएँ, रामदास जैसे सन्तों की भक्ति-भावना और लोकप्रिय गीति-नाट्यों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। केरल का कथकली नृत्य प्राचीन नाट्य-परंपरा-समृद्धि का प्रतीक है। इसमें पात्र मुखौटे पहनकर कृष्ण-जीवन से संबंधित रसात्मक कथाओं को नाट्य-शैली में प्रस्तुत करते हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि दक्षिण भारत में नाट्य-नृत्य और संगीत की समृद्ध परंपराएँ मुसलमानों के प्रतिरोध के रहते हुए भी मंदिरों की देव-दासियों, अन्य आचार्यों एवं कलाकारों के माध्यम से निरंतर विकसित होती रही हैं। अतः दक्षिण भारत के इस विशाल भूभाग में नाट्य-कला की अपेक्षा नृत्य-कला ही पिछली कई सदियों से अधिक सक्रिय और समृद्ध रही है। कथकली नृत्य में भरत-निर्दिष्ट आहार्य एवं आंगिक अभिनयों का प्रयोग प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत होता है। इसके समानान्तर नृत्य चीन, जापान और हिन्देशिया (जावा) में अभी भी प्रचलित हैं।[2]

आज का हमारा रंगमंच

आज का भारतीय रंगमंच बहुरंगी है। हर प्रादेशिक रंगमंच अपने स्वरूप और शिल्प की दृष्टि से एक-दूसरे से कुछ भिन्न तो है पर व्यापक रूप में उनमें एकता भी है। भारत में सदियों से प्रवहमान संस्कृति की आंतरिक धारा हमारे रंगमंच को भी प्राण-रस से पुष्ट कर रही है। संस्कृत के नाटकों के ह्रास के बाद भी सदियों तक विभिन्न लोक-नाट्यों में धर्म और लोको त्सवों की रसवन्ती धारा के रूप में वस्तुगत साम्य (असाधारण रूप से) वर्तमान है। रामायण, महाभारत, हरिवंश और श्रीमद्भागवत में वर्णित महापुरुषों और देव-पुरुषों की कथाएँ इन लोक-नाट्यों को प्राण-रस से संवर्द्धित करती आई हैं। केरल का कथकली नृत्य और बंगाल की यात्राएँ कृष्ण-जीवन की रंगबिरंगी कथा-भूमि पर परिपल्लवित होती रही हैं। भरत ने नाटकों के लिए 'महापुरुष संचारम्' और 'साध्वाचार जनप्रियम्' का जो महत्तर आदर्श प्रस्तुत किया था, वह

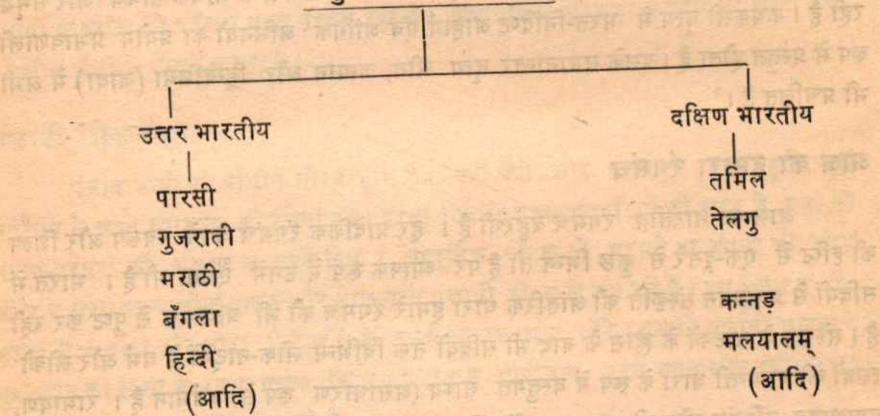
---

१. विरंचिकुमार बरुआ, असमिया अंकिया नाट, साहित्य-संदेश का अन्तःप्रान्तीय नाटकांक, पृ० ७५-७६, जुलाई-अगस्त १९५५ तथा परिशिष्ट 'शारदीया' नाटक, जे० सी० माथुर।

२. सी० बी० गुप्ता : इण्डियन थियेटर, पृ० १६०।

इन लोकनाट्यों के माध्यम से आज भी जीवित है। तुर्कों के आक्रमण के बाद राजाओं के रंगमहल तो टूट गये, मंदिर भी खण्डहर हो गए, पर भारत का आदर्श नहीं टूटा। वह विभिन्न प्रदेशों के लोकनाट्यों के माध्यम से लोक-जीवन में मूर्त है, नये रूप लेकर।

उन्नीसवीं सदी के उदयकाल तक भारतीय जीवन, दर्शन और कला पर पाश्चात्य सभ्यता की किरणें अपना रंग और प्रकाश बिखेरने लगी थीं। सब प्रादेशिक रंगमंच भी समान रूप से उससे प्रभावित हुए। परन्तु उस प्रभाव के चकाचौंध में भी भारतेन्दु (हिन्दी), गिरीश घोष (बँगला), रणछोड़ भाई उदयराम (गुजराती) और किर्लोस्कर (मराठी) जैसे महान् अभिनेता और नाटककारों ने संस्कृत नाटकों और उनके रूपान्तरों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत कर आधुनिक भारतीय रंगमंचों को भारतीयता के रंग में रँगने का स्तुत्य प्रयास किया था। समान रूप से सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यंग्य-प्रधान नाटकों की रचना विविध भाषाओं में हुई और उनके प्रयोग भी हुए। पाश्चात्य नाट्य-प्रभाव में पोषित पारसी कंपनियों ने भी भारतीय रंगमंचों पर कुछ-न-कुछ अमिट चिह्न अंकित किये हैं। चलचित्रों की भव्य दृश्य-योजना एवं अन्य शिल्पों से भारतीय रंगमंच आज जड़ीभूत-सा है। स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय रंगमंच के पुनरुन्नयन का मंगल-शंख फूंका तो गया है पर उसका भविष्य लोकमानस की आकांक्षा और युग-चेतना को स्वर देने वाले सफल नाटककारों के नाटकों, कुशल निर्देशकों, सुशिक्षित प्रयोक्ताओं, सहृदय प्रेक्षकों और स्थायी रंगभवनों पर निर्भर करता है। तभी राष्ट्रीय रंगमंच की सुनहली कल्पना मूर्त्त हो सकती है। हम आधुनिक भारतीय रंगमंचों की रूपरेखा अगले कुछ पृष्ठों में इसी संदर्भ में प्रस्तुत कर रहे हैं।



पारसी रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच के इतिहास में पारसी रंगमंच की देन महत्त्वपूर्ण है। बम्बई के विकासशील आधुनिक भारतीय रंगमंचों के तो वे अग्रदूत हैं। गुजराती, उर्दू और हिन्दी का आधुनिक रंगमंच उनका ऋणी है। पश्चिमी नाटक कम्पनियों की देखादेखी पारसियों की भी नाटक-कंपनियाँ खुलीं। उन पर नाट्य-शिल्प के अनेक विस्मयकारक प्रयोग प्रस्तुत किये गए। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर चलचित्रों के आगमन तक लगभग एक अर्द्धशतक तक वे सारे

भारत में छायी रहीं। सस्ता मनोरंजन, अभद्र प्रहसन और हलके-फुलके गीतों द्वारा जनमानस को तुष्ट कर अधिकाधिक द्रव्योपार्जन उनका उद्देश्य था। इनके द्वारा इस लम्बी अवधि में एक बहुत बड़े अभाव की भी पूर्ति हुई। आरम्भ में गुजराती, फिर उर्दू, हिन्दुस्तानी और बाद में 'वीर-अभिमन्यु' आदि के द्वारा हिन्दी नाटकों की ओर भी वे झुके ही थे कि चलचित्रों के चमत्कार और आकर्षण ने इन्हें आकर्षणहीन बना दिया। चलचित्र के मोहक दृश्यविधान और अन्य आकर्षणों ने पारसी नाटक-कम्पनियों को ही नहीं, भारत के विभिन्न प्रदेशों में बिखरी हुई देशी नाट्य-मण्डलियों पर भी बड़ा कठोर आघात किया। बम्बई इनका प्रधान केन्द्र था, परन्तु ये देश के प्रधान नगरों तथा ब्रिटेन में भी नाट्य-प्रदर्शन कर आयी थीं। अतः पारसी थियेटर कम्पनियों का महत्त्व आधुनिक रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक मूल्य का है।

पोस्ताजी फ्रामजी ने १८७० में पहली व्यावसायिक पारसी कम्पनी स्थापित की। उसके कुछ ही वर्षों बाद खुर्शेदजी ने 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी' को जन्म दिया। नाट्य-प्रदर्शन के लिए अपनी नाट्य-मण्डली को ये ब्रिटेन तक ले गये थे। समकालीन कम्पनियों में अल्फ्रेड ओल्ड पारसी थियेट्रिकल अलेक्जेंड्रिया और कोरेन्थियन थियेटर कम्पनियों के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इनके अभिनेताओं में खुर्शेदजी, वांदीवाला, काश्वाजी खत्ताउ, सोहराबजी और जहाँगीरजी अपने प्रभावपूर्ण अभिनयों द्वारा बहुत लोकप्रिय हुए। इन कम्पनियों में लेखक और गायक नियुक्त रहते थे और पात्र के रूप में सुन्दर रूप-रंग तथा मधुर-स्वर के गायन में किशोर पात्रों को तरजीह दी जाती थी। बहुत दिनों तक स्त्रियाँ रंगमंच पर नहीं आईं, परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के कारण पहले-पहल वांदी वाला ने पारसी रंगमंच पर 'गौहर', मेरी फेन्टन और मुन्नाबाई को प्रस्तुत कर अपनी कम्पनी को और भी अधिक लोकप्रियता प्रदान की।[१]

इन थियेटर कम्पनियों में परस्पर स्पर्धा भी खूब रहती थी। ड्रॉप्सीन की यवनिका बड़ी ही भव्य होती थी। उस पर पौराणिक काल के सुन्दर भव्य चित्र अंकित होते थे। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक चित्रित यवनिकाओं का भी प्रयोग होता था। दर्शकों की गैलरी सुसज्जित होती थी। नाटक का आरम्भ सामूहिक गान से होता था और दृश्य-परिवर्तन की सूचना बन्दूक की थर्राती हुई आवाज़ से दी जाती थी। पार्श्व के द्वारों से पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण होता था। भाषा उर्दू-हिन्दुस्तानी सरल और प्रभावशाली भी होती थी। निःसंदेह पात्रों की भव्य वेश-भूषा, पर्दों की आकर्षक सजावट तथा विस्मयोत्पादक दृश्य-योजना को कथावस्तु, संवाद और अभिनय की कलात्मकता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता था। पारसी कंपनियाँ पटरियों पर रेल की सरपट दौड़, आकाश में हवाई जहाज़ की उड़ान और पात्रों के शिरोच्छेद जैसे कौतूहलपूर्ण दृश्यों से दर्शकों का मन मोह लेती थीं। भारतीय नाट्य-परंपरा की रसानुभूति, कथावस्तु, संवाद और अभिनय की कुशलता का स्थान गौण था। इन पारसी कंपनियों ने ऐसे प्रदर्शनों के द्वारा उस युग के लोकमानस की विनोदशील रुचि को तुष्ट कर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया था। आधुनिक भारतीय रंगमंच के इतिहास में ये थियेटर कंपनियाँ अविस्मरणीय रहेंगी। ये अपना अमिट चिह्न इस रूप में छोड़ गयी हैं कि हिन्दीतर क्षेत्र की इन कम्पनियों द्वारा हिन्दी-नाटकों को, आंशिक रूप से ही सही, उस युग में अखिल भारतीय ख्याति और मर्यादा प्राप्त हो सकी।[२]

---

१. याज्ञिक : इण्डियन थियेटर, पृ० ९६-९७।

२. जे० सी० माथुर : 'शारदीया' नाटक का परिशिष्ट, पृ० ११६।

गुजराती रंगमंच

आधुनिक गुजराती रंगमंच का इतिहास लगभग पिछली एक सदी का है। पारसी थियेटरों ने आरम्भ में अपने नाटकों में गुजराती को प्रश्रय दिया था। अतः गुजराती रंगमंच का बाल्यकाल उसी की छाया में पनपा, पर धीरे-धीरे गुजराती रंगमंच उससे स्वतन्त्र रूप में विकसित होने लगा।

गुजराती रंगमंच का पुनर्जन्म तो पारसी थियेटरों के प्रतिरोध में हुआ। प्रसिद्ध गुजराती नाटककार रणछोड़ भाई उदयराम की सेवायें इस संदर्भ में ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। पारसी थियेटरों के विदेशीपन और गुजराती भवाई नाट्यमण्डली द्वारा प्रस्तुत हलके, ग्राम्य एवं उपहास-पूर्ण नाटकों को देखकर नयी शैली की नाट्य-रचना की ओर उनका ध्यान गया। आरम्भ में उन्होंने गुजराती थियेटरों के लिए संस्कृत नाटकों के रूपान्तर प्रस्तुत किये। बाद में 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नलदमयन्ती' जैसे पौराणिक तथा 'ललित-दुःख-दर्शक' जैसा दुःखान्त सामाजिक नाटक का अभिनय भी प्रस्तुत किया। 'हरिश्चन्द्र' का प्रदर्शन तीन महीने तक निरन्तर होता रहा। इसी के आसपास ही नर्मदाशंकर ने 'द्रौपदी-दर्शन', 'सीताहरण' और 'बाल-कृष्ण' जैसे पौराणिक नाटकों को रंगमंच पर सफलता के साथ प्रस्तुत किया। १८७८ में 'मौर्वी आर्य सुबोध नाटकमण्डली' की स्थापना हुई और उसका 'त्रिविक्रम' नाटक लगातार पाँच वर्षों तक चलता रहा और 'चन्द्रहास' की लोकप्रियता बहुत दिनों तक बनी रही।[१] १९वीं सदी के अन्तिम चरण में गुजराती रंगमंच विकास की ओर तेजी से बढ़ा। व्यवसाय-बुद्धि से प्रेरित हो गुजरातियों ने कई नाटक-कंपनियाँ खोलीं, जिनमें नरोत्तम गुजराती, बम्बई गुजराती और देशी गुजराती कंपनी, गुजराती नाटकों के प्रदर्शन में रुचि लेती रही। गुजराती रंगमंच के उत्थान में दयाभाई का नाम अविस्मरणीय रहेगा। १८८५ में स्थापित इनका 'देशी नाटक समाज' आज भी गुजराती रंगमंच की पताका एकाकी ही थामे हुए है। यही एकमात्र व्यावसायिक गुजराती रंगमंच अब शेष रह गया है। यों इस सदी के आरम्भ में और भी कई नाटक-कंपनियाँ आगे आईं। उनमें आर्य-नीति-दर्शक नाटक समाज, आर्य नाट्य-समाज, आर्य नैतिक नाटक समाज, विद्या-विनोद नाटक-समाज, सरस्वती नाटक-समाज और लक्ष्मीकान्त नाटक-समाज द्वारा प्रस्तुत नाट्य-प्रदर्शनों ने गुजराती रंगमंच को गति और शक्ति दी।

मराठी और बंगला की तरह गुजराती भाषा समृद्ध तो है, पर इसे उन दोनों की-सी ख्याति नहीं मिल सकी है। इसीलिए इसका रंगमंच उनकी तरह उतना उन्नत नहीं हो सका। पिछले अर्द्धशतक में गुजराती रंगमंच ने विकास के लम्बे डग भरे हैं। इस काल में रमणभाई, नानालाल, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, रमणलाल देसाई, चन्द्रवदन मेहता, श्रीधाराणजी आदि के नाटकों ने गुजराती रंगमंच को समृद्ध किया है। मुंशी, मेहता और देसाई के नाटक और भी अधिक लोकप्रिय रहे हैं, और इनके नाटकों का अभिनय गुजराती रंगमंच पर निरन्तर होता रहा है। मुंशी और मेहता के नाटकों और उसमें प्रयुक्त नाट्य-शिल्पों से भारत के अन्य रंगमंचों को नयी दिशा प्राप्त हो रही है। मुंशी का ऐतिहासिक नाटक 'देवी ध्रुवस्वामिनी' खूब लोकप्रिय है। देसाई-लिखित स्वर्णोदय और स्वर्णयुग ढाई सौ दिनों तक प्रदर्शित हुए।[२] मेहता के अपने भाव-

१. डी० जी० व्यास : गुजराती ड्रामा, इण्डियन ड्रामा, पृ० ५८।
२. वही, पृ० ६०।

पूर्ण अभिनय, कुशल-निर्देशन, अभिनय योग्य रंगमंचीय नाट्य-कृतियों द्वारा गुजरात में अव्यावसायिक रंगमंच को खूब ही समृद्ध किया है। मजदूर जीवन पर आधारित उनका 'आग गाड़ी' नाटक बहुत ही लोकप्रिय है। गुजराती रंगमंच विकास की ओर प्रयत्नशील तो है, पर वर्तमान अवस्था संतोषजनक नहीं कही जा सकती। गुजरात का व्यवसायी रंगमंच तो सस्ते बनावटी अभिनय, रुचिहीन यथार्थतावादी दृश्य-योजना, सस्ते भावुकता-भरे गाने और अश्लील प्रहसन को प्रश्रय दे रहा है। गुजराती में इससे अधिक बेहतर तथा अधिक आधुनिक और कलात्मक व्यवसायी नाट्यमण्डली के संचालन की दिशा में शुभ प्रयत्न हो रहे हैं।[1] गुजरात विद्या सभा (अहमदाबाद) द्वारा स्थापित नाट्य-मण्डली के तत्वावधान में 'मैना गुर्जरी' और अन्य लोक-नाट्यों को नवीन नाट्य-शैली में प्रस्तुत किया जा रहा है। अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में इंडियन नेशनल थियेटर, भारतीय विद्या भवन का 'कलाकेन्द्र' और 'रंगभूमि' (बम्बई) तथा 'रंगमण्डल' (अहमादाबाद) रंगमंच के उत्थान की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

प्राचीन गुजराती रंगमंच की तुलना में अब नवीन नाट्य-शैलियों का प्रयोग हो रहा है, पर गीत अभी भी इस रंगमंच का अभिन्न अंग है। स्त्री-पात्रों की भूमिका में मराठी रंगमंच की तरह स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं।[2]

गुजराती रंगमंच की पुरानी परम्परा गौरवशाली रही है, पर उसका भविष्य सुनहला नहीं अन्धकाराच्छन्न-सा लगता है। यद्यपि अन्य नाटच-मण्डलियाँ और पचहत्तर वर्ष पूर्व स्थापित 'देशी नाटक-समाज' इसके उत्थान की दिशा में प्रयत्नशील हैं। सरकार की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि इस ओर है। इससे आशा बँधती है।

मराठी रंगमंच

मराठा वीरों की भाँति मराठी रंगमंच का इतिहास आत्म-बलिदान और त्याग की उज्ज्वल कीर्ति-कथा है। इसका उत्थान मराठी साहित्यकार और नाट्य-लेखकों की जागरूक सामाजिक चेतना एवं अभिनेताओं की प्रतिभा और पूर्ण निष्ठा के द्वारा हुआ है। फलस्वरूप मराठी रंगमंच भारतीय जनजीवन में छायी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं के विरोध में उत्थान और प्रेरणा का एक शक्तिशाली माध्यम रहा है। महाराष्ट्र में आगरकर, केलकर और सावरकर जैसे क्रान्तिकारी समाज-सुधारक और खाडिलकर और वामणराव जोशी जैसे महान् राजनीतिक विचारकों का प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त होने के कारण मराठी रंगमंच उनके विचारों का शक्तिशाली वाहन बना। दूसरी ओर बाबूराम कोलहतकर और बालगंधर्व जैसे महान् संगीतकारों ने रंगमंच के विकास के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की। मराठी रंगमंच महाराष्ट्र में आध्यात्मिक उत्थान, सामाजिक क्रान्ति और पराधीन राष्ट्र की मुक्ति की विजयिनी पताका लेकर दृढ़ चरणों से आगे बढ़ा।

आधुनिक मराठी रंगमंच का समारंभ आज से सवा सौ वर्ष पूर्व १८४३ में हुआ। कन्नड़ रंगमंचीय परम्परा का अनुसरण करते हुए संगली के राजा के आदेश से उनके दरबार के

---

१. नेमिचन्द जैन : व्यवसायी रंचमंच, आजकल—सितम्बर ६२, पृ० १६।

२. श्रीकृष्णदास : हमारी नाट्य-परम्परा (गुजराती नाटक और रंगमंच), १९५६, पृ० ४४०,४४८।

कीर्तनकार विष्णुदास भावे ने संगीत नाटक प्रस्तुत किये। इनमें संवाद नहीं थे। कथा-वस्तु से परिचित पात्र, गीतों के मध्य में अपनी ओर से गद्यात्मक संवाद जोड़ देते थे। 'सीता स्वयंवर' मराठी का पहला नाटक था। भावे ने कई शृंगार-प्रधान दुःखान्त नाटकों की भी रचना की।[1] यह ध्यातव्य है कि भावे की नाट्य-मण्डली ने कुछ हिन्दी नाटक भी उस काल में प्रस्तुत किये।[2]

मराठी नाटकों के अभिनय के लिए आर्योद्धारक, महाराष्ट्र, नरहरबुवा और साहुनगर-वासी आदि कम्पनियाँ खुलीं। शेक्सपियर के 'कॉमेडी ऑफ़ एरर' का मराठी रूपान्तर आर्योद्धारक ने प्रस्तुत किया। साहुनगरवासी कम्पनी मुख्यतया पौराणिक नाटक प्रस्तुत किया करती थी। संत तुकाराम के रूप में गणपतराव जोशी और नारी-पात्र की भूमिका में बलवंतराव जोग विख्यात थे।

यह युग शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों का मराठी भाषा में नाट्य-प्रयोग के रूप में प्रस्तुत करने का था। आगरकर द्वारा प्रस्तुत तथा शेक्सपियर के हैमलेट एवं अन्य दुःखान्त नाटकों के नायक के रूप में गणपतराव जोशी ने प्रेक्षकों को वर्षों तक मुग्ध रखा। उनकी नूतन अभिनय-विधियों ने मराठी रंगमंच को समृद्ध किया।[3]

मराठी रंगमंच के इतिहास में अभिनेता एवं नाटककार स्व० अन्नासाहेब किर्लोस्कर का महत्त्व ऐतिहासिक है। उन्होंने १८८० में किर्लोस्कर कम्पनी की स्थापना की और 'संगीत शकुन्तला', 'संगीत सुभद्रा', 'सुखदा' और 'रामविजय' आदि स्वरचित नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये। इस नाट्य-मण्डली के लिए बाबूराव कोलहतकर जैसे महान् संगीतकार ने अपने दिव्य संगीत की मधु वर्षा की और नायिका की भूमिका में प्रस्तुत हो दर्शकों को वर्षों तक मंत्रमुग्ध किया था।

किर्लोस्कर के बाद कोलहतकर वर्षों तक मराठी रंगमंच पर छाये रहे। देवल-रचित स्वतंत्र ताटक 'शारदा' में गीतों की मधुर योजना पर कोलहतकर का ही प्रभाव था। स्वदेश हितचिंतक की रंगभूमि पर केशव भोंसले ने देवल-रचित 'शारदा' की सफल भूमिका और कोलहतकर ने मधुर गीतों द्वारा उसे अमरता प्रदान की। इसी नाट्य-संस्था को महान् मराठी नाटककार स्व० मामा वरेरकर के प्रथम नाटक 'कुंजविहारी' (१६०८) को प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बीसवीं सदी के आरम्भ तक मराठी नाटक में मुख्यतया उच्च वर्ग की आकांक्षाएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं। परन्तु सामान्य जन के सुख-दुःख और हर्ष-विषाद को नाटकों में स्वर दिया माधवराव पत्नाकर ने। पर उनकी इस लोकपरक उद्बुद्ध चेतना को महाराष्ट्र के सुदूर ग्रामों तक फलाया बाबाजीराव राणे ने। वे बड़े उत्साही अभिनेता थे। संत तुकाराम की पत्नी की भूमिका में अभिनय करते हुए ही इनकी इहलीला समाप्त हुई।

मराठी रंगमंच के इतिहास में भोंसले और गायक-अभिनेता बालगंधर्व की देन चिर-

---

१. मराठी रंगभूमि—जून १६०३, पृ० १६।

२. It is worth noting that Bhava's troup, which copied Kannada drama produced a few Hindi plays also. Marathi Theatre : D. Nadkarni. Indian Drama, p. 78, Publication Division 1956.

३. Indian Theatre, p. 94 (Yagika).

स्मरणीय रहेगी। वे कई युगों तक मराठी रंगमंच पर छाये रहे। इन दोनों महान् अभिनेताओं ने स्व० मामा वरेरकर और खाडिलकर-रचित नाटकों का अभिनय प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया। खाडिलकर कृत कीचक-वध के अभिनय ने कभी महाराष्ट्र के जन-जीवन में स्वतंत्रता की पवित्र ज्योति प्रज्वलित की थी। ब्रिटिश सरकार ने इसके प्रदर्शन पर रोक लगा दी थी, जो १९३७ में कांग्रेस सरकार के सत्तारूढ़ होने पर उठी। बालगंधर्व और भोंसले ने खाडिलकर-लिखित 'मानापमान' को गांधीजी के आदेश से तिलक स्वराज्य फन्ड के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत किया था और एक ही रात में इस नाट्य-प्रयोग द्वारा लगभग सत्रह हज़ार रुपयों का संग्रह किया था। बालगंधर्व को भारत के राष्ट्रपति ने सम्मानित भी किया। यह मराठी रंगमंच का यौवन-काल था।[1]

भोंसले की मृत्यु (१९२१) के उपरान्त 'ललित कलादर्श' नामक नाट्य-मण्डली के सूत्रधार बाबूराव पेंढारकर हुए। इस रंगमंच पर उन्होंने स्व० मामा वरेरकर के सामाजिक नाटकों को प्रस्तुत किया। स्व० मामा वरेरकर अपनी नवीन यथार्थवादी नाट्य-प्रणाली से मराठी रंगमंच और नाट्यकारों को अभी तक प्रभावित करते रहे हैं। इन्होंने छोटे-बड़े चालीस नाटक लिखे। इनके नाटकों में राष्ट्रीयता का ओज, निम्न-मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग के प्रति सहज संवेदनशीलता और स्वतंत्र स्वावलम्बिनी नारी का अपने अधिकारों के लिए संघर्ष का स्वर अत्यन्त मुखर था। यह मराठी रंगमंच पर छः दशक तक छाये रहे (मृत्यु—सितम्बर १९६४)।

इस सदी के तृतीय दशक के बाद कुछ अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ भी जन्मीं। नाट्यमन्वंतर (१९३२) उसी प्रयत्न का परिणाम था। स्त्री-पात्रों की भूमिका का निर्वाह ज्योत्स्ना भोले किया करती थीं। परन्तु इससे भी पूर्व प्रसिद्ध संगीतज्ञा हीराबाई बरोदकर ने नूतन संगीत विद्यालय की स्थापना कर अपनी बहनों के सहयोग से कई नाट्य अभिनीत किये थे। स्त्री-पात्रों का मराठी रंगमंच पर प्रवेश इन्हीं की प्रेरणा से हुआ। तब से धीरे-धीरे मराठी रंगमंच पर पात्र के रूप में स्त्रियाँ भी प्रस्तुत होने लगी हैं।

महाराष्ट्र में व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों की तुलना में शौकिया (अव्यवसायी) नाट्य-मण्डली के पैर कभी भी नहीं जम सके। रंगमंच की प्रगति का सम्पूर्ण दायित्व व्यावसायिक नाट्य-मण्डली पर ही है।[2]

१९३०-३२ के आसपास से चलचित्र का प्रभाव देश में बड़ी तेजी से फैलने लगा। उसके रुपहले आकर्षण की तुलना में मराठी नाटक कम्पनियाँ नहीं टिक सकीं। १९३४-३६ तक तो प्रायः सब बड़ी नाट्य-कम्पनियाँ टूट गईं जिनमें बालगन्धर्व, ललितकलादर्श, बलवन्त और महाराष्ट्र प्रमुख थीं। बालमोहन शौकिया कम्पनी थी, जिस पर बालपात्र अत्रे के सुखान्त नाटकों को प्रस्तुत करते थे। स्वयं अत्रे महान् कलाकार थे। कभी उन्होंने अपने अभिनयों द्वारा रंगमंच

---

१. र० शं० केलकर : मराठी रंगमंच—आरम्भ, उत्कर्ष, पतन; साहित्य संदेश, अतःप्रान्तीय नाटकांक, पृ० २६।

२. To this day, the most significant development on the Marathi stage have been made by professional companies, and not by amateurs.
—The Marathi Theatre, Indian Drama, p. 84.

पर आनन्द की मधु-वर्षा की थी पर गत द्वितीय महायुद्ध में वह कम्पनी भी बन्द हो गई और वे चलचित्र-निर्माण में लग गये।

इस सदी के चतुर्थ दशक (१९४२) के बाद मराठी रंगमंच के इतिहास में पुनः आशा की किरणें जगमगाने लगी थीं। मोतीराम गजानन रांगणेकर ने 'नाट्य-निकेतन' और पार्श्वनाथ केलकर ने 'लिट्ल थियेटर' की स्थापना की। नाट्य-निकेतन रांगेणकर लिखित नाटकों के प्रदर्शन प्रस्तुत कर अभी भी मराठी रंगमंच का दिशा-निर्देश कर रहा है। १९४३ में मराठी रंगमंच की शतवार्षिकी मनाई गई। १९४४ में मुम्बई मराठी साहित्य संघ ने चौदह दिनों तक नाट्योत्सव का आयोजन किया जिसमें मामा वरेरकर का 'सारस्वत' सफलता से अभिनीत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के उपरान्त मराठी रंगमंच के प्रति सुसंस्कृत जनों की अभिरुचि जागी है, महाराष्ट्र सरकार भी सफल नाट्य-प्रयोग के लिए पुरस्कार दिया करती है। नाट्यकला की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हुई है। इससे मराठी नाट्य और रंगमंच की सम्भावनाएँ महान् हैं। परन्तु किसी भी रंगमंच का भविष्य केवल सरकारी कृपा पर निर्भर नहीं करता। उसके लिए कुशल संवेदनशील नाटककार, प्रतिभाशील और परिश्रमी प्रयोक्ता तथा सहृदय प्रेक्षक के सहयोग की आवश्यकता है। चलचित्रों के चमत्कार और आकर्षण की तुलना में सब सम्भव सहयोग और प्रचुर आर्थिक सहयोग पर ही आज का रंगमंच जीवित रह सकता है।

बँगला रंगमंच

प्राक् मुस्लिम शासनकाल में संस्कृत के साहित्यिक नाटक और लोकनाट्य समानान्तर धारा के रूप में विकसित हो रहे थे। बारहवीं सदी के लक्ष्मणसेन के काल में बंगाल की साहित्यिक कर्मण्यता उत्कर्ष पर थी, जब जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की। वैष्णवों के बीच सदियों तक संवाद न होने पर भी गीति-नाट्य के रूप में उसका प्रयोग होता था। मुसलमानों के आक्रमण के बाद बंगाल की सांस्कृतिक धारा दो-तीन सदियों तक बिखरी-सी रही। इसी परिस्थिति में सोलहवीं सदी में चैतन्य का अवतरण हुआ। धर्म और अध्यात्म के प्रसार के लिए वे स्वयं नाट्य-प्रयोग में भाग लेते थे। चैतन्य भागवत् के लेखक वृन्दावन दास ने लिखा है कि 'रुक्मिणी-हरण' नाटक में उन्होंने स्वयं रुक्मिणी का अभिनय किया था।[1] समानान्तर काल में ही यात्राओं का प्रसार हुआ। यात्राएँ बंगाल की धर्म भावना की प्रांजल अभिव्यक्ति १९वीं सदी तक करती रहीं, जब पश्चिमी नाट्य-प्रभाव की किरणें पूर्व में भी फूटने लगी थीं।

---

1. He had a fascination for drama and was himself a highly skilled actor. Vrindavan Das (C. 1507-89). The author of Chaitanya Bhagwat, has given us a very vivid and interesting description of a play named Rukimini-haran which was produced at the house of certain Chandrashekhar of Navadvipa and in which Chaitanya played the role of Rukimini.

—Prabodh C. Sen, Bengali Drama & Stage : Indian Drama, p. 40.

बंगाल के आधुनिक रंगमंच का इतिहास अत्यन्त समृद्ध और गौरवशाली है। कलकत्ता कभी भारत की राजधानी थी और वहाँ पर यूरोपीय शासकों और व्यापारियों के मनोरंजन के लिए १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही कई शानदार रंगभवनों की स्थापना हुई, जिनमें शेक्सपियर एवं अन्य यूरोपीय नाटककारों के नाटकों का भव्य प्रदर्शन होता था। नाट्य-प्रदर्शन की पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित हो बंगाल में बंगला रंगमंच की स्थापना हुई और उसी प्रभाव की छाया में दु:खान्त सामाजिक नाटकों की रचना बंगाली नाटककारों ने भी की। पाश्चात्य नाट्य-प्रभाव ने बंगाल के रंगमंच और नाट्य-परम्परा को नया स्वरूप और नयी दिशा दी। नि:सन्देह बँगला रंगमंच के नवजागरण ने पार्श्ववर्ती हिन्दी क्षेत्र को भी प्रभावित किया और उन्नीसवीं सदी के मध्य यहाँ भी नवीन शैली के नाटकों की रचना और रंगमंचों का निर्माण आरम्भ हुआ। बँगला रंगमंच स्वयं पाश्चात्य नाट्य-परम्परा से तो प्रभावित हुआ ही, उसने हिन्दी की नाट्य-परम्परा के लिए भी पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का द्वार उन्मुक्त कर दिया।[१]

कलकत्ता के विदेशी रंगमंच

कलकत्ता थियेटर (न्यू प्ले हाउस) की स्थापना १७७० ई० में हुई। इसमें शेक्सपियर एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था। कलकत्ता थियेटर में ही सर्वप्रथम श्रीमती वेस्ट्रो के चौरंगी थियेटर की परम्परा का अनुसरण करते हुए रंगमंच पर श्रीमती कार्गिल को स्त्री-पात्र के रूप में प्रस्तुत किया।[२] श्रीमती ब्रिस्टो की मधुर भाव-भंगिमा देखकर उस समय के यूरोपीय एवं संभ्रान्त भारतीय प्रेक्षकों का हृदय आनन्द और उत्साह से थिरक उठता था। उसकी मधुर याद इस युग के प्रेक्षकों के हृदय में वर्षों तक गूँजती रही।[३]

बँगला रंगमंच के विकास की दृष्टि से रूसी यात्री लेबडेफ का योगदान बहुत महत्त्व का है। ये मूल अंग्रेज़ी नाटकों के अतिरिक्त उनके बंगला रूपांतरों को भी प्रस्तुत किया करते थे। उन्होंने १७९५ में बंगाली थियेटर को जन्म दिया। 'दि डिस्गाइज़' और 'लव इज़ द बेस्ट डॉक्टर' का बंगला रूपान्तर प्रस्तुत किया। प्रसिद्ध भाषाविद् गोकुलदास के सहयोग से बंगाली पुरुष एवं स्त्री-पात्रों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत करने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ। इसी रंग-मंच पर प्रसिद्ध बंगाली कवि भारतचन्द्र के गीत लयबद्ध कर प्रस्तुत किये गए थे। यह थियेटर सम्भवत: इजरा बाज़ार के आसपास था, जो अब भी 'नाच-घर' के रूप में प्रसिद्ध है। रंगमंच की स्थापना का प्रथम श्रेय इन्हें ही प्राप्त है।[४]

---

१. राम० शु० : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५४६।

२. डा० पी० गुहा : बंगाली ड्रामा (१९३०)।

३. This much is certain that Calcutta was so much dazzled by her (Mrs. Bristou's) histrionic perfection that when she returned to England in 1790, 'her departure', says Dr. Busteed, eclipsed the gaity of Calcutta refused to be comforted.—Das Gupta, Indian Stage. p. 218.

४. Thus the beginning of the first Bengali drama came from a foreigner, there is nothing to be ashamed of at this. Lebdef's attempt was the first beginning of the gorgious revival of Hindu Stage—Dr. Das Gupta, Indian Stage, Vol. I, p. 237.

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप से आई पुनर्जागरण की लहरें तट पर बसे महानगरों को भी छूने लगीं। इस युग में शेक्सपियर और संस्कृत के महान् नाटकों के अभिनय प्रस्तुत किये गए। प्रसिद्ध है कि संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् डॉ० एच० एच० विल्सन उत्तररामचरित के अभिनय (अंग्रेज़ी रूपान्तर) में स्वयं पात्र बने थे। परन्तु पहला बंगाली दु:खान्त नाटक 'कुलीन कुल सर्वस्व' मार्च १८५७ में प्रस्तुत किया गया। इस प्रारम्भिक युग के सांस्कृतिक उन्नायकों में राजा जतीन्द्र मोहन टैगोर, राजा प्रतापचन्द्र सिंह, बाबू कालीप्रसन्न सिंह और राजा ईश्वरचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। हर्षरचित 'रत्नावली' का बँगला रूपान्तर ३१ जुलाई १८५८ को प्रस्तुत किया गया। इसमें पाश्चात्य शैली के आर्केस्ट्रा का पहले-पहल प्रयोग किया गया था। बंगाल के इन संभ्रान्त जनों द्वारा संचालित बंगला रंगमंच सामान्यजन की पहुँच से बाहर थे।

बँगला रंगमंच और गिरीश घोष

बंगला रंगमंच के जन्मदाता गिरीशचन्द्र घोष ने बंगाल के जन-जीवन की आकांक्षा और भावना के अनुरूप १८७२ में नेशनल थियेटर की स्थापना की। यह अब 'नेशनल थियेटर' ऑफ बंगाल' के नाम से विख्यात है। यह पहला थियेटर था जिसके पात्रों को नियमित वेतन मिलता और प्रेक्षकों का प्रवेश टिकट पर होता था। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और विचारों का मद बंगाल पर छाता जा रहा था। प्रभाव की इस लहर से नाटक और रंगमंच कैसे अछूते रहते। गिरीशचन्द्र घोष जितने ही कुशल नाट्य-प्रयोक्ता थे उतने ही प्रतिभाशाली नाटककार भी। उन्होंने देश की समकालीन समस्याओं को दृष्टि में रखकर दु:खान्त, सुखान्त, प्रहसन एवं गीतिनाट्यों का सफल प्रयोग किया और रंगमंच को यथासंभव पाश्चात्य पद्धतियों से विभूषित भी किया। इन्होंने हरिश्चन्द्र (पौराणिक) शिवाजी, प्रताप (ऐतिहासिक), पतिव्रता, प्रफुल्ल, शास्ति या शान्ति और बलिदान (सामाजिक) नामक स्वरचित नाटकों को सफलता के साथ प्रस्तुत किया। उनके 'नेशनल थियेटर' की ओर से अन्य नाटककारों के भी अनेक नाटक अभिनीत हुए जिनमें ज्योतीन्द्र नाथ ठाकुर-लिखित सरोजिनी (१८७५) को बहुत लोकप्रियता मिली। 'बंगाल-थियेटर' और नेशनल थियेटर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे।[1]

इन सार्वजनिक प्रेक्षागृहों में ही व्यावसायिक रंगमंचों के लिए अभिनेता तैयार हुआ करते थे। इन्हीं में गिरीशचन्द्र घोष से शिशिर भादुरि तक के महान् अभिनेताओं की गौरवशाली परंपरा सामने आई और बँगला रंगमंच उनके योगदान से समृद्ध हुआ। अमृतलाल वसु, अपरेश मुकर्जी, दानी घोष, दुर्गादास बनर्जी, निर्मलेन्दु लाहिरी, अहीन्द्र चौधरी और अमरेन्द्र दत्त आदि प्रतिभाशाली अभिनेताओं ने बँगला रंगमंच का गौरव बढ़ाया। अभिनेत्रियों में चारुशीला, कृष्णकामिनी, नीहार वाला, तारा सुन्दरी और प्रभा ने अपने मर्मस्पर्शी अभिनयों द्वारा बँगला रंगमंच में यथार्थता, सजीवता और नूतनता का संचार किया। बंग-महिलाएँ १८७३ से ही रंगमंच को शक्ति और शोभा देने लगी थीं। घोष महोदय द्वारा प्रवर्त्तित नाट्य-परंपरा का संवर्द्धन उत्तरोत्तर डी० एल० राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नाट्य-रचना और अभिनय के नवीनतम शिल्पों के द्वारा होता रहा। स्व० राय महोदय ने अपने नाटकों में प्रयुक्त नवीन नाट्य-

१. याज्ञिक : इण्डियन थियेटर, पृ० ८७।

शिल्प तथा वस्तुगत भावना की द्वन्द्वात्मकता के गूढ़ चित्रण द्वारा सारे भारत के नाट्य-प्रेमियों का मन मोह लिया। अनुवाद के माध्यम से उनके नाटक हिन्दी-क्षेत्र में विशेष लोकप्रिय हुए।

क्षीरोद बाबू (१८६४-१९२७) और अपरेश मुखर्जी ने अपने नूतन नाट्य-शिल्प द्वारा बँगला रंगमंच को समृद्धि प्रदान की। भादुरि द्वारा अभिनीत उनका 'आलमगीर' अत्यन्त विख्यात नाटक था। मुखर्जी महोदय ने आर्ट थियेटर (१९२३) के अन्तर्गत स्वरचित 'कर्णार्जुन', रवि ठाकुर-रचित चिरकुमार सभा और रवीन्द्र मैत्रा का 'मानमयी गर्ल स्कूल' बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया।

शिशिर भादुरि इस युग के महान् एवं अद्वितीय अभिनेता थे। लगभग चालीस वर्षों तक वह बंगला रंगमंच पर छाये रहे। वृद्धावस्था में भी वे माइकेल मधुसूदन दत्त का अभिनय बड़ी सफलता और प्रभावशीलता से किया करते थे। सीता, षोडशी, शेष रक्षा और आलमगीर की सफल भूमिकाएँ नायक के रूप में उन्होंने कीं और उनके प्रदर्शनों के लिए प्रेक्षक सदा लालायित रहते थे। स्व० भादुरि का वह स्वर्णयुग आज बँगला रंगमंच से विदा ले चुका है। बँगला रंगमंच को टैगोर परिवार की देन महान् है। १८६६ में जोरासांको नाट्य-समाज ने नव नाटक प्रस्तुत किया और संस्कृत नाटकों का रूपान्तर भी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अपने अग्रज ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर-रचित किसी नाटक के पात्र की भूमिका १८७७ में सोलह वर्ष की किशोरावस्था में ही की थी। स्वरचित 'बाल्मीक प्रतिभा' के अभिनय में उन्होंने बाल्मीकि की मुख्य भूमिका की थी। यह कृति १८८१ और 'श्यामा' १९३९ में प्रकाशित हुई। तब से गत साठ वर्षों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लगभग तीन दर्जन नाटकों की रचना की। विचार, कल्पना, भाव-सौन्दर्य, नाट्य के स्वरूप एवं शैलियों की दृष्टि से वे विविध हैं और अनुपम भी। निःसन्देह इन कलात्मक कृतियों पर इस युग-चेतना का प्रभाव भी कम नहीं है। उन्होंने अपने नाटकों में नई शिल्प-बिधियों का प्रयोग किया है पर शान्तिनिकेतन के उच्चतर कलात्मक वातावरण में शिक्षित अभिनेता और संस्कार-संपन्न प्रेक्षक ही उसका स्वाद ले सकते हैं। सामान्य रंगमंचों के अभिनेता न तो इन उत्कृष्ट नाटकों को प्रस्तुत ही कर सकते हैं और न प्रेक्षक हृदयंगम ही। डी० एल० राय सामान्य रंगमंचों पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं।

व्यवसायी रंगमंचों के अतिरिक्त अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ भी अभिनय की भाव-भंगिमाओं के प्रदर्शन में यश प्राप्त कर चुकी हैं। बहुरूपी नाट्य-मण्डल को 'चीनार तार' जैसे सामाजिक नाटकों के अभिनय द्वारा खूब ख्याति मिली।

यद्यपि आज बँगला रंगमंच को मन्मथराय, शचीन्द्रनाथ सेन गुप्त और विधायक भट्टाचार्य जैसे प्रतिभाशाली नाट्यकार एवं अहीन्द्र चौधरी और मनोरंजन भट्टाचार्य जैसे कुशल अभिनेताओं का सहयोग प्राप्त है, पर गत एक सौ वर्षों में उपार्जित बँगला रंगमंच की वह लोकप्रियता और प्रबल शक्ति आज मिटती जा रही है। इसका संभवतः कारण यह है कि इन रंगमंचों पर प्रायः घिसे-पिटे पुराने नाटकों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है या इसलिए कि उपन्यासों का नाटकीय रूपान्तर प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि शरत के 'षोडशी बिंदोरे छेले' और ताराशंकर बाबू का 'आरोग्य निकेतन' बहुत ही लोकप्रिय हुए हैं। उपन्यासकारों में बनफूल ने ही मधुसूदन नामक मौलिक नाट्य-रचना प्रस्तुत की और वह रंगमंच पर लोकप्रिय भी है।[1]

१. प्रबोध सी० सेन, बँगला ड्रामा एण्ड स्टेज — इण्डियन ड्रामा, पृ० ५१।

दीनबन्धु, गिरीश घोष और क्षीरोद बाबू जैसे प्रतिभाशाली लेखक-अभिनेता बंगला में अब नहीं रहे। आज रुपहले चलचित्रों का आकर्षण तो और भी मोहक एवं तीव्र है। अन्य भारतीय रंगमंचों के समान बँगला रंगमंच इसी प्रतिकूल वातावरण से आज जूझ रहा है। स्वतंत्रता के उपरान्त नाट्य-कला के विकास की एक नयी लहर उठ रही है। लोक-रुचि रंगमंच की ओर फिर मुड़ रही है। निरुपमा राय रचित 'श्यामली' और निहाररंजन की 'उल्का' का प्रदर्शन लगभग दो वर्षों तक (१९५४-५६) तक निरन्तर होता रहा। परन्तु इन नवीन नाटकों के प्रदर्शन देखने पर भी जनता के मन से डी० एल० राय और गिरीश घोष के लेखक-अभिनेताओं की स्वादु याद मिटती नहीं।[1] 'श्यामली' (स्टार थियेटर पर अभिनीत) में गूंगी लड़की और नायक का अभिनय बड़ा प्रभावशाली और निर्दोष है।

बँगला रंगमंच के अध्ययन से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि उसका भविष्य महान् है। अभी भी कई (?) व्यावसायिक रंगभवन हैं, जहाँ नियमित रूप से नाटकों का अभिनय सप्ताह में एकाधिक बार होता है। अन्य प्रादेशिक रंगमंचों की अपेक्षा बँगला रंगमंच अभी भी बहुत प्रगतिशील एवं लोकप्रिय है।

हिन्दी रंगमंच

अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में हिन्दी के नाट्य और रंगमंच की परंपरा भी पर्याप्त समृद्ध रही है। कई पूर्ववर्ती परंपराएँ इसके विकास में योगदान करती रही हैं। मध्ययुग में ही वैष्णवधर्म-भावना से अनुप्राणित संगीत नाटकों के अभिनय की परंपरा उन्नीसवीं सदी तक चलती रही। मुसलमानों के कठोर शासन-यंत्र ने उन्हें पनपने तो नहीं दिया, पर देव-मंदिरों और चैत्यों की छाया में वे किसी न किसी प्रकार जीवित रह सकीं। नेपाल, मिथिला, असम और बुन्देलखण्ड के शासक उनका पोषण और संवर्द्धन भी किया करते थे। संस्कृत नाटकों में रागात्मक काव्य का जो मधुर स्फुरण हुआ उसका प्रभाव विद्यापति, चण्डीदास, शंकरदेव और उमापति के माध्यम से इन संगीत-नाटकों पर भी पड़ा। संभव है, भारतेन्दु इन नाटकों से परिचित न हों, परन्तु यात्रा-नाटकों की रसमयता और भक्ति-प्रवणता का रसपान वे कर चुके थे। उनके कई नाटक इसके प्रमाण हैं।

रामलीला और कृष्णलीला की परंपराएँ उत्तर भारत में सदियों से प्रचलित थीं। भारतेन्दु के अवतरण से पूर्व कृष्ण-लीलाएँ तो मुस्लिम शासन-काल के संध्याकाल में अवध के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खूब लोकप्रिय हुई। नवाब साहब स्वयं कृष्ण बनते और उनके रंगमहल की वेश्याएँ गोपियों की भूमिका में प्रस्तुत होती थीं। नवाब के आदेश से ही १८५३ में अमानत ने 'इन्दर सभा' की रचना की। ये स्वयं इसकी प्रमुख भूमिका में थे।

भारतेन्दु के पूर्व यूरोपीय नाट्य-प्रयोग की छाया में पारसी थियेटर कंपनियाँ हिन्दुस्तानी नाटकों का प्रदर्शन आरम्भ कर चुकी थीं। उनका रूप-विधान मोहक, दृश्यविधान आकर्षक और विस्मयकारक होता था। बीच-बीच में वे हलके गीतों का भी प्रयोग करते, जिनमें सस्ता मनो-रंजन तो होता था पर सुरुचि और कलात्मक परिष्कार नहीं।

१. प्रभाकर माचवे : 'आज का भारतीय रंगमंच', आजकल, सितम्बर ५५, पृ० ५७।

2. J. C. Mathur : Hindi Drama and Theatre—Indian Drama, p. 23.

भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित व्यावसायिक हिन्दी रंगमंच का अवतरण इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। भारतेन्दु नाट्य-लेखक थे और प्रयोक्ता भी। हिन्दी रंगमंच के पुनरुद्धार द्वारा वे पारसी थियेटरों की भद्दी कुरुचिपूर्ण परंपरा के स्थान पर सुरुचिपूर्ण कलात्मक और भव्य रंगमंच की स्थापना करना चाहते थे, जो भारतीय जनजीवन की आकांक्षाओं और भावनाओं का सच्चा प्रतीक हो सके। भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा देश का गौरव बढ़ाया और मातृभाषा का उत्थान भी किया।[1]

अतः हमारी दृष्टि में भारतेन्दु के पूर्व से ही मध्यकाल को छूती हुई हिन्दी रंगमंच की एक सुदीर्घ परंपरा किसी-न-किसी रूप में सदियों पहले से ही चली आ रही थी। भारतेन्दु ने उसे नया रूप और नया रंग दिया।[2]

नाटककार के रूप में भारतेन्दु ने प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वय किया। भारत की परतन्त्रता के कारण 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेम जोगिनी' में सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय नव-जागरण का संदेश बहुत मुखर है। आर्यों की संस्कृत भाषा पर अनुराग होने और नाटकों की गुणशालिता के कारण ही 'कर्पूरमंजरी' और 'मुद्राराक्षस' का रूपान्तर प्रस्तुत किया तथा 'नाटक' नामक निबन्ध के द्वारा प्राचीन नाट्यशैली के प्रति गम्भीर आस्था भी प्रकट की। प्रायः सब भारतीय भाषाओं के आरम्भिक रंगमंचीय सर्जना के काल में संस्कृत और अंग्रेज़ी रूपान्तरों के प्रस्तुत करने की परंपरा रही है।

भारतेन्दु हिन्दी रंगमंच के उत्थान के लिए आजीवन सक्रिय रहे। नाटक तो लिखते ही थे, उनके प्रयोग के क्रम में स्वयं भूमिका में भी प्रस्तुत होते थे। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि सन् १८६१ में बनारस थियेटर्स के अन्तर्गत शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' नामक नाटक में भारतेन्दु ने स्वयं भूमिका की थी।[3] उनसे ही प्रेरणा पाकर उनके समकालीन देवकी-नन्दन चौधरी ने 'सीताहरण', शिवनन्दन सहाय ने 'कृष्ण-सुदामा', राधाचरण गोस्वामी ने 'अमरसिंह राठौर' और लाला श्रीनिवासदास ने 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' की रचना की। ये लेखक नाट्य-प्रयोग में रुचि ही नहीं, स्वयं भाग भी लिया करते थे। प्रतापनारायण मिश्र का किसी पात्र की भूमिका के निर्वाह के लिए, मूँछें मुड़वाना प्रसिद्ध है।[4] भारतेन्दु का रचनाकाल अत्यन्त स्वल्प था। नाटकों की तो ये रचना कर सके, पर गिरीश घोष की तरह हिन्दी-रंगमंच का निर्माण नहीं कर सके। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय शताधिक बार हुआ। भारतेन्दु व्यावसायिक हिन्दी रंगमंच के जन्मदाता थे। पर पारसी रंगमंचों के आगे वह टिक न सका। भारतेन्दु के उपरान्त उनके अनुयायी कभी-कभी अभिनय प्रस्तुत कर उनकी उस पताका को थामे-भर रहे। द्विवेदी-

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १५२, तृतीय संस्करण १९६१।

२. For Hindi Theatre is a later development due to the influence of touring urdu companies, and it is passing through the same stages of development in U. P. after the appearance of the dramatist Harischandra. —Indian Theatre : Yajnik, p. 102 (London 1933)

३. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५४।

४. वही, पृ० ४५४।

युग नाट्य-रचना और रंगमंच की दृष्टि से अन्धकार और निराशा का ही युग था। काश ! भारतेन्दु भी गिरीशचन्द्र घोष की तरह पूरी जिन्दगी जी पाते तो हिन्दी रंगमंच का इतिहास आज कुछ और ही होता !

नाट्य-मंडलियों की स्थापना

भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी-क्षेत्र के बड़े नगरों में कई नाट्य-मंडलियों की स्थापना हुई। रामलीला नाटक-मंडली (१८९८) और हिन्दी नाट्य-समिति (१९०८) इलाहाबाद के द्वारा 'सीया-स्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत पूर्वार्द्ध' का प्रदर्शन हुआ। ठीक इसके बाद ही काशी में 'भारतेन्दु नाट्य-मंडली' और काशी नागरिक 'नाट्य-मण्डली' की स्थापना १९०९ में हुई। ये 'नाट्य-मण्डलियाँ' भारतेन्दु एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। हिन्दी रंगमंच के इतिहास में पंडित माधव शुक्ल की देन चिरस्मरणीय रहेगी। इन्होंने कलकत्ते में 'हिन्दी नाट्य-परिवार' की स्थापना कर वर्षों तक पारसी थियेटरों की तुलना में हिन्दी रंगमंच को जीवन और गति दी। यद्यपि इन संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित नाटकों पर पारसी थियेटर कंपनियों की रंगमंचीय साज-सज्जा और विस्मयोत्पादक दृश्य-विधान का प्रभाव भी कम न था। परन्तु इनमें नाटकीय कौतुहल और मोहक दृश्य-विधान की अपेक्षा प्रांजल भाषा, काव्यात्मक गीत, उदात्त एवं भावुकतापूर्ण आदर्शवाद के प्रस्तुतीकरण पर अधिक बल दिया जाता था। फलतः हिन्दी का यह किशोर रंगमंच उत्तरोत्तर स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और हिन्दुस्तानी क्लबों की परिधि में सीमित होता गया। इसके फलस्वरूप उसमें नवीन प्रयोग तो हुए पर नाटकों का सामाजिक महत्त्व कम हो गया।[1]

लगभग दो युगों तक (१९०० से १९२५ तक) पारसी एवं अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियाँ समानान्तर रूप में नाटकों का प्रदर्शन इस विशाल क्षेत्र में करती रहीं। इस काल के हिन्दी रंगमंच के महान् अग्रदूतों में आगा हस्र काश्मीरी, राधेश्याम पाठक, नारायणप्रसाद बेताब, तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर मुख्य हैं। राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु', हस्र के 'सूरदास' और 'सीता वनवास' आदि नाटकों को पारसी थियेटर कंपनियों ने भी अपना लिया।[2]

प्रसाद-युग

हिन्दी नाट्य और रंगमंच की इसी पृष्ठभूमि में जयशंकर प्रसाद का एक महान् सांस्कृतिक अग्रदूत के रूप में अवतरण हुआ। वे नाट्य-रचयिता थे, नाट्य-प्रयोक्ता नहीं। उन्होंने मुख्यतः ऐतिहासिक नाटकों की रचना की, जिनमें प्राचीन भारतीय गौरव, देशभक्ति और प्रेम का बड़ा ही उदात्त और मधुर चित्रण हुआ है। पाठ्य-काव्य की दृष्टि से ये नाटक जितने ही रसस्निग्ध हैं, अभिनेयता की दृष्टि से उतने ही जटिल और क्लिष्ट। इसीलिए 'ध्रुवस्वामिनी', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के सफल प्रदर्शन कालेजों और विश्वविद्यालयों के समारोहों पर होते रहे हैं, पर

१. जे० सी० माथुर : हिन्दी ड्रामा एण्ड थियेटर, इण्डियन ड्रामा, पृ० २६।

२. भारतीय रंगमंच का विकास : सक्सेना।
साहित्य संदेश : अन्तःप्रान्तीय नाटकांक (साहित्य संदेश) १९५५ (अगस्त), पृ० १६।

भाषा की अतिशय काव्यात्मकता के कारण सामान्य लोकरुचि उनमें रम नहीं पाती। इन्हीं की परम्परा में मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाटक भी हैं। भारत की प्राचीन कथा-भूमि पर ही रामकुमार वर्मा ने 'चारुमित्रा', जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क', श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'अम्बपाली' और 'नेत्रदान' पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'उर्मिला' और सीताराम चतुर्वेदी ने 'सेनापति पुष्यमित्र' नामक नाटकों की रचना कर प्रसाद की परम्परा का ही पुनरुत्थान किया। इन नाटकों का अनेक बार विश्वविद्यालयों के सीमित प्रांगणों तथा सामाजिक संस्थाओं में प्रदर्शन भी हुआ है। अम्बपाली का सफल प्रदर्शन दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित नाट्योत्सव (१९५४) के अवसर पर हुआ। स्वयं मैंने १९५१ में अपने निर्देशन में अम्बपाली को रामदयालु सिंह कालेज (मुज़फ्फरपुर) की भरत नाट्य-परिषद की ओर से प्रस्तुत किया था। इस महाविद्यालय की उक्त परिषद् के तत्वावधान में बड़ी धूमधाम से अस्थायी रंगभवन की रचना कर हिन्दी नाट्यों का प्रदर्शन होता था। इधर एक विशाल भवन भी बना है, जिसमें एक रंगभूमि बनी है पर अब न वहाँ वे रंगशिल्पी हैं और न नाट्य-प्रदर्शन का वह उत्साह ही। इस संस्था ने उत्तर बिहार में नाट्य-प्रदर्शन की बड़ी शानदार परम्परा बनायी थी, जो अब मिटती चली जा रही है।

प्रसाद के नाट्य-रचनाकाल में ही जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन, मार्क्स और फ्रायड के क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित हो आदर्श-विरोधी, यथार्थवादी, व्यंग्यप्रधान, मनोविश्लेषणवादी तथा साम्यवादी विचारों की छाया में विभिन्न शैलियों में लिखे लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और अश्क प्रभृति के नाटक प्रकाश में आये। परन्तु रंगमंच की आवश्यकताओं के प्रति वे सजग नहीं हैं। हाँ, रामकुमार वर्मा और अश्क के नाटकों में यथार्थवादिता, विचारों की गम्भीरता और प्रेम की सुकुमारता का समन्वय है तो रंगमंच के लिए अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता भी।

नाट्य-रचना की यह लहर हिन्दी में तेज़ी से बढ़ रही है और प्राचीन-नवीन कथा-भूमियों पर जीवन और जगत् की समकालीन समस्याओं का सजीव प्रतिफलन इन नाटकों में हुआ है। ये नाटक विषय-वस्तु ही नहीं शिल्प की दृष्टि से भी नितांत नूतन क्षितिज का संकेत करते हैं। इनके नाटकों में नाटकीयता, जीवन की मधुरता और भावों की प्राणवत्ता का बड़ा ही मर्मस्पर्शी प्रस्फुटन हुआ है। यशपाल, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती हिन्दी की नवीन नाट्यधारा के प्रवर्तकों में हैं। इनके नाटकों का अभिनय अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों द्वारा यदाकदा होता रहा है। बम्बई की थियेटर यूनिट द्वारा राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' का सफल प्रयोग हुआ। प्रसाद से आज तक हिन्दी नाट्य तो समृद्ध हुआ है, उस पर भारतीय और पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव भी पड़ा है। इन नाटकों का प्रदर्शन अधिकतर अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियों द्वारा ही शिक्षा-संस्थाओं में होता रहा है। हिन्दी क्षेत्र में कोई व्यावसायिक नाट्य-मण्डली इन नाटकों के प्रदर्शन का साहस नहीं कर सकी है। हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन के लिए व्यावसायिक नाट्य-मण्डली का अभाव हिन्दी रंगमंच के उत्कर्ष में बाधक है।

पृथ्वी थियेटर्स

हिन्दी रंगमंच के इसी निराशापूर्ण वातावरण में आधुनिक भरत पृथ्वीराजजी ने सन् उन्नीस सौ चवालीस में पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना की। यद्यपि यह व्यावसायिक रंगमंच था परन्तु इसका आदर्श था, कला और आदर्श की सेवा। पृथ्वीराजजी ने इसी भावना से अनुप्राणित हो 'शकुन्तला' (१९४६), 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'आहुति', 'कलाकार' और 'किसान' का बम्बई एवं देश के विभिन्न नगरों में प्रदर्शन किया।

अभिज्ञानशाकुन्तल पर आधारित शकुन्तला पृथ्वी थियेटर्स का प्रथम पर सफल नाटक था। १५ नवम्बर १९४५ को करुणरस-प्रधान 'दीवार' का उद्घाटन स्व० सरदार वल्लभभाई पटेल ने किया था। 'गद्दार', 'पठान' और 'आहुति' ये तीनों ही नाटक मुख्यतः भारत-विभाजन की समस्या से सम्बन्धित हैं। सितम्बर १९५१ में कलाकार का प्रदर्शन, रायल ऑपेरा हाउस बम्बई में हुआ। पृथ्वीराजजी का सातवाँ नाटक 'पैसा' १९५३ में प्रस्तुत हुआ। आधुनिक भौतिकवादी जीवन की यथार्थता के आधार पर सामाजिक और आर्थिक पहलुओं का बड़ा ही मार्मिक प्रदर्शन इसमें हुआ है। पृथ्वी थियेटर्स का अन्तिम नाटक 'किसान' १९५६ में प्रस्तुत किया गया था। इसका वातावरण बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी था। इस नाटक के द्वारा पृथ्वीराजजी ने देश को समाजवाद की ओर आह्वान किया था।

पृथ्वी थियेटर्स के प्रदर्शनों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। व्यावसायिक रंगमंच होने पर भी इसके प्रति सारे देश में श्रद्धा और प्रेम का भाव था। पृथ्वीराजजी इस युग के सधे हुए महान् कलाकार हैं। उन्होंने रंगमंच पर नए नाटच-शिल्पों का भी प्रयोग किया। ड्रॉपसीन के अतिरिक्त अन्य पर्दों का प्रयोग नहीं करते थे। रंगमंच की साज-सज्जा ऐसी सहज होती थी कि स्वाभाविक रीति से सारी घटनाएँ उसमें अभिनीत होती थीं। नाटकों की भाषा भी भरत के अनुसार मृदु-ललित और प्रवाहपूर्ण थी। स्वाभाविक पर प्रभावशाली प्रदर्शन तथा देशभक्ति और आत्म-त्याग की उदात्त भावना ने इनके प्रदर्शनों को बड़ी ख्याति दी। परन्तु सोलह वर्ष की किशोरावस्था में ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का हिन्दी का यह एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच १९६० में असमय ही काल-कवलित हो गया। उसका प्रधान कारण है, अपने रंगभवनों का अभाव और महान् कलाकार पृथ्वीराजजी की अव्यावसायिक बुद्धि। इसके बन्द हो जाने से हिन्दी रंगमंच का भविष्य गत्यवरोध के तट पर खड़ा है। उनके प्रदर्शनों को मैंने कई बार देखा था। उनकी रूप-सज्जा और अभिनय के नूतन शिल्पों से हिन्दी रंगमंच को बड़ी आशाएँ थीं पर अब वह इतिहास की स्मृति-भर रह गयी है।

इस निराशापूर्ण वातावरण में बम्बई, दिल्ली, काशी, पटना और जबलपुर आदि में नई नाटच-संस्थाओं ने जन्म लिया है और नयी शैली के रंगभवनों की रचना हुई है। ये हिन्दी नाटकों के अंग्रेज़ी के (मूल भी) मूल और संस्कृत के रूपान्तर भी प्रस्तुत कर रही हैं। बम्बई की थियेटर यूनिट ने 'अंधा युग' और 'नाटक तोता-मैना' का प्रदर्शन कर बड़ा यश उपार्जित किया है। दिल्ली नाटच संघ ने हाल ही मुद्राराक्षस प्रस्तुत किया है। जबलपुर के परिक्कामी रंगमंच की बड़ी शोहरत है। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा अभिनय की शिक्षा देने में तल्लीन है। इसके द्वारा विदेशी नाटकों के अनूदित एवं मूल नाटकों के सफल प्रदर्शन हुए हैं। साथ में पुस्तकालय, रंगशाला तथा

नाट्य-प्रयोगशाला (वर्कशॉप) भी हैं। इनसे कुछ आशा तो बँधती है कि रंगमंच का भविष्य महान् है। परन्तु जब तक हिन्दी रंगमंच के विकास में व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ पर्याप्त रुचि नहीं लेतीं तब तक इसका भविष्य बहुत आशावान नहीं कहा जा सकता।

दक्षिण भारतीय रंगमंच

तमिल रंगमंच

दक्षिण भारत में आधुनिक रंगमंच की परम्परा न तो उतनी आधुनिक ही है और न उतनी समृद्ध ही। १९वीं सदी के अन्त तक तमिलनाडु में अभिनीत नाटकों का स्तर इतना नीचा था कि भद्र परिवार के माता-पिता अपने परिवार के किसी सदस्य को नाटक देखने की स्वतन्त्रता नहीं देते थे। प्रदर्शनों में सब लोग एक साथ बैठते। श्रेणीगत कोई विभाजन न था। संभवतः इसलिए भी भद्र लोगों की रुचि उस ओर न थी। परन्तु अभिनय का स्तर भी बहुत ही निम्नश्रेणी का था। वेश-रचना तो और भी फूहड़ होती थी। राजा-रानी को छोड़ अन्य पात्रों की वेशभूषा रोजमर्रा की साधारण होती थी। वर्ण-रचना भी एकदम घटिया ढंग का होती थी। पात्र भी निम्नस्तर के नितान्त अशिक्षित होते थे। नाटकों की कथावस्तु प्रायः घिसी-पिटी पौराणिक होती थी। 'हरिश्चन्द्र', 'रामनाटक', 'सावित्री-सत्यवान्' और 'द्रौपदी-वस्त्रहरण' आदि का अभिनय ही बार-बार होता था। ये तथाकथित नाटक गीत-प्रधान होते थे। संवाद का कोई सुनिश्चित लिखित रूप नहीं था। गीतों के मध्य उन संवादों को वे पात्र अपनी इच्छा से भर देते थे। गीत गाते हुए हारमोनियम के सहारे उसे बार-बार दुहराया जाता था। तब तक अन्य पात्र नेपथ्य में लौट जाते थे। आज से साठ वर्ष पूर्व तक तमिल रंगमंच इसी हीन अवस्था में था। न नाटक अच्छे थे, न प्रयोक्ता और न उनका रंगमंचीय संगठन ही। फलतः अपरिष्कृत रुचि के समाज में ही उसका आदर था।

तमिल रंगमंच के उद्धार के लिए अव्यवसायी शिक्षित नाट्य-मण्डलियाँ बीसवीं सदी के आरम्भ से ही प्रयत्नशील हैं। १८९० में वेल्लारी के कृष्णमाचारी ने 'सरस विनोदिनी सभा' की स्थापना की। धीरे-धीरे शिक्षित जनों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। इन्होंने पी० एस० मुदालियर के नेतृत्व में 'सगुणविलास सभा' की स्थापना की। मुदालियर महोदय महान् अभिनेता और अध्यापक हैं। गत अर्द्धशतक से तमिल रंगमंच के विकास की दिशा में उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त म्यूज़ियम थियेटर, कन्हैया एण्ड कम्पनी तथा बाल-विनोद नाटक सभा जैसी संस्थाएँ भी रंगमंच के उत्थान के लिए खुलीं। इन सभाओं द्वारा तमिल रंगमंच का स्तर उन्नत हुआ और नाटकों के अभिनय ने भी नया स्वरूप और शक्ति प्राप्त की। इन शौकिया नाट्य-मण्डलियों के प्रयत्न से ही व्यावसायिक नाट्य-कम्पनियों की असम्भ्रान्तता एवं अन्य त्रुटियाँ धीरे-धीरे दूर हो सकीं।

परन्तु रुपहले चलचित्रों के आगमन ने अन्य भारतीय रंगमंचों की भाँति तमिल को भी क्षति पहुँचाई। दर्शकों की रुचि इन नाटकों में तो रमी ही नहीं, अभिनेता भी चलचित्रों में चले गए। इससे गत्यवरोध तो उत्पन्न हुआ ही, युद्धोत्तर अर्थसंकट और महँगी ने मिलकर तमिल रंगमंच को अन्धकारपूर्ण भविष्य की ओर ढकेल दिया।

स्वाधीनता के उपरान्त इधर पुनः तमिल रंगमंच के उत्थान के लिए व्यावसायिक नाट्य-मण्डली विशेष रूप से प्रयत्नशील है। सम्भवतः व्यावसायिक तमिल रंगमंच इस उच्चता का स्पर्श पहले-पहल कर सका है। शौकिया नाट्य-मण्डली की अपेक्षा इसे अधिक सफलता और ख्याति प्राप्त हुई है। सरकार की ओर से भी इसे प्रोत्साहन मिल रहा है। भय इस बात का है कि तमिल रंगमंच पर फिल्मों में प्रयुक्त अनेक शिल्पों का अनुकरण किया जा रहा है। उसके कारण कहीं उसी की छाया ही न बन जाय।

तेलगू रंगमंच

तेलगू रंगमंच की परम्परा बहुत पुरानी है। पद, भजन और गेय काव्य कभी बहुत लोकप्रिय थे। बाद में भागवतमु और भमकलापयु का प्रदर्शन होता था। इनमें कृष्ण-कथा, नृत्य-संगीत के माध्यम से प्रस्तुत की जाती थी। छाया नाट्य और यक्ष गान आदि भी खूब लोकप्रिय हुए। इनकी भाषा स्थानीय होती थी। परन्तु आधुनिक तेलगू रंगमंच का जन्म उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। 'चित्रनलीयम्' पहला तेलगू नाटक था जिसका प्रदर्शन आन्ध्र नाटक पितामह लेखक-अभिनेता कृष्णमाचार्य ने प्रस्तुत किया था। इन्होंने लगभग तीस नाटक प्रस्तुत किए, जिनमें शार्ङ्गधर, प्रह्लाद और अजामिल मुख्य हैं। इसी के आसपास श्रीनिवास राव ने भी रामराज, शिलादित्य और कालिदास का प्रदर्शन वेलारी में किया। वस्तुतः वेलारी तमिल रंगमंच की जन्मभूमि है। १८९० के बाद तो महान् तेलगू अभिनेताओं के नाम से अनेक नाटक-कम्पनियाँ भी खुलीं।

इस सदी के प्रथम चरण में ही आन्ध्र में कई उच्चकोटि के अभिनेता हुए। सन् १९१९ में दिवाली के अवसर पर गुजरादा अप्पावराव का 'कन्या शुल्कम्' प्रस्तुत हुआ। गोविन्द राजुल्य ने 'गिरीशम्' की प्रभावशाली भूमिका की थी। इसकी भूमिका में पात्रों के अभिनय की उत्तमता की कसौटी पच्चीसों वर्षों तक बनी रही। यही नहीं, सामाजिक नाटकों में भी यह नाटक एक आदर्श बना रहा। तेलगू नाटक के इतिहास में राजमन्नार के थप्प वरीडी का बड़ा महत्त्व है। आन्ध्र के महान् अभिनेता राघव (आन्ध्र नाटक पितामह कृष्णमाचार्य का भतीजा) ने पुंगेल के अवसर पर 'म्यूज़ियम थियेटर' मद्रास में इसे प्रस्तुत किया। राजमन्नार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के नाट्य-लेखक हैं। १९३०-४० के बीच मधुकृष्ण के 'अशोकम' चलम् का 'चित्रांगी' और शशांक कविराजु का 'शंबुक वध' और 'खूनी' का अभिनय हुआ। परन्तु पौराणिक कथाओं को नये परिवेश में प्रस्तुत किया गया। स्वाधीनता के उपरान्त आन्ध्र में कई नाटक-मण्डलियाँ काम कर रही हैं और एकांकी नाटक और रेडियो-रूपकों की रचना बड़ी तेज़ी से हो रही है। आन्ध्र नाटक कला परिषद्, (१९२९) 'तेलगू लिट्ल थियेटर' और 'आन्ध्र थियेटर फेडरेशन' नामक संस्थायें नाट्य-प्रदर्शन और रंगमंच को लोकप्रिय बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। फिर भी तेलगू में अभी ऐसे नाटकों का अभाव है, जिनका अभिनय पूरे दो घंटे तक हो सके।[1]

कन्नड़ रंगमंच

कन्नड़ का आधुनिक रंगमंच यद्यपि विकासशील है पर उसका भविष्य अभी सुनिश्चित

१. तेलगू ड्रामा : के० वी० गोपल स्वामी, इण्डियन ड्रामा, पृष्ठ ११३।

नहीं है। अव्यावसायिक नाटच-मण्डलियाँ नाटच-प्रयोग में रुचि तो ले रही हैं, पर उसके लिए सतत् प्रयत्न की आवश्यकता है। बिना व्यावसायिक नाट्य-मंडली के रंगमंच की वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। दुर्भाग्य से वे कन्नड़ में अब चालू नहीं हैं। दत्तात्रेय नाटक मंडली और विश्वगुणादर्श नाटक-मंडली ने कन्नड़ के रंगमंच को गति और शक्ति दी है। इस काल में अंग्रेज़ी और संस्कृत नाटकों के रूपान्तर तो प्रस्तुत हुए पर कन्नड़ का नाटक अभिनीत नहीं हो सका। चलचित्रों ने तो कन्नड़ रंगमंच की इस बिखरी हुई परम्परा को और भी ध्वस्त कर दिया। बड़ी कठिनाई से गुंधी वीरन की थियेट्रिकल कम्पनी ने पौराणिक एवं अन्य प्रकार के नाटकों के प्रदर्शनों द्वारा कन्नड़ रंगमंच को जीवित रखा है। अव्यावसायिक नाटच-मंडलियाँ भी स्थापित हुईं, कुछ नाटकों का प्रदर्शन भी किया और फिर बन्द भी हुईं। पिछले कुछ वर्षों में कन्नड़ रंगमंच का उत्थान और पतन होता रहा है। आधुनिक कन्नड़ रंगमंच के निर्माण में स्व० टी० वी० कैलाशम्, श्रीनारायण राव और श्रीरंग के नाम अविस्मरणीय रहेंगे। तोलुगत्ति और होमरूलु द्वारा कैलाशम् ने अभिनय की नई परम्पराओं का सृजन किया है। नारायण राव रचित स्त्रीधर्म-रहस्य सम्भवतः पहला आधुनिक मौलिक नाटक था। इन दोनों नाटककारों ने कन्नड़ रंगमंच के लिए ही नाटकों की रचना की थी।

मलयालम का रंगमंच

नाटचकला के सभी देशी रूपों में 'कथकली' केरल के लोक-जीवन की आकांक्षा और भावनाओं का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। कत्थकली की कला जितनी सूक्ष्म और जटिल है उतनी ही विशुद्ध भी। वेष और मुखौटों की रचना, काव्य की कोमलता, गीत-वाद्य-नृत्य का योग और आंगिक भावभंगिमाएँ—सब मिलकर 'कत्थकली' को पूर्णता प्रदान करती हैं। इसमें परम्परागत पौराणिक एवं लौकिक कथावस्तुओं का ग्रन्थन भावभूमि के रूप में होता है। केरल में प्रचलित यह नाटच-नृत्य प्राचीन भारतीय रंगमंच का अत्यन्त उदात्त रूप शेष रह गया है। अभिनेता अपने अभिनय की कुशलता से संघिम और वेष्टिम आदि आहार्य साधनों के बिना ही दर्शकों को पृथ्वी से स्वर्ग तक ले जाता है और शृंगार, वीर, करुण और रौद्र आदि रसों की लहरों में लीन कर देता है। कत्थकली के साथ ही केरल में प्राचीन काल से ही संस्कृत नाटक अभिनीत होते थे। वर्षों तक तो संस्कृत के मलयालम् रूपान्तर अभिनीत होते रहे हैं।

मलयालम् के नाटक पाश्चात्य नाटच-शैली के प्रभाव में लिखे जा रहे हैं। रंगमंच के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के समाधान की खोज की गई है। परन्तु अनुकरण की लहर में भी कन्निकर एम० पद्मनाभ पिल्लई और एमंकुमार पिल्लई ने उससे ऊपर उठकर अपने नाटकों द्वारा मूल मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। सामाजिक समस्याओं का प्रस्तुतीकरण इनके नाटच-प्रयोगों में बड़ा ही मर्मस्पर्शी हुआ है। केरल में भी स्थायी रंगमंच की रचना का प्रयास हो रहा है। 'कलानिलयम्' नामक नाटच-संस्था अस्थायी नाटक भवन में कई महत्त्वपूर्ण रंगमंचीय नाटकों को प्रस्तुत कर चुकी है। कुरुक्षेत्र, देवदासी तथा नूरजहाँ के प्रदर्शनों ने इस संस्था को बड़ा गौरव प्रदान किया है। इसके मंच-विधान में बिजली की सहायता से कई आकर्षक फिल्मी शिल्पविधियों का भी प्रयोग किया गया है।[1]

---

१. कल्पना, मई, '६३, पृ० १६।

भरतनाट्यम्

दक्षिण भारत के आधुनिक रंगमंचों की कथा 'भरतनाट्यम्' की चर्चा के बिना अधूरी ही रह जाती है। भरतनाट्यम् की भारतीय परम्परा अभी भी दक्षिण में अक्षुण्ण है। पर वह मन्दिरों के आश्रय के कारण सम्भव हो सका। भरतनाटयम् के आचार्य अभी हैं। परन्तु उसे पूरी निष्ठा से प्रस्तुत करने वाली देवदासियों की परम्परा लुप्त हो चुकी है। फलतः आज इस नृत्य का व्यावसायिक दायित्व मन्दिरों के मण्डपम् से हटकर तथाकथित कला-प्रेमीजनों के मंच तक आ गया है।[1] 'भरतनाट्यम्' की परम्परा को ईश्वराराधन तथा साम्प्रदायिक पूजा से शाश्वत प्रेरणा मिलती रही है। वह मात्र अंगों का संचालन नहीं, उसमें हृदय की निश्छल भक्ति और दृढ़ अनुराग की अभिव्यंजना होती है।[2] परन्तु भरतनाट्यम् का आधुनिक प्रदर्शन देव मन्दिरों से हटने पर तो केवल यशाभिलाषी प्रदर्शन मात्र रह गया है। उसके मूल में बसी आत्मनिष्ठा लुप्त होती जा रही है। कई सदियों से पोषित यह नाटच हमारे सांस्कृतिक संरक्षण का उत्कृष्ट कलात्मक माध्यम रहा है। वह शास्त्रीय और साम्प्रदायिक परम्पराओं पर जीवित है। यदि हम उन्हें खो बैठें तो भारतीय नृत्य जीवन की उन गरिमाओं को अभिव्यक्ति न दे सकेगा, जिनके कारण भारतीयता आज भी जीवित है। नाटच और नृत्य-प्रेमियों के समक्ष आज यह प्रश्न है कि क्या यह भारतीय नृत्य-शास्त्र की परम्पराओं की उपेक्षा कर वास्तव में जीवित रह सकेगा ? या पुनः देवालय की छाया में ही यह अपने प्रकृत रूप में पनपेगा ? पनप सकेगा ?

राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना

पिछले पृष्ठों में हमने भारत के विभिन्न प्रदेशों के आधुनिक रंगमंचों की परम्परा, स्वरूप और अवस्था का विहंगम अवलोकन किया है। उससे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। यद्यपि विभिन्न रंगमंचों की प्रगति तो हो रही है, परन्तु १९३०-३२ से पूर्व मराठी, बँगला एवं अन्य कुछ रंगमंचों की जो लोकप्रियता थी, वह अब इतिहास की बात होती जा रही है। व्यावसायिक नाटच-मण्डलियाँ चलचित्र के प्रभाव के कारण प्रायः बन्द हो चुकी हैं, अव्यावसायिक नाटच-मण्डलियाँ यदा-कदा साहित्यिक नाटकों का प्रदर्शन करती हैं। केवल बंगाल में यह परम्परा अभी जीवित है। आधुनिक रंगमंचों पर पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों का प्रभाव बहुत अधिक है। स्वदेशी नाट्य-परम्परायें उपेक्षा के कारण उच्छिन्न होती जा रही हैं। नाट्य-प्रदर्शन प्रायः अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों के माध्यम से थोड़ा-बहुत पनप रहा है। स्वाधीनता के बाद सभी प्रदेशों में रंगमंच के पुनरुत्थान की लहर उठी है। विभिन्न प्रदेशों में रंगमंचों के विविध स्वरूपों, शैलियों और परम्पराओं का समन्वय कर राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना देश की एक महान् आवश्यकता है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि प्राचीन भारत में पूर्णतया समृद्ध और स्वतंत्र रंगमंच था और उनमें पूर्ण निष्ठा के साथ सदियों तक नाट्य-प्रयोग होते रहे हैं। संगीतशालायें, चित्रशालायें, राजमहलों के भव्य प्रांगण और मन्दिरों के विशाल 'मण्डपम्' सदा कुशल

---

१. कल्पना, मई, '६३, पृ० २१।

२. It is the ritual, not the trick of expression.

—A. K. Coomar Swamy, Introduction to Abhinaya Darpan, page 13.

नर्तकियों और शिक्षित अभिनेत्रियों के नूपुरों से रुनझुन और मधुर कंठ से गूँजते रहे हैं। 'यवनिका' शब्द के कारण भारतीय नाट्य पर ग्रीक-प्रभाव का जो भ्रमजाल वर्षों तक फैला रहा, वह अब छिन्न-भिन्न हो चुका है।[1] तब नाट्य, नृत्य और संगीत की विविध शिक्षा पाने पर ही अधिकारी पात्र उनका प्रयोग करते थे। प्रयोक्ताओं के अतिरिक्त रंगशिल्पियों का विशाल संगठन था, जो नाट्य का प्रयोग व्यवसाय के रूप में करते थे।[2] सहृदय प्रेक्षक उसमें रस लेते, और प्राश्निक उसकी सिद्धि एवं दोषों का परीक्षण करते थे। उनके द्वारा प्रशंसित होने पर ही राजा पात्र को पुरस्कृत करते थे।[3] रंगमंच की ऐसी विकसित, पुष्ट और सुदीर्घ परम्परा होने पर भी आज भारतीय रंगमंच अधिकाधिक पाश्चात्य रंगमंच का ही मुँह जोह रहा है, यह हमारी घोर सांस्कृतिक दासता का ही परिणाम है।

भारतीय नाट्य-परम्परा विरोधों और संघर्षों के बीच भी जीवित रही है। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है कि मध्ययुग में तुर्कों के आक्रमण के उपरान्त भी संगीत-प्रधान नाटक, यात्रा, रामलीला, कृष्णलीला, रासलीला, ललित, भागवतम् और भवाई की स्वदेशी नाट्य-परम्परायें उन्नीसवीं सदी के अन्त तक वर्तमान रही हैं। उनमें भारतीय जन-जीवन की प्रतिभा और चेतना सदियों से फूलती-फलती रही है।

हमारी नाट्य-परम्परा ऐसी समृद्ध रही है कि पाश्चात्य नाट्य-परम्पराओं से प्रभावित होने पर भी हम उन परम्पराओं के विधिवत् ज्ञान और प्रयोग द्वारा वर्तमान रंगमंच का नया रूप खड़ा कर सकते हैं। पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों को नितान्त अस्वीकार करने की स्थिति में भी हम नहीं हैं। हमारा आधुनिक रंगमंच उसी पद्धति पर पिछले एक शतक से विकसित होता रहा है। अतः इसकी आवश्यकता है कि विदेशी और स्वदेशी नाट्य-कलाओं का उचित सामंजस्य कर उसे नया स्वरूप दें।[4] इसके लिए आवश्यक है कि प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों के शास्त्रीय एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए राष्ट्रीय स्तर के नाट्य-विश्वविद्यालय स्थापित हों, जहाँ सिद्धान्त और प्रयोग-पक्षों के ज्ञाता कुशल आचार्य, नाट्यकार अभिनेता और रंग-शिल्पी इन विषयों का समुचित अनुसन्धान करें।

नाट्यशास्त्र एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण में आहार्य अभिनय के अन्तर्गत व्याजिम, पुस्त-चेष्टिम नेपथ्यज विधियों के साथ पाश्चात्य नाट्य-पद्धति की प्रकाश-संयोजना, रंगमंचीय रूप-सज्जा और नाट्य-प्रयोग की नवीनतम तकनीकी विधियों की समुचित शिक्षा दी जाय, यह आवश्यक है।

---

१. It is now an admitted fact that Indian drama had an independent origin and followed its own course of development without being affected by Greek or any other extraneous influence.

—Bengali drama and stage—P. C. Sen, Indian Drama, p. 39.

२. ना० शा० ३५।२०-३६ का० मा०।

३. वही २७।३७, ४३, ५१-६१, ६४-६६ का० मा०।

४. रंगमंच की दृष्टि से भी भारतीय नाटक को पश्चिम से बहुत-कुछ सीखना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन परम्पराओं को बेकार मानकर किनारे रख दें।

—आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २७०।

रंगमंचीय नाटकों के प्रदर्शन के साथ-साथ भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष, रवीन्द्र, प्रसाद और मामा वरेरकर-जैसे महान् नाटककारों के मूल एवं रूपान्तरों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाय, जिससे समस्त भारत में इनके महान् नाटकों द्वारा भारत की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता का बोध हो सके।

राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में बालगंधर्व, अहीन्द्रनाथ चौधरी और पृथ्वीराज कपूर जैसे सधे हुए अभिनेताओं एवं नाट्य-नृत्य एवं संगीत के यशस्वी उन्नायकों—उदयशंकर, रामगोपाल, साराभाई अल्काजी और ओंकारनाथ ठाकुर आदि के सहयोग से राष्ट्रीय रंगमंच की रचना होनी चाहिये। ऐसे रंगमंच भारत के प्रमुख नगरों में हों, जिनमें आधुनिक रंगमंच की नवीनतम सुविधाएँ उपलब्ध हों। भारतीय रंगमंच के ह्रास का एक यह भी कारण है कि उनके पास अपने रंगभवन नहीं हैं। रंगभवन होने पर ही नियमित नाट्य-प्रदर्शन की संभावना बढ़ सकती है। यद्यपि चल-चित्रों का-सा आकर्षण नाट्य-प्रदर्शनों में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, परन्तु नाट्य-प्रदर्शन में सजीव साक्षात्करण होने के कारण दर्शक और प्रयोक्ता में आत्मीयता के सम्बन्ध का स्पर्श अधिक सजीव होता है। यदि उपयुक्त रीति से नाट्य-प्रदर्शन की व्यवस्था हो, तो वे अभी भी लोकप्रिय हो सकते हैं। विदेशों में चलचित्रों के रहने पर भी नाटकों एवं गीति-नाट्यों की लोकप्रियता घटी नहीं है।

वस्तुतः इसके लिए विशाल प्रबन्ध और आर्थिक सुविधा की आवश्यकता है। सरकार भरपूर आर्थिक सहायता देकर कुशल रंगशिल्पियों, अभिनेताओं और निर्देशकों का संगठन करे, उन्हें समुचित वेतन दे तथा पूरी शिक्षा, अभ्यास एवं सब साधनों से संपन्न कर नाट्य-प्रदर्शन प्रस्तुत किया जाय। तब हमारे रंगमंचों में नव-जीवन का संचार हो सकता है। पुरस्कार-वितरण और सेमिनारों के आयोजन मात्र से रंगमंच का ह्रास शायद ही रुके।

प्राचीन रंगमंचों पर स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही निर्द्वन्द्व भाव से नाट्य-नृत्य एवं संगीत प्रयोग में भाग लेती थीं। तुर्कों के आक्रमण के बाद वह परम्परा लुप्त हो चुकी थी। आधुनिक शिक्षा के सुप्रभाव से अब भारतीय रंगमंच पर स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं, परन्तु अभी भी अधिकतर स्त्री-पात्रों के लिए पुरुष-पात्र ही भूमिकाएँ निभाते हैं। इस दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता है कि रंगमंच का वातावरण इतना सुसंस्कृत, शिष्ट और पवित्र हो कि कलानुरागिनी स्त्रियाँ अपना सहयोग प्रस्तुत कर रंगमंच को श्री-समृद्ध करें। स्त्री-पात्रों द्वारा रंगमंच के पात्रों के चरित्र अधिक यथार्थ और शोभा-समृद्ध होंगे। भारतीय चल-चित्रों पर बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्राचीन भारतीय सामाजिक मर्यादाओं और पारस्परिक पारिवारिक शिष्टताओं की सीमाएँ टूट रही हैं। चुम्बन और आलिगन के कुरुचिपूर्ण यूरोपीय दृश्य-विधान की परम्परा भारतीय चलचित्रों पर भी छाती जा रही है। इस कुप्रभाव से भारतीय रंगमंच की रक्षा होनी चाहिये। भारतीयता की अपनी मर्यादा है। उसकी सीमाओं को तोड़कर ही हमारा रंगमंच विकसित नहीं हो सकता। कालिदास के दुष्यन्त एवं शकुन्तला अनुराग से आप्लावित होने पर भी ऐसा कोई कुरुचिपूर्ण व्यवहार नहीं प्रस्तुत करते, जो सामाजिक दृष्टि से हेय हो।[1]

---

१. मुखमंसविवर्तिपक्ष्मलाक्ष्याः मुखमुन्नमितं न चुम्बितं तु—अभिज्ञानशाकुन्तल, अ० ३।२३।

रंगमंच निर्माण की प्राचीन भारतीय पद्धति बहुत पुष्ट थी, वह भरत के नाटचशास्त्र से स्पष्ट है, परन्तु उस शैली में निर्मित रंगभवन अब एक भी शेष नहीं है। अतः भरत-निर्दिष्ट निर्माणशैली का यथावत् प्रयोग न संभव है और न उपयोगी है। परन्तु आधुनिक रंगभवनों की निर्माण-शैली के परिवेश में प्राचीन रंगमंच की रचना होनी चाहिये। रंगमंच पर पर्दे, द्वार और मत्तवारिणियों का प्रयोग सौन्दर्य, उपयोगिता और प्रभाव-वृद्धि की दृष्टि से करना उचित है। गीत, नृत्य और अभिनय की भाव-भंगिमाओं के प्रदर्शन में प्राचीन शैली को यथोचित स्थान देना उचित ही है। पाश्चात्य-पद्धति के संगीत, लय और संवादों के स्थान पर भारतीय गीत एवं लय के भावानुरूप प्रयोग होने पर वे प्रकृत एवं प्रभाववर्द्धक हो सकते हैं।

राष्ट्रीय रंगमंचों पर नाटच-प्रयोग प्रस्तुत करते हुए भारतीय रस-दृष्टि की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। सहृदय दर्शकों के समक्ष यदि पात्रों का वेष-केश एवं वर्ण-विन्यास भारतीय जीवन एवं परम्परा के अनुरूप हों तथा संगीत, नृत्य एवं आंगिक भावभंगिमाएँ शास्त्र एवं लोकानुसारी हों, अर्थात् समस्त नाटच-प्रयोग भारतीय जनजीवन की आकांक्षाओं और आदर्शों के अनुरूप हो तब भारतीय नाटच के उद्देश्य-रस का आनन्दोल्लासपूर्ण उदात्त वातावरण का सृजन स्वाभाविक है।

यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की आवश्यकता बड़ी तेजी से अनुभव की जा रही है। भारत सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है। उसके तत्वावधान में 'ड्रामा स्कूल' का संचालन हो रहा है। पृथ्वी थियेटर्स की अकाल मृत्यु के उपरान्त थियेटर यूनिट ने कुछ सफल नाटच-प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, पर उसके पास रंगभवन नहीं हैं। जबलपुर का परिक्रामी रंगमंच भव्य तो है पर उसके लिए कुशल निर्देशक और रंग-शिल्पियों की आवश्यकता है। अन्य प्रदेशों में भी रंगमंच के उन्नयन की दिशा में कुछ प्रगति हो रही है।

यह आज आवश्यक है कि हम बिखड़ी हुई शक्तियों को एकत्र कर राष्ट्रीय रंगमंच निर्माण का अधूरा स्वप्न पूरा करें, जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ नाटक, गीति-नाटच और लोक-नाटचों का सफल अभिनय हो। अपने देश के कलाकारों ने विदेशों में भी नाट्य-नृत्य और संगीत का प्रदर्शन प्रस्तुत कर देश का गौरव बढ़ाया है। रूसी भाषा में रामलीला वहाँ बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है। श्रीमती साराभाई द्वारा अमेरिका में प्रस्तुत भासकृत वासवदत्ता का भारतीय वेशभूषा के साथ अंग्रेज़ी रूपान्तर उस देश में चर्चा का विषय रहा है। नाटच-नृत्य और संगीत की हमारी देशी परम्पराएँ बहुत उन्नत रही हैं, इसलिए आधुनिक नाटच-नृत्य का प्रयोग करते हुए अपेक्षित अनुकूल पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करके भी उसके स्वत्व की सुरक्षा आवश्यक है। पौधा कितनी भी हवा और रोशनी बाहर से क्यों न ले, पर यदि उसकी जड़ें अपनी धरती में समाई नहीं हैं तो उसके स्वस्थ विकास की क्या संभावना हो सकती है! आधुनिक भारतीय नाटच 'स्व' की धरती पर ही पनपकर आत्म-संवर्द्धन कर सकता है, तभी सच्चे राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना हो सकती है। राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना केवल विशाल भवनों के निर्माण से संभव नहीं है, उसमें परम्परागत राष्ट्रीय चेतना की प्रतिष्ठा करने और आदर्शों के उद्बोधन से उसकी स्थापना संभव है। नाटक के लिए महारस, महाभोग, उदात्त वचनान्वित, लोक का

सुख-दुःखात्मक स्वभाव, लोकभाषाओं का प्रयोग, मृदु-ललित पदों की जन-सुख बोध्यता, नाना शिल्पों, कलाओं और विधाओं के योग से नाट्य को पूर्णता का भरत-निर्दिष्ट आदर्श राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में हमारा दिशा-निर्देश कर सकते हैं। ऐसा ही रंगमंच भारतीय जीवन का सच्चा प्रतिफलन होगा।[1]

---

१. महारसं महाभोग्यं उदात्त वचनान्वितम्।
महापुरुष संचारं साध्वाचार जनप्रियम्।
सुश्लिष्ट संधि योगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानंतु कविः कुर्यातु नाटकम्।
न तज्ज्ञानं तच्छिल्पं न सा विधा न सा कला।
न तत्कर्म न योगो सौ नाटके यत् न दृश्यते।।

—ना० शा० १६।११६-१२०, १२२ (का० मा०)

उपसंहार

उपसंहार

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र विश्व का एकमात्र प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसमें नाट्यकला के ऐतिहासिक, रचनात्मक, अभिनयात्मक और रसात्मक पक्षों का समष्टि रूप से इतना विशद एवं वैविध्यपूर्ण विचार किया गया है। प्राचीन युग के पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाट्यकला के सम्बन्ध में विचार किया है, पर वह मुख्यतः एकांगी है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में नाट्य की अनुकरणात्मकता और दुःखात्मकता पर विशेष बल दिया गया है। इसकी रचना तो ईस्वी पूर्व में हुई पर यूरोप में उसे प्रामाणिकता मिली पन्द्रहवीं सदी के आसपास ही। भरत का नाट्य-शास्त्र कालिदास-काल तक (चौथी सदी) अत्यन्त प्रामाणिक एवं पवित्र नाट्यवेद के रूप में भारतीय समाज में प्रतिष्ठा पा चुका था। संभव है अश्वघोष और भास के प्रारम्भिक नाटकों की रचना भी नाट्यशास्त्र से प्रभावित हो। तीसरी सदी के बाद के तो सभी लक्ष्य (नाट्य) और लक्षण ग्रन्थकारों ने इस महान् ग्रन्थ के आलोक में अपनी कृतियों का सृजन किया है।

भरत द्वारा नाट्यशास्त्र का संकलन उस प्राचीन युग में हुआ, जब इस भारतभूमि पर आर्य और आर्येतर जातियों की सभ्यताओं का महामिलन हो रहा था। आर्यों की साहित्यिक कर्मण्यता अपने उत्कर्ष पर थी। इस 'सार्ववर्णिक पंचम नाट्यवेद' की रचना के सदियों पूर्व ही आर्य वाङ्मय की विशाल गंगा अनेक धाराओं में प्रवाहित हो रही थी। वह वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्म, काम-तंत्र, अर्थतंत्र, व्याकरण-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, वीर-काव्य गीत-नृत्य एवं रसशास्त्र की परम्पराओं के रूप में लोकजीवन को अनुप्राणित कर रही थी, इस दृष्टि से भारतीय साहित्य-समृद्धि का वह अपूर्व युग था। सदियों पूर्व से प्रवहमान जातीय जीवन की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भरत ने सर्वलोकानुरंजनी नाट्यकला को व्यवस्थित रूप दिया। हमारे जातीय जीवन में जो कुछ सुन्दर, भव्य, उदात्त और श्रेष्ठ था, उसकी अभिव्यक्ति का प्रशस्त माध्यम यह कला हुई।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' ललित कलाओं का विश्वकोष है। भरत ने इसमें नाट्य-कला

के साथ उसकी अन्य उपरंजक काव्यकला, संगीतकला और नृत्यकलाओं के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक रूपों का भी समावेश किया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में भरत का व्यक्तित्व विलक्षण है। इनकी चिन्ताधारा ने सदियों तक नाट्य, नृत्य, संगीत, काव्य और मूर्तिकला को प्रेरित किया है। नृत्य की कल्पित मुद्रायें और भावभंगिमाओं की अनुकृतियाँ दक्षिण भारत के मंदिरों पर आज भी अंकित हैं। भरत ने भारत की समस्त कलाचेतना को अपनी नव-नवोन्मेष-शालिनी कल्पना से सदियों तक अनुप्राणित और अनुरंजित किया। 'भरतनाट्यम्' और 'कत्थकली' की मुद्राओं एवं भाव-समृद्ध साधना में भरत द्वारा कल्पित कला की मधुर झंकार आज भी सुनाई देती है। अतः भारतीय कला का इतिहास भरत की सतत प्रवहमान विकासशील चिन्ताधारा का ही इतिवृत्त है। भरत ने सदियों तक इन कलाओं के प्रेरणा-स्रोत के रूप में वीर-काव्य रचयिता वाल्मीकि और व्यास की तरह ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य संपन्न किया।

नाट्य के उद्भव और विकास की दृष्टि से नाट्यशास्त्र में सुनियोजित कथा बहुत महत्त्व की है। भरत की यह मूल मान्यता कि ऋग्वेद से संवाद, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस तत्त्व लेकर नाट्य का सृजन हुआ; नाट्य को भी वेद की-सी पवित्रता देने के लिए भरत-कल्पित एक काल्पनिक सिद्धान्त मात्र नहीं है। वस्तुतः वेदों में नाट्यतत्त्व आंशिक रूप से वर्तमान है। भरत की यह मान्यता कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों को भी स्वीकार्य है।

नाट्यशास्त्र में संगृहीत नाट्योत्पत्ति की कथा का ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्व है। प्राक्-ऐतिहासिक काल में देवों एवं दानवों की संघर्ष-कथाओं से हमारा प्राचीन साहित्य ओतप्रोत है। नाट्योत्पत्ति का इतिहास उन दोनों जातियों के रक्तपात से सना है। कितने भरतों (नाट्यप्रयोक्ताओं) के बलिदान और अभिशाप की ज्वाला में जलने के बाद नाट्य का सृजन और प्रयोग हो सका। इसका साक्षी नाट्यशास्त्र है। 'नाटक' देवताओं की विजय या दानवों की पराजय-कथाओं का ही 'अनुकीर्तन' नहीं है, अपितु उन दोनों का 'शुभाशुभ विकल्पक' तथा तीनों लोकों का 'भावानुकीर्तन' रूप है। देव-दानवों के अतिरिक्त गंधर्व यक्ष, राक्षस, नाग आदि विभिन्न जातियों एवं अन्य प्राकृतिक देवतात्माओं के सहयोग से नाट्य-प्रयोग संभव हुआ। इससे यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि नाट्योत्पत्ति के क्रम में भारत में बसने वाली तत्कालीन सब जातियों का सहयोग प्राप्त किया गया।

भरत-कल्पित सार्ववर्णिक नाट्य (क्रीडनीयक दृश्य और श्रव्य) सृष्टि-चक्र का प्रतीक है। विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के प्रतीक हिन्दुओं की 'त्रिमूर्ति' ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने समन्वित भाव से नाट्यकला को विभिन्न अंगों से परिपुष्ट किया। प्रत्यभिज्ञावादी दार्शनिकों के अनुसार जीवात्मा विश्व को 'स्व' मानकर आनन्दानुभव करता है, यद्यपि वह तो प्रकृति की सृष्टि है। भव्य रंगमंडप पर मनोदशा के अनुरूप उचित वेषभूषा, भावसमृद्ध अभिनय तथा गीत-वाद्य आदि अन्य उपरंजक कलाओं के समन्वित प्रयोग से जीवात्मा (प्रेक्षक) आत्मदर्शन रूप सौन्दर्यानुभव करता है। पात्र द्वारा प्रयुक्त वह नाट्य-सृष्टि उसकी नहीं कवि की है। पर प्रयोग-काल के विलक्षण वातावरण के कारण अपना मान ही वह आनन्दित होता है। अतः भरत द्वारा कल्पित नाट्य-प्रयोग सृष्टि-चक्र की आनन्दधारा का ही प्रतीक है। शैव मत के प्रत्यभिज्ञादर्शन में चौबीस सांख्य और बारह शैव के मूल तत्त्व कुल मिलाकर छत्तीस तत्त्व हैं और नाट्यशास्त्र में भी छत्तीस अध्याय ही हैं यह एक विलक्षण संयोग है।

नाट्य-शास्त्र के अन्तिम अध्याय में संगृहीत नाट्यावतरण की कथा और भी महत्त्वपूर्ण है। नहुष की प्रेरणा से भरत-पुत्रों द्वारा नाट्यप्रयोग को स्वर्ग से धरती पर लाने की बात सत्य हो या नहीं पर भरतों के सामाजिक तिरस्कार के लक्ष्य होने की बात सत्य है। यही कारण है कि पातंजल महाभाष्य ने नाट्यविद्या के व्याख्याता को 'आख्याता' नहीं माना है। यद्यपि उससे पूर्व नट-सूत्रों की गणना वैदिक चरणों में भी होती थी। नाट्य-शास्त्र में प्रस्तुत नट-अभिशाप की कथा उस युग की नटमंडलियों के प्रति आचार-व्यवहार की विशुद्धता के कठोर पक्षपाती नैतिकतावादी एक विशिष्ट वर्ग की हीन मनोभावना का सच्चा प्रतिफलन है। परन्तु भरत की दृष्टि में नाट्य-प्रयोक्ताओं का स्थान सदा ही मर्यादापूर्ण रहा है, उनका सूत्रधार 'नाना शिल्प-विलक्षण' और नाट्य-प्रयोग-कुशल तो है ही, वह 'राजवंश प्रसूतिमान्' भी है। परवर्ती काल में भी भवभूति और बाणभट्ट जैसे विशिष्ट कवियों की मित्रमंडली में नाट्य-प्रयोक्ताओं के उल्लेख से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का भी समर्थन होता है।

नाट्य-सम्बन्धी भरत का गहन चिन्तन मौलिक, किसी भी देश के नाट्यप्रयोग के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है। उनके सार्वभौम नाट्य-सिद्धान्त में वेद, इतिहास, आख्यान और विभिन्न लोक-परम्पराओं का अन्तर्भाव किया गया है। वेद की तुलना में लौकिक परम्पराएँ नाट्य में प्रामाणिक मानी गई हैं। भरत की दृष्टि में नाट्य-संबंधी मान्यताओं का आधार लोक-जीवन है (लोक-सिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तु इदम्)। इसमें लोक-जीवन से संबंधित सुखदुःखात्मक, 'नाना भावोपसंपन्न' लोकवृत्त का अनुकरण (पुनरुद्भावन्) होता है। कोई ऐसा शास्त्र, कोई ऐसा शिल्प, कोई ऐसी विद्या और कोई ऐसी कला नहीं है, जिसका नाट्य में प्रयोग नहीं किया जाता है। तीनों लोकों का भावानुकीर्तन रूप होने से नाट्य से धर्म, काम, उत्साह, ज्ञान, विद्वत्ता और मन को विश्रान्ति भी प्राप्त होती है—

भरत-निर्दिष्ट नाट्यकला का रचनात्मक रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका प्रत्यक्ष संबंध नाट्य-रचयिता कवि से है। पाश्चात्य नाट्यकला में भी कभी रचयिता कवि का बड़ा महत्त्व था, पर अब निर्देशक ने भी वह महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। रूपकों के दसों (नाटिका लेकर ग्यारह) भेदों की व्याख्या जितनी विशद है उतनी ही गहन एवं गवेषणापूर्ण भी। प्रत्येक रूपक का आदर्श भिन्न है और उस युग की सामाजिक जीवनधारा के विभिन्न रूपों का परिचायक है। रूपकों के उद्भव और विकास का इतिहास नाट्य-साहित्य के क्रमशः विकसित रूप और अवस्था का संकेत करता है। भरत से सदियों पूर्व नाट्य-परम्परा का आरम्भ हुआ होगा। प्रस्तुत प्रसंग में भरतोत्तर उपरूपकों के विकास का भी दिग्दर्शन किया गया है। इन उपरूपकों ने मध्यकाल में भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को सदियों तक प्रभावित किया है।

भरत की दृष्टि से, कथावस्तु नाट्य का शरीर है। वस्तुतत्त्व की अर्थप्रकृतियाँ, कार्य-व्यापार की अवस्थाएँ और उनकी समन्वित-रूप संधियाँ नाटक को संश्लिष्टता और गति देती हैं। वस्तुतत्त्व की प्रकृतियाँ इतिवृत्त की विभिन्न विकासशील दशा की अवस्थाएँ अभिनयात्मक कार्य-व्यापार की अवतारणा में और संधियाँ रचनात्मक प्रभाव को समन्वित करने में सहायता प्रदान करती हैं। आरंभ से फलागम तक जो पाँच अवस्थाएँ कथावस्तु के विकास का संकेत करती हैं, वे यूरोपीय कथावस्तु के 'आरंभ, मध्य और अन्त' विकास की इन तीन अवस्थाओं की

परंपरा में है। कथावस्तु का यह शास्त्रीय विभाजन प्राचीन भले ही हो, परन्तु नाटकीय कथावस्तु की संश्लिष्टता और प्रभावात्मकता की दृष्टि से अपेक्षित परिवर्तनों के साथ आधुनिक नाटकों में भी यह प्रयोग की पूर्ण क्षमता रखता है। पाँचों संधियों के चौंसठ अंगों की योजना नाट्य की रसपेशलता को दृष्टि में रखकर होती है जो अंग रसानुकूल होते हैं, उनका बार-बार प्रयोग हो सकता है, पर जो रसोत्कर्षक नहीं हैं, उनका प्रयोग उचित नहीं होता।

इतिवृत्त नाट्य का शरीर है, तो पात्र का शील-वैचित्र्य उसका आन्तर रस। इसी शील रूप आन्तर रस में नाट्य प्रतिष्ठित रहता है। इस आन्तर रस का उद्भावन तो धर्म, अर्थ और काम-सम्बन्धी विषयों के प्रति मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संवेदनाओं और तदनुकूल प्रतिक्रियाओं से होता है। जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। उन मूल वृत्तियों के उत्तरोत्तर विकास से मनुष्य के शील का निर्माण होता है। भरत ने मनुष्य की प्रवृत्तियों में काम-प्रवृत्ति को सर्वाधिक प्रश्रय दिया है तथा स्त्रियों को उस काम-सुख का सार माना है। अतएव मनुष्य की दया, दाक्षिण्य और वीरता आदि सात्त्विक विभूतियों के मूल में प्रायः लालित्य और सौन्दर्य की प्रेरणा भी वर्तमान रहती है। जीवन-प्रवृत्तियों के संबंध में भरत की यह काम-परक दृष्टि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विचारों के अनुरूप है। उनकी दृष्टि से जीवन की समस्त प्रवृत्तियों के मूल में काम-सुख की उपलब्धि या भोगाभाव-जनित कुंठा ही है।

भरत का पात्र-विधान ऐहिकता-मूलक है। लौकिक सुख-दुःखात्मक रस से मानव-चरित्र परिपुष्ट होता है। इस दृष्टि से नाटकों में जीवन की यथार्थता के समर्थक होकर भी वे आदर्शोन्मुख हैं। उसकी दृष्टि से नाटकों का नायक महापुरुष, जनप्रिय तथा साधु आचार का होता है। उसके जीवन में गौरव-गरिमा होती है और वह अपने उदात्त आदर्शों से युग-चेतना को प्रभावित करता है। इस प्रकार उत्तम प्रकृति की नायिकाएँ भी नायकों के समान पति-प्रेम के आदर्श में ढली हुई होती हैं। अन्य अनेक प्रकार की नाट्योपयोगी नायिकाएँ, मानसिक अवस्था, रूप-शोभा और अंगरचना आदि की दृष्टि से भरत के गहन-चिन्तन का लक्ष्य बनी हैं। कलाकुशल वेश्याएँ नाट्य-नृत्य और गीत के प्रयोग में निपुण होती हैं। अतः उस दृष्टि से वेश्याओं के भी उपचार आदि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारों का आकलन भरत ने किया है जो अन्यत्र कम मिलता है। भरत-निरूपित नायक-नायिका-भेदों के आधार पर ही परवर्ती काव्य-शास्त्रियों ने भेदों का विस्तार तो किया, परन्तु उनमें भरत की-सी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की मौलिक प्रवृत्ति का परिचय नहीं मिलता। भरत ने स्त्री एवं पुरुष की अंग-रचना, अंगों के लास्य-विलास के अनुकूल उनके स्वभाव और अन्तःप्रकृति का जितना तात्त्विक निरूपण किया है, वह उनकी मौलिक देन है।

भरत की दृष्टि में 'रस' नाट्य का प्राण ही नहीं, 'रस' ही नाट्य है। लक्षण, दोष, गुण और अलंकार आदि उपादानों की परिकल्पना रसोद्बोधन के लिए ही की गई है। कथावस्तु और शील-निरूपण से उसी 'महारस' और 'महाभोग' का नाट्य में आविर्भाव होता है। यद्यपि भरत रस-सिद्धान्त के आदि-प्रवर्तक माने जाते हैं, परन्तु रस-सिद्धान्त की परम्परा उनके पूर्व से ही चली आ रही थी। संभव है, आरम्भ में रस का विवेचन केवल नाट्य-विधा के संदर्भ में ही हुआ हो। भरत की रस-दृष्टि आनन्दोद्बोधक नाट्यरस का उन्मेष करती है।

भरत का 'रस-सिद्धान्त' प्राचीन एवं नवीन भारतीय काव्यशास्त्रों में विवेचना का

महत्त्वपूर्ण विषय है। रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्द-वर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। नाट्यरस की जैसी तात्त्विक और विशद विवेचना अभिनवगुप्त ने की है, वह ग्यारहवीं सदी में भारतीय साहित्य और दर्शन की उत्कर्षशाली चिन्ताधारा के बौद्धिक विकास का चरम उत्कर्ष है। रस-संबंधी विवेचना का भाव यही है कि नाट्य के द्वारा मनुष्य की संवेदनाओं (भावों) का पुनरुद्भावन होता है, इसी से उसमें 'रस्यता' आती है। वस्तुतः भावों का उद्भावन तो आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन रूप 'रस' से ही आनन्द रूप 'महाभोग' का उदय होता है। इस रस का विदग्ध चित्रण कवि अपनी कल्पना द्वारा प्रस्तुत करता है और अभिनेता अपनी वाणी और शारीरिक भाव-भंगिमाओं द्वारा प्रत्यक्षवत् रूप देता है, तब वह कवि-कल्पित भाव प्रतिसाक्षात्कार के तुल्य रस्य या आस्वाद्य होता है। अतः रस का सम्बन्ध नाट्यकला के रचनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ही पक्षों से समान रूप से है। भरतोत्तर भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने अधिकतर नाट्य के रचनात्मक और रसात्मक पक्ष का ही उपबृंहण किया है।

नाट्य का प्रयोग रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। भरत द्वारा निर्धारित रंगमण्डपों के माप, मत्तवारणी, प्रेक्षागृह, नेपथ्यगृह, रंगपीठ और रंगशीर्ष तथा स्तम्भ एवं द्वार आदि के सम्बन्ध में प्राचीन एवं आधुनिक विद्वान् राघवन, मंकद एवं घोष महोदय की परस्पर विरोधी मान्यताओं का विश्लेषण कर निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल में प्राप्त संगीत-शालाओं, चित्रशालाओं, देवालयों और सार्वजनिक प्रांगणों का भी रंगमंच के रूप में प्रयोग होता था। भरत से पूर्व मुक्ताकाश रंगमंच भी रहे होंगे। परन्तु भरत ने जिस रंगमण्डप की परिकल्पना की है, वह अपने-आप में बहुत भव्य, उपयोगी और स्थायी है।

रंगमंच के सम्बन्ध में 'शैलगुहाकार', 'द्विभूमि', 'मंदवातायनोपेत', 'निर्वात' और 'धीर शब्दवान्' जैसे विशेषणों के प्रयोग से प्राचीन युग में विकसित रंगमंचीय परम्परा का स्पष्ट ज्ञान होता है। रंगशाला के रंगशीर्ष, रंगपीठ और दर्शक-दीर्घा के सम्बन्ध में भरत की मान्यताओं पर भट्टतौत की कल्पना अत्यन्त आकर्षक और विचारणीय भी है। रंगपीठ से लेकर प्रेक्षकगृह के द्वार तक प्रेक्षागृह की आसन-व्यवस्था क्रमशः ऊँची होती जाती है, कि कोई दर्शक किसी के समक्ष नाट्य-दर्शन में बाधक न बने। द्वारों और वातायनों की भी व्यवस्था है, पर इतनी ही, कि वह निर्वात ही रहे। 'निर्वात' और 'शैल गुहाकार' होने पर ही रंगपीठ पर उच्चरित वाक्य प्रेक्षकों के सुखश्रवण के लिए प्रतिध्वनित होते हैं। भरत ने तीन प्रकार की रंगशालाओं पर विचार करते हुए विप्रकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र नामक नाट्यमण्डपों के मध्यम आकारों का विवरण दिया है। उसके अनुसार नौ से अट्ठारह प्रकार के रंगमंचों की परिकल्पना की जा सकती है। ये रंगमंडप शायद दोमहले भी होते होंगे। प्राचीन भारतीय रंगमंडप पर एक से अधिक यवनिकाएँ भी प्रयुक्त होती थीं। इसके प्रमाण अन्य नाट्य-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। ये यवनिकाएँ कथावस्तु और रस के अनुकूल उन्हीं वर्णों की होती थीं। भरत ने विभिन्न रसों के लिए विभिन्न वर्णों का भी विधान किया है। रंगमंच पर दृश्यविधान के लिए भरत ने स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। वहाँ पर प्रस्तुत पात्रों के अतिरिक्त कथावस्तु के अनुरोध से कक्ष्या, यान-विमान, प्रासाद, दुर्ग, पर्वत और अन्य आवश्यक पदार्थों और प्राणियों के दृश्यों का आयोजन होता है। भरत-कल्पित रंगमंच पर आहार्याभिनय की संधिम, व्याजिम और संजवन आदि विधियों द्वारा प्रभावशाली

दृश्य-विधान की योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे नाटच-प्रयोग की एक उन्नतिशील परंपरा का संकेत मिलता है।

नाटच-प्रयोग में अभिनय का महत्त्व सर्वाधिक है। नाटच ही तो अभिनय है। अभिनेता अभिनय के माध्यम से कविकृत कल्पना का अभिनयन-प्रेषण कर दर्शक को रसाविष्ट करता है। भरत ने आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य के अतिरिक्त 'सामान्य' और 'चित्र' अभिनय का विस्तृत विधान किया है। नाटयकला के रचनात्मक पक्ष के बाद भरत की चिन्तन-दृष्टि उसके अभिनयात्मक पक्ष के विवेचन में लगी है। आंगिक अभिनय का विवेचन जितना विशद और तात्विक है, वह विश्व के किसी नाटच के प्रयोगात्मक साहित्य के लिए आज भी स्पर्द्धा का विषय हो सकता है। विभिन्न अंगोपांगों के द्वारा न केवल भावों और मनोदशाओं का ही अभिनय होता है, अपितु विभिन्न वस्तुओं और परिस्थिति-विशेषों का भी प्रतीक-पद्धति में अभिनय होता है। नदियों में तैरने, पर्वतों पर आरोहण, विमान और रथ की यात्राओं और विशिष्ट ऋतुओं का प्रदर्शन इसी अनुकरणात्मक प्रतीक-पद्धति पर संभव हो पाता है। इसके द्वारा रंगमंच पर असंभव वस्तु और परिस्थितियों की उपस्थिति की प्रतीति सुशिक्षित प्रेक्षक को होती है।

आंगिक अभिनय का विधान भरत की महत्त्वपूर्ण मौलिक देन है। भरत का अभिनय-विधान इतना विकसित और समन्वित है कि पात्र के अंगोपांग की प्रत्येक चेष्टा में सत्व-(मन) नियंत्रित लय की कल्पना की गई है। मनोदशा के प्रतिबिम्ब ही तो ये हमारी चेष्टाएँ हैं और उसी के अनुरूप मनुष्य के नयनों में और मुख पर राग की आभा भी झलकती है, अतः आंगिक अभिनय स्वतंत्र नहीं 'सत्वानुप्राणित' होता है। नयनों के भाव-भरे संकेत और कर-पल्लव की एक मुद्रा में न जाने हृदय के कितने मर्मस्पर्शी सुख-दुःखात्मक भावों और विचारों का प्रतिफलन होता है। भारतीय अभिनेता या नर्तक प्रेक्षक के आत्मदर्शन रूप आनन्द का माध्यम है, वह रस-रूप आध्यात्मिक उल्लास की अनुभूति का कलात्मक साधन है। भरत की दृष्टि में अंगों का संचालन-मात्र कुशलता नहीं वह सुख-दुःखात्मक राग का अभिव्यंजक है और उसके द्वारा उन संवेदनाओं का संक्रमण ईश्वरीय विभूति तक होता है।

Natya or acting and dancing is a path between the external and spiritual, a fixed and regorous code of minutely significant movement. The actor or dancer, is like the priest—a channel for divine power, not a displayer of his own personality. The audience shares his performance as the congregation shares in the service each spectator making his own spiritual acts....It is the ritual not the trick of expression.

—A. K. Koomarswamy, Introduction to Mirror of Gesture p. 12-13.

भरत की दृष्टि में वाचिक अभिनय तो नाटच का शरीर है, प्राणाधान के लिए वह सुन्दर ही नहीं, निर्दोष, लक्षण-संपन्न समलंकृत और छन्द की तरह मधुर हो। भरत ने वाचिक अभिनय के अन्तर्गत व्याकरण-सम्मत स्वर-व्यंजन और उनकी उच्चारण-विधि एवं सुपाठ्यता आदि का विधान तो किया ही है, तत्काल-प्रचलित विभिन्न प्रदेशों की विभिन्न भाषाओं का भी विधान पात्रों के संदर्भ में किया है। जिस प्रदेश के पात्र हों वैसी ही उनकी भाषा हो। भाषा के प्रसंग में अनेक भाषाओं के प्रयोग का विधान भरत ने किया है। यद्यपि नाटकों की प्रधान भाषा

संस्कृत एवं विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित प्राकृत थी।

लक्षण, दोष, गुण, अलंकार, छन्द, वृत्ति और प्रवृत्ति आदि का भरत ने मौलिक और विस्तृत विधान किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में वाचिक अभिनय के अंग के रूप में ही इनका तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, न कि काव्यशास्त्र के अंग के रूप में। लक्षणों की तो परम्परा ही लुप्त हो गई। भरत के चार अलंकारों के स्थान पर आज वे तो शताधिक हैं। वाचिक अभिनय के इन महत्त्वपूर्ण अंगों के विवेचन के द्वारा भरत ने सर्वप्रथम भारतीय काव्य-शास्त्र की सुनिर्धारित परम्परा का शिलान्यास किया था।

सात्त्विक अभिनय का विधान भावों तथा सामान्याभिनय के विवेचन के प्रसंग में किया गया है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच और अश्रु आदि सात्त्विक चिह्न आन्तरिक मनोदशा की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। भरत ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि उत्तम कोटि का अभिनय वह नहीं होता, जिसमें मारपीट और उछल-कूद का प्रदर्शन हो, अपितु जिसमें 'सत्त्वातिरिक्त'-मनो-भावों का अधिकाधिक प्रकाशन हो। नाट्य-प्रयोग द्वारा मनुष्य की आन्तरिक संवेदनाओं का प्रतिपादन होता है, प्रेक्षक को आत्मदर्शन का महासुख प्राप्त होता है। भरत की इस व्यापक दृष्टि का महत्त्व आधुनिक नाटकों के लिए भी ग्राह्य है।

आहार्याभिनय नेपथ्यज विधि है। इसका विधान तो नाट्य के सारूप्य-सृजन के लिए होता है। व्यक्ति, जाति, मानसिक अवस्था और रस के संदर्भ में पात्र की वेशभूषा का विधान अपेक्षित है। वेशविन्यास, अलंकार-रचना, अंगरचना, केश-विन्यास और माला-धारण और रंगशाला की दृश्य-योजना आदि आहार्याभिनय विधियाँ भी मनोदशा के अनुरूप होती हैं। भरत की दृष्टि से आहार्याभिनय में नाट्य-प्रयोग परिपुष्ट होता है। पुरुष एवं नारी-पात्रों की रूप-सज्जा के अति-रिक्त नाना प्रकार के आयुध, अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य सामग्रियों का भी रंगमंच पर प्रयोग होता है। भरत का स्पष्ट निर्देश है कि लाह, अबरख, बाँस के पत्ते और घास-फूस आदि हलके पदार्थों के मेल से उन पदार्थों की रचना करनी चाहिए, जिससे उन्हें धारण करने में प्रयोगकाल में पात्र थकावट न अनुभव करें। रूप-परिवर्तन के लिए प्रधान चार वर्णों के संमिश्रण से अन्य अनेक वर्णों के रासायनिक प्रयोग का विधान है। वस्तुतः भरत का आहार्याभिनय मौलिकता और उपयोगिता की दृष्टि से आज के देशी नाट्य-प्रयोग के लिए भी कम उपादेय नहीं है।

सामान्याभिनय और चित्राभिनय उपर्युक्त तीनों अभिनयों के विस्तार हैं। प्रयोग की पूर्णता की दृष्टि से भरत ने उनका भी पृथक् रूप में विवेचन किया है। अतः उन दोनों अभिनय-शैलियों का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन किया गया है।

पात्रों की भूमिका पर नाट्य-प्रयोग निर्भर करता है। इसीसे उसके महत्त्व की कल्पना की जा सकती है। भरत ने तीन प्रकार की भूमिकाओं का उल्लेख किया है। अनुरूपा में पात्र अनु-कार्य के अनुरूप होता है, इसमें अनुकार्य नारी या पुरुष का अभिनय नारी या पुरुष-पात्र ही करते है। विरूपा में प्रतिकूल प्रकृति का अभिनय होता है। बालक वृद्ध की भूमिका में या वृद्ध बालक की भूमिका में प्रस्तुत होते हैं। रूपानुरूपा में पुरुष स्त्री की और स्त्री पुरुष की भूमिका में प्रस्तुत होते हैं। प्रथम और तृतीय का विधान तो भरत ने किया है परन्तु विरूपा भूमिका उनकी दृष्टि से नितान्त अनुचित है। इसके विवेचन के क्रम में भरत ने नाट्य-प्रयोग का महत्त्वपूर्ण विचार-दर्शन प्रस्तुत किया है कि प्रयोगकाल में पात्र न केवल अपना रूप ही परिवर्तित करता है, अपितु उसकी

आन्तरिक संवेदना, अनुभूति और आंगिक चेष्टायें भी तदनुरूप होती हैं। वह 'स्व' का त्यागकर 'पर-प्रभाव' को ग्रहण करता है, और 'पर' के सुख-दु:खात्मक भावों से आविष्ट हो प्रेक्षक के लिए अभिनय करता है, इसीलिए वह अभिनेता होता है।

नाट्य-प्रयोग का वह स्वर्ण-युग था। भरत ने अनुकार्य पात्रों की विशेषताओं का तो विधान किया ही है, परन्तु यवनिका की पृष्ठभूमि में प्रयोग को रूप देने वाले अनगिनत रंग-शिल्पियों की भी परिगणना की गई है जिसमें 'सूत्रधार' से लेकर 'मुकुटकर' तक प्रत्येक मिल-कर नाट्य-प्रयोग को परिपुष्ट करते हैं। इससे इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि सूत्रधार, परिपार्श्विक और नाट्याचार्य आदि प्रयोक्ता कुशल नाट्यशिल्पी, अनेक कलाओं में पारंगत तथा संस्कार-सम्पन्न होते थे। नाट्य-प्रयोग से सम्बन्धित विविध शिल्पों की शिक्षा पाकर उनका प्रयोग करते थे। भरत ने सूत्रधार और स्थापक आदि की प्रतिभा और प्रयोग-बुद्धि का जैसा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, वही दृष्टि आज की पाश्चात्य नाट्य-परम्परा में निर्माताओं और निर्देशकों के लिए भी है।

The art of the theatre is the art of working together. In no other art so much discipline is necessary, the producer, director and everyone who works in the Theatre, however are equally subject to this discipline. The director as we may agree to call him must above all be an adopt in the art of collaboration. —Michael Macowin: Theatre and Stage, p. 768.

सिद्धि अध्याय नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यहीं पर रचयिता, प्रयोक्ता और प्रेक्षकों का महामिलन होता है। नाट्य-रूप वृक्ष पर अभिनय के माध्यम से खिलता हुआ पुष्प सौरभ मधुर फलरूप में परिणत होता है सामाजिक रसास्वाद के लिए। वह सामाजिक या प्रेक्षक इन्द्रियों से स्वस्थ, तर्क-वितर्क में समर्थ और अनुरागी होता है। यह सुख में सुखी, शोक में दु:खी, दीनावस्था के अभिनय में दीन होने पर प्रेक्षक हो पाता है। एक शब्द में वह सहृदय एवं संवेदनशील होता है। सामाजिक के लिए नाट्य-रचना हृदयंगम हो, इसके लिए भरत ने नाट्य-रचयिता कवि के लिए भी कुछ विधान प्रस्तुत किये हैं। लोकवेद से संसिद्ध, गंभीर अर्थ-मुक्त, सर्वजन-ग्राह्य शब्दों का प्रयोग नाट्य में होना चाहिये। प्रयोग-काल की उपयुक्त वेश-भूषा, शिष्टाचार-प्रदर्शन, पाठ्यविधि, आंगिक चेष्टा और वेष-विन्यास आदि की उपयुक्तता आदि का निर्णय रंगप्राश्निक करते थे। उनके निर्णयानुसार राजा द्वारा प्रयोक्ता को पताका देकर पुरस्कृत करने का विधान है। हरिवंश में अनिरुद्ध का भाव-भरा अभिनय देखकर दानवों द्वारा अपना सर्वस्व अर्पित करने का स्पष्ट उल्लेख है।

नाट्य के अंग के रूप में नृत्य का भी विधान भरत ने किया है। नृत्य के भेदों का उल्लेख तो चतुर्थ अध्याय में है। पर आंगिक अभिनय की सारी विधियाँ भी (ना० शा० ८-१३) नृत्य के लिए उपयोगी होती हैं। नृत्य नाट्य का उपकारक अंग ही है। नाट्य में शोभा के लिए या 'पूर्व-रंग' के अंग के रूप में उसका प्रयोग होता है।

नाट्य में संगीत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय नाटकों में गीतों की योजना की पुष्ट परंपरा रही है और नाट्य-प्रयोग में रागात्मकता के संचार का उन पर महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है। भरत ने वीणा, वेणु, वंश, मृदंग और पटह आदि वाद्यों का उल्लेख किया है। वे अब भी प्रयोग

में आ रहे हैं और भारतीय गीत को स्वतंत्र रूप देने में समर्थ हैं। गीत की भारतीय परंपरा बहुत समृद्ध है। उसको और भी विकसित करने की आवश्यकता है। भारतीय चलचित्रों में पश्चिमी धुनों का प्रभाव छाता जा रहा है। भारतीय गीत की समृद्ध परंपरा के साथ नवीन प्रयोग करके ऐसे लोकप्रिय मधुर धुनों का प्रयोग आवश्यक है, जिनका उपयोग आधुनिक नाटच-प्रयोग में सरलता से संभव हो और रागात्मकता का संचार हो। स्व० ओंकारनाथ ठाकुर, उस्ताद अलाउद्दीन, रविशंकर आदि महान् भारतीय गायकों द्वारा प्रयोग की दिशा में नवीन पर मौलिक प्रयत्नों का संकेत सराहनीय है। स्व० पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने रागशास्त्र विषयक मान्यताओं द्वारा भारतीय गीत-परंपरा को नयी गति दी है। रविशंकर तो अपने गुरु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ की मौलिक परंपराओं को और भी अपनी मौलिक चेतना द्वारा समृद्ध कर रहे हैं। नृत्य की परंपरा के पुनरुज्जीवन में रुक्मिणी अरण्डेल, उदयशंकर, रामगोपाल, साराभाई और इन्दिरानी रहमान ने देश-विदेश में यश उपार्जित किया है। उदयशंकर के उदात्तवादी नृत्य, मूक अभिनय और गीति-नाटचों की देशविदेश में सराहना हुई है। 'कल्पना' नामक बहुप्रशंसित गीति-नाटच द्वारा उन्होंने हिन्दी-रंगमंच को समृद्ध किया है।

नाटच-रचना और प्रयोग के स्वर्ण-युग का वह कंगूरा तुर्कों के आक्रमण होने पर भारतीय मंदिरों और रंगमहलों के टूटते ही धराशायी हो गया। पर निम्नस्तर के भाण-प्रहसन, रास और उपरूपक जनपदों का आश्रय लेकर किसी तरह जीते रहे। उधर संगीत-प्रधान धर्मानुरंजित नाटक टूटे-फूटे ग्राम-मंदिरों और सार्वजनिक स्थानों के आश्रय में पनपते रहे। इनमें संगीत और नृत्य भी किसी तरह जीवन के लिए जूझते रहे। तुर्कों के आक्रमण ने पूर्वी बंगाल के 'कालापहाड़' की तरह भारतीय नाटच-कला के मर्म पर आघात कर उसे तहस-नहस तो कर दिया, पर उसको भी ढकेलकर लोकचेतना आगे बढ़ती रही है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए रामायण, महाभारत, और पौराणिक आख्यानों पर आधारित चेतना ऊर्ध्वमुखी रही है। प्रादेशिक भाषाओं के लोक-नाट्य के विविध रूपों के माध्यम से सदियों तक वह भारतीय लोक-चेतना ऊर्ध्वमुखी रही है। उत्तर भारत में रामलीला और रासलीला, बंगाल में यात्रा, महाराष्ट्र में ललित, गुजरात में भवाई और दक्षिण भारत में भागवतम्, भरतनाटचम् और कत्थकली आदि लोकनृत्य की परंपराएँ जातीय जीवन की पताका सदियों तक थामे रही हैं।

आज का हमारा भारतीय रंगमंच प्राचीन एवं मध्ययुगीन रंगमंचीय परंपराओं से बहुत दूर हो गया है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के रंगमंच कम या अधिक पाश्चात्य रंगमंच की प्रेरणा पर ही लगभग एक सौ वर्षों से पनप रहे हैं। उनका प्रभाव न केवल हमारी नाटच-शैली, अपितु रंगमंडप के मंडन-शिल्प पर भी है। भारतीय रंगमंच पाश्चात्य प्रभाव में आने पर समृद्ध और कलापूर्ण तो हुआ है, परन्तु यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि न केवल महान् नाटच-कृतियों के रूप में, अपितु भरत-निर्दिष्ट रंगमंडप, रचनात्मक और रसात्मक सिद्धान्त तथा नाटच-प्रयोग के महत्त्वपूर्ण उपयोगी अभिनय-शिल्प हमारी प्राचीन भारतीय रंगशाला की गौरवशाली परंपरा का स्पष्ट संकेत करते हैं। अतः प्राचीन भारतीय रंगशाला और उसकी शिल्प-विधि आज भी इस स्थिति में है कि हमारा आधुनिकतम रंगमंच उससे अपने-आपको परिपुष्ट करे। इस दृष्टि से भरत के अतिविकसित सात्विक, आंगिक और आहार्य आदि अभिनय महत्त्वपूर्ण नाटच-शिल्प हैं। आवश्यकतानुसार अब और भी विकसित कर आधुनिक भारतीय रंगमंचों पर उनका

यदि प्रयोग किया जाय तो यह हमारी राष्ट्रीय चेतना और संस्कार के अनुरूप ही होगा।

आधुनिक भारतीय रंगमंच का इस शोध-प्रबंध में पृथक् रूप से विचार किया गया है। भारतीय रंगमंच लगभग गत एक शतक से पाश्चात्य नाटचकला की इन्द्रधनुषी किरणों से अपने रूप को रँगते रहे हैं परन्तु आज हम अपनी नाटचकला की उन महत्ताओं से परिचित हो रहे हैं। क्यों नहीं हम अपनी नाटचकला को अपने देशी मनभावन रूप और रंग से और भी अधिक सुन्दर बनाकर प्रकृत रूप में राष्ट्रीय परंपरा का सच्चा प्रतीक बनायें।

हमारा प्रादेशिक रंगमंच नाटचशिल्प और रंगविधियों की दृष्टि से बहुरंगी है। तमिल रंगमंच अभी भी मध्यकालीन अवस्था से बहुत ऊपर नहीं उठ पाया है। पौराणिक कथाभूमि पर ही आधारित नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। गुजराती रंगमंचों पर कौतूहल, भयावह दृश्य और विस्मयजनक घटनायें अभी भी कम लोकप्रिय नहीं हैं। मराठी और बँगला रंगमंच विकसित होने के कारण मनुष्य के मनोवेगों और संवेदना को प्रश्रय दे रहे हैं। हिन्दी-रंगमंच पर भी पाश्चात्य प्रभाव की छाया में अवध के नवाबों की इन्दर-सभा, पारसी थियेटर और नौटंकी की परंपराओं का प्रभाव रहा है। पर भारतेन्दु के बाद उसके चरण आगे की ओर भी बढ़े हैं, प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता की मात्रा भले कम हो, पर साहित्यिक नाटकों के अभिनय की परंपरा को शिक्षण-संस्थाओं में पिछले कई वर्षों में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, रामकुमार वर्मा, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, अश्क, उदयशंकर भट्ट, मोहन राकेश और डा० लक्ष्मीनारायण तथा धर्मवीर भारती आदि के नाटक अभिनीत हो रहे हैं। महान् अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, अल्काजी, जोहरा सहगल और सत्यदेव दूबे जैसे प्रतिभाशाली निर्देशक हिन्दी रंगमंच को प्राप्त हैं। यह हिन्दी-रंगमंच के नये स्वर्ण-विहान की शुभ सूचना है। पर केवल इन शौकिया नाटच-मण्डलियों के नाटच-प्रयोग की लोकप्रियता से ही हिन्दी-रंगमंच के वास्तविक विकास की संभवना संदेहपूर्ण मालूम पड़ती है।

हिन्दी के एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच पृथ्वी थियेटर्स की अकाल मृत्यु से हिन्दी का रंगमंच आज सूना है। बम्बई, दिल्ली, पटना, काशी, प्रयाग, कलकत्ता (अनामिका) और जबलपुर में नाटच संगठनों की स्थापना हुई है। नवीन शैली में नाटच-प्रयोग हुए हैं। 'अंधा युग' और नाटक तोता-मैना आदि नई शैली में लिखित नाटकों और गीतिनाटचों के बम्बई और दिल्ली में प्रदर्शन हुए हैं। दिल्ली नाटच संघ की ओर से रूपान्तरित मुद्राराक्षस का भी अभिनय हुआ है। जबलपुर का रंगमंच परिक्रामी है, वहाँ हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन होते रहते हैं। पटना के भारतीय नृत्यकला मंदिर और रवीन्द्र भवन में हिन्दी और बंगला के नाटकों और नृत्य का प्रदर्शन यदा-कदा होता है। भारत के प्रधान नगरों में सरकारी प्रोत्साहन एवं शिक्षण-संस्थाओं के सहयोग से हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के नाटकों के अभिनय होते हैं। संगीत नाटक अकादमी के नेशनल ड्रामा स्कूल की ओर से नाटच-शिक्षा और प्रयोग भी होते रहे हैं। परंतु उस पर पाश्चात्य नाटच-पद्धति का ही प्रभाव अधिक है। भारतीय नाटच-प्रणाली के प्रति उदासीनता का भाव है।

देश में रेडियो-रूपकों की भी परंपरा उत्तरोत्तर विकसित हो रही है। गद्यमय नाटकों का सफल प्रसारण तो हो ही रहा है, पर पश्चिमी गीतिनाट्य शैली पर भी विभिन्न विषयों पर ध्वनि-काव्य नाटकों की रचना हो रही है। यद्यपि शैली बहुत-कुछ पाश्चात्य है, परन्तु विषयवस्तु भारतीय है। 'कालिदास', 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशी' आदि गीतिनाटच खूब लोकप्रिय हुए हैं।

संस्कृत के बहुत से रूपकों और उपरूपकों में प्रयुक्त गीतिशैली का भी अनायास इन पर प्रभाव पड़ा ही है। अतः बहुत संभव है कि इन 'ध्वनि-काव्य-नाटकों' के माध्यम से हिन्दी की नाट्य-धारा का पुनरावर्तन हो रहा हो। परन्तु नाट्य के लिए जिस महान् समारंभ की आवश्यकता है उसकी तुलना में ये नगण्य हैं।

आज भारतीय रंगमंच की सुरक्षा और विकास के सम्बन्ध में सुसंस्कृत जनता और सरकार, नाट्य-प्रयोक्ताओं और नाट्य-लेखकों तथा अन्य कलाकारों के समक्ष यह चुनौती है कि हम अपने देशी रंगमंच का सही अर्थों में निर्माण कर सकते हैं या नहीं। अंग्रेजी के अनुवादों के रंगमंचीकरण, विदेशी शिल्पविधियों के अन्धानुकरण से हमारा रंगमंच क्या वास्तव में विकसित हो सकता है? शायद हम यह भूल जाते हैं कि किसी देश के रंगमंच में उस देश की आत्मा का निवास है। शेक्सपियर और कालिदास के नाटक सार्वभौम होकर भी अपने देश की आत्मा की मधुर लय का गुंजन करते हैं। वह गूँज सदियों से हमारे पास तक आयी है। हमें इसी अर्थ में आज स्वदेशी या राष्ट्रीय रंगमंच को रूप देना है जो नितान्त देशी हो। जिसमें नाटक की रचना, उसके मंडन-शिल्प, अभिनय और निर्देशन में देश की आत्मा का सुख-दुःख, उसके मन-प्राण के हास और रुदन का स्वर मिलता है वही हमारा भारतीय रंगमंच होगा।

भारतीय रंगमंच के विकास के लिए आवश्यक है कि देश के प्रमुख नगरों में राष्ट्रीय पैमाने पर अखिल भारतीय रंगमंचों की स्थायी रूप में स्थापना हो। उसमें सब भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों का अभिनय नियमित रूप से प्रस्तुत किया जाए। रंग-शिल्पियों, वादकों, गायकों, पाण्डुलिपि-लेखकों और निर्देशकों को समुचित वेतन देकर ऐसा सुसंगठित रूप दिया जाए कि नाटक और रंगमंच हमारे देशी जीवन, स्वदेश की चेतना और अनुराग के सही जीवन्त प्रतीक हों। रुपहले चलचित्रों का अस्वस्थ प्रभाव हमारे आज के जीवन पर छाता जा रहा है। उसके चमक-दमक और बढ़ते हुए अस्वस्थ प्रभाव की तुलना में हमारे रंगमंच उसी अवस्था में विकसित हो सकते हैं, जब प्रचुर आर्थिक सहयोग और सधे हुए कलाकारों की निःस्वार्थ सेवा उसे प्राप्त हो। यह तभी संभव है, जब देश के प्रधान भागों में भारतीय नाट्यकला, रंगमंच और प्रयोगविधियों के लिए शास्त्रीय पद्धति पर शिक्षा दी जाए। उसका एक निश्चित पाठ्यक्रम हो जिसमें भरत आदि प्रामाणिक नाट्यशास्त्रियों की विचारधारा के साथ पाश्चात्य नाट्यकला की विशेषताओं का भी अध्ययन और अनुसंधान हो, नाट्य-प्रयोग के लिए उन्नत प्रयोगशाला और कर्मशालाएँ हों।

प्राचीन काल के नाटक और रंगमंच हमारे राष्ट्रीय जीवन के सच्चे प्रतिरूप हैं। उनमें हमारे राष्ट्र की आत्मा का स्पंदन अभी भी सुनाई देता है। आज के भी हमारे नाटक उसी प्रकार हमारे राष्ट्र और युग-चेतना के वाहक हों। यह तभी सम्भव है, जब हम हर तरह से उसमें आवश्यक नवीन शिल्पों का प्रयोग करके भी अपनत्व बनाये रखें। इन आदर्शों पर बना रंगमंच अस्थायी ही क्यों न हो वही राष्ट्रीय रंगमंच होगा। आज राष्ट्रीय रंगमंच हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उसी के द्वारा संपूर्ण राष्ट्र की भावात्मक एकता सुरक्षित रह सकती है। राष्ट्रीय रंगमंच की हमारी कल्पना भरत-निर्दिष्ट नाट्यशिल्प के प्रयोग से परिपुष्ट हो सकती है। आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के क्षेत्र में उसके प्रयोग इतने व्यावहारिक और नाट्य-सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि हमें अभी भी उनसे सही अर्थों में प्रेरणा मिलेगी।

भारतीय नाट्यकला के पुनरुन्नयन के क्रम में भरत-निर्दिष्ट नाट्यकला के उपादेय तत्त्वों

की ग्राह्यता के आग्रह का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि प्राचीनता के अंधानुसरण का समर्थन किया जा रहा है। वस्तुतः कला के क्षेत्र में प्राचीनता या नवीनता का प्रश्न ही व्यर्थ है। जो कला-प्रवृत्तियाँ मौलिक और जीवन एवं जातीय परंपरा से अनुप्रेरित हों, वे ग्राह्य हैं। उनसे कला को शक्ति, गति और समृद्धि मिलती है। भरत की नाट्यकला के माध्यम से भारतीय जीवन की प्रवृत्ति और परंपरा सदियों तक अभिव्यक्ति पाती रही है। उसमें अवरोध का मुख्य कारण, जीवन की परंपराओं से विच्छिन्नता ही नहीं, वरन् कलाविरोधी विजातियों का नृशंस आक्रमण भी था। एक हज़ार वर्षों की पराधीनता के बाद हम आज स्वाधीन हैं, तो अपनी प्राचीन कलाओं के पुनरुद्बोधन और पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

कठिनाई यह है कि हमारी कुछ अस्वस्थ जीर्ण-शीर्ण आस्थाएँ स्वयं टूट रही हैं और कुछ भावावेश में तोड़ी जा रही हैं। नयी आस्थाओं के चरण डगमगा रहे हैं। लगता है जैसे हम आज अनास्था और सांस्कृतिक शून्यता में भटक रहे हैं। अन्य जातीय चेतना के नाम पर जो कुछ भी ग्राह्य और अग्राह्य मिल रहा है सबसे अपनी शून्यता को भर लेना चाहते हैं। अपनी इस हीन भावना का कारण यह है कि हम यह मान बैठे हैं, कि हमें 'पश्चिम से ही कला, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में प्रेरणा लेनी है, हम नितान्त अकिंचन हैं।' कला और दर्शन के क्षेत्र में भारत की पुरानी विरासत का समुचित मूल्यांकन कर पाते तो निश्चय ही इस हीन-भावना के शिकार न होते।

भरत की नाट्यकला देश, काल और जाति की सीमाओं से विकसित होने पर भी सार्वभौम नाट्यसिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है। विश्व की सुख-दुःखात्मक चेतना से उनके सिद्धान्त अनुप्राणित हैं। अतएव उन सिद्धान्तों का असाधारण महत्त्व और उपयोग है। प्राचीन होने पर भी जीवन-रस से परिपुष्ट होने के कारण वे अब भी इतने मौलिक और जीवन्त हैं कि उनसे न केवल भारतीय नाट्यकला अपितु किसी भी देश की नाट्यकला प्राणवान् हो सकती है।

भारतीय नाट्यकला के पुनरुद्बोधन की इस मंगल वेला में भरत की नाट्यकला के उन उपादेय, महतीय तत्त्व-मुक्ताओं से भारतीय नाट्यकला का प्रगति-पथ ज्योतिर्मय हो सकता है।

एवं नाट्यप्रयोगे बहु बहु विहितं कर्म शास्त्रप्रणीतम्।
न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृति करणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः॥

—ना० शा० ३६-७८

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नः नाट्यशिल्पप्रवर्तकः।
शोधग्रन्थः समाप्तेयं भारतस्य यशोवहः॥

इतिशम्

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

पाण्डुलिपि

(१) भारतीय नाट्यशास्त्रम्—भरत ६/४१४ क्रम संख्या ४०७६७
सरस्वती भवन, वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय
पत्र संख्या—१-९०, पंचमाध्यायन्तम्।

(२) अभिनव भारती—नाट्य वेद विवृत्ति।

(३) क्रम संख्या—४०७६५-१-६

(४) क्रम संख्या—४०७६६-१-७

(५) क्रम संख्या—४०७६७-९-१९

(६) क्रम संख्या—४०७६६-२०-३१

संस्कृत ग्रन्थ

(१) अग्निपुराण	व्यास	आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली—१९५७
(२) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	सं० डा० रामलाल शर्मा	हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, १९५८।
(३) अथर्ववेद संहिता	सायण भाष्य-सहित	नि० सा० बम्बई, १८९५।
(४) अनर्घराघव	मुरारि (रुचिपति-टीका सहित)	निर्णयसागर, बम्बई, १९३९।
(५) अनुयोग द्वार सूत्र	मलधारीय हेमचन्द्रसूरि	केसरबाई, ज्ञानमंदिर, पाटण, १९४३।
(६) अभिनयदर्पण (आलोचनात्मक व्याख्या)	नंदिकेश्वर, अनुवादक	देवदत्त शास्त्री, इलाहाबाद, १९५६

(७) अभिनवभारती भाग—१-४ (द्वि० संस्करण)	अभिनवगुप्तपादाचार्य	गा० ओ० सी०, बड़ौदा, १९३४, १९५४, १९५६, १९६४
(८) अभिलेख माला		चौ० सं० सी०—१९६२
(१) जूनागढ़ में रुद्रदामन का प्रस्तराभिलेख		
(२) मेहरौली स्तम्भ लेख—महाराजचन्द्र		
(३) मन्दसौर (दशपुर) शिलालेख—कुमारगुप्त		
(४) यशोधर्मा का शिलालेख		
(५) विग्रहराज—वीसलदेव का देहली-स्तंभ लेख		
(६) समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ अभिलेख		
(७) स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ प्रस्तराभिलेख		
(८) पुलकेशिन् द्वितीय का ऐह्योल अभिलेख		
(९) अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास	नि० सा० १९१३ (राघवभट्ट की टीका)
(१०) अभिषेक नाटक	भास नाटक चक्र	पूना—१९३७
(११) अमरकोष	अमरसिंह	निर्णयसागर, बम्बई, १९४०
(१२) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)	प्राच्यविद्या संशोधन मण्डल	मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९६०
(१३) अलंकार शेखर	केशव मिश्र	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९१५
(१४) अलंकार सर्वस्व	रुय्यक	का० मा० सं० १९३९
(१५) अलंकार सर्वस्व विमर्शिनी (टीका)	जयरथ	
(१६) अलंकार सूत्र	रुय्यक	त्रिवेन्द्रम सं० सी० १९१५
(१७) अवदानशतक	सं० पी० एल० वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८
(१८) अविमारक	भास नाटक चक्रम	पूना, १९३७
(१९) अष्टाध्यायी	पाणिनि	
(२०) आगम कांड (वाक्यपदीय)	भर्तृहरि	हेलाराज टीका
(२१) उज्ज्वल नील-मणि	रूप गोस्वामी	नि० सा० सं० बम्बई
(२२) उत्तर रामचरित	संपादक एम० आर० काले	बम्बई १९३४, चौ० सं० सी०, १९५३
(२३) उत्तराध्ययन (२४) उदय जातक (२५) उरग जातक	हिन्दी अनुवाद	हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग
(२६) उरुभंग	भास	पूना, १९३७
(२७) ऋग्वेद		वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

(२८) ऐतरेय ब्राह्मण — निर्णय सागर, बम्बई, १८३३ शक
(२९) औचित्य विचारचर्चा — क्षेमेन्द्र — काव्यमाला संस्करण—भाग-१, १९२९
(३०) कठ उपनिषत् — सम्पादक—वासुदेव लक्षण शास्त्री — निर्णय सागर, बम्बई, १९३०
(३१) कर्णभार — भास — पूना, १९३७
(३२) कथासरित्सागर (१, २ भाग) — सोमेश्वर भट्ट — राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९४०
(३३) कर्पूर मंजरी — राजशेखर — संपादक—म० मो० घोष, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९
(३४) कादम्बरी — वाणभट्ट — नि० सा० बम्बई
(३५) कामन्दक नीतिसार — कामन्दक — जीवानन्द विद्यासागर, १८७५
(३६) कामसूत्र — वात्स्यायन — जयमंगला टीकासहित, चौ० सं० सी० बनारस
(३७) काव्यादर्श — दण्डी — काशी, चौ० सं० सी०, १९५८
(३८) काव्यानुशासन — हेमचन्द्र — महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८
(३९) काव्यानुशासन — वागभट्ट — नि० सा०, १९१५
(४०) काव्यप्रकाश (झल्लीकर) — मम्मट — भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३३
(४१) काव्य प्रकाश संकेत — माणिक्यचन्द्र — मैसूर संस्करण
(४२) काव्यमीमांसा — राजशेखर — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
(४३) काव्यालंकार — भामह — सम्पादक प्रो० बलदेव उपाध्याय, चौ० सं० सी० काशी, १९२८
(४४) काव्यालंकार — रुद्रट — निर्णय सागर, बम्बई, १९३३
(४५) काव्यालंकार सार संग्रह (प्रतिहारेन्दुराज की टीका सहित) — उद्भट — गा० ओ० सी०, १९३१
(४६) काव्यालंकार सूत्रवृत्ति — वामन — का० मा०, १८९५
(४७) काशिका वृत्ति — जयादित्य — चौ० सं० सी०, काशी
(४८) कीर्तिलता (अवहट्ट) — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल — साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी, १९६३
(४९) किरातार्जुनीय — भारवि — चौ० सं० सी०, काशी, १९३९
(५०) कुट्टनीमत — दामोदर गुप्त — अनुवादक अत्रिदेव विद्यालंकार, काशी-१९६१
(५१) कुमारसंभवम् — कालिदास — निर्णय सागर, १९३३
(५२) कुवलयानन्द — अप्पयदीक्षित — निर्णय सागर, १९३३

(५३) कुशजातक (हिन्दी अ०)	हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग	कैम्ब्रिज, १६२०
(५४) कौशितकी ब्राह्मण	संपादक ए० बी० कीथ	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, १६११
(५५) गाथा सप्तशती	हाल	काव्यमाला, १८६६
(५६) चतुर्भाणी		दक्षिण भारतीय सीरीज, १६२८
(५७) चन्द्रालोक	जयदेव	चौ० सं० सी०, १६३२
(५८) चारुदत्त (हिन्दी अनुवाद-सहित)	भास	अनुवादक डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, अजन्ता प्रकाशन, पटना, १६६२
(५६) छन्दसूत्र	पिंगलनाग	का० मा० सं० १६३२
(६०) छन्दोमंजरी	गंगादास	चौ० सं० सी०, १६४२
(६१) जातकमाला	आर्यशूर	काशी, १६३७
(६२) जगद्धर की टीका	(वेणी संहार)	नि० सा०, १६४०
(६३) तापस वत्सराज	अनंगहर्ष	बंगलौर, १६२६
(६४) दशरूपक (अवलोक सहित)	धनंजय	नि० सा० बम्बई, १६४१
(६५) दशरूपक (हि० अनुवाद)	"	हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, १६६३
(६६) दिव्यावदान	सं० पी० एल० वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १६५६
(६७) दूतघटोत्कच	भास	पूना, १६३७
(६८) ध्वन्यालोक	आनन्दवर्द्धन	नि० सा०, १६११
(६६) ध्वन्यालोक लोचन	अभिनवगुप्त	" "
(७०) नागानंद	श्रीहर्ष	संपादक के० के० धवन
(७१) नाटक लक्षण रत्नकोष	सागरनंदी	संपादक ढिल्लन० आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १६३७
(७२) नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र	गा० ओ० सी०, १६५६
(७३) नाट्यशास्त्र (का० मा० प्रथम संस्करण)	भरत	संपादक शिवदत्त दाधिची नि० सा० बम्बई, १८६०
(७४) नाट्यशास्त्र (का० मा०) (द्वि० सं० १-३७)	"	संपादक केदारनाथ—१६४३
(७५) नाट्यशास्त्र (का० सं० १-३६)	"	संपादक-प्रो० बलदेव उपाध्याय, चौ० सं० सी०, १६२६
(७६) नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित) (द्वि० सं० १-७)	"	संपादक रामकृष्ण कवि, संशोधन-के० एस० रामस्वामी शास्त्री, गा० ओ० सी०, १६५६

(७७) नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित ८-१८)	भरत	संपादक रामकृष्णकवि गा० ओ० सी०, १९३४
(७८) नाट्यशास्त्र (अ० भा० सहित १९-२७)	,,	संपादक रामकृष्ण कवि गा० ओ० सी०, १९५४
(७९) नाट्यशास्त्र अ० भा० सहित (२७-३६)	,,	,, १९६४
(८०) नाट्यशास्त्र (अं० अनुवाद) (१-२७)	,,	अनुवादक मा० मो घोष-रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९५०
(८१) नाट्यशास्त्र (हि० अनुवाद सहित) (१-७)	,,	डा० रघुवंश—मोतीलाल बनारसीदास, १९६४
(८२) नाट्यशास्त्र (मराठी)	,,	गोदावरी वासुदेव केतकर, पूना, १९२८
(८३) नाट्यशास्त्र संग्रह	,,	सरस्वती महल लाइब्रेरी-तंजौर, १९५३
(८४) निघंटु और निरुक्त	डा० लक्ष्मणस्वरूप	आक्सफोर्ड, १९२०
(८५) नैषधीय चरित	श्रीहर्ष	नि० सा० बम्बई, १९२४
(८६) न्यायदर्शन (वात्स्यायन)	गौतम	बम्बई, १९२२
(८७) नृत्त प्रकाश	विप्रदास	,,
(८८) पद्म पुराण	व्यासदेव	कलकत्ता, १९६२
(८९) पाणिनीय शिक्षा	मनमोहन घोष	कलकत्ता, १९३८
(९०) पातंजल महाभाष्य (पतंजलि)	राजस्थान संस्कृत कालेज	ग्रन्थमाला-काशी, १९३९
(९१) पारिजात हरण	उमापति	डा० जार्ज ग्रियर्सन जर्नल बिहार रिसर्च सोसायटी, १९१७
(९२) पिंगल छन्दसूत्रम्	पिंगलाचार्य	कलकत्ता, १९०२
(९३) प्रतापरुद्र यशोभूषण (रत्नायण टीका-सहित)	विद्यानाथ	बम्बई, १९०९
(९४) प्रतिज्ञा यौगन्धरायण	भास नाटकचक्र	पूना, १९३७
(९५) प्रतिभा नाटक	,,	,,
(९६) प्रबोध चन्द्रोदय	श्रीकृष्ण मिश्र	नि० सा० १९३५
(९७) प्राकृत पिंगल	संपादक चन्द्रमोहन घोष	रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९०९

(९८) प्रियदर्शिका	हर्ष	(संपादक जैक्सन) कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, १९२३
(९९) बाल रामायण	राजशेखर	जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४
(१००) बुद्धचरित	अश्वघोष	पंजाब विश्वविद्यालय, ओरिएन्टल पब्लिकेशन्स लाहौर, १९३५
(१०१) वृहद्देवता	शौनक	हीराबाई ओरिएन्टल सीरीज़, १९३४
(१०२) बृहद्देशी	मतंग	
(१०३) भक्तिरसायन	मधुसूदन सरस्वती	
(१०४) भरतकोष	रामकृष्ण कवि	पूना, १९६१
(१०५) भरतार्णव	नंदिकेश्वर	साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९५७
(१०६) भामह-विवरण	काव्यानुशासन में उद्धृत	
(१०७) भाव-प्रकाशन	शारदातनय	गा० ओ० सी०, बड़ौदा, १९३० ।
(१०८) मत्स्यपुराण		श्री वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
(१०९) मध्यम व्यायोग	भास	पूना ओरिएन्टल सीरीज़, पूना, १९३७
(११०) मनुस्मृति (कुल्लकु भट्टटीका)	मनु	नि० सा०, बम्बई, १९३९
(१११) मयशास्त्र	"	संपादक फनीनाथ बोस, लाहौर, १९२६
(११२) महाभारत (नीलकंठी व्याख्या)	व्यास	चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९
(११३) महावग्ग	भिक्षु जगदीश काश्यप	नालन्दा, १९५६
(११४) मानसार शिल्पशास्त्र	संपादक डा० पी० के० आचार्य	आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, लंदन, १९३३ ।
(११५) मार्कण्डेय पुराण	—	कलकत्ता, १९६२
(११६) मालती माधव (जगद्धर की टीका)	भवभूति	नि० सा० बम्बई, १९०५
(११७) मालविकाग्निमित्र	कालिदास	नि० सा० बम्बई, १९१२
(११८) मुद्राराक्षस	विशाखदत्त	शारदारंजन राय, कलकत्ता
(११९) मृच्छकटिकम (पृथ्वीधर की व्याख्या)	शूद्रक	नि० सा० बम्बई, १९२०
(१२०) मेघदूत	कालिदास	संपादक एस० के० दे—साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९५७

(१२१) मेघदूत — कालिदास — मल्लिनाथ टीका
(१२२) यजुर्वेद (शुक्ल) — — — नि० सा० १९२९
(१२३) याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा टीका) — — — नि० सा० १९२६
(१२४) रघुवंश (मल्लिनाथ की टीका) — कालिदास — नि० सा० बम्बई, १९२९
(१२५) रत्नावली — श्रीहर्ष — नि० सा० १९२५
(१२६) रस गंगाधर — जगन्नाथ — नि० सा० १९३९
(१२७) रसार्णव सुधाकर — शिंगभूपाल — सं० टी० गणपति शास्त्री वि० स० सी० १९१६
(१२८) राजप्रश्नीय — मलयगिरि व्याख्या — आगमोदय समिति सीरीज़, १९२५
(१२९) राजतरंगिणी — कल्हण — संपादक एम० ए० स्टेन, बम्बई, १८९२
(१३०) रामायण — वाल्मीकि — नि० सा० १९२४
(१३१) ललित विस्तर — सं० पी० एल० वैद्य — मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८
(१३२) वक्रोक्ति जीवितं — कुन्तक — सं० एस० के० दे, कलकत्ता ओरिएन्टल सीरीज़, १९२९
(१३३) वाक्यपदीय (पुष्पराज, हेलाराज की टीका) — भर्तृहरि — बनारस, १९०५
(१३४) वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड) — ,, — चौ० सं० सी०, १९३७
(१३५) वाणीभूषण — दामोदर मिश्र — नि० सा० बम्बई, १९०३
(१३६) विक्रमोर्वशी — कालिदास — ,, ,, १९४२
(१३७) विद्ध शालभंजिका — राजशेखर — जीवानंद कलकत्ता, १९४३
(१३८) विष्णुधर्मोत्तरपुराण — सं० प्रियबाला साह — गा० ओ० सी०, बड़ौदा
(१३९) वृत्तरत्नाकर — भट्टकेदार — बनारस, १९४८
(१४०) वेणी संहार — भट्टनारायण — नि० सा० बम्बई, १९३७
(१४१) वैदिक कोष — डा० सूर्यकान्त
(१४२) व्यक्तिविवेक — महिम भट्ट — चौ० सं० सी०, काशी, १९३६
(१४३) व्यक्तिविवेक व्याख्यान — राजानक रुय्यक — ,, ,,
(१४४) शक्ति संगम तंत्र — नारायण खण्ड
(१४५) शब्दकल्पद्रुम — संपादक कालीप्रसाद, कलकत्ता
(१४६) शतपथ ब्राह्मण — सायणाचार्य भाष्य सहित
(१४७) शारिपुत्र प्रकरण — अश्वघोष

(१४८)	शांखायन आरण्यक		पेटर्सन, बम्बई, सं० सी०, १८८८
(१४९)	शार्ङ्गधर पद्धति	शार्ङ्गधर	
(१५०)	शिल्परत्न	श्रीकुमार	सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रि० सं० सी०, १९२२
(१५१)	शिशुपालवध	माघ	नि० सा०
(१५२)	श्रुतबोध	कालिदास	नि० सा० १९३६
(१५३)	शृंगार प्रकाश	भोज	संपत्कुमार, मद्रास, १९४९
(१५४)	शृंगार प्रकाश (१-२)	"	सं० पी० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, श्रीरंगम्, १९३९
(१५५)	श्रीमद्भागवद् गीता	तिलक का भाष्य	पूना
(१५६)	श्रीमद् भागवत् पुराण		गीता प्रेस, गोरखपुर
(१५७)	शृंगार हार (चारमाणी का संग्रह : पद्म प्राभृतक, धूर्तविट-संवाद उभयाभिसारिका पदताडितकम्)	सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीचन्द्र	बम्बई, १९५९
(१५८)	सरस्वती कंठाभरण	भोज	नि० सा० बम्बई, १९३४
(१५९)	साहित्य दर्पण (सिद्धांत-वागीश की टीका)	विश्वनाथ	कलकत्ता, १८५६ शकाब्द
(१६०)	सिद्धान्त कौमुदी (तत्व-बोधिनी व्याख्या सहित)	भट्टोजी दीक्षित	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२६
(१६१)	सौन्दरानंद	अश्वघोष	संपादक—हरप्रसाद शास्त्री, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९३९
(१६२)	संगीत पारिजात	अहोवल पंडित	संगीत कार्यालय, हाथरस, १९४१
(१६३)	संगीत मकरन्द	नारद	गा० ओ० सी०, बड़ौदा, १९२०
(१६४)	संगीत रत्नाकर	शार्ङ्गदेव	आधार लाइब्रेरी, १९५३
(१६५)	संगीत राज	कुम्भ	
(१६६)	सांख्य दर्शन	कपिलमुनि	चौ० सं० सी०, १९५५
(१६७)	स्वप्नवासवदत्तम्	(द्वि० अ०) भास सं० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	सुबोध ग्रन्थमाला कार्यालय, रांची, १९५६
(१६८)	हनुमन्नाटक या महानाटक	दामोदर मिश्र	वेंकटेश्वर प्रेस, १९२४

(१६९)	हरिवंश (हि० अनु० सहित)	व्यास	गीता प्रेस
(१७०)	हर्ष चरित	वाणभट्ट	नि० सा० प्रेस, बम्बई
(१७१)	हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेव शरण अग्रवाल	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
(१७२)	हिन्दी अभिनव भारती	आचार्य विश्वेश्वर	हि० अ० प०, दिल्ली

हिन्दी के सहायक संदर्भ ग्रन्थ

(१७३)	अभिनव नाट्यशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	काशी
(१७४)	अरस्तू का काव्यशास्त्र	डा० नगेन्द्र	हि० अ० प०, दिल्ली
(१७५)	आधुनिक साहित्य	नंददुलारे वाजपेयी	भारती भण्डार, विक्रम सं० २०१८, तृतीय संस्करण
(१७६)	आधुनिक हिन्दी नाटक	,, ,,	छठा संस्करण, १९६१
(१७७)	कालिदास और उनका युग	भगवतशरण उपाध्याय	प्रयाग भारतीय विद्याभवन, १९५६
(१७८)	कालिदास और भवभूति (हि० अ०)	डी० एल० राय	हिन्दी ग्रन्थ रत्नमाला कार्यालय, बम्बई
(१७९)	काव्यकला तथा अन्य निबंध	जयशंकर प्रसाद	भारती भण्डार, प्रयाग
(१८०)	काव्य के रूप	गुलाब राय	
(१८१)	नाटक (निबंध)	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु नाटकावली (भाग २) का परिशिष्ट
(१८२)	नाट्यकला	डा० रघुवंश	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१
(१८३)	नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा	हजारीप्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पटना, १९६३
(१८४)	नाट्य समीक्षा	डा० दशरथ ओझा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
(१८५)	पतंजलिकालीन भारत	प्रभुदयाल अग्निहोत्री	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६३
(१८६)	पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेव शरण अग्रवाल	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, २०१९
(१८७)	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	डा० जगन्नाथ प्र० शर्मा	सरस्वती मंदिर, बनारस
(१८८)	प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद	हजारी प्र० द्विवेदी	हि० ग्रन्थ रत्नमाला कार्यालय, बम्बई

(१८९)	प्राचीन भारतीय लोक-धर्म	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल	ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, जुलाई १९६४
(१९०)	भरत नाट्यशास्त्र में रंगशालाओं के रूप	राय गोविन्दचन्द्र	काशी, १९५८
(१९१)	भारतीय काव्यशास्त्र (भाग-१-२)	प्रो० बलदेव उपाध्याय	काशी
(१९२)	भारतेन्दु नाटकावली (१-२ भाग)	भारतेन्दु	रामनारायणलाल, प्रयाग, संवत् १९९३
(१९३)	मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा	वाइ मसीह	पटना, १९५४
(१९४)	रसमीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००६
(१९५)	रससिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण	आनंदप्रकाश दीक्षित	
(१९६)	रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५९
(१९७)	रूपक रहस्य	श्यामसुन्दर दास	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं० १९९७
(१९८)	लोकधर्मी नाट्य-परंपरा	श्याम परमार	हि० प्रचारक पुस्तकालय काशी, १९५९
(१९९)	विद्यापति पदावली	संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी	पुस्तक भण्डार, पटना
(२००)	वैदिक साहित्य और संस्कृति	प्रो० बलदेव उपाध्याय	काशी, १९५५
(२०१)	साहित्य-सिद्धान्त	डा० रामअवध द्विवेदी	बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६३
(२०२)	साहित्यालोचन (छठा संस्करण)	श्यामसुन्दर दास	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९९९
(२०३)	संस्कृत साहित्य का इतिहास	प्रो० बलदेव उपाध्याय	काशी, १९५२
(२०४)	हमारी नाट्य-परंपरा	श्री कृष्णदास	
(२०५)	हिन्दी नाट्य : उद्भव और विकास (तृ० सं०)	डा० दशरथ ओझा	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६१
(२०६)	हिन्दी के पौराणिक नाटक	देवर्षि नाट्य	
(२०७)	हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	श्रीपति शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६१

(२०८) हिन्दी नाटककार — जयनाथ — आत्माराम एण्ड सन्स, १९५९
(२०९) हिन्दी नाट्यविमर्श — बाबू गुलाब राय
(२१०) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास — डा० सोमनाथ गुप्त — तृतीय सं० १९५१
(२११) हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००३

गुजराती

(२१२) पारसी नाटक तख्तानी तवारीख (गुजराती) — डा० धनजी भाई पटेल — १९३१
(२१३) स्मारक ग्रन्थ गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव

बंगला

(२१४) प्राचीन भारतेर नाट्यकला — मनोमोहन घोष — विश्वभारती, कलकत्ता १९४५
(२१५) व्याकरण दर्शनेर इतिहास — गुरुपद हल्दर — कलकत्ता, १३५० वि० सं०
(२१६) मराठी रंगभूमि — आद्या विष्णु कुलकर्णी — १९६१

हिन्दी नाटक

(२१७) अजातशत्रु—१२वाँ संस्करण — जयशंकर प्रसाद — भारती भवन, प्रयाग
(२१८) अन्धा युग — धर्मवीर भारती
(२१९) अम्बपाली — रामवृक्ष बेनीपुरी — बेनीपुरी प्रकाशन, पटना
(२२०) आन का मान — हरेकृष्ण प्रेमी — कौशाम्बी प्रकाशन
(२२१) आहुति — पृथ्वी थियेटर्स — छठा संस्करण, १९६१
(२२२) कालिदास — उदयशंकर भट्ट
(२२३) कोणार्क — जगदीशचन्द्र माथुर
(२२४) कौमुदी महोत्सव — रामकुमार वर्मा — प्रयाग
(२२५) गद्दार — पृथ्वी थियेटर्स — बम्बई
(२२६) चन्द्रगुप्त — जयशंकर प्रसाद
(२२७) चारुमित्रा — डा० रामकुमार वर्मा
(२२८) ध्रुवस्वामिनी — जयशंकर प्रसाद
(२२९) नाटक तोता-मैना — डा० लक्ष्मीनारायण लाल

(२३०)	पृथ्वीराज की आँखें	डा० रामकुमार वर्मा
(२३१)	भोर का तारा	जगदीशचन्द्र माथुर
(२३२)	रणधीर प्रेम मोहिनी	श्रीनिवास दास
(२३३)	वत्सराज	लक्ष्मीनारायण मिश्र
(२३४)	वीर अभिमन्यु	राधेश्याम पाठक
(२३५)	शकुंतला	नारायणप्रसाद बेताब
(२३६)	शारदीया	जगदीशचन्द्र माथुर
(२३७)	सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(२३८)	सप्त रश्मि	सेठ गोविन्ददास
(२३९)	सिन्दूर की होली	लक्ष्मीनारायण मिश्र
(२४०)	सीमारेखा	विष्णु प्रभाकर
	सूरदास	आगाहस्र कश्मीरी
(२४१)	स्कन्दगुप्त	जयशंकर प्रसाद
(२४२)	स्वप्नवासवदत्ता	(हिन्दी रूपान्तर) प्रो० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
(२४३)	सृष्टि की साँझ	सिद्धनाथ कुमार

बंगला नाटक

(२४४)	उल्का	नीहाररंजन
(२४५)	चिर कुमार सभा	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
(२४६)	मधुसूदन	वनफूल
(२४७)	मानमयी गर्ल्स स्कूल	रवीन्द्रनाथ मैत्रा
(२४८)	विन्दोर छेले	शरत्चन्द्र
(२४९)	श्यामली	निरुपमा राय
(२५०)	षोडषी	शरत्चन्द्र (आदि)

अंग्रेज़ी भाषा के सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. Abhinaya Darpan	Nandikeshwar	M. M. Ghosh, Calcutta, 1934
2. Advanced History of India	Au. R. C. Majumdar H. C. Roy Choudhary, Kalikinkar Dutta	2nd Edition, London Macmillan & Co. Ltd. New York
3. Ancient Indian Theatre	Dr. R. Mankad	Charutar Prakashan Ballabh Vidyanagar, Oxford, 1950
4. Aristotle's Art of Poetry (A Greek view of Poetry & Drama)	W. Hamilton Fyee	At the Clarendon Press
5. Aristotle's Theory of Fine Art	Prof. S. H. Butcher	
6. Aspects of Sanskrit Literature	S. K. De	Firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1959, New Delhi
7. Asoka Inscriptions	—	Publication Division
8. Basic Writings	Freud	—
9. Vedic Index of Name & Subjects	Macdonell & Keith	Two Volumes, London, 1912
10. Bengali Drama	Dr. P. Guha Tarakant	London, 1925
11. Bhas	Pulskar	Lahore, 1940
12. Bhoja's Sringara Prakas (Revised Edition)	Dr. V. Raghvan, M.A., Ph.D.	Sri Krishna Ram Street, Madras, 14, 1963
13. Bibliography of the Sanskrit Drama	Schuler	Columbia University Press, New York, 1906
14. British Drama	A. Nicoll	Fourth Edition
15. British Rule in India & After	R. R. Sethi, V. D. Mahajan Chand & Co.	Publisher & Bookseller Fountain, Delhi
16. Cambridge History	Part IX	page 177
17. Cassel's Encyclopaedia of Literature-I	Editted by S. H. Steinberg	London, 1953
18. -do- II	"	"

19. Chandragupta Maurya & His Times (2nd Edition)	R. K. Mukharji	Rajkamal Publications, New Delhi, 1952
20. Classical Sanskrit Literature	A. B. Keith	London, 1936
21. Collected papers Vol. II	Freud	—
22. Commemorative Essays presented to R. G. Vendadkar	—	Vandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1917
23. Comparative Aesthetics Vol. I	Dr. Kantichandra Pandey	The Chowkhamba Sanskrit Series, Vidya Vilas Press, Banaras, 1950
24. The Construction of One Act Play	Walter Eaton	—
25. Contemporary Indian Literature (A symposium)	Sahitya Akademy	New Delhi, 1957
26. Contributions to the History of the Hindu Drama	M. M. Ghosh	Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1958
27. The Craftsmanship of One Act Play	Percevals Wilds	—
A Critical Survey of the Ancient Indian Theatre	Prof. D. Subba Rao	Appendix 6, G.O.C. N.S. Vol. Ist, 2nd Edition
28. Curtain in Ancient India	S. K. De	Bhartiya Vidya Bhawan, Volume 1948
29. Dasrupa, The Treatise on Hindu Dramaturgy	Dhanam Jaya	George Co. Hoas, 1962, Motilal Banarsi Das (Re-print)
30. Dictionary of Hindu Architecture	P. K. Acharya	Oxford University Press, London, 1907
31. Drama	A Duke	—
32. Drama	H. H. Wilson	The Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1962, (Re-print)
33. Drama & Dramatics of Non-European Race	William Ridge Way	—
34. Drama from Ibson to Eliot	Royamond William	Chatto & Winds, London, 1954
35. Drama in Sanskrit Literature	R. V. Jagirdar, M.A., London	Popular Book Depot, Bombay-7, 1947

36. Dramatic Criticism	Spingarn	Oxford University Press, 1931
37. Dramatic Technique	G. P. Bakar	—
38. Early Poems & Stories	W. B. Dutta	London, 1925
39. Elements of Literary Criticisms	Lamborn	—
40. Encyclopaedia of Religion and Ethics	—	—
41. Foundation of Poetry in Drama, The (An Essay)	Abercrombic	Oxford University Press
42. Gupta Art	Basudeo Saran Agrawal	Lucknow
43. History & the Culture of Indian People	R. C. Majumdar —	Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay
44. History of Indian Literature	A. M. Winternitz	(English Translation) Cal. University, Calcutta
45. Hindu Law and Custom	Jolly J. Calcutta, 1929	Vol. I, 1927 Vol. II, 1933
46. History of Modern India	Dr. Iswari Prasad & S. K. Subedar	2nd Edition, 1951
47. History of Sanskrit Literature	S. K. Dey	Calcutta University, 1947
48. History of Sanskrit Poetics	P. V. Kane	Motilal Banarasidass, 1961, Varanasi
49. History of Sanskrit Poetics (In two Vols.)	Sushil Kumar De	Calcutta, 1960
50. Indian Drama (Collection)	—	The Publication Division Ministry of Information & Broadcasting, Govt. of India, New Delhi
51. Indian Literature Vol. I, No. II	—	Sahitya Akademy
52. Indian Stage, Vol. IV	Dr. Harendra Nath Das Gupta	Calcutta University, 1934
53. Indian Theatre	Prof. C. B. Gupta	Motilal Banarasi Das, 1954, Varanasi
54. Indian Theatre	R. K. Yajnik	London George Allen & United Dn. Museum Street, First Published in 1933
55. Laws & Practice of Hindu Drama	S. N. Shastri	The Chaukhamba Sakt. Series, Office, Gopal Mandir Lane, Varanas

56. Laws of Drama	F. Brunetier	—
57. Matsya Puranas Study	Vasudeva S. Agrawal	Ram Nagar, Varanasi, 1963
58. Meaning of Art	Herbert Read	—
59. Mirror of Gesture (Translated into English)	By Ananda K. Coomaraswami & D. Gopalakrishna Aiyer	E. Weyre New York, 1936
60. The Natakalaksanaratnakosa of Sagar Nandin	Myles Dillon & V. Raghavan	The American Philosophical Society, Philadelphia-6
61. Natyasastra, (English Translation 1-27)	Manomohan Ghosh, M.A., Ph.D. (Cal.)	The Royal Asiatic Society of Bengal, 1950
62. Number of Rasas	V. Raghvan	Adyar Library, Adyar, 1940
63. Outline of Psycho-Analysis An.	Sigmund, Freud 3rd Edition	The Hogarth Press, London, 1940
64. Play House of the Hindu Period	P. K. Acharya, Dr. S. K. Ayangar Commemoration Volume	—
65. Poetry & Drama	T. S. Eliot	The Tmodore Speneor Memorial Lecture No. 125 Falues & Limited 24, Russel, London
66. Pre-historic Ancient & Hindu India	Banerjee, R. D.	Black JE & Sons (India) 1934
67. Principles of Indian Silpasastras (with the text of Maya-Sastra)	R. N. Bose	Payal Sanskrit Book Depot Lahore, 1926
68. Psycho-Analysis Today, its scope and functions	Lorand	Sandor, London, 1933
69. Psychology of Human Affairs	J. S. Grey	—
70. Rajtarangini	Kalhan, Edited by Stein	Bombay, 1892
71. Rigveda Brahman's Translated	Keith, A. B.	Harward Oriental Series, XXV, 1920
72. Sanskrit Drama	A Berriedale Keith	Oxford University Press, 1924
73. Sanskrit-English Dictionary	M. A. Williams	Oxford, London, 1951
74. Sanskrit Literature (A History of···)	Keith, A. B.	Oxford, 1928

75. Selected Inscriptions bearing on Indian Civilization	D. C. Sarkar	Calcutta, 1942
76. Seven Words in Bharat, what they signify ?	K. M. Verma	Orient Longman's, 1958
77. Social Plays in Sanskrit, The	Raghvan V.	Adyar Library, Adyar, 1942
78. Some Concepts of Alankar Sastra, Studies on	"	"
79. Theatre and Stage (In two volumes)	Harold Downs	The New Era Publishing Co. Ltd.
80. The Theatre of the Hindus	H. H. Wilson, V. Raghvan, K. R. Pishasroti, A. C. Vidyabhushan	Shushil Gupta India Ltd. Calcutta, 12, 1955
81. Theories of Rasa & Dhavani	Sankaran, A.	University of Madras, 1929
82. Tribes & Castes in North-West and Awadh	W. Gooke	—
83. Types of Sanskrit Drama	Mankad	University Prakashan Mandir, D. Karavadu, 1930
84. The Vakrokti Jivitam	Rajanakakrintala	Ed. by S. K. De, Calcutta, 1923
85. Bharat's Natyas and Costum	Dr. G. S. Gurhe	Popular Book Depot Bombay, 1958
86. World Drama	A. Nicoll	1st Edition, 1931
87. Works of Aristotle	W. D. Ross, M.A.	Oxford at the Alexandrenu

अंग्रेजी के सहायक निबन्ध

1. Archaeological Survey of India (Annual Report 1903-4)	Caves and Inscriptions, in Ramgarh hills	Bloch
2. Bulletin of Sangit Natak Akademy, New Delhi	Music in Ancient Indian Drama	V. Raghavan
3. Bharati Vidya Vol. IX	Curtain in Ancient India	S. K. De
4. Calcutta Review, 1922-23		—
5. Drama Seminar, Sangit Nataka Academy, New Delhi	Uparupakas	V. Raghavan

6.	Proceedings of all India Oriental Conference, Patna, (1930) (p. 577-580)	Fragments from Kohals	P. V. Kane
7.	Indian Antiquary Page 195-7, 1905 Volume 34	Ramgarh hills in Surjuga	J. A. S. Burges
8.	Indian Historical Quarterly, Vol. VI, 1930	Problems of Natya Shastra	M. M. Ghosh
9.	Indian Historical Quarterly, Vol. VIII	Natya Shastra and Bharat Muni	-do-
10.	-do- 1932	Hindu Theatre (An Interpretation of Natya Shastra, Bharat's Natya Shastra, 2nd Chapter)	D. R. Mankad
11.	-do-	Prakrit vs. in Bharat Natya Shastra	M. M. Ghosh
12.	Indian Historical Quarterly Volume IX, 1933	Nati of Patliputra	A. Benerjee Shastri
13.	-do-	Hindu Theatre	M. M. Ghosh
14.	-do-	" "	A. K. Kumar Swami
15.	-do-	Vaman's Theory of Riti and Guna	Prakash Chand Lahiri
16.	Indian Historical Quarterly, Vol. IX, December, 1933	Hindu Theatre	B. R. Mankad
17.	-do-	"	V. Raghavan
18.	-do- Vol.	so called Conversions of Hindu Drama	M. M. Ghosh
19.	Indian Literature	The Asthetics of Ancient Indian Drama	V. Raghavan
20.	-do-	Indian Drama and Stage Today (Collection)	Different authors
21.	-do-	Theatre at Delhi today	Murial Ware
22.	Journal of Bombay University, Vol. VI	—	Dr. Ghati
23.	Journal of Bombay University	—	—
24.	Journal of Bihar-Orissa Research Society, 1917	'Parijatharan' Editor and translator	Dr. G. Grierson

25. Journal of Royal Asiatic Society, Bengal, 1909, 1913	History of Theory of Rusa	Shankaran
26. Journal of Department of Letters, Calcutta University, Part 23, 25	Date of Bharat Natya Shastra	M. M. Ghosh
27. Journal of Andhra Historical Research Society, Vol. III	—	—
28. Journal of Orient Research Madras, Vol. VI pp. 149-170, p. 54-82	(a) Writers Quoted in Abhinava Bharti (b) Concept of Lakshana	V. Raghavan "
29. -do- Vol. VII, pp. 346-370	Vrittis	"
30. -do- Vol. VII and VIII pp. 359-374, 57-74	Lok Dharmi and Natya Dharmi	"
31. Journal of Royal Asiatic Society, London, 1911, p. 979-1009, Poona Orientalist, Vol. XIV, Part I	Vaidik Akhyam and the Indian Drama	S. P. Bhattacharya
	S. P. Bhattacharya	—
32. New Indian Antiquary, Vol. VI	—	Doctrine of Lakshan
33. Tribeni Madras 1931, 1932-33, Vol. V	Architecture of Ancient India	V. Raghavan
34. Akashvani, November, 3, 1963	Rag. & Rusa	Nagendra Roy, N. Shukla
35. Indian Historical Quarterly, 1934, Vol.	The Natyashastra and the Abhinava Bharati	M. Ghosh

हिन्दी की सहायक शोध एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ

पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली

आजकल

(१) सित०, अक्तूबर, १९५५	आज का भारतीय रंगमंच	प्रभाकर माचवे
(२) फरवरी, ५७	संगीत, अभिनय और नृत्य	सदगुरुशरण अवस्थी
(३) जुलाई, ५७	रामायणकालीन वेशभूषा	शांतिकुमार नाथूराम व्यास
(४) जून, ५८	राष्ट्रीय नृत्य गोष्ठी	नेमिचन्द्र जैन
(५) जनवरी, ६०	भारतीय लोक-नृत्य और नृत्य-गीत	रामइकबाल सिंह राकेश
(६) अगस्त, ६०	भारतीय नृत्य-परंपरा (मुद्राएँ)	रेखा जैन

(७) फरवरी, ६१	भारतीय नृत्य-परंपरा (वेशभूषा)	रेखा जैन
(८) अगस्त, ६१	भारतीय नृत्य-परंपरा (संगीत)	रेखा जैन
(९) अक्तूबर, ६१	मास्को के रंगमंच पर रामायण	भीष्म साहनी
(१०) सितम्बर, ६२	व्यवसायी रंगमंच	नेमिचन्द्र जैन
(११) अप्रैल, ६३	नाटक का अध्ययन	नेमिचन्द्र जैन

त्रैमासिक : दिल्ली

(१२) आलोचना अक्तूबर, ५७	नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
(१३) आलोचना नाटक अंक जुलाई, ५६		
(१४) आलोचना जुलाई, ६३	हिन्दी रंगमंच के विकास की समस्या	उपेन्द्रनाथ अश्क
	मृच्छकटिक—अभिज्ञान शाकुन्तल और ओथेलो	भगवतशरण उपाध्याय वीरेन्द्र नारायण
(१५) कल्पना, अगस्त, ६१	नाटक की लोकानुसारिता	डा० बच्चन सिंह, हैदराबाद
(१६) कल्पना, नवम्बर, ६१	नाटककार और निर्देशकों के नये संबंधों की खोज	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१७) कल्पना, जून, ६२	भारतीय नाट्य-परंपरा पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१८) कल्पना, मई, ६३	भरत नाट्यम् मंदिर से रंगमंच तक	सुरेश अवस्थी, हैदराबाद
(१९) कल्पना, सितम्बर, ६३	लोक-नाट्य और आधुनिक रंगमंच	नेमिचन्द्र जैन, हैदराबाद
(२०) कल्पना, मई, ६४	इन्द्राणी रहमान और भरत नाट्यम्	
(२१) ज्ञानोदय, सितम्बर, ६१ (भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता)	भारतीय लोकनृत्यों की झाँकी	राजेन्द्र निगम

(२२)	त्रिपथगा अक्तूबर, ५५ (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ)	नाट्यशास्त्र में नेत्राभिनय	पंचानन
(२३)	त्रिपथगा, सितम्बर, ५७	अभिनयकला	सीताराम चतुर्वेदी
(२४)	नई धारा, अप्रैल-मई, ५१ (रंगमंच अंक, पटना)	भरत का रंगमंच विधान	प्रो० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
(२५)	नया पथ (नाटक अंक) मई, १९५६, लखनऊ		
(२६)	नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३, संवत् २०१५ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)	कालिदास और गुप्त सम्राट	डोलर राय रंजीतदास मंकद
(२७)	साहित्य त्रैमासिक (शोध पत्रिका) जुलाई, ५७ (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बिहार)	बिहार का प्राचीन कलावैभव	परमेश्वरीलाल गुप्त
(२८)	साहित्यकार अप्रैल, ५६	संस्कृत नाट्य-परंपरा	श्रीकृष्णानंद
(२९)	सम्मेलन पत्रिका शक संवत् १८८५ आषाढ़-मार्गशीर्ष (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)	बम्बई का पारसी रंगमंच	डा० रणवीर उपाध्याय
(३०)	सम्मेलन पत्रिका चैत्र-ज्येष्ठ शक सं० १८८५	भारतीय नाट्यकला का जन्म	जयशंकर त्रिपाठी
(३१)	समालोचक दिसम्बर, ५८ (आगरा)	हिन्दी नाटक और रंगमंच	रामगोपाल सिंह चौहान
(३२)	साहित्य संदेश जुलाई-अगस्त, ५५ (अन्तः-प्रान्तीय नाटकांक) (आगरा)		
(३३)	आकाशवाणी प्रसारिका अक्तूबर-दिसम्बर, ५७	भारतीय रंगमंच	मामा वरेरकर
(३४)	,, ,,	सीताबेंगा	कृष्णदेव
(३५)	,, ,,	नया रंगमंच	जगदीशचन्द्र माथुर
(३६)	,, ,, मार्च, ५७	हिन्दी रंगमंच	डा० सोमनाथ गुप्त

(३७)	आकाशवाणी विविधा १९५९	आधुनिक रंगमंच	अज्ञेय
(३८)	,,	रंगमंच के उपयुक्त नाटकों का अभाव	रामचन्द्र टंडन, नेमिचन्द्र जैन
(३९)	,,	रेडियो नाटक	भगवतीचरण वर्मा
(४०)	,, १९६०	रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अध्ययन	
(४१)	,, ,,	संगीत और नृत्य को दक्षिण की देन	
(४२)	,, ,,	लोकगीत और लोक-नाटक	श्रीकृष्ण दास
(४३)	,, अक्तूबर-दिस०, ५६	खुला रंगमंच	सुरेश अवस्थी
(४४)	,, अप्रैल-जून, ५६	कालिदास का भारत	डी० डी० मेनन
(४५)	हिन्दी अनुशीलन अगस्त, १९५५	हिन्दी के आदि नाटक	डा० दशरथ ओझा
	,, जनवरी, मार्च, १९६२	अग्निपुराण की रस दृष्टि	योगेन्द्र सिंह
(४६)	हिन्दी अनुशीलन (शोध विशेषांक), १९६२		
(४७)	हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३, अंक ३	रस-सिद्धान्त की भरत पूर्ववर्ती रूपरेखा	प्रेमस्वरूप गुप्त
(४८)	रंगभूमि नाशोवर्ष (कांग्रेस स्मृति ग्रंथ)		चन्द्रबदन मेहता
(४९)	गुजराती नाट्यम्	आपणी रंगभूमि	डा० डी० जी० व्यास
(५०)	मराठी रंगभूमि जून, १९०२		

• • •

शब्दानुक्रमाणिका

अ

अंक—१७८-१८१
अंकच्छेद—५३, १७९-८०
अंकमुख—१६४
अंकावतार—१८४
अंकास्य—१८४
अंकिया (नाट्य)—४४८, ४८४, ४८५
अंकुराभिनय—४०३-४
अंग—२९१-९२, ३४७, ३८७, ४४२
अंगज—४०२
अंग रचना—२०१, ३७८-८९, ३८६-८८, ५१७
अंग सौष्ठव—४७५-७६
अंगहार—२९, ३४, ४०, ४९, ५७, ६४, ६७, ३०६, ३७४, ४०१, ४७२
अंचित—३४८
अंजन—२६०
अंजलि—३५९
अंधा युग—५००, ५२०
अंधेर नगरी—१४३
अन्तर्द्वन्द्व—३९९, ४०१
अंश स्वर—४६४
अंशोपजीविनी—४५४
अक्षर संहति—२७०
अकान्ति—२७७
अकृति—२६७
अगस्त्य लोपामुद्रा—६७
अग्नि—६, २६, ६४
अग्निपुराण—३४, ३६, १०३-१०४, १४९, २४२, २६८, २७६, २८१, २८३, २८६, ३०१, ३९२
अग्रज—३५७
अचिह्नित पाण्डुलिपि
'अज'—३८६
अजातशत्रु—२९०-९१
अजितापीड—५५
अज्ञातयौवना—२०८
अणु—८५
अतिक्रान्त—३७०
अतिजागती—२६७
अतिदेश—४०४
अतिभाषा—२८८
अतिशय—२७०
अतिशयोक्ति—२७०, २७५
अतिहसित—२४५
अतिस्निग्ध मधुर—२८२
अत्यष्टि—२६७
अत्युक्ति—२८०
अत्रि—१०४
अत्रे—४९१
अथर्ववेद—६४, ६८, ७९, ११३, २७५, ५१२
अन्त—५१३
अद्भुत—२४०, २४७, २६८, २८७, २९१
अद्भूता—३४९
अधम—४१, १४५, १८९, १९३, १९७, २०२, २०३, ३९८
अधर (अभिनय)—३५०
अधिवल—१७३
अधिक्षेप—२४६
अधीरा—२०३, २०५
अधोगत—३४८
अनतिरूढ—२८०
अनामिका—५२०
अनात्मरति—४०९
अनिरुद्ध—१०४, ५१८
अनिर्व्यूढत्व—२८०
अनिष्ट—४०७
अनुकरण (वाद)—२२०-२१, २३२-३४, २३५, ५११
अनुकार्य—२२५
अनुकीर्तन—२१९
अनुकूल नायक—१९२
अनुदात—२९१
अनुनायक—१९४

अनुनीति—२७०
अनुचारिका—१९९
अनुप्रासवृत्ति—४२७-२८
अनुबंध—२९२
अनुरक्ता—२००, २०३, २१७
अनुलाप—४०४
अनुभाव—२१९, २३२, २४२, २५०, २५१, २६०, ३४५-४७
अनुमान—१७३
अनुमितिवाद—२३२
अनुयोगद्वार सूत्र—२७८, २८२
अनुशयना—२०८
अनुष्टुप—२६७, २६९
अनुरूपा प्रकृति—३११,५१७
अनन्वय—२७५
अनृत—२७७-७८
अनृत भाषण—२४६
अनुवादी—४६२-६३
अन्त—५१३
अन्तर्यवनिका—२९२
अन्नासाहेब किर्लोस्कर—४९०
अन्त्यानुप्रास—२७६
अन्यसुरति दु:खिना—२०३
अनुसंधि—१९२
अन्या—२०२-३
अपक्रान्त—३७०
अपरान्तक—३४, १८७-१८८
अपभ्रंश—१४८, १५५, २८१, २८९
अपरकाम—४०९
अपस्मार—२५६
अपशब्द—२७८
अप्रस्तुत प्रशंसा—२७०,२७५
अपहसित—२४५
अपार्थक—२७७-७९, ३३६
अपद—३९०
अपराजिति—५४
अपलाप—४०४
अपदेश—४०४
अपरेश मुकर्जी—४९५
अपरेश वस्तु—४९४
अपवाद—१७४
अपवारितक—१८२, ४१८-२०, ४५१
अप्पाराव—५०२
अप्पय दीक्षित—२७५
अप्रयुक्त वचन—४५१
अप्सरा—६९, ११५, २२८, ३२७, ३८४, ४०८
अप्सरा—(पन्त) ४६०
अप्रसाद—२८०
अपृथक् सिद्ध—२७१
अप्रमेया—२७१
अपह्नुति—२७०, २७५
अभिज्ञान शाकुन्तल—१५, ३२, ३४, ५६, १०३, १०६, ११२, ११३, ११५, १२८, १६६, १६७, १८१, १८२, २०९, २५२, २९१, ३१८, ३२२, ३३२, ३६९, ३८५, ३९०, ४००, ४१२-१४, ४२१, ४३१, ४६०, ४७५
अभिनय—६३, ६६, १०५, २५०, २५९, २६०, २६१, ३४५-४७, ३९७-९८, ४०४-५, ४१४, ४७४-७५, ५१६
अभिनवगुप्त—१०-११, १९, २०, २३, २४, २६, २८, ३८, ४५, ४७, ५१, ५२, ५५, ५८, ८६, ८८, ९०, ९१, ९६, ९८, १००, ११५, १२४, १२५, १३४, १३८, १३९, १४१-४२, १४६, १४८, १४९, १५१-५४-५६, १६०, १६२, १६५-६६, १७५, १७७-७९, १८३, २१८, २२४, २३२, २३४, २६९-७०, २८२, २८६, २९७, २९९, ३०४, ३०६, ३३०, ३५४, ३६३, ३६९-७०, ३८४ (आदि), ३९४, ३९५-९६-९७, ४०४, ४११, ४२८, ४३३, ४३९, ४६४, ४८१, ५१५
अभिनव भारती—८, १६, १७, १९, २१, २२, २३, ५१, ५२, ५४, ५८, ८६, ८८, ९१
अभिनेता—२५१, ३८६, ५१६
अभिनयदर्पण—८, ६५, ३४१, ३४५, ३४७, ३४८, ३६२, ४६९, ४७४-७५, ४८१
अभिमन्यु—१७०
अभिसारिका—३, १५४, २००
अभिधा व्यापार—२३६, २७१, २७२
अभूताहरण—१७२
अभ्यूह्य—१७९
अभिव्यक्तिवाद—२३२-३६
अभिद्रोह—२४६
अभिप्लुतार्थ—२७८-९
अभितप्ता—३४९
अभिनयकर—३६०
अभिमान—२७०

अभ्रक—३८०-८१
अभिषेक—३२०
अमरसिंह राठौर—४६७
अमरकोष—४८, १५५, ३२५
अमात्य—१६१, ३८६
अमर्ष—१५५, १८६, २५६, २६०
अमानत—४६६
अमरेन्द्र दत्त—४६४
अम्बपाली—३१४, ४१८, ४६०, ४६६
अमृत लाल वसु—४६४
अमृत मंथन—६, ६५, ७१
अयत्नज अलंकार—२१०-११, ४०१-२, ४२५
अरस्तू—२३०-३१, ३६८-६६, ४००, ४०१, ५११
अराल—३५१, ३५६, ४१७
अराल खटकामुख—३६६
अरुण—२५१
अर्जुन—१५५, १८६, २४२, २८८, ४६८
अर्थ—२४२
अर्थतंत्र—५११
अर्थकाम—२३७
अर्थ क्रम—२८२
अर्थगुण—२८३-८७
अर्थदुष्ट—२८१
अर्थवत्—२८२
अर्थप्रकृति—१६०-६२, १६३-६४
अर्थशास्त्र—२६, ४६, ८२, १०२, १०३, २७७-७८, २८२, ३२६-२७, ३३७
अर्थापत्ति—२७०, २७४
अर्थद्योतनिका—२०, ५७
अर्थविमलता—२८३
अर्थक्रियापेक्षी—२७५
अर्थान्तर—२७७-७६
अर्थहीन—२७८
अर्थानुवृत्ति—२७०
अर्थालंकार—२७५
अर्थवृत्ति—३३७
अर्थोपक्षेपक—१८२-८४
अर्थव्यक्ति—२८०, २८३, २८४
अर्द्धचन्द्र—३५६
अर्द्धमागधी—४६५, २८८-८६
अर्ली पोएम्स ऐन्ड स्टोरीज़ (डब्लू० रट्स)—४४८
अर्द्धसम—२६७
अर्पण—२६२
अल्पाक्षर छन्द—१३६
अलंकार—२८, ३५, ४१-२, १७८, १८५, १६५-६, २०६, २१७, २६६-७२, २७७ २८०, २८५-८७, २८८, २६०-६२, ३१५, ३७८, ३८१-८६, ४६४, ५१७
अलंकार सर्वस्व (विमर्शिनी)—५५
अलंकार शेखर—२८६
अलंकृत—२०२
अलंकार शास्त्र—२७४, ४२६
अलाउद्दीन खिलजी—४८२
अल्फ्रेड ओल्ड थियेट्रिकल कम्पनी—४८७
अलेक्जेंड्रिया थियेट्रिकल कम्पनी—४८७
अल्काजी—५०६, ५२०
अलभ्यदिव्या—१३७
अल्मोड़ा—२२
अवगलित—१४५, ४३१
अवदानशतक—७५, १०३, ३२६, ३३२, ३४१
अवरोही—२६६, ४६४
अवलोक—१४८
अवध—५२०
अवस्यंदित—१४५
अवहित्था—२४५, २५६, ३५८, ३७२
अवनद्ध—४२
अवमर्श—१५०-५२, १६५-६७
अवर—८६
अवन्ती—२२६, ४४३
अवन्तिजा—२८८
अवतरण—२६२
अवधूत—३४८
अवलोक—१५६, २६८
अवपात—४३५
अव्याहत—२८२
अवस्था—१५६-६३, १६४, १६७, ३७१-७२, ४०१, ५१७
अविमारक—२०२, २६०, ३०२
अविस्तर—२८१
अवलोकिता—३१३
अविज्ञानार्थ—२७७
अशोक—७५
अशोकम्—५०२
अश्मकुट्ट—८, ५०, ५१, १५०
अश्वघोष—२५, ३७, ३२, ४७, ७६, २८२

अश्राव्य—१८१
अश्वमेध—६८
अश्क—४९९, ५२०
अश्रु—२४६-४७, २५९-६१, ४४७, ४८०, ५१७
अश्लक्षण—२७८
अश्वक्रान्त—३७२
अश्वललित—२६८
अश्विन—८६
अशुद्ध—२४७
अष्टाध्यायी—१२, ८०, १२७, ३१३
अष्टि—२६७
असंदिग्ध—२८१-८२
असंयुत (हस्त) ३५६-५९
असत्प्रलाप—१४५
असमास—२७९-८०
असित—७५
असुर—१७५
असुरपत्नी—३८४
असूया—२४५, २५५
असम—४९९
असमिया—४८५
असमिया अंकिया नाट्य—४८४-८५
अस्त्र-शस्त्र—४१४, ३८०-८१
अहंकार शृंगार—२४८
अहल्या—१३५
अहीन्द्र चौधरी—४९४-९५
अहेतुक—२७८

आ

आकाश (चारी) ३८७
आकाश वचन—१४५, १८२, ४१८, ४१९
आकाश चारिणी—३७४
आकाशिकी—३६२
आकंपित—३४८
आक्रन्द—२७०
आक्रान्त नायिका—२०४
आकुंचित—३७५
आकृति—३
आक्षिप्ति—१७३
आख्यात—२७०
आख्यान—५१३
आख्याता—४२, ३२६-२७
आग गाड़ी—४८८
आगरकर—४८९
आगा हस्र काश्मीरी—४९८
आघर्षण—२४६
आङ्गिक (अभिनय)—३३, ३४, ३५, ४१, १२३, २५०-२, ३३३, ३४५-३७६, ३९४-९६, ४०२, ४५२, ५२०
आङ्गिक अलंकार—२०९-१०
आङ्गिक विकार—४०२
आचरण—१९८
आचार्य (वास्तु निर्माण कला)—१०४
आञ्जनेय—१४१
आज का भारतीय रंगमंच—४९६
आत्मसमुत्था बाधा—३३६
आत्मस्वभाव—३७३
आत्मगत (स्वगत)—४१८
आत्मस्थ—२४५, ३५३, ४०४, ४३७
आत्मोपक्षेपण—४३३-३४
आदिभरत—९, ११, ५६, ३०१
आदान—१७५
आत्म संविति—५३, ५८
आधान—२४६
आधिकारिक—१५८-५९
आधुनिक भारतीय रंगमंच—४७९-५०८
आधूत—३४८
आधुनिक साहित्य—४७९, ५०५
आन्तरिक वृत्ति—३७४
आनन्द—१७६, १८८-८९, २६०
आनन्दमूलक—३००-३०१
आनन्दज—२४१
आनन्दवर्धनाचार्य—३७, २१८, २७४, २७६, २८१-८७, ४२५-२७, ५१५
आन्ध्र—२७, ३८७, ३८८, ४४२, ५०२
आन्ध्र नाटक कला परिषद—५०२
आन्ध्र थियेटर फेडरेशन—५०२
आन का मान—४६०
आनुवंश्य आर्या—२७, ४१, ४४-४५, ४९
आपस्तम्ब—२७, ४८, ३२८
आभरण—३८४
आभरण कृत—१०, १२, ४१, ७०, ३२३
आभिजात्य—१५६
आभुग्न—३६१
आभ्यन्तर—११४, ४०५
आभ्यन्तरा—१९७-९८
आभीर—७५, २८८, ३८५

आभूषण—३८१-८४
आमात्य—१०४
आमुख—३०३, ४३१-३२, ४३७
आम्रेडित यमक—२७६
आयत—३७२, ४१६, ४६४
आयताकार—८६, ८७
आयुष्मान्—२६०
आयोगव—३२८
आयुक्तिका—१६६
आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया—१०५, १०६
आरभटी वृत्ति—३७, ४१, ६४, १२८, १३६, १४०, १४२, ४३४-३६
आर्ट थियेटर—४६५
आ(प्रा)रम्भ—१५६, १६३, ५१३
आरोग्य निकेतन—४६५
आरोही—४२, २६६, ४६४
आर्य—१०४, १५७, २८६
आरण्यिका—३१३
आर्यभाषा—२८८
आरोप्य—३८१-८२
आर्य नाट्य समाज—४८८
आर्या—२७, ४६, २६६-२६८, २६०
आर्यनीति दर्शक नाट्य समाज—४८८
आर्यावर्त—५७
आर्य नैतिक नाट्य समाज—४८८
आयोहारक—४६०
आलस्य—२४५, २४६, २५५
आलम्बन—२५१
आलीढ—३६६
आलेख्य—३७७-७८
आलमगीर—४६५
आलात चक्रमंडल—४०५
आलाप—४०४
आलोचना—२१६
आविद्ध—३१६
आवेग—२४६-४७, २५६
आवेध्य—३८१-८२
आवन्तिका—४४३
आशी—२७०, २७४
आश्रवणा—२६२
आसन—३७४-७५, ४६६
आसनरचना—६५
आसीन—१७७, ४७३
आसन्नवचन—४५१
आसारित—२६३
आहरण—२४६
आहार्यज—४१२
आहार्याभिनय—३५, ३८, ४२, ११२, १२३, ३४६, ३७७-६३, ३६५, ४१२, ५०५, ५१५-१७
आहुति—५००

इ

इण्डियन ऐंटीक्वैरी—३०, १०६
इण्डियन कल्चर—(डी० सी० सरकार) २६८
इण्डियन ड्रामा (स्टेन कोमो)—१३७
इण्डियन ड्रामा—४८४, ४८८, ४६०-६१-६२, ४६५-६६, ५०२, ५०५
इण्डियन थियेटर—८८, १०८, ४८५, ४८७, ४६०, ४६४, ४६७, ४६
इण्डियन स्टेज—४७, ७५, ४६३
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली—८६, ८७, ६५, ६६, १०५, १०८, ११०, १११, २६७, ४४३
इण्डिश्चे ड्रामा—१५, ४८४, ४८८, ४६२, ४६५-६६
इण्डो यूरोपीय—३८६
इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन ऐन्ड एथिक्स—३४
इच्छाशक्ति—४००
इतिवृत्त—१५८, १६७, १७८-७६, १८५, ५१४
इतिहास—५१३
इन्द्र—२६, ६४, १३५, १८६, २८६, ३८७
इन्द्रध्वजोत्सव—६६, ७२
इन्द्र अदिति वामदेव—६७
इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि—६७
इन्द्र वज्रा—२६७
इन्द्रिय—४०५, ४०७
इन्दर सभा—४६६, ५२०
इन्द्राणी रहमान—५१६
इन्दुमती—३८६
इरावती—३४
इत्सिंग—४८२
इब्सन—८१, ४६०, ४६६
इष्ट—४०७

ई

ईषत्प्रगल्भवचना—२०४
ईश्वरचन्द्र—४६४
ईर्ष्या—२४६, ४३३-३४
ईहामृग—८१, १३६-१३८

उ

उग्रता—२५७
उच्च—२६१-६२
उज्जैनी—१६७
उक्तप्रत्युक्त—४७४
उज्ज्वल नीलमणि—१६३, २००, २०४
उढा—२०३
उत्थापन—२६६
उत्कृति—२६७
उत्क्षिप्त—३४८
उत्थापक—४३२
उत्तम—४१, १४५, १५३, १८६, १६३
उत्तमा—१७६, २००, २०३
उत्तमोत्तम—१७७
उत्तमोत्तमक—४७३
उत्तर—३५
उत्तर प्रदेश—३८८
उत्तर विहार—३८८
उत्तर भारत—१५३
उत्तर भारतीय—२२, ४८७-५००
उत्तररामचरित—७, ८, ७८, ७६, १०३, १२६, १८१, ३१६, ३३२, ४८०
उत्तराध्ययन—७५
उत्पाद्य—५६, १३०, १५२, १५६
उत्पलदेव—२३, ५८
उत्पत्तिवाद—२३२
उत्सृष्टाङ्क—८१, १४०-४१
उदयजातक—७६
उदयन—११३, १२५, १५७, १६७, १६१, २४२, ४१६, ४३३
उदय शंकर—५०६, ५१६
उदयशंकर भट्ट—२८६
उदात्त—२८४, २६२
उदात्तत्व—२८२
उदात्त कुंजर—१५१
उदात्तनायक—३७, ११५, १२६
उदात्ता—१६७
उदारता—२८१, २८२-८४, ४०३
उद्वेग—१७३
उद्दीपन—२५१
उद्घात्यक—४३१, ४३८
उदाहरण—१७३, २७०
उद्गाथा—२६६
उद्धत—१५४, १५७, ३६०
उद्भट—३८, ५२, ५३, ५८, १३६, २७७-७८, २८६ ४२६, ४३७
उद्भेद—१६६
उद्वृ—३८७
उदर—३६१
उद्वाहित—३७६
उन्माद—२४६, २५६,
उत्सुकता—२४५, २४६, २५६
उत्साह—२५३
उपक्षेप—१६८
उपगूहन—१७६
उपचारोपेतत्व—२८२
उपजाति—४४-४६, २६६
उपनिषद्—३००, ४०६, ४०७, ५११
उपन्यास—१५४, १७२
उपनायक—१५०-५२, १६४
उपनागरक—२८६
उपनागरिका—४२६-२७
उपनिषद्—३००
उपनीत—२८२
उपगीति—२६६
उपद्रव—१३५
उपमा—२८, २७०, २७५-७६
उपमेयोपमा—२७५
उपसर्ग प्रत्यय—२६५
उपमारूपक दोष—२७८
उपेक्ष्य—१७६
उपांग—३४७, ३५४
उपरूपक—१४६-१५६
उपहसित—२४५
उपेन्द्रवज्रा—२६७
उपवर्ण—३८६
उपपति—२७०
उर्मिला—४६६
उर्दू—४८६-८७
उर्वशी—१६४, १६५, २८६, ४६०
उल्लाप्य—१५१
उल्लोप्यक—३५

उरुभंग—१४०
उरस्—२९१
उस्ताद अलाउद्दीन खाँ—५१९
उह—८९, ९५

ऋ

ऋक्—६४
ऋग्वेद—५, ६, ४८, ६३, ६६, ६८, ६९, ७३, ७९, ११३, १३७, २३१, २७६, ५१२
ऋतु—४१४-१५
ऋतुसंहार—३८६
ऋत्विक्—१०४
ऋषभ—२९१, ४६२
ऋषिकन्या—३८६

ए

एकदेशविवर्ती—२७६
एकत्व युक्त—३९४
एक देशज—३३७
एकसूत्रन्याय—२५२
एकांकी—१४१, १५०, १५२, १५३, १५४, १५६
एकाथ—२७८-९
ए० के० कुमार स्वामी—१०८, ५१६
एफ० हाल—१४
एरिस्टोटल्स आर्ट आफ पोएट्री—२३०-३१, ३९९-४००
एरिस्टोटल पोएटिक्स—३९८
एलिफेंटा—४७२
एवरक्रोम्बे—२४८
एलोरा—४७२
एस० के० दे—२८, ३१, ४६, ४७, २९८, ४२६

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण—५
ऐहिकतामूलक—५१४
ऐह्योल शिलालेख—३१

ओ

ओंकार नाथ ठाकुर—५०६, ५१९
ओज—१७६, १८० २८३, ८५०
ओजस्वी—२८२,
ओणेवक—३५
ओल्डेनवर्ग—६८
ओरिजिन आफ ट्रेजेडी—७९
ओरियन्टल मन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी—२२
ओरियन्टल इन्स्टिच्यूट (मद्रास)—२२, २३

औ

औचित्य विचार चर्चा—५९
औड् मागधी—४४२-४३
औत्पातिक बाधा—३३६
औदार्य—१९९, २११, २८०

क

कंचुकी—१३२, २९०
कंठ रेचक—४७२
कंठाभिघात—४६१
कंदर्पकेलि—१४२
कंपन—२४६-४७
कंपित—२९१, ३४८, ४६४
कंस—१८९
कंसवध—२५, ७४
ककुभ—१५२
कक्ष्याविधि—४१, १११-११३, ४५२
कचदेवयानी—४८४
कटि—३६१
कटिरेचक—४७२
कत्थकली—४८५, ५०३
कथासरित्सागर—७७, ३७८, ३८७
कथोद्घात—४३१
कनिष्ठा—२०३
कन्नड़—२१, १५५, ४८९
कन्नड़ रंगमंच—५०३
कन्याशुल्कम्—५०२
कपट—१३५, २७०
कपिलदेव—४८२
कपोत—४१७
कपोतक—३५४
कपोल—३५१
करण—४०, ४६, १९९, ३०६, ३५५, ३६१-६२, ४७१-७२

करेचक—४७२
करुण—१५२, २४०-४२, २४६, २६८, २६१-६२, ३४६, ३६२, ३८७
करुण विप्रलंभ—१५५
कर्कटक—३५४, ३५६
कर्ण—२४२
कर्णाभरण—२८६
कर्तरी मुख—३५७
कर्पूरमंजरी—३१३, ४६७
कर्मकृत—७०
कर्मकाण्ड—७८
कलकत्ता—४६३
कलकत्ता थियेटर—४६३
कलहान्तरिता—३६, १६६
कल्पना—५०३-४, ५१६
कल्पनादुष्ट—२८१
कल्पवल्ली—१५४
कल्पांत कर्म—६५
कल्पितोपमा—२७५
कला—१५६, ३६६
कलाकेन्द्र—४८६
कलाकार—५००
कलानिलयम्—५०३
कलिकेलि प्रहसन—१४२
कलिंग—३८७, ४४२
कल्याणी—३१४, ४१४
कल्याणी परिणय—३०५
कलेक्टेड लेक्चर्स (फ्रायड) १८८, ४०६
कल्हण—५२, ५४, ५६
कवि—१०३, २५१, ३६८
कविध्रुवा—४६७
कविनाम कीर्तन—३०३
कन्हैया एण्ड कम्पनी—५०१
कन्हैयालाल माणिकलाल—४८८
कांचीयमक—२७७
कांचुकीय—३७१, ३८६
काकु—२८४, २६०-६१
कात्यायन—८, ३१३
कादम्ब या विष—२८६
कादम्बरी—३६, १४१
कान्त—२८२
कान्ता—२८४, ३४६
कंट्रीब्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू ड्रामाज—७३-७४, ८१
कान्ति—२१०, २७६, २८३-८५ ४०२-३
कामंदक—१८७, ४०८
कामंदकी—३१३
काम—१८७, २४२, ३३१, ३६४
कामतंत्र—२६, ४६, १०३,
कामदत्ता—१५३, २६८
कामदहन—१५३, २४२
कामभाव—२३७, ४०७-६
काममुग्धा—२०२-२०३
कामसूत्र—२६, ४६, ५१, १०२-३, १४६, १८६-८७
कायसन्निवेश—३६३
कायिक—४२८
कारक हेतु—२३८
कारि—६६, ८० १०२
कारिका—२७, ४५, ४६
कारुक—३२३
कार्तिकेय—१८६, ३६७
कार्नेलिया—१६७
कार्य—१६०-६३, २७०
कालिदास—२०, २३, २५, ३२, ३३, ३४, ३७, ४७, ५६, ७३, १०३, १०५, १०७, १२३, १४६, १५१, २०६, २०८, २७५-७६, २८२, ३३०, ३६६, ३७७, ३८६, ४००, ४४२, ४४६, ४६०, ४८२, ५०२, ५११, ५२०
कालिदास—४६०
कालीप्रसन्नसिंह—४६४
काव्य—१४८, ३६६
काव्यकौतुक—५८, ५६
काव्यप्रकाश—४६, २७६, २८३-८४, २८६, २८७
काव्यप्रस्थापक—३२५
काव्यप्रकाशादश—३६
काव्यप्रकाश संकेत—५४, ५६
काव्यप्रकाशादर्श—३६
काव्यालंकार सूत्र (वामन)—२२६, २७५, २८०, २८४, २८६
काव्यानुशासन—३७, ५४, ५५, ५८, ५६, १४६, १४८, १५०, १६०, २८३, २८५
काव्यमाला संस्करण (ना० शा०)—१५, १६, १६, २०, २१, २२, ४२, ११०, १७४-७६
काव्यमीमांसा—५४, १०३, ४२५, ४४२, ४८१

काव्यादर्श—२०, १४६, २३२, २७५-६, २८०, २८४
काव्यालंकार (भामह)—२८, २७५-६ २७६-८१, २८४, २८५-८६
काव्यालंकार (सार) संग्रह—३५, २८६
काव्यालंकार सर्वस्वसंग्रह—२८
काव्यशास्त्र—२८, ४१
काशिका—४८, ४६
काशी—२७, ३८७, ४८३, ५००
काशीनागरिक नाट्यमंडली—४६८
काशी संस्कृत सीरीज (नाट्यशास्त्र)—१५, १७, १६, २०, २१, २२, २३, ४२, ११०, १७४-१७६, २४२, ३६८, ३८४
काश्मीर (री)—२४, ४४३-४५
काश्वाजी खटाऊ—४८७
काष्ठासन—३७५
काषाय—३८७
काव्यसंहार—१७६
काव्योपक्षेपण—३०३
किरीटी—३८६-६०
किंचित् सदृशोपमा—२७५
किलकिंचित्—२१०, ४०२-३
किसान—५००
किरात—२७, ३८७-८८
किरातर्जुनीय—२८२, ३७८
किर्लोस्कर—४८६
कीर्तिधर—५६, ३६६
कीर्तनिया—४४८
कीथ, ए० बी०—३१, ३३, ४८, ७६, ८०, ११०, १४१, ४८३
कुंजबिहारी—४६०
कुट्टन—३५०
कुशीलव—३२, ७६, ७८, १०३, ३२४, ३२७
कुट्टनीमत—८, ३६, ५० ५१, १०७, ३१३, ३१५, ३४१ ४७४-७५
कुट्टमित—२१०, ४०२-३
कुतुहल—२११
कुन्तक—२७६,४४२
कुबेर—२६, ११५
कुब्ज—३७१
कुमार संभव—३४
कुमार—१०४
कुमार स्वामी—१८४, ३४६, ५०४
कुमारगुप्त—२६०, ४१३
कुमाराधिकृत—१६४
कुमारिल—१४६
कुमारी—३२५
कुमुदविभा—२६८
कुमुदिका—३४
कुमार संभव—३७८, ३८६
कुम्भ—४३१, ४३५, ४५४
कुरुक्षेत्र—५०३
कुलीन कुलसर्वस्व—४६४
कुलजा—२००, २०२
कुलटा—२०८
कुलस्त्री—१३१, १३३, १६७, २०८
कुलांगना—१३१-३३
कुवलयमाला—२६८
कुवलयानन्द—२७५, २८३
कुशजातक—७६
कुशीनर—४४३
कुसुमशेखर—१३८
कुसुमित लता वेल्लित—२६
कुहर—८८, ४६४
कृशाश्व—४८, ४६
कृष्ण—७२, ७४, ८०, १२५, १५०-१, १५३, १५५, १८६, ३२७-२८, ३८६-८७
कृष्णाभिसारिका—२००
कृष्ट—६६
कृष्णकथा—५०२
कृष्णयात्रा—४८३
कृष्णमाचारी—५०१
कृष्ण अवधूत—१३७
कृष्णमिश्र—१३७
कृष्णमाचार्य—५०२
कृष्णसुदामा—४६७
कृच्छ्रदोषत्व—२८०
कृति—१७६, २६७
केम्ब्रिज हिस्ट्री—१२
केरल—४८५
के० एम० वर्मा—४६
केलकर—४८६, ४६१
के० वी० गोपालस्वामी—५०२
केलि—२११
केलिरैवत—१५३
केशव—२०७, ४६०
केशवमिश्र—२८६
केशविन्यास—३८४, ३८८, ५१७

कैशिकी—३७, ४१, ६४, ६६, १३२, १३४, १३६, १३८, १४०, १४५, १४६, १५०, १५४, ३६३, ४२७-४३०, ४३२-४३४, ४३८
कैशिकी शोभा— ४५४
कैशिक—३६३
कैसेल्स इनसाइक्लोपिडिया आफ लिट्रेचर—३९९, ४०१
कैकेयी—१६१
कैलाश—११५
कोणार्क—४९९
कोमला—४२७
कोशल—२७, ३८७, ४४२
कोरेंथियन थियेटर—४८७
कोलहतकर—४९०
कोहल—२२, ४९, ५०, १४१, १४४, १५२-५३, १५६-५७, १८२, १८४, २६६, २७२
कौटिल्य—१०३
कोपमृदु—२०३
कौमेडी आफ एरर्स—४९०
कौमुदी महोत्सव—४६०
कौवेर रंभाभिसार—७६, ३३०, ३४१, ४८१
कौशितकी ब्राह्मण—६६
क्रम—१७३
क्रमभिन्न—२७८
क्रिया—४७४
क्रोचे—३९८
क्रोध—१७६, २४३, २४६, २५३, २९०
क्रौंचपाद—२६८
क्षत्रिय—३८७-८९
क्षत्रिया—२०४
क्षमा—२७०
क्षामकपोल—३५०
क्षीरोद बाबू—४९६
क्षुरकर्म—३८४
क्षेप्य—३२१-२२
क्षेमेन्द्र—५९

ख

खंज—३७१
खटकामुख—३५९-४१७
खण्ड—३६३
खण्ड-चूलिका—१८३
खण्डमात्रा—१५२
खण्डिता नायिका—३४, ३६, १९९
खलनायक—३०९
खस—४४२
खाडिलकर—४९१
खुर्शेदजी—४८७
खूनी—५०२
खेद—१७४
ख्यात—१२५, १५२
ख्यातत्रय—१२५
ख्यातदेश—१२५
ख्यातनायक—१२५
ख्यातवृत्त—१२५

ग

गंगा—३२७, ४४३
गंगा तरङ्गिका—१५४
गंभीरा—४८४
गंधर्व—२९, ६९, ११५, ३४०, ३८४
गजदन्त—३५९
गजविलसित—२६८
गण—२६६, २६९
गणदास—३४, ५१, १०७
गणपतराव जोशी—४९०
गणपति—२६, ४८४
गणरत्नमहोदधि—१४६
गणिका—१९७, २०२, ३२५
गणेश—२६-७
गणेश्वर—२६
गण्डिका—१७७
गति—३३
गतिप्रचार—१५५, ३०५
गतिभेद—३६९-७०
गतिविधान—३६४-७४
गदगद—२४७
गद्दार—५००
गद्य—२६६
गर्व—२४६, २५६
गर्ग—१०४
गर्विता—२०३
गल—२६६
गर्बा—१५३, ४४८
गर्भसंधि—५५, १५०, १५२-५३, १६५, १७२-७३

गांधर्व—३०, ४९
गांधार—२९१, ४६२
गांधीजी—४६१
गांभीर्य—१९६
गाढतारुण्या—२०४
गायक—७६, ३२७, ४६९
गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज (नाट्यशास्त्र) —१६, १७, १९, २०, २१, १६३, १७५, २६९
गायत्री—२६७
गायिका—४६९
गाल्सवर्दी—४००
गिरीशघोष—४८६, ४९४-९८
गिरिनार शिलालेख—३०, ७५, २८२
गिरीशम्—५०२
गीत—६३, ६६, ८०, १०५, ३०४-३०६, ४५९-६८
गीतक—२९९
गीतनृत्य—१२५, १५६, ३९८-९९, ५११
गीतवाद्य—४५९-४७०
गीतवादित्र कुशल—४७९
गीतगोविन्दम्—१५२, ४९२
गीति—२६६, ४६५-७०
गीतिनाट्य—५२०
गुजरात—१५३,
गुजरात विधान सभा—४८९
गुजराती रंगमंच—४८६-४८९, ५२०,
गुजराती ड्रामा—४८८
गुण—४१, ५६, १७८, १८५, २१७, २७०-७३, २७९, २८१-२८७, २८८, ५१७
गुणानुवाद—२७०
गुणकीर्तन—२७०
गुणयोग—२८६
गुदाकाम—४८९
गुप्त (सी० बी०)—८८, १०८
गुप्ता—२०८
गुरु—२६६-६९
गुरुलघुसंकर—२७९, ३३६
गुह—४९
गुह्यक—११५, ३८७
गूढ—५३
गूढार्थ—२७८
गेय—१५६
गेयपद—१७७, ४७३
गोकुलदास—४९३
गोत्रस्खलन—१७६
गोदावरी वासुदेव केतकर—१८
गोपिका—१५१, १५३
गोपीचन्द—४८४
गोपुच्छाग्र—४६५-६६
गोविन्द राजुल्य—५०२
गोष्ठी—१४९-५०
गौड़विजय—१५२
गौड़ी—४२७
गौर—३८७-८८
गौहर—४८७
ग्रंथन—१७६
ग्रंथिक—७९, १०८-१०९
ग्रथित—३८१
ग्रहवर्मा—२९१
ग्राम—४६३-६५
ग्रामेयी—१३४
ग्राम्य—२८९
ग्राम्यत्व—२८०
ग्राम्या—४२६
ग्रीनवी एम बी—२३७
ग्रीवा—३५०, ४०२
ग्रीष्म—४११, ४१४
ग्रीस—९९, १०९, १६७, ५०५
ग्लाना—३४९
ग्लानि—२४५, २४६, २५४

घ

घटी (पटी)—३९१
घन—४६८
घर्म—२५९
घात—२६०
घोष अघोष—२६५
घोष मनमोहन—२०, २६७, ३९६-९७, ४१०

च

चंचलता—२५५
चंदनदास—२८९
चन्द्र—६४, ३०१-३०२, ३८७, ४१०-११
चन्द्रगुप्त—१६७, ३०५, ३११, ३१३-१४ ४१२-१४, ४३१, ४९८
चन्द्रापीड—३६, ४४१

चन्द्रावली—१३४
चन्द्रवदन—४८८
चन्द्रहास—४८८
चन्द्रालोक—२७२, २८६
चकित—२११
चक्रपालित—२६०
चक्रवालयमक—२७६
चण्डीदास—४६६
चण्डीयात्रा—४८३
चतुर्व्यवसितयमक—२७६
चतुर—१६३, ३५८
चतुरा—२००
चतुरस्र—८५, ६१, ६७, ६८, ३०५, ३६०
चतुष्पद—३६०
चपला—२६६
चपलता—२४७
चरण—४८, ५१३
चर्चरी—१५०
चलचित्र—४८६-८७, ४६२, ४६६, ५०१, ५०६, ५१६
चलम्—५०२
चाक्षुषक्रतु—४७, ६६, ३२६
चाण्डाल (ली)—२८८-८६
चारायण—८, १८२
चारी—३३, २६६, ३०३, ३६१-६२
चारुदत्त—३३, ११३, ११६, २०७, २६०-६१, ३२८, ४१३-१४, ४३१, ४७४-७५
चारु चन्द्रलेख—३७३
चारुमित्रा—४६६
चित्र—१७६, २८२, ४७१, ५१६
चित्रकर—३२३
चित्रतुरगन्याय—२३४
चित्रकारिणी—६६, ८०, १०२, ३१८, ४१३
चित्रकाव्य—१५२
चित्रकृत—४२, ७०
चित्राङ्गी—५०२
चित्रपूर्वरंग—३०५-६
चित्रनलीयम्—५०२
चित्रलेखा—२६
चित्रशाला—५०४
चित्राभिनय—४१, ३४७, ३६६, ४११-२२
चिदम्बरण—१४८
चिदम्बरम्—४०
चत्तविलसित—२६१
चित्तवृत्ति—२५६, ३६६-६८
चित्तवृत्यर्पिका—४५४
चिन्ता—२४५-४६, २५५
चिबुक (अभिनय) ३५०, ४०२
चित्ररथ—४६८
चित्रात्मक (अभिनय)—४१२-४१३
चिरकुमार सभा—४६५
चीन—४२५
चीनार तार—४६५
चुम्बन—४०६
चूर्ण (गद्य)—२६६
चूलिका—१३३
चेट—१३३, ३७१
चेटी—३२५-२६
चेष्टालंकार ४०१, ४२५
चेष्टा—४३३-३४
चेष्टाविन्यास क्रम—४२७
चैतन्य—४६२
चैतन्य भागवत—४६२
चैतन्य यात्रा—४८३
चौर्यरति—१५३

छ

छंद—२८, ४१, ४२, ४६, २६६-७, २८८, ५१७
छंदशास्त्र—२८, २६८, ५११
छंदविधान—२६६
छंदसूत्र—२६६-६७
छंदोवृत्त त्याग—२७६, ३३६
छत्र—४१४
छलिक—७६, ८०, १०३, १४६, १५४, १५५, ३७७, ४७५, ४८०
छविदोष—२७८
छादन—१७४
छालिक्य—१५५
छायानाट्य—७६, ७६
छेकानुप्रास—२८
छेदन—२४६

ज

जगदीशचन्द्र माथुर—२८६, ४६०, ४८५, ४८७, ४६७, ४६८, ४६६
जगदीश्वर—१४२
जगन्नाथराज—२१८

जघन चपला—३६६
जड़ता—२४६-४७, २५६
जतीन्द्र मोहन टैगोर—४६४
जनान्तिक—१८१-८२ ३५५, ४२०, ४४७, ४५१
जबलपुर—५००
जयदेव—१५२, २७२, २८६, ४६२
जयशंकर प्रसाद—४६८-६६
जयापीड—५२
जयाजीव—७०, ३३८
जर्जर—६४, ७२,३०२
जर्नल ऑफ आन्ध्र हि० रि० सो०—३१, ५१
जल—३८७
जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स (कलकत्ता वि०)—३६
जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास—५७, १५०, ४३८
जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी (बंगाल)—३१
जलप्रलय—४११
जल्हण—५४
जवनिका—११०-११
जहाँगीरजी—४८७
जागीरदार—६६, ७८
जाति—२६६, २८४, ३८७, ५१७
जानकी मंगल—४६७
जापान—४८५
जामदग्न्य जय १४०
जार्ज बर्नार्ड शॉ—४६६
जीमूतवाहन—१६१, २४३
जीमूतवाहन चरित्र—४८२
जूनागढ़ शिलालेख—३६
जुगुप्सा—२५३
जे ग्रासेट—१५
जैन—७६, १०३
जैनागम—७२, ७५, २७७-७८
जोगीमारा—१०४-१०५
जोहरा सहगल—५२०
ज्येष्ठ—८५, ३६८
ज्येष्ठा—२०३
ज्योतिरीश्वर—१४२
ज्योतीन्द्रनाथ—४६५
ज्वर—३५०
ज्ञातयौवना—२०८
ज्ञापक हेतु—२३८

झ

झल्लरी—४६६
झल्लीकर—२३३

ट

टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा (मंकद)—१४०
टी० वी कैलाशम्—५०३
टैगोर, एस० एम—१०७
ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स इन नार्थ अवध—२०
ट्रेजेडी—३६६-४००
टेक्स्ट ऑफ पौराणिक लिस्ट्स ऑफ पिपल्स—४४३

ठ

ठक्क राग—१५२

ड

डिम—८१, १३८-३६, १५६, ४७१
डी० जी० व्यास—४८८
डी० एल० राय—४६४-६६
डी० सी० सरकार—२६८
डोमकछ—४४८
डोम्बिका—१४८
डोम्बी—१४६, १५२
ड्रॉप कर्टेन—१०६, १०८, ४८०, ४८७
ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर—६८
ड्रामेटिक सिस्टम ऑफ हिन्दूज (विल्सन)—१५७

ढ

ढक्की—२८६
ढक्किनी—४६६
ढिल्लन—५७

त

तंत्री—४२
'त' चिह्नित—२२, २३
तण्डु—८५, ६१, ६७-६६, ३०५
तत—४६८

तथागत—७६
तदनुकृति—२४१
तदाभास—२४१
तद्भावग्रहण—३७३
तद्भावानुगमन—३७८
तनुमध्या—२६७
तन्द्रा—२४५
तपन—२११
तपस्विनी—३७३-७४
तपस्वी—३८६
तमिल—२१, २७
तमिलनाडु—५०१
तमिल रंगमंच—५०१
तबल—६६, ८०
तर्कवागीश—४२६
ताण्डव—७३,१५५, ३०६, ४७१-७५
तान—२६०
ताप—२६०
तापन—१७१
तापस वत्सराज—१६१, ४५०
तार—२६७, २६१, ४६४
तारकोद्धरण—१३६
तारकासुर—१८६
तारागण—३८७
ताम्रलिप्त—४४३
ताराशंकर—४६५
ताल—४२, ४६, १३६, ३०५, ३६६, ४६५
तिरस्करिणी—१०३, १०७, ११०
तिलक—४६१
तुर्क—४८१
तुलसी—४८३
तुलसीदत्त शैदा—४६८
तुम्बरु—४६१
तुल्यतर्क—२७०
तुल्ययोगिता—२७०
तूणावध्म—६६, ८०
तेज—१६६
तोसल—४४२
तोटक—२६७
तोरण—१०३
तेलगू—२१
तेलगू ड्रामा—५०२
तेलगू लिटिल थियेटर—५०२
तेलगू रंगमंच—५०२
तैत्तरीय उपनिषद्—२२२
तोलगुत्ति—५०३

थ

थियेटर एण्ड स्टेज—३०६, ३१६, ३३६, ३६६
थप्प बरीडी—५०२
थियेटर—६८
थियेटर कम्पनी—४८७
थियेटर यूनिट—४६६
थूआ—३२६

द

दंड—८५, १७६
दंडी—२८, ३७, १४६, २७३-७८, २८१, २८३, २८४, ४२७, ४४६
द एट प्रिंसिपल रसाज ऑफ हिन्दूज (एस० एम० टैगोर)—१०७
द कर्टेन इन ऐनसियेन्ट इन्डिया—११०
दक्षाध्वरध्वंस—६, ६५
दक्षिण—१५३, १६२
दक्षिण भारतीय—२२
दक्षिण भारतीय रंगमंच—५०१-५०४
दक्षिण भारतीय लोकनाट्य—४८५
दत्त—२६१
दत्ता—२६१
दत्तात्रेय नाटक मंडली—५०३
दत्तिल—५०, ५१
दयाभाई—४८८
दरक्रीडा—२०४
दर्दुर—४६६
द रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल—१८
दशरथ ओझा—१४३, १५१, ३०५, ४८२-८३
दशरूपक—८, १४, २०, २१, ३५, ३७, १२३, १२४, १३२, १४४-४५, १४६, १५४, १५६, १७४-७५ १७६, २०६, २७७, ३७६
दशरूपक विकल्पन—१२४, १५७
दशार्ण—४४३
दशावतारम्—४८४
द सोशल प्लेज इन संस्कृत—१३२
दाक्षिणात्या—२८८, ४४२
दानव—१३५, ३८६-८८

दानवपात्र—३०९
दानी घोष—४९४
दाम—१७६
दामाजित पन्त—४८४
दामोदरगुप्त—८, ३६, ४७, ५०, ५१, १०७, ३१३, ३१५, ३४१, ४७४-७५
दारुशिल्प—९५-९६
दिनकर—४६०
दि डिस्गाइज—४९३
दिल्ली—५००, ५२०
दिल्ली नाट्य संघ—५००
दिव्य—११५, १५९, २४७, ३४९
दिव्यगण—२६७
दिव्यमानुषगण—२६७
दिव्यसत्त्वा—१९७
दिव्यपात्र—३०९
दिव्या—१९७
दिव्यांगना—३८४-८५
दिव्यावदान—७५
दिव्येतरगण—२६७
दीनता—२४६
दीनबंधु—४९६
दीपक—२८, २७५-७६
दीपन—२९२
दीप्त—२१०, २९१-९२
दीप्ता—३४९
दीप्तत्व—२८०
दीप्ति—४०२-३
दीर्घ—२६७
दीवार—५००
दुःख—१८८
दुःखरेचन—२२९-३०
दुःखात्मक—२२७
दुन्दुभि—४६९
दुर्ग—३८७
दुर्गादास बनर्जी—४९४
दुर्वासा—१६६
दुर्योधन—१८९
दुर्मल्लिका—१४९, १५३
दुष्यन्त—३४, ११२, ११३, १२५, १९८, २३४, ४००, ४१५
दुःशासन—२४१
दूत—१७६
दूत वाक्य—८२
दूती—१५३
दृश्य—१७८
दृश्यभेद—१८१
दृषद्वती—५
दृश्य विधान—१११, ३९९
दृष्टि (अभिनय)—३४९-५०
दृष्ट-नष्टता—१६५
दृष्टान्त—२७०, २७४, ३६९
दृढवर्मा—३१२
देव—१३४, १३६, १९२, २०७, २८९, ३८८-८९
देवत—४८४
देवता—३८७
देवदासी—४८५, ५०३, ५०४
देवल—४९०
देवसेना—४१९
देवीचन्द्रगुप्तम्—३७३, ४६६
देवी—२९०
देवी माहात्म्य—१५१
देवी ध्रुवस्वामिनी—४८८
देवी महादेव—१५२
देवी हंसपदिका—१०३
देश—३६९
देशप्रेम—४०९
देशभिन्नता—४४४
देशभेद—२६९-७०
देशकालयुत—२८२
देशी—१५६-५७, ४४९, ४६८
देशी गुजराती—४८८
देशी नाटक समाज—४८८
दैत्यदानव—३८७
दैत्यदानवनाशन—६४, ७१
दैन्य—२५५
दैवी सिद्धि—३३३-३४
दोधक—२६७
दोल—३५४
दोष—४१, १८५, २१७, २७७-२८१, ५१७
दोषहान—२८०, २८३
दोषाभाव—२८०, २८२-८३
द्युति—१७६
द्रमिल—२७, २८८, ४४२
दौष्यन्ति भरत—५
द्रव—१७४
द्रविड़—३८७
द्रुत—२९२, ४७२
द्रुतविलंबित—२९

द्रुतमध्य—४६५
द्रोण—४६६
द्रौपदी—१६१
द्रौपदी वस्त्रहरण—५०१
द्रौपदीदर्शन—४८८
द्वादश रूपक—१४७
द्वादश वच—१४७
द्वार—६३-६५, ११३-११४
द्विपद—३६०
द्विपदी—१४६, १५४, १५५
द्विपादिका—१५२
द्विभूमि—१००, १०२
द्विमूठक—१७७, ४८३

ध

धनंजय—१४, २१, १२४, १३४, १३६, १४०, १४२, १५६, १६०, १६५-६६, १८२, १६०, २०२, २०४, २२४-२५, २४२, २६६, २७३, ३२५, ३६२, ३६५, ४११, ४३६, ४४०
धनिक—२०, १२६, १३४, १३५, १४१, १४६, १५१, २२५, २२६, २६७, ३३२, ३७६
धर्म—६७, ६६-७१, १८७-८८
धर्मकाम—२३७
धर्मवीर भारती—४६६, ५२०
धर्मसूत्र—३३०
धात्रेयी—३२५
धारिणी—३४
धीर प्रशान्त—१२६, १६०-६१
धीर ललित—१२६, १५७-५६, १६०-६१, २८८
धीरा—२०३, २०५
धीराधीरा—२०३, २०५
धीरोदात्त—१२६, १५८-५६, १६०-६१, २८८
धीरोद्धत—१२६, १४०, १५७, १६०-६१
धूत—३४८
धूता—१३२
धुति—१७४
धूम—२६०
धूर्त—१३३, १४२
धूर्तचरितम्—१४२
धूर्तविट संवाद—१४५
धूर्तिल—५०
धूसर—३८७
धृति—२४६-४७, २५५
धृष्टनायक—१६२
धैर्य—२११, ६०२-३
धैवत—२६१, ४६२
ध्रुवस्वामिनी—१६७, ३१४, ४१३, ४६८
ध्रुवा—२६, ४२, ४६, १०६, ३०५, ३६५, ४६१, ४६६
ध्वजा—६४, ३८१, ४१४
ध्वनि—५६
ध्वनिकार—५५, ५६
ध्वनि काव्य (नाटक)—५२०
ध्वन्यालोक—२७, ५५, २२५, २६७, २७५-७६, २८६, ४२५, ४२७
ध्वन्यालोक लोचन—५५, १४६
ध्वनि सिद्धान्त—५५-५६

न

नंद—१६७
नंदमुखी—२६
नंदा आर० सी०—४८४
नंद दुलारे वाजपेयी—४७६, ५०५
नंदिकेश्वर—८, २२, ३४७, ३४८
नंदिभरत संगीत पुस्तकम्—४२
नंदी—४६
नंबर आफ रसाज़ (राघवन्)—२२६
नखकुट्ट—८, ४६
नगेन्द्र (डॉ०)—२०७, २१६
नट—१०, १२, ६६, ७६, २६०, ३२१, ३२५, ३२८, ३३०
नटराज—७३
नटराजमंदिर—४०, ४७२
नटसूत्र—६, २८, ४६, १२३
नटी—२६०, २६७, ३२१, ३२२-२३
नत—३७६
नदी—४११
नपुंसक—१४२
नयन—४०२
नयनोत्सव—४७, ६६
नर—३८७
नरकोद्धरण—१३६
नरोत्तम गुजराती—४८८
नर्तक—७६, १४६, २२४, ३२५

नर्तकी—२६०, ३२१-२३, ४७५-७६
नर्तनक—१५४
नर्म—१३६, १७१, ४३३-३४
नर्मगर्भ—४३३-३४
नर्मदाशंकर—४८८
नर्मद्युति—१७१
नर्मस्फुर्ज—४३३-३४
नर्मस्फोट—४३३-३४
नलदमयन्ती—४८७
नवयौवना—२०८
नवल अनंगा—२०८
नववधू—२०८
नववयोमुग्धा—२०२
नवाब—५२०
नहुष—४२, ६५-६६, ३२६, ५१२
नाग—११५
नागरक—२८६
नागपत्नी—३८४
नागराज—२६
नागानन्द—१२७, १४१, १५७, १६१, २४३,४७३
नाचघर—४६३
नाटक—७६, ८१, १२४-३०, १४२, १५५-५६, १७८, ३६८
नाटक (निबन्ध-भारतेन्दु)—१३३
नाटक तोता मैना—५००
नाटक लक्षण रत्नकोष—८, ३७, ५१, ५६, ६४, १३२, १३७, १७५-७६, २७७, ३०१, ३२५, ३२८
नाटक मेलक—१४२
नाटकस्त्री—३३
नाटकीया—३३, १६६, ३२१-२३
नाटिका—१३३-३४, १४६, १५६-५७, ४४५
नाट्य—६६, ६८-६६, ७३, ८०, १२३-२४, १५६, ३४५-४६, ३६६-४००,४०५, ४२२, ५११, ५१८
नाट्यकला—११३, २१२, ३६३
नाट्यकार—३२०
नाट्यकुमारी—२६
नाट्यदर्पण—८, ३७, ४६, ५०, १३२, १३६, १४५, १५०, १५३, १६७, १७४, १७८, २५६, २७७, ४३३
नाट्यदृष्टि—२१८
नाट्यधर्मी—४१, ११२, ११५, ११७, ३५५, ३८०-८१,४४७,४५५
नाट्यनिकेतन—४६२
नाट्यप्रदीप—५७, ३०१
नाट्यमंडप (रेखांकन)—६६-१००
नाट्यप्रयोक्ता—३२६
नाट्यप्रयोग—२६१, ४५२, ५१६
नाट्य प्रयोग विज्ञान—३३०, ३४३
नाट्यमंडप—४०, ४१, ४७, ५७, ७५, ८५, ६५-१००, १०३-१०५, १०७-१११
नाट्यमन्वन्तर—४६१
नाट्यरस—२१६-२०, २२२-३०, ३००-३०१
नाट्यरासक—१५०-५१
नाट्यलक्षण—२६६-७३
नाट्यविघ्न—२६
नाट्यवृत्ति—४५, ४२५
नाट्यवेद—६४
नाट्यशरीर—१५८, १६२
नाट्यशास्त्र—(अधिकांश पृष्ठों पर)
नाट्यशास्त्र (अं० अनु०)—१८,२६-२७, १३०, १७२, २२०
नाट्यशास्त्र संग्रह—३४८, ४५४
नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा—८०
नाट्यसमीक्षा—१५१
नाट्यसिद्धि—४२, ३३२-३४
नाट्यायित—४०३-४
नाट्यालंकार—२६६-७३
नाट्यावतरण—४२,५०, ५१२, ५१३
नाट्याचार्य—४१, ३१७, ३२६, ३६६
नाट्योत्पत्ति—४७, ६३-८२
नाडकर्णि—४६०
नाडि (लि) का—१३५, १५३, ३३६-३७
नाद—४६१
नानाघाट शिलालेख—३१
नामकरण—२६२
नामाख्यात—२६५
नानारसाश्रयता—१३६
नान्दी—२७, १५५, २६६-३०७
नान्यदेव—४५, ४६२
नायक—४१, १२५-२७, १३०-३६, १३८, १३६, १४५, १४७, १५०-५३, १५८, १६०, १६५, १७६, १६०-६३
नायिका—४१, १३१-३३, १५२, १६०, २१२, ४२५
नायिकाभेद—१६८, २००, २०२-२०६
नारद—२६, ४७, ४६, ६४, १५५, ४६१, ४७५

नारायण—३८७, ४२८
नारायण प्रसाद बेताब—४६८
नारी—४०२-३, ४०८-९
नासिका (अभिनय)—३५०
निग्रह—२७७
निघंटु और निरुक्त—२१, ४४
निदर्शन—२७०, २७४
निद्रा—२४५, २५६
निन्दोपमा—२७५
निबद्ध बंध—२६६
निभृता—१९७
नियतश्राव्य—१३१
नियताप्ति—१५९, १६३, १६६
निरुपमा राय—४६६
निवाज कवि—४८२
नीहार रंजन राय—४९६
निर्देशक—५१८
निर्माता—५१८
नियुद्ध—३०
निरर्थक—२७७-७८
निराकरण—२७८
निराकांक्ष—२९१
निरुक्त—४४, २७५
निरोध—१७५
निर्भयभीम—१४०
निर्णय—१७६
निर्देश—४०४
निर्दोष—२८२
निर्मुण्डक—२९०
निर्वहण (संधि) १४२, १४३, १५०, १५३, १६३-६४, १६७, १७५-७६
निर्वेद—२४३, २४५-४७, २५४
निवृत्यंकुर—४०३-४
निर्व्यूह—२९,९५
निषध—११५, ३५९
निषाद—२९१, ४६१
निषेध—३६४
निष्ठुरता—३८०
निहंचित—३४८
नीच—२९१
नील—३८६-८७
नीलकंठ—४५
नूरजहाँ—५०३
नृत—५७, ९९, १०३, ३५६, ३६०
नृत्तकर—३६०
नृत्तशालिनी—४७९
नृत्तशास्त्र—३६
नृत्य—४७, ५७, ६८-६९, ७३, ८०, १०५, १०६, १२३, १५०-५२, १५४, ३०५-६, ४७१-७६, ५१२
नृत्यरूपक—१५२-१५५
नृत्यशाला—१०४
नृपपत्नी—१९७, २८८
नृसिंह—२७, १३५, १५४
नेता—१३२
नेत्रदान—४९९
नेपथ्य—६८, ८६-८८, ९१, ९७-१०४, १०८, ११४, ३४६, ३७७, ५१५
नेपाल—३१, ४४३, ४८२, ४९८
नेमिचन्द्र जैन—४८९
नेयार्थ—२८०
नेशनल थियेटर—४९४
नेशनल स्कूल आफ ड्रामा—५००, ५२०
नैयायिक—१६६
नैष्क्रामिकी ध्रुवा—३६
नैष्क्रामिकी—४६६-६७
नैषधीयचरित—३२४
न्यायदर्शन—२२१
न्यायविरुद्ध—२७८
न्यायसूत्र—२७७-७९
न्यायादपेत—२७८-७९
न्यायाधिकरण—११६
न्यून—२७८
न्यू इण्डियन ऐंटीक्वेरी—४२

प

पंगु—३७१
पंचम—२९१, ४६१
पंचरात्र—८२
पंचसंधि—१६२-१६७
पंजाबी लोकनाट्य—४८४
पंत—४६०
पटना—५००, ५२०
पटह—४६९, ५१८
पटी—१०५, १०६, १०९, ११०, १११
पणव—४६९
पण्यकामिनी—२०७
पण्डिता—२००

पातंजल (महाभाष्य)—२५, ४२, ४४, ७४, ८०, १०२, १०७, ३१३, ३२६-२७, ३३०, ३६६, ३७३
पतंजलिकालीन भारत—८०, ३२७
पताका—१५८-६२, १६३-६५
पताका (हस्तमुद्रा)—३५५-५७
पताकानायक—१६२
पताका स्थानक—५७
पतिव्रता—४६४
पथ्या—२६६
पदच्युत—२७८-७९
पदविन्यासक्रम—४४०
पद सौकुमार्य—२८३-८४
पदबंध—२६५-६६
पदादि यमक—२७६
पदार्थ (अभिनय)—४१७-१८
पदार्थ दोष—४१७-१८
पद ताडितक—१४५
पद्मनाभ पिल्लई—५०३
पद्मप्राभृतक—१४५
पद्मकोष—३५५-५६, ४१४
पद्मपुराण—६
पद्मावती—११६, २९१, ४१६
पद्मवर्ण—३८७
पद्मिनी—२९
पदोच्चय—२७०
पद्य—२६५-६६
परस्थ—२४५, २५३, ४०४
परांगना—२००, २०७
परकीया—२०३-२०६
परसमुत्था बाधा—३३३-३६
परिकर—१६२
परिघट्टन—२९१
परमार्दिदेव—१४०
परिचारिका—५७, १९९
परावृत्त—३४८
परावर्तित—३६०
परिवारित—३४८
परिदेवन—२७०
परिच्छद—३८४-८५
परिन्यास—१६८
परिभावना—१६९
परिसर्प—१७०
परिपार्श्विक—७८, ३०३, ३१३, ३१७-२०
परिपूर्णता—२८२
परिभाषण—१७६
परिवर्तन—२९९, ३०२
परिवर्तक—४३८
परुषा—४२६-२७
परोक्ष—३५३, ४०४
पर्णदत्त—२९०
पर्याय—२७८
पर्युपासन—१७१
पर्वतारोहण—३६९-७०
पर्सनलिटी (एम० पी० ग्रिनवी)—२३७
पल्लव—३८७
पश्चात्तपन—२७०
पवज्जा सूत्र—७५
पशु—४१४
पल्लव—३३०
पांचाल—३८७, ४४३
पांचाल मध्यमा—४४२-४४
पांचाली—४२७
पाठ्य—६३
पाठ्यगुण—२९१
पाणविक—४६९
पाणिघ्न—६६
पाणिनि—४४, ४८, ४९, ८२, १२३
पाण्डु—३५१, ३८६
पाणिनिकालीन भारतवर्ष—६, ४२, ३२७, ३३०
पात्र—१८६-२१२, २२०, ३०९, ३४२
पात्रप्रवेशकाल—३६५
पाद—३६१
पादप्रचार—३६२-६३, ३६५
पादरेचक—४७२
पादान्तयमक—२७६
पारसी रंगमंच—४८६-८७
पारस्कर गृह्यसूत्र—६९
पारिजातक—१५४
पारिजातहरण—४६०, ४८२
पार्थपराक्रम—१४०
पार्थिव नारी—३८४-८६
पार्श्व—३६१
पार्श्वक्रान्त—३७०
पार्श्वगत—३५७
पार्श्वसंदंश—३५७
पार्श्वनाथ केलकर—४९२
पार्वती—७३, ३२६
पालक—११६

पाल मंजर—४४२
पाशुपत—३८६
पाश्चात्य—१०६
पाश्चात्य नाट्य परंपरा—४६३
पाश्चात्य नाट्य प्रणाली—३१६
पितृस्नेह—४०६
पिंगल—२८, २६६
पिशाच—३८७
पिश्चेल—२१, ६८, ७६
पिण्डीबंध—४७१
पी० गुहा (डॉक्टर)—४६३
पीठमर्द—१५०, १५३-५४
पीतवर्ण—३८६-८७
पी० देग्नो—१५, २७, २८
पी० वी० काणे—१०, २८, ३०, ३१, ३५, ४०, ४२, ४७, ५१, २६२
पी० एस० मुदालियर—५०१
पी० सी० सेन—५०५
पुतलीसीता—३८०
पुतलिका नृत्य—७६-७७
पुनरुक्त—२७७-७६, ३३६
पुनरुक्तवदाभास—२८
पुरस्कार—३४०
पुराण—४६, ८०, १०३, ३२६
पुरुरवा—१६४-६५, १६८
पुरुरवा उर्वशी—६७-६८
पुरुष—३८८, ४१६
पुरुषप्रकृति—४१६-१७
पुरुषार्थ—१२७
पुरुषार्थ साधक व्यापार—४२८
पुरोहित—१६४, ३८८-८६
पुलकेशिन द्वितीय—३१
पुलस्कर—१४०
पुलिंद—२७, ३८७, ४४३
पुष्प—५६, १७२
पुष्पगंडिका—१७७
पुष्पगंधिका—४७३
पुष्पविसर्जन—३०३
पुष्पपुट—३५६
पुस्तविधि—१११, ११५, ३७६-८०
पूरन भगत—४८४
पूर्ण—१२६
पूर्वरंग—३२, ४०, १०६, १५५, २६७-३०२
पूर्ववाक्य—१७६
पूर्वाचार्य—२६, ४१, ४५, ४७, ४६
पृच्छा—२७०
पृथक् सिद्ध—२७१
पृथ्वी—२६
पृथ्वीथियेटर्स—५००, ५२०
पृथ्वीधर—२८६
पृथ्वीराज कपूर—५००, ५२०
पृथुला—४६५
पृथ्वीनाथ शर्मा—४६६
पैशाची—२८६
पैसा—५००
पोएटिक्स—२२०
पोएम्स ऐंड एसेज—२६६
पौण्ड्—४४३
पोस्ताजी फ़ामजी—४८७
पौर्णमास—६८
पौर्वापर्य—२८२
प्रकरण—३८, ८१, १३०-३३, १४२, १५५-५६, १७८
प्रकरणि(णी)का—१३४, १४६-४७, १५६, १५७
प्रकरी—३५, १५८-५६, १६०-६४
प्रकृति—२६७, ३०६-१२, ३६५-६७, ४१४
प्रख्यात—१५६
प्रख्यातवस्तु—३७
प्रकृष्ट प्राकृतमयी—१४८
प्रख्यातत्रय—१३८, १४६
प्रगल्भ—४०२-३
प्रगल्भा—२०३
प्रगयन—१७१
प्रच्छेदक—१७७, ४७३
प्रजापति—६४
प्रतापचन्द्र सिंह—४६४
प्रताप नारायण मिश्र—४६७
प्रताप रुद्र यशोभूषण—१४६, १७५, १६०-६२, २८६, ३०१-२
प्रताप प्रफुल्ल—४६४
प्रतार—३७०
प्रतिज्ञायौगंधरायण—२६०, ३७६, ३८१, ३६०, ४२१
प्रतिद्वंद्विता—३४०-४१
प्रतिनायक—१३५, १३८, १४०, १६५, १७६
प्रतिपाद्य व्यापार—२७१
प्रतिमुख संधि—१६५, १७०
प्रतिमानाटक—३८१

प्रतिवस्तूपमा—२८, १६३, २७५
प्रतिवादी—११६
प्रतिवेशिनी—३२५-२६
प्रतिशिरा—१०७
प्रतिशीर्ष—३८१
प्रतिषेध—१७४, २७०
प्रतिहारी—१९९
प्रतिहारेन्दुराज—२८६
प्रतीकात्मक—३९६, ४१५
प्रतीक विधान—४१२, ४१४
प्रत्यक्षपरोक्ष संमोह—२७९
प्रत्यक्षीकरण—४०५-७
प्रत्यभिज्ञा (वाद)—२३०, ५१२
प्रत्यालीढ—३६३
प्रत्याहार—२९८
प्रत्युत्पन्नमतित्व—१७६
प्रत्यूह—६५, ८८, ९५
प्रथमावतीर्ण मदन विकारा—२०२, २०४
प्रथमावतीर्ण यौवन विकारा—२०२, २०४
प्रदान—१७६
प्रधानसूत्र—७५
प्रबोध सी० सेन—४८४, ४९२, ४९५
प्रबोधचन्द्रोदय—७९
प्रभुदयाल अग्निहोत्री—८०, ३२७
प्रभात—४१०
प्रयत्न—१५९, १६३
प्रभाकर माचवे—४९६
प्रयाग—३४२
प्रयोक्ता—२५१, ३९८-९९, ४५९
प्रयोग—३२०
प्रयोगातिशय—४३१
प्रयोज्य—१७९
प्ररूढ़ यौवना स्मरा—४०२
प्ररोचना—१७४, २९९, ३०२-३, ४३१, ४३७-३८
प्रलंवित—३८१
प्रलय—२६०-६१
प्रलाप—४०४
प्रवृत्तक—४३१
प्रवृत्ति—४१, ४३, ४३९-४६
प्रवेशक—१३३, १३९, १५३, १८२
प्रशंसोपमा—२७०, २७५
प्रशमन—२९२
प्रशस्ति—१७६
प्रशान्त—१२९
प्रसंग—१७४
प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य—४६४
प्रसन्न—३५१
प्रसाद—११७, १६७, २८३-८५, २८९-९०, ३०४-५, ४९८-९९, ५०६
प्रसारित—३७५
प्रसेनजित—२९०
प्रस्तावना—३०३-३०६
प्रस्तावक—३०५
प्रस्थान—१४८, १४९, १५१
प्रस्थानक—३६३
प्रहसन—४१, १४१-४५, ४२१, ४३७-३८, ४४८
प्रह्लाद—५०२
प्रह्लाददेव—१४०
प्राक् आर्य—७४
प्राक् ज्योतिष—४४३
प्राकृत—२७,७१,७४-७५,२६६,२८८-९१
प्राकृतपिंगल—२६६
प्राकृतिक पदार्थ (अभिनय)—४१२-१३
प्राकृती—२८९
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—६३, ४७३
प्राचीन वैदिक धर्म—७०
प्राच्या—२८८-८९
प्राड्विवाक—१९४
प्राणविभूति—२६१
प्राप्ति—२७०
प्राप्त्याशा—१५९,१६३
प्रांप्टिग—१०८
प्रायश्चित (प्रसाद)—४१९
प्रायोगिक नृत्य—४०४
प्रारम्भ—१५९,१६३
प्राश्निक—३४,३३८-४०
प्रावेशिकी—३६,४६६
प्रार्थना—१७३
प्रासंगिक—१५८-५९
प्रासाद—१०४,३६९-७०,३८१,३८७
प्रासादिकी—४६६-६७
प्रियोक्ति—२७०
प्रियदर्शिका—१३४,३१२-१३,३१९
प्रियबाला साह—३५

प्रिये—२६०,४१२,४६०
प्रेमजोगिनी—४६७
प्रेक्षक—३३,२२४,२५०-५२,३३८-४०,३९८-९९,४५९
प्रेक्षकोपवेशन—८६,९०-९६,१०६
प्रेक्षणक—१४९,१५२
प्रेक्षागृह—७५,८७,१०३,५१५
प्रेङ्खोलित—४६४
प्रेतात्मावाद—७९
प्रेमी—४६०
प्रेष्या—२००
प्रेष्याभिसारिका—२००
प्रोड्यूसर—३१९
प्रोड्यूसिंग ओपेरा—४६१
प्रोत्साहन—२७०
प्रोषितकांता—१९९,२०३,३८६
प्रौढा—४२६

फ

फर्डिनेन्ड ब्रनेटियर—४००
फल—१३२
फलयोग—१५९,१६३
फलागम—१६३
फलानुसन्धान—१६०
फुल्लकपोल—३५०
फ्रायड—१८७,४०८,४९९

ब

बंग—७४,४८४-८५,४९३
बंगला—४८८,४९२
बंगाल—७४,४८४-८५,४९३
बंगाली ड्रामा ऐंड स्टेज—५०५
बंगाल थियेटर—४९५
बंगाली ड्रामा—४८४; ४९३
बंधनीय—३८१-८२
बन्धुवर्मा—२९१
'ब' चिह्नित (पाण्डुलिपि)—२२
बटुकनाथ शर्मा—१६
बधू नाटक संघ—४७९
बनारस थियेटर्स—४७९
बनारसीदास—४८२
बनफूल—४९५
बनेचर—२८२
बर्नार्ड शॉ—१४२,४६०
बलदेव उपाध्याय—१६,७३
बलवन्त—४९१
बलराम रेवती—१५५
बम्बई—४८६
बम्बई गुजराती—४८८
बलवन्तराव जोग—४९०
बर्बर—३८७-८८
बलिदान—४९४
बलिबंधन—२५,७४
बहुरूप मिश्र—२२५
बाणभट्ट—३६-३७
बालक—३११,४२१
बालकृष्ण—४८८
बालगन्धर्व—४८९-९१
बालचरित—३८१
बालमोहन—४९१
बालरामायण—७७,३८०,४३५-३६
बालविनोद नाटक सभा—५०१
बाबाजी राव राणे—४९०
बाबूराम कोलहतकर—४८९
बाध्य—४०५,४६९
बाध्यवस्त्वनुकारिणी—४५४
बाध्या—१९७-९८,२०७
बाध्याभ्यन्तरा—१९८, २०७
बिंदु—१६०-६४,१८३,४६४
बिन्दोर छेले—४९५
बीज—१६०-६४
बीणा—६८,८०,४६८-६९
बुन्देलखण्ड—४९६
बुद्ध—८०-८२,३२९,३८७
बुद्धचरित—२८२
बृद्ध—३११,३८९
बृद्धभरत—११
बृहत्कथा—१२५
बृहस्पति—२९,४९,१०४
बृहन्नला—२८८
बेनीपुरी—४१८,४६०
बोधिसत्व—१०३
बौद्ध—३२,७५-७६,१०३,३२९
ब्रजबुलि—४८५
ब्रह्म—११,२६,४६१,५१२
ब्रह्मचारी—३८८
ब्रह्मवैवर्त पुराण—२६

ब्रह्मा—४०,४७,६४,१०४,१३५,३८७,४२८
ब्रह्मोत्तर—४४३
ब्राह्मण—१४२,१८२,२८६,३८७,३८६,५११
ब्रिटेन—७५,४८७
ब्रिटिश ड्रामा—६६
ब्लाश—१०६

भ

भक्ति रसायन—२३०
भगवत्—२८६
भगवती—२६०
भगवदज्जुका—१४२
भग्नताल—१५२
भट्ट गोपाल—५८
भट्टतोत—२३,५८,५६,६६,१००-१०२,१३८,
१७८,१८५,२१७,२६६-७०,२७२
भट्टनायक—३८,५२,५५,५६,२१८,२२६
भट्ट मातृगुप्त—५६
भट्ट वृद्धि—५८
भट्टयन्त्र—३८,५२,५८
भट्टलोल्लट—२४,२७,३८, ५२-५४, ५८-५६,
१७६,२१८,२२४,२३२,२३३,२३६,२४२-
४३,३६६,४०१,५१६
भट्टशंकर—५८
भट्टसुमनस—५८
भट्टि—२७६,२८२,३७७
भट्टोजी दीक्षित—११०,३१३
भट्टोदभट—२३,४७,५३,२१८
भण्डारकर ओरियन्टल—५२
भद्रमुख—२६,३३
भद्रा—४२६
भमकलापमु—५०२
भय—१७६,२४६,२५३,२६०,३५०,४३३-
३४
भयानक—४५,१३८,२४०-४३,२४७,२६१,
३६२,३८७
भयानका (दृष्टि)—३४६
भयान्विता—३४६
भरत—६-१३,२५-३७,४८-५६,६३-६७,७६-
८२,८४-८८,६७,१२४
भरत का नाटचशास्त्र (डा० रघुवंश)—१८
भरतपुत्र—४२,६५,६६,३२५,३२६-२६
भरतकोष—३१,३८,११६,१४४,१५६,१६४,
३२१,३५१,४६१-६३-६४-६५
भरतसूत्र—२८,४६६, ४६८
भरतनाटचम्—५०४
भरतनाटचपरिषद—४६६
भरतार्णव—३४८
भर्तृदारिका (रक)—२६०
भर्तृमेष्ठ—५६
भर्तृहरि—३२६
भरषुआ—३२६
भवभूति—७,२८,३२,४७,१०३,३३०,४८०,
४८२
भवानी—१५४
भवाई—४८४,५०५
भाट—३२८-२६
भाउदाजी (डॉ०)—५६
भागवत—१४१-४२
भागवतम्—४८५,५०५
भागवतमु—५०२
भागुरि—५८
भाण—८१,१४२-४५,१४८-४६, १५४,४४८
भाणिका—१४६
भाणी—१४४,१४८,१४६,१५४
भादुरि—४६५
भानु (प्रोफेसर)—१८
भानुदत्त—२०८
भामह—२८,३५,३७,१४६,२७३-७८,२८०-
८१ २८५,२८७,४२६
भारत (स्थान) ३६३
भारत दुर्दशा—४६७
भारती—४१, ६४,१३६,१४०, १४३,१५१-
५४, ३०३, ३६३, ४२८-३२,४३७-३८,
४८३,४६६-६७
भारतीय दर्शन—४०६-७
भारतीय नाटच—४५०
भारतीय नाटचशास्त्र (केतकर)—१८
भारतीय नृत्य—४७१
भारतीय नृत्य कलामन्दिर—५२०
भारतीय रंगमंच—४७६-८०,४८५
भारतीय रंगमंच का विकास (सक्सेना)—
४६८
भारतीय रंगमंडप—१०६
भारतीय लोकधर्म—७२
भारतीय लोकनाटच—४८२-८५
भारतीय भाषा—२८६
भारोपीय—३२६
भारतचन्द्र—४६३

भारतेन्दु—१२६,१३१, १३४,१३८, १४०, १४१,१४३,२०४-५,४८६,५२०
भारतेन्दु नाट्य मण्डली—४६८
भारवि—२७६,२८२,३७७
भारतेन्दु नाटकावली—१२६, १३६, १३६, १४३
भाव—३३-३८, ४१, ६४,२०६, २३८-४०, २४६-२६३,४०२,४०७-८,४७५
भावन—२४६-५०
भावना व्यापार—२३५-३६
भावप्रकाशन—८,१०, ११,३७,५०, ५६,६५, १०४,१२६, १३२, १४५, १५०, १७४, २७७,३०१,३४१
भावप्रगल्भा—२०३
भावप्रदर्शन—३४७-४८,४१६-१७
भावाभास—२४१
भाविक—४७५
भावित—४७४
भावोन्मत्ता—२०४
भावोपचयवाद—२३२
भाषण—१७६
भाषाकवि—१०३
भाषिक—१७७
भाष्य—४६
भास्वर—१२६,१५७
भिन्नार्थ—२७८-७६
भित्ति—६२,१०३
भास—२५,३२-३३,७४,१०६, ११५, १४०, १५६,१६७,२०६,३०२,४४७,५०६
भीम—१५७,२४१
भीमविक्रमविजय—१४०
भीमवर्मा—२६१
भीष्मवध—१६५
भुक्तिवाद—२३२, २३५-३६
भुजंग प्रयात—२६,२६७
भुजंग विजृम्भित—२६८
भुवनाभ्युदय—५५,
भुवनेश्वर—४७२
भूमिका (अभिनय)—३०८-१६, ४५०-५२
भूम्यासन—३७५
भेद—१६६,१७६
भोग—२३५-३६
भोगिनी—१६६
भोग्या—२८८
भूषण—२७०
भोज—२०, २१, १४५, १४६-५३, २१८, २३७, २४०, २४८, २६६, २७२, २७६, २८१-८२, २८६, ३६२-६४, ४११, ४२५, ४३६, ४४०, ४४४-४५
भोर का तारा—४६०
भोसले—४६०
भौमी—३६२
भ्रम—२४६
भ्रमर—३५६, ३५८
भ्रमरमालिका—२६८
भ्रान्ति—१७५, २७५
भ्रू—३५१, ४०२
भ्रूकुंस—३१३, ३७४
भृगु—१०४

म

मंकद—८६, ८७, ६१, ६६, ६८, १०८, १११, ५१५
मंजरी—१०७, ३१३, ३४१, ४७५
मंडनशिल्प—५१६
मंडपम्—५०४
मंडल—३२२-२३
मंत्री—४१, ३८८, १६४
मंदाक्रान्ता—२६, २६७
मंदिर—३८१
मंद्र—२६७, २६१-६२, ४६४
'म' चिह्नित (पाण्डुलिपि)—२२
मकर—३५६
मकरशीर्षा—२६७
मगध—१२५
मजुमदार, बी० सी०—२६
मणिकुल्या—१५४
मड़वे का भोर—४६०
मत्तचेष्टित—२६७
मतंग—४६१-६२-६३
मत्तवारण—८६
मत्तवारणी—८६; ८८-६१, ६६, १०३,१०८
मति—२४६, २५७
मत्स्य—१०३, १०४
मत्स्यगंधा—४६०
मत्स्य पुराणाज स्टडी : वासुदेवशरण अग्रवाल—४८१
मद—१७६, २११, २५४, २६७
मदनातुरा—२००

मदनिका—१०६
मधुर—१८८, २८१-८४
मधुरा—४२६
मधुसूदन सरस्वती २२६-३०
मध्यम—४१, १४५, १५३, १८६, १९२, २९१, ३९८
मधुकैटभ—४२८
मधुकृष्ण—५०२
मध्य—८५, २६७, ४६४
मध्या—२०३
मधुसूदन—४९५
मध्य एशिया—३२
मध्य वयसा—३७३
मध्यम व्रीडिता—२०४
मध्यस्थ—४०७
मध्यम व्यायोग—१४०
मध्यमा—१९७, २०२-३
मध्यलय—३०३-४
मनःसौष्ठव—२०१
मन—४०६-७
मनुष्यसत्वा—१९७
मनुस्मृति—३२४-२५, ३२७-२८, ३८८, ४२७
मनोरंजन भट्टाचार्य—४९५
मनमोहन घोष—१४, १८, १९, २१, २६-२७, ३१, ८१-८२, ८६-८८, ९८, १४१, २२०, ३३४, ३६३, ३७०, ३८५, ३८६-८८, ३९७, ४०५, ४११
मनोरमा—३१३
मनोरथ—२७०
मनोविश्लेषणवाद—४०८-९
मनोवैज्ञानिक—१५६, १८८
मन्मथ राय—४९५
मम्मट—५४, २१८, २४२, २७६-७७, २८१-८७
मय—१०४, १८९
मयूर—५४
मयूरासान—३७५
मयूरसारिणी—२६८
मरण—२४६-४७, २८७, ४२०
मराठी रंगमंच : आरम्भ : उत्कर्ष : पतन (केलकर)—४९१
मराठी—४८८, ५२०
मराठी रंगमंच—४८८-९२
मराठी थियेटर ४९१
मरुत—६
मर्चेन्ट आफ वेनिस—४००
मर्त्य—१५९
मलय—४४२, ४४३
मलयवती—२४३
मलयालम्—२१, ५०३
मलिना—३४९, ३५१
मल्लिका—१५४, २९०
मल्लिनाथ—३७८
मस्तकी—३८९-९०
मह—७२
महर्षि—२८९
महाग्रामण्य—२६, २७, ७९
महाचारी—२९९, ३०३
महादेवी—१९८
महाभारत—४५, ६६, ७२, ७४, ७८, ८०, १२५, १८१, ४५०, ५१९
महाभारत पूर्वार्द्ध—४९८
महाभाष्य—२५, ३२७
महाभोग—५१४
महामाया—१६६
महारस—५१४
महाराज लक्ष्मण सेन—४९२
महाराणा प्रताप—४९२
महाराज—२८९
महाराष्ट्र—३१, ४४२, ४९०-९१
महाराष्ट्री प्राकृत—२८८
महार्थ—२८२
महावंश—६, १२
महावीर—८१
महावीर चरित—३१८, ३३०
महाव्रात्य—६६, ६९, ७२
महिमभट्ट—५६, २७४, २८१, २८३
महेन्द्रराज—२३
महेन्द्र विजयोत्सव—६, १२
माइकेल मैकोविन—५१८
माइकेल मधुसूदन दत्त—४९५
महेश्वर—२६
मागध—६९, ३८७
मागधी—२८८-८९, ४६५
माघ—२७६, २८२
माणिक्य चन्द्र—५४, ५६, ५९
मातलि—३६९
माणिक्य वल्लिका १५४
मातृगुप्त—८, ५६, ५७, ५९, १२२, २११

२६६, ४०३, ४१६
मातृका—४७२
माधवशुक्ल—४६८
माथुर—४६०,
माधवराव पत्नाकर—४६०
माधुर्य—१६६, २१०, २८०, २८३, २८५-८६, ४१३
मानमयी गर्ल्स स्कूल—४६५
मानमृदु—२०२
मानसार—१०४
मानसिक—४२८
मानापमान—४६१
मानिनी—२००
मानुषी सिद्धि—३३३-३४
मामा वरेरकर—४६०-६२, ५०६
माया—१७६
मायार खोल—४८४
मार्ग—१०६, १५६-५७, १७२, ३६५, ४४८, ४६८
मार्क्स—४६६
मारिष—३३
मार्कण्डेय पुराण—८०
मारीच—१८१, २८६
मारीचवध—१५२
मार्कण्डेय पुराण—८०
मार्गासारित—२६८
मालती—१६७,२६७-६८
मालतीमाधव—१३२, १६७, ३१३, ३१८-१६, ३३०-३२, ३३६
मालव—१२५, १२७, ४४३
मालविका—४७५
मालविकाग्निमित्र—३२, ३४, ७३, १०३, १०६-७, १२३, १८४, २६०, ३३२, ३३६-४०, ४४२, ४६०, ४७४, ४७५, ४८०, ४८२
मालाधारण—३८१-८२
मालायमक—२७५
मालिनी—२६, २६७-६८
माल्यकृत—४१, ७०, ३२३
माहेश्वर—२६
मित—२८४
मिताक्षरा—३५
मित्र—२६
मित्रा—२६१
मिश्र—१५२, १५६, १६१, ३३७, ३६४
मिश्रप्रकृति—१६०
मिथ्याध्यवसाय—२७०
मिथिला—४६६
मिरर आफ गेस्चर—३४६-४६, ३५७-५६
मिलिंद—४६६
मुकुन्ददास—४८३
मुकुलकर—३५८
मुकुला—३४६
मुकुट—३८१
मुकुटकर—५१८
मुक्तक काव्य—२७२
मुख चपला—२६६
मुखज—३५७
मुखराग—३५०-५२
मुखसंधि—१४२-४३, १५०, १५३, १६४, ३५१
मुखसंदंश—३५७
मुख्य—१६२
मुखौटा—४८५
मुग्धा—२०३, २०८
मुंजासन—३७५
मुदिता—२०८
मुद्रा—२८३
मुद्राराक्षस—७७, २८६, ३२१-२२, ४६७
मुनि—३८६
मुन्नाबाई—४८७
मुरज—४६६
मुस्लिम शासन—४४८
मूर्च्छा—२६०, ४२०
मूर्ति—३८१
मूर्तिकला—५११
मृगी—२४७
मृच्छकटिकं—७८, १०६, ११५-१६, १३१, १६७, २०७, २८६-६१, ३१५, ३१८, ३२१, ३२८, ३७६, ३६०, ४१३, ४६०, ४७४, ४८०
मृत्तिकापुर—४४३
मृदंग—४६६
मृदु—४६४
मेघदूत—१०५, ३८६
मेनका नहुष—१५०
मेनकाहित—१५१
मेपोल—७५
मेरीफिटन—४८७

मैकडोनेल—२१
मैक्समूलर—६७
मैथिली—४८१-८३, ४८५
मैथुनिक नृत्य—६८
मैनागुर्जरी—४८८-८९
मोक्ष—२४२-४३, ३३१
मोक्षकाम—२३७
मोक्षादित्य—१४०
मौखिक काम—४०९
मौग्ध्य—२११
मोहायित—२१०
मोतीराम गजानन रांगणेकर—४९१
मोहन राकेश—४९९, ५२०
मोह—२४७, २५४, २६०
मौर्वी आर्य सुबोध नाटक मंडली—४८८
म्यूज़ियम थियेटर—५०१

य

यक्ष—२६
यक्षगान—१५५
यक्षिणी—३८४, ३८६
यजुर्वेद—६३, ६६, ६८, ६९, ७०, ७९, ८०, १०२, १११, १२३, ४७९
यति—३८९, ४६५
यतिदोष—२७८
यतिभेद—२७९, ३३६
यमक—२८, २७६
यमयमी—६७
यमनिका—११०, १११
यवन—३०, ३८७, ४४२
यवनिका—१०५, १११, १४८, १८२, ३०६, ४८०, ४८७, ५०५
यशपाल—४९९
यशोवर्मा—२८२
याज्ञवल्क्य स्मृति—३४, ३२५, ३२८, ३५७
याज्ञिक—८८, ९०, ४९०
यात्रा—६७, ७२, ४४८, ४८३-८४, ४९२, ४९६, ५१९
यान—३८७, ४५१
याज्ञवल्क्य स्मृति—३४, ३२७
याज्ञिक—८८, ९०
याञ्चा—२७०
युक्ति—१९९, १७५, २७०
युवती—३९३
यूरोपीय—५१३
योन्यन्तरी—२८८
यौगन्धरायण—१६७, ३१२
यौवनवती—२०३

र

रंगजीवी—३२८
रंगद्वार—२९८, ३०२-३
रंगनायिका—३२५
रंगाचार्य—३२५
रंगपीठ—८६, ८७, ८८-९२, ९७-१०१, १०६-८, १११, ११४, ३०३-४, ४५२, ५१६
रंगप्राश्निक—४२, १०३
रंगभवन—४८०
रंगभूमि—१०५, १०६, ४८९
रंगमंच—११३
रंगमंडल—४८९
रंगमंडप—१०२-११३,
रंगशाला—२९७, ३९८
रंगशिल्पी—३१७-३३१
रंगशीर्ष—८६-९२, ९७-१०१, १०६-१०८, १११, ११४, ५१५
रंभा—४७५
रक्त—३५०, ३८६-८७
रघुवंश—१८, ३४, ११३, २१२, ३९३
रज—८५
रजक—४१, ६९, ८०, ३२३
रणछोड़ भाई उदयराम—४८६, ४८८
रणधीर प्रेममोहिनी—४९७
रति—२४२, २५३
रतिप्रगल्भा—२०३
रतिवामा—२०३-४
रत्नावली—८, ७९, १०७, ११३, ११५, १३४, १६५, १७७, १९१, २०९, ३१२-१३, ३१८, ३२१, ३९०, ४६०, ४७४, ४९४
रत्याभास—२४१
रथयात्रा—४८३
रथारोहण—३७९-८०
रथोद्धता—२६७
रदनिका—३३, २९०
रमणभाई—४८८
रमणलाल देसाई—४८९

रविशंकर--५१६
रवीन्द्रनाथ ठाकुर—४८४, ४६४-६५, ५०६
रवीन्द्र भवन—५२०
रस—३४-३८, ४१-४२, ६४, ६६, २१७-२४८, २८७, ३६७-६८, ४०१, ५१४
रसकलिका—(रुद्रट)—२८६
रसगंध—४०६
रस दृष्टि—२१७-२१८, ३४६-५०
रसनिष्पत्ति—२३२-२३६
रसवत्—२८७
रसपेशलता—१७७
रसमंजरी—२०८
रससिद्धान्त—२३०, ३१६, ४१४-१५
रसानुभूति—२३६-३८
रसानन्द—२२३
रसाभास—२२५-२६, २४१
रसाभोग—२३५-३६
रसावियोग—२८६
रसास्वादन—२२३-४
रसार्णव सुधाकर—८, ३७, ५०, ५१, ६५, १३२, १६१, १७४, २७७, ३०१
रसोदय—२३८-४०-४२, २५८
राक्षस—१६७, ३८४, ३८६, ३८६
राघवभट्ट—२०, ५६, ५७, २६६, २७०
राघवन्—५४, ५७, ८६-६०, १३२, २७६, ३६५
रागशास्त्र—५१६
रागप्रवर्तन—४५३-५४
राघव विजय—१५२
रागविबोध—४६४
राघवाभ्युदय—१६१
राजतरंगिणी—५२, ५४, ५६
राजप्रश्नीय—७५, १४६
राजानक कुन्तल—५७
राजमहिषी—१०४
राजशेखर—७७, १०३, ३८०, ४२५, ४८१
राजर्षि नायक—१२७, १३६
राजपुत्र—३२८
राजमन्नार—५०२
राजा—१०३, १०४, १६१, १६४, २६०, ३८६, ४४०-४४२
राजानक कुंतल—५७
रात्रि—४१०-११
राज्य श्री—२६१
राधावरणगो स्वामी—४६७
राधेश्याम पाठक—४६८
राम—७४, १२५, १५७, १८७, १८६-६०, २३४, २४२, २८४, २६०, ३७८, ३६५
रामकथा—१५८, १६१, १८७
रामकुमार वर्मा—२८६, ४६०
रामकृष्ण कवि—१६, २१, ३१, ५०, ५७-८, २६६, ४६६, ५२०
रामगढ़ गुफा—१०६
रामगुप्त—१६७
रामगोपाल—५०४, ५१६
रामचन्द्र शुक्ल—२०८, ४६३, ४६७
रामचन्द्र—१४०
रामचन्द्र गुणचन्द्र—१२७, १२६, १३४-३५, १३६, १४६, १४६, १५५, १५७, १६०-६१, १८२, १६०-६१, २०२-४, २१८, २२५, २२८-२६, २४२, ३६४, ४११, ४३५, ४६६
रामचरित मानस—४८३
रामदयालु सिंह कालेज—४६६
रामदास—४८५
राम नगर—४८३
रामनाटक—७५, १०३, ५०१
रामपरशुराम—४३५
रामवृक्ष बेनीपुरी—२८६, ३१४, ४६०, ४६६, ५२०
रामभक्ति—४०६
रामस्वामी शास्त्री—१७, २३०
रामाभ्युदय—२८२
रामराज—५०२
रामलीला—७२, ७५, ४२३, ४४८, ४६६, ५०५, ५१६
रामलीला नाटक मंडली—४६२, ४६८
रामाक्रीड—१४८
रामानन्द—१५२
रामाम्प्रदय—४३५
रामायण—७, ७४-७६, ७८, ८०, १२५, १८१, २६७, २७६, २८१, ३८६-८७, ४११, ४३३, ४७६, ४८१-२, ४८५, ५१६
रामायण नाटक—१०३, ३३०
रायल ऑपेरा हाउस—५००
रावण—७७, १८७, १८६, १६८, २४१, २६०
राष्ट्रीय रंगमंच—५०४-५०८, ५२१
रास—४७४, ४८२

रासक—१४८, १४९, १५१, १५३
रासलीला—४४९, ४८३, ५०५, ५१९
राहुल—८, २११, ४०३
रिजवे—७९
रीति—२६९, २७५, ४२७, ४४०
रीतिकालीन—२७६
रीति काव्य की भूमिका—२०७
रुक्मिणी—१५५, ४९२
रुक्मिणीहरण—१३५, ४९२
रूपक रहस्य—१२९, १४०, १४१, १४३
रूपाजीव—७०, ३२८
रूपानुरूपा प्रकृति—३१९
रुद्र—१७३, ३८७
रुद्रट—२०७, २७३ २७७, २८६, ४२६
रुद्रदामन—३१, २७६
रुद्रभट्ट—२२६, २४२
रूढि—५३
रूप—१७२
रूपक—२८, ४१, ८१, १२३-२४, १४८, १५०, १५१, १५५-५७, १६७, २७०, २७५-७६, ३०९
रूपगोस्वामी—२०४
रूपदर्शन—४०६
रूपक रहस्य—१४७, १५०
रूपात्मक—३९६
रेचक—४०२, ४७१-७२
रेचित—४६४
रैप्सन—३४
रेलिजन एण्ड साइकोलाजी—७४
रोग—२६०
रोमांच—२४६, २५६, ५१७
रोष—२६०
रौद्र—१४०, १७७, २४०, २४१, २४६, २६८, २९१-९२, ३५०, ३६८, ३८७
रौद्रा—३४९

ल

लक्षण—२०, २१, ४३, ५७, १८५, २१७, २६९-७४, २८६-८८, ५१७
लक्षण (भरत, भोज, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ और सागरनन्दी)
लक्षणयुक्तता—४५०
लक्षिता—२०८
लक्ष्मण—१४१, २२९
लक्ष्मणस्वरूप—२१
लक्ष्मी—२६
लक्ष्मीकांत नाटक समाज—४८८
लक्ष्मीनारायण लाल—४६०, ४९९, ५२०
लक्ष्मीनारायण मिश्र—४९९, ५२०
लक्ष्मी स्वयंवर—६, १२, १६५, ३२९
लघु—२६६-६९, २८२, ४६५
लज्जा प्रायरति—२०८
लटकमेलक—१४२
लव इज़ द वेस्ट डाक्टर—४९३
लय—४२, १५०-१५५, ३६६-६७, ४६१, ४६५
लयात्मकता—३६७
ललित—१२९, १५३, १५४, १५७, १९६, २१०, ४०२-३, ४२६, ४८४, ५०५, ५१९
ललित कलादर्श—४९१
ललितदुःखदर्शक—४८८
ललित विन्यास—४५२
ललित विस्तर—७५, ३२९
ललिता—१९७
ललितोद्धत—१५४
लॉज आफ संस्कृत ड्रामा—१९८. ४३९
लॉ आफ द ड्रामा (ब्रनेटियर)—४०१
लाक्षा—३८०-८१
लाटानुप्रास—२७६
लाटी—४२६
लाटीया—४२७
लायल्टीज—४००
लाला श्रीनिवासदास—४९७
लासिका—३२५
लास्य—६३, १४९, १५५, १७७, ३०६, ४७१-७२
लास्यांग—४४, १४४-४५, १५०, १५२, १७७-७८
लिंग—७४
लिंग भिन्न—२७८
लिंगिनी—३२५-२६, ३७४
लिट्ल थियेटर—४९२
लीला—४०२-३
लीलानाटक—४७४
लुब्धा—२००
लेख—१७६
लेखक—४२
लेवडेफ—४९३

लेश—२७०
लैंगिक काम—४०६
लैंगिक नृत्य—७३
लोकधर्मी—४१, ११४, ११७, ३५५, ४४६-५५
लोकधर्मी रूढि—४५३-५४
लोकनाट्य—४२१-२२
लोकवृत्त—४४६
लोकस्वभाव—४५२
लोकात्मकता—४११
लोचनकार—४२६
लोचनटीका—५५
लोलित—३४८
लौकिक—१०२
लौकिक प्राणी—४१५
ल्यूडर्स (प्रोफेसर)—७६

व

वंश—४६८-४६६
वंशी—४६८-४६६
वकुलवीथी—१४५
वकुलावलिका—३४
वक्रोक्तिजीवित—५७, २७६, ४४२
वक्रोक्तिरूप—२७२
वक्रपाणि—२६२
वचनविन्यासक्रम—४२७
वचनविहीन—२७८
वज्र—१७२
वणिक्—१०४, १३३, १४१, १६१, ३८६
वत्स—१२५, ४४३
वत्सगुल्म—४४२
वत्सरेश—१६७
वत्सराज—१३६, १४०, १६५, ३१३
वध—१७६
वधू नाटक संघ—७६, १०२
वस्त्र—३६४
वयस्—३७१
वयस्य—२६०
वयोमुग्धा—२०३
वरण्ड—८६
वरदाचार्य—१४४
वराह—२६
वराहावतार—१५४
वरुण—३८७
वर्गाकार—८६
वर्धमान—१४६
वर्धमानक—४१७
वर्ण—३८६-८७, ४६१
वर्ण संहार—१७२
वर्मा—२६१
वर्षा—४१४
वल्लभदेव—५४
वशिष्ठ—१०४
वशिष्ठ पुत्र पुलोमयी शिलालेख—३०-३१
वसन्त—४११
वसन्त तिलक—१४४
वसन्त सेना—११३, १३१, १६७, २०६, २६१
वसुमती—३४
वस्तु—१३२, १३४, १३५, १५२
वाक्य—४०३, ४०४, ४३३-३४
वाक्यपदीय—४३०
वाक्याभिनय—४०३-४
वाग्भट्ट—१४६, १६०
वाङ्मयी सिद्धि—३३३-३४
वाचिक—३४, ४१, १०८, १२३, २५०-५२, २६५-६२, ३३३, ३४६, ३६४ ६६, ४०४, ४२८, ५१६
वाचस्पत्य तारानाथ—३७८
वाजिद अली साह—४६६
वाण—५४, ३१४
वाणीभूषण—२६७
वात्स्य—५०-५१
वात्स्यायन—२८, ४६, १४६
वादरायण—८, ५१, १५०
वादी—११६, ४६२
वाद्य—४२, ३०५-६, ४६८-७०
वानप्रस्थी—२८८
वामन—२६, ६८, ८०, १०३, २२६, २७४-७५, २७७, २८२-८५, ३७६, ४२६
वामनभट्ट—१४४
वामनावतार—१५४
वायु—२६
वारविलासिनी—१०४
वारांगना—४०८
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय—१२०-२३
वार्तिक—५७, ३१३
वार्तिक तंत्र—१४६
वाणकाव्य—३६३

वालिवध—१५३
वाल्मीकि—७, १०२, १५५
वाल्मीकि प्रतिभा—४६५
वासवदत्ता—१०७, ११५, ११६, १६१, १६५, १६७, २४२, ३६०-६३, ४१६
वासक सज्जा—१५०, १५४, १७६, १६६
वासुकि—२६, ११५
वासुदेव—१०४, १५६
वास्तु—७८, १०४
वासुदेव शरण अग्रवाल—६, ४२, ६४, ७२, १४४, ३२७, ३३०
वाह्लीक—२८८, ३८७, ४४३
विकलहस्त—३५४
विकस्वर—३५१
विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी—४८७
विक्रमोर्वशीयम्—६, ७, २०, ३२, ३४, १४६, १६४, १७६, १८६-६०, ३०२, ४६०
विकृत—२११
विकृष्ट—८५
विचलना—१७६
विचित्र—३८५, ३८६
विचित्रपदत्व—२८२
विचित्रपदा—४७४
विचित्र सुरता—२०४
विच्छित्ति—२१०, ४०२
विच्छेद—२६२
विक्षेप—२११
विजया—३४, ४१६
विट—३३, ११५, १३३, १४२, १५१, १५३-५४, १८२, १६५, २२५, ३७१
विडिश्च—७५
विडम्बित—६८, १०६
विंदुमती—१५३
वितत—३८१
वितर्क—२५७
विदग्धा—२०८
विदर्भ—४४२
विदिशा—४४३
विदूषक—४१, ७१, १०६-७, ११६, १३०-३३, १४२, १४६, १५३-५४, १६५, १६५, २६०, ३०२, ३२५
विदेशी रंगमंच—४६३-६४
विदेह—४४३
विद्धशालभञ्जिका—३२०, ३२४
विद्यानाथ—१२६, १६०-६१
विद्यापति—३७१, ४७३, ४६६
विद्याविनोद नाटक समाज—४८८
विद्यासुन्दर—४८३
विद्युल्लेखा—२६८
विधुन्माला—२६७
विद्रव—५४, १३५, १७३, १७७
विधान—१६६
विधायक भट्टाचार्य—४६५
विधि निषेध—१२६, ४७५
विधूत—१७१, ३४८
विनोदन—४००
विन्टरनित्स—२६, ७१
विन्यास—१५४
विपरीत भूमिका—३१३-१४
विपर्यय—३७२-७३, ४५०
विपर्ययवाद—२८०
विपुल चपला—२६६
विप्र—१३२, १४१, ३८६
विप्रकीर्ण—३५३
विप्रकृष्ट—८५-८८, ६०, ६८
विप्रदास—२८६, ४३१, ४३५
विप्रलम्भ—२४१, २४४-४५, ३८५-८६
विप्रश्निका—३८५-८६
विबोध—१५४, १७५, २५६
विब्बोक—२१०, ३५०, ४०२
विभक्ति—२७६
विभक्तिभिन्न—२७८, ३३६
विभाव—२४१, २४६-४७, २५०-५२, ४१५
विभीषण—१६०
विभ्रम—२१०, ४०२
विमर्श संधि—५५, ११२, १६५-६७, १७३-७५
विमान—३७०-७१, ३८७, ४५१
वियोगिनी (वेश)—३८५-८६
विरंचिकुमार बरुआ—४८५
विरक्ता—२००, २०३
विरहोत्कंठिता—१६६
विराम—२६२, ३५५
विराट पर्व—७६
विरुद्ध अभिहित—२७६
विरूपा प्रकृति—३११-१२
विरोध—१७५
विलंबित—२६१

विलंबित गति—२६
विलपित—७५, ४६५
विल्सन—१४, ४६४
विलाप—४०४
विलास—१७०, २१०, १७७, १६६, ३५०
विलास विन्यास (क्रम) ४२५, ४४०
विलासिका—१५३
विलियम जोन्स—१४
विलोभन—१६६
विवरण—५८
विवर्तित—३७५
विवर्णता—२४६, २६०-६१
विवादी—४६३
विशालाक्ष—१०४
विशुद्ध काव्य—१५१
विश्रान्ति जनन—४००
विश्वकर्मा—१०४
विश्वनाथ—११, ३६, १२६, १३४-३५, १३७, १४०-४१, १४६, १४६, १६१, १७५, १६०, १६२, २०४, २१८, २२४, २२६, २४२, २६६-७०, २७२, २७७, २८३-८४, २८६, ३०२, ३२५, ३६२, ३६५, ४०२, ४४१, ५१५
विश्वभारती (पत्रिका)—४४३
विश्वामित्र-नदी—१७
विश्वेश्वर—१८, ८७
विषम—२६, २६७, २७८-७६
विषय—४०५
विषस्य विषमौषधम्—१४४
विषाद—२५६, २६०
विष्कंभक—१३३, १३६, १५३, १८२
विष्णु—२६, २७, ६४, ७४, १३५, ३८६, ४२८, ४७५, ५१२
विष्णुदास भावे—४६६
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—२८, ३४, ३५, १०३, १३४, १४६, ३८६, ५०५
विष्णु प्रभाकर—४६६
विष्णु स्मृति—३८८
विसंधि—२७८-७६
विसर्ग—२६२
विस्मय—२४१, २५४, २६०
विहस्तत्व—३३६
विहृत—२१०, ४०२
वीणा—४६६, ४७५, ५१२
वीणावती—१५४
वीणावादक—६६
वीणावादन—५६
वीथी—८१, १४४-४६, ४३७-३८
वीथ्यंग—१४२, १४५, १५१
वीभत्स—१३८, २४०, २४७, २६१-६२, ३६८, ३८७
वीभत्सा—३४६
वीर (रस)—१२०, १४०, १४३, १८७, २४०-४२, २४६, २६८, ३५०, ३८७
वीर अभिमन्यु—४६८
वीरक—२६१
वीर काव्य—७१, ७६, ८०, १८६, ५११
वीर विजय—१३७
वीर रस—४५, १२७, १४०, १४३, २६१-२६२, ३६८, ४०१
वृंदावनदास—४६२
वृत्त—१३६, १८६, २६६-२६६
वृत्ति—३७, ४२, ४३, १४४, १४८, १७८, २६६, ४२५-४३८
वृत्यंग—४३७-८
वृत्तरत्नाकर—१६, २६७
वृद्ध—४२१
वृत्रोद्धरण—१३६, १५८
वृद्धा—२७३
वृषभ चेष्टित—२६
वृहती—२६७
वृहस्पति—१६, ४६
वेणी आचार्य—११६
वेणीसंहार—१२६, १५६, १६१, १७१, ३२४, ३३२, ४३१
वेणुदल—३८०-८१
वेणु—४६८, ५१२
वेत्रासन—३७५
वेदना—३५०
वेद—४७, ६३, ६७-६६, ७०, ७१, ५११, ५१३
वेश—४३३-३४
वेपथु—२६०-६१
वेशकर—३२३
वेषविन्यास—३८८-६०, ३८१, ३८४-८५, ४४०
वेष्टित (म)—३७६-८१
वेश्या—१३१, १३३, १३५, १४२, १६८, २००, २०३ २०७, २८८, २६०, ३४०
वैकृत—१४२-४३

वैदिक—५, ६८-७१, २६७, २८८
वैदिक कोष—५
वैणव—३६३
वैराग्यशतक—३३०
वैशिक—४१, १९२-९३
वैश्य—२९१, ३८७
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—१४३
वैदिक साहित्य और संस्कृति—७३
वैष्णव—६६, ७२, ७६
वैष्णवस्थान—३०४, ३६३
व्यक्तिविवेक—५६
व्यङ्ग्य—१४१, १४३
व्यञ्जन वर्ण—२६५, ३२७
व्यभिचारी (भाव)—२४१, २४५-४८, २५०-५२, २५४-५७
व्यवसाय—१७४
व्यवहार—४२५, ४२८
व्याकरण—५११
व्याघात —२७७-७८
व्यायाम—२६०
व्यायोग—८१, १३७, १३९, १५६
व्याहृन—२७८
व्रजवासीदास—४८२
व्रतधारिणी—३७४

श

शंकरदेव—४८२, ४८५, ४९६
शंकरन्—५८, ६४
शंकर वर्मा—५६
शंका—२४५, २४६-४७, २५४
शंकिता—३४९
शंकुक—२४, ५४, ५९, १४५, २१८, २३२-३४, २३६, २५६, ४०१, ४०४, ५१५
शंख—४६९
शक—३०, ३१, ३८७
शक क्षत्रप रुद्रदामन—३०, ३१
शकराज—४१३
शकलीगर्भ—५३, ५८
शकार—२८९, ३२५, ३७१
शकारी—२८९
शकुन्तला और द फैंटल रिंग—१४
शकुन्तलोपाख्यान—४५०
शाकुन्तल—४३१
शक्तिसंगम तंत्र—१९६, २११
शक्ति—१७४
शचीन्द्रनाथ सेन गुप्त—४९५
शठ—१९२
शतपथ ब्राह्मण—४७, ६८
शतानीक सत्राजित्—५
शबरी—१६१
शब्दगुण—२८३-८७
शब्दच्युत—२७९
शब्दलक्षण—२९
शब्दविधान—२६५
शब्दव्यापार—२७२
शब्दवृत्ति—४२७
शब्द श्रवण—४०६
शब्दालंकार—२७५-७७
शम – २४२-४४
शम्बुक वध—५०२
शम्या—१४९, १५४, १५५
शरत्—४१४
शर्मा—२९०
शर्मा-पणिस्—६७
शस्त्रमोक्ष—३६३
शस्त्र संपात—२४६
शशिविलास—१४२
शशांक कविराजु—५०२
शाक्त—७२
शाक्य—३८९
शांखायन आरण्यक—६९
शाखा—४०३-४
शांतरस—१८, १९, २३, २४२-४४-४८, ३६८
शांति—४९४
शांतिपर्व—३२८
शाण्डिल्य—५०, ५१
शातकर्णि—८, ५१
शारदा—४९०
शारदातनय—९, ११, ५६, १२९, १३४-३५, १३८-४५, १४९-५३, १७५-८२, १९१, २०४, २१८, २४२, २७०, २८९, २९९, ३२५, ४३७, ४४१, ४६७
शारदीया—४८५, ४८७
शारिपुत्त प्रकरण—२७, ३२
शारीर (अभिनय)—४०३-४
शारीरी सिद्धि—३३३-३४
शार्ङ्गदेव—८, २४२

शार्ङ्गधर—४०७, ५०२
शार्ङ्गधर पद्धति—५४
शार्दूल विक्रीडित—२६७-६८
शालभञ्जिका—१०३
शालिनी—२६७
शास्त्र—३८७
शास्त्र वाध्य—४०५
शास्त्री रामस्वामी—२२
शास्त्री एस० एन०—१९२, ३३९
शास्त्रीय—४७४-७५
शिखण्डक—३८५
शिखरिणी—२६७-६८
शिङ्गभूपाल—८, २०, १२६, १२९, १३५, १३९, १४१, १४५, १६१, १८३-८४, १८८, १९३, २००, २०२, २०४, २१८, २८९, ३२५, ४११, ४३४, ४३७
शिर (अभिनय)—२४८-४९, ३४८, ३८९-९०
शिर —२९१
शिलावेश्म—१०५
शिल्पक—१४८, १५१-५२
शिल्पकारिका—१९७, २८८, ३२५
शिल्परत्न—१०४
शिल्पी—४२
शिलालिन—३८
शिलादित्य—५०२
शिव—२५-२६, ६४ ७२-७४, १७९, ३०६, ३२९, ४३३-३४, ४७१, ५१२
शिशिर—४११
शिशिर कुमार भादुरी—४९४-९५
शिवदत्त शर्मा—१६
शिवनन्दन सहाय—४९७
शिवाजी—४९४
शिष्ट—३९४
शीत—२९०, ३५०
शीतला प्रसाद त्रिपाठी—४९७
शुक तुण्डी—३५४-५६
शुक्लाभिसारिका—२००
शुद्ध—१४१-४३, १९१, २४७, ३८५, ३८८, ३८९, ४७१
शुद्ध पूर्वरंग—३०५-६
शुन:शेप—६८
शुभ्र—३८७
शुश्रूषा—१७६
शुष्कावकृष्ट—२९९, ३०३
शूद्र—३८७
शूद्रक—२५, ५०, २०९, ४४७, ४८०, ५०६
शृंगार—१३५, १४३-४५, १७७, १८७, २४०-४५, २४७, २६८, २९१-९२, ३५०, ३८७, ४०१, ४३३-३४
शृंगार काम—२३७
शृंगार तिलक—१४४, १५१, २४४
शृंगार प्रकाश—१४६, १४९-१५४, २२५, २२९, २४०-४१, २४८, २७२, २८०, ३८७, ३९४-९५, ४११, ४३३, ४३९, ४४०, ४४४
शृंगार भूषण—१४४
शृंगार सर्वस्व—१४४
शृंगार हाट—१४४
शेक्सपियर—८१, ३१४, ४००, ४९०, ४९३-९४
शेष रक्षा—४९५
शैथिल्य—२८०
शैल—४५१
शैलगुहाकार—९७, १०१
शैलूष—६८, ७०, ७६, ८०, १०२, ३२५-३२७
शैव—७६, ७३, ७६, १४१-४२, ५१२
शैव्या विलाप—२२९
शोक—२४३, २४६, २५३
शौरसेन—३८७
शौरसेनी—७५, १५३, २८८-८९
श्मश्रु—३८८-८९
श्याम—३५१, ३८७
श्यामली—४९६
श्यामसुन्दरदास—१२९, १३८-३९, १४१, १४३-४४
श्यामा—४९५
श्रम—२४५, २५५, २९०
श्रमणक—२९०
श्रान्ता (दृष्टि)—३४९
श्राडर—६८
श्रीकृष्णदास—४८९
श्रीगदित—१४९, १५२
श्रीदल—४८३
श्रीधरा—२९, २६७
श्रीनिवासराव—५०२
श्रीमद्भागवत—८०, ४८३, ४८५
श्रीनारायण राव—५०३
श्रीमती कार्गिल, व्रिस्टो—४९३

श्रीरंग—५०३
श्री हर्ष विक्रम नराधिप—५७, ५६, १५०
श्रतिदुष्ट—२८१
श्रतिसुख—२८२
श्रेष्ठी—१३१
श्रौतसूत्र—४८
श्लेष—२८०, २८३
श्लोक—४४, ४५
श्वापद—४१४
श्वेत—३८७

ष

षट्पदा—५४
षड्दारुक—८८, ८६, ६६
षड्ज—२६१, ४६२
षिद्गक—१५२
षोडशी—४६५

स

संकर—१४३
संकीर्ण—१४१-४२
संक्षिप्त—४३५
संक्रान्ति - ४७५
संगली—४८६
संगीत—४२, ४८, ४६८, ४७५, ५११
संगीत नाटक—४६६
संगीत नाटक अकादमी—४६६
संगीत प्रधान—४८१
संगीत मकरंद—४६६
संगीतराज—४६४
संगीत रत्नाकर (कल्लीनाथ)—८, ६, ३७, ४०, ४२, १०४, १५५, २८२, ३४१, ४६४-६५
संगीत शकुन्तला—४६०
संगीतशाला—१०४
संगीतशास्त्र—४६६
संगीत सुधाकर (हरिपालदेव)—२२६
संगीत सुभद्रा—४६०
संग्रह—४६, १७३
संघात्य—३१, ४३२
संचारिका—१६६
संचारी—४२
संचारीभाव—२३२, २४४-४५, २५२, २५४-५८
संजवन—८६, ६६, ५१५
संदष्ट यमक—२७६
सदेश—४०४
संत तुकाराम—४६०
संदेह—२७५
संदश—३२१
संदिग्ध—२७६
संधि—४२, १४५, १७५, १७८, २७३
संधि समास—२६५
संधिम—३७०, ५१८
संधिविच्छेद—२६१
संध्यंग—३४, ४२, १४४, १६७-७५, १७७-७८
संध्या—२८२
संध्यंतर—१७६
संपीडन—२६०
संप्रवृत्त—१६३
संप्लव—२७८
संफेट—१७४, १७७, ४३५-३६
संबंध—२८२
संबोधन—२८६-६०
संभूत—३६४
संभाविता—४६५
संभोग (शृंगार)—२४४-४५
संभोगेच्छा—४३३-३४
संल्लापक—१५२, ४३३
संवरण—१७६
संवेदन भूमि—२५६
संवेदना—१२८
संस्कार क्रमसंपन्न—२८१
संस्कार वत्व—२८२
संशय—२७०, २७४
संवाद—६६, ४०४
संवादी—४६२
संस्कृत पोएटिक्स (दे)—२४, २८, ३६, ३८ ४६, २१८, २७०, ४२७
संस्कृत—२७, ७१, १०६, २८८-६, ४८०-८१-४८३, ४८५-८८, ४६४
सगुणविलास सभा ५०१
संस्कृत नाटक—४६६
सज्जन—३०५
सचिव—१६४, १३१-३३
सजातीय अनुकरण—२२१
सत्य हरिश्चन्द्र—४८८, ३०५, ३१६

सट्टक—१४७-१४६, ४४७
सत्त्व—२५८, ३३६-३७, ३६७, ४०१
सत्वज अलंकार—४०१-४०२
सत्वभेद—४०३
सत्त्वहीन—३६८
सत्वातिरिक्तता—३६७-३६६, ४०१
सदाशिव—११
सदृश अनुकरण—२२१
सदृशोपमा—२७५
संस्कृत ड्रामा (कीथ)—३१, ३२-३३, ४८, ५१, ६८, ७६, ७७, ७८, १०६, ११०, १४१-१४२, ४८४
सप्तशती—३६
सप्तस्वर—४६१
सबुल—४८४
सभापति—३४१
सभामण्डप—१०३
सभ्यता— ६७
सम कनसेप्ट्स आफ अलंकार (राघवन)—५४, २७२-३
सम—२८, २६६, ४६४
समग्र—१२६
समता—२८०, २८३-८४
समधिक लज्जा—२०४
समय—१७६
समपाद—३६३, ३६६
समयसीमा—१८०
समरभट्ट—३४१
समवकार—१३४-३६, १५६
समसत्व—३६७-६८
समस्तरतकोविदा—२०४
समस्त देश विवर्ती—२७६
समाज—७५, १०३, ३२६
सभा—४६५
समाधान—१६६
समाधि—२८३
समास वृत्ति—४२८
समासीकरण (सर्वरस)—४३६
समुद्गयमक—२७६
समुद्र—२६, ३८७, ४११
समुद्रगुप्त (प्रयागस्तंभाभिलेख)—३१
समृद्धि—३२०, ३४२
सम्राट्—२८६
सरदार वल्लभ भाई पटेल—५००
सरकार (डॉ०)—३१, ७३
सरस विनोदिनी सभा—५०१
सरस्वती—५, २६
सरस्वती कण्ठाभरण—२७६, २८६, ३४७, ३६२
सरस्वतीभवन—२२
सरोजिनी—४६४
सरोबिन्दु—३५
सर्वगत—३३७
सर्वविनोद—१३७
सर्वश्राव्य—१८१
सर्वेश्वर—२६६
सशेष—२७८
सहृदय दर्पण—५५
सहेतु—२७०
सांख्य—५१२
साकांक्ष—२६१
सागर कौमुदी—१४२
सागरिका – ११३, १६५-६६
सागरनंदी—८, ५६, १२६, १३४-३५, १३७, १३६ १४७, १४६, १५२, १६४, १६६, १८२, १६०, २११, २१८, २६६, २७२, २७७, २६६, ३२५, ४०३
सात्वती—४१, ६३, १२८, १३६, १४०, ४२८-३२
सात्त्विक—३२, ३४, ३६, ११३, २५०, २५२, २५८-६२, ३४६, ३६३, ३६३, ३६४-६६, ४०१, ४०६, ५१६
साधारणी—२००
साधारणीकरण—५६, २१६, २२३, २६५-६६
साध्यफल—१३०
साम—१७६
सामग्री—३६१-६२
सामवेद—६३, ६८-६६, ७६, २३१
सामाजिक—१४२, १५६, १६३, १६७, २२५, २६७, ३२६, ३२६, ३३१
सामान्य गुणयोग—२५१-५२
सामान्याभिनय—३५, ४१, १६२, ३४७, ३६४-४०६
सायण भाष्य—६
सारवत्—२८२
सारूप्य—२७०-२७४, ३६१
साराभाई—५०६
सारस्वत—४६२
सार्थवाह—१४७

सावरकर—४८९
साहस— १७६
साहुनगरवासी—४९०
साहित्यदर्पण—३६, १३२, १४४, १४९, १६४, १६९-१७६, २००, २०३, २०५, २०६, २०८, २०९-११, २५४-५७, २८९
साहित्य प्रेम—४०९
साहित्य सिद्धान्त (राम अवध द्विवेदी)—३९९
सित—३८६-८७
सिद्धान्त कौमुदी—११०-११, २१०, ३१३
सिद्धि—३४, ६४, ३३२-४२
सिल्यूकस—१६७, ४१४
सिलवान लेवी—१५, १९, ३६, ४८, ६७
सिंह—३८४
सिंहलेखा—२६८
सिंहरण—४३१
सीता—७९, १८७, १८८, २२८, २४१-४२, ३२७, ३७८
सीताराम चतुर्वेदी—४९९
सीता प्रत्यावर्तन—१५८
सीतावनवास—४९८
सीतावेंगा—१०४-१०५
सीताह·ण—४८८, ४९७
सीतास्वयंवर—४९०
सीयास्वयंवर—४९८
सुकुमार—३१६
सुकुमारता—३१६
सुख—१८८
सुखदा—४९०
सुखमूलक—४०८-९
सुखात्मक—२२७
सुग्रीव— १५८, १८१, १९०
सुग्रीव केलन—१५२
सुगृहीतनामन्—३०
सुतभाजनक संवाद—२७८
सुन्दर मिश्र—५७
सुप्त—२५६
सुपर्णाध्याय—६८
सुबंधु—९०, १२९, १५७
सुब्बाराव—८६, ८८-८९, ९८, ९९
सुषिर—४२, ४६८
सूक्तिमुक्तावली—५४
सूचा—४०३-४
सूचीमुख—३५८
सूच्य—१७८, १७९
सूत—६८, ७०, ७८, ८०, १०२
सूत्र—४९
सूत्रग्रंथ—२८
सूत्रधार—९, १२, ३३, ४१, ५७, ७६, ७८, १५१, १५३, २९०, ३०३, ३१७-३२०, ३३१, ३९८, ५१७
सूत्र भाष्य—२७, २८, ४४, ४३१
सूत्रानुविद्ध—२७-२८, ४४, ४३१
सूर्य—२६, ६४, १५४, ३८७
सूर्यकांत—५
सूर्यशतक—५४
सृष्टिचक्र—५१२
सेठ गोविन्ददास—४९९
सेक्रेड बुक आफ द ईस्ट—६७
सेतुबंध—३१
सेना—२९१
सेनापति—४१, ५७, १०४, १९१, १९४
सेवेन वर्ड्स ह्वाट दे सिग्निफाई—४९
सेनापति पुष्यमित्र—४९९
सेलेक्ट स्पेसिमेन्स आफ द थियेटर आफ हिन्दूज—१३
सैंधवक—४७३
सोम—२६, ६४
सोच्छ्वास—३५०
सोमयाग—६८
सोपचार—२८२
सोपानाकृति—९६
सोहरावजी—३८७
सौंदरानन्द—१३३
सौगंधिकाहरण—१४०
सौराष्ट्र—४४३
सौरन्धिका—१४२
सौष्ठव—३०, ३५४, ३७२
सौवीर—४४३
सौष्ठवांग—३०४
स्कंद—१५४
स्कंदक —१४९
स्कंदगुप्त—२८९, २९०, ४१२-१३, ४१९
स्टेन कोनो— १३७
स्तूप—३२९
स्टेज ऐंड थियेटर—३११, ३१४-१५
स्तौतिक—३२३
स्तम्भ—९२-९३, २९०, ५१५, २४६-४७, ४१६-४१७

स्त्रीधर्म रहस्य—५०३
स्त्रीप्रकृति—४१६-१७
स्तंभितरंभक—१५०
स्थविरा—१९९
स्थान—२६१, ३५३, ३६३
स्थपति—७८
स्थानप्रयत्न—२६५
स्थापक—३२, ३३, ७८, ३०३-४, ३०७, ३१७-२०
स्थापना—३३, ३०३-४, ३०७, ३१७, ३२०
स्थायी—४२, ४६४
स्थायी भाव—२५२-५३
स्थित—४६४, ४७२
स्थित पाठ्य—१७७, ४७३
स्थूल काव्यदोष—३३६
स्थैर्य—१९६
स्निग्धा—३४९
स्पर्श—२६०
स्पष्टत्व—२८२
स्फुट—२८२
स्फोट—४६१
स्फोटवादी—१६, २३
स्मरांधा—२०४
स्मित—२४५
स्मृति—२४६, २५५, ३२६, ३३०
स्रग्विनी—२९
स्रोतोगता—४६५
स्वप्न—१७६, २४५
स्वप्नभंग—४६०
स्वप्नवाक्य—४२०
स्वप्नवासवदत्ता—११५, १२५, १२८, १६६, २०१, २९०, ३०१-२, ३१५, ३७४-७५, ४१४, ४१९, ४२०
स्वभाव—३७८, ४१९-२०
स्वभावभिन्नता—४४४
स्वभावज अलंकार—२१०
स्वाधीन भर्तृका—१९९
स्वाभाविक—३५१
स्वभावोक्ति—२८४
स्वगत—४४७
स्वर—३२७
स्वरभेद—२४६-४७, २६०
स्वरित—२६१
स्वाति—४६१
स्वामिनी—१९९
स्वामी—३०, ३४, २९०
स्वाति—४७, ४९, ६४
स्वीया—२००, २०३, २०५
स्वेद—२४७, २६०
स्वर्णोदय—४९४
स्वर्णयुग—४९४

ह

हंसक—२९०
हंस पक्ष—३५८
हंस पदिका—३४, ४६०
हंसवक्त्र—३५८
हकीकतराय—४८४
हजारीप्रसाद द्विवेदी—६३, ६८, ३२६, ३७३, ४७६
हम्मीर—३२१
हमारी नाट्य परम्परा—४८९
हरप्रसाद शास्त्री—३१
हरदत्त—३४, १०७
हनुमन्नाटक—१२९
हरि—१५४
हरिकृष्ण प्रेमी—४६०, ४९९
हरिकृष्ण जौहर—४९८
हरिणी—२९
हरिणीप्लुत—२९, २६७-२६८
हरित—३८६-८७
हरिदास—४८८
हरिपाल—२२९
हरिवंश—७६, ८०, १०३, १५५, ३३०, ३३२-३, ३३४, ३४१, ४७४-७५, ४८०, ४८३, ४८५
हरिसिंह देव—४८२
हरिश्चन्द्र—२८९, ५०१
हरिहर—१५४
हर्ष (वार्तिककार)—५७, ५८, ६६
हर्ष—२०९, ४१४, ४४७, ४८०, ५०६
हर्षचरित—३७, ३३०, ३४१
हर्ष विक्रमादित्य—५६
हल्दर—३३६
हल्लीसक—१४८-४९, १५१, १५३, ४७५
हसित—५६, २४५, २११
हस्त—८५, ३०५
हस्तिनापुर—४४३

हस्तप्रचार—३६२-६३, ३६६, ३७५
हस्तमुद्रा—३५४
हस्ताभिनय—३५२-६०
हस्तिमृग—१३७
हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज (शकुन्तला)—२१
हाल—३६
हाल एफ—१४-१५
हाव—३३, २०६, ४०१, ४०२
हास—४३६
हास—२४५, २५३, ३४३
हास्य—१४१-४२, १४५, २४०, २४५, २६१-६२, ३८७, ४३३-३४
हास्या—३४६
हास्यार्णव—१४२-१४३
हितहरिवंश—४८२
हिन्दी अभिनव भारती—१८
हिन्दी कवि—२७६
हिन्दी—४८६
हिन्दी अभिनव भारती—६६
हिन्दी अनुशीलन—४८२
हिन्दी नाटक—४८७, ४६०
हिन्दी नाटक उद्भव विकास—३०५, ४७४, ४८३, ४६६
हिन्दी ड्रामा ऐण्ड थियेटर (माथुर) ४६६
हिन्दी के आदि नाटक (दशरथ ओझा) ४८२
हिन्दी नाट्य परिवार—४६८
हिन्दी नाट्य समिति—४६८
हिन्दी रंगमंच—४६६, ५०१
हिन्दी साहित्य का इतिहास—२०८, ४६३, ४६६
हिन्दी रंगमंच—४६६-५०१
हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम (जॉली)—२७
हिन्दू थियेटर—८७, ६०, ६५
हिमालय—३८७-८८
हिल्—४०२
हिलब्रान्ट—४८
हिन्दुस्तानी—४८७
हिन्देशिया—४८५
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र (पी० वी० काण) २७-२८, ३१, ३२, ३५, ३२८
हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—१४, २८, ३१, ३२, ३५, ३६, ३६, ४१, ४३, ४७, ५१, ५२, ५५, ५६, २७६, २८३, ३२६, ३२८
हिस्ट्री आफ थियरी आफ रस—(शंकरन्) ५८
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर—२६८
हीराबाई वरोदकर—४६१
हेगेल—४००
हेतु—२७४, २८७
हेतुमत्—२८२
हेत्ववधारण—१७४
हेमकूट—११५
हेमचन्द्र—५४, १२६, १३६, १४६-५०, २८३-८४
हेमन्त—४११
हेमान—१५
हेला—२१०, ४०१-२
हैमलेट—४६०
होमरूल—५०३
होलिकोत्सव—७२, ७५, १५३
ह्रस्व—२६७
ह्रास (रंगमंच)—४८१
ह्री—१७६
ह्व्य—२८१
हृदयहारी—३६१
हृष्टा—३४६

त्र

त्रावणकोर—२३
त्रास—२४६-४७, २५७
त्रासद—१३२
त्रिक—२६७, ३१६, ३४२
त्रिगत—२६६-३०२, ३०३
त्रिगुणात्मिका प्रकृति—२१६
त्रिपताका—३५५-५७
त्रिपुटदारु—६, ६५, ७१, १३६, ४७१
त्रिपुरारि—१३५
त्रिमूठक—१७७, ४७३
त्रिमूर्ति—५१२
त्रिलिंगज दोष—२७६, ३३६
विविध प्रकृति—१८६
त्रिविक्रम—४८८
त्रत—१३५
त्र्यसु—८५, ६१, ६७-६६, ३०५
त्रोटक—५७, १४६, १७३, २६७

शुद्धि-निर्देश

अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
१. मरसरोभिः	८ (पादटिप्पणी)	१	मप्सरोभिः
२. रुणदि	८ („)	५	रुणद्धि
३. प्रणायन	११	११	प्रणयन
४. बंधूयंति	२५ (पा० टि०)	४	बंधयंति
५. पदारम्भकाः	२५ („)	५	यदारम्भकाः
६. शासित	२७	१३	शारिपुत्त
७. नरपतिखानि	३० (पा० टि०)	१३	नरपतिरवनिम्
८. पह्णप	३० („)	१४	पह्णव
९. तन्त	३३ („)	१४	तन्न
१०. कार्मा	३३ („)	१५	कार्या
११. माघं	३४ („)	६	माद्यं
१२. लक्षणकोष	५६	२३	लक्षणरत्नकोष
१३. मेष्ठ	५६	१३	मेण्ठ
१४. प्रतु	६४ (पा० टि०)	२	ऋतु
१५. ब्रह्मा का	६५	६	ब्रह्मा के आदेश से
१६. सुधारक	६५	२४	सुधाकर
१७. भास	६९	२६	मास
१८. शौमिक	७९, ३७१	८,४	शौभिक
१९. संस्करण	८१	५	संस्कार
२०. महामृग	८१	२६	ईहामृग
२१. शुद्धादर्शतरमाकार	८८	२६	शुद्धादर्शतलाकार
२२. निप्यूंह	८९	८	निव्यूंह
२३. चाल्यदा०	९४ (पा० टि०)	३	चान्यदा०
२४. वातायतयतोपेतो—	१०१ („)	१	वातायनोपेतो
२५. स्पेशल	१०७	६	रसपेशल
२६. गणेश	१०७	७	गणदास
२७. परिच्छेद	११२	१५	परिच्छद
२८. नतीच्छल्पं	१२८	२०	न तच्छिल्पं
२९. न साकता	१२८	२०	न सा कला

अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
३०. उद्भूतता	१२८	८	उदात्तता
३१. अभिनय	१२८ (पा० टि०)	११	अभिनव
३२. युक्तिमन्वृत्य	१३० (पा० टि०)	२	युक्तिमन्नृत्य
३३. मस्तुत	१३४	१४	प्रस्तुत
३४. श्रेत	१३५	१७	त्रैत
३५. उद्धृत	१३८	१४	उद्धत
३६. आख्यात	१३८	२	अख्यात
३७. नात्मी	१४१	४	नाली
३८. शम्पा	१४६	६	शम्या
३९. दुर्भल्लिका	१४६, १५३	३, ८	दुर्मल्लिका
४०. करुष	१५५	१२	करुण
४१. स्कन्दगुप्त में	१५६	४	स्कन्दगुप्त में वासुदेव और
४२. भातृगुप्ताचार्य	१६२	२०	मातृगुप्ताचार्य
४३. कीर्तिनम्	१६४ (पा० टि०)	३	कीर्तितम्
४४. संज्ञिनः	१६५ (पा० टि०)	४	संज्ञितः
४५. अखिल	१७४	३	अभिनव
४६. उत्पन्न	१८०	२२	उपपन्न
४७. भातृगुप्त	१८२	२८	मातृगुप्त
४८. अपवादित	१८२	६	अपवारित
४९. प्रतिभाषित	१९५	२९	प्रतिभासित
५०. महतरी	१९९	८	महत्तरी
५१. नायकों	२००	९	नायिकाओं
५२. कामसूत्र	२२९ (पा० टि०)	८	काव्यसूत्र
५३. मुक्तिवाद	२३२	१६	भुक्तिवाद
५४. शून्यपर	२४७	४	शून्यघर
५५. भक्ति	२४८	१४	भवति
५६. दैत्य	२५५	१२	दैन्य
५७. धर्म	२५९	१९	घर्म
५८. गद्य	२६६	१३	पद्य (द्वय)
५९. शम्बरी	२६७	८	शक्वरी
६०. शाष्मिनी	२६७	२०	शालिनी
६१. अप्रेषया	२६७	२३	अप्रमेया
६२. कोटल	२६९	२५	कोहल
६३. प्रशंसो प्रशंसोपमा	२७०	१५	प्रशंसोपमा

अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
६४. वक्रोकित	२७२	१	वक्रोक्ति
६५. श्लेष···	२८३	१०	श्लेष, प्रसाद, समता···
६६. मन	२८४	१०	मत
६७. दशकुणाः	२८५ (पा० टि०)	५	दशगुणाः
६८. उत्कर्षरेतवस्ते	२८७ (पा० टि०)	५	उत्कर्षहेतवस्ते
६९. अविधा	२८८	१९	अविद्या
७०. पर्णस्त	२९०	८	पर्णदत्त
७१. गांधार सात	२९१	१७	गांधार आदि सात
७२. धैनुवत	२९१	१९	धैवत
७३. उद्घात्मक	३०४	१८	उद्घात्यक
७४. पाद्य	३०५	१८	वाद्य
७५. भारत	३०६	११	भरत
७६. जीत	३१५	६	गीत
७७. भास्वकार	३१७	१०	मालाकार
७८. प्रयोगस्यैः	३३१	१९	प्रयोगस्त्रैः
७९. करण कर्म	३५२	२७	करण, कर्म
८०. सृष्टि	३५२	३१	दृष्टि
८१. माद-प्रचार	३६४	१६	पाद-प्रचार
८२. रवलीव	३७०	२५	रवलीन
८३. प्रगृह	३७०	२५	प्रग्रह
८४. कथल	३७३ (पा० टि०)	८	कयल
८५. उद्धृत	३७४	१४	उद्धत
८६. रूपित	३७८	१२	रूषित
८७. रयायैः	३७८ (पा० टि०)	१	रपायैः
८८. परित्यज्याल्य	३७८ (पा० टि०)	७	परित्यज्यान्य
८९. वस्त्राघै	३७९ (पा० टि०)	३	वस्त्राद्यै
९०. पुस्तक	३८०	५	पुस्त
९१. गुदात्मक	४०९	३	गुदाकाम
९२. अनुभव	४१५	२८	अनुभाव
९३. रसानुगुण	४२७	१९	रसानुग
९४. वेम के जिन	४३२	२७	वेम के अनुसार जिन
९५. नर्म-गर्म	४३४	१९	नर्मगर्भ
९६. अन्तरा	४६६	१७	आन्तरी
९७. मधीरनया	४८१ (पा० टि०)	१	मधीरतया
९८. भवाड़	४८४	१०, १५	भवाई

अशुद्ध शब्द	पृष्ठ	पंक्ति संख्या	शुद्ध शब्द
९९. अत्र	४९१	३१	अत्रे
१००. सीमाओं से	५२२	१७	सीमाओं में
१०१. महतीय	५२२	२३	महनीय
१०२. समाप्तेयं	५२२	२७	समाप्तोऽयं



